डॉ. लालबहादुर शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ

प्रधान सम्पादक एवं संयोजक
पं० विमलकुमार जैन सौंरया
एम० ए० शास्त्री, आ० रत्न, प्रतिष्ठाचार्य, टीकमगढ़

सम्पादक मण्डल
डॉ० कस्तूरचंद्र कासलीवाल जयपुर
पं० सागरमल जैन विदिशा
डॉ० श्रेयांसकुमार जैन बड़ौत
प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन फिरोजाबाद
डॉ० सुपार्श्वकुमार जैन बड़ौत

प्रबन्ध सम्पादक
बाबूलाल जैन फागुल्ल, वाराणसी

प्रकाशक
- श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा
- श्री भारतवर्षीय दि० जैन शान्ति वीर सिद्धान्त संरक्षिणी सभा
- अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद्

प्रकाशक

● श्री भारतवर्षीय दि० जैन महासभा

● श्री भारतवर्षीय दि० जैन शान्तिवीर सिद्धान्त संरक्षिणी सभा

● अखिल भारतवर्षीय दि० जैन शास्त्रि परिषद्

मंत्री कार्यालय

गंगा किशोरी भवन, दि० जैन बड़े मन्दिर के पास

बड़ौत, मेरठ (उ० प्र०)

●

प्रथमावृत्ति

अप्रैल १९८६

●

मूल्य १००) रुपये

●

मुद्रक

बाबूलाल जैन फागुल्ल

महावीर प्रेस,

भेलूपुर, वाराणसी-१०



पण्डित लालबहादुर शास्त्री

प्रकाशकीय

सुविख्यात मनीषी सरस्वती पुत्र डॉ० लालबहादुर शास्त्री को सामाजिक, साहित्यिक और धार्मिक सेवाओ के उपलक्ष मे अ० भा० दि० जैन महासभा एवं सिद्धान्त संरक्षिणी सभा के सहयोग से अ० भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद् अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित कर रही है। यह समाज और विद्वान् वर्ग के लिये गौरव की बात है।

अ० भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद् आर्ष मार्ग की प्रचारिका और प्रसारिका की एक प्राचीन संस्था है। इस सस्था के ऊपर चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी महाराज का शुभाशीर्वाद था। परम-पूज्य आचार्य श्री १०८ सिद्ध सैन महाराज जी ने फल्टण मे शास्त्रि परिषद् के अधिवेशन में सोनगढ़ सम्बन्धो सिद्धान्त का खण्डन कर अनेकान्त की रक्षा हेतु प्रेरणा प्रदान की थी। इसी प्रकार धर्म शिरोमणि आचार्य प्रवर श्री १०८ धर्मसागर महाराज जी एव आचार्य श्रो विद्यासागर महाराज तथा समस्त आचार्यों सघो एवं मुनि वर्ग का आशीर्वाद प्राप्त है। उन्ही के आशीर्वाद पूर्वक इस सस्था के विद्वानो ने आर्ष ग्रन्थो की महती प्रभावना की है। सदैव प्रयत्न किया कि कही भी आर्ष ग्रन्थो की अवहेलना न हो जाय। सैद्धान्तिक आदान-प्रदान करते हुए शास्त्रि परिषद् के विद्वानो द्वारा सामाजिक स्थितिकरण किया गया। जिससे धर्म और समाज का शाश्वत रूप स्थिर रह सका।

काल के प्रभाव से कुछ धर्मद्वेषी विद्रोही लोगो के द्वारा दिगम्बर जैन समाज मे एकान्त का प्रचार जोरो से किया जाने लगा। और आचार धर्म की उपेक्षा उत्पन्न कर निश्चयेकान्तवाद का बोल-बाला होने लगा। धन, जन और यश के लोभ मे पडकर कुछ विद्वानो ने आगम के अर्थ को एव उसके अभिप्राय को न समझ कर बदलना प्रारम्भ कर दिया एव स्वच्छन्द विचारो का प्रचार तीव्र-गति से होने लगा। मुनि वर्ग ने सैद्धान्तिक विषयो को प्रगट करने वाली अनेको कृतियो को प्रकाशित कराकर समाज को यथार्थ दिशा बोध किया। देव, शास्त्र, गुरु के भक्तो की निन्दा होने लगी। उस समय शास्त्रि परिषद् के विद्वानो ने समाज के अन्दर नयी चेतना जागृत की। अनेको ऐकान्तिक विषयो को पराभूत करके अनेकान्त की पताका को लहराया।

आगम परम्परा मुनिमार्ग की प्रभाविका इस सस्था के जीवनाधार प० लालाराम जी शास्त्री, प० इन्द्रलाल शास्त्री, प० अजित कुमार शास्त्री, प० मक्खनलाल शास्त्री, पं० रतनचन्द मुख्तार, प० बाबूलाल जैन जमादार, डॉ० लालबहादुर शास्त्री, पं० मोतीलाल जी फल्टण प्रभृति विद्वान् हैं। देव-शास्त्र-गुरु के सरक्षक और आर्ष परम्पराओ के प्रसारक मनीषियो मे डॉ० लालबहादुर शास्त्री का नाम बडी श्रद्धा से लिया जाता है। नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के स्वामी, लोकोत्तर आनन्ददायिनी कविता के रचयिता, विद्वज्जनो से प्रशंसित वक्ता, सिद्धान्त सम्मत लेखक, आगमनिष्ठ देव-शास्त्र-गुरु के अनन्य भक्त, सरल स्वभावी, माधुर्य गुण सम्पन्न सहृदय मनीषी है। शास्त्रि परिषद् के गौरवमयी अध्यक्ष पद पर लम्बी अवधि तक रह कर धर्म और समाज के लिये जीवन समर्पण करने वाले मनीषी का अभिनन्दन करते हुए अ० भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद् के समस्त विद्वान् हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। डॉ० शास्त्री की विद्वत्ता, धर्म तथा समाज के प्रति किये

गये कार्यों को देखते हुए पूज्य आचार्य गण, मुनिराज एव त्यागी वृन्द ने शास्त्री जी के प्रति शुभाशीर्वाद प्रदान किये है। जिनागम के अध्येता विद्वानो ने शास्त्री जी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की है। समाज और विद्वान् उनके गौरवमयी कार्यों से ऋणी है। अत शा० प० उनका सामाजिक अभिनन्दन कर अपने को कृतार्थ मानती है।

अ० भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद् ने अहमदाबाद के अधिवेशन के समय डॉ० शास्त्री जी के अभिनन्दन करने का निर्णय किया था किन्तु शास्त्रि परिषद् के भूतपूर्व महामत्री पं० बाबूलाल जमादार के आकस्मिक निधन होने के कारण ग्रन्थ प्रकाशन मे विलम्ब हो गया। जम्बूद्वीप प्रतिष्ठा महोत्सव के समय जम्बूद्वीप स्थल पर ३० अप्रैल १९८५ को कार्यकारिणी की एव एक मई १९८५ के खुले अधिवेशन में महासभा के पदाधिकारी श्रीमान् सेठ निर्मलकुमार सेठी, श्रीमान् त्रिलोकचन्द जी कोठारी आदि एव सिद्धान्त सरक्षणी के प्रमुख पदाधिकारियो की प्रेरणा से दृढ निश्चय लिया गया कि शास्त्रि परिषद् एक वर्ष की अवधि मे डॉ० शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करा देगी।

अभिनन्दन ग्रन्थ के संयोजक प्रतिष्ठाचार्य प० विमलकुमार 'सोरया' टीकमगढ बनाये गये। सम्पादक मडल का चयन किया गया। श्री मागीलाल सेठी 'सरोज' सुजानगढ़ ने पूर्ण सहयोग का वचन दिया। प्रकाशन सम्बन्धी व्यवस्था आदि श्री सरोज एव स्वयं करने का निश्चय किया।

अत्यन्त हर्ष है कि श्री प० विमलकुमार सोरया के अथक परिश्रम से ग्रन्थ की प्रकाशनीय सामग्री सकलित हुई। श्री सोरया जी ने बडी लगन के साथ ग्रन्थ का सम्पादन कार्य किया। सोरया जी एक उत्तम विधि-विधानकारक प्रतिष्ठाचार्य है। इनकी शास्त्रीय शैली और शुद्धाम्नाय पद्धति से प्रतिष्ठा कराने का गौरव समाज को लाभान्वित करा रहा है। मै उनका हृदय से आभार मानता हूँ।

शास्त्रि-परिषद् के कार्याध्यक्ष प० श्री सागरमल जी जैन एक शास्त्रीय शैली के उत्तमकोटि के प्रवचनकार है। आपके अनन्य सहयोग से ग्रन्थ प्रकाशन मे सहायता प्राप्त हुई एतदर्थ आपके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

समस्त सम्पादक मण्डल एव शास्त्रि परिषद् के समस्त विद्वन्महानुभावो एव अन्य विद्वन्मनीषी जनो का सहयोग प्राप्त हुआ एतदर्थ उनका आभारी हूँ।

अ० भा० दि० जैन महासभा एव सिद्धान्त सरंक्षणी सभा का विशेष रूप से आभार मानता हूँ कि दोनो सस्था के पदाधिकारियो का विशिष्ट सहयोग ग्रन्थ के प्रकाशन मे मिला।

जिन श्रेष्ठी महानुभावो ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे आर्थिक सहयोग प्रदान किया है उन सभी महानुभावो को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ। कामना करता हूँ कि वे श्री सम्पन्न रहते हुए धर्म और समाज के लिए सत्कार्य करते रहे।

श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल शास्त्रि-परिषद् के अनन्य सहयोगी है, आपकी धर्म और समाज के प्रति की जाने वाली सेवा सराहनीय है। आपने अल्प समय मे अपनी कार्यक्षमता से ग्रन्थ का सुन्दर मुद्रण किया है अतः आपको धन्यवाद दिए बिना नही रह सकता हूं।

विद्या और विद्वानों का सम्मान रहे जिससे देश और समाज उन्नति के शिखर पर आरूढ हो ऐसी मेरी शुभ कामना है।

डॉ० श्रेयांसकुमार जैन

महामत्री, अ० भा० दि० जैन, शा० प०, बडौत

दो शब्द

हस्तिनापुर मे आयोजित जम्बूद्वीप प्रतिष्ठापना महोत्सव के समय जब आर्ष-मार्ग के प्रखर वक्ता, सरस्वती पुत्र डॉ० लालबहादुर शास्त्री के अभिनन्दन का प्रस्ताव पारित हुआ तब मै उससे काफी अभिभूत हुआ क्योकि श्री शास्त्री जी मेरे धार्मिक गुरु और मार्गदर्शक रहे है। पण्डित जी सिद्धान्तो के ऊहापोहात्मक निष्कर्षों को सरल व सहज भाषा मे प्रस्तुत करने मे दक्ष तो है ही साथ ही उनकी वक्तृता में कविगत माधुर्य से सामान्य जन आह्लादित हो जाता है।

साहित्य, समाज, देश व धर्म के प्रति आपका समर्पण भाव स्तुत्य होने के साथ-साथ अनुकरणीय भी है। आगम एवं आर्ष परम्परा का निरभिमानतः पालन करते हुए, उन्होने अपनी जीवन सन्ध्या मे प्रवेश किया है। मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ और दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ। यह कामना भी सप्रयोजन है कि उनके सान्निध्य का लाभ मुझे व समाज को मिलता रहे। सुजानगढ नगर को डॉ० शास्त्री जी के अभि-नन्दन, सम्मान और अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पण का गौरव प्राप्त हुआ इससे बढ़कर इस नगरवासियो को खुशी और क्या हो सकती है।

कोटि-कोटि अभिनन्दन सहित हम यह अभिनन्दन ग्रन्थ उनके कर-कमलों मे समर्पित करते है।

मांगीलाल सेठी
मंत्री
डॉ० लालबहादुर शास्त्री अभिनन्दन समारोह

डॉ० लालबहादुर शास्त्री अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशन के सहयोगी

परम संरक्षक	श्रीमान् निर्मलकुमारजी सेठी	लखनऊ
संरक्षक	,, नेमीचन्दजी बाकलीवाल	सुजानगढ
,,	,, हुलासचन्दजी पाण्ड्या	,,
,,	,, हरकचन्दजी सरावगी	,,
,,	,, पूनमचन्दजी गंगवाल	झरिया
,,	,, गणपतरायजी पाण्ड्या	सुजानगढ
,,	,, झूमरमलजी विजयकुमारजी बगड़ा	,,
,,	,, चैनरूपजी बाकलीवाल	डीमापुर
,,	,, नेमीचन्दजी चपालालजी सेठी	,,
,,	,, पूनमचदजी सेठी	गौहाटी
,,	,, मांगीलालजी सेठी "सरोज"	सुजानगढ
उपसंरक्षक	,, झूमरमलजी गंगवाल हाथीगोला	गौहाटी
,,	,, नेमीचन्दजी बड़जात्या	नागौर
,,	,, फतेचन्दजी रामगोपालजी पाटनी	डेह
,,	,, मे० जीवन ट्रेडिंग कम्पनी	डीमापुर
,,	,, उम्मेदमलजी पाण्ड्या	दिल्ली
,,	,, शांतिलालजी बाकलीवाल	नॉर्थलखीमपुर
,,	,, चन्दनमलजी भदालिया	इम्फाल
सहायक	,, चान्दमलजी सरावगी	किशनगंज
,,	,, मन्नालालजी बाकलीवाल	इम्फाल
,,	,, किशनलालजी सेठी	डीमापुर
,,	,, किशनलालजी सरावगी	,,
,,	,, एलाइड क्लाथ सेन्टर	,,
,,	,, शुभकरणजी सेठी	,,
,,	,, पन्नालालजी सेठी	,,
,,	,, मिश्रीलालजी बाकलीवाल	गौहाटी
,,	,, कवरीलालजी सेठी	,,
,,	,, ताराचन्दजी बगड़ा	सेलम
,,	,, विजयकुमारजी पाण्ड्या	कोटा
,,	,, लादूलालजी बाकलीवाल	गोलाघाट
,,	,, इन्द्रचन्दजी गजराजजी बाकलीवाल	नाहरकटिया
,,	,, डूंगरमलजी सबलावत	डेह
,,	,, मोहनलालजी सोहनलालजी काला	सुजानगढ
,,	,, मदनलालजी पाटनी	,,
,,	,, श्री रतनलालजी पाटनी	मनीपुर

डा० लालबहादुर शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोगी



श्री निर्मलकुमार जी सेठी
लखनऊ

अ० भा० दि० जैन महासभा के अध्यक्ष, जैन समाज के नेता, अच्छे वक्ता एव धर्मनिष्ठ श्री सेठी जी से कौन परिचित नही है ? आप उच्च व्यवसायी होते हुए भी देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति एव सेवा मे अपना जीवन समर्पित किये हुए है । आप अपने पिता श्री स्व० सेठ हरखचन्द जी सेठी के पदचिह्नो पर चलते हुए जैन समाज, साहित्य, सस्कृति की सेवा मे सदा तत्पर और सजग रहते है ।

श्री नेमीचन्द जी बाकलीवाल
सुजानगढ



लालगढ निवासी स्व० सेठ श्री खूबचन्द जी बाकलीवाल के सुपुत्र श्री नेमीचद जी बाकलीवाल को कौन नही जानता ? आप अच्छे व्यवसायी है जिसका भार आपके बच्चे सम्हाले हुए है और आप सुजानगढ मे रहकर निरन्तर देव-शास्त्र-गुरु भक्ति और समाज सेवा मे समर्पित रहते है । सात्विक वृत्ति एव दानशील प्रवृत्ति के कारण आप समाज के गौरव है । आपको अनेक सम्मान भी प्राप्त है तथा अनेक सस्थाओ, समितियो के सचेतक है । अतिथि सत्कार मे आप सदा अग्रणी रहते है ।



श्री हुलासचन्द जी पाण्डया
सुजानगढ

आप लालगढ निवासी स्व० सेठ मगनीराम जी पाण्डया के सुपुत्र है । अनेक स्थानो पर आपके बडे-बडे व्यवसाय होते हुए भी आपका पूरा जीवन सदा धर्म और समाज की सेवा मे समर्पित रहता है । वयोवृद्ध होते हुए भी आपमें युवकोचित उत्साह बना रहता है । आप अनेक सामाजिक एव धार्मिक सस्थाओं से सम्बन्धित है । आपके चार सुपुत्र है जो सम्पूर्ण व्यवसाय को सम्हाले हुए हैं और आप समाज सेवा हेतु सदा तत्पर रहते हैं ।

डा० लालबहादुर शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोगी

←

श्री हरकचन्द जी सरावगी
सुजानगढ

सुजानगढ निवासी दानवीर सेठ हरकचद जी सरावगी जैन समाज के जाने-माने श्रावक है। देव-शास्त्र-गुरु के परमभक्त, उदारमना सरावगी जी अ० भा० दि० जैन शान्तिवीर सिद्धान्त सरक्षिणी सभा के अध्यक्ष है। सुप्रसिद्ध ज्ञानीराय हरकचद राजकीय कालेज, सुजानगढ, फिजियोथेरेफी चिकित्सालय, चेरिटेबल होम्यो-पैथी चिकित्सालय की स्थापना तथा उनका अच्छा सचालन आपकी उदारमना यशोगाथा के श्रेष्ठ उदाहरण है।

श्री पूनमचन्द जी गंगवाल
झरिया

→



दानवीर श्रेष्ठी श्री गंगवाल जी समाज के रत्न है। आप पचार (सीकर) निवासी श्री श्रेष्ठीवर नेमीचन्द जी गगवाल के सुपुत्र है। आपके पितामह स्व० श्री गौरीलाल जी ने आचार्यकल्प १०८ चन्द्रसागर जी महाराज से दीक्षा लेकर जयपुर मे समाधि-मरण पूर्वक उत्तम गति प्राप्त की, जिनकी पावन स्मृति मे श्री पूनमचद जी ने जयपुर मे सुन्दर छतरी बनवाई। श्री गगवाल जी की तीर्थ-वदना, मुनिसघो के दर्शन और उनकी वैयावृत्ति मे गहरी रुचि है। आपने श्री महावीर जी क्षेत्र में स्थित आदर्श महिला विद्यालय के जिनालय में काच का कलात्मक ढग से कार्य कराया। दि० जैन अतिशय क्षेत्र, लूणवा को उन्नति एव प्रसिद्धि मे आपने तन, मन, धन सब तरह से बहुत सहयोग किया। इसी तरह अन्यान्य तीर्थो की उन्नति मे आपका पूरा सहयोग रहा है। धार्मिक साहित्य के प्रकाशन मे सहयोग की आपकी गहरी रुचि है। आप समाज द्वारा दानवीर, समाजरत्न, गुरुभक्त आदि उपाधियो से विभूषित है।

←

श्री गणपतराय जी पाण्ड्या
सुजानगढ

आप सुजानगढ की महान् विभूति रायसाहब स्व० सेठ चान्दमल जी पाण्ड्या के सुपुत्र है। उदारमना, सरल स्वभावी श्री पाण्ड्या जी अच्छे सामाजिक कार्यकर्ता हैं। आपकी उदारता से स्थापित ट्रस्ट द्वारा अनेक सस्थाये सचालित है। आपकी पूज्यनीया माताजी धर्मपरायण उदारमना श्रेष्ठ महिला है।

डा० लालबहादुर शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोगी



स्व० श्री झूमरमल जी बगड़ा

सुजानगढ

सुजानगढ निवासी स्व० श्री बगडा जी का सम्पूर्ण जीवन देव, शास्त्र और गुरु भक्ति के लिए समर्पित रहा। श्री बगडा जी जैसा धार्मिक और उत्साही मामाजिक कार्यकर्ता तथा अतिथि सत्कार मे अग्रणी सुश्रावक मिलना दुर्लभ है। आप सुजानगढ के ही नही अपितु सम्पूर्ण समाज की शान थे। जैन समाज को सगठित एव जाग्रत रखने मे आपका बहुत बडा योग है।



श्री चैनरूप जी बाकलीवाल

डोमापुर

सुजानगढ निवामी एव डीमापुर प्रवासी युवकरत्न की उपाधि से विभूषित श्री चैनरूप जी बाकलीवाल सुप्रसिद्ध समाजसेवी है। आप स्व० सेठ भवरीलाल जी बाकलीवाल के सपुत्र है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीला देवी धार्मिक एव उदारमना स्वभाव की है जो कि रायबहादुर चांदमल जी पाण्डया की सुपुत्री है।

श्री नेमीचन्द जी बड़जात्या

नागौर

नागौर निवासी सातवी प्रतिमा के व्रतधारी श्री बडजात्या जी समाज के श्रेष्ठ श्रावकरत्न हैं। मुनिभक्त श्री बडजात्या जी उदार स्वभावी एव अच्छे कार्यकर्ता है। आप अनेक धार्मिक, सामाजिक सस्थाओं की उन्नति मे लगे हुए आत्मकल्याण मे सचेष्ट रहते है।



डा० लालबहादुर शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोगी

← **श्री पूनमचन्द जी सेठी**

गौहाटी

लाडनूं निवासी गोहाटी प्रवासी स्व० सेठ श्री केशरीमल जी सेठी के सुयोग्य पुत्र श्री पूनमचन्द जी अच्छे श्रावक हैं। सफल व्यवसायी श्री सेठी जी का व्यापारिक क्षेत्र बहुत व्यापक होते हुए भी सरल परिणामी श्री सेठी जी अच्छे कार्यों के लिए मुक्तहस्त से दान देते रहते हैं।

श्री मांगीलाल जी सेठी 'सरोज' →

सुजानगढ



देव, शास्त्र, गुरु के परमभक्त साहित्यिक प्रवृत्तियो मे गहरी रुचि वाले श्री मागीलाल जी सेठी 'सरोज' सम्पूर्ण जैन समाज के गौरव है। आप सुप्रसिद्ध समाजसेवी स्व० सेठ बिरधीचन्द जी सेठी के सुपुत्र है जो कि अ० भा० दि० जैन खण्डेलवाल महासभा के सभापति थे।

श्री 'सरोज' जी उत्साही सामाजिक कार्यकर्ता है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती रतनी देवी भी धर्मपरायण एव दानशीला महिला है जो कि स्व० सेठ भँवरीलाल जी बाकलीवाल की सुपुत्री हैं। श्री 'सरोज' जी की धार्मिक साहित्य के लेखन एव पठन-पाठन मे अच्छी गति और रुचि है। आपने बीसवी शताब्दी के प्राय सभी दि० जैन मुनियों और आर्यिकाओ की पद्यरूप में पूजायें लिखी है, जो कि भाव एव भाषा की दृष्टि से अच्छी रचनाये है किन्तु अभी तक अप्रकाशित है। आप सुजानगढ के दि० जैन स्कूल के सफल मन्त्री भी रह चुके है।

अप्रैल ८६ मे सुजानगढ मे आयोजित अभूतपूर्व पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर विद्वत्वर्य डॉ० लालबहादुर शास्त्री जी के सफल अभिनन्दन, सम्मान एव अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पण के सफल आयोजन मे आपकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इस समारोह के आप सफल मत्री रहे।

आपका भरा-पूरा परिवार है तथा गोहाटी मे मेसर्स विनीत एव इम्फाल मे मेसर्स विनीत इण्टरप्राईजेज नाम से अच्छा व्यवसाय है।

डा० लालबहादुर शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोगी



श्री झूमरमल जी गंगवाल →
गौहाटी

महावीर भवन गोहाटी के आजन्म ट्रस्टी श्री गंगवाल जी का व्यापार अनेक क्षेत्रो मे फैला हुआ है। दि० जैन समाज गोहाटी और दि० जैन महासभा की कार्यकारिणी समिति के आप सम्माननीय सदस्य है। आप उदारमना एव धर्मपरायण श्रेष्ठी है।



← स्व० सेठ श्री फतेहचन्द जी पाटनी
डेह

स्व० श्री पाटनी जी देव-शास्त्र और गुरुभक्त सरल स्वभावी श्रावक थे। आपका तिनसुकिया, नीमच एव नागौर मे गल्ले का अच्छा व्यवसाय है जिसे आपके सुयोग्य पुत्र सम्हाले हुए है।
अभी ४ माह पहले आपका स्वर्गवास हुआ है।



श्री उम्मेदमल जी पाण्डया →
दिल्ली

श्री पाण्डया जी जैन समाज के जाने-माने कार्यकर्ता एव धार्मिक प्रवृत्ति के श्रेष्ठ श्रावक है। आप अच्छे वक्ता और समाज को नेतृत्व प्रदान करने की अपूर्व क्षमता आपमे है। अच्छे व्यवसायी होते हुए भी आपकी धर्म के प्रति गहरी रुचि है।

डा० लालबहादुर शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोगी

← **श्री शान्तिलाल जी बाकलीवाल**

लखीमपुर

आप लालगढ निवासी स्व० सेठ आसूलाल जी बाकलीवाल के सुपुत्र है। आसाम, लखीमपुर, अरुणाचल एवं गोहाटी मे आपका अच्छा व्यापार होते हुए भी आपकी धार्मिक मनोवृत्ति एव उदार प्रवृत्ति अनुकरणीय है।

श्री चन्दनमल जी भदालिया →

इम्फाल

भदाल निवासी इम्फाल प्रवासी श्री भदालिया जी उदारमना प्रवृत्ति के धार्मिक श्रावक हैं। ईम्फाल की सुप्रसिद्ध मोहनलाल चन्दनमल फर्म भी आपकी है।



← **श्री मन्नालाल जी बाकलीवाल**

इम्फाल

इम्फाल प्रवासी श्री मन्नालाल जी बाकलीवाल जैन समाज के जाने-माने उदारमना तथा देव-शास्त्र-गुरु की सेवा मे सदा तत्पर रहने वाले अच्छे श्रावक है। समाजसेवा के क्षेत्र मे भी आप सदा अग्रणी रहते है।



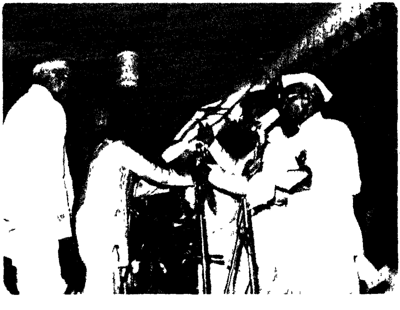
श्री निर्मलकुमार सेठी परम पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज
से अभिनन्दन ग्रन्थ को आशीर्वाद की याचना करते हुए।



आचार्य श्री १०८ धर्मसागर जी महाराज ग्रथ को आशीर्वाद देते हुए।



श्री निर्मलकुमार जी सेठी डॉ० शास्त्री जी का माल्यार्पण पूर्वक
अभिनन्दन करते हुए।



श्री मागीलाल जी सेठी, 'सराज' डॉ० शास्त्री जी का माल्यार्पण पूर्वक
अभिनन्दन करते हुए।



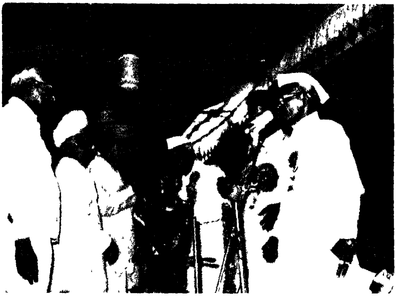
डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री को जैन युवकरत्न श्री चैनरूप जी बाकलीवाल अभिनन्दन ग्रथ समारोह समिति की ओर से ५१०००) रु० की थैली भेट करते हुए।



अ० भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद् के महामंत्री श्री श्रेयासकुमार जी वक्तव्य देते हुए।



सेठ नेमिचन्द जी बाकलीवाल डा० लालबहादुर शास्त्री जी को
अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करते हुए।



डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ को स्वीकार करते हुए।
पास मे श्री सेठ हरखचन्द जी सरावगी, श्री नेमिचन्द जी बाकलीवाल
खड़े हुए।

सम्पादकीय

विद्वानो के सम्मान की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। जब से विद्या का आदर है तभी से विद्वानो की भी स्तुति होती आ रही है। नीतिकारो ने भी "स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते" जैसी उक्तियाँ लिखकर सदैव विद्वानों का अभिनदन किया है। विद्वानो ने ही साहित्य, धर्म और संस्कृति की रक्षा करते हुए उत्तरोत्तर समुन्नति की ओर ले जाने का भागीरथी श्रम किया है। एक साधक अपनी साधना मे जिस प्रकार आत्मा को मोक्ष का पात्र बना देता है विद्वान् भी अपनी अविरल ज्ञान साधना के बल पर समाज और सस्कृति, धर्म और धर्मात्मा को उन्नति के अग्र मार्ग पर ले जाने मे मूल हेतु रहा है। व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक जितने भी आयाम हैं सबकी समुन्नति उस देश के विद्वानो पर आश्रित है। किसी भी राष्ट्र की बहुमुखी समुन्नति का मुख्य हेतु उसका साहित्य और साहित्यकार होता है। भारत देश मे आज भी हजारो वर्ष पूर्व के विद्वानो की चिन्तना आज के इस बदलते हुए विकासवादी युग मे क्यो नवीनता लिए हुए है ? उसका मुख्य कारण रहा है उन्होने जिस विषय पर अपना चिन्तन गहराई तक ले जाकर वस्तु के के तथ्य को जब तक प्राप्त नही कर लिया, अपने चिन्तन की धारा को निरन्तर बढाते गए। तथ्य के सत्य को प्राप्त कर लेने के बाद उसे शब्दो के रूप मे प्रस्तुत करने की भी अपूर्व क्षमता उनमे थी। यही कारण रहा कि हजारो बार उनकी वाणी को पढने के बाद भी उसमे चिन्तन के नए-नए स्वरूप निरन्तर देखने को मिलते हैं।

आज के विकासवादी विज्ञान का मूल आधार प्राचीन महापुरुषो के चिन्तन का ही फल है। जिसे आज का विज्ञान प्रायोगिक रूप मे प्रतिफलित करता है। विद्वानो ने जिस अपूर्व श्रम साधना के द्वारा ज्ञाना-राधन की प्रवृत्ति को जितनी गहराई तक अपने मानस पटल पर उतार कर उसे चिन्तन की गहराई तक ले गए और उसके अभूतपूर्व प्राप्त अनुभव को शब्दो के द्वारा प्रस्तुत करने की जो क्षमता दिखाई वह अपने आपमे मौलिक और अमरत्व रूप रही—उससे व्यक्ति समाज और राष्ट्र को आगे बढने, जीवन दिशा बदलने तथा चिन्तना के आधार पर स्वरूप प्राप्ति मे अग्रसर होने का जो सर्वांगीण रहस्य सामने आया उसका हेतु विद्वान् हो रहा है, अत सार्वजनिक रूप मे ऐसे चिन्तनशील विद्वानो के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने की जो भी प्रवृत्तियाँ व्यक्ति, सस्था, समाज, राज्य अथवा राष्ट्र द्वारा अपनाई गई वह सम्मान की श्रेणी में समाहार हुई।

विद्वानो की इस अभिनन्दन परम्परा को देखकर बीसवी शताब्दी मे कुछ ऐसे व्यक्तियो को भी इस परम्परा का साकार रूप बनाया, जिन्होने समाज, राष्ट्र या अन्य सस्था आदि की सेवा कर अपने जीवन के बहुभाग क्षणों को बिताया। यद्यपि ऐसा अभिनदन मात्र दूसरो को प्रेरणा देने का प्रतीक बन सकता है, और अभिनदित के प्रति उसके कृतित्व को कृतज्ञता का रूप माना जा सकता है। किन्तु विद्वान् का जो अभिनदन है वह किसी की प्रेरणा के लिए अथवा उसके कृतित्व की कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए नही होता बल्कि उसकी साधना की पूजा के प्रतीक रूप मे उसे समाहारित किया जाता है। क्योकि नीतिकार ने एक जगह इसी हेतु से लिखा है—

विद्वानेव हि जानाति विद्वतज्जन परिश्रमम् ।
न हि बन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम् ॥

अर्थात् विद्वान् के परिश्रम को विद्वान् ही जान सकता है जिस प्रकार प्रसव की वेदना को प्रसव करने वाली स्त्री ही अनुभव कर सकती है बांझ महिला नही।

ऐसे विद्वानो के अभिनदन की इस गौरव परम्परा मे डा० लालबहादुर जी शास्त्री का जो सार्वजनिक रूप से अभिनंदन ग्रन्थ के द्वारा सम्मान किया जा रहा है वह डा० शास्त्री के ज्ञानाराधनपूर्वक साधक जीवन से प्राप्त प्रेरणा प्रकाश पुञ्जो का वन्दन है। उन्होने चिन्तन की गहराइयो मे गोते लगा कर उनसे प्राप्त अनुभूति-मणियो की उस दिव्यता की यह पूजा है जिसके आलोक से वर्तमान दिगम्बर समाज को जहाँ दशाबोधता का स्वरूप तो दिखा ही जिनवाणी के विकृत स्वरूप मे साम्प्रदायिकता को अथवा पथवाद की दुर्गंध प्रतिभासित हुई। परिणामत व्यक्ति से लेकर समाज ने अपनी अलसित चेतना की अगडाई ली और तथ्य के सत्य को जानने का उपक्रम किया । ऐसे मानवीय गुणो से अलकृत महामानव की परिगणना मे समाहारित डा० शास्त्री का यह अभिनदन ग्रन्थ अवश्य युगो-युगो तक हमे अपने कर्त्तव्य से जहाँ सजग तो करेगा ही पथ से पथभ्रष्ट होने से भी बचायेगा ।

डा० शास्त्री ने देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अवर्णवाद के उठे तूफान से ऐसे टक्कर ली जैसे विकराल तूफान धूल उडाता हुआ वृक्षो को उखाडता हुआ जब किसी पर्वत की शिखा से टकराता है तो अपने पौरुष के प्रति लज्जित होकर अपनी दिशा दशा को बदल देता है। यही स्थिति इस बीसवी शताब्दी मे चरितार्थ हुई। लोगो का धर्माचरण शून्यवत् होने लगा, आचरण की मर्यादाएँ सुप्त होने लगी, स्वच्छन्दता का बोलबाला था। एक दूसरे की निन्दा की प्रवृत्तियाँ अपना सामान्य रूप ले रही थी- ऐसी स्थितियो मे एक नए पथवाद के नाम से धन के लुभावने पौरुष को लेकर जो तूफान चला उसमे जहाँ आगम के कथन मे जो एकातवाद की दृष्टि ली कि भोले व्यक्तियो को भुलावे मे डाला गया, अन्दर से अपने पथ से भूले कि बाह्य धन की शक्ति के लुभावने पौरुष ने उसे धक्का दिया और अपने पथ से पथभ्रष्ट हो गया । चरित्र की खुले आम धज्जियाँ उडाई जाने लगी, आत्मकल्याण के सभी निमित्त कारणो को निंदक शब्दो की दुहाई देकर कोसा जाने लगा । कथनी कुछ और करनी कुछ और का माहौल ऐसे बढा जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र मे ज्वार उठता है । ऐसे समय मे डा० लालबहादुर जी की सिंह गर्जना ने आगम के आलोक मे अपने चिन्तन प्रकाश पुञ्जो की क्रान्ति से जो आलोक दिया वह धूल भरे इस बवण्डर को समझने मे पूर्णत फलीभूत हुआ और व्यक्ति से लेकर समाज तथा सामान्य से लेकर साधक तक इससे सजग हुआ ।

डाक्टर लालबहादुर शास्त्री के इस महान् कृतित्व के प्रति यद्यपि आज से १० वर्ष पूर्व ही हमारी समाज को अभिनदित कर लेना चाहिए था परन्तु डा० शास्त्री की अभिनदन के इस कार्य के प्रति अरुचि को देखकर समय की प्रतीक्षा करनी पडी । मैने आज से पाँच वर्ष पूर्व 'वीतरागवाणी' मासिक पत्रिका द्वारा डा० लालबहादुर शास्त्री के सार्वजनिक अभिनदन को अपनी बात जब समाज के बीच रखी तो भारत के सैकडो विद्वानो, ऋषियो, सस्थाओ और परिषदो ने मेरे सुझाव का अभिनदन कर अपना पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन देकर इस कार्य को आरभ करने की प्रेरणा दी । इन सभी की प्रेरणा से प्रेरित होकर मैने अ० भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद् मे इस बात का रखा तो उसे प्रस्ताव के रूप मे सर्व सहमति से स्वीकार किया गया ।

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद को प्राणवान करने का पूरा श्रेय डा० शास्त्री को है । इन्होने शास्त्रि परिषद् के माध्यम से पथवाद की दुर्गंध को दूर करने का जो सिंहनाद दिया उससे सस्था को

तो जीवनदान मिला ही समाज भी अनुप्राणित हुई। शास्त्रि परिषद् रूपी रथ को खीचने मे डा० शास्त्री एव प० जमादार जी ऐसे दो-एक धुरी के चाक थे जिन्होने धर्म रथ को ले चलने की सम्पूर्ण गरिमा प्राप्त की । अथवा हम कह सकते है कि शास्त्रि परिषद् रूपो देह प० जमादार जो थे और उस देह मे आत्मा डा० शास्त्री है। देह की विकृति मे आत्मा की विकृति नही होती बल्कि आत्मा की गरिमा से ही देह की पूजा होती है यही कारण रहा कि स्व० प० बाबूलाल जी जमादार का हम पहले अभिनदन ग्रथ द्वारा सम्मान कर गौरान्वित हुए और अब डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री जो अ० भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद् को आत्मा है की पूजा इस ग्रन्थ रूप मे करके गौरवान्वित हो रहे हैं। डा० शास्त्री के सम्मान मे प्रकाशित हो रहे इस अभिनदन ग्रन्थ से डॉ० शास्त्री का अभिनंदन नही हो रहा अपितु समाज, धर्म और जैन संस्कृति का सम्मान हो रहा है। डॉ० शास्त्री के अभिनदन से अभिनदन स्वय अपने आपमे अभिनदित हो गया।

डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री के सार्वजनिक अभिनदन का प्रस्ताव पास हुए लगभग ५ वर्ष से अधिक हो गए परन्तु जब भी इस कार्य को जिसके कधे पर डाला गया डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री का नाम मात्र इस कार्य के लिए झुकाव न होने से किसी ने भी इस कार्य को साकार न कर सकने जैसा हतोत्साह पाया। परन्तु श्री मागीलाल जी सेठी 'सरोज' सुजानगढ' के परोक्ष प्रेरणा पूर्ण पत्रो के बल पर मैने इस कार्य का दायित्व अपने परिषद् के विद्वानो के बार-बार आग्रह को दृष्टिगत करते हुए स्वीकार किया। प्रथम फोल्डर प्रकाशित कर देश के तथा परिषद् के विशिष्ट विद्वानो श्रीमानो को भेजे गये, अनेक सशोधन-सुझाव प्राप्त हुए। पुन. एक फोल्डर मुद्रित कर सम्पूर्ण देश के जैन विद्वानो को भेजे गये—हमारे अनेक विद्वानो ने प्रत्यक्ष परोक्ष रूप मे इस ग्रन्थ के लिए अपना सहयोग देना शुरू किया और ग्रथ का कार्य आरभ किया। डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री के समीप दिल्ली लगभग १० बार जाना पडा परन्तु नकारात्मक सहयोग ही उनस प्राप्त हुआ फिर भी आग्रह और प्रयास के निरतर करते रहने पर जो भी सामग्री सुलभ हो सकी उसमे से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण सामग्री को चयन कर लिया गया। डॉ० शास्त्री से एक ही प्रार्थना की गई कि वह वर्णीजी की तरह आत्मकथा के रूप मे मात्र अपना परिचय लिखकर दे जिसे ग्रन्थ मे प्रकाशित कर सके। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि ग्रन्थ के पूर्ण मुद्रण हो जाने के बाद तक डा० शास्त्री द्वारा आत्म परिचय अनेक आग्रह के बाद भी नही लिखा गया। कुछ पृष्ठ खाली छोडकर ग्रन्थ छप चुका। पुन पुन. आग्रह के बाद जो भी परिचय डॉ० शास्त्री जी ने दिया हमे प्रसन्नता है वह अपने आपमे एक गौरव पूर्ण है।

मात्र तीन माह मे सम्पूर्ण ग्रन्थ की सामग्री चयन की गई और विधिवत् रूप से उपयुक्त सामग्री को इस ग्रन्थ मे समाहार किया गया। ग्रन्थ सम्पादन के कार्य मे हमारे सम्पादक मण्डल के सुयोग्य विद्वानो का हमे पर्याप्त सुझाव सहयोग मिला। श्री बाबूलाल जी जैन फागुल्ल की अनवरत साधना ने ग्रन्थ की सर्वागीण सौरभता को महकाया है अत सर्व प्रथम श्री फागुल्ल जी विशेष बधाई के पात्र है। सम्पादन का कार्य बडा दुरूह है। मै नही कह सकता कि कहा तक सफल हू। ग्रन्थ की उपयोगिता की दृष्टि से इसकी सामग्री के चयन करने मे जो भी महत्त्वपूर्ण अच्छाई है उस सबका श्रेय हमारे सम्पादक मण्डल का है।

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद् ग्रन्थ प्रकाशन की दिशा मे भारत को सभी सस्थाओ मे अग्रणी है। भगवान् महावीर स्वामी की पच्चीस सौवी शताब्दी पर मेरे द्वारा लिखित विशालकाय 'विद्वत् अभिनदन ग्रन्थ' प्रकाशित कर एक सदर्भ ग्रन्थ की उस ऐतिहासिक परम्परा का सूत्रपात किया जिस पर साहित्यक दृष्टि से एक मच से सभी विद्वानो का अभिनदन किया गया। देश के शताधिक विश्वविद्यालयो ने इस ग्रन्थ के सदर्भ में अपने प्रशसा पत्र देकर मेरे श्रम को सराहा था। एक सौ से अधिक विविध विद्वानो की विविध

कृतियो का प्रकाशन करना शास्त्रि परिषद् की अपनी विशिष्ट गरिमा है। प्रति वर्ष अनेको विद्वानों को सहस्त्राधिक राशि के साथ उनकी कृतियो को पुरस्कृत करना भी शास्त्रि परिषद् की अपनी गरिमा है। श्री प० बाबूलाल जमादार अभिनंदन ग्रन्थ के बाद यह तीसरा महानतम् ग्रन्थ है जो शास्त्रीय विद्वानो को एक शोध ग्रन्थ के रूप मे अमूल्य निधि रूप प्राप्त है। आशा है विद्वत् अभिनदन परम्परा में डॉ० लालबहादुर शास्त्री अभिनंदन ग्रन्थ एक मात्र अभिनदन ग्रन्थ ही नही है, अपितु एक महानतम दार्शनिक विद्वान् के विचारों का ऐसा अभूतपूर्व सकलन है जिससे हमारी अनेक पीढियाँ इससे लाभान्वित होगी तथा शोध खोज की दिशा में यह एक सदर्भ ग्रन्थ के रूप मे उपयोगी होगा।

जिन महानुभावो ने ग्रन्थ के प्रकाशन मे आर्थिक सहयोग दिया है उन सबके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। साथ ही डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिन्होने शास्त्रि परिषद को प्राणदान ही नही दिया बल्कि इसे आगे बढाकर समाज, धर्म और संस्कृति की रक्षा की। शास्त्रि परिषद अपने ऐसे महान् अध्यक्ष की दीर्घ यशस्वी जीवन की कामना करती है। साथ ही अपने सभी आर्षमार्गानुयायी विद्वानो के इसी प्रकार अभ्युदय की भावना रखती है।

अत मे हम उन विद्वानो से क्षमा चाहते है जिनके महत्त्वपूर्ण लेखो को स्थानाभाव से ग्रन्थ मे नही दे सके अथवा जिनके संस्मरण श्रद्धा सुमन हमे विलम्ब से मिले उन्हे भी नही दे सके।

विमलकुमार जैन सोंरया
प्रधान सम्पादक
कृते सम्पादक मण्डल

सैलसागर टीकमगढ (म० प्र०)
२।४।८६

सम्पादकीय वक्तव्य

डॉ० लालबहादुर शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ को पाठको के हाथों में देते हुए हमें अतीव प्रसन्नता है। विद्वानो की सेवाओ के इतिहास को लिपिबद्ध करने के लिये अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन निश्चित रूप से स्वागत योग्य है। क्योकि विद्वानो का जीवन उनका स्वय का कम एवं समाज का अधिक जीवन होता है। उनके विचार समाज को दिशा देने वाले होते है तथा उनकी लेखनी मे समाज का दर्शन मिलता है इसलिये किसी भी विद्वान् का अपना समाजसेवी का सम्मान उनका सम्मान न होकर स्वय उस समाज का सम्मान है जिसके मध्य मे रहकर विद्वान् पडित अपना काम करता रहता है। महाकवि बनारसीदास, पाण्डे राजमल्ल, ब्रह्म रायमल्ल, जोधराज गोदीका, महापडित टोडरमल, प० बख्तराम साह, प० जयचन्द छावडा, पं० बुधजन, प० सदासुख कासलीवाल, प० गोपालदास बरैया, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद, प० चैनसुखदास जैसे पडितों का जीवन ही तत्कालीन समाज का इतिहास है क्योकि उनका जीवन समाज मे इतना घुलमिल गया था कि उसको अलग से देखना भी कठिन है। विद्वानो की इसी कडी मे डॉ० लालबहादुर शास्त्रीजी है जिनका जीवन भी समाज का प्रमुख अंग है।

विगत ४० वर्षों से सन्तो, विद्वान् पडितो एव समाजसेवी श्रेष्ठियों के सम्मान मे अभिनन्दन ग्रन्थ अथवा स्मृति ग्रन्थ निकालने की परम्परा का जन्म हुआ। सर्वप्रथम सम्भवत. प० नाथूरामजी प्रेमी की सेवाओ के अभिनन्दन म प्रेमी अभिनन्दन ग्रथ प्रकाशित हुआ जिसका सारे समाज मे हार्दिक स्वागत हुआ। उसके पश्चात् बीसो अभिनन्दन ग्रथ अथवा स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। जिनमे आचार्यों, साधु-साध्वियो, पडितो एव श्रेष्ठियो के अभिनन्दन ग्रन्थ सम्मिलित हैं। आचार्यों मे आचार्य धर्मसागरजी महाराज, श्रेष्ठियो मे सरसेठ हुकुमचन्दजी के अभिनन्दन ग्रन्थ उल्लेखनीय है। विद्वानो मे प० चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ, न्यायाचार्य डा० दरबारीलाल अभिनन्दन ग्रन्थ, सिद्धान्ताचार्य प० फूलचन्द शास्त्री अभिनन्दन ग्रथ, प० बाबूलाल जमादार अभिनन्दन ग्रन्थ, प० सुमेरचन्द दिवाकर अभिनन्दन ग्रंथ एवं प० कैलाशचन्द शास्त्री अभिनन्दन ग्रथ के नाम लिये जा सकते है। इसी तरह आर्यिकाओ मे आर्यिका रत्नमती माताजी अभिनन्दन ग्रन्थ एव आर्यिका इन्दुमती माताजी अभिनन्दन ग्रन्थ, महिलाओ मे प० चदाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ जैसे ग्रन्थो के नाम उल्लेखनीय हैं। समाज सेवियो मे बाबू छोटेलाल स्मृति ग्रन्थ, प० सत्यन्धरकुमार सेठी अभिनन्दन ग्रन्थ एव सेठ सुनहरीलाल अभिनन्दन ग्रन्थ के नाम लिये जा सकते है। मुझे यह लिखते हुए भी बडी प्रसन्नता है कि अब तक सात स्मृति ग्रन्थो एव अभिनन्दन ग्रथो के सम्पादन करने का अवसर मुझे स्वयं भी मिल चुका है इसलिये उन ग्रन्थो की महती उपयोगिता से मैं स्वयं परिचित हूँ।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ एक ऐसे विद्वान् पंडित का है जिनका समस्त जीवन समाज सेवा, साहित्य सर-चना, प्रवचन, अध्ययन, अध्यापन मे बीता है जिसने समाज की गति को पहिचाना है तथा आगम मार्ग का खुलकर समर्थन किया है। जो स्टेज पर जाने के विशेष इच्छुक नही हैं लेकिन जब बोलने लगते है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो आचार्यों की वाणी ही मुखरित हो रही है। ऐसे विद्वान् के सम्मान मे अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन निःसन्देह उनकी सेवाओ का सम्मान करना है। भविष्य मे जब कभी विद्वान् पडितो की गणना की जावेगी तो डॉ० लालबहादुर शास्त्रीजी का नाम प्रथम श्रेणी के विद्वानो में गिना जावेगा।

विगत ८-१० वर्षों से स्मृति ग्रंथ एवं अभिनन्दन ग्रथो के सम्पादन में थोड़ा परिवर्तन हुआ है। अब इस प्रकार के ग्रन्थो के अभिनन्दनीय विद्वान् के जीवन, संस्मरण एवं शुभकामनाओं के अतिरिक्त उनके कृतित्व को परखा जाता है साथ ही में उनके द्वारा लिखे हुए महत्त्वपूर्ण निबन्धों, लेखो, विचारों को पाठको के सामने रखा जाता है। जिनसे भविष्य में विद्वान् के विचारों से समाज लाभान्वित हो सके तथा उसके व्यक्तित्व का एक साथ दर्शन हो सके। विगत वर्षों में प्रकाशित डा० दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दन ग्रन्थ एवं सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ मे इस प्रकार के परिवर्तन देखे जा सकते हैं। प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ को भी इसी कोटि मे रखा जा सकता है।

इसके प्रथम खण्ड मे डा० शास्त्री के प्रति साधुओ, विद्वानो एव श्रेष्ठियो के शुभाशीर्वाद, संस्मरण एवं शुभकामनाएँ दी गयी है जिनकी सख्या १०० से अधिक है। ये सभी समाज के प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। आचार्य धर्मसागर जी महाराज जैसे महान् सन्त ने डॉ० शास्त्री को जिनवाणी के उपासक के रूप मे अपना शुभाशीर्वाद दिया है। मुनि श्री १०८ आनन्दसागर जी महाराज एवं ज्ञानमती जी माताजी ने भी मगल आशीर्वाद देकर शास्त्री जी का अभिनन्दन किया है। समाज के सभी विद्वानो के नाम पंडित जी के दीर्घजीवन की कामना करने वालो मे देखे जा सकते है। विभिन्न शुभकामनाओं एव सस्मरणो मे पंडित जी को असाधारण विद्वत्ता के धनी, जैन जगत् के अग्रणी विद्वान् प्रतिभाशाली व्यक्तित्व, युग की महान् विभूति, चारित्रोज्वल नक्षत्री, इस युग की महान् विभूति, युग पुरुष, बहादुर व्यक्तित्व से सुशोभित, युग चेतना के प्रतीक, कर्मठ व्यक्तित्व आदि कितने ही विशेषणो से सम्बोधित किया है जो उनके महान् व्यक्तित्व के परिचायक है। यही नही 'जैनागम के मानसरोवर नभ नभ के दिनमान' एव 'पुलकित हो गयी आज धरा यह देख तुम्हारा अभिनन्दन' काव्याञ्जलियो मे शास्त्री जी का कवियो ने यशोगान गाया है। इस खण्ड मे शास्त्री जी की लोकप्रियता एव विद्वत्ता की समाज पर कितनी छाप है उसके दर्शन किये जा सकते है।

अभिनन्दन ग्रन्थ के दूसरे खण्ड मे शास्त्री जी का जीवन दर्शन, व्यक्तित्व एव कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। इस खण्ड का सबसे महत्त्वपूर्ण लेख स्वय शास्त्री जी द्वारा लिखा हुआ अपना जीवन क्रम है। जो बहुत ही आकर्षक एव यथार्थ रूप से लिखा गया है। शास्त्री जी ने अपने जन्म से लेकर सन् १९८४ तक के जीवन काल मे जिस प्रकार दर्शन कराया है वह बहुत ही प्रशसनीय है। उन्होने अपने जीवन की किसी भी घटना को न तो छिपाया है और न उसे बढा चढ़ाकर लिखा है। सरसेठ हुकुमचन्द जी एव साहु शान्तिप्रसाद जी से जो टकराव हुआ उससे पडित जी के पक्के विचारो को दृढ़ता तथा साहस का परिचायक है। उनका जीवन सदैव गतिमान रहा तथा उसमे कभी विराम नही आया। अच्छा तो यह होता कि उनका जीवन क्रम पुस्तक रूप मे अलग से प्रकाशित होता जिससे समाज उनके जीवन से अच्छी तरह परिचित होता। इस अध्याय में विद्वानो के और लेख है जिनमे शास्त्री जी के बहुमुखी व्यक्तित्व का विभिन्न आयामो मे परखा गया है। इसी खण्ड मे एक लेख मे शास्त्री जी के शोध प्रबन्ध 'आचार्य कुन्दकुन्द एव उनका समयसार' की समीक्षा की गयी है। इनका शोध प्रबन्ध समयसार पर लिखे गये विभिन्न अध्ययनो मे सुन्दर एव तर्कपूर्ण अध्ययन है जिसमे समयसार का उपनिषद्, गीता, वेदान्त, साख्य आदि दर्शनो से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

तीसरे खण्ड मे डा० शास्त्री जी के विभिन्न विषयो पर ४१ निबन्धो को उद्धृत किया गया है। ये निबन्ध किसी सामान्य विषय पर नही है किन्तु समयसार और वेदान्त, मूर्तिपूजा की उपयोगिता, व्यवहार नय और निश्चय नय, धर्म और धर्मात्मा, उत्कृष्ट भक्ति ही मोक्षमार्ग है, पुण्यकर्म उपादेय है या अनुपादेय,

पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है, प्रक्षाल और अभिषेक, प्रतिष्ठा विधि आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है, शासन देवता, जैसे बहुचर्चित विषयो पर पडित जी ने जिस प्रकार प्रकाश डाला है वह निश्चित ही प्रशंसनीय है ये ऐसे विषय है जिनपर समाज मे आये दिन चर्चा होती रहती है। ये कभी पुराने नहीं पडते किन्तु जब भी उनको पढा जावेगा तभी नयी सामग्री पाठक को मिलेगी। पडित जी ने इन विषयो पर पूर्वाग्रह को छोड कर विचार किया है। इस प्रकार पडित जी के सभी ४१ लेख खोजपूर्ण सामग्री से युक्त होने पर भी भाषा एवं शैली की दृष्टि से अत्यधिक रुचिकर बन गये हैं। इसके अतिरिक्त ये सभी निबन्ध पडित जी के विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं तथा किसी भी समय उनकी उपयोगिता बनी रहेगी।

शास्त्री जी कवि हृदय भी है। यहाँ उनके तीन काव्य पाठ सग्रहीत है ये है महावीर दर्शन और महावीर वाणी एव जीव और कर्म भाषा, भाव, शैली छन्द की दृष्टि से दोनो ही पाठ पठनीय है।

अभिनन्दन ग्रन्थ का अन्तिम खण्ड जैन दर्शन, सिद्धान्त, साहित्य एव इतिहास पर आधारित है। इसमे जैन दर्शन, साहित्य एव इतिहास के उद्भट मनीषियो के लेख है इनमे प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य प० फूलचन्द्र जी शास्त्री, आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी, डॉ० प्रेमचन्द रावका आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सभी लेख उपयोगी एव बहुचर्चित विषयो पर लिखे गये हैं। क्षुल्लकमणि श्री शीतलसागर जी महाराज का *'भाव . आत्मा की एक निधि'* बहुत ही खोजपूर्ण लेख है तथा क्षुल्लक जी महाराज के गम्भीर ज्ञान का द्योतक है।

इस प्रकार प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रथ को सर्वांग सुन्दर एव उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। आशा है इसका सभी ओर से स्वागत होगा।

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल

कृते सम्पादक मण्डल

विषयसूची

खण्ड : १ · शुभाशीर्वाद • काव्याञ्जलि • संस्मरण • शुभकामनाएँ

खण्ड : २ जीवन दर्शन • व्यक्तित्व एवं कृतित्व

खण्ड : ३ मौलिक सृजन—सैद्धान्तिक • दार्शनिक • धार्मिक

खण्ड : ४ जैनदर्शन • सिद्धान्त • साहित्य • इतिहास

शुभाशीर्वाद · काव्याञ्जलि
संस्मरण · शुभकामना

जिनवाणी के उपासक

● परमपूज्य आचार्य श्री १०८ श्री धर्मसागर जी महाराज

समाज द्वारा विद्वानों का सम्मान सरस्वती अथवा जिनवाणी का सम्मान है। जिस प्रकार शास्त्र और गुरुओ से मार्गदर्शन होता है वैसे ही विद्वान् भी समाज के मार्गदर्शक होते है।

पर विद्वान् की विद्वत्ता इसी मे है कि वह कहने से पूर्व कथनी को अपने जीवन मे भी उतारे।

श्री डाक्टर लालबहादुर जी शास्त्री आगम के जानकार विद्वान् है। सादा जीवन उच्च विचार के आदर्श व्यक्ति है। देव-शास्त्र-गुरु भक्त हैं एव जिनवाणी के उपासक है।

उन्हे हमारा आशीर्वाद है कि वे महाव्रत धारण कर आत्म-साधना का भी लक्ष्य रखें। और अपने जीवन मे सफलता प्राप्त करें।

मंगल आशीर्वाद

● श्री १०८ मुनि आनन्दसागर जी महाराज

विद्वद् अभिनन्दन परम्परा मे डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री का अभिनन्दन ग्रन्थ, शास्त्री जी की सामाजिक एवं धार्मिक सेवाओं से मत्र-मुग्ध होकर भारतीय जैन समाज के द्वारा प्रकाशन हो रहा है यह जानकर अपार हर्ष हुआ। विद्वानो के सम्मान से उनका अभिनन्दन करने से ज्ञानवरणीय कर्म का तीव्र क्षयो-पशम होता है ऐसा मेरा पूर्ण अनुभव और विश्वास है। शास्त्री जी के स्वस्थ मगलमयी जीवन के लिये मेरा शुभाशीर्वाद है।

जैन समाज के अग्रणी विद्वान्

● गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माता जी

सरस्वती के वरदपुत्र पडित जी ने अपने दीर्घ जीवन में जैनागम की बहुत बडी रक्षा की है। आपकी प्रवचन शैली अत्यन्त सराहनीय एवं प्रभावी है। वर्तमान युग मे पडित जी को सारा जैन समाज विद्वानो मे गिनता है। कई बार मेरे पास भी पडित जी का आना हुआ उनकी श्रद्धा एव विनय अनुकरणीय है। ऐसे विद्वान् ही वास्तव मे समाज को सही दिशा प्रदान कर सकते है। पडित जी को चाहिए कि अब वृद्धावस्था मे अपना ज्ञान, अपनी प्रतिभाशाली प्रवचन शैली कुछ प्रबुद्ध शिष्यो को प्रदान करके भविष्य मे जैनागम की सत्यता को अक्षुण्ण बनाने का सतत प्रयत्न करते रहे। यही मेरा उनके लिए शुभाशीर्वाद एव प्रेरणा है।

अनेक गुणों के धनी

● परमविदुषी आर्यिका श्री अभयमती माता जी

ललितपुर के चातुर्मास में पडित जी से मेरा परिचय हुआ था। कई विषयो में धार्मिक चर्चायें भी हुई थी। वास्तव मे पडित जी ने अपने जीवन मे महान् कार्य करके "जैन सस्कृति" एव "श्रमण सस्कृति' को ऊँचा उठाकर अपने मनुष्य जन्म को सार्थक कर लिया। शास्त्री जी विद्वान् होने के साथ ही अनेक गुणो' के धनी है। उनका ज्ञान अगाध है और विषय को समझाने की शैली इतनी सरल है कि हरेक के गले उतर जाती है। भविष्य मे भी उनकी अमृत-वाणी द्वारा उनके प्रबुद्ध शिष्यो द्वारा परम्परागत जैनधर्म का विकास होता रहे यही मेरा शुभ आशीर्वाद है।

विद्वान् सर्वत्र पूज्यते

● भट्टारकरत्न स्वस्ति श्री लक्ष्मीसेन भ० प० महास्वामी, कोल्हापूर

डॉ० शास्त्री जी एक मनीषी विद्वान् है। जैनधर्म के मर्मज्ञ शास्त्री भी है। उनकी लेखनी एव वाणी मे विशेषता है। ऐसे विद्वान् के सम्मानार्थ अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन के लिए हमारा मगल आशीर्वाद है।

जैनागम के मानसरोवर, नय-नभ के दिनमान

आशुकवि कल्याणकुमार जैन 'शशि', रामपुर

●

१

विद्वानो की परम्परा मे, चोटी के विद्वान्
विषम कसौटी के प्रश्नो का, सबल सटीक निदान
जैनागम के मानसरोवर, नय-नभ के दिनमान
नीर-क्षीर के समीकरण मे शाश्वत हंस समान
जैनधर्म के सिंहद्वार को मञ्जुल-वन्दन बार
पण्डित लालबहादुर जी को नमस्कार शत बार

२

इनके मूल समायोजन मे, विद्वद्‌ता सा आश्वस्त
शोधार्थी की जिज्ञासा का, दुर्लभ पथ प्रशस्त
प्रस्तुतिकरण परायण के, उपमा उपमान अशक्त
सरस्वती के वरद् पुत्र, मुखरित चर्चित अनुरक्त
अन्तरङ्ग बहिरङ्ग समर्थित समदर्शी आचार
निराबाध सर्वत्र महकती, यश की मधु महकार

३

अनेकान्त का स्याद्वाद का, रक्षण आद्योपान्त
विद्वता मे समाविष्ट, नैसर्गिक नय सिद्धान्त
प्रतिपादन पाण्डित्य समर्थित, सम्पादन-सम्भ्रान्त
इतनी स्वच्छ ज्ञान गङ्गा, गर्वीली नही नितान्त
पूर्ण विरोधाभास रहित निस्पृहता पर अधिकार
बहुत बड़ा है कृत्यो का, कर्तव्यो का विस्तार

४

द्वादशाङ्ग वाणी मे, कोई तर्क नही प्रतिकूल
मुद्रित प्रतिपादित अनुवादित, सब आगम अनुकूल
जिज्ञासाओ की तरिणी के, दिशा बोध मस्तूल
मुमुक्षुओ के लिये प्रमाणित, बिछे महकते फूल
आप्त धर्म के जैनधर्म के कर्मठ पहरेदार
अभी अपेक्षित, अभिनन्दन से और बड़ा सत्कार

●

बौद्धिक प्रतिभा के अधिनायक, शिरोमणि का अभिनन्दन !

पं० बाबूलाल 'फणीश', ऊन

बौद्धिक प्रतिभा के अधिनायक शिरोमणि का अभिनन्दन ।
प्रभावशाली "श्री लालबहादुर शास्त्री" को है शत-शत वदन ॥

[१]

पजाब प्रान्त के लालरु ग्राम मे, घर मे प्रतिभा चमकी ।
"श्री रामचरण लाल" सुत पाकर "श्री लालबहादुर" दमकी ॥
शैशव जीवन लाड प्यार मे बीता, ज्ञानामृत का पान किया ।
सिद्धान्त विद्यालय मोरेना को, स्वय ने गौरवदान दिया ॥
सिद्धान्तशास्त्र मे पारगत हो बने स्वय ही स्वावलम्बन ।
राष्ट्रभक्त और समाजभक्त बन दिया आपने अवलम्बन ॥

[२]

इन्द्रपुरी के इन्द्र भवन मे जैनधर्म का दान दिया ।
उदभट विद्वानो का सग पाकर सर हुकमचन्द को ज्ञान दिया ॥
जैनदर्शन के गूढ तत्त्व को सरल भावमय समझाया ।
रचनात्मक नित योगदान से परमार्थिक सस्था का पद पाया ॥
इन्द्रप्रस्थ सस्कृत विद्यापीठ के रीडर पद से चमके नन्दन ।
जैनतत्त्व दर्शन पद पाकर किया नित्य तत्त्व दर्शन ॥

[३]

एम० ए० साहित्याचार्य से शोभित समयसार का शोध किया ।
वाचस्पति पद से नित सुरभित राष्ट्र पदक पद प्राप्त किया ॥
आध्यात्म क्षेत्र मे बढे निरन्तर स्याद्वादनय से सुलझाते ।
निश्चय और व्यवहार ज्ञान का विविधि तत्व दर्शाते ॥
रत्नत्रय पावन गङ्गा मे तिरो रहे है नित स्यदन ।
सत्य अहिंसा स्याद्वाद का पिला रहे जग चन्दन ॥

[४]

वक्तृत्व कला अमिट धनि हैं सब को मोहित करते ।
विद्वत्तापूर्ण सरल भाषा मे वीतराग वाणी जग भरते ॥
गुण ग्रहणता वाक्पटुता से तत्वावलोकन करते ।
विद्वद्भूषण व्याख्यानपटुता से जग को मोहित लेते ॥
धन्य-धन्य इस सरस्वती वरद का करते हम सब वदन ।
सूर्य चन्द्र जगती पर शोभित चिरजीवी बन नन्दन ॥

[५]

रामचरित आप्त परीक्षा का सम्पादन कर कमाल किया।
जैन सदेश व जैन गजट का भली-भाँति सम्पादन किया ।।
महावीरवाणी मुक्ति मन्दिर, सुन्दरतम वरदान दिया।
संस्कृत प्राकृत भाषाओ पर श्रम श्रद्धा से अधिकार किया ।।
शास्त्री परिषद के अध्यक्षी नेता बन करते शुभ सचालन।
कुन्दकुन्द और समन्तभद्र की, फहरात ध्वज नभ मण्डन ।।

[६]

निस्पृही निरभिमान नर पुंगव ज्ञान दीप जलाते हो।
सेवाभावी प्रशान्त मूर्ति तुम जन-जन को राह बताते हो ।।
कर्मठ वीर धीर सयमी बन धर्मामृत पान कराते हो।
सरल सादगी का जीवन पा, सौम्य सरसता दिखलाते हो ।।
कर्मठ योगी "श्रीलालबहादुर" शास्त्री को नत "फणीश" का वदन।
विद्वद् पीढ़ी के मानव को विद्वद् पीढी का अभिनन्दन ।।

●

पुलकित हो गई आज धरा यह देख तुम्हारा अभिनन्दन

श्री निर्मल आजाद, जबलपुर

●

सरस्वती के वरद पुत्र तुम
जैन जाति के कुलभूषण
पुलकित हो गई वसुन्धरा यह
देख तुम्हारा अभिनन्दन

वाणीभूषण जिनवाणी के
आगम पथ के सुदृढ स्तम्भ
प्रबल विरोधी भी झुक जाते
देख आपके प्रमाणित छद

जैन जगत के प्रखर सूर्य
सबक वाणी वीतराग के
जन जन के प्रिय मानहितैषी
पथ प्रदर्शक मुक्ति मार्ग के

आध्यात्म गगा बहाने वाले
सन्मति के हे अनुयायी
सरल हृदय तुम हो मृदुभाषी
उच्च विचारक सन्यासी

गुणो की खान हे लालबहादुर
इसलिए हम करते वदन
पुलकित हुई है आज वसुन्धरा
देख तुम्हारा अभिनन्दन

●

मेरा है शत वन्दन

शशिप्रभा जैन 'शशाङ्क'

●

डॉ० लालबहादुर तेरा करती हूँ अभिनन्दन
शास्त्री की गौरव गरिमा को मेरा है शत वन्दन
पाण्डित्य कला के दिग्दर्शक, विद्वद् भूषण जग उन्नायक
माँ सरस्वती के वरदपुत्र, आचार्य ज्ञानपथ दर्शायक
स्वयं जगे, जगाया सबको, डॉ० लाल बहादुर ने
मतभेदो को दूर भगाया, धर्म धरा के आगन से

× ×

तू कर्मठ, तू ज्ञानगुणी है, अभिशप्त मिटाया जीवन का
गुरुभक्त, मेवा वत्सल, वरदान बनाया जीवन का
उच्च श्रेष्ठ, आदर्श तत्त्व को, गढ-गढ कर सबको बतलाया
धर्म दिवाकर, उदारमना ने, भक्तिमार्ग हर्षित अपनाया
कई पत्रो के हो सम्पादक, जिनवाणी के अनन्य भक्त
कथनी तथ करनी के बल पर, मानव सेवा मे सदा रत

× ×

शाखा से सीखा झुक जाना, शशि से शीतलता बिखरायी
दिनकर सा ज्ञान विकीर्ण किया, सरिता बन जन की प्यास बुझाई
निस्वार्थी भारत का बेटा, सब कुछ जन कल्याणार्थ लुटाया
पौरुष गरिमा बल सचय से, मोक्षमार्ग का पथ दर्शाया
बहुत बडी है बात अगर हम, सीख सके कर्तव्य निभाना
तेरी महिमामयी किरणो से, जीवन को आदर्श बनाना

× ×

सादा जीवन उच्चविचारी, क्षमाधर्म गुण भण्डारी
मेरु सम दृढता के स्वामी, प्रकृत्ति प्रदत्त उपहारी
लघु हृदय के शब्द निधि से, शब्द पुष्प है सज्जित
शुद्ध आत्मा निराभिमानी का, अर्चन है अभिनन्दित
ग्रहण करो श्रद्धा सुमनो को लाल तेरा शत वन्दन
समाजरत्न औदार्यमना का, करती हूँ अभिनन्दन

●

डॉ० लालबहादुर शास्त्री का अभिनन्दन है

वै० र० दामोदर 'चन्द्र' जैन, घुवारा

●

जिनकी कलम सुधर्म जाति हित करती सदा सृजन है।
डाक्टर लाल बहादुर जी का कोटिक अभिनन्दन है॥

बौद्धिक प्रतिभामय पण्डित कवि तुम व्यक्तित्व धनी शालीन।
वाणी मिष्ट प्रभाविक वक्ता सन्तोषी साहसी प्रवीन॥

जन्मस्थान पजारीलालक, रामचरण जी पिता धनी।
व्यावर मोरेना में पढ़कर, हुये शास्त्री महागुणी॥

रहे इन्दौर सेठजी के—पारावारिक शिक्षक है।
डाक्टर लालबहादुर जी का कोटिक अभिनन्दन है॥१॥

पारमार्थिक संस्था मंत्री, रीडर दिल्ली विद्यापीठ।
हो बी० ए० साहित्याचारज, टीका समयसार लिख ठीक॥

हुये डाक्टर न्यायतीर्थ अरु, काव्यतीर्थ पदवी पाके।
सन्त भक्त शुभ धमवान हो—सम्पादक कई पत्रों के॥

हो विद्याभूषण 'विबुधरत्न' प्रियवक्ता कला शिरोमणि है।
डॉक्टर लालबहादुर जी का कोटिक अभिनन्दन है॥२॥

कई पुस्तक के आप रचयिता कई ग्रन्थों के सम्पादक।
शुभ अध्यक्ष शास्त्रि परिषद् के कई शुभ संस्था संचालक॥

धन्य बहादुर लाल जो जग में जो दिखला बहादुरी-लाल।
देश धर्म जाती हित सब दे जो महँगुणि हो करे कमाल॥

इमि ये लालबहादुर शास्त्री, को जाने जग जन है।
डॉक्टर लालबहादुर जी का कोटिक अभिनन्दन है॥३॥

जब तक सूरज चाँद रहे, गङ्गा यमुना वास।
तब तक शास्त्री जी सुखी हो चिरायु यश खास॥

●

कर रहे हैं आपका अभिनन्दन

पं० लाडली प्रसाद जैन 'नवीन'

●

ये भारत माँ के लाल
वास्तव में बहादुर तो हैं ही
साथ भी हैं कवि, लेखक,
जैनागम के मर्मज्ञ
विद्वान और चिंतक।
देव शास्त्र गुरु भक्त
सरल स्वभावी
सादा जीवन उच्च विचार
बहती है हृदय सदैव
करुणा की धार॥

जो भी टकराया आपसे
खाई मुँह की
चला गया करके वदन
आप के प्रवचनों से
मिली शीतलता
जैसे लगाया हो चंदन॥
आज गर्व है हम सबको
ऐसे लालबहादुर पर
जो बना है सरस्वती नन्दन
इसीलिये तो हम सब
कर रहे हैं आपका अभिनन्दन॥

●

नमन तुझे सौ सौ बार है

श्री जवाहरलाल भिण्डर

●

लालबहादुर शास्त्री, हैं ये धर्म-सपूत ।
ग्राम पमारी के जनमे, धर्मपुरी के हैं ये दूत ॥
पद्मावती पुरवाल जाति मे, जनम लियो श्रीमान् हैं ।
थे पितु राम चरण इनके, श्रीयुत और धीमान वे ॥
बाल्यकाल मे पढे पढाई, अल्पकाल विद्या मब आई ।
एम ए और बी. ए आचार्य सास्कृत भये झट महाचार्य ॥
विश्व विद्यालय आगरा, जाकर तहाँ विवेकी आप ।
पी एच डी. पद पा लिया, करे आज पी. एच डी नाप ॥
न्यायतीर्थ ये, काव्यतीर्थ ये, भये पुन ये हिन्दी प्रभाकर ।
'डॉक्टर शास्त्री' लहि बहु डिग्री, मनहुँ भये डिग्रयश दिवाकर ॥
विविध प्रान्त मे धर्म पढाकर किनो श्रुतसेवा अपार है ।
पण्डित भूषण, पण्डितरत्न अरु लौह पुरुष समाजरत्न निर्धार है ।
व्याख्यानवाचस्पति इत्यादि पाई उपाधियें बहु बार है ।
जैनदर्शन रु गजट, सन्देश के, रहे सुसम्पादक सार है ॥
अभिनन्दनीय रे विद्यासुत, हम पर आपके अपार उपकार है ।
श्रावक-वीर हे लालबहादुर, नमन तुझे सौ-सौ बार है ॥

●

वाणी के उस नंदन का लो करो, करो अभिनंदन !!

श्री सुरेन्द्रसागर प्रचडिया, कुरावली

●

विसवाद के हरबोलो के बोलो पर घहराया !
अरे ! कौन उस लौह-पुरुष ने सिंहनाद गुजाया ?
कौन जिनागम-सम्मत करतब उच्च स्वरो मे बोला ?
देव-शास्त्र-गुरु-महिमा-अमृत-पान कराता डोला ??

कठ-कठ का स्वर गूँजा—वह लाल जैनवाणी का !
वह बस "लालबहादुर" प्रहरी सस्कृति कल्याणी का !
उसके लोचन खुले सुलोचन सदृष्टी से पूरे !
उसके कार्य-कलाप न रह पाते है कभी अधूरे !!

उन्नत मस्तक झुका त्रिरत्नो के है आगे !
उसके उद्बोधन से सोए जैनबधु है जागे !!
जागृति का संदेस दे रहा—तजो विसंगति सारी !
दकियानूसी-उच्छृंखलता उससे बरबस हारी !!

जैन-जगत का आज मात्र वह नेता-अभिनेता है !
विपक्षियो के मत-विश्रृङ्खल का अपूर्व जेता है !!
ओज भरी वाणी मे उसकी जिनवाणी व्यापी है !
श्रद्धामयी देव-गरिमा का अविरल आलापी है !!

जिनगुरुओ का वह अपमान न सह सकता है !
पूज्य-प्रतिष्ठा किये बिना वह कभी न रह सकता है !!
सम्यकदर्शन ज्ञान चरित की गीता का वह गायक !
धन्य धन्य वह जिनशासन का अग्रदूत-उन्नायक !!

वाणी के उस नदन का लो करो-करो अभिनंदन !
उसके दर्शाए मारग पर बस करके आरोहण !!
नए-नए देखे बसत वह नवोत्साह से जीकर !
पाते रहे जैन-जन उससे ज्ञानामृत के सीकर !!

●

सरस्वती के वरद पुत्र का, करते हम अभिनन्दन

श्री सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती', बिजनौर

●

श्रमण सस्कृति की सेवा को, जिनका जीवन अर्पण ।
सरस्वती के वरद् पुत्र का, करते हम अभिनन्दन ।।१।।

सन् सोलह का माह सितम्बर, थी सोलह तारीख ।
जन्म लिया जब लालबहादुर, तभी मिली यह सीख ।।
हँसते रहो सदा जीवन मे, और नेह से जोड़ो नाता ।
जहाँ धर्म है वही शान्ति—सौख्य है सुयश प्रदाता ।।२।।

ग्राम-पमारी, जिला-आगरा, हुआ जन्म से पावन ।
बाबू रामचरण के घर पर, जन्मा लालबहादुर ।।
चहुँदिशि शान्ति हुई नगरी मे, बजे दुन्दुभि बादन ।
जब देखा लालबहादुर जैसा, सुख सीमा का सागर ।।३।।

हुआ लाल पढने के काबिल, जा पहुँचा विद्यालय ।
अध्ययन-अध्यापन के द्वारा, बना ज्ञान का आलय ।।
न्यायतीर्थ क्या, काव्यतीर्थ क्या, अरु क्या था जैनागम ।
लाल बहादुर की सुबुद्धि ने, जाना बृहस्पति सम ।।४।।

वक्ता तुम, अध्येता तुम, अरु खूब किया सम्पादन।
समता-समाजवाद-सर्वोदय, यही एक है दर्शन॥
इस पंक्ति का मूल प्रणेता, दीर्घायु हो लाल।
जब तक सूरज चमके नभ में, जियें बहादुर लाल॥५॥

गौर वर्ण, उन्नत ललाट, दैदीप्यमान है ज्ञान की आभा।
यदि पण्डित ऐसे निस्पृह हो, क्यों न बढे धर्म की शोभा॥
जैन-जगत् आपको पाकर, क्यो न करे अभिनन्दन।
सरस्वती के बरद् पुत्र का, करते हम अभिनन्दन॥६॥

●

जीवनी ऐसे लाल की

श्री पवनकुमार शास्त्री, 'दीवान' ललितपुर

●

आओ बन्धु तुम्हें सुनायें, जीवनी ऐसे लाल की।
जिनवाणी की सेवा करके, अद्भुत किया कमाल जी॥
जगतल पर आने के बाद मे, उनकी बात सुनाते है।
माँ के लाल, बहादुर शास्त्री, डाक्टर भी कहलाते हैं॥

सोलह नौ सोलह को बन्धु, पितु रामचरण हर्षित भारी।
जिला आगरा एत्मादपुर ढिग ग्राम **पमारो** खुशी भारी॥
बाल्यकाल जब लाल का आया, गुरुकुल भेजा महतारी।
शिक्षा पाने बहादुर बनने, आया लाल खुशी भारी॥

महासभा विद्यालय व्यावर, संस्कृत मध्यमा कीनी पास।
फिर मोरेना गुरुकुल आये, गुरु गोपालदास के पास॥
कर शास्त्री आचार्य पास फिर, पी-एच० डी० आगरा से कीनी।
न्यायतीर्थ अर काव्यतीर्थ बन, हिन्दी प्रभाकर भी कीनी॥

मिली उपाधियाँ भी अनेक जब, हुये कुशल यह प्रवचनकार।
"**विद्वद्भूषण**" कहे रेवाडी, "**पण्डितरत्न**" मलुम्बर समाज॥
"**व्याख्यानवाचस्पति**" अशोक नगर मे, और मडावरा "**समाजरत्न**"।
मैनपुरी कहे "**लौहपुरुष**" इन्हे, हर्षित सारे नगर के जन॥

फिर सामाजिक सेवाओ मे बन्धु, कीना बडी लगन से काम।
शास्त्र भण्डार इन्दौर का देखा, आये है फिर **बिहारप्रान्त**॥
रांची स्कूल, सुजानगढ़ शाला, फिर **संघ चौरासी मथुरा में**।
समन्तभद्र संस्कृत विद्यालय, दिल्ली नगर जो भारत मे॥

फिर है सम्भाला विद्यापीठ, जो दिल्ली नगर मे स्थित है।
कर इस तरह सामाजिक सेवा, पुलकित सारा तन मन है॥
फिर मानद सेवाओ हेतु, **प्रधान सम्पादक यह चुने गये।**
इसीलिये तो पत्र-पत्रिकाओ मे, सुन्दर लेख भी लिखे **गये॥**

जैन दर्शन जैन संदेश, साथ ही **जैनगजट**, के सम्पादक।
वीतरागवाणी, व **पद्मावती** मासिक पत्र के सम्पादक॥
अब है बनाया संस्थाओ ने, इनको पद का अधिकारी।
इस ही कारण कही अध्यक्ष व, कही पर मन्त्री बने भारी॥

शास्त्री परिषद, विद्यापीठ व पुरवाल पचायत, दिल्ली मे।
विक्रम परिषद, व संस्कृत विद्यापीठ, ने अध्यक्ष बनाया दिल्ली मे॥
महासभा के पुरातत्व विभाग मे, फिर यह मन्त्री बनाये गये।
आये जब मोरेना गुरुकुल, वहाँ भी मन्त्री बनाये गये॥

फिर कीना साहित्य सम्पादन तो, तत्वज्ञान तरगिनी ले लेनी।
मोक्षमार्ग प्रकाश व रामचरित को, आधुनिक शैली दे दीनी॥

कुन्दकुन्द अरु उनका समयसार तत्त्वार्थसूत्र भी है लीना।
महावीर दर्शन व वाणी उनकी, मुक्ति मन्दिर भी दीना॥
बेटी की विदा अरु विदा की वेला, औ **आप्त परीक्षा** लीनी साथ।
हुए प्रकाशित अनेक लेख जो, सुन्दर सरल गहनतम भाव॥
अब है जिनकी वृद्ध अवस्था, लेकिन उच्च कोटि का ज्ञान।
इसीलिये तो आज समय मे, सब जन देते सुसम्मान॥

अभिनन्दन करने के अवसर पर, हम यही कामना करते हैं।
होकर शास्त्री जी चिरआयु, पावे मोक्ष हम कहते है॥

●

लालबहादुर शास्त्रीजी का हम करते है अभिनन्दन

श्री विजयकुमार जैन एम० ए०, सरधना

●

लालबहादुर शास्त्री जी! हम करते है अभिनन्दन।
स्याद्वादमय तब वाणी मे, सुरभित शीतल चन्दन॥
तुम निर्भीक सदा जिनवाणी के, हो प्रमुख प्रवक्ता।
लेखक, पत्रकार, आगम सिद्धान्तो के अधिवक्ता॥

सच्चे अध्यापक पथद्रष्टा जैन जाति के नेता।
दुर्नय गाढ ध्वान्त विध्वंसक नव साहित्य प्रणेता॥
सुकवि समीक्षक साहित्यिक हो, जैनागम अभिभावक।
सात नयो की अतुल तुला पर, तुम जिनवाणी मापक॥

आज आपकी यशगाथा से, भासित जैन गगन का मण्डल।
तब पुनीत कार्यों का ही यह, फैल रहा भामण्डल।।
पत्रकारिता का सच्चा, तुमने सन्मान बढ़ाया।
जैन गजट-दर्शन पत्रो को, गौरव युक्त बनाया।।

विद्वद्वर ! शास्त्री परिषद का, तुमने मान बढ़ाया।
वर्षों तक अध्यक्ष रहे, परिषद ने गौरव पाया।।
भारतवर्षी जैन सघ मे, तुमने जीवन डाला।
आगम ग्रन्थो का सम्पादन, कर तन-मन सब बारा।।

पण्डित रत्न समाज रत्न हे, लौह पुरुष विद्वद् भूषण।
वक्ताओ के वाचस्पति हे, तुम समाज आभूषण।।
कर प्रदीप्त तुम ज्ञान दीप, जग मे आलोक वितरते।
दिखलाते हो पथ उनको, जो अपना मार्ग बिसरते।।

जैन समाज गगन मण्डल मे, जो अन्धड आया है।
प्रबल युक्तियों की ममरमता से, तुमने शान्त किया है।।
विद्वद्वर ! लो आज तुम्हारा, जग मे ह अभिनन्दन।
भाव पुष्प लो मै भी तुमको, करता हूँ शत वन्दन।।

●

करते हैं हम अभिनन्दन

श्री बिहारीलाल मोदी शास्त्री, बडामलहरा

●

लालबहादुर शास्त्री जी का, करते हम अभिनन्दन।
जिसने ओजस्वी वाणी द्वारा, किया समाज मे क्रन्दन।।१।।
निश्चय की जो देय दुहाई, एकान्तवाद का करें प्रचार।
मुनि धर्म के तीव्र विरोधी, नहिं धरते आचार विचार।।
उनका किया विरोध आपने, यथार्थ धर्म का किया प्रसार।
जैनधर्म के गूढ तत्त्व का, दोप आपने दिया प्रजार।।
महावीर के आदर्शों का, किया आपने सवर्धन।
लालबहादुर शास्त्री जी का, करते है हम अभिनन्दन।।२।।

सम्पादन किया बहुत शास्त्रो का, आगम का अनुपम व्याख्यान।
आर्ष मार्ग का किया प्रवर्धन, सुनय तत्व का किया बखान।।
और आपने कई पत्रो का, किया सुरीत्या सम्पादन।
आलेखो मे यथार्थ बात का, किया आपने प्रतिपादन।।
करे प्रकाशित निज पर को जो, ऐसे है वे उत्तम चन्दन।
लालबहादुर शास्त्री जी का, करते है हम अभिनन्दन।।३।।

सैरलस्वभावी मृदुभाषी हैं, तथा बहुत ही मिलनसार।
धीर वीर गम्भीर सुधी हैं, नित ही करते पर उपकार॥
विद्वत्भूषण समाजरत्न हैं, लौह पुरुष कहलाते आप।
वर्ष शतक तक पडित जी जीवें, दूर रहें आपद् सन्ताप॥
"लाल बिहारी" नमन करत है, हो तुम सरस्वती के नन्दन।
लालबहादुर शास्त्री जी का, करते हैं हम अभिनन्दन॥४॥

●

श्री शास्त्री जी मुकुलित मुदित रहें....

श्री जगदीश प्रसाद छत्रवाल, विराटनगर

●

शत सहस्र नमन करते है, श्री हरि के चरण-कमल में,
है अतुलित अक्षय-श्रद्धा, भक्तो के भावुक-हृत्तल मे॥१॥

सत्सग आध्यात्मिक भक्ति का, मिलता रहे शुचि कृपा-प्रसाद,
सन्तकृपा गुरु गुणानुवाद से, अभिगत रहे नित आशीर्वाद॥२॥

भगवद्भक्ति, सुख-सम्पत्ति का, प्रभु अनुकम्पा से प्रादुर्भाव रहे,
उद्यम, सत्संग, सदाचार शान्ति का, किञ्चित् नही अभाव रहे॥३॥

स्वर्ण-सुगन्धसम गौरवान्वित, किया मजुल-मृदुलनैतिक व्यवहार,
सत्य-अहिंसा से अनुप्राणित जीवन, मगलमय हो सर्व प्रकार॥४॥

जैसे चातक को स्वाति मिले, अमृत से जीवन-सचार,
पुण्य-पीयूष मृदुवाणी से, सुधा-वृष्टि होवे निर्विकार॥५॥

जय जिनेन्द्र अरिहन्त सन्त, वीतरागी प्रभु महावीर भगवान्,
श्रीराम कृष्ण को प्रणिपात, हृदय मे प्रेम-विभूति-प्रणिधान॥६॥

तनिक क्लेश नही मिले किसी को, ऐसा करके अविचल-अनुराग,
सत्य-अहिंसा, जीवदयायुत, सुरभित होवे नित प्रेम-पराग॥७॥

योगक्षेममय जीवन होवे, जब तक क्षिति और गगन रहें,
चरित्र-मकरन्द-पराग-सौरभ, परोपकार भक्ति निर्विघ्न रहें॥८॥

प्रेम की अक्षय-ज्योत्सना, जीवन में दिव्य-प्रकाश करे,
प्रतिशोध, ग्लानि-मद-मत्सर, दुर्मति का सहज विनाश करे॥९॥

जीवन मे हर्षोल्लास रहे, गुरु-कैकर्य से निर्भय होवे,
इस अभिनन्दनग्रन्थ का प्रकाशन, सर्व-भाँति मंगलमय होवे॥१०॥

"श्री शास्त्रीजी" मुकुलित मुदित रहें, इस ससार-वाटिका-उपवन में,
त्रिविध-तापों से मुक्त रहें, आध्यात्मिक प्रेम-निकेतन मे॥११॥

●

डॉक्टर लालबहादुर जी का अभिनंदन सौ बार है

पं० विमलकुमार जैन सोरया एम० ए०, शास्त्री, प्रतिष्ठाचार्य, टीकमगढ़

●

जन जन आज हृदय से जिसके गाता गीत अपार है,
डाक्टर लालबहादुर जी का अभिनन्दन सौ बार है।
जिसने अपने पुण्य प्रयासों से मानव को योग दिया,
जिसने अपने सद् विवेक से जन मन को आलोक दिया।
जिसने क्षमता समता से मानव मन को आह्लाद दिया,
जिसने अपने सद् पौरुष से नव युग का निर्माण किया ॥

जो धरती पर बन आया माँ सरस्वती का प्यार है,
डॉक्टर लालबहादुर जी का अभिनन्दन सौ बार है।
जिसने अपने पौरुष से अपना इतिहास बनाया है,
जिसने अपने कर्त्तव्यो से सस्कृति को फहराया है।
जिसने अपनी सद् वाणी से मानव पथ दर्शाया है।
जिसने अपनी कृत करणी मे आदर का पद पाया है ॥

जो इस युग के बुधजन गण का बना एक आधार है।
डॉक्टर लालबहादुर जी का अभिनन्दन सौ बार है ॥
जिसकी पावन पुण्य लेखनी से आलोकित लोक है।
जिसकी सम्यक् वाणी को सुन जन झुक देता धोक है।
जिसने अपने बुध विवेक से मिटा दिया सब शोक है,
जिसने आगे आने वाले युग का किया आलोक है ॥

जो समाज संस्कृति के हित मे बन आया उपकार है।
डॉक्टर लालबहादुर जी का अभिनन्दन सो बार है ॥
जिसके शंख नाद से मिथ्या पंथ हटा इन्सान से,
जिसने सम्यक् चारित्रम का नाद किया सम्मान से।
भारत भू पर जिसकी वाणी का फैला सम्मान है,
जिसने अपने पावन कृत्यो से पाया बहुमान है ॥

उस जन की यह आज अर्चना का गूँथा शुभ हार है।
ऐसे ज्ञान ज्योति दिनकर का अभिनन्दन शत बार है ॥

●

युग-पुरुष आपका अभिनंदन

श्रीमती विदुषी गजरा देवी जैन सोरया, टीकमगढ़

पाखण्डों का किला तोड,
मिथ्या तम को जिसने टाला।
जिनवाणी के फेर बदल को,
जिसने समझा था हाला॥

चारित्रं खलु धम्मो का,
सिद्धान्त सभी को बतलाया।
धन के बल से फैल रहे इस,
अवर्णवाद को ठुकराया॥

लौह पुरुष बन इस युग का,
जो बन आया अलबेला है।
माँ जिनवाणी की रक्षा का,
बाँधा सिर पर था सेला है॥

सदा सदा से जिनके यश को,
गौरव गरिमा मे जाना।
जिनकी मगल सेवाओ को,
मानवता से पहचाना॥

आदर श्रद्धा के पुष्प सजा,
गुण सुमन पिरोकर के लाई।
माँ जिनवाणी के प्रभात मे,
अभिनन्दन घट भर लाई॥

यश कीर्ति का तिलक लगाकर,
सद् कार्यों का ले श्रीफल।
शाल सजा मंगल वाणी का
मानव सेवा का यह स्थल॥

सस्कृति सेवा के अगणित क्षण-
रूपी समाज के मध्य तुम्हे।
युग-पुरुष आपका अभिनन्दन,
करके अञ्जलि से तुम्हे नमें॥

जितने परमाणु देह मे है,
उतने वर्षो का हो जीवन।
जीवन हो सुखमय यश कीर्ति,
तन स्वस्थ और उज्वल हो मन॥

●

सागर को गागर में भर कर दिव्य धर्म सीचा।
लगा दिये त्रियोग, धर्म से हाथ नही खीचा॥
'लालबहादुर' नाम श्रेष्ठ, गौरव है जन-जन के।
उत्कर्षों के व्योम, आपसे सब कुछ है नीचा॥

● श्री सत्येन्द्र जैन पथिक, आगरा

●

डॉ० लालबहादुर शास्त्री युग-युग तक मुस्कायें

श्री गोकुल प्रसाद 'मधुर', हटा

●

अवनी, अम्बर, प्रमुदित होकर, ये दे रहा दुआयें
डा० लालबहादुर शास्त्री, युग-युग तक मुस्कायें

धन्य धन्य वो घडी धन्य है शुभ दिन मंगलकारी
धन्य हुई माता की गोदी, धन्य वो ग्राम पमारी
बाबू रामचरण जी के सुत, जैनधर्म के धारी
पद्मावति, पुरवाल गोत्र मे, जन्म लिया सुखकारी
सरस्वती के वरद्-पुत्र नित, सुख, सनेह, सरसाये
डा० लालबहादुर शास्त्री, युग-युग तक मुस्काये

विद्वद्वर, विद्वद्भूषण, ये लोह पुरुष कहलाते
निर्भय होकर के कुरीतियो पर, नित कलम चलाते
ये समाज के रत्न ज्ञान के सचमुच मे रत्नाकर
भरा अनेको ग्रन्थो मे, इनने गागर मे सागर
सरल स्वभावी मृदुभाषी, इन जैसे कहाँ दिखाये
डा० लालबहादुर शास्त्री, युग-युग तक मुस्काये

सम्पादन के कठिन क्षेत्र मे, इनकी कला निराली
हिमगिर जैसा उन्नत होवे, जीवन गौरव शाली
सच्चे प्रहरी जिनवाणी के, कभी न विचलित होते
सदा ज्ञान की क्यारी मे ये, स्नेह बीज को बोते
बढे उम्र की वेल न पग ये पीछे कभी हटायें
डा० लालबहादुर शास्त्री, युग-युग तक मुस्काये

सादा जीवन उच्च विचारो की इनकी परिभाषा
देश, जाति, कुल, धर्म वेद, ऐसी करते अभिलाषा
अभिनंदन कर विज्ञ आपका, पुलकित हृदय हमारा
पृथ्वीतल पर नित प्रति चमके, नित प्रति सुयश तुम्हारा
"मधुर" कामना करें वीर से, शुभ आशीष मांगायें
डा० लालबहादुर शास्त्री, युग-युग तक मुस्काये

●

यावद्भाति नभस्वान् भाति विवस्वान् विभासते हिमगुः ।
लालबहादुरशास्त्री तावज्जीयादपूर्वपाण्डित्यः ॥

● अमृतलाल शास्त्री

शुभ कामनाएँ

श्री गेंदालाल जैन बरैया

●

सवैया[1]

१

चमकै प्रतिभा महि मण्डल मे सम्पादक जी निहचे यह जानो
दीख रह्यो है भविष्य हमे न विरोधिन को कहुँ अन्त ठिकानो
हाथ हजारन को अवलम्ब रहे तुम पै सो अचूक निशानो
सोलह कला सो उदय नित होउ हमारी यही शुभ कामना मानो

२

साप्ताहिक दर्शन प्रति देख कै पाठक खूब खुशी होय सारे
लालबहादुर के अब की कहूँ, दीन दयाल बनें रखवारे
अल्प समय मे असंभव कर, न देर लगी करि पूरन सारे
है अभिलाष तभी अब होंहिगे शेष मनोरथ पूर्ण हमारे

३

देत बधाई अपार खुशी तुमरी, सब साहस की चतुराई
स्वार्थ रहित सेवा तुमरी मुख से नहिं जात कही है बढाई
सम्पादक मिथ्यामत को तुम, दूर करो सब को समझाई
कान जी पथ समूल मिटे सबकी मति जाने है भौरि बनाई

४

आगम की मर्याद रहे ऐसे, सुन्दर भाव भरौ अति नीके
लेखनी आपकी है कहती ये पन्थ महादुख दायक नीके
'दर्शन' की ये कला है बडी उद्भ्रान्त नही बनते जन दीखें
सम्पादक के खुले अल्फाज हृदय चुभ जाँय कटार से तीखे

●

---

१. यह सवैया जैनदर्शन अंक २४-८-६५ में प्रकाशित ।

मेरी शुभकामना है कि वे...

● प० बंशीधर शास्त्री व्याकरणाचार्य, बीना

माननीय शास्त्री जी के प्रति मेरी कामना है कि वे दीर्घजीवी होकर जैन संस्कृति के संरक्षण और स्थायित्व के लिये अपनी सक्षमता का उपयोग करें।

आस्थावन्त विद्वान्

● पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

डा० लालबहादुर शास्त्री, एम ए पी-एच. डी. साहित्याचार्य एक आस्थावन्त विद्वान्, कुशल लेखक और प्रभावक वक्ता है। सतत अध्ययनरत रहते है। शास्त्री परिषद् के उन्नायक नही प्राणाधार है। अभिनन्दन की वेला मे मैं उनका शतश अभिनन्दन करता हूँ।

जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान्

● पं० नन्हेंलाल शास्त्री, राजाखेड़ा

जैनसिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान् प० लालबहादुर शास्त्री देहली ने दिगम्बर जैन समाज के उत्थानार्थ जीवन मे जो गौरवपूर्ण कार्य किए है वे भुलाये नही जा सकते है। शास्त्री जी जैन समाज की एक मजी हुई विभूति है। उन्होने अपने पाडित्य प्रवचनो एवं मजे हुए लेखो और साहित्य सृजन द्वारा दिगम्बर जैनधर्म के सिद्धान्तो को अक्षुण्ण बनाए रखने मे जो प्रयत्न किया है वह सदा स्मरणीय रहेगा। दिगम्बर जैन आगमानुसार धार्मिक मर्यादाओ एव निर्दोष अकाट्य सिद्धान्तो को अक्षुण्ण बनाए रखने मे ही कुछ कहना और लिखना विद्वान् की विद्वत्ता का महत्त्व है, प० जी कुछ कहने और लिखने मे निर्भीक विद्वान् हैं।

पडित लालबहादुर जी शास्त्री जिस समय सिद्धान्त विद्यालय मोरेना मे विद्यार्थी थे, उस समय अति विनीत, सरल स्वभावी, शात और प्रतिभासम्पन्न थे। गुरु मुख से अध्ययन करते समय पाठ्य विषयो के भाव को हृदय मे गम कर लेते थे। जिससे उन विषयो के उपस्थित करने मे उन्हे अधिक श्रम नही करना पडता था। यही कारण है कि आपके विद्वान् गुरु आपके स्वभाव और प्रतिभा से सदा प्रसन्न रहते थे।

मैं श्री शास्त्री की ज्ञानगरिमा और कार्य-पटुता की भूरि-भूरि प्रशसा करता हुआ उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

देवशास्त्रगुरु के दृढ़ श्रद्धानी

● पं० शिखरचन्द्र जैन, प्रतिष्ठाचार्य, भिण्ड

प० लालबहादुर जी शास्त्री जैन समाज के मूर्धन्य विद्वानो मे से है। उनका नाम बहुत ही श्रेष्ठ है। इन्होंने अपने नाम के अनुसार ही काम भी किया है। जब-जब जैन सिद्धान्तो की आर्ष परम्पराओ पर एकान्तवादियो ने कुठाराघात किया है तभी-तभी पं० जी ने बडी बहादुरी के साथ सिद्धात को सामने रखकर धर्म की परम्पराओं की रक्षा की है। विद्वान् की सत्यश्रद्धा को ही प्रतिष्ठा होता है।

पं० लालबहादुर शास्त्री देवशास्त्रगुरु के दृढ श्रद्धानी विद्वान् हैं और जिनागम के सिद्धान्त ग्रन्थो के गहन विषयो के अध्येता है। जैन समाज ने प० जी का अभिनन्दन कर बहुत ही बडा कार्य किया है। मैं वीतराग भगवान् से यह विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि ऐसे मनीषी विद्वान् डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री चिरायु रहें और श्रद्धा के साथ आर्ष परम्पराओं का सरक्षण करते रहें।

असाधारण विद्वत्ता के धनी

● पं० नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर

सन् १९३२ मे इन्दौर मे प० लालबहादुर जी और मैंने साथ ही सरस्वती भवन का कार्य किया था। इन्दौर से पडित जी ने पी-एच० डी० मे सफलता प्राप्त की है। जैन संघ मथुरा की ओर से भारत मे अपनी प्रभावक वक्तृता द्वारा जैनधर्म का प्रचार-प्रसार कर सघ का गौरव बढ़ाया और कीर्ति अर्जित की है। सर सरूपचन्द हुकमचन्द दि० जैन परमार्थिक सस्थाओ के संयुक्त मत्री पद पर कार्य किया। उस समय सस्था के संस्कृत महाविद्यालय को उन्नत बनाने की योजनाओं के साथ विद्यार्थियो को अनेक सुविधाये प्रदान करते रहे। सर सेठ हुकमचन्द जी पडित जी की प्रवचन शैली पर मुग्ध थे, अतः अपने यहाँ की विद्वन्मंडली में उनको स्थान प्रदान कर सम्मानित किया।

पडित जी ने इन्दौर मे प्रेस की स्थापना कर 'जैनदर्शन' पत्र का सपादन-प्रकाशन प्रारम्भ किया था। समाज में उनके आकर्षक व्यक्तित्व, असाधारण विद्वत्ता, लोकोपयोगी वक्तृत्व और निर्भीक लेखनी मे तथा पत्रकारिता मे प्रसिद्धि होने से वे प्राय बाहर भ्रमण करते रहे हैं। इससे समाज की स्थिति का उन्हे पर्याप्त अनुभव है। शास्त्री परिषद् के कर्णधार रहे है। दिल्ली निवास करते हुए भी उनसे वर्ष मे एक-दो बार सम्पर्क हो जाता है।

समाजसेवियो और विद्वानो मे उनका उच्च स्थान और आदर है। पंडित जी का सौम्य स्वभाव, मिलनसारिता और स्वाभिमान अनुकरणीय है।

इस अभिनन्दन के अवसर पर मेरी अनेक शुभकामनायें।

कर्मठ समाजसेवी

● पं० राजकुमार शास्त्री, नबाई

डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री जैनजगत् के सुप्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वानो में हैं। आप एक प्रखर प्रभावक प्रवक्ता है, कुशल लेखक है तथा सफल सम्पादक भी है।

धार्मिक विषय के आप निष्णात विद्वान् है। आपका गहन अध्ययन और मनन इस बात का प्रमाण है कि आप कठिन से कठिन धार्मिक शकाओ और विवादो को बडे ही सरल ढग से निपटा देते है। इस तरह के समाधानों मे आप युक्ति के साथ-साथ शास्त्रीय प्रमाण भी देकर शकालुओ और पृच्छको को आश्चर्यान्वित कर देते है।

वस्तुत आप बहुमुखी प्रतिभा के धनी है। कई विषयो पर आपने कई पुस्तकें लिखी हैं। जिस विषय को आप लेते है, उस पर आपकी लौह लेखनी इस प्रकार चलती है कि उस विषय का कोई भाव (तत्त्व) अछूता नही रह जाता है और सम्पूर्ण भाव को सप्रमाण पढकर पाठकगण उस विषय को सदा के लिये हृदयगम कर लेते है। आपका भाषण भी बडा प्रभावक और हृदयस्तल को छूने वाला होता है।

आप कर्मठ समाजसेवी है और देवशास्त्रगुरु के प्रति आपकी असीम श्रद्धा और प्रगाढ भक्ति है।

आपकी गुरुओ के प्रति श्रद्धा और भक्ति एव विद्वानो के प्रति स्नेहासिक्त वात्सल्यता देखने ही योग्य है।

आपकी जीवनी और कार्यपटुता प्रेरणा की स्रोत है। इसका सबूत यह है कि कहाँ आपकी जन्मभूमि पमारी और कहाँ विशाल राष्ट्र भारत की विशाल राजधानी दिल्ली, जहाँ आप ससम्मान उपस्थित है और आप सम्पूर्ण जैनजगत् द्वारा सम्मानित किये जा रहे हैं।

हमारी हार्दिक कामना है कि आप सदैव स्वस्थ रहें और चिरायु हो ताकि आपके परिपक्व ज्ञान और अनुभव से वर्त्तमान पीढी और भावी पीढ़ी पूरा-पूरा लाभ लेती रहे।

जैनजगत् के अग्रणी विद्वान्

● श्री सत्यन्धर कुमार सेठी, उज्जैन

डा० लालबहादुर जी साहब शास्त्री जैनजगत् के माने हुए सुप्रसिद्ध विद्वान् है। उन्होंने बाल्यकाल से ही धार्मिक विचारधारा और आचरण से अपने जीवन को सजाया है। आप आचार और विचार दोनों के समर्थक विद्वान् है। पुरातन रूढियो के समर्थक होते हुए भी वर्त्तमान पीढ़ी से आपका पूर्ण समन्वय है इसीलिए जैनजगत् मे आपका अनुकरणीय स्थान है। मै काफी समय से आप से परिचित हूँ। किन्ही बातों में आपसे मेरा मतभेद है। लेकिन मेरे हृदय मे उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा के भावनाये है।

श्रद्धेय पंडित जी का ऐसे समस्त जीवन धर्म और समाज के लिए समर्पित है। फिर भी आपने कई कृतियाँ रचकर साहित्य जगत् की भी काफी सेवा की है। आप कई सस्थाओ के पदाधिकारी, सदस्य आदि है। समाज ने आपकी सेवाओ से प्रभावित होकर अनेक बार आपको सम्मानित भी किया है। ऐसे महाविद्वान् को पाकर हम अपने आपको गौरवशाली मानते है। हमारी हार्दिक भावनाये हैं—श्रद्धेय पंडित जी चिरजीवि बनकर इसी तरह सेवा के क्षेत्र मे अपने चरण बढाते हुए आदर्श जीवन प्राप्त करे।

मेरी सद्भानाएँ

● पं० खुन्नीलाल जैन, भदौरा, टीकमगढ

पडित लालबहादुर जी शास्त्री मेरे पूर्व परिचितो मे से है। मैने देखा कि डॉ० शास्त्री आगम के उत्कृष्ट विद्वान् एव अनेक ग्रन्थो के टीकाकारो मे रहे है।

आपने देवशास्त्रगुरु के अवर्णवाद को अपनी लौह पौरुषता, विद्वत्ता एव आगम परिप्रेक्ष मे जिस कट्टरता के साथ रोका है, उससे इस शताब्दि मे आपका यश अवश्य कीर्तमान हुआ है।

राष्ट्रस्तर पर किये जा रहे उनके सार्वजनिक अभिनन्दन पर उनके यशस्वी, दीर्घ, सुखी एवं धर्ममय जीवन के प्रति मेरी सद् भावनाएँ है।

उच्चकोटि के विद्वान्

● श्री दरबारीलाल जैन, एम० ए०, ललितपुर

डॉ० लाल बहादुर शास्त्री जी उच्चकोटि के विद्वान्, लेखक, सम्पादक और जैन प्राचीन ग्रन्थों के मर्मज्ञ व्याख्याकार है।

उनके महान् ग्रन्थ "आचार्य कुन्द-कुन्द और उनका समयसार" का विमोचन समारोह दिल्ली मे श्री एलाचार्य उपाध्याय मुनि विद्यानन्द जी महाराज के विशेष आतिथ्य मे श्री कमलापति त्रिपाठी अध्यक्ष अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस के कर कमलो द्वारा सम्पन्न हुआ था। सौभाग्य से मैं भी उसमे आमन्त्रित था। इन दोनो विद्वानों द्वारा शास्त्री जो की विद्वत्ता की अपार प्रशंसा हुई। एक बार श्रीशास्त्री जी पर्वराज पर्यूषण महापर्व पर ललितपुर आये थे। तब उनकी ज्ञानगरिमा, तत्त्व निरूपण, मधुर व्याख्यान शैली मे जिनवाणी के प्रतिपादन से जो रसास्वादन मिला उमसे सभी अत्यन्त अभिभूत हुए। उनका सुदर्शन व्यक्तित्व, निश्चल व्यवहार, सरल हृदय सभी को प्रभावित करता है। ज्ञान की अगमता और निरभिमान हृदय यह मणिकाचन योग शास्त्री जी में विद्यमान है। मै उनके स्वस्थ और दीर्घ जीवन की कामना करते हुए उनके प्रति श्रद्धावान् हूँ।

घनीभूत विद्वत्ता

● ब्र० कपिलदेव कोटडिया

भारत देश के बडा प्रधान साहार्दमूर्ति डॉ० लालबहादुर शास्त्री का ही नाम धारण करने वाला, डॉ० लाल बहादुर शास्त्री सस्कृत विद्यालय मे अध्यापन का कार्य करने वाला, अपनी प्रौढ, गंभीर और मननशील शैली मे जैन दर्शन का मर्म सरलता से समझाने वाला डॉ० लाल बहादुर शास्त्री को एक शब्द मे पहिचानना हो तो उन्हे तरल जल जब बरफ बन जाता है तब उनके घनाकार धारण करता है ऐसे विद्वत्ता ने यहाँ घनता धारण करके उनके विशिष्ट ज्ञानी को साकार रूप दिखाया है और वह है डॉ० शास्त्री। जिसमे न कोई लाल है न कोई बहादुरी है। वे तो नामस्थापना रूप है। पी-एच० डी० होने से वे डॉक्टर है, जिनके पास जीवन जीने की कलारूप दवाई है जो प्राय करके जीव जीवन जीने का अनहद आनन्द ले सकता है। श्रोता जब उन्हे एकमन होकर सुनता है तब उसे ऐसा विदित होता है कि वक्ता कोई अच्छा शास्त्री है अनेक शास्त्रो के जानकार हैं। सरलता, साहार्द और सहजता ये तीन गुण है उनमे जो अनेको को उनके प्रति नतमस्तक बनाते हैं। फलवान वृक्ष जैसी नम्रता से ही वे विभूषित है। मात्र 'समयसार' ग्रन्थ ही उनकी विद्वत्ता का पूर्ण सबूत है। अनेक वर्षो से वे शास्त्री परिषद के अधिनायक होते हुए आज भी वे अतिनम्र सेवक ही हूँ ऐसा कहते है इससे उनकी ज्ञान गरिमा बढी है—कम नही हुई है।

प० बाबूलाल जमादार उनके दहिना हाथ थे। आधा वह कट गया है इसलिये शास्त्री जी और गम्भीर ज्यादा उदास दिखते हैं। समाज से दूसरा कोई जमादार मिल जाय तो वे पुन प्रफुल्लित हो सकते है। काश यह दिन कब प्राप्त हो!

मैं अल्पज्ञ उन्हे क्या श्रद्धाजलि दे सकूँ? मै तो उनके ज्ञान गुण की आरती उतार कर उसमे से जो कुछ भी मुझे प्राप्त हो जाय तो यह ईश्वर का बडा अहसान होगा ऐसी भावना के साथ विरमता हूँ।

तपोपूत जीवन

● श्री शिवचरनलाल जैन, मैनपुरी

स्वाध्याय. परम तप —श्रद्धेय शास्त्री उक्त सूत्र की अपेक्षा तपोपूत जीवन के मूर्त्तिमान् स्वरूप है। कठिनतम परिस्थितियो मे ज्ञानार्जन एव स्वाध्याय के पाँचो अगो (वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और उपदेश) का सेवन आपका मानो व्यसन ही रहा है। लेखन और व्याख्यान दोनो विधाओ में आप अधिकारी एव सिद्धहस्त विद्वान् है। आपकी आर्षमार्ग के प्रचार-प्रसार मे गहरी श्रद्धा है। समाज मे विभिन्न शिक्षापदो पर रहते हुए आपने अनेकान्त का उपदेश दिया है। शास्त्रि परिषद् के अखिल भारतवर्षीय अध्यक्ष के रूप मे आप अग्रणी रहे हैं। ग्रन्थराज समयसार का शोध उनके अगाध ज्ञान का प्रमाण है।

इच्छानिरोधस्तप —आपका लौकिक आकाक्षाओ से दूर सादा जीवन उक्त सूत्र का जीवन्त रूप है। भीतर से बाहर एक, निश्छल वृत्ति से ओतप्रोत, सरलता की प्रतिमूर्ति, विनय से भरपूर आत्मश्लाघा से दूर है। ऊँचे से ऊँचे प्रलोभन आपको समीचीन मार्ग से डिगा न सके।

भगवान् वीर प्रभु से उनके यशस्वी दीर्घ जीवन की कामना करते हुए उनके प्रति हार्दिक विनय, आदर प्रकट करता हूँ।

ख्यातिप्राप्त विद्वान्

● पं० चन्दन लाल जैन, प्रतापगढ

डॉ० लालबहादुर शास्त्री समाज के जाने-माने ख्यातिप्राप्त विद्वान् है। डॉ० शास्त्री 'सादा जीवन और उच्च विचार' जैसे आदर्श की साकार मूर्ति है। सलाल (गुजरात) को पच कल्याणक प्रतिष्ठा मे जब आप पधारे थे तब आपका सान्निध्य प्राप्त हुआ था। वहाँ हुए आपके महत्त्वपूर्ण प्रवचनो से गुजरात की समाज अत्यन्त प्रभावित हुई थी।

ऐसे महान् विद्वान् के दीर्घ जीवन की कामना करता हुआ अपनी श्रद्धा के सुमन समर्पित करता हूँ।

प्रशममूर्ति शास्त्री जी

● सिं० प० जम्बूप्रसाद शास्त्री, मडावरा

प्रशम सम्यक्त्व का पहला गुण है। यह आपके अन्तरग परिणामो की प्रशमता को प्रगट करता हुआ बाह्य मे आपके प्रसन्न वदन एव शान्ति छबि को प्रगट करता है। आपकी मधुरवाणी एव वक्तृत्व शैली ही आपकी महानता को प्रकट करती है। आपका जीवन विद्या का दान करता हुआ हो तथा अनेक पत्र-पत्रिकाओ के सम्पादकीय लेखो द्वारा तथा अनेक विद्वत्तापूर्ण पुस्तको को लिखकर बहुत जन-जन का मार्ग प्रशस्त किया है। तथा निश्चय एकान्तवादियो का अज्ञान को भी निराकरण किया ऐसे प्रतिभाशाली वयोवृद्ध विद्वान के सान्निध्य मे रहने का मुझे सन् १९७६ जून ललितपुर शिक्षण शिविर मे सात दिन रहने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। चिरपरिचित की भाँति आप मिले और अतिस्नेह पूर्वक सम्मिलन हुआ तथा आपके प्रवचन व अनेक वार्तालाप व तत्त्व चर्चायें होती रही जिसमे अच्छा आनन्द रहा। सम्पादकीय लेखो द्वारा भी लाभान्वित हुआ। आपकी वाणी की लालित्यता आपके जीवन की महानता को प्रगट करती है। जैसा कि कहा है:

वाणी रसवती यस्य, भार्या पुत्रवती सती।
दानवती लक्ष्मी यस्य, सफलं तस्य जीवन॥

ये सब बाते आप मे है तथा आपका स्वभाव भी ऐसा है कि जिससे आप सबके हो जाते है और सब आपके हो जाते है। यह महान् गुण आपमे है।

सरस्वती तो आपकी जिह्वा पर हमेशा ही मानो नृत्य करती है जिसमे कि आप कठिन से कठिन विषय को सरलता से समझा देते है। ऐसे महान् प्रतिभाशाली वयोवृद्ध विद्वान् शास्त्री के प्रति मै सस्नेह एव सविनय विनयाञ्जली समर्पित करता हुआ आपकी चिरायु की शुभकामना करता हू।

हार्दिक श्रद्धा सुमन

● श्री कन्हैयालाल नारेजी ज्योतिषशास्त्री प्रतिष्ठाचार्य, बम्बई

श्री लालबहादुर शास्त्री ने अपने जीवन का बहुमूल्य समय समाज के मार्ग दर्शन मे व्यय किया है। जिनकी मँजी हुई लेखनी से जैनदर्शन, जैनगजट, जैनसदेश, पद्मावती सदेश, वीतराग वाणी आदि जैन पत्रो के माध्यम से समाज को हमेशा जाग्रत् रखा है। और अ० भा० दि० जैन शास्त्री परिषद के अध्यक्ष पद पर रहकर अच्छी तरह से एकातवाद का खडन कर अनेकात स्याद्वाद का प्रचार किया है। ऐसे आपके महागुणो स प्रभावित होकर आपके चरणो मे भक्ति से हार्दिक श्रद्धासुमन अर्पण करता हुआ दीर्घजीवन की कामना करता हूँ।

आर्ष-मार्ग के धर्मकेतु

● राजवैद्य पं० भैया शास्त्री काव्यतीर्थ, शिवपुरी

भौतिकवादी मान्यताओ से आक्रान्त आज का मानव जीवन और उनका खान-पान-रहन सहन, आचार-विचार समाज मे आज भी बिखरा हुआ है। इस बिखरेपन को सुधारने के लिए धर्म, संस्कृति, कला, पुरातत्व, इतिहास आदि के सर्वांगीण विद्वान् डॉ० श्री लालबहादुर जी शास्त्री ने आर्ष मार्ग तथा सच्चे-दिगम्बरत्व के सरक्षण का जो व्रत लिया है, समाज तथा विद्वान् मनीषियो के समक्ष धर्म की धुरा के दो पहियो के रूप मे श्री लालबहादुर जी शास्त्री तथा प० बाबूलाल जी जमादार ने शास्त्री परिषद् की गाडी को खीचा, सच्चे आर्ष मार्ग का प्रचार एव प्रसार किया। जीवन की अनेक विषमताओ को समता मे ढालते हुए शारीरिक क्षमता के अभाव होने पर भी, उनकी लेखनी अनवरत गति से लिखती जा रही है "जैन दर्शन" का सम्पादकत्व उसका प्रतीक है, सबल प्रमाण है।

जबसे शास्त्री परिषद् की बागडोर शास्त्री जी ने सम्हाली तभी से देव, शास्त्र, गुरु की भक्तिपूर्वक "जैन दर्शन" को अपनी लेखनी का सफल लक्ष्य बनाया और अद्यावधि दर्शन द्वारा समाज मे जाग्रति का क्रम बराबर द्रुतगति से चालू रखा।

आर्ष मार्ग मे कही सच्चे देव शास्त्र गुरुओ का अवर्णवाद न हो जावे दि० जैन महासभा को भी सचेत किया। आर्ष मार्ग प्रचारक सच्चे देव शास्त्र गुरुओ मे श्रद्धा रखने वाले, लेखनी तथा वाणी को गौरवान्वित करने वाले, धर्म शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् शास्त्री जी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन के लिए अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से उनका सम्मान किया जा रहा है बडी खुशी की बात है।

मै चाहता हूँ कि उनकी "यश कीर्ति केतु"—आचन्द्रार्कावधि समाज के क्षितिज पर फहरती रहे और वे शतायु हो।

अपूर्व व्यक्तित्व

● पं० पूर्णभद्र शास्त्री, शहादरा

आपकी प्रतिभा, अप्रतिहत कवित्व, प्रभावी वक्तृत्व, डा० लाल बहादुर शास्त्री की आँखो मे स्नेहिल, अपनापन, वाणी मे माधुर्य एकसाथ देखने को मिलता है। आपका स्थान जैन समाज के विशिष्ट विद्वानो मे शीर्षस्थ है।

आपकी वक्तृत्व कला इतनी जादूभरी प्रभावक एवं आकर्षक है कि लोग आपकी वाणी सुनकर मुग्ध हो जाते है। आपके जैनधर्म के तत्वो को बडे सरस एवं मधुर वाणी से समझ लेते है। अपने विद्वत्ता पूर्ण भाषणो से आपने समस्त भारत भूमि पर अपनी विशिष्टिता की छाप अकित की है। जिससे समाज ने आपको व्याख्यान वाचस्पति विद्वत्भूषण आदि अनेक पदो से विभूषित कर अनेक अभिनन्दन पत्र प्रदान किये।

एक ओर आपकी निरभिमानता दूसरी ओर स्वाभिमानी गरिमा आप मे परिलक्षित होती है।

यही कारण है कि आपकी धनिक वर्ग से ज्यादा पटरी नही खाती। फिर भी आप किसी की अवज्ञा नही करते और न आशावश किसी का गुणगान ही करते। लोभ मे आपको झुकते नही देखा गया।

आप भारत के विभिन्न प्रान्तो मे विद्वत्ता पूर्ण व्याख्यानमाला के लिये आमन्त्रित किये जाते है। उसमे कोई आर्थिक लाभ या योग नही होता। विशुद्ध जैनधर्म की सेवा और शुद्धनय रूप दृष्टि का प्रचार प्रसार। अन्त मे जिनेन्द्र से प्रार्थना है कि ऐसे सुयोग्य विद्वानो का समागम समाज को सदैव मिलता रहे।

कर्तव्यनिष्ठ शास्त्री जी

● पं० रतनचन्द्र शास्त्री काव्यतीर्थ, रहली

श्री शास्त्री जी परिश्रमशील व कर्तव्यनिष्ठ आगमानुकूल विद्वत्तापूर्ण सिंहनादी प्रभावक भाषणों लेखों और स्वतन्त्र रचनाओं के धनी हैं।

आपका पाण्डित्य असाधारण है, आपने सारे देश में देवशास्त्रगुरु के प्रति अवर्णवाद करने वालों को ओजस्वी भाषणो, लेखो, जनसम्पर्कों द्वारा अवर्णवाद का खण्डन कर धर्म की रक्षा की उसे युगो-युगो तक भुलाया नही जा सकता है। आपका स्थान जैन समाज के विशिष्ट विद्वानो में शीर्षस्थ है।

श्री शास्त्री जी ने एकान्त मिथ्यात्व के निर्मूलन करने मे अपूर्व योगदान कर 'यथानाम तथा गुण' के अनुसार पं० लालबहादुर नाम को सार्थक किया। आप कुन्दकुन्द भगवान् के रत्नत्रय रूप मार्ग को अनेकान्त और समन्वयी दृष्टि की दिशा समाज को दे रहे है। चारित्र और सयम दान दया रूप धर्म का वास्तविक व्याख्यान देकर एक सही दिशा प्रशस्त कर रहे हैं।

आपने विद्वत्तापूर्ण भाषणो से समस्त भारतभूमि पर अपनी विशिष्टता की छाप अंकित कर दी है, जिससे प्रभावित होकर समाज ने आपको विद्वद्भूषण, व्याख्यानवाचस्पति, पडितरत्न आदि सम्मानपूर्ण पदो से विभूषित किया। आपका जीवन इतने कर्तृत्वो से सपूरित है कि आप व्यक्ति मे सस्था बन गये। एक ओर आपकी निरभिमानता परन्तु दूसरी ओर स्वाभिमान की गरिमा आप मे परिलक्षित हाती है। आपका ध्येय विशुद्ध जैनधर्म की सेवा और शुद्ध नयरूप दृष्टि का प्रचार-प्रसार है, समाज को आपने बहुत कुछ दिया और देते चले आ रहे है।

इस सारस्वत समारोह द्वारा मेरा उनको हार्दिक श्रद्धा सुमन समर्पित है। शत-शत अभिनन्दन के साथ-साथ दीर्घजीवी होने की कामना है।

मेरी श्रद्धा के भाजन

● पं० ज्ञानचन्द्र जैन स्वतत्र, गंजबासौदा

पं० लालबहादुरजी शास्त्री से मेरा प्रथम परिचय सिरोंज में दिस० १९३९ मे हुआ था। उस समय मैं सिरोंज की पाठशाला मे पढाता था तब प० लाल बहादुर जी, प० भैयालालजी भजन सागर मा० रामानन्द जी (गायक) शास्त्रार्थ सघ मथुरा की ओर से आये थे। प्रसग था सिरोज मे विमानोत्सव का। इसी समय पं० जी से मेरा परिचय हुआ था और आपके विद्वत्तापूर्ण भाषण से सहज आकर्षण भी हुआ था। वह एक युग था, तब भारतीय जैन समाज मे शास्त्रार्थ सघ की तूती बोलती थी। समाज के धार्मिक उत्सवो में यदि मथुरा से कोई विद्वान् न आये तो वह उत्सव फीका लगता था।

प० जी सिद्धान्तज्ञ बिद्वान् तो हैं ही साथ में सुयोग्य संपादक, पत्रकार, सुकवि, अनेक ग्रन्थो के लेखक, अनुवादक एवं अनेक पत्रों के संपादक रहे है।

पं० जी कोई छोटा विद्वान हो या बडा विद्वान हो सभी को समान की दृष्टि से देखते है, उनका आदर सम्मान करते हैं। उनका हृदय विशाल एव उदार है।

ऐसे हर्षोल्लास के शुभावसर पर मैं आदरणीय पं० जी के सुखी जीवन एव शतायुष्क जीवन की हार्दिक मंगल कामनायें करता हूँ।

एक प्रतिभाशाली व्यक्तित्व

● श्री डालचन्द जैन, संसद सदस्य, सागर

मानव एक सामाजिक प्राणी है। देश, धर्म एव सस्कृति के अतर्गत जो उसके गुणों का विकास होता हैं—वह मानवीय देन भी उसे सामाजिक विरासत के रूप मे प्राप्त होती है।

'व्यक्ति जन्म से नही कर्म से महान् होता है।' व्यक्ति के गुणो की पूजा भी उसके विशिष्ट कार्यो के अंतर्गत होती है, जो उसे जीवन मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है।

वैसे ही विशिष्ट व्यक्तिओ की शृखला के अन्तर्गत 'सरस्वती पुत्र डा० लालबहादुर शास्त्री' जी के व्यक्तित्व एव कृतित्व पर जो अभिनन्दन समारोह का आयोजन किया जा रहा है। मै इस अभिनदनीय एव गुरुतर कार्य की सफलता एव डॉ० सा० की दीर्घायु एव स्वस्थ्य जीवन की मगल कामना करता हूँ।

अद्भुत प्रतिभा के धनी

● श्री प्रतापचन्द जैन, आगरा

डा० लालबहादुर जी से मेरा प्रथम सम्पर्क लगभग १८-२० वर्ष पूर्व हुआ जब मैने जैनदर्शन और गजट मे लिखना शुरू किया था। वे तब उन दोनो साप्ताहिको के सम्पादक थे। मेरे निवेदन पर उन्होने दि०-जैन शिक्षा सगठन आगरा पर जन दर्शन मे सम्पादकीय लिखने की भी कृपा की थी। मै सगठन का सयोजक था। मेरा वर्षो उनसे पत्राचार रहा, जो पत्रों का उत्तर न मिलने पर छूट गया। शायद उनका सही पता ज्ञात न होने से ऐसा हुआ हो।

उनसे मेरी प्रथम भेट आगरे के जैन रथ यात्रा महोत्सव पर हुई जब वे यहाँ व्याख्यान देने हेतु पधारे थे। वर्ष मुझे याद नही है। उन्होने अपने विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानो से आगरा जैन समाज को बडा प्रभावित किया। यहाँ की नाई की मडी की समाज तो उन पर ऐसी फिदा हुई कि उन्हे प्राय. बुलाती रही। उसके बाद हम लोग तीन बार और मिले। एक बार पुन रथोत्सव पर ही दूसरी बार जब वे नाई की मडी मे श्री निरजन लाल बैनाडा के निवास पर पधारे थे और तीसरी बार बन्धुवर कामता प्रसाद जी के निवास पर जब वे उन्हे देखने आये थे। वे अपने स्नेह सौहार्द मे अभिभूत कर देते। बडी ही सौम्य व आकर्षक मुद्रा है उनकी।

वे एक निर्भीक सम्पादक रहे, अपने आत्म-सम्मान पर आच न आने देने वाले। उनके सम्पादकीय बडे ही जानदार व तर्कसगत होते। उनके विरोधी भी उनका लोहा मानते। जब उन्होने देखा कि पत्र-व्यवस्थापक उनकी बातो पर प्रमाणित ध्यान नही दे रहे है तो उन्हे उनसे नाता तोडने मे देर नही लगी। पहले उन्होने जैन गजट का सम्पादन छोडा था। मेरी आगरे मे उनसे एक बार बात हुई तो उन्होने उसके व्यवस्थापक के रवैये पर दु खी मन असन्तोष व्यक्त किया था। उनके सम्पादन काल मे दर्शन खूब चमका।

डा० लालबहादुर जी और स्व० प० बाबूलाल जी जमादार की जोडी बेजोड थी। दिग० जैन समाज मे एक दशक से भी अधिक समय तक लालबहादुर जमादार युग रहा। वे दोनो छाये रहे उस पर। सोनगढ मान्यता के वे कट्टर विरोधी और आलोचक रहे। अ० भा० दिग० जैन शास्त्रि परिषद के सर्वमान्य कर्णधार नेता रहे। उनके निर्देशन मे परिषद ने जैन समाज की उल्लेखनीय सेवा की। शास्त्री जी के अस्वस्थ रहने पर जमादार जी अकेले पड गये थे और जमादार जी के निधन से शास्त्री जी अब अकेले रह गये। जैन समाज मे आज उन जैसा कोई विद्वान् नेता नही। वे कलम, वाणी और कार्य तीनों के धनी थे।

मैं इस समारोह के अवसर उनके स्वस्थ और दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

हँसमुख व्यक्तित्व के धनी

● डॉ० शेखर जैन, भावनगर

भारतवर्ष के जिन कतिपय जैनसिद्धांत के ज्ञाताओं पर हमें गर्व एवं गौरव है उनमें से एक है डॉ० लालबहादुर शास्त्री । वर्तमान में आप भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद् के अध्यक्ष है ।

जब कभी आप किसी धार्मिक स्थान पर, अधिवेशन आदि में एक ऐसे बुजुर्ग से मिलें जो ६०वें वर्ष मे भी छरहरा, गौरवर्ण, धवल दंतपंक्ति, शितकेशी, होठो पर सदैव निश्छल मुस्कुराहट, देशी ढंग से बंधी धोती और ऊपर तक का बटन बन्द हो ऐसी कमीज एवं अभी उड जायेगी या कपडा कम पड गया होगा—ऐसी छोटी टोपी पहनो हो तो समझना आपका मिलन लालबहादुर शास्त्री से हो रहा है ।

जब आप सिद्धान्त की चर्चा मे डूबे, गहन गुत्थियो को शास्त्रोक्त ढग व प्रमाण से स्पष्ट करते गम्भीर चेहरे को निहारे जिस पर गम्भीरता का सोम्य या प्रौढ भाव है— पर, स्मित यथावत् है तब समझना कि ग्रन्थसागर मे से प्रमाणो के मोती खोजता व्यक्ति लालबहादुर शास्त्री हैं ।

जब आप परिषद्-ज्ञानचर्चा के मंच से बाहर उक्त व्यक्तित्व के धारी व्यक्ति के साथ चलें और अविरल सस्कृत श्लोक, फिल्मी गीतो का समश्लोकी, समरागी सस्कृत रूपान्तर गाते हुए सुने तो दंग रह जायेंगे । अरे ! बृज की होरी या लावनी आदि सुनकर आप विभोर होगे । बृजभाषा मे उनसे बात करिए आपको आनन्द आयेगा ।

डॉ० लालबहादुर जी स्वभाव से मृदु, ज्ञान मे वृद्ध है । उनका हृदय सबके लिए प्रेम से भरा है । निरभिमानता उनका गुण ही नही पर मूल स्वभाव हो है । इतना बडा विद्वान् और इतना सरल, विश्वास नही आता न ? ऐसे महान् पडित, ज्ञानी, धीर-गम्भीर एव सरल पडित जी के प्रति श्रद्धा सुमन व्यक्त करता हुआ यही शुभ कामना करता हूँ कि हम उनका सौवाँ जन्मदिन उल्लास के साथ मनाये । उनके ज्ञान आलोक से हम सब प्रकाशित बने ।

जैन समाज के उच्चकोटि के विद्वान्

● श्री भगत राम जैन, दिल्ली

डा० लालबहादुर जी शास्त्री का स्थान दिगम्बर जैन समाज के उच्चकोटि के विद्वानों मे से है ।

डा० लालबहादुर जी शास्त्री से मेरा सबध लगभग २५ वर्षों से भी पूर्व का है । वह वर्षो तक अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् प्रबध समिति के सदस्य रहे है और वे परिषद् के कई कार्यक्रमो मे सम्मिलित रहे और वे सुधार विचारधाराओ का समर्थक रहे है ।

दिगम्बर जैन समाज में जब भी कोई आदोलन प्रारम्भ हुए उन्होने उस आन्दोल को अपना समर्थन दिया और सफल बनाने मे अपना पूरा सहयोग दिया ।

विद्वत्ता के क्षेत्र मे वे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है । दिगम्बर आगम के अनुसार वे जैसा भी उचित समझते है लिखते है । इन्होंने कभी भी किसी भी उचित धनवानो की विशेषताएँ धन के आधार पर नही की ।

मेरे प्रति उनका सदैव स्नेह रहा है । समाज की अनेकों गतिविधियो मे समय-समय पर उनका मुझे मार्गदर्शन मिलता रहा है ।

अभिनन्दनीय व्यक्तित्व

● श्रीमत सेठ राजेन्द्रकुमार जैन, विदिशा

परमश्रद्धेय आदरणीय डा० लालबहादुर जी शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ-समर्पण की योजना स्तुत्य है। विद्वत् समाज का यह सम्मान भी विद्वता को ठोस सामग्री प्रदान करता है। जिनका जीवन समाज और धर्म की आराधना मे सतत रहा उनका सम्मान भी इन्हे गौरव देता है। उनकी सहजता, गम्भीरता और स्नेह अविस्मरणीय है। जिनेन्द्रदेव उन्हे आराधना का दीर्घ अवसर प्रदान करें और ज्ञान की गगा उनसे प्रवाहित हो।

विद्वानों में चमकते सूर्य विद्वत्‌रत्न

● श्री मिश्रीलाल पाटनी, लश्कर

श्री विद्वत्‌भूषण पण्डितरत्न व्याख्यानवाचस्पति समाजरत्न अनेक पद विभूषित लालबहादुर जी शास्त्री दिल्ली वयोवृद्ध होते हुए भी वर्तमान के युवा समशक्ति स्फूर्ति आपके भावो मे है। आप अनेकात दार्शनिक एव चार अनुयोग के शास्त्रो के ज्ञानी है। आपको बुद्धि (विद्वत्ता) अति उत्तम प्रशसनीय है। आपके भाषणो (प्रवचन मे) आचार्य प्रणीत ग्रन्थो के श्लोक सस्कृत प्राकृत नागरिक भाषा के आधार अनुकूल धारा प्रवाही प्रवचन देते है। जिस समय प्रवचन देते है ज्ञान धारा मुख से ऐसे प्रवाह होती है जैसे वर्षा ऋतु के मेघ मे बादलो से वारिश की धारा बिना रुकावट के धारा भूमि को चुम्बन करती है इसी प्रकार आपके प्रवचन के शब्द जिज्ञासुजनो के हृदय मे प्रवेश कर ज्ञान की लहर बन जाती है वह प्राणी उसे ग्रहण कर आत्मा का सुधार कर लेता है।

आपके प्रवचन सम्यक्-दर्शन, सम्यक्ज्ञान सम्यक्-चारित्र एव चार अनुयोग पर बडे मधुर शब्दो मे होते है। मुझे अनेक बार आपके प्रवचन श्रवण का अवसर प्राप्त होने से अनुभव है। अनेक बार सोनागिर मेले के अवसर पर भी आपको आमन्त्रित प्रवचन हेतु किया। आप पधारे, प्रत्यक्ष मे धार्मिक तात्त्विक चर्चाएँ हुई। अगाध विद्वान् होते हुए भी आपके स्वभाव मे अत्यन्त सरलता, मधुरता किसी प्रकार का मद नही है बडे सरल स्वाभावी, सच्चरित्र मृदुभाषी है।

मै सोनागिर कमेटी की ओर से तथा स्वय की ओर से ऐसे महान् विद्वत् चमकते सूर्य सम विद्वान् की दीर्घायु की कामना करता हूँ।

युग की महान् विभूति

● श्री नरेन्द्र कुमार जैन, सोरया

स्वनामधन्य डॉ० लालबहादुर शास्त्री इस युग की महान् विभूति है। सस्कृत साहित्य मे एक युक्ति कही गई है—विद्वान् सर्वत्र पूज्यते। अर्थात् विद्वान् की सर्वत्र पूजा होती है और इसी युक्ति का यह सार्थक अभिप्राय हो गया है कि अखिल भारतीय जैन समाज शास्त्री परिषद् के माध्यम के जैनदर्शन के प्रधान सम्पादक एव वीतराग वाणी तथा जैन गजट के भू० पू० प्रधान सम्पादक, सरस्वती के वरद् पुत्र डॉ० शास्त्री जी का अभिनन्दन करने जा रहा है। हमारा जहाँ तक विचार है यह डॉ० साहब का अभिनन्दन न होकर उनकी विद्वत्ता, समाजसेवा एव कर्त्तव्यपरायणता का अभिनन्दन है जिसके द्वारा उन्होंने सासारिक प्राणियो को सद्धर्म का उपदेश दिया और व्यक्ति को उसके कर्त्तव्य का बोध कराया। आशा है समाज एव युवा पीढी उनके मानवोचित कार्यो से प्रेरणा लेगी और धर्म एव समाजसेवा की ओर अग्रसर होगी।

अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पण समारोह के अवसर पर हम उनका हार्दिक अभिनन्दन करते हुए उनके दीर्घ यशस्वी जीवन की कामना करते है।

सरस्वती के महान् साधक

● श्री प्रेम कुमार जैन, फीरोजाबाद

कमिश्नरी आगरा क्षेत्र चिरकाल से जैन सस्कृति का अच्छा केन्द्र रहा है। पद्मावती पुरवाल जैन बन्धुओ का मूल आवास क्षेत्र यही है। किन्ही कारणवश यहो के प्रवासी अन्यत्र फैल गये हैं। ये लोग पूजन-पाठ, स्वाध्य य, व्रत पालन मे भी अग्रणी रहे है। फलत. अनेक विद्वान् व त्यागी वर्ग इस जाति मे से होते रह है। डॉ० लाल बहादुर शास्त्री जो भी उसी कड़ी मे से एक हैं।

परम आदरणीय शास्त्री जी मरे चाचाजी स्व० देवीप्रसाद जी के परम मित्र थे। वे फीरोजाबाद के कर्मठ सामाजिक कार्यकर्त्ता थे। शास्त्री जो दि० जैन सघ चौरासी के माध्यम से प० रामानन्द जी, भैयालाल जी के साथ यहाँ के मेलो के अवसर पर पधारते थे। लगभग सन् १९४३-४४ से ही मै इनके व्यक्तित्व से परिचित एव प्रभावित हूँ।

किसी व्यक्ति के लिये ५० वर्षों का सफल, यशस्वी, सामाजिक सेवा काल अपने आप मे ही गौरव की बात है। अत: अभिनदनीय है।

मझे बचपन मे ही आपके स्नेहयुक्त शुभ आशीर्वाद प्राप्त होने का सौभाग्य मिला है।

मै परम आदरणीय शास्त्री जी के स्वस्थ, यशस्वी शतायु जीवन की हार्दिक कामना करता हूँ।

आर्ष परम्परा के संरक्षक

● डॉ० अशोक कुमार जैन, ललितपुर

भारतवर्ष की जैन विद्वत् परम्परा मे श्रद्धेय प० डा० लालबहादुर शास्त्री का नाम अग्रगण्य है। उनसे मरा प्रथम साक्षात्कार १९७६ मे आयोजित अ० भा० शास्त्री परिषद् के ललितपुर अधिवेशन के शुभावसर पर हुआ था तभी स मै उनके गुणो के प्रति अत्यधिक रूप से आकर्षित हुआ। जब मै दिल्ली मे जैन हैपी स्कूल मे अध्यापक था तब उनके पास जाकर परस्पर मे विचारो का विनिमय करता था। कठिन से कठिन प्रश्नो को भी सरल रूप मे लोगो को समझा देना आपकी विशेषता है। नवयुवको को समाज मे आगे बढाने हेतु आप सतत प्रयत्नशील रहते है। स्वभाव मे सरलता, वाणी मे मृदुता, सिद्धान्त मे अडिगता, वाणी मे ओज इत्यादि सारी विशेषताएँ आप मे विद्यमान हैं। आपने समयसार जैसे अनुपम एव दुरूह ग्रन्थ पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है जो आपकी अगाध विद्वत्ता का परिचायक है।

वर्तमान के इस आग्रहवादी युग मे जब जिन सिद्धान्तो को कुछ व्यक्ति तोड-मरोडकर एकान्त मान्यता के पोषण मे लगे हुए है ऐसे समय मे निष्पक्ष रूप से स्याद्वाद शैली से वस्तु स्थिति को यथार्थ रूप से जैन गजट, जैन दर्शन, वीतराग वाणी आदि पत्रो मे सम्पादकीय लेखो के माध्यम से समाज को सम्यग् दिशा प्रदान कर आर्ष परम्परा का सरक्षण कर रहे है।

समय से कार्य करना आपकी निजी विशेषता है। वृद्धावस्था मे भी शास्त्रो के स्वाध्याय में निरत रहकर जिनधर्म की प्रभावना मे अप्रतिम योगदान दे रहे है। सस्कृत, जैनदर्शन एव प्राकृत आदि भाषाओ के आप मर्मज्ञ हैं। आपकी प्रवचन शैली मे निश्चय और व्यवहार का समन्वय पाया जाता है।

मै आपके व्यक्तित्व एव कृतित्व का आदर करता हुआ आपके दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

डाक्टर लाल लाल बने रहें

● पं० जिनेश्वर दास जैन शास्त्री, अहमदाबाद

जैन समाज मे होमियोपैथिक, एलोपैथिक पद्धति से रोग का निदान करने वाले डॉक्टरो की कमी नही लेकिन इस भौतिक युग मे अज्ञानरूपी अन्धकार से दूर करने वाले एव समाज को यथार्थ ज्ञान की शिक्षा देने वाले डॉ० लालबहादुर शास्त्री का नाम सर्वोपरि रखा जा सकता है। आपकी साहित्य साधना प्रशसनीय तो है ही, स्तुत्य भी है। आपकी रचनाओ मे नयापन झलकता रहता है और शास्त्रानुसार ही उपदेश देने की शैली अनोखी है। शरीर से तो दुबले-पतले है लेकिन हृदय विशाल है। सौभाग्य से मुझे भी डॉ० सा० की प्रवचन शैली सुनने का अवसर अहमदाबाद मे मिला था।

आज समाज को ऐसे विद्वानो की बहुत जरूरत है।

डॉ० सा० चिरायु हो और सदैव हमारा मार्ग-दर्शन करते रहे।

श्रद्धा सुमन

● प० लाडली प्रसाद जैन, पापडीवाल

वास्तव मे ऐसे सरस्वती पुत्र का सम्मान न केवल व्यक्ति विशेष का अपितु उसके गुणो का सम्मान है या यो कहिये सरस्वती का विनय है—श्री डाक्टर लालबहादुर जी शास्त्री से सारा जैन जगत् परिचित है।

शास्त्री जी विद्वत्ता, सरलता, कर्मठता की साकार मूर्ति है। उनका सारा जीवन धर्म और समाज की सेवा मे बीता है। उनकी लेखनी मे जादू है और वाणी मे मधुरता है। ऐसे महान् व्यक्ति के प्रति अपने श्रद्धासुमन समर्पित करता हुआ उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

अभिवन्दन/आदरांजलि

● सिंघई हुकमचद साधेलीय, पाटन

आदरणीय श्रीयुत् शास्त्री जी उन प्रतिष्ठित जैन विद्वानो मे अग्रणी श्रेणी मे एक है, जिन्होने जैन आगम की सुरक्षा एव प्रतिष्ठा के साथ उसका मूल रूप बनाये रखने मे अपने जुझारु व्यक्तित्व को समर्पित किया हुआ है। ऐस विद्वान् आज विरल है।

श्रीयुत् शास्त्री जी की इस महती सेवा के लिए समाज सदा उनकी ऋणी रहेगी। मेरी विनम्र आदराजलि!

मंगल कामना

● श्री सुबोध कुमार जैन, आरा

लगभग १० वर्ष पूर्व हमारी पहली भेंट शास्त्री जी से दिल्ली मे हुई थी और जैनागम आदि विषयो पर उनसे बात कर तथा उनके सौम्य रूप एव उनके सद्-व्यवहार से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ। अपनी समाज के उच्चकोटि के विद्वानो में उनका स्थान है।

उनकी विद्वत्ता का कोई मुकाबला नही है। वे देवशास्त्रगुरु के सच्चे उपासक है। उनकी लेखनी मे जादू है और समाज को सही दिशा प्रदान करती है।

हमारी जिनेन्द्र देव से प्रार्थना है कि वे स्वस्थ्य एव सानन्द रहें।

निर्भीक वक्ता

● श्री कैलाश चन्द्र जैन, दिल्ली

मान्यवर डॉक्टर लालबहादुर जी शास्त्री का जैन समाज हमेशा ऋणी रहेगा। उनकी निर्भीक सम्यक् मृदुवाणी वीतरागता का सच्चा स्वरूप बताने में जादू सा असर रखती है।

हम उनकी दीर्घायु की मंगल कामना करते है।

अंगद का पैर

● श्री लालचन्द्र जैन, टिकैतनगर

कुशल वक्ता डा० लालबहादुर शास्त्री मेरे ग्राम टिकैतनगर मे आयोजित पचकल्याणक महोत्सव में १९७४ में पधारे थे। मैंने देखा कि वह जिनवाणी एव जिनधर्म के आर्ष मार्ग के प्रचार प्रसार में अगद के पैर जैसे लगे। कुछ भी हो जावे वह सिद्धान्तो से समझौता नही कर सकते है यही उनका स्वभाव बन गया है। नि.सन्देह ऐसे ही जिनवाणी पुत्र जिन आगम के सच्चे सेवक है। मैं उनके दीर्घायु की कामना करता हूँ।

निर्भीक लेखक एवं प्रवक्ता

● श्री कल्याणचन्द्र जैन, कलकत्ता

श्रद्धेय स्व० विद्वत् तिलक प० मक्खनलालजी शास्त्री मोरेना के सुयोग्य शिष्य डा० लालबहादुरजी शास्त्री का सामीप्य अनेको बार मिला। कलकत्ता महानगर मे दशलक्षण पर्व पर तथा श्री महावीर जयन्ती के अवसर पर कई बार उनका आगमन हुआ। शास्त्री परिषद् के ऐतिहासिक फल्टण अधिवेशन मे तथा अन्य कई अधिवेशनो मे उनका सम्पर्क मिला। फरवरी ८० मे श्री दि० जैन सम्मेलन के सयोजकत्व मे आयोजित विशाल शिक्षण शिविर मे आपका निर्देशन मिला। आगम प्रवक्ता के रूप मे जब सिंह गर्जना की तरह आपकी वाणी से दहाड निकलती है तो एकान्तवादी मिथ्यामती लोग थर-थर कॉपने लग जाते है। प्रवचन शैली पर जैसा आपका आधिपत्य है वैसे ही आपकी लेखनी प्रखर प्रभावक होती है।

जैन गजट एव जैन दर्शन के माध्यम से साहित्य जगत् मे की गई आपकी सेवाये अवर्चनीय हैं। जैन सरस्वती के वरद् पुत्र शतायु जीवी होकर भारती को अलकृत करते रहे यही भावना है।

व्यक्तिगत मेरे जीवन मे उनका अनुदान प्रेरणापूर्ण रहा है। दृढ निश्चय के साथ बेझिझक अपनी भावनाओ को अभिव्यक्त करने की उनकी कला ने हमे सम्मोहित किया है। ऐसे प्रभावी प्रवक्ता के अनुसर्ता बन श्री वीर के वीतराग शासन को प्रवर्धमान करने मे प्रेरणा पाते रहे यही आन्तरिक अभिलाषा है।

प्रभावशाली प्रवचनवक्ता

● बाल ब्र० प्रकाशचन्द्र जैन, अहारन

सरस्वती पुत्र डा० लालबहादुर शास्त्री उच्चकोटि के विद्वानो मे से है। आपने सस्कृत, हिन्दी, अग्रेजी आदि अनेक विषयो का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। आप एक कुशल व प्रभावशाली वक्ता है। आपकी वाणी मे अनूठा आकर्षण है। स्पष्ट सत्यभाषी होने पर भी आपकी वाणी मे कटुता नही, माधुर्य झलकता है। व्यवहार निश्चय की बात शास्त्रसम्मत, तर्कयुक्त सरल ढग से और तुलनात्मक शैली मे श्रोताओ को समझाते है, जिससे सभी श्रोता मत्रमुग्ध हो श्रवण करते है।

डॉ० लालबहादुर शास्त्री जी गहन अगम शास्त्रो के अध्ययन के साथ-साथ साहित्य सर्जन (गद्य व पद्य) दोनो मे समान रूप से निष्णात है। इस अभिनन्दन के अवसर पर प० जी को मेरा अभिनन्दन है।

चारित्रोज्ज्वल नक्षत्री

● डॉ० महेन्द्र सागर प्रचडिया, अलीगढ

चार दशाब्दि पूर्व की बात रही होगी जब मुझे मेरा किशोर जीवन कुरावली जिला मैनपुरी मे बिताना हो रहा था। तब मैं स्थानीय मिडिल स्कूल मे पढ रहा था। भाद्र शुक्ला पचमी से प्रारम्भ होने-वाला–दशलक्षणी पर्व का आयोजन बडी धूम-धाम से मनाया जाता था। इस अवसर पर प्रत्येक आगम-आचार्य आमन्त्रित किए जाते थे, नित्य शास्त्र प्रवचन होते थे जिसमे जैन-जैनेतर धार्मिक सम्मिलित होते थे। ऐसे ही एक मगल अवसर पर विख्यात वाणी विशारद, साहित्याचार्य पडितरत्न लालबहादुर जी शास्त्री आमन्त्रित किए गए। गगाजल सी वीतरागवाणी पर आधृत आपने अमृतमय प्रवचन द्वारा पूरी नगरी मे ज्ञान-गोमती प्रवाहित कर दी थी।

जनपद के आदरणीय व्यक्तियों द्वारा तथा समाज के वरिष्ठ पूजा-पाठियो के श्रीमुख से जब मैने पंडित जी के प्रवचन की भूरि-भूरि प्रशसा-अनुशसा सुनी तो मेरा मन-मयूर नाच उठा और तभी से मुझे जिनवाणी, जिन पर्व और जिनधर्म पर गर्वानुभूति हो उठी। महाकवि भागचन्द्र की ये पक्तियां—'सांची तो गगा वीतराग वाणी'—मेरे श्रद्धान का आधार बन गई। मुझे स्मरण है तब मैंने पडित जी की हर सभा को समय पर पहुँच कर सुना था, लाभ उठाया था। सच यह है तब मुझे धर्म कम समझ मे आता था और आनन्द अधिक आता था। मुझे तब णमोकार मन्त्र का अर्थ समझाया गया था और मैंने पाया कि जो अर्थ मैंने अपनी पूजनीया माता से सीखा था, पडित जी की व्याख्या उसके अनुरूप थी। इस अर्थव्यजना से मुझे भारी सतोष मिला था।

पडित जी पात्रानुसार धार्मिक चर्चा करने मे सिद्ध साधक प्रमाणित होते रहे हैं। लाला गुणभद्र जो, श्रीधर पाडे, हजारी लालजी, दरबारी लाल जी तथा अमोलकचन्द्र जी पडित जी से उलझी गुत्थियाँ सुलझाया करते थे। लम्बी-लम्बी दलीलो के समाधान पडित जी साहब छोटे-छोटे वाक्यो-उपवाक्यो मे व्यक्त कर अपनी पैनी दृष्टि के दर्शन कराते। उसे सुनकर ही बहुत प्रिय लगता। प्रमाद होता था।

गत अर्द्ध शताब्दि पूर्व जब मुझे किसी सेमीनार मे दिल्ली आमन्त्रित किया गया और वहाँ पडित जी से भेट हुई तो उन्होंने बडे विनम्र भाव से आगत का स्वागत कर अपनी शालीनता से हमे अभिभूत किया था।

इदौर से दिल्ली आ जाने पर पत्र द्वारा, लेखो द्वारा तथा सभाओ द्वारा पडित जी अनेक बार आमने-सामने हुए है पर मैंने उनमे केवल शारीरिक सत्ता खिसकने के अतिरिक्त इजाफा ही पाया है ज्ञान का, व्याख्यान का। पडित जी विद्वत्ता मे यदि विन्ध्याचल है तो चारित्रिक ऊँचाई मे हिमाद्रि। यह उनकी सबसे बडी धरोहर है। मान और स्वाभिमान की रक्षा करना कोई उनसे सीखे। उन्हे सैद्धातिक श्रद्धान मे किसी भी समझौते ने आज तक झुका नही पाया। यह बात आज के आर्थिक युग मे साधारणतया असाधारण ही मानी जाएगी। पडित जी सर्वथा निराले प्रमाणित हुए हैं।

रत्नत्रयधारी सुधी पडित अब डाक्टर लालबहादुर शास्त्री को मेरी हार्दिक मंगल कामनाएँ और भावनाएँ कि वे शताब्दि तक हमारे बीच आगम की रक्षा-सुरक्षा के दांव-पेचो से अवगत कराते रहे।

पडित जी को अभिनन्दन की वेला मे मेरे शाब्दिक श्रद्धा भाव समर्पित हैं।

सच्चे समाजसेवी हितैषी

● श्री सुशीलकुमार जैन, अवागढ

पंडित लालबहादुर जी शास्त्री जैन जगत् के एक बहुत बड़े सुविख्यात विद्वान् तथा एक सच्चे समाज सेवक हैं। वे अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद् के विगत कई वर्षों से अध्यक्ष भी है।

पंडित लालबहादुर जी शास्त्री से मेरा परिचय विगत २० वर्षों से है। वे जैन समाज के उन कर्मठ कार्य-कर्ताओं मे से एक हैं जिन्होने जैन समाज की सेवा करने मे अपना काफी समय लगाया है। उनको हर समय जैन समाज की उन्नति तथा दिगम्बर जैन धर्म की रक्षा व उसके विकास की चिन्ता रहती है।

सन् १९८२ मे अवागढ मे हुए जैन समाज के झगडे को शान्त कराने मे भी उनकी भूमिका काफी हद तक सराहनीय है। उन्होने इस झगडे को हल कराने के वास्ते कई बार अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के अध्यक्ष सेठ निर्मल कुमार जी सेठी के साथ अवागढ का दौरा किया। उन्होने जब सर्व प्रथम अवागढ का दौरा किया था उस समय अपने भाषण मे उन्होने जैन समाज की इस बात पर काफी आलोचना की कि हमलोग आपस मे ही हमेशा झगडते रहते है जबकि अन्य लोग एक होने की कोशिश मे लगे हुए है। उन्होने अपने भाषण मे कहा था कि—'एक ओर अन्य दूसरी समाज के लोग दशहित व समाज हित मे एक हो रहे है ठीक इसके विपरीत हम दिगम्बर जैन समाज के लोग आपस मे लड-झगड रहे है।" यह कितने दुख की बात है।

उन्होने सदा ही आर्ष मार्ग की परम्परा पर चलकर जैनधर्म का प्रचार किया है। एक ओर जैन समाज मे अनेक विसगतियो ने जन्म ले लिया है। अन्तर-जातीय विवाह, विधवा विवाह जैसी कुरीतियां जैन समाज मे बढती जा रही है। इन कुरीतियो का डटकर पंडित लालबहादुर जी शास्त्री विरोध करते है। वे अपने सम्पादकीय व भाषणो मे इन कुरीतियो का डट कर विरोध करते है। उन्हे अभिमान नाममात्र को भी नही है। वे बहुत ही सरल स्वभावी है। उन्हे सरस्वती का वरदहस्त प्राप्त है। उन्हे लोभ तनिक भी नही है। वे कभी भी पैसे के आगे झुके नही हैं। व एक सिद्धान्तप्रिय पुरुष है।

मैं वीर प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वे चिरायु हो तथा जैन समाज की इसी प्रकार से सेवा करते रहे।

जैनागम के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धावान्

● श्री कुमकुम जैन, मैनपुरी

"एकस्य बद्धो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्य खलुचिच्चिदेव ।।

यह वह श्लोक है जिस पर मैंने पहली बार आदरणीय प० जी को प्रवचन करते हुये सुना था। अपार जनसमूह के मध्य लगभग दो घंटे तक अगाध धाराप्रवाह रूप मे निश्चय व्यवहार के ऊपर विवेचन करते हुये आपने आगम का प्रतिपादन किया वह श्रोताओ के हृदयपट खोलकर उन्हे निश्चय एकान्तवाद के अधकार से मुक्त कराने मे सूर्य के प्रकाश के समक्ष था।

अत्यन्त निडर, साहसी, गम्भीर निस्पृह, जैनागम के प्रति अगाढ, श्रद्धा के साथ ही आपकी वाणी अनेकात व स्याद्वाद से परिपूर्ण है। आप देवशास्त्रगुरु के प्रगाढ भक्त, ज्ञानगरिमा व चारित्रनिष्ठा के परिचायक, अनेक उपाधियो स विभूषित है। जैनागम के अनुकूल सत्यवाणी का गुजायमान करके सपूर्ण भारतवर्ष को जो सतत मार्गदर्शन दिया उसके लिये शब्दो मे वर्णन करना असमर्थ है।

श्री जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है कि आप स्वस्थ प्रसन्न रहते हुये दीर्घायु हो तथा चिरकाल तक भ्रम से भूले मानव को सत्य पथ का मार्गदर्शन कर सकें। शत शत अभिनंदन।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी

● श्री हेमन्त जैन, अजमेर

रानी वाला परिवार की ओर से रानी वालो की नशियाँ अजमेर मे नवनिर्मित मानस्तम्भ की प्रतिष्ठा हुई थी उस समय एक विचार गोष्ठी का आयोजन हुआ था उसमे कई विद्वानो का समागत हुआ था जिसमें श्री डॉ० सा० अस्वस्थ होते हुए भी पधारे थे। इस गोष्ठी मे उन्होने बडे गर्व से कहा था कि मै कई दशको बाद अपनी जन्मभूमि मे आया हूँ। यहाँ मेरी विद्यादायी "महासभा दि० जैन विद्यालय" का रानीवाला परिवार द्वारा संचालन होता था और आज जो कुछ भी मैं हूँ वह इस माता का वरदान हूँ।

शास्त्री जी के जीवन विकास मे श्री विद्यावती जी का प्रमुख योग रहा। उन्होने अपने लाल को समस्त जैन समाज का लाल बनाने में कोर कमर नही रखी। क्योकि जीवन के प्रारम्भ से ही अजमेर में रहा और बाईजी भी यही रही, उनकी आतरिक शुभ भावना का मूल्याकन शायद ही कोई भाई कर सकेगा। बाई जी डाक्टर साहब के छिपे माँ-बाप-बहिन सभी कुछ तो थी।

श्री शास्त्री जी का जीवन प्रारम्भ से ही सघर्षमय रहा। आर्थिक संघर्ष का तो प्रतीकार हो जाता था परन्तु शारीरिक रोग सघर्ष वर्षो तक संघर्षमय रहा। इस विषयक जो जी समस्याएँ आई, डाक्टर सा० सब पर विजयी हुए। अपनी अध्ययनशीलता और कठिन परिश्रम के कारण ही आज आपको विद्वत्शाला के मणियो मे अग्रगण्य स्थान प्राप्त है।

श्री पडित जी की प्रवचन शैली सरल प्रभावक और आगम परम्परा की प्रबल पोषक है। लगभग दर्जन स्थानो पर पर्युषणपर्व गोष्ठियो और शिविरो के आयोजनो मे आपका और मेरा विद्वद्वात्सल्यपूर्ण सामीप्य हुआ है और मैने इन्हे गम्भीर दृष्टि से देखने की कोशिश की है। मैं कह सकता हूँ कि आपके सदृश जैन समाज मे कतिपय ही प्राचीन शैली के विद्वान है जिन्हे आपकी तुलना मे रखा जा सकता है।

आपने अपने वक्तव्यो से ही केवल जैन समाज व जिनवाणी की सेवा नही की है किन्तु अपनी लौह लेखिनी से प्रामाणिक जैन साहित्य का बहुमुखी प्रचार किया है। भारत के सभी प्रमुख नगरो मे आपका समागम प्राप्त होने से समस्त भारत मे आपकी विद्वत्ता का समादर है। आपको "सरस्वतीपुत्र" कहना यथा-नाम तथा गुण है।

मेरी मगल कामना है कि डाक्टर सा० स्वस्थ्य रहकर दीर्घजीवी हो और उनका यश दिनोदिन समुन्नत हो।

प्रकाशवान् दिवाकर

● श्री ऋषभकुमार भदौरा

डॉ० लाल बहादुर जी शास्त्री वर्तमान समाज के एक ऐसे प्रकाशवान् दिवाकर हैं जिनकी लेखनी और वाणी से हमारी समाज को एक अपूर्व दिशा मिली है। जैनदर्शन, जैन गजट आदि पत्रो के सम्पादकीय लेखो से समाज ने एक नयी करवट बदली उनके द्वारा लिखा गया आगम साहित्य उनकी अपूर्ण विद्वत्ता एव प्रतिभा का प्रतीक है। उनकी ओजस्वी वाणी ने जन-जन को सम्मोहित कर देवशास्त्रगुरु की रक्षा मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वह अपने आप मे माँ सरस्वती की ज्ञान सरिता के प्रवाहमान रूप हैं। अ० भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद् की गरिमा को शिखर तक ले जाने का यदि श्रेय किसी को प्राप्त है तो उनमें डा० शास्त्री ही ऐसे प्रथम विद्वान् हैं। इनके सम्मान से भारतीय जैन समाज गौरान्वित है। ऐसे भारत के श्रेष्ठतम विद्वान् के प्रति मेरी अनेक शुभकामनाये है। वह शतायु होकर धर्म-समाज-संस्कृति की सदैव सेवा करते रहे।

जैन समाज की अमूल्य निधि

● डॉ० अनिल कुमार जैन

डॉ० लाल बहादुर जी 'शास्त्री' को मैं अपने बचपन से ही जानता हूँ। मेरे पिताजी (स्व०) मा० रामसिंह जैन (आगरा निवासी) का शास्त्री जी से घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। आप जब कभी आगरा पधारे, हमारे घर अवश्य ही आये हैं। मैंने आपके कई प्रवचन तथा भाषण सुने हैं। आप अद्वितीय विद्वान् हैं। एक बार लगभग दस-बारह वर्ष पहले आगरा मे 'शास्त्री-परिषद्' का अधिवेशन हुआ। उस समय मैं बी० एस-सी० में पढ़ता था. लेकिन शास्त्री परिषद् के विभिन्न कार्यक्रमो मे मैंने बराबर हिस्सा लिया। तब आपको और अधिक नजदीकी से जानने का मौका मिला।

आपका जैनधर्म के चारो अनुयोगो मे समान अधिकार है। द्रव्यानुयोग मे आपने विशेष अध्ययन किया है। तभी तो आपने 'कुन्दकुन्दाचार्य तथा उनका समयसार' पर महत्वपूर्ण शोधकार्य किया तथा पी-एच. डी की उपाधि प्राप्त की।

डाक्टर साहब चेहरे मे जितने गम्भीर दिखाई देते हैं, अन्तरंग मे वे उससे भी अधिक गम्भीर हैं। 'जैन-दर्शन' नामक साप्ताहिक पत्रिका का आप वर्षों से सम्पादन कार्य करते रहे है। उसके सम्पादकीय लेखो से आपके विचार जानने को मिलते रहे है।

प० रतनचन्द जी 'मुख्तार' के स्वर्गवास के समय आपने अपने सम्पादकीय लेख मे एक बार के 'शास्त्री-परिषद्' के अधिवेशन का जिक्र करते हुए लिखा कि अधिवेशन समाप्त होने पर जब शास्त्री जी बाहर आये, तो देखते है कि उनके जूते गायब हैं। शास्त्री जी बेचैनी से उन जूतो को इधर-उधर तलाशने लगे। इतने मे पंडित रतनचन्द जी 'मुख्तार' सामने आ गये तथा शास्त्री जी से पूछा कि जूते कैसे थे। तब शास्त्री जी ने कहा कि वे काले रंग के थे। मुख्तार साहब ने फिर पूछा कि क्या वे जूते चमडे के थे। शास्त्री जी ने कहा—हाँ। इस पर मुख्तार साहब जी ने कहा—'वे जूते तो मैने फिकवा दिये।' शास्त्री जी इस बात पर कुछ आश्चर्य चकित हो गये। आगे मुख्तार साहब कहने लगे—'आप शास्त्री-परिषद् के अध्यक्ष है तथा चमड़े के जूते पहनने आपको शर्म नही आती। मैंने कपडे के जूते मगवा दिये हैं, उन्हे पहन लें।' उस दिन से शास्त्री जी ने चमडे के जूते पहनना हमेशा के लिए छोड दिया।

डाक्टर साहब के लिखने तथा बोलने की शैली इतनी सरल है कि वे कठिन से कठिन विषयो की भी बहुत सरल ढग से व्याख्या करके समझाते है जिससे साधारण व्यक्ति भी धर्म के मर्म को आसानी से पकड लेता है। आज भी आप अपनी अद्वितीय विद्वत्ता मे जैनधर्म के सिद्धान्तो का प्रचार करने मे लगे हुए है। आप पूरे जैन समाज की अमूल्य निधि है। मै आपके अच्छे स्वास्थ्य तथा दीर्घायु होने की कामना करता हूँ जिससे आप पूरे जैन समाज का अपना मार्गदर्शन प्रदान करते रहे।

देव-शास्त्र-गुरु के प्रति आस्थावान्

● श्री प्रेमचन्द्र जैन, टूंडला

शास्त्री जी ने समाज को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति आस्थावान् किया है और समय-समय पर अपने लेखो तथा व्याख्यानो द्वारा सन्मार्ग का दिग्दर्शन करा कर अनेकान्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हमारी अंतरंग भावना है कि शास्त्री जी इसी प्रकार समाज सेवा मे सलग्न रहे, ऐसी हम अपेक्षा करते है। हम उनके दीर्घायु होने की शुभ कामना करते हैं।

जैनशास्त्रों के महाज्ञाता

● श्री राजेन्द्रपाल जैन, फिरोजाबाद

डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री उच्चकोटि के विद्वान्, जिनवाणी के परम भक्त हैं। आपका जीवन जैन समाज की सेवा मे सदा से व्यस्त रहा है। आप जैन शास्त्रो के महाज्ञाता हैं और धार्मिक आयोजनो मे सदा तत्पर रहते है। आप वास्तव मे सरस्वती-पुत्र है। आप मिलनसार, सरल स्वभावी होने के साथ-साथ मृदु-भाषी हैं। आपके दर्शन मात्र से ही हृदय प्रफुल्लित हो जाता है।

भगवान् से प्रार्थना है कि ऐसे सज्जन एव सरस्वती-पुत्र को दीर्घायु प्रदान करे और स्वस्थ एवं निरोग बनाये रक्खे ताकि जैन समाज को उनकी अमृतवाणी श्रवण करने का सुअवसर दीर्घकाल तक प्राप्त होता रहे।

उन्नत व्यक्तित्व के धनी

● श्री मदनलाल पाटनी, सुजानगढवाला

विद्वान् समाज के मार्गदर्शक होते है। आगम के आलोक में जीवन जीने की प्रेरणा लोगो को विद्वानों से ही मिलती है—उनकी सुरक्षा मे समाज की श्रीवृद्धि होती है। विद्वानो का अभाव सामाजिक गौरव का क्षति का कारण होता है। श्री जिनवाणी एव जिनवाणी के ज्ञाता पण्डित ये दोनो ही वास्तव मे तीर्थ है क्योकि ये दोनो इस जीव को ससार समुद्र से पार करनेवाले है।

यही कारण है कि प्राचीन काल मे राजा-महाराजा, श्रीमन्त, विद्वानो पण्डितो को सम्मानपूर्वक आश्रय देते एवं उन्हे आर्थिक दायित्वो से निश्चिन्त कर 'जिनवाणी माँ' की सेवा करने का सुअवसर दिया करते थे, इतिहास इनका साक्षी है।

डॉ० लालबहादुर शास्त्री ने पिछले ५० वर्षों मे पत्र-पत्रिकाओं द्वारा अपने सम्पादकीय विश्लेषणो द्वारा, सिंहनादी प्रभावक लेखो, आगमानुकूल विद्वत्तापूर्ण प्रवचनो मे समाज का जो सेवा, समाज मे जो जागृति, आगम के प्रति जागरूकता, साधुओ के प्रति भक्ति, प्रज्वलित की है वह वर्णनातीत है। आपने अपनी सम्यक्वाणी से अवर्णवाद का खण्डन कर जो धर्म की रक्षा की है वह युगो-युगो तक विस्मृत नही की जा सकती।

आपने अपने उत्कृष्ट भाषणो, प्रभावक लेखो तथा अध्यापन के माध्यम से जैन समाज मे ज्ञान की अखण्ड ज्योति जलाई है वह असाधारण है। और समाज एव जैनागम के प्रति जितने कार्य किये वे अद्वितीय हैं।

यह हम सुजानगढ वासियो का अहोभाग्य है कि ऐसे प्रकाण्ड विद्वान् हमारी स्थानीय दिगम्बर जैन स्कूल के प्रधानाध्यापक रहे एव मैं भी उनका एक शिष्य रहा। आज समाज मे जो भी धर्म के प्रति जागरूकता, रुचि है उन सबका श्रेय डाक्टर साहब को ही है, ऐसा कहूँ तो अतिशयोक्ति नही होगी।

ऐसे उन्नत व्यक्तित्व के धनी डॉ० लालबहादुर शास्त्री का अभिनन्दन करना एक उत्तम बात है। मैं भगवान् श्री महावीर स्वामी से प्रार्थना करता हूँ कि हमारे चरितनायक पण्डित जी दीर्घायु हो, अवर्णवाद को इसी तरह खण्डित करते हुए आगम के प्रचार मे सार्थक हो, ऐसी कामना है।

इस युग की महान् विभूति

● श्री जैनेन्द्र कुमार जैन, फिरोजाबाद

शास्त्री जी सदैव से ही सादगी और शान्ति मे आस्थावान् रहे हैं। उन्होने कभी भी ऐसा कोई काम नही किया है जिससे किसी का अहित हुआ हो। काफी समय तक आपने समाज द्वारा सचालित पत्रो के सम्पादन का कार्य किया है। अपनी लेखनी से उन्होने कठिन से कठिन विषयो को प्रतिपादित किया है।

आपकी लेखन शैली तो अच्छी है ही किन्तु भाषण कला मे आप बहुत ही निपुण है। आपने अनेको विशाल सभाओ को सबोधन किया है। आपकी भाषण शैली बहुत ही मार्मिक होती है। श्रोतागण मन्त्र-मुग्ध होकर विषय को ग्रहण करते है। शास्त्रीय ज्ञान मे आपका अच्छा प्रभाव है।

पद्मावती संदेश पत्रिका का कुशल सम्पादन कर सामाजिक जागृति का परिचय दिया है।

आपके सम्पर्क म आन वाले व्यक्ति को अपनापन महसूस होता है। आप काफी मिलनसार और मृदु-भाषी है। महान् विद्वान् होने पर भी आपको रचमात्र भी अभिमान नही है।

डॉ० साहब भी हमारे इस युग के परोपकारी विभूति है हम उनकी सेवाओ से कभी भी उऋण नही हो सकेंगे।

मै वीर प्रभु म कामना करता हूँ। आप स्वस्थ नीरोग रहकर दीर्घायु को प्राप्त कर समाज सेवा के लिए उद्यत बने रहे। आप सम्पूर्ण समाज एव देश के हित के लिए सदैव प्रेरणास्रोत बने रहे।

श्रद्धा सुमन

● श्री प्रदीप कुमार जैन, ऋषभदेव

डॉ० लालबहादुर शास्त्री जैन जगत् के महान् विद्वान् एव मुनि भक्त, आर्ष शीर्ष परम्परा के अनुयायी है जिन्होने अपना सम्पूर्ण जीवन जैनधर्म के लिए समर्पित कर दिया।

डॉ० शास्त्री जी ने जैन साहित्य, पत्र-पत्रिकाओ, सास्कृतिक एव प्रगतिशील नवीन धार्मिक, सामाजिक विचारो पर अपना मतव्य व्यक्त कर जैन जगत् को अपूर्व देन दी है। हम उन्हे श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं।

बहुगुणधारी शास्त्री जी

● श्री सुवीर्ण कुमार जैन, अवागढ

जैन जगत् के सर्वोपरि विद्वान् श्रद्धेय पूज्य पडित जी डॉ० लालबहादुर शास्त्री एक बहुश्रुत विद्वान्, मधुरभाषी एव सच्चे समाजसेवक है। मुझे कई बार उनके सम्पर्क मे आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपका शुभागमन कई बार अवागढ मे भी हुआ है।

आपका अध्ययन गम्भीर है, प्रबुद्ध जीवियो मे से एक है। आपने आगम का विधिवत् अध्ययन कर उसका अनुगमन किया है। आपने अपनी सरल तथा उत्साहवर्धक पाठन शैली से कितने ही व्यक्तियो का जीवन समुन्नत बनाया है।

आपकी आर्ष मार्गी व मधुर वाणी से लोगो मे उत्साह बढता है। आपकी आर्ष मार्ग मे पक्की निष्ठा है, आपकी वाणी मे अद्भुत आकर्षण है। इससे जैन समाज लाभान्वित हो रहा है। अत आपके चरणो मे मैं नतमस्तक हूँ।

बहादुर विद्वान्

● श्री इन्दोरीलाल बडजात्या, इन्दौर

डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री समाज के उन मूर्धन्य विद्वानो मे हैं, जिन्होने यावज्जीवन सर्वज्ञ-प्रणीत आर्षमार्ग के प्रसार, प्रचार व उस पर आये प्रत्याघातो का बहादुरी से मुकाबिला किया । जीवन म अनेक प्रकार की कमियाँ व प्रलोभन भी उन्हे अपने कर्तव्य व सैद्धान्तिक दृढता से नही डिगा पाये । समयसार जैनागम का प्रमुख ग्रन्थ है । उस पर शोध-प्रबध लिखकर आपने पी-एच० डी० किया है । अत उसकी गहराई तक पहुँचकर आपने उसके आधार पर जैनाचार, मुक्तिमार्ग पर और जैनदर्शन के आधारभूत अनेकान्त मार्ग पर कुछ युग प्रवर्तको व प्रलोभनवश कुछेक जैन विद्वानो द्वारा किये गये आक्रमणो का सामना किया । उन्हे निरुत्तर किया । अपनी चेतावनियो को "यह दिगम्बरत्व पर सीधा आक्रमण है" "दि० जैनमन्दिर उपाश्रय बन जायेंगे" सही साबित किया । आपकी दूरदर्शिता व सूक्ष्म चिन्तन का प्रतीक है । धार्मिक प्रवचनो से घबडा जाने, ऊब जाने की आम शिकायत लोगो की है । किन्तु आप की प्रवचन शैली और तर्क पर आधारित तत्त्व विश्लेषण की विशेषता है कि श्रोता उसमे डूब जाता है । अधिकाधिक सुनना चाहता है । इतनी विशेषताओ के बावजूद आपको अभिमान छू तक नही गया । ऐसे बहादुर विद्वान् का अभिनन्दन कर समाज स्वय का गौरवान्वित कर रही है । पडित जी चिरायु हो । जैनधर्म, समाज की सेवा करते रहे इस मगल कामना के साथ मै उन्हे अपनी विनयाजलि अर्पित करता हूँ ।

जैन सिद्धान्त के ओजस्वी वक्ता

● श्री नन्दनलाल जैन दिवाकीर्ति, गजबासौदा

आदरणीय डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री देहली का नाम वर्षो से सुनता आ रहा था । मन मे तीव्र इच्छा थी दर्शन की और उनके पाडित्य पूर्ण प्रवचनो को सुनने को । गज बासौदा मे गजरथ महोत्सव की चर्चा प्रारभ हुई और मैंने धर्म दिवाकर प० सागरमल जी विदिशा से गजरथ को ज्ञानरथ बनाने के लिये विद्वानो को बुलाने की चर्चा की । आ० पडित जी ने कहा कि शास्त्री परिषद् का अधिवेशन रख लो, विद्वान् सहज ही आ जावेगे । मैने ऐसा ही किया और वास्तव मे पाया कि बासौदा के गजरथ मे जितने मुनिवर त्यागी व्रती व विद्वान् पधारे उतने अन्यत्र देखने को नही मिले । इसी अवसर पर दर्शन मिले हमे सरस्वती पुत्र डॉ० लाल बहादुर जी शास्त्री के । यद्यपि गजरथ महोत्सव का महामत्री होने के नाते मैं प्रवचनो मे तो नही पहुँच सका कारण व्यवस्था को बनाये रखना अपना कर्तव्य था पर जितनी देर भी मेरा सत्सग हुआ मैने पाया कि जिस लालसा को वर्षो से मन मे सजोया था वह साक्षात् आज गजरथ के कारण पूरी हुई और मुझे आदरणीय डॉ० लालबहादुर शास्त्री देहली का सत्सग मिला । डॉ० साहब जितने सरल और मृदुभाषी हैं यह उनके सम्पर्क मे आने पर ही पता चलता है । शास्त्री परिषद् के अधिवेशन के अवसर पर उनके विचारो को भी सुनने का अवसर मिला । ज्ञान की कोई सीमा नही है ऐसा कहा जाता है पर ज्ञान यहाँ आकर समा गया है । ऐसा लगा एक-एक बात शुद्धतम और अध्यात्मिक की गहराई को लिए हुए सुनने को मिली । मन तृप्त नही हुआ कारण समय कम था और विद्वान् अधिक । सुनना चाह कर भी मैं इस महान् विद्वान् के विचारो को पूर्ण रूपेण न सुन सका । इसका आज तक क्षोभ है । कब जिज्ञासा पूरी होगी कहना कठिन है पर इतना अवश्य है जितना भी सम्पर्क मिला वास्तव मे वह मेरे पूर्व के पुण्योपार्जन का प्रतिफल ही मानता हूँ और इसी प्रकार के विद्वानो के बासौदा आने से यह गजरथ ज्ञानरथ बन गया ।

पुन डॉ लाल बहादुर जी शास्त्री के चरणो मे सादर प्रणाम करता हुआ उनके दीर्घायु की कामना करता हूँ ।

जैन समाज के सच्चे सेवक

● श्री अखिलेश कुमार जैन, अवागढ

आप विद्वान् ही नही बल्कि आप जैन समाज के सच्चे सेवक है । अनेक भाषाओ पर आपका अधिकार है । आपके भाषण आर्षमार्गी हृदयग्राही और प्रभावशाली होते है ।

आप मे निर्भीकता नाम का अलौकिक गुण है । बडी से बडी शक्तियो के आगे आप अपने ध्येय लक्ष्य से कभी पीछे नही हटते । चारित्र व चरित्र धारको के प्रति विनीत भावना बिना मनुष्य का कल्याण नही हो सकता, यह आपकी दिगन्तव्यापिनी ध्वनि थी ।

आपने अनेक व्यक्तियो को कुमार्ग से सुमार्ग पर लगाया है । आज भी आप अनेको को सन्मार्ग का रास्ता बता रहे है । जब भी आपको निवेदन प्राप्त होते है कि अमुक स्थान पर आपको धर्म प्रचार हेतु स्मरण किया है तो आप तत्काल चल देते है । अभी सन् १९८१ मे आपको मैनपुरी तथा करहल की जैन समाज ने सोनगढियो का विरोध करने के लिए निमन्त्रण दिया था । आप अनेक कठिनाइयो के बावजूद भी वहाँ पर पहुँचे तथा सोनगढियो का डटकर विरोध किया तब मैनपुरी की जनता ने आपको निर्भीकता देखकर आपको लौह-पुरुष की उपाधि से विभूषित किया ।

हम आपके प्रति नतमस्तक है एव अपनी शुभकामनाएँ अर्पित करते हुए वीर प्रभु से कामना करते है कि आप चिरायु हो एवं जैन समाज की इसी प्रकार सेवा करते रहे ।

सिद्धान्तशास्त्र के ज्ञाता

● श्री सुशील कुमार जैन, अवागढ

पडित लालबहादुर शास्त्री से मेरा सम्बन्ध सन् १९७९ से है । उनकी विविध मुद्राये मेरे सम्मुख है । जब सर्वप्रथम उनसे मेरा परिचय हुआ था उस समय की मुद्रा, इसके बाद जब वे जयपुर से पचकल्याणक प्रतिष्ठा से लौटकर अवागढ पधारे उस समय की मुद्रा, सन् १९८१ मे जब वे मैनपुरी से पयूषण पर्व से वापस अवागढ पधारे उस समय की मुद्रा तथा जिस समय उन्होने मेरे साथ अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महा-सभा के कार्यालय मे कार्य किया उस समय की मुद्रा और जब मै उनके साथ बाहर जाता था और प्रवचन सुनता था उस समय की मुद्रा, जिस समय व असख्य नर-नारियो के मध्य प्रवचन देते थे श्रावक-श्राविकाओ की शकाओ का समाधान करते थे । उस समय की उनकी मुद्रा आज भी ताजा है ।

वे हमेशा सिद्धान्तो की बात करते है । उन्होने कभी भी सिद्धान्तो से परे हटकर भाषण नही किया है ।

सिद्धान्तशास्त्र के पालक

● श्री महेशकुमार जैन, अवागढ

अनेकानेक प्रसगो की यादें उनका नाम लेते ही आती है । वे जितनी जल्दी रुष्ट होते है उतने ही जल्दी-जल्दी क्षमा भी कर देते है । अपने सिद्धान्त के स्वय ही पालक है । अपने अनुयायियो से पालन कराने वाले है । हमे उनके बताए हुए मार्ग पर चलकर आत्मशान्ति प्राप्त होगी । अतः मैं वीर प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि पूज्य पण्डित जी चिरायु हो तथा हमे इसी प्रकार से भविष्य मे भी मार्ग-दर्शन कराते रहे ।

मुनिभक्त डा० शास्त्री

● पं० विजयकुमार एलशाह, हिम्मतनगर

मैं दो साल पहले महुआ (गुजरात) में श्रीमद् जिनेन्द्रदेव के पचकल्याणक के शुभ अवसर पर गया था। डॉ० शास्त्री साहब भी वहाँ पहुँचे। शाम को सूर्य बिदा होने जा रहा था। उसी समय पर वे वहाँ पहुँचे। भोजन का समय भागता जा रहा था। लेकिन डॉ० साहब ने पहुँचते ही पहला यह प्रश्न किया कि परमपूज्य मुनि संघ किधर हैं ? उन्हें शीघ्र ही मुनिसघ के दर्शन हेतु सघ के पास ले गये। उन्होने बडी श्रद्धा भक्ति एव आदर सहित समस्त मुनिसघ की वंदना की। और आशीर्वाद प्राप्त किया और तत्पश्चात ही अपने दूसरे प्रवचनादि कार्यों के लिये व्यस्त हुये। डॉ० साहब की मुनिभक्ति को मै मनोमन ही वदना करता रहा।

जैन समाज के विशिष्ट विद्वान्

● लाला प्रेमचन्द्र जैन, दिल्ली

बौद्धिक प्रतिभा, अप्रतिहत कवित्व, वक्तृत्व और शालीन व्यक्तित्व के धनी डॉ० लालबहादुर शास्त्री की आँखो मे स्नेहिल और अपनापन, वाणी मे माधुर्य और जिनके साहचर्य मे अपरिमेय सतोष की झलक एक साथ देखने को मिलती है। आपका स्थान जैन समाज के विशिष्ट विद्वानो मे है।

आपकी वक्तृत्व-कला इतनी जादूभरी, प्रभावक एव आकर्षक है कि लोग मन्त्रमुग्ध जैन दर्शन के गूढ़ तत्त्वो को सरल भावो से ग्रहण कर लेते है। विद्वत्तापूर्ण भाषणो से आपने समस्त कि भारत-भूमि पर अपनी विशिष्टता की छाप अकित कर दी है। जिससे समाज ने आपको विद्वद्भूषण, व्याख्यानवाचस्पति, पण्डित-रत्न आदि सम्मानपूर्ण पदो से विभूषित कर अभिनन्दन पत्र एव रजत पदक भेंट किये।

आप अनेक पत्रो के सम्पादक रहे है। सम्पादकीय से लिखे जाने वाले विद्वत्तापूर्ण एव तर्कयुक्त लेखो से विपक्ष विचारो वाले भी लोहा मानते है।

मोक्षमार्ग प्रकाश का आज हिन्दी मे सुन्दर सम्पादन कर उसकी महत्वपूर्ण भूमिका (प्रस्तावना) मे सिद्ध किया है कि प० टोडरमल जी ने गोम्टसार आदि की टीका छोटी आयु मे नही अपितु बडी आयु मे की।

गत अनेक वर्षों मे डॉ० शास्त्री भा० दि० जैन शास्त्री परिषद् के अध्यक्ष ही नहीं बल्कि प्राण है। भा० दि० जैन महासभा व भा० व० शान्ति वीर सभा की कार्यकारिणी के सदस्य है। ऐसे उन्नत व्यक्ति का यह सार्वजनिक अभिनन्दन कर के समाज अपने आपको गौरवान्वित समझती है।

उन्नत व्यक्तित्व के प्रतीक

● श्री सर्वज्ञदेव जैन सोरया, टीकमगढ

परम आदरणीय शास्त्री जी वर्तमान शताब्दी के प्रतिभाशाली विद्वानो मे शिरोमणि है। भारत की कोटि जैन समाज आपके उन्नत व्यक्तित्व और महान् कृतित्व से प्रभावित है। देश के अनेक जगहा से आपको लगभग २० लोकोत्तर उपाधियो से अलकृत कर समाज ने आपके महान् कृतित्व व्यक्तित्व की वन्दना की है।

वाणी के प्रभावक ओज के साथ उसमे लालित्य आकर्षण एव प्रभावी व्यक्तित्व के कारण आप ज्यादा लोकप्रिय हुए। आपकी ओजस्वी वाणी मे वीरता की हुकार, भावों का आकर्षण, मानव हृदय को स्पर्शित करने की क्षमता देखने को मिलती है। वात्सल्य का गुण आपमें अगाध है। जो भी आप कहते है उसे प्राण-पण से निभाना आपका विशिष्ट गुण है। हम जैसे बालको को जीवन दिशा देकर वात्सल्य भाव से सद्बोध देना और सदाचरण एव धर्माचरण मे लगाने का प्रेरणापूर्ण दिशा दर्शन देना आपका ही मगल योग रहा है।

मेरी भावना है कि—जब तक नभ मे सूर्य धरा पर सागर लहराता हो।

तब तक सुयश ज्ञान गौरव की जन गाथा गाता हो॥

गौरव गरिमा की प्रतिमूर्ति

● श्री वर्द्धमान कुमार जैन सोरया, टीकमगढ

डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री से सर्वप्रथम मडावरा मे अ० आ० शास्त्री परिषद् के अधिवेशन के समय मिला था। इसके पूर्व डॉ० शास्त्री के कृतित्व एव व्यक्तित्व से परोक्ष खूब परिचित था। उनके विद्वत्ता-पूर्ण प्रभावक प्रवचनो ने समाज मे एक नवीन चेतना पूर्ण अगडाई ला दी। उनके सम्पादकीय लेखो ने समाज में एक क्रान्ति की धारा बहा दी। सच्चे रूप मे देवशास्त्रगुरु के अक्षरश श्रद्धानी डॉ० शास्त्री ने अपने जीवन मे जो कार्य माँ जिनवाणी की रक्षार्थ समाज के उपकारार्थ एव धर्म की प्रभावनार्थ किया वह युगो-युगो तक स्मरण किया जाता रहेगा।

मुझे अपने पिता प० विमल कुमार जी सोरया के साथ पण्डित जी के घर दिल्ली जाने का भी सौभाग्य मिला। मैंने देखा कि पण्डित जी का २४ घण्टे मे १८ घटे तो ज्ञान-ध्यान में व्यतीत होता है उनके स्वाध्याय लेखन कक्ष मे माँ सरस्वती का चारो ओर अलौकिक प्रवाह है। इनकी ज्ञान साधना को देखकर लगा यह ही सच्चे मायने में माँ सरस्वती के पुत्र है। इनके मुख से भव्यता, वाणी से दिव्यता और प्रवृत्तियो से अलौकिकता टपकती है वात्सल्य तो इनका स्वभाव बन गया। ऐसे महान् व्यक्तित्व के अभिनन्दन पर मै पूज्य प० जी को प्रणाम कर भगवान् महावीर स्वामी से प्रार्थना करता हूँ कि वे शतायु होकर समाज, धर्म और सस्कृति की ऐसी ही सेवा कर उसे लोकोत्तर उन्नति के शिखर पर ले जाये।

कर्मठ व्यक्तित्व

● सेठ सुनहरीलाल जैन, आगरा

डा० शास्त्री जितने सरल स्वभावी है आगम रक्षा मे उतने ही दृढ लौह पुरुष भी है। इन्होने लगभग ४० वर्ष से जैनदर्शन जैनगजट की सम्पादक के रूप मे मात्र अपनी सेवाएं ही नही दी अपितु अपने विचारो के द्वारा समाज में एक जीवन्त प्राणो का प्रवाह भी किया। जितनी प्रभावकारी इनकी वाणी है लेखनी भी उतनी ही क्रान्तिकारी एव प्रभावी है। जैनदर्शन साप्ताहिक की व्यापकता का एकमात्र कारण डा० शास्त्री के लोक-प्रिय सम्पादकीय लेख ही रहे।

ऐसे महानतम मनीषी विद्वान का मैं हृदय से अभिनंदन करता हुआ उनके यशस्वी दीर्घ जीवन की प्रार्थना भगवान् पार्श्वप्रभु से करता हूँ।

ज्ञान के जीवंत प्रकाशवान्

● प० घनश्याम दास नायक, मडावरा

मुझे अनेको बार डा० शास्त्री के प्रवचनो के सुनने का एव निरतर उनके सम्पादकीय लेखो को पढने का सुयोग मिला है। वह विद्वत्ता के तो अप्रतिम रूप हैं। विद्वत् तिलक के रूप मे यदि ऐसे गौरवशाली व्यक्ति को अलकृत किया जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी। इन्होने जैन समाज जैन सस्कृति की रक्षा में तथा जिनवाणी पर आये सकट के निर्वाह करने मे बडी सरलता, सक्षमता एव कट्टरता का परिचय दिया। प० जी ज्ञान के जीवत प्रकाशवान नक्षत्र है। सार्वजनिक अभिनदन के शुभावसर पर मै इनके दीर्घ सुखी जीवन की आकाक्षा जिनेन्द्र प्रभु से करता हूँ।

हमारी शुभ कामना

● नीरज जैन, सतना

दिगम्बर जैन समाज के हित में पंडितजी का बहुत योगदान है। आयोजन और प्रकाशन की सफलता के लिये हमारी शुभकामनाएँ हैं।

प्रतिभा के प्रतीक शास्त्री

● स० सिं० प० रतनचंद्र शास्त्री, मडावरा

'विद्वान सर्वत्र पूज्यते' यह लोकोक्ति बहुत प्राचीन है और यथार्थ है। विद्वानों ने ही समाज को सही दिशा देकर उन्हे सन्मार्ग पर लगाया है। डा० शास्त्री का योग भी समाज सेवा, संस्कृति की रक्षा एवं जिन-वाणी पर आये अवर्णवाद को बचाने मे बहुत रहा है। एक संस्था जो कार्य नही कर सकी जैसा कार्य डा० शास्त्री ने अकेले किया। ऐसे ज्ञान के सागर के अभिनंदन पर मैं उनके दीर्घ यशस्वी जीवन के प्रति देवाधिदेव जिनेन्द्र प्रभु से प्रार्थना करता हूँ।

बहादुर व्यक्तित्व से सुशोभित

● श्री भरतकुमार काला, बम्बई

मेरे स्व० पिता समाजरत्न प० श्री तेजपाल जी काला सपादक जैनदर्शन ने मुझ से श्रद्धेय डॉ० लाल-बहादुर जी की बहादुरी का परिचय देने हुए एक घटना सुनायी थी।

उन दिनो डॉक्टर साहब देहली के सस्कृत विद्यालय मे सस्कृत पढाने का कार्य करते थे। इस स्कूल से स्वानामधन्य स्व० श्री साहू शांतिप्रसाद जी का अत्यंत घनिष्ठ संबंध था। डॉक्टर साहब की कुशल विद्वत्ता का परिचय स्व० साहू जी के कानो तक पहुँच चुका था। डॉ० साहब पूरे प्रामाणिकता के साथ अपना अध्यापक का कार्य करते थे। स्व० साहू जी ने किसी कार्य हेतु डा० साहब का सहयोग लेने का मनोदय अपने किसी सहकारी के पास प्रगट कर उसकी पूर्ति करने का एक तरह से आदेश ही दे दिया था। यह मनोदय डॉ० साहब के पास पहुँचा दिया गया। उन्होने सहर्ष स्वीकृति तक प्रदान कर दी। परन्तु जिस पद्धति से वह कार्य पूरा होने का विचार बनाया गया था, उससे डॉ० साहब के स्वाभिमान को क्षति पहुँचाई जाने लगा। तो डाक्टर साहब ने अविलंब कार्य को अपनी इच्छा और पद्धति के अनुसार करने की इच्छा प्रगट की। इससे स्व० साहू जी बडे ही नाराज हो गये और अन्तत यह भी दम भरा गया कि आपको स्कूल से हटा दिया जायगा। डाक्टर साहब को स्कूल से हटाया जाना मंजूर था परन्तु किसी की दासता मे रहकर काम करना कतई मंजूर नही था। डॉक्टर साहब एक बहादुर की तरह डटे रहे और अन्त मे विजयी भी हुए।

भिंडर मे प० पू० आचार्यवर्य श्री धर्मसागर जी महाराज के सानिध्य मे पचकल्याणक प्रतिष्ठा महामहोत्सव पर आयोजित श्री भारतवर्षीय शांति वीर दिगम्बर जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा की एक बैठक मे एक कार्यकर्त्ता ने डॉ० साहब पर कुछ छीटाकशी करने की चेष्टा की तो डॉक्टर साहब ने बहादुर वीर की तरह वही जाहिर रूप से इस प्रकार की छीटाकशी का पूरा जबाब दिया एव कार्यकर्ता को अपनी गलती पर खेद करना पडा।

यह तो हुई उनके व्यक्तिगत जीवन की बहादुरता की बात लेकिन जब कभी आगम मार्ग और पथ को कलुषित करने जैसे कुठाराघात हुये है या किये गये तो डॉक्टर साहब एक महावीर की तरह वहाँ डट गये और केवल परिहार ही नही किया तो उसके मायावी प्रसार प्रचार को रोकने का सफल प्रयास किया।

डॉक्टर साहब की लेखनी भी एक बहादुर वीर की तरह चलती है। वह जहाँ बहादुरता का परिचय दे देती है वही वह सटीक एव प्रामाणिक तथा सत्यता से भी परिपूर्ण होती है। भौतिक वातावरण में भी प्राचीन आयाम का समन्वय ही नहीं परन्तु सर्वश्रेष्ठ बता देने में डॉक्टर साहब खरे खरे उतरते हैं।

डॉक्टर साहब के सामने अनेको प्रलोभन आये, अनेको ने विचलित करना चाहा पर वे कभी भी अपने आगमनिष्ठ विचारो से विचलित नही हुए, न कोई शक्ति उन्हे डिगा सकी।

ऐसे बहादुर विद्वान् का परम आशीर्वाद की छाया मुझ पर बनी हुई है यह मेरा परम सौभाग्य है।

ऐसे बहादुर विद्वान् डॉ० लालबहादुरजी शास्त्री दीर्घायु बनकर हम सभी को आगमोक्त मार्गदर्शन देते रहें यही भगवान् वीर प्रभु के चरणो मे प्रार्थना है। आगम के धनी बहादुर वीर सदा जयवंत रहे।

हार्दिक शुभकामना

● पं० फूलचन्द्र शास्त्री, हस्तिनापुर

पं० लालबहादुर जी साहित्याचार्य उन विरल विद्वानो में से एक हैं जिनके रोचक प्रवचन सुनने के लिये समाज के बहुत से भाई-बहिन उत्सुक रहते । स्व० प० मक्खनलाल जी शास्त्री के बाद वे ही एक ऐसे विद्वान् हैं जिनके मार्गदर्शन में शास्त्रि परिषद् अपनी रीति-नीति निश्चित करती है । ये मेरे ख्याल से सर्वाधिक समय तक अध्यक्ष पद पर रह कर उसका कार्य संचालन करते रहे हैं ।

मैं कषायप्राभृत—जयधवला का अनुवाद-सम्पादन करने के लिये बनारस आमन्त्रित किया गया था । कई वर्ष बाद से भी बनारस आ गये थे । इस कारण मैं और ये एक ही कार्यालय मे बैठ कर अपना-अपना अनुवादादि कार्य सम्पन्न करते रहे । हम दोनो को एक दूसरे के निकट आने में इससे बहुत अधिक सहायता मिली है ।

यद्यपि सोनगढ में व्यवहारनय की दृष्टि से प्रतिपादन करने की शैली को प्राय: कभी मुख्यता नही मिली । फिर भी वहाँ व्यवहार नय के अनुसार होनेवाले पूजा, स्वाध्याय आदि को कभी तिलाजलि भी नही दी गई । वहाँ समयप्राभृत की मुख्यता से जो भी प्रवचन आदि होते थे उनमे निश्चय नय के कथन की प्रधानता रहती थी । इस कारण मुझे वह रुचिकर लगने से मैं उसका समर्थक बन गया था । और उस पर आनेवाले आघातो का यथा सम्भव मैं कारण भी करता रहता था । जयपुरखानिया तत्त्व चर्चा के मूल मे यही कारण है । जैनतत्त्वमीमासा का निर्माण भी इसी कारण से हुआ है ।

मेरी इस स्थिति से शास्त्री जी प्राय: कर कभी सहमत नही हुए । अतएव उन्होने दूसरा मार्ग चुना । इस कारण समाज भी दो भागो मे विभक्त हो गया जिसकी छाया आज भी समाज मे दृष्टिगोचर होती है । इतना सब होते हुए भी हम दोनों मे कभी मनमुटाव नही हुआ । जब भी मिले, पूर्ववत् प्रेम से ही मिलते रहे । जब भी मैं दिल्ली गया, उनसे मिलना नही छोडा । परस्पर में सुख-दु:ख की चर्चा करके ही अलग हुए । यदि उनकी जानकारी मे कही मेरा प्रवचन हुआ तो वे भी उसमे सम्मिलित हुए और प्रवचन सुनकर प्रमोद व्यक्त किया ।

जब मुझे यह मालूम हुआ कि अभिनन्दन करने की दृष्टि से उनका अभिनन्दन ग्रन्थ मुद्रित हो रहा है तो उनके विषय दो शब्द लिखने से मैं अपने को नही रोक सका । उनकी सेवाएँ बहुत है । दिल्ली मे स्व० लालबहादुर शास्त्री के नाम पर एक सस्कृत विद्यापीठ है । वे बहुत काल तक उसके प्राध्यापक के पद को सुशोभित करते रहे । यद्यपि उन्हे उससे अवकाश मिल गया था । फिर भी उस कमी की पूर्ति दूसरे विद्वानों से न होती देख कर पुन इन्हें आमन्त्रित कर लिया गया । ऐसे प्रमुख प्रौढ विद्वान् का जितना सम्मान किया जाय थोड़ा है । मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि उनका उनकी सेवाओ के अनुरूप अभिनन्दन करने की तैयारी हो रही है । मैं भी उसमें अपने प्रेमसुमन अर्पित कर रहा हूँ कि वे दीर्घजीवी होकर धर्म और समाज की अनवरत सेवा करते रहें यह हार्दिक शुभकामना है ।

सफल शिक्षाशास्त्री

● डॉ० मण्डन मिश्र, दिल्ली

डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री से मेरा बहुत पुराना परिचय है । यह भी एक सौभाग्य की बात है कि भारत की राजधानी दिल्ली मे स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री जी के नाम से चलने वाले सस्कृत विद्यापीठ में आपने अध्यापन कार्य किया है और आचार्य कक्षाओ तक साहित्य शास्त्र का अध्यापन करने के साथ ही विद्यापीठ के जैनदर्शन संबंधी अध्ययन-अध्यापन तथा शोध के क्षेत्रो मे छात्रो का मार्ग दर्शन करते रहे । इनके मार्ग निर्देशन में कई शोध छात्रो को वाचस्पति की उपाधि भी मिल चुकी है । श्रीयुत् शास्त्री जी उच्चकोटि के विद्वान् तथा सफल शिक्षक एवं शोध-प्रेरक हैं । उनका व्यक्तित्व स्नातको को बहुत प्रभावित करता है और विद्या के साथ-साथ उनकी समाजसेवा और परोपकार भावना विशेष रूप से श्लाघ्य है ।

सचेतस मनीषी

● डॉ० श्रेयासकुमार जैन, बडौत

श्रद्धेय शास्त्री जी साहित्य दर्शन और जैनागम के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् है। आप एक सहृदय मनीषी हैं आपकी उपमा यदि नारिकेल फल से दी जावे तो अत्युक्ति न होगी क्योकि आप कठोर होते हुए भी सरल स्वाभावी भावितचित्त चिन्तनशील मनीषी हैं।

आपके मार्गदर्शन मे सहस्त्रो विद्वान् तैयार हुए। सभी के साथ आपका माधुर्य पूर्ण व्यवहार अनुकरणीय है। आपने काञ्जीभाई की सिद्धान्त विरुद्ध उक्तियो का खण्डन करके जिनोपदिष्ट सिद्धान्तो के प्रचार प्रसार मे ही सम्पूर्ण जीवन समर्पित किया है।

किसी भी महान् कार्य करने के लिए श्रम और कला दोनो की आवश्यकता होती है। सच्चे देव शास्त्र गुरु की परम्परा का प्रचार-प्रसार करने मे आपका श्रम और कला वास्तव मे अभिनन्दनीय है। क्योकि अवर्णवाद करने वालो की उक्तियो को अपनी सूक्ष्म तर्कग्राही बुद्धि के माध्यम से खण्डित किया है। आर्ष परम्परा और मुनिमार्ग को निराबाध करने मे शास्त्रि-परिषद् के समस्त विद्वानो को साथ लेकर आपके द्वारा जो महनीय कार्य किया गया वह वस्तुत अभिनन्दनीय है अतएव पण्डित जी का अभिनन्दन करता हुआ स्वय को गौरवान्वित समझ रहा हूं।

वत्सलता के धनी

● डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर, नागपुर

यो तो प० लालबहादुर शास्त्री जी के सान्निध्य मे आने के अनेक अवसर मिले हैं, सगोष्ठियो, अधिवेशनो और महोत्सवो मे। पर उनको अधिक नजदीक मे देखने का मौका मिला सन् १९६२ मे उस समय जब वे समन्तभद्र महाविद्यालय के प्राचार्य थे और मै दिल्ली विश्वविद्यालय के बौद्ध अध्ययन विभाग से जुड़ा हुआ था। शिक्षण-प्रशिक्षण आदि कार्यक्रमो के दौरान उनकी वत्सलता विशेष उल्लेखनीय है। सहजता के साये मे पली-पुसी उनकी यह विशेषता विनोदप्रियता और मिलनसारिता के साथ जुडकर और अधिक आकर्षक बन जाती है।

शिक्षण-सस्थान के सचालन मे प्राचार्य की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अधिकारियो को मिलाकर चलना और उनके ग्रुपो मे तालमेल बैठाकर काम निकालना सरल नही होता। यह सबके वश की बात नही है। प० जी इस कार्य मे सिद्धहस्त दिखाई देते हैं। वे सस्था की भलाई पहले और शेष बाद मे देखते रहे। समाज के गणमान्य श्रीमानो से संस्थान के लिए पैसा इकट्ठा करने की कला मे वे निष्णात हैं। उन्होने जिस स्नेहिलता के साथ सस्थान का विकास किया वह आज भी उदाहरणीय बना है। उनकी सफलता मे उनके वात्सल्य गुण की भूमिका अधिक रही है।

तलस्पर्शी प्रमाणो के आधार पर अपनी बात रखने के लिए वे प्रसिद्ध है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे भी उनका अपना एक विशेष स्थान बन गया है। अपनी विद्वत्ता और तार्किकता के आधार पर वे एक प्रामाणिक पण्डित के रूप मे प्रतिष्ठित हो गये है। अतः उनकी निरामयता के लिए हमारी शुभ कामनाएँ प्रेषित हैं।

गरिमा मण्डित व्यक्तित्व के धनी

● डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी, वाराणसी

जैन विश्वभारती, लाडनूं (राज०) में सन् १९७६ से ७९ तक मैं प्राध्यापक था। उसी बीच सुजानगढ में अ० भा० दि० जैन महासभा का अधिवेशन था। पूज्य अजितसागर जी महाराज ससघ विराजमान थे। यहीं आदरणीय स्व० प० बाबूलाल जमादार जी ने मेरा परिचय डॉ० लालबहादुर शास्त्री जी से कराया। पहले मेरे मन में था कि इतने बडे विद्वान् न मालूम कैसे और किस स्वभाव के होंगे ? किन्तु जैसे ही मिला उनकी सौम्य मुद्रा तथा स्वभाव की सहजता और सरलता से काफी प्रभावित हुआ। उसी समारोह के समय मुनियो का केश लुञ्चन का कार्यक्रम भी था। उस समय केशलुञ्च विषय पर डॉ० सा० का प्रवचन जिस प्रामाणिक और प्रभावोत्पादक शैली मे हुआ, उसकी याद अभी तक ताजा है।

दिल्ली जब भी जाने का अवसर आया डॉ० सा० से उनके निवास पर मिलने और भोजन करने के आग्रह को कभी टाल न सका। जब भी मिलने घटो शास्त्र एव ज्ञान चर्चायें होती और उनकी बहुमुखी प्रतिभा से सदा लाभान्वित होता।

सन् १९७८ की बात है जब मैं लाडनूं मे था और सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी की प्राकृताचार्य अन्तिम वर्ष की परीक्षा व्यक्तिगत रूप मे दिल्ली के महावीर विश्वविद्यापीठ केन्द्र से दे रहा था, तब उसकी मौखिक परीक्षा लेने के लिए परीक्षक के रूप में आदरणीय प० अमृतलाल जी शास्त्री के साथ आ० डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री भी आये थे। डॉ० सा० ने प्राकृत-साहित्य तथा जैन दर्शन विषयक कई प्रश्न पूछे। मै यथायोग्य उत्तर देता रहा। अन्त मे उन्होने सिद्धसेन दिवाकर द्वारा रचित 'सन्मति सूत्र' नामक ग्रन्थ से कोई गाथा और उसका अर्थ सुनाने को कहा। मैने तृतीय अध्याय की ७०वी निम्नलिखित गाथा इस प्रकार सुनाई—

भद्दं मिच्छादसण समूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ सविग्ग सुहाहिगमस्स॥

इसका अर्थ है—जिनेन्द्र देव के वचन मिथ्यादर्शनों के समूह का विनाश करने वाले तथा अमृत-सार से युक्त हैं। मुमुक्षुओ द्वारा उपासित तथा सरलता से समझ मे आने वाले जिनेन्द्र भगवान् के वचन जगत् का कल्याण करें।

उपर्युक्त गाथा मे संशोधन करते हुए वे बोले "समूहमहियस्स अमयसारस्स" के स्थान पर "समुद्दमहितस्स (समुद्रमथितस्य) अमियसारस्स '—ऐसा पाठ किया जाए तो कैसा रहे ? मैंने पूछा इस पाठ के अनुसार पूरी गाथा का अर्थ कैसे लगायेंगे ? वे बोले—इसका भावार्थ है कि मिथ्यादर्शन रूप समुद्र के मथन से भगवान् जिनेन्द्र देव के वचन, जो कि अमृत के समान सार रूप है और जो मुमुक्षुओ द्वारा अनायास ही समझ मे आ जाते हैं, वे जिनवचन जगत् के लिए कल्याणकारी हो। यह सुनकर मैं बोला—आपका यह सशोधन काफी उपयुक्त लग रहा है किन्तु इस सम्बन्ध मे सभी विद्वानो मे विचार-विमर्श आवश्यक है। वे बोले—इसमें मेरा कोई आग्रह नही है किन्तु गाथा पढते-पढते मेरे मन मे ऐसा लगा कि यदि इस प्रकार का पाठान्तर हो तो कैसा रहे और मैंने यह चर्चा जानबूझ कर आप लोगो को सोचते रहने के लिए चलाई है।

कुछ वर्ष पूर्व उनके निवास पर शास्त्री जी से उनकी रचनाओ के विषय से बात चल रही थी। इसी बीच उन्होने "आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार" नामक प्रकाशित अपना शोध प्रबन्ध दिखाया।

शास्त्री जी को इस पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई है। अनुसन्धानपरक इस श्रेष्ठ दार्शनिक एवं आध्यात्मिक ग्रन्थ को देखकर सुखद आश्चर्य हुआ। क्योंकि कुन्दकुन्द जैसे महान् युगप्रधान आचार्य और उनके समयसार जैसे अध्यात्म के सर्वोच्च ग्रन्थ पर शोध-प्रबन्ध के प्रणयन की आशा शास्त्री जी जैसे विद्वान् से ही की जा सकती थी। समयसार में प्रतिपादित गम्भीर विषयों का काफी अच्छा विवेचन इसमें किया गया है।

वस्तुत: मात्र जैनधर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं के ही नहीं अपितु भारत की अन्य सभी आध्यात्मिक परम्पराओं के साहित्य का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि समयसार आध्यात्मिक विषय का अद्वितीय ग्रन्थरत्न है। तभी तो तथाकथित कुछ असहिष्णु विद्वानों ने ईर्ष्यावश समयसार को वेदान्त से प्रभावित कह दिया। किन्तु इस बात का सन्तोष है कि शास्त्री जी ने समयसार और वेदान्त का तुलनात्मक अध्ययन अनेक प्रमाणों के साथ प्रस्तुत करके उक्त विषय का अच्छा विवेचन और खुलासा किया है।

मेरा मानना है कि कोई भी व्यक्ति यदि किसी प्रकार जैनधर्म, साहित्य एवं सिद्धान्तों की प्रभावना एवं प्रचार-प्रसार का कार्य नि:स्वार्थ भाव से करता है तो वह सम्मान के योग्य है। चाहे सैद्धान्तिक मतभेद भले ही हों किन्तु मनभेद नहीं होना चाहिए, तभी सभी लोग अपने-अपने क्षेत्रों में निर्विघ्न कार्य कर सकते हैं। मैंने शास्त्री जी में पाया सैद्धान्तिक एवं बाह्य व्यवहार के आधार पर भले ही किसी भी विचारधारा विशेष से जुड़े रहना पड़ रहा हो किन्तु उन्हें यथार्थ की पहचान है और वे प्राय: उन सभी को प्रशंसा करते हैं जिन्होंने उक्त क्षेत्रों में अपना विशेष योग दिया है अथवा दे रहे हैं। ऐसे प्रतिभा और ज्ञान-गरिमा सम्पन्न सरस्वती पुत्र के प्रति मैं अपना हार्दिक आदर व्यक्त करता हुआ उनके इस अभिनन्दन के शुभ प्रसंग पर कामना करता हूं कि वे दीर्घायुष्क होकर हम सभी को सतत् प्रेरणा देते रहें।

क्रांतिकारी व्यक्तित्व

● श्री निर्मलकुमार सेठी, सीतापुर

पंडित जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व इतना महान् है कि यह सम्मान उन्हें कई वर्ष पूर्व ही मिल जाना चाहिये था। संसार में जिनका सम्मान विलम्ब में हुआ, उन्हें चिरस्थायी कीर्ति मिली। धर्म प्रचार के रूप में पंडित जी एक प्रमुख आध्यात्मिक वक्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। हजारों की विशाल सभा में पंडित जी का प्रवचन श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर देता है। पंडित जी के प्रवचन की एक विशेषता है कि गंभीर से गंभीर विषय को इतना सरल और रोचक बना देते हैं कि उसमें श्रोताओं को बड़ा आनन्द आता है। जैन सिद्धान्त पर आपका गहरा ज्ञान है। आप अगाध ज्ञान के सागर हैं। कानजी स्वामी के मतभेदों को उभरते देखकर उनको अपनी पैनी लेखनी से एवं अनेकान्त वाणी से आपने जो संरक्षण किया है वह पृथ्वी पुत्र के सदृश है। आपकी सूक्ष्मदर्शी सिद्धान्त की विद्वत् लालिमा उगते हुए सूर्य के समान है। आप समाज के क्षेत्र में भी अग्रगणी हैं जिन्होंने अपना समस्त जीवन नि:स्वार्थ होकर समाज के संगठन में, आर्ष ग्रन्थों के संरक्षण में, विद्या प्रसार के हेतु एवं शोध में समस्त जीवन व्यापन किया। वृद्ध होते हुए भी आपके अन्दर नया उत्साह है। अधिक क्या लिखूँ आप 'गागर में सागर' के समान हैं।

अभिनन्दन के इस स्वर्णिम अवसर पर जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ के चरणों में अपनी श्रद्धा अर्पित करते हुए उनके स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन की मंगल कामना करता हूँ।

समाजसेवी

● श्री पूनम चन्द गंगवाल, झरिया

जैनदर्शन का ज्ञान एवं प्रभावशाली वक्तृत्व कला यह शास्त्री जी की मुख्य विशेषता है। सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में मिलन सरिता की भाँति एक कर्मठ, सक्रिय एवं शानदार कर्तृत्व के धनी हैं? मैं मंगल कामना हेतु चिरायु की शुभ कामना करता हूँ।

युग चेतना के प्रतीक

● श्री मागीलाल सेठी "सरोज", सुजानगढ

मुझे सुप्रसिद्ध मनीषी पंडित लालबहादुर शास्त्री का अभिनन्दन करते हुए महान् हर्ष हो रहा है। सन् १९३४ में कातंत्र रूपमाला सुजानगढ़ में पढने का शिष्यत्व प्राप्त हुआ। सुजानगढ में ही शिक्षा प्रारंभ हुई। स्वाध्याय में भी आपका बराबर सहयोग मिलता रहा। आप उच्चकोटि के लेखक, समाज सेवी, वक्ता एवं सम्पादक है। आपका अपना बहुमुखी व्यक्तित्व है। सुजानगढ़ में बराबर सहयोग एवं मार्ग दर्शन मिलता रहा। स्वाध्याय के प्रति लगनशील करने का आपका ही श्रेय है। कानजी स्वामी के द्वारा प्रचारित एकान्त मत को आपने अपनी तर्क बुद्धि द्वारा एव आगम प्रमाण द्वारा अशक्त कर दिया। अनेक विषयो पर आपकी चर्चा चली किन्तु आप घबराये नही। आपने अपने पाडित्य से सबको परास्त कर दिया। पण्डित जी इस युग के एक उद्‌भट विद्वान् है। आपने कदाग्रह कभी स्वीकार नही किया। आप हमेशा सिद्धान्त के समर्थक रहे। मुनिमार्ग के प्रचार-प्रसार मे आपकाजीव न समर्पित है। मै तो आपके आदर्श व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित हूं। स्वयं को बडा भाग्यशाली समझता हूँ कि इतने उच्चकोटि के विद्वान् से मुझे पढने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इसलिए मै गौरवान्वित हूँ। आप करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग के सर्वोपरि विद्वान् है। आपसे समस्त समाज उपकृत है। ऐसे प्रकाड विद्वानो की समाज में आवश्यकता है। आपके अध्ययन एव अनुभव को जितनी भी सराहना को जाय कम है। पूज्य पंडित जी स्वस्थ रहकर, समाज को मार्ग दर्शन देते हुए दीर्घायु प्राप्त करें यह मेरे श्रद्धापुष्प है।

विद्वत्ता की साकार मूर्ति

● श्री राजकुमार सेठी, डीमापुर

वर्तमान मे डॉ० शास्त्री के समान जैन शास्त्रो मे पारगत उनके मुकाबले के अन्य विद्वान् समाज में बहुत गिने-चुने है। उन्होने जो जैन शासन की सेवा की है वह अकथनीय है। उनके द्वारा लिखित एव प्रतिपादित ग्रन्थ जैन समाज के अनमोल धरोहर है। उन्होने एकान्तवादियो पर निरन्तर प्रहार कर अनेकान्तवाद की महती सेवा की है जो ऐतिहासिक है। डॉ० साहब दीर्घायु हो उनके द्वारा निरन्तर इसी तरह से जैन शासन की सेवा होती रहे यही भावना है।

निष्ठावान् रत्न

● श्री हुलाशचन्द्र सबलावत, जयपुर

इस भारत वसुन्धरा पर ऐसा कौन व्यक्ति होगा जिसने डॉ० लालबहादुर शास्त्री जी का नाम न सुना हो। पंडित जी भारत के उन सपूतो में से हैं जिनका अधिकाश जीवन समाज की निःस्वार्थ सेवा मे व्यतीत हुआ। पंडित जी अपने निश्चय से कभी विचलित नही हुए। अपनी बात को श्रोताओं पर प्रभावी ढग से समझाने में एक कुशल व्यक्ति हैं। आप जैसे विद्वान्, निष्ठावान् व्यक्ति को पाकर दिगम्बर जैन समाज अपने को आज गौरवान्वित समझती है। देव, शास्त्र, गुरु से विमुख व्यक्तियो को सन्मार्ग दिखाते रहेंगे ऐसी मेरी शुभ कामना है।

प्रख्यात व्यक्तित्व

● श्री इन्द्रचन्द्र पाटनी, *मैनागुडी*

आप एक निर्भीक प्रवक्ता, धार्मिक सुधारवादी, समाज सुधारक के रूप मे प्रख्यात हैं। आपने सदैव ही जैन आदर्शों के रूप मे समाज को, समाज मे व्याप्त कटुता से सघर्ष करते हुए निरतर आगे बढने की प्रेरणा प्रदान की है। आपकी लेखनी पैनी एव सशक्त है। आपका जीवन सादा, मितव्ययी एव सरलता से परिपूर्ण है।

आशा है आप सदैव ही समाज को दिशा बोध देकर उपकृत करते रहेंगे।

महान् विभूति

● श्री नेमीचन्द बडजात्या, नागौर

ऐसे महान् चितक एव साधक का अभिनन्दन कर हम भारतीय सस्कृति, विद्वत्ता एव नि.स्वार्थ सेवा के प्रतीक इन महापुरुष का अभिनन्दन कर रहे है। श्रद्धेय पडित जी जैनागम की महान् विभूति है। समस्त भारत में अनेकान्त पुत्र के सदृश है। आपकी समाज सेवायें अविस्मरणीय है।

मेरी शुभ कामना है। आप दीर्घायुषी करे, जिससे प्राणी मात्र को अमूल्य सेवाये अर्पित करते रहे।

सरस्वती पुत्र

● प० जगदीशचन्द जैन शास्त्री, शामली

जीवन के लगभग ६० वर्षो तक आपने जैन दर्शन, साहित्य सेवा, अध्यापन आदि मे लगाये। अपनी वाणी तथा लेखनो के द्वारा जिनवाणी का प्रचार किया। सरस्वती पुत्र प० लालबहादुर शास्त्री जी ने बहुमुखी प्रतिभा के धनी, साहित्य सृजन, सम्पादन एव समाज सेवा के विविध क्षेत्रो मे महत्त्वपूर्ण सेवाएँ दी हैं। धर्म सिद्धान्त के बेजोड विद्वान् के रूप मे आप सुविख्यात है। उनके सेवामय शतायुष्य की शुभ कामना करता हुआ मैं भी अभिनन्दन की माला मे अपना एक पुष्प अकित कर रहा हूँ।

सादा जीवन उच्च विचार

● श्री गणपतराय जी पाँड्या, गोहाटी

आदरणीय पंडित जी यथा नाम तथा गुण से विभूषित हैं। आपकी प्रवचन शैली अति उत्तम है। आपके अन्दर श्रोताओ के अन्त करण को स्पर्श करने की अपूर्व क्षमता है। आपका सादा जीवन उच्च विचार गुणों की वरीयता है।

इसी आशा के साथ मैं इस अभिनन्दन के सुअवसर पर मेरी विनयाजलि अर्पित है।

आगमनिष्ठ मनीषी

● श्री पूनमचन्द सेठी, गोहाटी

धर्म शिरोमणि प० लालबहादुर शास्त्री वर्तमान परपरा के देदीप्यमान रत्न है। आप उच्चकोटि के विद्वान् एव वक्ता हैं। आपकी प्रवचन शैली श्रोताओ का मुग्ध कर देती है। आप समाज के जगमगाते रत्न है। आपका अभिनन्दन करते हुए मैं दीर्घायु की शुभ कामना करता हूँ।

सरलता के पुंज

● श्री हुलाशचन्द्र पाड्या, सुजानगढ़

आप उच्चकोटि के विद्वान् है। आप सम्पादक, एवं समाज सेवक भी है। आप कुशल शिक्षक एव प्रवक्ता भी हैं। आप सरलता के पुंज हे। आपके अध्ययन एव अनुभव की जितनी भी सराहना का जाय कम है। अपनी प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

ज्ञान के रत्न

● श्री नेमीचन्द बाकलीवाल, सुजानगढ

आदरणीय पंडित जी जैनागम के प्रकाड विद्वान् हैं। आपने सुजानगढ के धर्म प्रेमियो के अन्दर धर्म एवं मनन की जागृति उत्पन्न की। आपने सुजानगढ मे ज्ञान गगा का स्रोत बहा दिया था।

आदरणीय पंडित जी के स्वाध्याय, अध्ययन एव मनन का कहना ही क्या। आप ज्ञान के सागर है। आपने समाज के अन्दर देव, शास्त्र, गुरु का संरक्षण किया।

आप एक 'लौह पुरुष' है जिन्होंने अपनी वाणी से ज्ञानरूपी सूर्य को श्रोताओ के मन मे प्रकट किया।

आप तो ज्ञान के अगाध सागर हैं। उन्हें हर तर्क सगत बात अच्छी लगती है। आपने सारा जीवन समाज सेवा में बिताया है। ऐसे आगमनिष्ठ अभिनन्दन के पात्र है?

आदरणीय पंडित जी स्वस्थ और प्रसन्न रहते हुए तथा जैनागम की सेवा करते हुए शतायु प्राप्त हों, ऐसी शुभ कामना करते हुए अपनी प्रणामाजलि प्रस्तुत करता हूँ।

अमूल्य हीरा

● श्री भँवरलाल सेठी, सुजानगढ

माननीय धर्म दिवाकर डॉ० लालबहादुर शास्त्री जी अपने समय के 'अमूल्य हीरा' हैं। आप एक धर्मनिष्ठ, समाजसेवी, स्पष्टभाषी, निर्भीक प्रवक्ता, उच्च विचार वाले व्यक्ति है। आपकी लगन बहुत ही सराहनीय है। आपने समय-समय पर जैन गजट एव जैन दर्शन मे जो निर्भीक लेखनी चलाई है वह सबके समक्ष स्तुत्य है। पडित जी का हमे मार्गदर्शन मिलता रहे एवं दीर्घायु हो ऐसी मेरी शुभ कामना है।

जैनागम के महान् आस्थावान्

● श्री डूंगरमल सबलावत, डेह

आपकी सरलता-सादगी, निर्भीकता एव जैनदर्शन और जैनआगम के प्रति महान् आस्था-श्रद्धान शका-समाधान को बडी विद्वत्तापूर्ण-आगम प्रमाण-सहित मधुरभाषा मे समझाते-श्रोतागण मत्र मुग्ध होकर सन्तोषित हो जाते। दिगम्बराचार्यो रचित आगम के आप कट्टर श्रद्धालु होने से बडे-बडे शहरो मे आपकी प्रतिष्ठाओ, पयुषंण पर्वराजो में विशेष कार्यक्रमो मे निमन्त्रण देकर बुलाते। आपके भाषणो से प्रभावित होकर आपका महान् आदर-सत्कार करते, अनेक पदों से विभूषित करते तथा अभिनन्दन-पत्र भेंट आदि करते।

पत्र-पत्रिकाओ में ट्रेक्टो मे-अपनी लोह लेखनी द्वारा समाज को मार्ग दर्शन कराते नई चेतना जागृति पैदा करते जिससे समाज आपका हमेशा ऋणी रहेगा।

मैं तो अपका उपकार संकेत कभी भी नही भूल सकता, आपने आर्यिका १०५ श्री महान् तपस्वी "इन्दुमती अभिनन्दन ग्रन्थ" की मूल प्रति को पढा-देखा-कुछ सुझाव सशोधित कर अपना अमूल्य समय निकाल कर "पुरो-वाक्" मे ग्रन्थ का सार लिखकर अनुग्रहीत किया।

मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि आप दीर्घायु हो और समाज मे जागृति पैदा करे।

निःस्वार्थ सेवी

● श्री हीरालाल पाटनी, मुआनगढ़

पंडित जी का कार्य क्षेत्र मुआनगढ़, इन्दौर से प्रारम्भ हुआ। वास्तव में पंडित जी प्रारभ से निर्भीक, समाज सुधारक, क्रान्तिकारी विचारक हैं। वर्तमान जैन समाज में पक्षपात रहित जो अतुलनीय सेवा की है वह सर्वोपरि है। आप धर्म व समाज की अनेक सस्था द्वारा निःस्वार्थ सेवा कर चुके हैं, यह जैन समाज के लिये गौरव की बात है। ऐसे महान् व्यक्ति को समाज द्वारा अभिनन्दन वास्तव मे अभिनन्दन है।

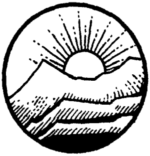
मैं उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हुआ अभिनन्दन करता हूँ।

●

पडित लालबहादुर शास्त्री का शत-शत अभिनंदन

श्री हजारीलाल 'काका' सकरार

जिनवाणी के परम पुजारी तत्त्वो के श्रद्धानी
नय के द्वारा किया सदा ही जुदा-जुदा पय पानी
लुभा न पाया तुम्हें आज तक कोई भी आकर्षण
बाधाएँ वरदान बन गई लख तेरा दृढ़तापन
सरस्वती माता का तुमने नित भण्डार भरा है
इसीलिए गुण गगन गा रहा विहँसी बसुन्धरा है
आर्ष धर्म रक्षण हित जिनका अर्पित तन मन धन है
पडित लालबहादुर शास्त्री का शत-शत अभिनंदन है।



जीवनदर्शन
व्यक्तित्व एवं कृतित्व

मेरा जीवन-क्रम

● डॉ० लालबहादुर शास्त्री

मझे स्वय अपना जीवन वृत्त लिखने मे यद्यपि सकोच हो रहा है फिर भी यह समझ कर कि जीवन की यथार्थता मनुष्य स्वय ही अपनी लेखनी से प्रकट कर सकता है दूसरे के द्वारा लिखाने पर उसमे कुछ विसगतियाँ एव अतिरेकजन भी हो सकता है। अत मैने स्वय ही अपनी जीवन की कहानी अपने ही हाथो लिखना उचित समझा है।

मेरे पूर्वज उत्तर प्रदेश मे ब्रज भूमि के रहने वाले थे। आगरा जिले के अन्तर्गत एत्मादपुर तहसील मे तीन मिल की दूरी पर एक पमारी गाँव है मेरे पूर्वजो का परिवार वही निवास करता था। मेरे पितामह का नाम लाला शिवानन्द था। उनके दो पुत्र थे रामचरण लाल एव हरचरणलाल। रामचरण लाल ही मेरे पूज्य पिता थे। मेरे पिताश्री ईस्ट इडियन रेलवे मे एक उच्च पदाधिकारी थे। रेलवे के इसी विभाग मे उनकी बदली होती रहती थी। वे जब लालरू (पजाब) मे नियुक्त थे वहो मेरा जन्म हुआ था। जन्म तिथि का मुझे ज्ञान नही है पर लगता है कि मै ईस्वी सन् १९१२ एव १९१६ इसी बीच मे ही कभी उत्पन्न हुआ हूं। सन् १९१८ मे पिता कारणवश गाँव पमारी मे आये थे उन दिनो इनफ्लुन्जा बीमारी पडी। यह बीमारी सर्वव्यापक थी। उसमे जनसाधारण की इतनी मृत्यु हुई कि अनेक गाँव खाली हो गये। मेरे पिताजी भी उसी बीमारी मे समाप्त हो गये और मेरी माताजी उससे पहले ही स्वर्गस्थ हो चुकी थी। मेरे बडे भाई राजबहादुर थे जिन्हे फुलजारी लाल भी कहा जाता था। पिताजी के देहावसान के एक वर्ष बाद मेरे भाई का भी देहान्त हो गया। अब मै अकेला रह गया था। मेरे पिताजी के बडे चचेरे भाई के आश्रय मे मै रहा। मेरी बहिन विदुषी विद्यावतीजी अपनी छोटी आयु मे ही पिताजी के सामने विधवा हो चुकी थी। पिता जी पर उनकी वैधव्य वेदना का भी बुरा असर पडा था और उनकी मृत्यु मे यह वेदना भी एक कारण थी। उन दिनो म पमारी गाव से दो मील के फासले पर दवखेडा गाँव की प्राथमिक पाठशाला मे अपने गाँव के लडको के साथ पढने जाने लगा। इस मार्ग मे एक नहर बीच मे पडती थी जिसमे प्राय आस-पास के लोग स्नान किया करते थे, तैरा करते थे। उन्हे देखकर मेरा मन भी तैरने को करता था। एक दिन किसी कारण-वश हमारे स्कूल की हाफ टाइम के बाद ही छुट्टी हो गई। हम सब अपने गाँव के लडके हो-हल्ला करते हुए चल दिये। मै बहुत जल्दी-जल्दी चलने लगा और अपने साथी लडको से काफी आगे निकल गया। नहर पर पहुँचते ही मेरे मन मे आया कि आज मै भी पानी मे तैरने का मजा लूं। मै कपडे उतार कर तुरन्त नहर मे घुस गया और जैसा कि मै लोगो को तैरते हुए देखता था उसी तरह मै भी पानी मे पट लेट गया। लेकिन लेटते ही मै पानी मे डूब गया। मेरे गाँव के साथी लडके जैसे ही नहर पर पहुँचे मुझे चारो तरफ देखने लगे। जब मै नही दिखाई दिया तो वे पानी के बहाव को नहर के दोनों किनारो पर भागने लगे। कुछ दूर आगे चलकर उन्होने देखा कि पानी के बाहर किसी के हाथ की अगुली दिखाई दे रही है उन्होने समझा शायद यह मै ही हूँ। उनमे से एक क्षेत्रपाल नाम का लडका जो गाँव के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण का लडका था पानी मे कूद पडा और मेरा हाथ पकडकर मुझे पानी के भीतर से खीच लाया। मै उस समय मृतप्राय था। वहाँ कुछ और राहगीर भी इकट्ठे हो गये। सबने मुझे ढालू जमीन पर पैर ऊपर कर एक सिर नीचे की तरफ कर ओधा लिटा दिया। उस समय मेरे मुख मे धीरे-धीरे ढेर सारा पानी निकला। बाद मे कुछ होश आया। मै इधर-उधर करवट बदलने की कोशिश करने लगा। तब मुझे उस ढालू जमीन से उठाकर उन्होने समतल स्थान पर लिटा दिया। जब मैं बिल्कुल होश मे आया तो साथी लडको ने गाँव की ओर जाती हुई एक बैलगाडी मे सहारे से लिटा दिया और मेरे सभी साथी पैदल ही गये। गाँव वालो ने जब यह व्यथा सुनी तो मेरे घर पर काफी

भीड हो गई और तरह-तरह की बातें होने लगी। उन सब बातो का सार यह था कि गाँव के लडके इतनी दूर पढने जाते है इससे तो अच्छा यह है कि गांव मे ही एक स्कूल खुलवाने का आग्रह किया। मेरा यह दुखदायी समाचार मेरी ननिहाल वालो को भी मिला। मेरा अब स्कूल जाना बन्द हो गया। मै देवखेडे के स्कूल में तीसरी कक्षा तक पढा था। उसके ३-४ महीने बाद मेरे ममेरे भाई (मामा के पुत्र) पू० प० श्रीलालजी काव्यतीर्थ जिनका जीवन कलकत्ता एव बाद में ब्रह्मचारी के रूप मे महावीर जी मे बीता उन्होने मुझे मोरेना पढने भेज दिया। उन दिनो सस्कृत पढने की तो मुझमे क्षमता थी ही नही अत मुझे हिन्दी विभाग मे भर्ती कर लिया गया। वहाँ मै दयाचन्द्रजी गोयलीय कृत बालबोध का चौथा भाग पढता था। उन दिनो सस्कृत विभाग मे प० राजेन्द्र कुमार जी आदि पढते थे। बालबोध के साथ प० भूधरदासजी कृत जैनशतक को मैंने याद किया जिसके कुछ कथित छद मुझे अब तक याद है। मेरे मामा पुत्र जयचदजो जो श्रीलाल जी काव्यतीर्थ के छोटे भाई थे, भी उन दिनो मोरेना मे ही पढते थे। वहाँ मै साल-डेढ साल ही पढा। उसके बाद जयचन्द्र जी अपने गाँव टेहू मे आ गये तो दोबारा मेरा मोरेना जाना नही हो सका। इसके बाद मै घर पर ही रहा। मेरे चाचा हरचरण लालजी उन दिनो दिल्ली चार्टर्ड बैंक मे नोकरी करते थे। मै उनके पास आ गया और दिल्ली के एक स्कूल मे, जो सभवत चाँदनी चौक घटाघर के पास था, वहाँ पढने लगा। उन दिनों चाचाजी सपत्नीक धर्मपुरा पहाड वाली गली मे रहते थे। मै भी उन्ही के पास रहता था। उस समय दिल्ली मे सिटी बसो का प्रचलन नही था किन्तु ट्रेम गाडियाँ चलती थी। उस समय नारी समाज घर मे तो साडिया पहनती थी परन्तु बाहर घाघरा और चादर पहनती थी। मदिर मे आने वाली सभी बहने घाघरा ही पहन कर आती थीं। उस समय नई दिल्ली नाम का कोई शहर नही था। मात्र दिल्ली ही थी। और न नई दिल्ली नाम का कोई स्टेशन था। राजधानी बनने के बाद जब दिल्ली मे जनसमुदाय बढने लगा तब नई दिल्ली की आवश्यकता हुई। आज जहाँ नई दिल्ली है वहाँ पहले एक गाँव था जिसे रायसीना कहते थे और व्यवहार मे उसे रसीना कहा जाता था। रसीना क्षेत्र की आबहवा बहुत सुन्दर थी और लोग वहाँ घूमने-फिरने जाते थे। आमतौर पर लोग चलने-फिरते एक गाना गाते थे।

"मोटर लाके तू लेजा रसीना मुझे, मारे गर्मी के आया पसीना मुझे" उस समय किसी कारण से काफी मँहगाई बढ गई थी। गेहूँ का भाव जो एक रुपये का १२-१३ सेर था वह घट कर चार सेर का रह गया। इससे लोगो मे हाहाकार मच गया था। लेकिन यह स्थिति अधिक समय तक नही रही।

चाचाजी को किसी कारण से बैंक की सर्विस छूट गई तो हम पुन गाँव पमारी मे आ गए। अब मेरी पढाई की समस्या थी। पमारी गाँव मे कोई स्कूल नही था और देवखेडे मे पढने मुझे घर के लोग भेजना नही चाहते थे। सबसे अधिक चिन्ता मेरी बडी बहिन पू० विद्यावती जी को थी। एक तो वे स्वय ही वैधव्य के दुख से दुखी थी उधर मेरी अनाथ रूप मे अनाश्रयता देखकर वे और दुखी होती थी। एक दिन मै अपने स्वर्गीय पिताजी के बारे मे अपनी बहिन से कुछ पूछ रहा था कि बहन पिताजी को याद करके रोने लगी और कहने लगी, बेटा तू अनाथ हो गया और मै अनाथ पहले से ही हूँ। अब तुझे क्या बताऊँ, ऐसा कहते हुए वे फूट-फूट कर रोने लगी। इसी पडोस मे रहने वाले हमारे खानदानी चाचा श्री पुत्तू लाल जी आये और पूछने लगे, बेटा क्या बात है क्यो तुम लोग रो रहे हो। बहन ने कहा, चाचा क्या बताऊ ? ये भैया छोटा कहाँ जाय ? कैसे पढे ? उन्होने कहा इसका बडा भाई टूडला पढने जाता था इसे भी वही भेज दिया करो। बहन ने कहा कि वह तो बडा था सो टूंडला चला जाया करता था। यह छोटा है कैसे जाय ? आपको तो मालूम है कुछ दिन पहले यह नहर मे डूब गया था अत इतनी दूर मै इसे कैसे अकेले भेजा करूँ। कुछ दिन बाद चाचा

पुत्तूलाल जी को मालूम हुआ कि मथुरा में चोरासी तीर्थक्षेत्र पर एक विद्यालय है जिसमे जैन बच्चे पढते हैं और यही बोर्डिंग मे रहते है। उन बच्चो को नि शुल्क भोजन आवास आदि दिया जाता है। वे मुझे मथुरा ले गये और वहाँ मुझसे एक प्रार्थना पत्र लिखवाकर वहाँ के प्रधानाचार्य श्री पं० कुंवर लालजी न्यायतीर्थ बिलराम वालों को दिया। प्रधानाचार्य ने मुझे बुलाकर मेरी पूर्व शिक्षा के बारे मे पूछा। मैंने उन्हें बताया कि मैं तीसरी कक्षा तक पढा हूँ। कहने लगे कि तुम्हारा तीसरी कक्षा पास का प्रमाण पत्र कहाँ है। मैं कुछ समझा ही नहीं, ये प्रमाणपत्र क्या बला है। उन्होने दुबारा पूछा तो मैंने इन्कार कर दिया। उन्होने कहा कि हमे कैसे विश्वास हो कि तुमने तीसरी कक्षा पास की है। मेरे साथ चाचा पुत्तूलाल गए थे। उन्होने कहा कि इस लडके मे कुछ पूछ लीजिए जिससे आपको यह भान हो जाय कि यह अमुक कक्षा मे चल जाएगा न। प्रधानाचार्य जी ने तुरन्त रत्नकरण्डकश्रावकाचार लेकर मेरे सामने रखा और कहा यह २३वाँ श्लोक पढ कर सुनाओ। यह श्लोक था—"वरोपलिप्सयाशावान् 'मैंने इस श्लोक को पढकर सुना दिया पुन उससे आगे का श्लोक पढवाया तो वह भी पढ दिया। प्राचार्य जी मुस्कुराकर कहने लगे—"उस्ताद तुमने पहले यह सब पढ़ा है।" मैंने कहा नही जी! कहने लगे अच्छा हमने इस लडके को प्रवेशिका प्रथम खण्ड मे भर्ती कर लिया है।

मथुरा मे मैं जुलाई से अप्रैल तक पढा बाद मे ग्रीष्मावकाश के समय मैं घर पमारी चला गया। ग्रीष्मावकाश के बाद मैं पुन चौरासी (मथुरा) आया। वहां छद न विद्यालय था और न कोई छात्र और न अध्यापक पूछने पर मालूम हुआ कि यहाँ से विद्यालय उठकर ब्यावर (राजस्थान) मे चला गया है। यह विद्यालय भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा द्वारा ही सचालित था। उस समय विद्यालय के अधिष्ठाता पूज्य ज्ञानचन्द्र जी ब्रह्मचारी थे और राजा लक्ष्मण प्रसाद मथुरा के निर्देशन मे इसको स्थापना की गई थी। विद्यालय की आर्थिक स्थिति कुछ क्षीण हो चुकी थी। अत उसकी समृद्धि और सुविधा के लिए ब्रह्मचारी को यह सस्था ब्यावर ले जानी पडी। तथा हस्तिनापुर गुरुकुल को वे जयपुर ले गये थ। ब्यावर मे यह विद्यालय उस समय के प्रसिद्ध सेठ श्री चम्पालाल रामस्वरूप जी के सरक्षण में चल रहा था तथा उन्ही सेठ जी की नशियां मे विद्यालय एव बोर्डिंग की स्थापना की गई थी। मैं घर आने के बाद फिर ब्यावर ही चला गया। आगरे से ब्यावर की दूरी लगभग ४३० किलोमीटर है। ब्यावर मे अध्ययन आदि सभी की सुन्दर व्यवस्था थी। वहा गु० प० नन्हेलाल जी वर्तमान निवास राजाखेडा प्रधानाध्यापक थे। श्री प० बाबूलाल जी व्याकरणाचार्य व्याकरण साहित्य आदि पढ़ाते थे, मास्टर प्यारेलाल जी जो शरीर से बौने थे अग्रेजी वगैरह पढाते थे। प० नन्द किशोर गौर सुपरिटेंडेण्ट थे। सभी छात्रो का मासिक छात्रवृत्ति भी दी जाती थी। नि शुल्क भोजन निवास आदि की व्यवस्था थी। छात्रो को उनकी स्थिति के अनुसार समय पर पहनने के वस्त्र आदि भी दिये जाते थे। प्रात काल १० बजे से साय ४ बजे तक विद्यालय मे अध्यापन कार्य होता था। रात को साय गर्मियो मे ८ बजे से १० बजे तक एव सर्दियो मे ६-५० से ९ बजे तक छात्रो को अपना पाठ याद करना होता था। यही कार्यक्रम प्रात काल गर्मियो मे ४ बजे और सर्दियो मे ५ बजे उठकर चलता था। इस अध्ययन काल मे यदि कोई विद्यार्थी सोता हुआ मिलता था तो सुपरिटेंडेण्ट द्वारा छात्र की पिटाई की जाती थी अथवा उसे खडा कर दिया जाता था। साप्ताहिक अवकाश इतवार को न होकर अष्टमी और प्रतिपदा (एकम्) को हुआ करता था। साय रात को अध्ययन के बाद और प्रात अध्ययन के पहले विद्यार्थियो द्वारा सामूहिक रूप से भगवान् की प्रार्थना भी की जाती थी। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को विद्यार्थी सामूहिक पूजन भी करते थे। इससे विद्यार्थियो मे अच्छे धार्मिक सस्कार जम जाते थे। अष्टमी चतुर्दशी को किसी भी प्रकार का सचित्त भोजन खाना विद्यार्थियो के लिए निषिद्ध था। चौके मे भोजन मात्र धोती दुपट्टा पहन कर ही होता था अन्य वस्त्र पहन कर नही। भोजन के बाद शाम को छात्र घूमने भी

जाते थे अथवा क्रीड़ा भी करते थे। इसी तरह प्रातःकाल हम लोग व्यायाम करते थे और आसन भी लगाते थे। मैं २० दण्ड और पचास साठ बैठक भी प्रायः नित्य लगाता था। आसनों मे मुझे धनुषासन एवं शीर्षासन में बहुत रुचि थी। इसके अतिरिक्त मैं प्रायवेट रुप मे लाठी चलाना भी सीखता था। अन्य विद्यार्थी भी अपनी रुचि के अनुसार यह सब किया करते थे।

मृत्यु से टकराव

पहले गाँव में जैसे मैं नहर मे डूबते हुए बचा था उसी प्रकार यहाँ ब्यावर मे भी मेरे साथ एक घटना हुई। बाल चचलता मुझमे कूट-कूट कर भरी थी। मैं उस समय सम्भवतः विशारद प्रथम खण्ड में था। एक दिन की बात है मैं प्रातःकाल शौच से निवृत्त होकर बाहर से आया क्योकि हम ब्यावर मे बाहर खेतो में ही जो नशियाँ के पीछे थे शौच के लिए जाया करते थे। शौच से आने के बाद हाथ धोकर मैं दन्त धावन के लिए अपने स्थान पर आ रहा था कि मुझे सामने ही लकडी तोलने का काँटा दिखाई दिया। काँटे के एक पलडे में कुछ छोटे बाँट रखे थे और वह पलडा जमीन पर था और जिस पलडे में कोई बाँट नही था वह ऊपर टँगा हुआ था। मै भागकर आया और उछलकर उस ऊँचे पलडे मे बैठ गया। मेरे बैठते ही वह पलडा तेजी से नीचे आया उसमे झटके के कारण वह काँटा खुल कर मेरे सिर पर गिरा और मेरे सिर मे चोटी के स्थान पर उसकी कील जोर से घुस गई जिसमे बहुत खून निकला और मै बेहोश हो गया। सभी छात्र और नौकर वगैरह इकट्ठे हो गए। सुपरिटेंडेट महोदय ने मुझे अस्पताल भेज दिया। करीब २-३ घंटे बाद मुझे होश आया और मै कराहने लगा। अस्पताल मे मै दस दिन रहा। उसके बाद अपने छात्रावास मे आ गया। सबका यही कहना था कि हम तो समझ रहे थे कि अब इस लडके का बचना कठिन है, बहुत समज यह इस चोट से बच गया। डाक्टर का कहना था कि यदि काँटे की कील चोटी से आगे की तरफ सिर के तलवे मे घुसती तो इस बच्चे का बचना ही कठिन था। इस चोट का निशान अब भी मेरे सिर मे है।

इस घटना के बाद मैं तीन साल तक और ब्यावर मे रहा। विद्यार्थियो की देखभाल कार्यकर्ताओ के अतिरिक्त सेठ चम्पालाल जी तथा उनके परिवार के द्वारा भी रहती थी। उनकी तरफ से भी छात्रो का खाना पीना पहनना आदि सब कुछ होता था। सेठ चम्पालाल जी के दूसरे पुत्र श्री तोतालालजी रानीवाला थे। एक बार उनको कुछ मस्तिष्क की बीमारी हो गई। उसकी निवृत्ति के लिए सेठ साहब की तरफ से विधान आदि भी कराए गए। श्री तोतालाल जी उस अवस्था मे विद्यालय के छात्रावास मे आते थे और छात्रो के खाने-पीने रहन-सहन के बारे मे पूछताछ तो करते ही थे लेकिन प्राय नित्य ही यह आर्डर देकर जाते कि आज छात्रो के लिए लड्डू बनेग, आज छात्रो के लिए खीर और हलवा बनाया जायगा, आज छात्रो को बाटियाँ और भात बनाकर खिलाओ, आज छात्रो को अमुक-अमुक फल बाँटो। क्योकि सेठ साहब का परिवार स्वभाव से ही उदार था। और इस अवस्था मे उनकी उदारता और भी विशाल हो गई। श्री गणेशीलालजी रानीवाला कोटा उसी परिवार मे सेठ चम्पालालजी के सुपुत्र है। इसी प्रकार सुन्दरलाल जी हीरालालजी जयपुर भी उसी परिवार के पुत्रो मे है। श्री गणेशीलालजी तो कभी-कभी हम विद्यार्थियो के साथ खेलते भी थे। यह परिवार प्रतिदिन बग्गियो मे बैठकर नशियाँजी के मन्दिर मे दर्शन पूजन करने आते थे और जाते समय विद्यार्थियो का देखभाल करके जाते थे।

ब्यावर मे मैने प्रवेशिका के तीन खण्ड और उसके बाद विशारद के तीनो खण्डो को उत्तीर्ण किया। इस प्रकार विशारद की पूर्ण परीक्षा उत्तीर्ण कर मै अब शास्त्री कक्षा उत्तीर्ण करना चाहता था। उस समय मोरेना विद्यालय की बहुत प्रसिद्धि थी और वहाँ के अध्यापक जिन्होने मोरेना विद्यालय मे गुरु गोपालदासजी के चरणों मे रहकर अध्ययन किया था उन मक्खनलालजी वगैरह का बडी प्रशसा और ख्याति से नाम लिया जाता था। अतः मे मोरेना विद्यालय मे पढ़ने को उत्सुक रहा। इस सम्बन्ध मे मैंने अपने घर पमारी आकर

मोरेना के विद्यालय में प्रवेश पाने के लिए वहाँ एक प्रार्थना पत्र भेजा। उस समय पूज्य पंडित मक्खनलाल जी वहाँ के सर्वेसर्वा थे। उन्होने मुझे प्रवेश की अनुमति भेज दी। मैं सन् १९२७ मे जुलाई मास मे मोरेना पहुँच गया और शास्त्री प्रथम वर्ष की कक्षा में पढ़ने लगा। यहाँ प्रतिवर्ष रक्षाबंधन त्यौहार पर यज्ञोपवीत संस्कार हुआ करता था। अतः श्रावण मास की पूर्णिमा को मैंने भी यज्ञोपवीत सस्कार कराया तथा एक जनेऊ पहन लिया। तब से मै अबतक बराबर यज्ञोपवीत पहन रहा हूँ। अध्यापको में प० पन्नालाल जी सोनी प्रधानाध्यापक धर्म पढ़ाते थे उनके बाद फिर पं० नन्हेलाल जी यहाँ प्रधानाध्यापक पद पर आ गए थे। व्याकरण और साहित्य प० नाथूलाल जी व्याकरणशास्त्री पढाते थे। अग्रेजी वगैरह बाबू दीनदयाल जी आगरे वाले पढ़ाते थे। मोरेना विद्यालय मे हम विद्यार्थियों को अग्रेजी कटिंग कटाकर बाल रखाना काढ़ना सर्वथा निषिद्ध था। मै फिर भी बाल रखाने लगा और काढने लगा। एक दिन प० मक्खनलालजी ने मुझे नगे सिर कढे हुए बालो मे देख लिया तो मुझको बुरी तरह डाँटा। मैं सोचने लगा चलो डाँट लिया तो ठीक है मै तो अपने बाल ऐसे ही रखूँगा। उसी दिन सायकाल को मैंने एक नोटिस टंगा हुआ देखा। उसमें लिखा था "विद्यार्थी लालबहादुर के लिए" तुमने विद्यालय के नियम के विरुद्ध बालों की अंग्रेजी कटिंग और उन्हे काढ कर रखा है अत. तुम पर एक रुपया जुर्माना किया जाता है। भविष्य मे तुमने ऐसा ही किया तो तुम्हे और भी अधिक दड दिया जा सकता है। मै यह नोटिस पढकर हक्का-बक्का रह गया। मैने दूसरे दिन ही सब बाल कटवा लिए। उन दिनो हमें दस रुपया छात्रवृत्ति मिलती थी उसमे भोजन के समय घी अपना ही लाकर खाना पडता था। उन दिनो घी शायद बारह सेर आता था तथा दूध दो पैसे का पावभर गरम तथा मलाई और चीनी के साथ कुल्लड मे मिलता था। उन दिनो मुझे गाने-बजाने का भी बडा शौक था। मैने हारमोनियम बजाना सीखने के लिए दो रुपया मासिक पर एक जगह अपनी नियुक्ति भी कर ली थी। लेकिन प० मक्खनलाल जी को मालूम पडा तो उन्होने मुझे इस हारमोनियम की शिक्षा से भी वचित कर दिया। इसका भी मुझे बडा दु ख रहा। फिर भी मैने माह डेढ माह मे ही हारमोनियम बहुत कुछ सीख लिया था। इस तरह विद्यालय की धार्मिक पढाई मे तो मै आगे बढता गया लेकिन इन व्यवहारिक शिक्षाओ से मै वचित रह गया। मोरेना विद्यालय मे ही मुझे कविता बनाने की भी उत्सुकता जगी। मै अपने बारे मे कहा करता था—"उन्मत्त दन्तीव बहादुरोऽहम्।" यह श्लोक का चौथा चरण है पहले के तीन चरण मुझे याद नही आ रहे हैं। इसी तरह विद्यालय और बोर्डिंग मे काम करने वाले कर्मचारियो की मै इस प्रकार उल्लेख करता था :

आर्याछन्द

"गगाराम मवासी बब्बा श्रीचन्द्र और कगलिया।
छात्रालयस्य दासा एने, विद्यालयस्य चेसुरिया ॥"

अर्थात्—गगाराम, मवासी (यह दो कर्मचारी कुएँ से पानी खीचते थे और छात्रो को स्नान कराते थे।) बब्बा और श्रीचन्द (ये दोनो छात्रो की रसोई बनाते थे कगलिया (बर्तन माँजता था) और ईसुरिया (विद्यालय मे घंटे आदि बजाता था और झाड़ू वगैरह देता था) सन् १९२८-२९ मे स्वतन्त्रता सेनानियो द्वारा काफी ऊधम मचाया गया, जगह-जगह सभाएँ होने लगी, जुलूस निकलने लगे, सन् ३० मे नमक सत्याग्रह भी हुआ। उन दिनों हम कुछ छात्र शाम को खाना खाने के बाद मोरेना से डेढ मील दूर बडोखर गाँव तक घूमने जाते थे। वहाँ किसी एक स्थान पर सब छात्र बैठ जाते थे और मैं उनको संबोधित करता था जिसमे अधिकाश संबोधन अंग्रेजो के विरुद्ध होता था। वास्तव में यह हम अपने मनोरंजन के लिए करते थे लेकिन कुछ दिन तक तो यह चला बाद मे किसी बाहर के व्यक्ति ने विद्यालय मे आकर इसकी शिकायत की तो उस समय से हम लोगों पर टहलने के लिए प्रतिबध लगा दिया गया और मुझसे कहा गया कि यदि तुमने ऐसे भाषण

दिए तो विद्यालय से पृथक् कर दिये जाओगे। मै फिर घूमने गया ही नही। उन दिनो मोरेना विद्यालय मे महासभा परीक्षालय की ही परीक्षा होती थी, सरकारी कोई परीक्षा नही दिलाई जाती थी। कलकत्ता की 'न्यायतीर्थ' आदि परीक्षाएँ जिन्हे सरकारी मान्यता प्राप्त थी अपनी प्रसिद्धि के कारण सब जगह होती थी। मैं इस परीक्षा को देने के लिए उत्सुक था। इसके लिए मैंने गुरुवर्य प० मक्खनलालजी से निवेदन किया तो उन्होंने स्पष्ट मना कर दिया यहाँ से कोई सरकारी परीक्षा किसी को नही दिलाई जाएगी। यह सुनकर मै निराश हो गया। फार्म भरने की तारीख के थोडे ही दिन अवशिष्ट थे। मै छटपटा रहा था। दो-तीन दिन बाद प० मक्खनलालजी सामाजिक कार्य से बाहर चले गए और अपने स्थान पर बाबू नेमीचन्द्रजी जैन वकील को नियुक्त कर गए कि विद्यालय और छात्रों की देखभाल रखे। प० जी के अभाव मे मैंने वकील साहब से प्रार्थना की कि मै न्यायतीर्थ की परीक्षा देना चाहता हूँ। पडितजी यहाँ है नही कैसे क्या करूँ ? वकील साहब ने कहा इसमे घबडाने की क्या बात है दे दो। मैंने कहा मेरे फार्म पर हस्ताक्षर कौन करेगा पडित जी तो है नही। वकील साहब बोले लाओ मै करता हूँ और वकील साहब ने दस्तखत कर दिए। कुछ दिन बाद परीक्षा की मेरी स्वीकृति आ गई और रोल न० भी आ गया। आने-जाने का खर्चा भी मुझे विद्यालय से मिल गया और मै परीक्षा दे आया। जब रिजल्ट निकला तो मैं प्रथम श्रेणी मे पास हो गया। इससे मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई और मै बडे स्वाभिमान के साथ अपने नाम के आगे न्यायतीर्थ लिखने लगा।

तीन वर्ष सन् १९३० तक मै मोरेना विद्यालय मे रहा। उसके बाद अध्यापन कार्य के लिए स्थान की खोज मे रहा। प० खूबचन्द जी शास्त्री जो उन दिनो सर सेठ हुकमचन्द्र जी के यहाँ स्वाध्याय आदि करते थे उन्हे मैंने पत्र लिखा। उन्होने मुझे इन्दौर बुला लिया और सर सेठ हुकमचन्द्र जी के पास ले गए। सेठ साहब ने मुझे दीतवारा मे काँच के जैन मन्दिर की लायब्रेरी का काम सँभालने को कहा। मैने लायब्रेरी का काम सँभाल लिया। मै प्रात ७ बजे से १०-५० तक लायब्रेरी मे स्वाध्याय करने वालो को ग्रन्थ लेता देता था। फटे पुराने ग्रन्थो की जिल्द वगैरह बनवाता था तथा उपयोगी ग्रन्थो को सेठ साहब से कह कर मँगवाता था। तथा शाम को रात के ८ बजे शास्त्र प्रवचन करता था। शास्त्र प्रवचन का अभ्यास मुझे वही से हुआ। शकाओ का समाधान भी करता था और कही भटकता था तो प्रात लायब्रेरी मे उनका समाधान भी खोज लेता था।

इस तरह इन्दौर मे मेरा समय व्यतीत होता रहा। रात को प्रवचन के बाद मै प्राय सिनमा का दूसरा शो देखने जाया करता था। उन दिनो बोलती हुई पिक्चर का आविष्कार नही हुआ था। धीरे-धीरे मेरा चित्त लायब्रेरी के कार्य से ऊबने लगा। मै चाहता था कि मुझे वही अध्यापन का कार्य मिल जाय। इसलिए मैंने बहुत प्रयत्न किया किन्तु इन्दौर मे कोई अध्ययन की जगह मुझे नही मिली। कारण यह था कि मै केवल जैनदर्शन मे न्यायतीर्थ परीक्षा पास था। यदि मैने जैनदर्शन के अतिरिक्त साहित्य व्याकरण आदि मे कोई डिग्री प्राप्त की होती अथवा अग्रेजी मे बी० ए०, एम० ए० किया होता तो मुझे आसानी से यह जगह मिल जाती। इन्दौर मे एक सरकारी सस्कृत महाविद्यालय भी था। मै चूकि दोपहर को खाली रहता था इसलिए मैंने उस विद्यालय मे सस्कृत साहित्य विषय के अध्ययन के लिए वहाँ प्रवेश ले लिया और दो वर्ष मे साहित्याचार्य बनारस की उपाधि प्राप्त कर ली। इन्ही दिनो मै प्राइवेट अग्रजी भी पढा करता था और उसका अच्छा ज्ञान कर लिया था। इन्दौर मे ही मैंने अग्रेजी मे बी० ए० किया और इस बी० ए० के आधार पर मैंने सस्कृत मे एम० ए० भी कर लिया। प्रसगवश मुझे मालूम हुआ कि राँची मे कोई जैन पाठशाला है वहा के लिए एक अध्यापक की आवश्यकता निकली है। मैने इस स्थान के लिए प्रार्थना-पत्र भेज दिया। प्रार्थना-पत्र के उत्तर मे मुझे स्वीकृति मिल गई। मै तुरन्त लायब्रेरी के कार्य से त्यागपत्र देकर राँची चला गया। हालाकि राँची मे मुझे कोई तकलीफ नही थी फिर भी वहाँ का माहौल मुझे अच्छा नही लगा और

साल भर मे ही मेरा चित्त ऊब गया । गर्मी की छुट्टियो मे मैं वहाँ से अजमेर आ गया । अजमेर मे मेरी बडी बहिन पू० विद्यावती जी सेठ भागचन्द्र जी कन्या पाठशाला मे प्रधानाध्यापिका के पद पर काम कर रही थी। मैं उनके पास ही रहने लगा तथा वही से अध्यापन कार्य के लिए विभिन्न सस्थाओ से पत्र व्यवहार करता रहा । सयोग से मुझे सुजानगढ (राजस्थान) के जैनस्कूल मे जगह मिल गई । उन दिनो वही के स्थानीय सेठ विरधीचन्द्र जी विद्यालय मे मन्त्री थे । वे अत्यन्त सुलझे हुए, उदारचेता और दयालु व्यक्ति थे । वहाँ मैं जैन स्कूल का प्रधानाध्यापक बनकर रहा । स्कूल मे आठवी कक्षा तक पढाई होती थी तथा मेरे अतिरिक्त तीन-चार अध्यापक और थे । स्कूल सुबह १० बजे से साय चार बजे तक लगता था। अध्यापन कार्य के अलावा रात को मैं वहाँ प्रवचन भी करता था । समाज के प्राय सभी पुरुष-स्त्री प्रवचन मे आते थे । वहाँ के सभी लोगो मे मैंने धार्मिक श्रद्धा अधिक पाई और सभी ने मुझे न केवल स्कूल मे बल्कि अपने हृदय मे भी स्थान दिया । वहाँ की शुद्ध राजस्थानी भाषा पहले तो मैं कम समझ पाता था बाद मे रहते-रहते मुझे उस भाषा के बोलने के सस्कार आ गये और मैं वह भाषा समझता भी था और बोलता भी था । इसके पहले छात्रावस्था मे व्यावर मे भी मैं लोगो से राजस्थानी भाषा सुनता था । अत तब के भी कुछ सस्कार थे । सुजानगढ मे मै अध्यापन कार्य के साथ स्वय प्रायवेट रूप मे अग्रेजी का भी अध्ययन करने लगा । वहाँ से मैंने मैट्रिक की परीक्षा भी दी जिसका केन्द्र उस समय बीकानेर मे था । मूलचन्द्र जी बागडा, मागीलाल जी सेठी, 'सरोज', मदनलाल जी, रतनलाल जी आदि उस समय स्कूल मे मुझसे धर्म का अध्ययन करते थे । सेठ हरकचन्द्र जी सरावगी, झूमर मल जी बागडा आदि जो हमउम्र के व्यक्ति थे सभी से मेरा बडा स्नेह था । सेठ हरकचन्द्र जी सरावगी को तो आज भी मैं अपना सगा भाई जैसा मानता हूँ। गर्मियो की छुट्टियो मे मैं सुजानगढ से प्राय अजमेर ही आता था । सुजानगढ मे मै सम्भवत. तीन वर्ष रहा । उन दिनो जैन समाज मे महासभा परिषद् आदि सस्थाओ की तरह दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ सघ जैसी सस्था भी जैन समाज मे कार्य कर रही थी । इसका उद्भव आर्य समाज से शास्त्रार्थ होने से हुआ । उन दिनो आर्य समाज का बहुत जोर था और वे जैन समाज के सिद्धान्तो पर बहुत प्रहार करते थे । श्री पडित राजेन्द्रकुमार जी शास्त्री जो अपने समय के अच्छे खासे शास्त्रार्थी विद्वान् थे वे अपने कन्धो पर इस सस्था का दायित्व सभाले हुए थे । उन्होने पहले अम्बाला (पजाब) मे इस सस्था की स्थापना की। सस्था को उस समय प्रचार कार्य के लिए विद्वानो की आवश्यकता थी । यह आवश्यकता जब समाचार पत्रो मे निकली तो मैंने भी इसके लिए आवेदन कर दिया । शास्त्रार्थ सघ का आफिस अम्बाला छावनी मे लाला शिब्बामल जी के मकान मे था जो सघ को किराये पर मिला हुआ था । वहाँ प० सुरेशचन्द्र जी, प० भैयालाल, भजनसागर, दयाचन्द्र,श्री रामानन्दजी गायनाचार्य, श्री विनयकुमार जी पथिक अनेक कार्यकर्ता प्रचार कार्य कर रहे थे । सब लोग एक-एक माह, दो-दो माह प्रचार कार्य पर जाते थे। जाने वालो मे एक विद्वान और एक गायनाचार्य इस तरह युगल रूप मे सब लोग प्रचार कार्य करते थे। आर्यसमाजी विद्वान् कर्मानन्द जी से अनेक बार प० राजेन्द्र कुमार जी के शास्त्रार्थ हुए । आखिर कर्मानन्द जी जैन बन गये थे । वे व्रती भी रहे लेकिन बाद मे भ्रष्ट हो गये । उस समय प्रचार कार्य मे मैंने बहुत भ्रमण किया । भैयालाल जी मेरे साथ गायक रूप मे साथ चलते थे । मै लाहौर, मुल्तान, भटिंडा, पजाब आदि दूर-दूर तक घूमा । इस भ्रमण मे बौद्धिक विकास पर्याप्त हुआ । पजाब मे भी स्थानीय समाजो मे अच्छी धार्मिक एव वत्सल्य भावनाए थी । मुलतान मे उन दिनों प० अजितकुमार जी शास्त्री चावली वाले भी रहते थे । मैं एक बार पर्युषण पर्व मे प्रवचन के लिए भी गया था जिसमे काफी भीड होती थी । वहाँ के लोग कहते थे कि हमने मुल्तान मे एक नियम बना रखा है कि बाहर का कोई भी जैन यात्री यदि मुल्तान मे आता है और मन्दिर मे दर्शन करता

है तो माली उससे कहेगा कि आप कहाँ से पधारे है ? आपका क्या नाम है ? जब यात्री अपना नाम धाम बताता है तो माली उससे कहेगा हमारे यहाँ के अमुक लालजी ने आपको अपने यहाँ भोजन के लिये बुलाया है । जब भोजन के लिए राजी हो जाय तो माली जाकर लालाजी को कह आएगा कि अमुक सज्जन अमुक जगह से आए है भोजन वे आपके यहाँ करेगे । बस आध घंटे बाद उन महाशय को माली लेकर आता है और उनका भोजन उस गृहस्थ के यहाँ होता है । इस व्यवस्था से सभी बाहर के यात्री मुलतान पंचायत की प्रशंसा करते थे ।

शास्त्रार्थ सघ ३-४ वर्ष बाद फिर मथुरा चौरासी मे आ गया । वहाँ उसने अपना नाम शास्त्रार्थ संघ हटाकर दिगम्बर जैन सघ मथुरा रखा । क्योकि शास्त्रार्थ नाम से लोगो को लडाई झगडे की सस्था प्रतीत होती थी । मथुरा चौरासी मे आकर सघ ने अपनी बिल्डिंग भी बनवाई उसमे आफिस एव विद्वानो को रहने के लिए कमरे तथा एक वाचनालय भवन भी बनवाया । जो अब तक भी है । मैने चौरासी मथुरा मे सघ मे रह कर ही श्री प० राजेन्द्र कुमार जी के परामर्श से प० टोडरमल जी कृत मोक्षमार्ग प्रकाश का ढूँढारी भाषा से बदल कर खडी बोली हिन्दी मे अनुवाद किया एव खोजपूर्ण प्रस्तावना लिखी । इस साहित्यिक रचना के लिए मुझे सघ ने वाराणसी प० कैलाशचन्द्र जी के पास भेज दिया । उन दिनो पं० कैलाशचन्द्र जी भी सघ के पदाधिकारी थे । वाराणसी मे मैने मोक्षमार्ग प्रकाश के बाद पूजाओ का भी जो सस्कृत मे थी, हिन्दी मे अनुवाद किया । यही रहकर आप्तपरीक्षा ग्रन्थ का भी हिन्दी मे अनुवाद किया जो अभी तक मेरे पास सुरक्षित है । किन्तु छपी हुई नही है ।

क्षय रोग

बनारस मे काम करते हुए मुझे क्षय रोग हो गया । खाँसी और जुखाम तो होते ही रहते थे पर धीरे-धीरे वह सब क्षय रोग मे बदल गये । इसके पहले मेरा सीधे हाथ के अँगूठे का आपरेशन हो चुका था । यह आपरेशन मुझे बेहोश करके किया गया था । फिर भी मै उस बेहोशी मे कराहता रहा । प० फूलचन्द्र सि० शास्त्री आपरेशन मे मेरे साथ थे । काफी दिन बाद मुझे उस पीडा से छुटकारा मिला । इसके बाद यह क्षयरोग हो गया । इसका उपचार पहले तो मैने बनारस मे ही कराया । लेकिन उससे लाभ नही हुआ । डाक्टर ने जिनका नाम मुझे विस्मृत हो गया है मुझे परामर्श दिया कि आप इन्दौर चले जायँ वहाँ अमुक डाक्टर से आप इलाज कराए । मै पहले अजमेर गया और वहा से अपनी पूज्य विद्यावती जी को लेकर इन्दौर चला गया । इन्दौर मे बाबू जयकुमार जी मैनेजर सर सेठ हुकमचन्द्र जी की नसिया के साथ जाकर मै सरकारी हॉस्पिटल मे दाखिल हो गया । वहाँ मेरी जाँच की गई एव फेफडो का फोटा भी लिया गया । और उस दिन से मुझे छाती मे एक तरफ इजेक्शन लगना प्रारम्भ हो गया । पहले इजेक्शन डॉक्टर ने वहाँ के प्रशिक्षार्थी एक विद्यार्थी से लगवाया । उससे मुझे अत्यन्त पीडा हुई और मै काफी चिल्लाया । दूसरे दिन से डॉ० स्वय ही इजेक्शन लगाने लगा जिसको सरलता के साथ मैने सहन कर लिया ।

लगभग दो माह मै हॉस्पिटल मे रहा । एक दिन डाक्टर जब मेरे फेफडो का एक्सरे कर रहे थे तो उन्होने मेरे सारे शरीर को हाथ से दबाकर देखा और देखकर कहने लगे—ये बनारस वाला अब तुम बहुत मोटा हो गया है । यह सुनकर मै कुछ हैरान हो गया । मै जब हॉस्पिटल मे भर्ती हुआ था तब मेरा वजन १०५ पौण्ड था । डाक्टर ने जब मुझे मोटा कहा तो मुझे उत्सुकता हुई कि मैं अपने को तौल कर देखूँ । मैने अस्पताल के एक व्यक्ति से कहा कि मै अपना शरीर तौलना चाहता हूँ । वह व्यक्ति मुझे तौलने की मशीन के पास ले गया । वहाँ मेरा वजन १५५ पौण्ड निकला । मैं आश्चर्य मे पड गया यह जानकर कि मेरा ५० पौण्ड वजन अस्पताल मे बढ गया है । अस्पताल मे मुझे जो दवाइयाँ दी जाती थी वे सब शक्तिशाली थी,

इजेक्शन भी ताकत के ही दिए जाते थे। साथ ही मैं प्रति एक ग्लास शुद्ध मौसमी का रस पीता था और २४ घंटे पलग पर ही लेटा रहता था। टट्टी पेशाब भी पलग के समीप ही नीचे कर लेता था। इसी का परिणाम था कि मेरा इतना वजन हो गया। पूर्ण स्वस्थ होने के बाद जब मैं अपने संबधियों और रिश्तेदारो से मिला तो वे मुझे पहचान नही सकते थे। इन्दौर मे मै पहले रहकर गया था। उन मित्रो ने भी मेरी हट्टी कट्टी सूरत अब देखकर आश्चर्य किया।

स्वस्थ होने के बाद मैं कुछ दिन इन्दौर ही रहा। मेरे उपचार मे मथुरा सघ ने भी बहुत कुछ आर्थिक सहयोग दिया था। और मेरी कुशलता पूछने के लिए वहाँ से पत्र भी आते रहते थे।

उन दिनो सरसेठ हुकमचन्द्र जो के इन्द्रभवन मे सुबह-शाम शास्त्र प्रवचन होते थे। उन प्रवचनो मे मैं भी जाने लगा और एक-दो दिन मैंने भी शास्त्र प्रवचन किए। सर सेठ हुकमचन्द्र जी इससे बड़े प्रभावित हुए। उन्होने मुझसे पूछा, आप यहां क्या करते है ? मैने उन्हे अपनी बीमारी का सब कुछ हाल सुनाया और दिगम्बर जैन सघ मथुरा मे अपनी नियुक्ति बतलाई। सेठ साहब ने पूछा आपको मथुरा मे क्या मासिक वेतन मिलता है ? मैने कहा ५० रुपया मासिक। सेठ साहब कहने लगे हम तुम्हे १०० रुपया मासिक देगे। मैने कहा कि सेठ साहब मै मथुरा सघ को पत्र देकर पूछ लूँ। उन्होने कहा ठीक है। मैं अपने निवास स्थान पर आ गया। दूसरे दिन दोपहर को सेठ साहब का आदमी कार लेकर मुझे लेने आ गया। मैं चला गया। सेठ साहब ने कहा आपने पत्र डाल दिया। मैने कहा हाँ जी। (लेकिन पत्र डाला नही था) इस पर सेठ साहब ने कहा चलो छोडो हम आपको १५० रुपया मासिक देगे। मैं सुनकर चुप हो गया। मेरे मुख मे न 'हाँ' निकला और न 'नही' निकला। सेठ साहब कहने लगे अच्छा हम अपने यहाँ जो पडितो को देते हैं वह आपको देगे। उन दिनो सेठ साहब के यहाँ प० खूबचन्द्र जी शास्त्री, प० वशीधर जी शास्त्री एव प० देवकीनदन जी आदि विद्वान् प्रवचन करते थे और उन्हे अच्छा वेतन देते थे। अत मुझसे कहा आपको २०० रुपए देगे। मैंने शीघ्र 'हाँ' कह दिया और उस दिन से मैं सेठ साहब के उनके इन्द्रभवन मे जहाँ वे सोते थे वहाँ प्रवचन करने लगा। प्रवचन मे इन्द्रभवन के पास ही उदासीन आश्रम मे रहने वाले सभी उदासीन व्रती श्रावक शास्त्र सुनने आते थे तथा अन्य कुछ गृहस्थ भी आते थे। एवं इन्दौर शहर मे रहने वाले भी कुछ व्यक्ति वहाँ बस मे या अपनी सवारियो मे आते थे। मै शाम को ७-८ बजे प्रवचन करता था। प्रात काल प० वशीधर जी जो हुकमचन्द्र की नशियाँ के विद्यालय मे प्रधानाध्यापक थे वे प्रवचन करते थे। उन दिनो सोनगढी मान्यताओ की खीचातानी चल रही थी। स्थान-स्थान पर उन मान्यताओ का विरोध चल रहा था। सर सेठ हुकमचन्द्र जी साहब भी कुछ उसी विचारो के हो चले थे। प्रवचन के बाद वे सोनगढ से प्रकाशित आत्मधर्म मासिक पत्रिका मे प्रकाशित कानजी के लेख बहुत पढते थे। उन लेखो मे अनेक विसगतियाँ रहती थी, मै उनको सुनकर हैरान था। एक दिन मुझसे नही रहा गया और मैंने सेठ साहब को टोक दिया और कहा यह जो कुछ आपने पढ़ा है वह बिल्कुल गलत और शास्त्र के विरुद्ध है। इस पर सेठ साहब हठ पकड गए और श्रोताओ मे से ४-६ को सम्बोधन करके पूछा कि मैं जो पढ़ रहा हूँ वह ठीक है न ? तो सभी ने यही उत्तर दिया हाँ जी ठीक है। इन हाँ भरने वालो मे कुछ व्रती भी थे जो सेठ साहब को ठीक घोषित कर रहे थे। इस पर मैंने सेठ सा० से कहा—सेठ साहब, यह तो आपका राजदरबार है इसमे तो सभी आपकी हाँ में हाँ मिलाएँगे। सेठ साहब कहने लगे—"ई मे राजदरबार की काई बात है" मै चुप हो गया। सभा के बाद कुछ लोगो ने बाहर आकर मुझसे कहा—"आपको इस तरह नही कहना चाहिए था यह तो बहुत समझो कि आपकी यह बात सुनकर सेठ साहब ने कुछ नही कहा अन्यथा वे आपको हटा सकते थे।" मैंने कहा हटा देते तो क्या है मेरी तकदीर तो कही नही ले जायेगे। वास्तव मे सेठ साहब अन्तरंग मे जितने

कठोर थे उतने ही वे सरल भी थे और आदमी को अच्छी तरह पहचानते थे। किसी भी व्यक्ति के अच्छे-बुरे का वे स्वयं ही निर्णय लेते थे। किसी दूसरे के निर्णय पर भरोसा नहीं करते थे—"सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुसु प्रमाणमन्त: करण प्रवृत्तय" अर्थात् सज्जन पुरुषों का संदिग्ध वस्तु में ठीक निर्णय लेने के लिए उनकी अन्त करण की प्रवृत्ति ही काम आती है। यह सूक्ति सर सेठ हुकमचन्द्र जी के संबंध में ठीक ही उतरती थी। एक बार किसी ने सेठ साहब के एक मुनीम की शिकायत सेठ साहब से की कि आपका इस तरह दुकान मे आपका रुपया खाता है। इस पर सेठ साहब ने उत्तर दिया—"खावे है तो खावा दे थारे बाप को काई जावे है म्हाने ने कमा कमा खूब पइसा देवे है।" यह सुनकर वह आदमी चुप रह गया। सेठ साहब के यहाँ मै सन् १९४९ या ५० से ७-८ वर्ष तक रहा वही मैंने कुछ विभिन्न परीक्षाएँ देकर डिग्रियाँ प्राप्त की ओर वहाँ कुन्दकुन्द के समयसार को लेकर मैंने शोधग्रन्थ भी लिखा। उसमें उदासीन आश्रम के पुस्तकालय से भी मुझे बहुत सी खोज की सामग्री मिली। सन् १९५८ में सेठ साहब कहीं गिर गये तो उनकी कमर की हड्डी मे फ्रेक्शन हो गया उससे उन्हे काफी पीडा रही। प्रवचन का माहौल भी जैसा पहले था वह भी नही रहा। अब मेरी इच्छा इन्दौर से अन्यत्र जाने की हुई। इस सम्बन्ध मे मैंने मथुरासंघ के अपने साथी श्री प० सुरेशचन्द्र जी को एक पत्र लिखा और दिल्ली की तरफ अपने अध्यापन कार्य के लिये लिखा। उस समय वे दिल्ली मे ही अनाथालय दरियागंज मे प्रचारक का काम करते थे। उत्तर मे उन्होने लिखा कि यहाँ समन्तभद्र संस्कृत विद्यालय मे प्रधानाध्यापक की जगह खाली है आप आ जाइये। यह सन् ५८ की बात है। मैने उक्त पद के लिये अपना प्रार्थनापत्र भेज दिया। लगभग ८ दिन में स्वीकृति पत्र आ गया।

मैंने सर सेठ सा० के कहा कि मै अब दिल्ली जा रहा हूँ मेरी नियुक्ति वहाँ विद्यालय में पढाने को हो गई है। इस पर सेठ सा० बोले—तुम्हे भैया यहाँ क्या तकलीफ है और तुम क्या चाहते हो। मैंने कहा तकलीफ तो कुछ नही है पर मैंने अपनी स्वीकृति भेज दी है इसलिये मेरा जाना आवश्यक है। सेठ सा० ने कहा यदि ऐसा है तो चिट्ठी डाल दो कि मुझे सेठ सा० ने रोक लिया है। इस तरह सेठ सा० से बातचीत करते हुये मुझे काफी विलम्ब हो गया। कमरे से बाहर थोडे से फासले पर सेठानी जी खडी थी उन्होने अगुली के इशारे से मुझे बुलाया और कहा कि आप अभी तो सेठ सा० से कह दें कि मैं नही जा रहा हूँ फिर बाद मे भले ही चले जाना क्योकि इनके भोजन करने मे देरी हो रही है, अत उन्हे भोजन शीघ्र कर लेने दें। मैंने सेठ सा० से ऐसा ही कह दिया। सेठ जी इससे बडे प्रसन्न हुए। एक सप्ताह बाद मैंने पुन सेठ जी से निवेदन किया तो कहने लगे कि तुमने तो जाने को मना किया था, मैंने कहा कि मैं एक सप्ताह को छुट्टी पर दिल्ली जा रहा हूँ, वहाँ उन लोगो से मना कर आऊँ फिर लौटकर आ जाऊँगा। सेठ जी ने मुझे जाने के लिये कह दिया और यह भी कहा कि शीघ्र लौटकर आना। मैं दिल्ली चला गया और वहाँ समन्तभद्र सस्कृत विद्यालय मे अपना पद सम्हाल लिया। विद्यालय मे अनाथाश्रम के छात्र सायकाल ५ बजे से रात को ९ बजे तक पढते थे तथा इसके पहले दिन मे वही जैन स्कूल मे पढते थे। उन्ही दिनो मै 'जैन प्रचारक' मासिक पत्रिका, जैनदर्शन साप्ताहिक पत्र का सपादन करता था एव जैन गजट का सहायक सपादक था। तथा दरियागंज जैन मन्दिर मे प्रात काल शास्त्र प्रवचन करता था। इसके अतिरिक्त यहीं मैंने अपना शोधग्रन्थ पूरा किया और इसके पहले इन्दौर मे मैंने महावीर दर्शन, महावीरवाणी, बेटी की विदा, घरवाला आदि छोटी-छोटी पुस्तको की रचना की।

सन् १९६२ मे साहु शान्ति प्रसाद जी ने मुझे पूजन पाठ आदि का सशोधन एव सपादन करने के लिये अपने यहाँ रखना चाहा, लेकिन मै नही गया। मुझे यही एक पीडा थी कि वहाँ जाकर मुझे साहु जी के लिये समर्पित होकर रहना पडगा इससे मेरे स्वाभिमान को ठेस पहुँचेगी। तब से साहुजी मुझसे कुछ नाराज

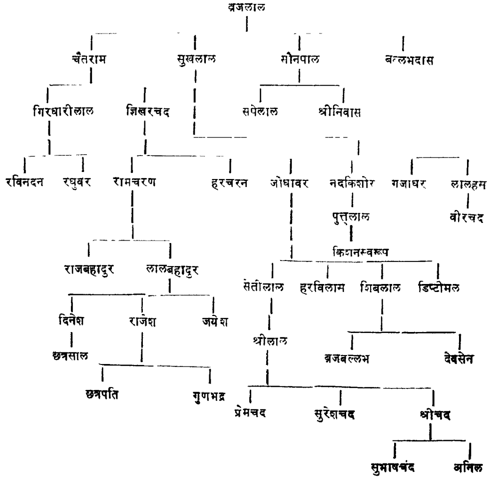
भी रहने लगे। साहुजी उन दिनो तीर्थ क्षेत्र कमेटी के अधिपति थे। एक प्रसङ्ग को लेकर मैंने जैनदर्शन साप्ताहिक मे तीर्थ क्षेत्र कमेटी के कार्यालय के विरोध मे एक सम्पादकीय टिप्पणी लिखी। इस पर श्री साहु जी का एक पत्र मुझे मिला जिसमें लिखा था कि तीर्थ क्षेत्र कमेटी के कार्यालय ने आपके सम्पादकीय टिप्पण के विरोध मे कोर्ट में दावा किया है, आप क्षमा माँगिए अन्यथा आपको कष्ट उठाना पडेगा। मैंने इसका कोई जबाब नही दिया तो उन्होंने मुझे अपने निवास स्थान पर बुलाया और कहा कि आप क्षमा नही माँगेंगे तो आपको प्रति सप्ताह कोर्ट मे आना पडेगा। उस समय तीर्थ क्षेत्र कमेटी का कार्यालय दिल्ली से काफी दूर संभवत बिहार या मध्य प्रदेश मे था। मैने कहा कि मैं कोर्ट मे आ जाऊँगा। साहु सा० बोले कि प्रति सप्ताह आने-जाने मे जो खर्च होगा कहाँ से लाओगे ? मैने कहा जिसने टिप्पणी लिखने का साहस दिया वह कहीं से खर्चा भी देगा। क्षेत्र कमेटी के कार्यालय से श्री सेठ चाँदमल जी पाण्डया जो उस समय सिद्धान्त संरक्षिणी सभा के सभापति थे उनके पास इसकी सूचना भेजी। चाँदमलजी ने भी मुझे क्षमा माँगने को बाध्य किया लेकिन मैंने क्षमा नही माँगी और लिख दिया कि आप जैनदर्शन के सपादन से मेरा त्याग पत्र ले लें, मैं क्षमा नही माँगूगा। आखिर यह प्रकरण यो ही दब गया।

मै देहली मे सन् १९५८ से १९६३ तक रहा। सन् ६३ मे गर्मियों की छुट्टियो मे मैं इन्दौर गया क्योकि मेरा बडा पुत्र चिर० दिनेश इन्दौर मे ही स्टेट बैंक ऑफ इन्दौर मे सर्विस कर रहा था और उसका निवास स्थान उस समय सर सेठ सा० के इन्द्रभवन मे ही पीछे की तरफ था। इन्दौर मे जाकर मेरी भैया सा० श्री राजकुमार सिंह जी से बातचीत हुई। उनका कहना था कि मैं अब इन्दौर मे ही रहने लगूँ और सर सेठ सा० की सस्थाओ का मत्री पद सम्हाल लूँ। मैंने इसे स्वीकार कर लिया। इससे पहले वहाँ श्री हजारी लाल जो मत्री थे किन्तु उनका स्वर्गवास हो चुका था अतः वह स्थान खाली पडा था। इन सस्थाओ मे संस्कृत महाविद्यालय, महिला विद्यालय, जैन औषधालय बोयवानी आदि सस्थाएँ थी। इन संस्थाओं का मन्त्रिपद सम्हालने के साथ मै जैन दर्शन साप्ताहिक पत्र का सम्पादन भी उन दिनो कर रहा था। समाज मे सर्वत्र सोन-गढ को लेकर द्वन्द्व मचा हुआ था। जैन दर्शन पत्र उस द्वद्व मे सबसे प्रमुख था और मैं ही उसका सम्पादन करता था। सर सेठ सा० की सस्थाओ मे कुछ ऐसे भी सदस्य थे जो सोनगढ के पिट्ठू थे और मुझसे ईर्ष्या भी करते थे। वे सब ही यह चाहते थे कि मैं जैन दर्शन मे सोनगढ के विरुद्ध कुछ नही लिखूँ। एक बार एक पत्र बाहर के एक पडित जी का जिनकी प्रवृत्ति 'गगा गये गगादास जमुना गये जमुना दास' की थी भैया सा० सेठ राजकुमार के पास आया। उसमे लिखा था कि आपने प० लालबहादुर जी को अपने यहाँ क्यो रख रक्खा है। वे पूरे बीसपथी है। आप बीसपथी कब से बन गये है यदि नही तो आपको उन्हें तुरन्त हटा देना चाहिये। भैया साहब यह पत्र मुझे बुलाकर पढवाये। मैंने कहा मै न बीसपथी हूँ न तेरापथी हूँ क्योकि आगम मे इन बीस और तेरह पथ का कोई नाम नही है। मै तो आगमपथी हूँ और उसमे जो कुछ लिखा है उसे ही प्रमाण मानता हूँ। भैया साहब बोले तो फिर इन्हे क्या लिखूँ ? मैने कहा जैसा आप उचित समझे। भैया सा० ने उन्हे पत्र का जवाब इस प्रकार दिया—महाशय, जो आपका पत्र मिला, आपने यह कैसे समझ लिया कि लालबहादुर जी शास्त्री यदि बीसपन्थी हैं तो मैं भी बीसपथी बन गया हूँ। मेरे यहाँ कोई कार ड्राइवर यदि मुसलमान है तो इसका अर्थ यह तो नही है कि मैं भी मुसलमान बन गया हूँ। आपके इस प्रकार हल्की बात नही लिखनी चाहिये। इस उत्तर का प्रत्युत्तर अवसरवादी बेचारे प० जी कुछ नही दे सके। सस्था के अन्य सदस्य जो मुझसे चिढते थे उन्होने भैया सा० को कहकर सस्था सदस्यो की एक मीटिंग बुलवाई। संस्था के मंत्री के नाते उसमे मुझे भी निमन्त्रण मिला। लेकिन मैंने मीटिंग मे जाने के बजाय वहाँ अपना मत्री पद से त्याग पत्र दे दिया। उसके बाद मैंने इन्दौर मे अपना प्रेस खोल लिया। जैनदर्शन मेरे प्रेस से ही अब निकलने लगा। मैंने प्रेस को डेढ वर्ष चलाया लेकिन कोई सहायक न होने से मै प्रेस का काम सम्हाल न सका। मेरा पुत्र चिर० दिनेश बैंक सर्विस मे था अत उसका पूरा सहयोग मिल नही सका। इसी बीच मे देहली में एक नई संस्था जिसका प्रारम्भ जब मैं पहले देहली मे था तभी हो चुका था और जिसका नाम था

लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय सस्कृत विद्यापीठ। सस्कृत विद्यापीठ तथा गवर्नमेंट ने उसको अडरटेकिंग कर लिया था। उसमे जैनदर्शन के लेक्चरर की आवश्यकता निकली। उसके लिये मैंने प्रार्थना पत्र भेज दिया। वहाँ मुझे बुलाया गया और जैन दर्शन लेक्चरर पद पर मेरी नियुक्ति हो गई। इस तरह मै सन् १९६० मे इन्दौर आकर रहा और सन् ६६ तक रहकर पुन दिल्ली चला गया। सरकारी सर्विस का यह मेरा पहला ही अवसर था। इन्दौर मे मुझे ढाई सौ रुपया मासिक वेतन मिलता था। यहाँ मेरी साढे सात सौ रुपया मासिक पर नियुक्ति हुई। इस सस्था मे मुझे सब प्रकार की सुविधा और समादर मिला। कुछ ही साल बाद मुझे जैन दर्शन विभाग का अध्यक्ष बना दिया गया तथा अध्यापक परिषद् ने मुझे अपना सभापति चुन लिया। १० वर्ष तक वहाँ मैं अध्यापन कार्य करता रहा। इसके बाद मैं रिटायर हो गया। रिटायर होने पर मुझे विद्यापीठ विद्वानो और पदाधिकारियो ने भावभीनी विदाई दी। सस्कृत श्लोको मे मुझे मानपत्र मिला किन्तु यह रिटायरमेंट मुझे सन् १९७६ मे दिया गया। सन् १९८१ मे मुझे शास्त्र चूडामणि के रूप मे पुनः राष्ट्रीय सस्कृत सस्थान बुलाकर विद्यापीठ में मेरी नियुक्ति कर दी। यह नियुक्ति मेरी वैतनिक नही थी किन्तु आनरेरियन के आधार पर मुझे नियुक्त किया गया। सप्ताह मे मै केवल तीन दिन पढाता था और तीनो दिन तीन-तीन पीरियड ही पढाता था। सन् ८४ मे वहाँ से भी रिटायर हो चुका हूँ।

मेरी इच्छा अब सभी सासारिक कार्यो से हटकर मात्र आत्म कल्याण मे लगने की है। मुझे शास्त्रीय चर्चा और स्वाध्याय मे अब भी आनन्द आता है। मेरी अन्तिम इच्छा समाधिमरण की है। भगवान् से प्रार्थना है कि मेरी यह इच्छा पूर्ण हो। ●

वंशवृक्ष



डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री के जीवन की
चित्रमय झाँकी



चिन्तन की मुद्रा मे डॉ० लालबहादुर शास्त्री



डा० शास्त्री गम्भीर मुद्रा मे कुछ चिन्तन करत हुए



लेखन की मुद्रा मे शास्त्री जी



पी-एच० डी० की उपाधि लेते हुए शास्त्री जी



डॉ० लालबहादुर शास्त्री

श्रीमती पद्मश्री जैन धर्मपत्नी शास्त्रीजी



डॉ० शास्त्री जी अपने पुत्र, पत्नी, पौत्र आदि परिवार के साथ



डॉ० जयेश कुमार जैन अपनी पत्नी और पुत्रियों के साथ



डॉ० शास्त्री पुत्र, पौत्र, पौत्री और पुत्रवधुओं के साथ घर की छत पर



शास्त्री जी की जन्मभूमि
पमारी का दि० जैन मन्दिर



प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में भगवान् का स्मरण करते हुए शास्त्री जी



पमारी गाँव मे अपने पैतृक घर में सपरिवार शास्त्री जी



जन्मस्थली पमारी गाव मे भगवान् के दर्शन करते हुए शास्त्री जी तथा उनकी
धर्मपत्नी श्रीमती पद्मश्री देवी



पमारी जैन मन्दिर के दर्शन करके लौटते समय श्री शास्त्री जी और उनके पुत्र पौत्र एव रिश्तेदार



डॉ० शास्त्री का जामाता परिवार
बैठे हुए—वी० के० जैन, नितिन जैन, प्रभाती जैन। पीछे खड़े हुए—प्रियका जैन



डॉ० शास्त्री की द्वितीय पुत्री ऊषा जैन एव
जामाता श्री रमेशचन्द्र जैन



दक्षिण श्रवणबेलगोला के समय परिवार के साथ डॉ० शास्त्री



बठे हुए—शास्त्री जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री दिनेश कुमार जैन, श्रीमती मरला जैन
खड़े हुए—सुपुत्र छत्रसाल बी० ए०, सुपुत्री करुणा जैन एव सुमेघ जैन



दहली अपने पू० गुरु प० मक्खनलाल जो शास्त्री के चरण स्पर्श करते हुए डॉ० शास्त्री



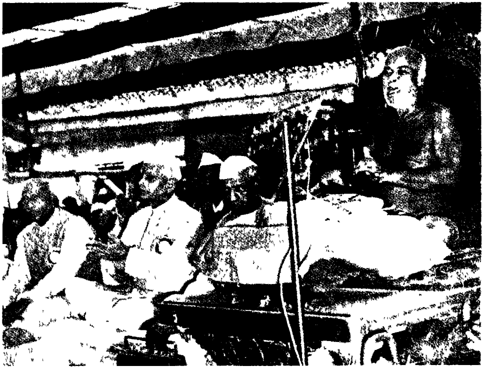
डॉ० लालबहादुर शास्त्री सेठ चादमल जो पाड्या गोहाटी के साथ



फलटण अधिवेशन मे आचार्य श्री परम पू० देशभूषण जी महाराज प्रवचन करते हुए बगल मे शास्त्री जी बैठे है ।



अ० भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद् के फलटण अधिवेशन मे पू० आचार्य देशभूषण जी महाराज,
एवं खाद्यमन्त्री महाराष्ट्र के साथ डॉ० शास्त्री जी



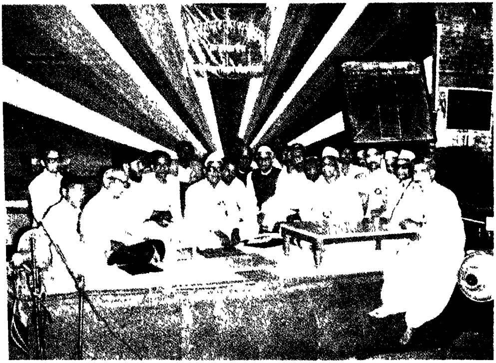
सार्वजनिक सभा मे परमपूज्य आचार्य देशभूषण जी भाषण करते हुए पास मे
पं० बाबूलाल जी जमादार के साथ बैठे हुए शास्त्री जी



मुनि वर्धमान सागर आदि की वन्दना करते हुए डॉ० शास्त्री जी



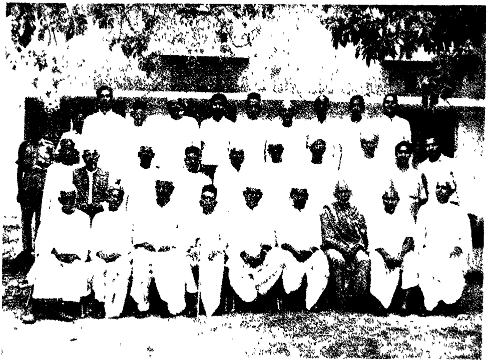
श्री १०८ मुनि ज्ञानभूषण जी का आहार दान करते हुए डॉ० लालबहादुर शास्त्री एवं परिवार



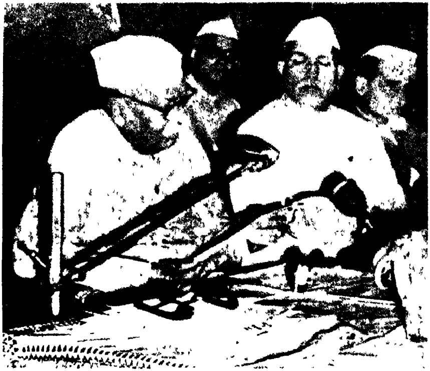
फरवरी ८० मे श्री सम्मेदशिखर पर दि० जैन सम्मेलन कलकत्ता द्वारा आयोजित शिक्षण शिविर मे विद्वानो एव कार्यकर्त्ताओ के मध्य डॉ० लालबहादुर शास्त्री



जागृति वीर समाज दिल्ली के मच पर डॉ० शास्त्री भाषण करते हुए



श्री शान्तिवीर नगर महावीर जी मे सि० स० सभा के अधिवेशन का एक दृश्य। अनेक विद्वानो तथा श्रीमन्तो के साथ बैठे हुए डॉ० शास्त्री जी



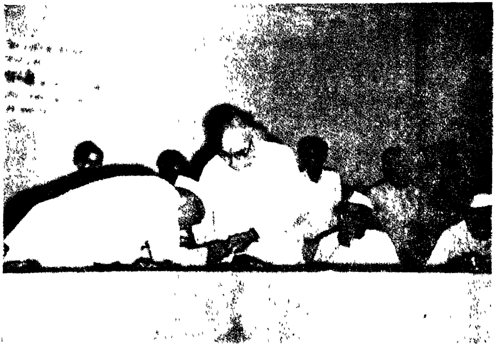
डॉ० शास्त्रीजी भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र बाबू के साथ महावीर जयन्ती के अवसर पर मच पर बैठे हुए ।



शोध ग्रंथ विमोचन समारोह मे श्री १०८ मुनि विद्यानन्द जी के
चरण सान्निध्य मे भाषण करते हुये डॉ० शास्त्री जी



श्री कमलापति जी त्रिपाठी डॉ० शास्त्री जी के शोध ग्रन्थ के विमोचन के समय भाषण करते हुए ।



माननीय श्री कमलापति जी त्रिपाठी को 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार' ग्रथ भेट करते हुए शास्त्री जी



आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार ग्रथ विमोचन समारोह मे श्री कमलापति त्रिपाठी ग्रंथ पढते हुए ।
साथ मे बायी तरफ बैठे हुए डॉ० मण्डन मिश्र जी प्राचार्य ला० ब० शा० विद्यापीठ तथा
लाला प्रेमचन्द्र जी जैन, दिल्ली ।



अ० भा० दि० जैन शास्त्री परिषद् के फलटण अधिवेशन के समय शास्त्र प्रवचन करते हुए डॉ० शास्त्री पास मे प० विमलकुमार जैन सोरया बैठे हुए।



शास्त्री परिषद् के फलटण अधिवेशन के अध्यक्ष डॉ० लाल बहादुर शास्त्री जी का स्वागत एव परमपूज्य आचार्य देशभूषण जी महाराज आशीर्वाद देते हुए।



भा० व० दि० जैन शास्त्री परिषद् द्वारा हस्तिनापुर पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर श्री राजकुमार जी सेठी सुपुत्र स्व० फूलचन्द जी सेठी डीमापुर (नागालैण्ड), डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री को उनके शोध ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार पर १५०१) रुपये का फूलचन्द्र सेठी पुरस्कार प्रदान करते हुए ।

सादा जीवन और उच्चविचार की साक्षात् प्रतिमूर्ति

● ब्र० कमलाबाई, श्रीमहावीरजी

व्यक्ति का अभिनन्दन उसकी काया का नही अपितु उनकी दीर्घ सेवा, गहन साधना और मौलिक वृत्तियो का होता है। संसार मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी कसौटी के अनुसार व्यक्ति का मूल्याकन करता है। सबके पास अपने अपने नाप स्तर हैं जिनके द्वारा वे दूसरो के व्यक्तित्व को नापकर उनका मूल्य निर्धारण करते है परन्तु कुछ ऐसे व्यक्तित्व है जिनका मूल्याकन किसी माप के द्वारा नही होता अपितु उनका उन्नत व्यक्तित्व और उनका अनुकरणीय कृतित्व ही दूसरो पर अपनी छाप छोडता है। डॉ० शास्त्री जी ऐसे ही व्यक्तित्व के प्रतीक हैं। भारत के शीर्षस्थ जैन विद्वानो मे डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री का नाम श्रद्धा एव भक्ति के रूप मे लिया जाता है।

विगत ५० वर्षों से डॉ० शास्त्री जी ने अपने सम्पादकीय प्रभावशाली लेखो तथा विद्वत्तापूर्ण प्रवचनों द्वारा जो जन सेवाएँ की हैं वे मानसपटल पर स्मरणीय रूप मे अकित है। नसर्गिक स्वभाव के अनुसार गिरे हुए जनो को उठाना और उठ रहे जनो को आगे बढाना तथा समाज सस्कृति साहित्य की वृद्धि के लिए प्रतिक्षण अग्रणी रहना श्रद्धेय शास्त्री जी के महान् व्यक्तित्व का प्रतीक है।

आपने एक सच्चे कार्यकर्ता के रूप मे लगनपूर्वक समाज की सच्ची सेवा की है और अभी भी उसी निष्ठा और लगन से समाज सेवा मे लगे हुए हैं। आपको कभी भी किसी पद ने विमोहित नही किया और न ही कभी नेतृत्व की अभिलाषा की, एक उच्चकोटि के विद्वान् होते हुए भी आप मिथ्याभिमान से सदैव दूर रहे और ज्ञान दान के द्वारा अनेक सस्थाओ को उपकृत करते रहे। आपकी एक विशेषता यह भी है कि जब कभी भारत पर धर्म सकट का समय आया ऐसे समय मे आपने सम्पूर्ण देश मे अपनी सम्यक् वाणी से फैल रहे धर्म संकट का खण्डन कर धर्म की रक्षा की जिसे युगा-युगो तक नही भुलाया जा सकता।

आपके जीवन के अनेक प्रसगो का अवलोकन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'सादा जीवन उच्च विचार' की आप साक्षात् प्रतिमूर्ति है। सादगी का आपने अपनी जीवन सहचरी रूप मे अगीकार कर उच्च परिसस्कृत विचारो को सदैव प्राथमिकता दी है। यही कारण है कर्मठता आपका एक सहज स्वाभाविक गुण बना और समाजसेवो के रूप मे उसने आपको प्रतिष्ठा को द्विगुणित किया है।

डॉ० शास्त्री जी की जीवन साधना से फलीभूत अनेको सस्थाएँ आज चरमोत्कर्ष रूप मे समाज की कल्याणी बनी है। मैं डॉ० शास्त्री जी के दीर्घ एव यशस्वी जीवन की कामना करती हूँ।

प्रखर प्रवक्ता

● डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर

डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री वर्तमान मे उन बहुत बहुचर्चित विद्वानो मे से है, जिनके प्रति समाज में गहरी श्रद्धा है तथा जिनके प्रवचन बडे ध्यान से एव उत्सुकतापूर्वक सुने जाते हैं। डॉ० शास्त्री जी बहुत कम बोलते हैं। समारोहो एवं संगोष्ठियों में वे जाने से कतराते है। शास्त्री परिषद् के वे प्रारम्भ से अध्यक्ष होते

हुए भी कार्यसमिति की मीटिंगो मे कम ही जाना पसन्द करते हैं। इससे उनके एकाकी स्वभाव का भी पता चलता है।

शास्त्री जी विद्वत्ता से ओतप्रोत है। जैन सिद्धान्त ग्रन्थो के रहस्य को उन्होने खूब घोट कर पिया है इसलिये किसी भी सैद्धान्तिक प्रश्न पर जब वे बोलते है तो पूर्ण अधिकार के साथ बोलते है। उनके तर्क अकाट्य होते हैं जिन्हें सहज ही नही काटा जा सकता है। समाज मे वे एक वर्ग के प्रतिनिधि विद्वान् है इसलिये जब कभी सैद्धान्तिक चर्चा के समाधान का प्रश्न उपस्थित होता है तो समाज भी उनको आगे करके आश्वस्त हो जाता है।

शास्त्री जी पुरानी पीढी के विद्वानो में से है। उन्होंने अपने जीवन मे खट्टे-मीठे एवं कड़ुवे सभी दिन देखे है लेकिन वे कभी घबराये नही और सदैव एक समान ही अपने आपको प्रस्तुत करते रहे। लालबहादुर संस्कृत विद्यापीठ में वर्षों तक जैनदर्शन के प्रमुख प्रवक्ता रहे और सभी विद्यार्थियो पर गहरी विद्वत्ता की छाप छोडी।

मेरा उनसे कब परिचय हुआ इसका तो मुझे भी याद नही है लेकिन कितनी ही बार भेट हो चुकी है तथा उनको सुनने का अवसर भी मिल चुका है। वे मधुरभाषी है। बिना उत्तेजित हुये वे अपनी बात को रखते हैं। श्रोताओ को उसे गले उतारने का प्रयास करते हैं।

अहमदाबाद मे पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव पर शास्त्री परिषद् का अधिवेशन था। अधिवेशन में वे भी आये थे। पं० बाबूलाल जी जमादार, डॉ० सागरमल जी, डा० श्रेयासकुमार जी आदि आये थे। मै भी उस मीटिंग मे शामिल होने वालो मे से था। उस समय उनको एकदम नजदीक मे देखने का अवसर मिला। वे स्वभाव से खुश मिजाज है। साथियो को खूब हँसाते रहते है। जब जमादार साहब उनसे खूब मजाक करते तो वे भी उसी लहजे मे जवाब देते और सभी साथियो को प्रसन्न कर देते थे। उसी समय उनका अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का प्रश्न भी आया। प० बाबूलाल जी जमादार ने बहुत जोर देकर कहा कि यह कार्य तो बहुत पहिले हो जाना चाहिए था लेकिन अब इस कार्य मे देर नही होनी चाहिए। लेकिन मैने देखा कि डॉ० लालबहादुर शास्त्री ने किंचित् भी उसमे रुचि नही दिखायी। बल्कि मीटिंग से भी उठ कर चले गये।

आज अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन योजना के सूत्रधार प० जमादार जी हमारे बीच मे नही रहे, नही तो यह ग्रन्थ बहुत पहले ही निकल जाता। फिर भी हमे इस बात का सन्तोष है कि उनका अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। इससे अभिनन्दन ग्रन्थ की ही गरिमा बढेगी उनकी ख्याति एव प्रशसा तो पहले ही आकाश को छू चुकी है। इसलिये उनके लिये इसका कोई विशेष महत्त्व नही है। किन्तु समाज का एव विद्वत् वर्ग का यह कर्तव्य है कि वह सिद्धान्त के पारगामी विद्वान् एव प्रखर प्रवक्ता का जितना अधिक सम्मान कर सके करें तथा उनसे जितना लाभ ले सके लेने का प्रयास करें।

मै डॉ० शास्त्री जी के सुखद, यशस्वी एव गतिशील जीवन के लिये हार्दिक कामना करता हूं। वे हमारे बीच में अनेको वर्षों तक इसी तरह बने रहे इसी भावना के साथ मै उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

निर्भीक व्यक्तित्व

● श्री कामता प्रसाद जैन, आगरा

आदरणीय शास्त्री जी से मेरा सम्पर्क सन् १९४० से है, जब वह आगरा में 'जैन संदेश' के सम्पादन का कार्य आगरा रहकर कर रहे थे। उन्ही दिनो दि० जैन पद्मावती पुरवाल महासभा का पत्र 'पद्मावती पुरवाल' पाक्षिक हाथरस से आगरा लाया गया और माननीय शास्त्री जी उसके सम्पादक बने और मुझे उसका प्रकाशक बनाया गया। पण्डित जी के सम्पादकीय की धूम उसमें भी रहती थी। वह बड़ी निर्भीकता से सम्पादकीय लिखते थे। उन्हे किसी व्यक्ति से विरोध नही था परन्तु वह समाज मे होने वाली कुरीतियो पर नि सकोच कुठाराघात करते थे। उससे आने वाली आपत्तियो को झेलते थे और उनसे सफलता-पूर्वक निराकरण भी किया करते थे। पण्डित जी ने जिन-जिन पत्रो का सम्पादन किया है उन सबमे उनकी वही प्रेरणा रहती है कि हम सब सदैव स्याद्वाद मे अपनी आस्था रक्खे और उसे अपनाकर अपना और समाज का कल्याण करे।

पण्डित जी मे वात्सल्य भावना भी कूट-कूट कर भरी हुई है। मेरे प्रति तो उनका अतीव स्नेह है।

माननीय पडितजी जब व्याख्यान देते थे या शास्त्र प्रवचन करते थे, तब उनकी वाणी मे जो रस टपकता था उसको प्रत्येक श्रोता मन्त्रमुग्ध होकर सुनता था और अपने हृदय मे उतारने की चेष्टा करता था। उनकी वाणी मे वह रस था कि श्रोता उनको सुनते-सुनते अघाता ही न था।

अन्त मे मेरा वीर प्रभु ने यही प्रार्थना है कि पण्डित जी शत-शत वर्ष तक हम लोगो का और समाज का मार्ग दर्शन करते रहे जिससे समाज मे धर्म से लगन बनी रहे।

कलम और वाणी के धनी

● श्री महेन्द्रकुमार 'महेश' शास्त्री, सदर मेरठ

विद्वानो मे कुछ तो कलम के धनी होते है जो अपनी कलम कुठार चलाकर लेखनी द्वारा समाज को जागृत कर यश और नाम कमाते है, ऐसे व्यक्ति लेखन कला के जादूगर कहे जाते है। कोई विद्वान् वाणी के धनी होते है जो अपनी भाषण व व्याख्यान की कला द्वारा लोगो को प्रभावित करने की क्षमता रखते है। किन्तु ऐसे विद्वान् बहुत कम भाग्यशाली होते है जो कलम और वाणी अर्थात् लेखन कला और वाणी दोनो के जादूगर हो। हम श्रीमान् डा० लालबहादुर शास्त्री को वाणी और कलम दोनो के जादूगर समझते हैं। वास्तव मे पंडित जी ने लेखों और भाषणो द्वारा समाज को लाभान्वित कर अपने जीवन को सफल व धन्य बनाया है।

डाक्टर लालबहादुर शास्त्री अपनी वृद्धावस्था मे आज भी यत्र-तत्र सभाओ और प्रतिष्ठा-महोत्सवो मे आमन्त्रित होकर व्याख्यानो द्वारा समाज को लाभान्वित कर रहे है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है।

माननीय डाक्टर सा० अंग्रेजी, सस्कृत, हिन्दी, प्राकृत आदि भाषाओ पर अपना पूरा अधिकार रखते हैं। कई बार मेरा डाक्टर सा० से आमना-सामना हुआ है और होता रहता है, बडे वात्सल्य भाव से बोलते है। वे अपनी वाणी, साहित्य और लेखो के द्वारा समाज मे अजर और अमर हैं, और चिरकाल तक अमर रहेगे। हास्य और मनोरजन मे भी उक्त डाक्टर सा० कम नही है। जब स्वर्गीय प० बाबूलाल जी जमादर और वे डा० लालबहादुर शास्त्री एक स्थान पर होते तब इन दोनो के हास्य मनोरजन की बाते सबके मन को प्रफुल्लित कर देती थी। इसीलिये मे दोनों ही विद्वान् की एक अपूर्व जोडी कही जाती थी।

डाक्टर साहब कई विद्वानो को प्रेरित कर समाज सेवा व लेखन आदि मे कार्यरत किये हैं—ऐसे दिगम्बर जैन समाज के मूर्धन्य विद्वान्, यशस्वी लेखक, प्रभावशाली वक्ता, समाज के भूषण डा० लालबहादुर शास्त्री चिरकाल तक जीवित रहे, वे दीर्घजीवी हो, समाज को उनका मार्ग दर्शन और लाभ मिलता रहे, ऐसी श्रीमज्जिनेन्द्रदेव से कामना करता हूँ।

कामना

जयतु जगति शास्त्री, बालवीरः प्रबुद्धः,
विबुधनिचयमान्यो, डाक्टरोपाधियुक्तः।
नयतु नयतु लोकस्तेन धर्मस्य लाभः,
वितरतु इहलोके, तस्यकीर्तिर्यशश्च ॥

विद्वत्जगत् का एक महान् व्यक्तित्व

● श्री पारस दास जैन, सहायक सम्पादक, नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली

प० लालबहादुर शास्त्री के नामोल्लेख के साथ जो तस्वीर मानस पटल पर उभरती है, वह वाग्देवी के एक अनन्य उपासक की जाज्वल्यमान गाथा है। एक प्रकाश पुज है, जो अज्ञान तिमिर को हर रहा है। स्नेहिल स्वभाव, सौम्य, शालीन, मधुर, प्रभावी, ओजपूर्ण वाणी के धनी पडित लालबहादुर शास्त्री किसी एक के नही वरन् सम्पूर्ण समाज एव देश के उस विशाल व्यक्तित्व के परिचायक है जहाँ विद्या का समदर होता है, ज्ञान की गरिमा से संस्कृति मडित होती है।

आदरणीय पडितजी से मेरा परिचय बहुत पुराना है। उनके बहुमुखी व्यक्तित्व के कितने ही उज्जवल आयाम हैं। जैन दर्शन के वे मर्मज्ञ ज्ञाता है तो सस्कृत साहित्य के उद्‌भट विद्वान्। वे कवि हैं, मनीषी हैं और सबसे ऊपर मानव। परपीडा से उनका हृदय व्याकुल हो उठता है। ऐसे मे उनके मानव स्वभाव का परम लक्ष्य उस पीडा के निवारण मे जुटना होता है। कार्य सामाजिक हो अथवा साहित्यिक, पडित जी का मनोयोग उसे पूर्णता तक पहुँचा कर ही दम लेता है। उनके उदार व्यक्तित्व के अनेक प्रसग मेरी नजर मे आये हैं। सहधर्मी बन्धु-बान्धवो के नवयुवको को कार्यरत कराने के क्षेत्र मे अपने सामाजिक दायित्व को जहाँ उन्होने निभाया है वहाँ साहित्य के क्षेत्र मे प्रचुर शोध कार्य भी सपादित किये है।

मेरा यह निश्चित मत है कि जैन समाज उनसे गौरवान्वित हुआ है। जैन दर्शन एव वीतराग वाणी का पडितजी ने गहन मन्थन किया है और उससे प्राप्त रत्नो की आभा से उनका स्वय का व्यक्तित्व तो आलोकित हुआ ही है सामाजिक परिवेश भी धर्म की उस अलौकिक ज्योति से प्रकाशित हुआ है। यह बात विवाद की हो सकती है कि पडितजी कही अधिक सिद्धान्तवादी हो गये है। लेकिन वह दुराग्रही कभी नही हुए है। उन्होने देश, काल और स्थिति के अनुरूप ही धर्म की व्याख्या की है। जो सिद्धान्त जन कल्याण की भावना से विपरीत हो जाये उसे धर्म की सज्ञा कैसे दी जा सकती है। धर्म तो मूलत प्राणी को आत्म कल्याण की चरम स्थिति तक ले जाने का साधन है। साधक उसे कहाँ तक साधता है यह उसके ज्ञान पर निर्भर है। पडित जी ने जैनदर्शन के गूढ़ सिद्धान्तो की व्याख्याएँ सदैव ही सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुए की है।

यह उल्लेखनीय है कि इन्दौर के अपने अध्यापन काल के दौरान पंडित लालबहादुर शास्त्री को जिन उद्‌भट विद्वानो का सत्संग प्राप्त हुआ उनमे स्व० पं० वशीधर जो न्यायालकार, स्व० पं० देवकी नन्दन जी शास्त्री, स्व० प० खूबचन्द्र जी शास्त्री आदि थे। यह सान्निध्य सोने मे सुगन्ध सिद्ध हुआ। जैनदर्शन के ये

माने हुए विद्वान् एवं ज्ञाता थे। इनसे परिचर्चा और गहन मन्थन से पंडित जी ने गूढ़ तत्त्वों एवं ज्ञानालोक की विस्तृत दृष्टि प्राप्त की। उनका व्यक्तित्व कुंदन की तरह निखर कर सम्पूर्ण समाज को आलोकित करने लगा।

पंडितजी १५ वर्ष तक निरन्तर अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि-परिषद् के अध्यक्ष रहे हैं। लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय शिक्षा संस्थान में उनकी सेवाएँ अविस्मरणीय हैं। इसके अतिरिक्त १९८० मे अवागढ़ में जैन समाज में हुए झगडे को हल करने का श्रेय पंडितजी को ही जाता है। दिगम्बर जैन महासभा के वे एक प्रमुख स्तम्भ हैं। दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के ज्ञान ज्योति समारोह में भी आपकी महत्त्व-पूर्ण भूमिका रही है। "आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार" शोध प्रबन्ध पंडितजी की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। इस पर आगरा विश्वविद्यालय ने उन्हे पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान कर सम्मानित किया था। समयसार की यह निश्चय नय वाणी आज पंडित जी की प्रभावी वक्तृत्व कला के माध्यम से जन मानस को आलोकित कर रही है। अनेक जैन पत्रों के जरिए ये विचार समाज मे व्यापक रूप से प्रसारित हुए हैं।

पंडितजी की एक विशेषता यह है कि वे बहुत ही महान् हैं। अभिमान उन्हे छू तक नही गया। जिससे बात की वह आत्मीय हो गया। देश का सारा जैन समाज आपसे यों ही परिचित नही है। उसने आपके विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानो का रसास्वादन किया है। जैनागम की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले पंडितजी साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन एव न्याय के वारिधि हैं। उनके ज्ञान से सारा समाज व देश लाभान्वित हो यह मेरी सदिच्छा है और पंडितजी यश के सोपानो पर निरन्तर चढते हुए उत्कर्ष की चोटी पर पहुँचें यह मेरी मगलकामना है।

आर्ष मार्ग के जागरूक प्रहरी

● वैद्य धर्मचन्द्र शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य, इन्दौर

बहादुरी का क्षेत्र व्यापक है। जब व्यक्ति किसी क्षेत्र मे अपने विरोधियो, प्रतिद्वन्द्वियो को परास्त कर विजय हासिल करता है, अपने पक्ष का प्रभाव जनसाधारण पर डालता है, तब उसे उस क्षेत्र मे बहादुर माना जाता है। सरस्वती पुत्र डॉ० लालबहादुर जो शास्त्री भी जैन तत्त्वज्ञान के मर्मज्ञ ऐसे कुछ चुनिन्दा विद्वानो मे से है। जैनदर्शन, साहित्य, नय प्रमाण के सापेक्ष उपयोग-प्रयाग पर आपको पूरा अधिकार है। यही कारण है कि आपकी तत्त्व विश्लेषण शैली से जन साधारण सन्तुष्ट होता है। आपने जीवन भर सैद्धा-न्तिक सघर्ष किया है। जैनधर्म के प्रबल विरोधी आर्य समाजियों मे वाद-विवाद किया। अपने तर्कों व ओजस्वी वाणी से उन्हे निरन्तर हतप्रभ कर उन पर जैन दर्शन एव उसके तत्त्वज्ञान की ऐसी धाक जमाई कि कई ने तो जैनधर्म स्वीकार कर लिया। मुझे स्मरण है कि जब पण्डित जी दि० जैन शास्त्रार्थ सघ के अपने सहयोगी विद्वानो के साथ धर्मप्रचारार्थ देशाटन करते थे और युग प्रवाह से उत्पन्न सैद्धान्तिक शिथिलता, चारित्रिक उदासीनता का निराकरण करते थे। आपकी विद्वत्ता के विषय मे अधिक कुछ लिखना नही। समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ पर शोध-प्रबन्ध लिखकर आपने ने पी-एच० डी० प्राप्त किया।

इस महान् जैन सिद्धान्त के आकर ग्रथ समयसार के अनेकान्तमूलक रहस्य को न समझ कर, और उसकी उपेक्षा कर पथव्यामोह तथा लोकैषणा के लोभ से जैनदर्शन व उसके तत्त्वज्ञान के विपरीत जो भ्रामक शिथिलाचार पोषक प्रचार कुछेक दशको से किया जा रहा है, वाचनिक वीतरागता व सुखैश्वर्य का भोग करते हुए मोक्ष प्राप्त कराने का लोभ दिखाकर, वास्तविक क्रियात्मक कल्याण मार्ग (मोक्ष मार्ग) से सरल

परिणामी जनता को विमुख किया जा रहा है उसका विरोध (प्रतिकार) उसकी साम्प्रदायिक दूषित भावना को उजागर कर अकाट्य तर्कों से जिस प्रकार कर रहे हैं वह अनुपम है और स्वर्णाक्षरो मे लिखा जायेगा। आपकी तत्त्व विश्लेषण शैली अत्यन्त हृदयग्राही होती है, जिससे आस्थावान् श्रोता सतुष्ट हो जाता है और विरोधी उद्विग्न। अपने जीवन में अनेक शिक्षा-सस्थानो मे आपने सेवा की है। अनेक पत्रो के यशस्वी सम्पादक रहे। वर्तमान मे जैन दर्शन के सम्पादक है। आप पूर्ण मनोयोग से आर्षमार्ग की रक्षा मे जुट गये। दिगम्बर सम्प्रदाय को दूषित करने, उसका लोप करने मे जो भी षड्यन्त्र स्वार्थियो, एकान्तवादियों की ओर से किये जाते है उनका परिहार, और आर्ष मार्ग का स्थितीकरण आप बडी खूबी से करते है। आप चिरायु हो, लोक मे यश प्राप्त करे इस पवित्र भावना के साथ आपको मेरी सम्मानाञ्जलि है।

भव्य व्यक्तित्व

● डॉ० मूलचन्द शास्त्री, सनावद

जिस महाविद्यालय मे और जिस गुरु के पास आपने विद्याध्ययन किया वह महाविद्यालय और वह गुरु धन्य है। जिनागम पर दृढ श्रद्धा एव पैनी दृष्टि सम्पन्न स्वनाम धन्य डाक्टर प० लालबहादुर जी शास्त्री की जितनी प्रशसा की जाय, थोडी है। वे एक सरस्वती-पुत्र है, उनका क्षयोपशम उच्चकोटि का है। शास्त्रि परिषद् के प्रभावशाली तथा ओजस्वी सगठक एव प्रवक्ता स्व० पडित बाबूलालजी जमादार एव डा० लालबहादुर जी शास्त्री ये दो ही तो है। इनमे से हमारे दुर्भाग्य से जमादार जी अकस्मात् स्वर्गवासी हुए अब डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री, शास्त्रि परिषद् के एकमात्र वयोवृद्ध एव ज्ञानवृद्ध विद्वान् है।

जिस प्रकार इन्दौर के सर सेठ हुकुमचन्दजी ने प० देवकीनन्दन जी सा० एव प० लालबहादुर शास्त्री को सम्मान दिया एव उभय विद्वानो की पर्याप्त सेवा की वैसी ही अपेक्षा अन्यान्य श्रेष्ठि वर्ग से है। मुझे वे क्षण याद है जब इन्दौर के कॉच के मन्दिर के सामने विशाल पडाल मे पर्यूषण पर्व के अवसर पर उक्त दोनो ही विद्वानो के प्रवचनो को सुनने के लिये जनता लालायित रहती थी। यद्यपि जैन सिद्धान्त के पारगत विद्वान् न्यायालकार प० वशीधर जी, प० खूबचन्द जी, प० जीवन्धर जी आदि विद्वान् वहाँ मौजूद थे तथापि रात्रि के शास्त्र प्रवचन तो उक्त दोनो ही विद्वानो के जनता को रुचिकर लगते थे। गुरु गोपाल दास जी वरैया एव पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी का परम उपकार है कि उन्होने समाज को ऐसे ठोस विद्वान् दिये जिनकी कोई बराबरी नही कर सकता था। उन्ही की परम्परा मे डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री है परन्तु अब समाज की उदासीनता के कारण ऐसा लगता है कि निकट भविष्य मे ही आर्षमार्गानुयायी विद्वानो की भारी कमी हो जायेगी।

स्व० जमादारजी आज हमारे बीच नही है पर शास्त्री परिषद् के माध्यम से उन्होने जो विद्वानो का सगठन किया, उन्हे उत्साहित किया एव आर्ष परम्परा को बनाये रखने का भरसक प्रयत्न किया एतदर्थ वे शास्त्री परिषद् के विद्वानो एव दि० जैन समाज द्वारा सदा ही स्मरण किये जायेंगे। श्री जमादार जी के साथ डॉ० लालबहादुर शास्त्री की जो विनोदवार्ता होती थी उसमे मुझे भी सम्मिलित होने का अनेक बार अवसर मिला। प्रतिभा और साहस का ऐसा मणिकाचन सयोग देखने का मुझे अवसर मिला और बहुत कुछ प्रेरणाएँ प्राप्त हुई। अत दोनो का मै हृदय मे आभार मानता हूँ। मुझे स्मरण है एक बार हस्तिनापुर के शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर मे किसी ने पण्डित जी से पूछा था कि मगलाचरण मे जो गणधर-प्रतिगणधर शब्द आये हैं उनमे से प्रति गणधर देव से क्या अभिप्राय है। बीच मे मै बोल बैठा कि एक तो मुख्य गणधर होते है शेष गणधर प्रति गणधर कहलाते है तब पण्डित जी ने मुझसे कहा था आप ठीक ही कहते है अब तो आप पी-एच० डी० भी शीघ्र हो जायेंगे।

यद्यपि मथुरा का विद्वानो का सघ अब वैसा नही रहा तथापि वे दिन याद हैं जब दि० जैन समाज अपने छोटे-बड़े आयोजनो में मथुरा सघ के विद्वानो की उपस्थिति को सफलता का सूचक मानते थे। डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री मथुरा संघ के ही विद्वान् हैं, जिन्होंने अपने वक्तृत्व एवं कृतित्व के द्वारा जैन समाज मे अपना स्वयं स्थान बनाया है।

तत्वों के यथार्थ प्रतिपादन की दृष्टि होने से आपने पथ भेद को कभी भी महत्व नही दिया। समयसार जैसे महान् ग्रथ पर अपना शोध-प्रबध प्रस्तुत किया। आपके व्यक्तित्व एवं कृतित्व से मपूर्ण समाज सुपरिचित हैं।

मैं विद्वद्भूषण, पडितरत्न, व्याख्यानवाचस्पति, समाजरत्न, लौह पुरुष आदि मानद उपाधियो से विभूषित अनेक गुणागणालकृत, प्रथम श्रेणी के प्रवक्ता विद्वान् डॉ० प० लालबहादुर जी शास्त्री के भव्य व्यक्तित्व से प्रभावित हूँ। उनके चरणों में अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ।

शास्त्री के साथ बीते दिन

● श्री विनय कुमार जैन 'पथिक'

डॉ० लालबहादुर शास्त्री से मेरा उतना परिचय नही है, जितना सन् १९३५ से ४५ तक भा० दि० जै० सघ के प० लालबहादुर जी शास्त्री से है। वे एक अत्यन्त विनोदी सदा मुस्कराने वालो मे एक है। सघ के उस समय के करीब पद्रह विद्वानो मे उनका अपना एक विशिष्ट स्थान था। सघ के प्रति उनकी अटूट निष्ठा थी। एक बार प्रचार पर कामा गये। वहाँ समाज मे फूट थी। जब तक समाज मे एकता नही होगी तब तक अन्न-जल का त्याग कर दिया। दो दिन तक आपके भाषणो ने तथा गायनाचार्य रामानद जी के भजनोपदेश ने समाज पर अच्छा प्रभाव छोडा था, समाज ने केवल एक दिन के उपवास के बाद ही आपस मे समझौता कर लिया और प० लालबहा .र जी की बात रह गयी।

सघ की कार्य समिति मे पहिले सघ के विद्वानो मे से एक को सदस्य मनोनीत किया जाता था। वे विद्वानो के प्रतिनिधि बनकर बैठक मे उपस्थित रहते थे। अम्बाला छावनी मे सघ की बैठक थी। कोई प्रस्ताव पं० राजेन्द्र कुमार जी विद्वानो की अनुपस्थिति मे रखना चाहते थे यानी उनके प्रतिनिधि प० लालबहादुर जी की कुछ देर को सभा मे अनुपस्थिति चाहते थे और उन्हे बाहिर जाने का आदेश दे भी दिया। लाल जी वास्तव मे इसे विद्वानो का अपमान समझते थे। बाहिर आते ही सब विद्वानो को यह समाचार दिया और बोले— मैं कार्य समिति और सघ दोनों से अपना त्यागपत्र दे रहा हूँ। सभी विद्वानो ने आपका साथ दिया और आधे घंटे में ही सबके त्यागपत्र कार्य समिति के सामने आ गए। प० राजेन्द्रकुमार जी तथा कार्य समिति ने अपनी भूल स्वीकार की। उन्हे उसी समय बैठक मे ससम्मान शामिल किया गया। सभी के त्यागपत्र भी वापिस कर दिए।

अम्बाला से आप सघ के प्रकाशन विभाग की ओर से वाराणसी भी गये। वहाँ आपने 'मोक्षमार्ग-प्रकाश' का ढूढारी भाषा से हिन्दी मे सफल अनुवाद किया था। तत्वार्थसूत्र का भी सक्षिप्त अर्थ आपके द्वारा ही सम्पादित हुआ था। वाराणसी से आप इन्दौर चले गये। आपको उन दिनो टी० बी० की बीमारी हो गयी थी। लेकिन उस बीमारी ने तो उनका कायाकल्प कर दिया। सन् १९४९ मे सघ के अधिवेशन मे वे जब सर सेठ सा० सघ के सभापति बन कर मथुरा पधारे थे, डॉ० लालजी का सौदर्य और स्वास्थ्य कामदेव के तुल्य नजर आता था। सघ से उनका सदा प्रेम रहा है। साल मे अनेक बार उनसे भेंट होती रहती है। एक बार तो राँची मे (बिहार) पर्यूषण पर्व के अवसर पर हम दोनो साथ रहे। उनका वात्सल्य और स्नेह मुझसे सदा रहा है। भगवान् उन्हें शतायु करे यही कामना है।

सरस्वती के उपासक

● डॉ० रमेशचन्द जैन, बिजनौर

श्रद्धेय डॉ० लालबहादुर शास्त्री भारतवर्ष की उन महान् विभूतियों में से एक है, जिनका सारा जीवन सरस्वती की आराधना, उपासना और सेवा मे व्यतीत हुआ है। आज से लगभग १३ वर्ष पूर्व शास्त्री परिषद् के सलुम्बर अधिवेशन में उपस्थित होने के प्रसङ्ग मे सर्वप्रथम उनसे दिल्ली में मिलना हुआ। स्व० प० बाबूलाल जमादार ने उनसे परिचय कराया था। प्रथम परिचय में ही उनके आकर्षक व्यक्तित्व, स्नेहमयी भावना और छोटो के प्रति वात्सल्यमयी भावना आदि उनके गुणो ने मन मे इस धारणा को घनीभूत कर दिया, जैसे चिरकाल से वे मेरे अपने हो। पण्डित जी के गुणो के अनुरूप उनकी धर्मपत्नी सरलता, निश्छलता और सौम्यता की प्रतिमूर्ति हैं। यही कारण है कि जब-जब भी दिल्ली जाता हूँ, पण्डित जी का घर मेरा अपना घर होता है और पण्डितानी जी की हार्दिकता और ममता मे निजी माँ के मातृत्व के दर्शन होते हैं।

पण्डित जी एक प्रखर प्रवक्ता है। उनकी वाणी मे निर्भीकता है। शास्त्रिपरिषद् के अनेकानेक अधिवेशनो मे मुझे उनके प्रवचन सुनने का अनेक बार गौरव प्राप्त हुआ। वे अपनी मधुर वाणी के द्वारा श्रोताओ का मन मोह लेते है। उनकी स्मृति विलक्षण है। भाषण के बीच सहज रूप मे अनेकानेक सस्कृत पद्यो का प्रयोग तथा उनका विश्लेषण उनकी अगाध विद्वत्ता को व्यञ्जित करता है। अनेक लक्ष्मीवानो को मैंने उनकी चाटुकारी करते हुए देखा है, किन्तु उन्हे किसी लक्ष्मीवन्त के आगे मैंने झुकते हुए नही पाया। वे खरी बात कहने मे चूकते नही हैं। अभिमान उनमे नही है, तथापि स्वाभिमान कूट-कूट कर भरा हुआ है। शास्त्रिपरिषद् के वे प्राण हैं। परिषद् की बहुमुखी प्रवृत्तियो मे सलग्न रहते हुए भी वे आर्थिक दृष्टि से उससे निर्लिप्त रहते है। यही कारण है कि उनके द्वारा सस्था के किसी प्रकार के दुरुपयोग की बात कभी भी नही सुनी गई। संस्कृत मे धाराप्रवाह पद्य रचना करने और बोलने का उन्हे शौक है। आधुनिक फिल्मी गानो की तर्ज में मैंने अनेक सस्कृत कवितायें उनके श्रीमुख से सुनी है। लालबहादुर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ मे कार्यरत सस्कृत के अपने-अपने विषय के अधिकारी विद्वान् उनकी वाग्देवी की प्रशसा करते है। उनके मन मे शास्त्री जी और उनके कवित्व का मान है। यही कारण है कि सेवानिवृत्त होने के बाद अभी तक वे विद्यापीठ से किसी न किसी प्रकार जुड़े रहे हैं। अपने से छोटो के उत्थान की निरन्तर उनके मन मे कामना रहती है। युवको और बालको को आगे बढने हेतु निरन्तर वे मार्गदर्शन करते रहते है।

विद्वत्ता का गाम्भीर्य होते हुए भी शास्त्री जी सरस और विनोदी स्वभाव के हैं। उनकी मुखमुद्रा प्राय. मन्दस्मित रूप गुण को लिये रहती है। 'जैनदर्शन' आदि पत्रो के लम्बे समय सम्पादक रहकर उन्होने जैन पत्रकारिता की सेवा की है। अनेक शोध छात्रो के वे मार्गदर्शक है। दूसरो की हरसभव मदद करना उनके स्वभाव का अङ्ग है। उनकी सज्जनता का प्रभाव उनके पूरे परिवार मे है। एक अध्यापक के रूप में ज्ञानदान देकर उन्होने सरस्वती की सच्ची सेवा की है। ऐसे ज्ञानयोगी विद्वान् पण्डित जी का अभिनन्दन वस्तुतः गुणों का ही अभिनन्दन है। मैं उनके प्रति हार्दिक श्रद्धाभाव को व्यक्त करता हुआ उनके चिरायुष्य की कामना करता हूँ।

●

सच्चे अर्थों में सरस्वती पुत्र

● श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज' जावरा

मनीषी की परिक्रमा

बौद्धिक प्रतिभा, अप्रतिहत व्यक्तित्व, शालीन कृतित्व, डॉ० और पं० लालबहादुर शास्त्री मेरी दृष्टि में मनीषी हैं। उनकी आँखों मे स्नेह और अपनत्व है, उनकी वाणी मे माधुर्य और सौजन्य है, उनके साहचर्य में समृद्धि और सन्तोष है। जब कभी मैंने उन्हे श्वेत टोपी, श्वेत कुरता, श्वेत धोती में देखा तब श्वेत वस्त्रावृता सरस्वती का सुपुत्र ही समझा है। वे मेरे लेखे सही अर्थों मे सरस्वतीचन्द्र हैं।

महामनीषी

इस महामनीषी ने जनश्रुति के इस सत्य और तथ्य को झुठला दिया है कि दिन भर में एक बार सरस्वती स्वयं सन्ध्याकाल मे मनुष्य की जिह्वा पर बैठ कर बोलती है। इस मनीषी ने 'गुरु तो गुड रह गए, चेला शक्कर हो गए', यह कहावत चरितार्थ कर दिखाई। प्राचीन पंडितो के शिष्यो मे विरले ही पी-एच. डी. के सोपान पर चढ पाए। मनीषी के गुरुदेव मक्खनलाल 'तिलक', पुरानी पीढी के विद्वान् थे पर आपमे प्राचीनता और अर्वाचीनता का एक अद्भुत संगम है। पं० मक्खनलाल कवि रूप मे विख्यात नही हुए पर उनके विद्यार्थी हुए और उनमे से एक शास्त्री जी है। आपने अपने गुरुदेव सदृश आगमो का अथक अध्ययन किया, उनके सदृश शंका-समाधान मे भी अग्रसर रहे और शास्त्र प्रवचन एवं शास्त्रीय चर्चाओ मे तो आप सिद्धहस्त ही हैं। आप कवि के पन्थ को त्याग कर लक्ष्य की दिशा मे शर सदृश गति-मति लिए सही अर्थों मे मनीषी बने है। आपकी इस मनोवृत्ति को दृष्टि-पथ मे रखते हुए मुझे निम्नलिखित पंक्तियाँ पुन-पुन स्मरण हो आती हैं—

> कवि का पन्थ अनन्त सर्प सा, जो मुख मे है पूछ दबाए।
> और मनीषी तीर सरीखी, सीधी अपनी लीक बनाए॥

शास्त्री जी पंडित है और पंडित की परिभाषा मैंने वह पढी है कि पापात् डीन पलायित पंडितः अर्थात् जो पाप से दूर है वह पण्डित है। बृहत्कल्प सूत्रकार ने एक अन्य परिभाषा यह दी—पंडा विशाला बुद्धिर्यस्येति पंडित. अर्थात् जिसकी बुद्धि विशाल है, सम्पन्न है, वह पण्डित है। यदि मैं भूलता नहीं तो प्राचीन परम्परा के पण्डितो मे शास्त्री जी ही सर्वप्रथम पण्डित है, जिन्होने आम्नाय के जनक "आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार" पर शोध प्रबन्ध लिखा और सन् १९६३ मे आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. की उपाधि ग्रहण की। वे शास्त्री होने के साथ न्याय-काव्यतीर्थ भी हैं। हिन्दी की भाँति संस्कृत में भी कविता लिखने मे सिद्धहस्त है। एक बार तो सम्भवत: सलूम्बर मे उन्होने मुझे संस्कृत मे लिखी एक ऐसी रचना सुनाई थी, जो एक चलचित्र के एक गीत की लय मे (चुप चुप खडे हो जरूर कोई बात है) ही थी।

भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण वर्ष के उपलक्ष्य मे अ० भा० दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद् द्वारा प्रकाशित विद्वत् अभिनन्दन ग्रन्थ मे उनकी एक कविता विद्वदभिनन्दन भी संग्रहीत है, जो अतीव सराहनीय और स्पृहणीय है। इसके एक पद्य मे पंडित जी ने लिखा है—'विद्वान, धर्म की रक्षा करता है, वस्तुतत्त्व का निरीक्षण करता है, विद्या प्रदान करता है, अन्य कुछ भी नहीं चाहता है, न दीनता को प्राप्त होता है और न मान की अपेक्षा करता है। विद्वानों की यह कोई अपूर्व सृष्टि है जो वन्दनीय है। अब आप कविता का मूलभूत श्लोक पढिए—

धर्मं रक्षति निरीर्षति वस्तुतत्वम्, विद्या प्रयच्छति न चेच्छति किंचिदन्यम् ।
दैन्यं न गच्छति न मानमुपेक्षते, स्तुत्य. स कोऽपि विदुषामिह पुण्य सर्ग ॥

लालबहादुर शास्त्री मेरे उन वयोवृद्ध अनुभववृद्ध मित्रो मे से हैं, जो गुणो को प्रकट करते है और हितकारी योजनाओं में लगाते हैं। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्पर्क मे आकर मैंने भी उनको रचनाओ और भाषणों से प्रेरणा ग्रहण की है। वे मेरे लेखे एक ऐसे वरिष्ठ मित्र हैं जो अपनी वरिष्ठता भुला कर मित्रों के हित-चिन्तन मे तत्पर है।

जैसे पंडित श्री नाथूलाल जी इन्दौर ने खंडेलवाल जैन हितेच्छु और सन्मतिवाणी मे मेरी रचनाएँ प्रकाशित की, जैसे जैनमित्र और सन्मतिसन्देश ने मेरी पर्याप्त मात्रा मे रचनायें पाठको तक पहुँचाई वैसे ही पंडितरत्न लालबहादुर शास्त्री ने भी जैनप्रचारक, जैनगजट, जैनदर्शन पत्रो मे मेरी काफी रचनायें धारावाहिक प्रकाशित की। मेरी भावना : एक अनुशीलन, और जैनधर्म प्रवेश शीर्षक दो पुस्तकें भी उन्होंने जैनदर्शन मे प्रकाशित की। मेरे पिता श्री ब्रह्मचारी पंडित जयकुमार 'आत्मनिष्ठ' काव्यतीर्थ शास्त्री द्वारा लिखित और मेरे द्वारा सम्पादित शोध बोध दो भाग पुस्तक (जो कानजी पन्थ पर एक बहुचर्चित समीक्षात्मक कृति है) धारावाहिक रूप जैनदर्शन मे प्रकाशित की और अपनी शुभ सम्मति भी दी।

सतत सजग

जब मैं जैन सस्कृति (मासिक, मथुरा) के सम्पादक मडल मे था तब मैंने जैन सस्कृति मे प्रकाशनार्थ निबन्ध भेजने के लिए पत्र लिखा। उत्तर मे प० जी ने लिखा कि मै निबन्ध तो भेज दूँगा पर आप जैनसस्कृति के सम्पादक-प्रकाशक से पूछ लीजिए कि वे मेरा निबन्ध छापेंगे या नही। बाद मे मुझे उनके और जैन सस्कृति के सचालक के मध्य कुछ मतभेद की बात ज्ञात हुई। जैनदर्शन के सम्पादन-प्रकाशन के विषय मे प० जी ने कहा—वे उसे साप्ताहिक हिन्दुस्तान सदृश लोकप्रिय बनाना चाहते है। मैं भी रचनाओ के माध्यम से उन्हे कुछ सहयोग दूँ। उन दिनो जैनदर्शन इन्दौर से निकल रहा था। सद्य. अक मे उन्होंने एक कार्टून प्रकाशित किया था, जो एक संस्था के पदाधिकारियो पर सामयिक व्यग था।

जहाँ तक मुझे स्मरण है वहाँ तक पडित जी से सन्निकट का साक्षात्कार सर्वप्रथम सवाई माधोपुर मे हुआ था। वहाँ १०५ क्षुल्लकमणि शीतल सागर जी ने शिक्षण शिविर लगाया था और वहाँ मै भी प्रशिक्षण देने गया था। शास्त्री जी के सिवाय प० बाबूलाल जी जमादार, वर्धमान जी पार्श्वनाथ शास्त्री भी कुछ दिनो के लिए आये थे। पर्यटन के समय पडित जी से आचार्य कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध मे चर्चा भी हुई थी। शास्त्री जी मेरी कमल श्री और आदिनाथ विषयक कविता से बडे प्रभावित हुए थे और मै उनकी सारगर्भित भाषण शैली से प्रभावित हुआ था।

इसके उपरान्त, शास्त्रीपरिषद् के एक से अधिक अधिवेशनो मे उनसे मिलना रहा। सलूम्बर मे हुए शास्त्रीपरिषद् के अध्यक्षीय अभिभाषण मे उन्होने यह रहस्य भी प्रकट किया था कि किस प्रकार नाम सादृश्य के कारण कांग्रेस अधिवेशन मे पत्रकार के नाते उन्हे शीघ्र ही प्रवेश पत्र मिल गया था। अमृत 'वार्षिक' के निर्देशक, शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रस्तावक नरेन्द्र प्रकाश जी (प्राचार्य पी० डी० इण्टर कॉलेज) को सुझाव देते हुए स्वर्गीय बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक बात कही कि दूसरो की जेब से पैसा निकलवा लेना भी एक बहुत बडी कला है। पंडित जी इस कला मे पीछे नही है। वे लेखको और कवियो को प्रेरणा देकर अपने पत्रों के लिए रचनायें लिखकर कुशल सम्पादक बने है। एक बार वार्तालाप मे आपने मुझसे कहा था—

जैसे किसी का धन छीनना शोषण है वैसे ही श्रम का मूल्य किसी को न देना भी शोषण है। एक स्थान से आपको पर्यूषण पर्व पर मानपत्र दिया गया तो उत्तर देते हुए आपने कहा—आपका यह मानपत्र मेरा है। ईमानपत्र आपके व्यग्य विनोद में शिष्ट हास्य की झलक रहती है।

आजकल अध्यात्म के क्षेत्र में निश्चय की दुहाई दी जा रही। साधुओ और साध्वियो के प्रति हेय दृष्टि अपनाई जा रही। कतिपय मुमुक्षुओं द्वारा लोकसम्मत धर्म को व्यावहारिक पृष्ठभूमि से काटा जा रहा। मात्र अनन्त ज्ञान चैतन्य स्वरूप की रट लगाई जा रही। सम्यक्त्वी होने की अहमन्यता ने चारित्र के प्रति अनास्थामूलक वातावरण बना दिया। उपादान में जो कुछ होना है, उसके लिए समस्त पुरुषार्थों पर पानी फेरा जा रहा। ऐसे तथाकथित एकान्तमूलक अध्यात्म के निष्कासन में प० श्री का अपूर्व योगदान रहा। 'जैन-दर्शन' साप्ताहिक ने एकान्त के विरोध में अतीव सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया। जैन संस्कृति (मासिक) जो काम गम्भीरता लिए भी नही कर सकी वह काम जैनदर्शन ने अनेक लेखो द्वारा सहज सरल कर दिखाया। इसका बहुत कुछ श्रेय शास्त्री जी के समीचीन सम्पादकीय वक्तव्यो को है। कतिपय सम्पादकीय वक्तव्य तो पुस्तकाकार प्रकाशित करा कर पुनः-पुन पठनीय है।

साभार जागृति

२६ अक्टूबर ८१ के जैनदर्शन मे 'अभूतपूर्व सम्मान समारोह' शीर्षक सम्पादकीय मे आपने लिखा—हमे प्रसन्नता है कि समाज अपने वास्तविक सेवको को पहचानती है, साथ ही उनका आदर करना भी जानती है। यह मान-सम्मान आदर-सत्कार-अभिनन्दन, सम्यग्दर्शन के वात्सल्य अग मे गर्भित है जो सम्यग्दृष्टि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। पूज्य आचार्य श्री समन्तभद्र ने लिखा है —

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्य वात्सल्यमभिलप्यते॥

इसमें अपने साधर्मी बन्धु के साथ निश्छल होकर सद्भाव रखना तथा व्यक्ति के अनुसार उसका यथा-योग्य आदर करना वात्सल्य अग का लक्षण बताया। इस प्रकार के अभिनन्दन से समाज-सेवक को अपन कार्य के प्रति प्रोत्साहन मिलता है, साथ ही अन्य व्यक्ति भी इससे प्रभावित होते हैं। इस सम्मान समारोह के नाते जमादार जी की सेवाओ के उपलक्ष्य मे 'जैनदर्शन' भी उनका साधुवाद करता है।

सन १९७६ मे ललितपुर मे शास्त्री परिषद् का नैमित्तिक अधिवेशन हुआ। शास्त्री परिषद् के अध्यक्षीय अभिभाषण मे शास्त्री जी ने लिखा था—ललितपुर नाम से ही ललित नही है किन्तु यहाँ की अपनी धार्मिक प्रवृत्तियाँ, जनता की आर्ष मार्ग पर आस्था, दिगम्बर साधु सन्तो का विहार, क्षेत्रपाल जैसा पावन तीर्थ भी इसके ललित नाम को सार्थक कर रहा है। आज से लगभग पचास बरस पहले, इसी नगर मे परमपूज्य आचार्य शान्तिसागर जी तथा उनके सघस्थ अनेक प्रशमात तपस्वी साधुओ ने चातुर्मास स्थापित कर अपनी चरणरज से इस नगर को पवित्र किया था, तब से अब तक उन महाऋषियो की पवित्र साधना ही इस नगर को पवित्र बनाए हुए है। यही कारण है कि यहाँ की धार्मिक जनता में जहाँ देव-शास्त्र-गुरु के लिए असीम सम्मान है वहाँ पाखण्ड-हठवाद दुराग्रह के लिए कोई स्थान नही है। इस नगर के चारो ओर खजुराहो, चँदेरी, देवगढ, पपौरा, अहार जैसे महा तीर्थो ने भी धार्मिक आस्था के दृढ़ीकरण मे अपना मागलिक सान्निध्य प्रदान कर चूना-सीमेण्ट जैसा काम किया है, अत ऐसी पावन भूमि पर आकर निस्सन्देह शास्त्री परिषद् को अपूर्व सफलता प्राप्त होगी और भगवान् महावीर के निर्दोष अनेकान्त रूप शासन के प्रचार के लिए मार्ग प्रशस्त होगा।

आपने कुछ समय 'जैनसन्देश' का सम्पादन किया और कुछ समय 'जैनप्रचारक' का। जैनगजट को लगभग १५ वर्ष सम्पादन किया और जैनदर्शन का लगभग २० वर्ष से सम्पादन कर रहे हैं। आपने मोक्षमार्ग प्रकाश, रामचरित, आप्त परीक्षा ग्रन्थों का सुयोग्यता पूर्वक सम्पादन किया है। महावीरदर्शन, महावीर वाणी मुक्ति का मन्दिर, सत्य और तथ्य, बेटी की विदा, घर वाला जैसी कृतियाँ लिखी हैं। चूंकि आप सरस्वती चन्द्र है, धर्म-साहित्य अनुरागी है अतएव लक्ष्मी पुत्रो से लगाव कम रखते हैं।

आप साहित्यकार है, सवेदनशील है, आपकी भाषा-शैली मे अभिव्यक्ति की अमोघ शक्ति है। आप विषय वस्तु देश-काल को विधिवत् वास्तविकता लिए परखते हैं। आप जब कभी धर्म-सभा मे कान जी विचार-धारा का प्रबल विरोध करते हैं तो श्रोताओ को लगता है कि आप जो कुछ कह रहे हैं, वह हम सब भी कहना चाह रहे है पर हमारे पास न शब्द है न साहस। आप अपने श्रोताओ को एकबारगी निस्तब्ध करने मे, सास तक लेना भुलाने मे, अपनी प्रशसा कराने मे कुशल हैं। आपके जीवन की सफलता का श्रेय उत्कट लगन, अथक परिश्रम, अवसर पर अग्रसर रहने मे है। आज आप प्रसिद्धि की पहाडी के शिखर पर पहुँच गए हैं उसका प्रमाण जीवन मे मिला सम्मान है और यह अभिनन्दन ग्रन्थ भी।

शास्त्री जी अनेक सस्थाओ से सम्बद्ध होकर स्वय एक सजीव सस्था बन गए है। वे अ० भा० दिग० जैन शास्त्री परिषद् के लगभग पन्द्रह वर्षों से अध्यक्ष हैं। वे परिषद् के प्राण है और महासभा की आत्मा है तथा शान्तिवीर सभा के वरिष्ठ कार्यकर्ता है। यद्यपि आप अनेक बार विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानमालाओ मे भाषण देने के लिए गए तथापि इनमे भाग लेते समय आपने अपना उद्देश्य अर्थलाभ नही धर्म-प्रचार ही रखा। आप विद्वद्भूषण, व्याख्यानवाचस्पति, पडितरत्न जैसी मानद पदवियो को समाज द्वारा प्राप्त कर चुके है तथापि आप अतीव निरभिमानी और सरल हृदय है, आत्मिक स्वाभिमान और सिद्धान्त की रक्षार्थ आप सर्वस्व का उत्सर्ग करने को प्रस्तुत रहते है। आपका निस्पृह व्यक्तित्व, आकर्षक कृतित्व इसी प्रकार भविष्य मे अभिनन्दनीय कार्यो की प्रेरणा विद्वानो व श्रीमानो को देता रहे, यही मगलमय महावीर से प्रार्थना है।

जयन्ति ते सुकृतिनः रस सिद्धा. कवीश्वरा.।
नास्ति येषा यश काये जरामरणज भयम्॥

बहुमुखी प्रतिभा के धनी

● पं० श्रेयास कुमार जैन, किरतपुर

चर्चा आजकल की नही, लगभग दस वर्ष पुरानी है, सहारनपुर मे पच दिवसीय रथ महोत्सव था, सहारनपुर का रथोत्सव शानदार रथोत्सव होता है। उत्तर प्रदेश मे सुविख्यात रथोत्सव है। सहारनपुर के इस रथोत्सव मे प्रतिवर्ष दिग्गज विद्वान् आमन्त्रित किये जाते है, मुझे तो प्राय सहारनपुर के रथोत्सव मे सम्मिलित होने का सुअवसर मिलता ही रहा है। अतएव जैन समाज के मूर्धन्य विद्वानो के सम्पर्क में जाने का भी सुअवसर प्राप्त होता रहा है। हाँ, तो उस वर्ष आमन्त्रित थे मैं और डॉ० श्री लालबहादुर जी शास्त्री। दोनो ही एक साथ वर्तमान जैन समाज के मन्त्री श्री बाबू विशालचन्द जी जैन की कोठी पर ठहरे हुए थे। अद्भुत समागम था यह डॉ० साहब के साथ ठहरने का। उस वर्ष रथोत्सव भी श्री बाबू विशालचन्द जी की ओर से ही हो रहा था, जो सहारनपुर की सुप्रतिष्ठित विभूति है और जिनका जैन समाज तथा इतर समाजो पर समान रूप से खूब दबदबा है।

आदरणीय डाक्टर साहब के साथ एक ही मंच पर बोलने का यह मेरा सर्वप्रथम अवसर था, मैंने प्रतिदिन जैनबाग मे और प्रात काल के समय विभिन्न अतिभव्य जैन मन्दिरों मे उनके मनोमुग्धकारी,

जैनधर्म के सिद्धान्तों से ओतप्रोत प्रवचन सुने। भाषा सरल, सुबोध, तर्क संगत, आबाल वृद्ध सभी के गले के नीचे उतरने वाली, जैनसिद्धान्त के रहस्यों का उद्घाटन करने वाली, ये थी प्रमुख विशेषताएँ उनके प्रवचन की। मैंने यह भी अनुभव किया कि आप जिनवाणी के निर्भीक, सशक्त एवं प्रभावशाली प्रवक्ता हैं।

सहारनपुर स्वाध्याय प्रेमियों की धर्मनगरी है। वहाँ के स्वाध्याय प्रेमी जैनधर्म के मर्मज्ञ एव तलस्पर्शी ज्ञाता रहे हैं। उन दिनो भी जैनधर्म के परम विशिष्ट ज्ञाता एवं जैनसमाज के जाने-माने उद्भट विद्वान् श्री बाबू रतनचन्द जी मुख्तार एव श्री बाबू नेमचन्द्र जो एडवोकेट थे। जैन समाज के मूर्धन्य विद्वानो मे वे अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। उन्होंने भी मुक्तकण्ठ से डॉ० साहब के प्रवचनो की भूरि-भूरि सराहना की।

जब हम दोनो को एकान्त मे बैठने का अवसर प्राप्त होता था और विभिन्न विषयो पर चर्चा चलती रहती थी, कदाचित् ऐसा भी अवसर आ जाता था कि वे सस्कृत श्लोको का बडी मधुर ध्वनि से बडा ही सुरीला पाठ करते थे और बताते जाते थे कि यह अमुक गीत की अमुक स्वरलहर है। सिनेमा की गीतों की टोन हिन्दी मे तो प्राय सुनने को मिलती रहती है किन्तु संस्कृत मे सुनने का तो सर्वप्रथम अवसर था। मै सुनकर स्तब्ध रह गया और न जाने कितनी गम्भीर चर्चाएँ हम दोनो के बीच होती रहती थी। वस्तुतः उस समय मुझे साक्षात् यह अनुभव हुआ कि वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी है।

डॉ० साहब निर्भीक वक्ता, यशस्वी लेखक एव कुशल सम्पादक है।

उनकी विशेषता उल्लेखनीय है कि वे पुरातन विद्वानो व नई पीढी के विद्वानो के समन्वय मे सदैव बीच की कडी का काम करते रहे है। वस्तुत वे समाज के भूषण हैं। उनका सभी प्रकार से अभिनन्दन होना उचित ही है। समाज को उनके ऊपर गर्व है।

सादर विनयाञ्जलि अर्पित करते हुए मेरी श्री जिनेन्द्रदेव से मगलकामना है कि वे स्वस्थ-नीरोग रहे, दीर्घायु हो। व जिनवाणी के प्रसार और प्रचार मे और ही अधिक अपना योगदान देकर समाज का मार्गदर्शन करें।

अनूठा व्यक्तित्व

● डॉ० सुशील जैन, मैनपुरी

आदरणीय डॉ० लालबहादुर शास्त्री जी का नाम लेते ही एक ऐसा दृढ व्यक्तित्व सामने आ जाता है जिसने देव-शास्त्र-गुरु के अवर्णवाद का रोकने के लिये अपना तन-मन-धन सब न्योछावर कर दिया है गौरवर्ण, स्वस्थ सुगठित शरीर, सिर पर थोडे सफेद बाल, वृद्धावस्था के बावजूद चेहरे पर ओज व लालिमा, अदम्य अडिग साहस, ओजस्वी वाणी, आगम की घोर गभीरता को सरल सुबोध शब्दो मे अनेकानेक दृष्टातो द्वारा समझा कर हृदयग्राही बनाने की क्षमता।

मई ७६ मे ललितपुर मे आयोजित शास्त्री परिषद् के अति महत्त्वपूर्ण शिविर मे ३ वक्ताओ ने सर्वाधिक प्रभावित किया था—प० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री सोलापुर, प० बाबूलाल जमादार बडौत एव डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री। तीनों अपनी शैली के विशिष्टतम रहे हैं और इनमे भी अपनी वक्तृत्व कला के साथ ही गहन शास्त्रीय अध्ययन के साथ ही शास्त्री परिषद् के अध्यक्ष के रूप मे धर्म प्रचारार्थ उत्तर से दक्षिण व पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत मे लगातार भ्रमण करते रहने की विशिष्ट क्षमता श्री लालबहादुर मे ही है।

ललितपुर में ही उनसे मेरा प्रथम सपर्क व साक्षात्कार हुआ जो बाद मे उनके स्नेहिल आशीर्वाद मे बदल गया। वही शिविर मे उन्होने जिस स्पष्टता से सोनगढ द्वारा की जा रही धर्म विरोधी कार्यवाही का

पर्दाफाश किया वह बहुत लोगों के लिये अनुकरणीय बना। श्रमण संस्कृति व आर्षमार्ग के प्रचार प्रसार व दिगम्बरत्व के विरुद्ध किये जा रहे षड्यन्त्रों की जानकारी समाज को देने के लिए जब हमने 'श्रमण भारती' की स्थापना के विचार से प० जी से सम्पर्क किया तो उन्होने अमूल्य मार्गदर्शन तो दिया ही साथ ही सन् ७७ की महावीर जयन्ती पर इस सस्था का मैनपुरी मे उद्घटन भी किया।

पर्युषणपर्व ८१ मे वह श्रमणभारती के अनुरोध पर पुन मैनपुरी पधारे। दस दिनो तक उन्होंने सिंह गर्जना के साथ धर्मामृत का प्रवचन किया। सुबह-शाम यहाँ प्रवचन करने के साथ ही वह नित्य निकट के ग्राम कुरावली भी प्रवचनार्थ जाते। इस प्रकार बिना आराम किये उन्होने लगातार प्रवचन दिये। करहल सिरसागज, ज वतनगर, शिकोहाबाद का भी उन्होंने भ्रमण किया। इस प्रकार अविरल मेहनत करत हुये वह जिनवाणी के प्रचार-प्रसार मे लगे रहते हैं। इस कर्मठ पुरुषार्थ स प्रभावित होकर ही उन्हे 'लौहपुरुष'' की उपाधि-प्रदान की गई।

डॉ० लालबहादुर जी एसे वक्ताओ मे नही है जो ''गगा गये तो गगादास और जमुना गये तो जमुना दास'' की भाँति श्रोताओ के अनुरूप ही अपनी शैली को परिवर्तित कर लेते हो। अपनी आगमानुकूल बात को कहते हुये वह इसका रचमात्र फिक्र नहीं करते कि श्रोता रजायमान हो रहा है या उस अप्रिय लग रही है।

जैनदर्शन के सपादकीय व विभिन्न लेखो के माध्यम से अपने समाज का सदैव समुचित मार्ग दर्शन किया है। समयसार म सबधित जिस ग्रन्थ पर उन्हे पी-एच० डी० प्राप्त हुई ह वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ह।

डॉ० लालबहादुर एक ऐसा बहादुर लाल है जिसने वत्सला जिनवाणी माँ का बहुत प्रचार प्रसार किया है कर रहे हैं। समाज उनसे कभी उऋण नही हो सकती। सरस्वती के इस वरद पुत्र का जितना सम्मान किया जाय कम है। मैं सपरिवार उनके स्वस्थ एव दीर्घायु होने की कामना करता हूँ।

कर्मठ कर्णधार

● 'विद्यारत्न' सुलतान सिंह जैन, शामली

आदरणीय डा० लालबहादुर शास्त्री के किसी एक अखिल भारतीय स्तर की सस्था के अधिवेशन मे मैने दर्शन तो अवश्य किये और सहज ही जान पाया कि वे 'सादा जीवन और उच्च विचार' की साक्षात् मूर्ति है। किन्तु मेरे हृदय मे आज भी एक ही अभिलाषा शेष है, कि उनका-मेरा पारस्परिक परिचय अब कब और कहा होगा ?

यदि किसी कारणवश उनका–मेरा साक्षात्कार अभी न भी हो पाये, तो मैं उनकी उस समय की, उनकी वेशभूषा, उनका मृदुल स्वभाव, उनकी सागर-सी गभीर मुद्रा को कैसे विस्मृत कर सकता हूँ ? वस्तुत. मैंने उनका जैन समाज के प्रतिष्ठित तथा प्रमुख समाचार-पत्रों ''जैन गजट'', ''जैन-सन्देश'' आदि के माध्यम से अत्यधिक परिचय प्राप्त किया ह।

श्रद्धेय डाक्टर साहब के सम्पादकीय तथा अन्य अनुसंधानात्मक एव समाजोपयोगी लेखो का मैंने जो अध्ययन, चिन्तन तथा मनन किया, उनसे डाक्टर साहब की विद्वत्ता, जैनागमोनुकूल विचारों, गहन अध्ययन, सैद्धान्तिक समस्याओ के समाधान, तात्त्विक विश्लेषणो, सामाजिक कुरीतियो के निराकरण करने सम्बन्धी सदुपायो, पाडित्यपूर्ण तथ्यो का विवेचन अत्यन्त ही ओजपूर्ण, प्रभावशाली, मधुर, सरल भाषा-शैली मे व्यक्त करने का सहज ही अनुभव कर लिया। मैं समझता हूँ पूज्य पंडित जी के समाचार-पत्रो के लेखो का अमिट

प्रभाव जैसा मेरे पर पडा है, आशा ही नही पूर्ण विश्वास है कि अन्य समाज-सुधारको, विद्वद्जनो, मुमुक्षुओ आदि के मानस पटल पर भी वैसा ही प्रभाव पडा होगा और उन्होंने मेरी भाँति ज्ञानोपार्जन भी किया होगा। साथ ही, जनसाधारण के दिलों और उनकी दिनचर्या पर भी अवश्य ही स्थायी छाप पडी होगी।

वास्तव मे शास्त्री जी का उन्नत व्यक्तित्व, उनके गुरुतर कार्य, उनकी अपूर्व धार्मिक सेवायें एव राष्ट्र-प्रेम उनके गौरव तथा गरिमा को सदा-सदा के लिए गौरवान्वित करते रहेंगे।

अन्त मे, यह कहना ही उपयुक्त होगा कि डाक्टर लालबहादुर शास्त्री ने 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' सूक्ति को अपने जीवन के कार्य-कलापो द्वारा पूर्णरूपेण चरितार्थ कर दिखाया है। नि सन्देह डाक्टर साहब जैन समाज के कर्मठ कर्णधार एवं महान् योगी हैं।

अणु में विराट् के खोजी

● प० निहालचन्द्र जैन, बीना

वयोवृद्ध पीढी के तपे विद्वान डॉ० लालबहादुर शास्त्री, उन ज्ञानाराधी पडित वर्ग की श्रेणी/माला के मुक्ता हैं, जिन्होंने देव-शास्त्र और गुरु की उपासना के लिए जीवन-अर्घ्य बनाया।

डॉ० लालबहादुर शास्त्री विद्वत्वर्य है, जो यश से दूर होना चाहते है, लेकिन यश उनकी छाया बनी है।

आप जितने विद्वान् है, उतने ही निरभिमान, और जितने निरभिमानी उतने ही सरल-विनम्र। पहली भेंट (१९६६-६७ अतिशय क्षेत्र मदनपुर (मडावरा) उ० प्र० के वार्षिक मेला के अवसर पर) मे पण्डित जी ने जो वात्सल्य और छोटो के प्रति भी आदरभाव दिया, उससे मै अत्यन्त प्रभावित हुआ था। अनुभव किया था—पण्डित जी 'अणु मे विराट् के खोजी है। व्यक्ति मे छिपी सम्भावनाओ को अपनी पारदर्शी आँखो से देखने वाले विद्वान् विरले है। डा० लालबहादुर जी मे अनुभव की वह कसौटी है, जिससे वह दूसरो की गुणात्मकता को जाँच लेते है।

शास्त्री जी मे कही कोई बनावट नही, कोई दुराव-छिपाव नही। अ० भा० शास्त्रिपरिषद् के अध्यक्ष पद पर अधिष्ठित होकर उन्होने कभी इसे स्वार्थो की रक्षा का ढाल नही बनाया। श्रमशीलता के समर्थक डॉ० साहब इसलिए जैन-समाज की अनुकम्पा पर निर्भर नही रहे।

जैनदर्शन के अध्येता डॉ० साहब की प्रवचनशैली तर्क सगत पुराणो के आख्यानो से आगम की गाथाओ की अन्तर्यात्रा करती हुई प्रभावशाली एव अनेकान्त शैली से युक्त होती है। यद्यपि कई विचारो मे अपने को अलग खडे किये हुए है। फिर भी विचारो का पूर्वाग्रह नही है।

शुद्ध आम्नाय परम्परा के प्रबल समर्थक होकर जब भी आगम-ग्रन्थो मे हेरफेर की या जोडतोड वाली बात देखी, उसका डटकर विरोध किया।

आगम रथ के सारथी—डॉ० लालबहादुर जी का ध्येय जीवन को गतिशील बनाये रखना है। एक ऊर्जावन्त हृदय लिए अपने वृद्धावस्था के आरामदायी क्षणो म भी आप युवको की तरह गतिशील है। समाज को जीवन्त-दिशा दृष्टि देने में आपका भागीरथ प्रयास रहा है।

आपके यशस्वी शतायु जीवन के लिए अपनी अनन्त मंगल कामनाओ के साथ विनम्र प्रणामाञ्जलि भेंटता हूँ।

अप्रतिम प्रतिभा के धनी

● डॉ० धन्यकुमार जैन, अवागढ़

माँ सरस्वती के वरद् पुत्र परमादरणीय डा० लालबहादुर शास्त्री उन महापुरुषों में से एक है जिन्होंने पथ-च्युत हो रहे समाज को अभिनव दिशा देकर पुन स्थापित किया। मुझे उनके निकटवर्ती होने का सौभाग्य प्राप्त है और उनके समकालीन निकटस्थो से निरन्तर सम्पर्क मे रहने के फलस्वरूप मैंने अनुभव किया कि 'पूत के पाँव पालने मे दीख जाते' वाली कहावत उनपर शत-प्रतिशत चरितार्थ होती है। उस समय उनके बुजुर्ग उनके महापुरुष होने की सन्देह रहित भविष्यवाणी किया करते थे। पमारी एत्मादपुर जिला आगरा मे १६ सितम्बर सन् १९१६ को जन्मे शिशु ने उन भविष्यवाणियो को कितना सत्य प्रमाणित किया यह कहने की अब आवश्यकता नही है।

उन्नत ललाट, सौम्यता का प्रतीक मुखारविन्द और सरलता के झीने तन्तुओ से बुना हुआ सम्पूर्ण व्यक्तित्व उनकी प्रतिभा, विद्वत्ता एव सहृदयता की त्रिवेणी का स्वयमेव प्रमाण-पत्र है। पण्डित जी जब मंच पर बोलते है तो लगता है कि जिनवाणी की पवित्र मन्दाकिनी प्रवाहित हो रही है और जब किसी पुस्तक, पत्र अथवा पत्रिका मे लिखते हैं तो लगता है कि उनकी लेखनी मे साक्षात् सृजन उतर रहा है। वह जब किसी से मिलते है तो लगता है कि उसका कोई आत्मीय उसे किसी स्नेहिल धारा मे डुबा-उतरा रहा और जब वह निर्देश देते है तो लगता है कि जैसे किसी आश्रम का कोई महर्षि अपने अतिवासियो को अध्यापन मे निमग्न हो। मैंने जब भी उनके दर्शन किए, हर बार अनुभव हुआ कि मै सागर जैसे अविचल व्यक्तित्व के सम्मुख बैठा हुआ हूँ जहाँ छोटी-बडी अनेक जलधारायें आकर विलीन हो जाती है। सब कुछ सुनते हुए सबसे असम्पृक्त, सब कुछ सहते हुए पूर्णत अविचल। न कोई आग्रह, न कोई आकाक्षा। अनेकान्तवाद की साक्षात् प्रतिमूर्ति।

पण्डित जी की सृजनात्मक प्रतिभा उस समय स्पष्ट हुई जब दिगम्बर जैन भाइयो द्वारा जैन आगम और गुरुओ के प्रति अश्रद्धा और असम्मान उठ रहा था। उस समय डाक्टर साहब ने अपने प्रवचनो, भाषणो, लेखों और पुस्तको के द्वारा जो धर्म के प्रति नवीन चेतना जागृत की, उसे युगो तक विस्मृत नही किया जा सकता। जैनधर्म के सिद्धान्तो की आज के भौतिक परिवेश मे जो तर्क पूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या की उससे जैन समाज के भाइयो मे जैनधर्म के प्रति श्रद्धा और आगम के प्रति सम्मान का भाव उदय हुआ। धर्म का परिहास करने वाले, जैनागम का असम्मान करने वाले और जैन गुरुओ की शिक्षाओ की उपेक्षा करने वाले जैन भाइयो का हृदय परिवर्तन जिस सूझ-बूझ, विद्वत्ता, तर्क और अकाट्य प्रमाणो से पण्डित जी ने किया वह सदैव स्मरण किया जाता रहेगा।

अपने अध्ययन, चिन्तन और ज्ञान को समाज सुधार हेतु प्रयुक्त करने वाले महापुरुषो मे पण्डित जी का स्थान सर्वोपरि है। व्यक्तित्व और कृतित्व मे एकरूपता समाज में अत्यल्प दृष्टिगत होती है। डाक्टर साहब में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का मणिकाञ्चन योग श्लाघनीय है। चिन्तन के क्षेत्र मे उन्होने जो भी पाया है उसे जन-जन हिताय के क्षेत्र मे न केवल बाँटा अपितु अपनी कार्य-शैली मे भी साकार किया है। अध्यात्म के क्षेत्र की जिन ऊँचाइयो का उन्होने स्पर्श किया है उसे न केवल आत्मानुभव की वस्तु रखा अपितु समाज के समक्ष आदर्श रूप मे साकार किया। धर्म की जिस पवित्रता को उन्होने प्राप्त किया उसे न केवल प्रवचनो से व्यक्त किया अपितु अनेक बन्धुओ को भी उस पवित्रता को पाने का अधिकारी बनाया।

मेरा उन्हें शत-शत नमन!

सरस्वती के वरद पुत्र

● श्री हरकचन्द्र सरावगी, कलकत्ता

मैं शास्त्रीजी को लगभग पचास-पचपन वर्ष पहले से जानता हूँ। जब वे मेरी जन्मभूमि सुजानगढ़ राजस्थान के जैन स्कूल में अध्यापन कार्य के लिए आए थे। समाज सेवा का सम्भवतः वह आपका पहला ही कार्य था। उस समय आप ही वहाँ के प्रधान अध्यापक थे और बच्चों को बड़ी लगन एवं निष्ठा के साथ पढ़ाते थे। बच्चों के अध्यापन के अतिरिक्त सूर्यास्त के बाद शाम को आप ही शास्त्र प्रवचन करते थे। श्रोताओ की उस समय पर्याप्त भीड़ रहती थी। आपकी व्यावहारिक कुशलता और विनम्र जीवन एव बौद्धिक विकास से सभी लोग प्रभावित थे। शास्त्री जी सम्भवतः २-३ वर्ष रहे। उसके बाद सभवतः वे दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ संघ अम्बाला में चले गए थे। वहाँ सुनते हैं आपने जैनधर्म के प्रचार प्रसार के लिए जी तोड परिश्रम किया। आपके भ्रमण के समाचार अखबारों में पढ़कर मुझे बडी प्रसन्नता होती थी। पर्यूषण अष्टाह्निका आदि पर्वों में पंचकल्याणक तथा विधान आदि पर्वों पर आपके प्रवचनो की धूम रहती है और वह प्रक्रिया अब भी वैसी ही है। जैन अखबारो मे आपके आदर और प्रशंसा सूचक अभिनन्दन आदि पत्रो को पढकर इस बात का पता लगता था कि आप कितनी निष्ठापूर्वक समाज की सेवा कर रहे हैं। इस सामाजिक सेवा मे आपको किसी प्रकार का प्रलोभन नही है।

शास्त्रीजी जहाँ पर भी निमन्त्रण पर जाते हैं वहाँ पर जैसा जो सम्मान करे उसी मे सन्तुष्ट रहते हैं और कोई कुछ भी लेन-देन न करे तो उन्हें उसमें भी कोई असन्तोष नही होता। असलियत यह है कि शास्त्री जी बहुत ही स्वाभिमानी व्यक्ति हैं, वे अपने स्वाभिमान को सदा कायम रखते है।

शास्त्रीजी की देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भी अत्यन्त समर्पित भक्ति है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के अतिरिक्त वे अन्य किसी वेषधारी को श्रद्धा तो दूर रहे व्यावहारिक रूप से भी नमस्कार नहीं करते, उनके सामने कोई प्रलोभन भी हो तो वे उसे ठुकरा देते हैं। एक समय की बात है कि राजस्थान से एक जैन संस्था के कुछ पदाधिकारी शास्त्री जी के पास देहली गए। शास्त्री जी उन दिनो केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ से रिटायर्ड हो चुके थे। शास्त्रीजी से उन्होने प्रार्थना की—आप हमारी संस्था का काम सम्भाल लें क्योकि आप जैसे चोटी के विद्वान् हमे और कहाँ मिलेंगे। हम आपको जितने वेतन पर आप यहाँ रिटायर हुए है हम उससे अधिक ही आपको वेतन देंगे। शास्त्रीजी ने उनकी संस्था का सब हाल पूछा तो शास्त्रीजी इस निर्णय पर पहुँचे कि यह संस्था जैन संस्था तो है पर दिगम्बर जैन सस्था नही है। शास्त्री जी ने सोचा कि वहाँ कार्यरत रहने से उनकी अधीनता में मै अपने सम्यग्दर्शन का निर्दोष पालन नही कर सकूँगा अत. उन्हे यह कर टाल दिया कि मैं सोच-विचार कर बाद में आपको उत्तर दूँगा। लेकिन बाद मे शास्त्रीजी नही गए और न ही कोई उत्तर दिया।

आर्ष मार्ग की सुरक्षा और प्रचार के लिए शास्त्रीजी ने एक लम्बे अर्से से अपने आपको समर्पित कर रखा है।

शास्त्रीजी के लेख और प्रवचन युक्ति तर्क, एवं आगम प्रमाण से भरे होते हैं। उनकी प्रत्येक सैद्धान्तिक रचना इसी आधार पर होती है। जैन दर्शन साप्ताहिक पत्र का सम्पादन करते हुए आपको दो दशक से ऊपर हो गए हैं फिर भी पाठक उनके लेखों को पढ़ने के लिए सदा लालायित रहते है। अपने इसी बौद्धिक आधार पर आज जैन गजट, जैन सन्देश, पद्मावती सदेश आदि अनेक पत्रो का सम्पादन कर चुके है। आपकी विद्वत्ता की छाप सभी विद्वान्, व्यापारी, श्रेष्ठिवर्ग आदि पर है। इसके साथ-साथ आप उच्चकोटि के कवि भी है।

मैं उनके दीर्घजीवन की भगवान से प्रार्थना करता हूँ।

अभिनन्दनाञ्जलि

दि० जैन पंचायत अशोकनगर द्वारा पर्यूषण पर्व एवं विमानोत्सव पर आयोजित सम्मान समारोह पर अभिव्यक्त विचार

जैन दर्शन उपदेष्टा

जैन दर्शन जैसे गहन विषयवस्तु के स्वरूप का यथावत् विवेचन करने में अद्वितीयता, निष्पक्ष-भाव उद्‌घाटन करने का विशिष्ट गुण आपके प्रवचन का प्रमुख लक्ष्य है। वर्तमान में आप लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ दिल्ली मे जैन दर्शन एव साहित्य के व्याख्याता पद पर सुशोभित हैं। जहाँ से आप जैनत्व का सच्चा मार्ग-दर्शन कर रहे है।

अध्यात्म शास्त्र वेत्ता

अध्यात्म की सार वस्तु के ग्राही तथा वास्तविकता हृदयगम कराने का आपमे सरलतम ढंग है। श्रोता आपके प्रबुद्ध प्रवचनो से गद्‌गद हो जाते हैं। अध्यात्म प्रतिपादन में बोध-गम्यता का पाठ पढ़ने पढ़ाने की अभिरुचि ही आपके जीवन का आदर्श है। अध्यात्मग्रथ समयसार तथा उसके रचयिता भगवान् कुन्द-कुन्दाचार्य के शोध ग्रन्थ पर आगरा विश्वविद्यालय ने आपको 'डाक्टर ऑफ फिलासफी' की उपाधि से विभूषित किया है। जैन दर्शन के लिए यह शोध महान् देन है।

सिद्धान्त संरक्षक

जैन सिद्धान्त की प्राचीनता के प्रति जागरूक सरक्षक के रूप मे आप सर्वत्र विख्यात है। आपसे अनेको जन धर्म आस्था तथा सत्य का रास्ता पाने मे लाभान्वित हो रहे हैं। आप जैन सिद्धान्त सरक्षक के रूप मे सुदृढ स्तम्भ हैं। आपकी धार्मिक आस्था से समाज की बडी-बडी आशाएँ है।

संस्कृति के प्रहरी

आपके सरल व्यक्तित्व तथा उदारता में जैन संस्कृति समाहित है, कठिनता मे कोमलता, भावो मे सजगता सद्‌भावो के प्रेरक, क्रमश. विपरीतता मे साम्यता बनाए रखना ही आपके जीवन की महानता है।

विद्वत्‌रत्न

आप जैन सिद्धान्त—दर्शन एव सस्कृति के विद्वत्‌रत्नो मे रत्न है। यही कारण है कि आपने मालव प्रान्त इन्दौर मे दि० जैनधर्म के लिए एक सच्चे मार्ग दर्शक के रूप मे कार्य किया है तथा धर्मरत्न सर सेठ श्री हुकुमचद जी इन्दौर के विद्वत्‌रत्नो मे आपका स्थान सर्वोपरि रहा। प्रतिकूल समय मे आप जैनत्व को अनेक विरोधियो से बचाने मे अग्रणी रहे। आजकल आप अखिल भारतीय दिगम्बर जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा के द्वारा जैन धर्म की अमूल्य सेवा नि स्वार्थ भाव से कर रहे है।

पर्यूषण पर्व के शुभ अवसर पर आपने समस्त दिगम्बर जैन समाज को धर्म के सत्य रास्ते पर बने रहने का मार्ग दर्शन दिया जिसमे समस्त दि० जैन समाज आपके प्रवचनो से लाभान्वित हुआ। ऐसे अवसर पर शुभ भावो से हम आपका हार्दिक अभिनन्दन करते हुए हर्षित हो रहे है। हम आपके स्वस्थ तथा दीर्घायु होने की शुभ कामनाएँ प्रेषित करते है। विद्वत्‌वर, आप हमारा अभिनन्दन स्वीकारे ! इति मंगलम् !!

दिनाक २४-९-७२
पर्यूषण पर्व एव विमानोत्सव

हम हैं आपके शुभाकाक्षी—
दिगम्बर जैन पंचायत
अशोकनगर, जिला गुना (म० प्र०)

समस्त दि० जैन समाज खुरई द्वारा पर्यूषण पर्व पर समायोजित सम्मान समारोह पर अभिव्यक्त विचार

विद्वद्वर !

आपकी प्रकाशमान ओजपूर्ण वाण रूपी रश्मियो ने हम लोगो के हृदयातर्गत अंधविश्वासो को इस तरह तिरोहित कर दिया है जैसे रात्रि का तिमिराच्छन्न वातावरण प्रातः नवोदित सूर्य-रश्मियों से छिन्न-भिन्न होकर विलीन हो जाता है।

पण्डित शिरोमणि !

प्रसाद गुण युक्त आपकी वक्तृत्व शैली के आकर्षण से हम लोग मन्त्रमुग्ध की तरह दुरूह तत्त्व विवेचन को भी सरलता से आत्मसात् कर धर्म के संत्स्वरूप की पहचान कर सके है। यह आप जैसे महान् विद्वानो के पांडित्य का ही प्रभाव है।

तत्त्व-दर्शिन् !

निश्चय और व्यवहार नय के सापेक्ष एवं अनेकात दृष्टि से सामजस्य पूर्ण विवेचन से आपने हम लोगों की भ्रात धारणाओ को निर्मूल कर दिया है। इस तरह अपनी गभीर प्रज्ञा से सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्वो का विवेचन कर हम लोगों की तत्त्व ज्ञान सबंधी जटिल गुत्थियो को सुलझाकर हमारा मार्ग प्रशस्त किया है जिसके लिये हम आपके कृतज्ञ हैं।

प्रतिभाशालिन् !

आपकी सपादन प्रतिभा और निर्भीक वक्तृता से हम लोग बहुत प्रभावित है। आपकी लौह लेखनी द्वारा सपादित जैन समाज के दो प्रमुख पत्र श्रद्धा चारित्र और सद्ज्ञान का समीचीन प्रचार निरन्तर कर रहे हैं। जो लोग जिनागम की ओट में भ्रामक तत्त्वो का प्रतिपादन करते है उनका निराकरण कर आपने समीचीन मार्ग प्रदर्शित किया है और जैनत्व का गौरव बढाया है।

जिनागम श्रद्धालु !

आपने अपने जीवन मे जैनत्व के प्रति अटल श्रद्धागुण के कारण भगवत्भक्ति, कर्तव्यपरायणता, निर्भीकता, परोपकार सहिष्णुता, सरलता आदि सद्गुणो का विकास कर आदर्श उपस्थित किया है। यही कारण है कि आपने भारतवर्षीय जैन सघ के माध्यम से आदर्श मार्ग का प्रकाश कर समाज को सन्मार्ग पर लगाया, यह अत्यन्त गौरवास्पद है।

आचार्य प्रवर !

आपने प्राचीन सस्कृत वाङ्मय का सर्वाङ्गीण अध्ययन कर अपने गहन पाण्डित्य से महत्त्वपूर्ण शोध कार्य किया है जिसके फलस्वरूप आप भारत की राजधानी मे ही राजकीय सस्कृत विद्यापीठ मे आचार्य पद पर विराजमान है, यह जैन समाज के लिये गौरव की बात है।

महोदय,

हमारे आमत्रण पर आपने खुरई पधार कर हम लोगो को अनुगृहीत किया इसके लिए हम आपको हार्दिक धन्यवाद देते हुये आपका आभार मानते है। अतः हम आपके दीर्घ स्वस्थ-जीवन एव प्रज्ञा-विकास की सत्कामना करते हुये आपका हार्दिक अभिनंदन करते है।

हम हैं आपके कृतज्ञ

दिनाक १२-९-१९७३ समस्त दि० जैन समाज खुरई

(सागर, म० प्र०)

श्री दिगम्बर जैन पंचायत अशोकनगर द्वारा पर्यूषण पर्व की बेला में अभिव्यक्त विचार

जिन आगम प्रवक्ता

वस्तु स्वरूप के यथावत् विवेचन से आगम के सिद्धान्त का रहस्योद्घाटन कर-सन्मार्ग पर मानव-मात्र को दृढ रहने का जो उपदेश दिया है अनुशासनीय ही नही ग्राह्यणीय भी है। प्रवचन की ओजस्वी वाणी से समाज को जागृत कर अत्यन्त प्रभावित किया है।

सिद्धान्त प्रहरी एवं अध्यात्म प्रवक्ता

सत्यं शिवं सुन्दरम् सच्चे सुख की अनुभूति—मोक्ष-मार्ग का अनुसरण जीव मात्र का अधिकार है ऐसा विवेचन कर जनमन का पथ-प्रदर्शन किया है। अध्यात्म का पाठ पढ़ने-पढाने की अभिरुचि से आपका सम्पूर्ण जीवन ही एक दर्शन हैं जिससे जन मानस के आप सजग प्रहरी हैं।

जिन दर्शन विद्वत्वर

दर्शन शास्त्र जैसे गहन विषय के विशिष्ट—धनी-आपने जिनागम महर्षि भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य पर जैन दर्शन का जो शोध ग्रन्थ लिखा है विद्वत्ता का परिचायक है—परिणामस्वरूप आगरा विश्वविद्यालय ने आपको डॉक्टर ऑफ फिलासफी की उपाधि से विभूषित किया है। वर्षों आप लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ दिल्ली मे दर्शन शास्त्र के ख्यातिप्राप्त व्याख्याता रहे है तथा "जैन दर्शन" की लेखनी से आप जन हित की रक्षा करते आ रहे है।

प्रेरक व्यक्तित्व

अन्तस् के स्वभाव मे सहजता, भावों मे मृदुता, काठिन्य में दृढता तथा सद्गृहस्थ प्रकृति के आप उज्ज्वल प्रतीक है। आगम के तथ्य-रस को स्वस्थ्य प्रवचन के माध्यम से जन-समूह को ग्राह्य कराना आपके निष्पक्ष-भाव का रूप है। धार्मिक-भावना से ओत-प्रोत आपका सरलतम व्यक्तित्व समाज-प्रेरणा की अक्षुण्ण निधि है—जिससे हम सब विशिष्ट प्रभावित हैं।

दशलक्षण पर्व एव विमानोत्सव के पावन अवसर पर दिगम्बर जैन पंचायत अशोकनगर आपका हार्दिक अभिनन्दन करती है। अध्यात्म एव जिन सिद्धान्त की स्वस्थ्य परम्परा का निरूपण करते रहने की भविष्य मे आपसे बहुत बडी आशाएँ है। हम सब आपके स्वास्थ्य एव दीर्घायु की मंगल कामना करते है।

दिनांक १७ ९-७८ रविवार
आश्विन कृष्ण १ वीर सं० २५०४

विनीत
अध्यक्ष एव सदस्यगण
दि० जैन पचायत, अशोकनगर

●

समस्त दिगम्बर जैन समाज विदिशा की ओर से वीतराग स्वाध्याय मंडल के तत्त्वावधान में समायोजित अवसर पर व्यक्त विचार

हे प्रखरवक्ता !

आप साक्षात्‌वाणी के वरदपुत्र हैं। सरस्वती आपकी जिह्वा पर विराजती है। कुशल एवं ओजस्वी वक्ता के रूप में विद्वत्समाज एव सामान्य स्रोता भी आपकी वाणी का युगपत् रसास्वादन लेते हैं।

विद्यावारिधि

आपने व्यावहारिक अध्ययन के साथ ही साथ परमागम के शास्त्रो का गहन अध्ययन, मनन एव चिंतन किया है। शास्त्रो में आपकी गहरी पैठ है। आप जैन वाङ्मय के अनुपम भण्डार हैं। आप ऐसे विद्यावारिधि हैं, जिनका ज्ञानजल भव्य आत्माओ के सासारिक मल को धोने एव मोक्ष मार्ग के पथिक को पाथेय एव परम प्रेरक है।

साहित्यस्रष्टा

यह जैन समाज के लिए अत्यन्त गौरव की बात है कि आपने आचार्य कुन्दकुन्द के महान् ग्रन्थाधिराज "समयसार" पर सर्वप्रथम विद्वत्तापूर्ण शोधग्रथ लिखकर आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। आपने "मुक्ति मन्दिर" गीति काव्य, महावीर वाणी, महावीर दर्शन, तत्त्वार्थ सूत्रसार आदि आगम ग्रन्थो का प्रणयन करके जैन सत्साहित्य की श्रीवृद्धि की है। आपके ग्रन्थ जैन समाज की अनुपम निधि हैं।

प्रथम एव उपकारी अनुवादक

चारो अनुयोगो के सारभूत ग्रन्थाधिराज, "मोक्षमार्ग प्रकाश" का प्रथम हिन्दी रूपान्तर कर आपने मुमुक्षुओ के लिए आगम मार्ग प्रशस्त कर महान् उपकार किया है। और इसके साथ ही भट्टारक सकलकीर्ति विरचित 'रामचरित' का भी आपने भाषानुवाद करके उसे सहजगम्य बनाया है।

विद्वत्‌शिरोमणि

आपकी विद्वत्ता एवं प्रवचन शैली को जैनेतर समाज भी बडे सम्मानपूर्वक स्वीकार करता है। विद्वत्समाज मे आपको गौरवमय स्थान प्राप्त है। विद्वानो मे आप शिरोमणि हैं।

आगम समर्थक

आप बडी कुशलतापूर्वक व्यवहार तथा निश्चयनयो का आगम सम्मत प्रतिपादन करते है तथा समस्त मिथ्या भ्रातियो का उच्छेदन करते हुए, वस्तु स्वभाव के यथार्थ स्वरूप का बोध कराते है।

हे यथार्थनाम !

"यथा नाम तथा गुण" वाली कहावत आप पर अक्षरशः चरितार्थ होती है। आप समाज के, धर्म के, साहित्य के, सबके सच्चे लाल है और लाल ही नही बहादुरलाल हैं। "लाल लाल धरती पर उपजे कैसे-कैसे लाल, तम के मुख पर सूरज जैसा, चलते रहे गुलाल।" हे पथ-व्यामोह-रहित निर्भीकवक्ता, पैनी दृष्टि वाले प्रखर पत्रकार, सत्पथ दर्शक, समाज सुधारक, युवा पीढ़ी के प्रेरणा-स्रोत, वाणी के वरद पुत्र, सरल एव सादगी की साक्षात्‌मूर्ति, तपोभक्त, तपोधन, श्रमण सस्कृति के समर्थक, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के परामर्शदाता हम सब विदिशा के नरनारी आपकी सारगर्भित देशनाओ से प्रभावित तथा प्रमुदित है और इस पावन महोत्सव के अवसर पर आपका अभिनन्दन करते हुए गौरवान्वित अनुभव करते है एव आपके दीर्घायुष्य की मंगल कामना करते हैं।

श्री वीतरागस्वाध्याय मंडल	**दिनाक**	**हम है आपके**
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, विदिशा	२१ जनवरी १९८२	**सकल** जैन समाज, विदिशा

●

श्री भारतवर्षीय अनाथरक्षक सोसायटी दिल्ली द्वारा पर्यूषण पर्व की वेला पर व्यक्त विचार

डॉक्टर ऑफ फिलासफी

कुछ समय पूर्व "अध्यात्म" की गूंज मे एक विसंगति सी उठी थी। आचार्य श्री कुन्द-कुन्द के नाम पर तथ्यो को विसंगतियों सहित जन सामान्य के बीच प्रस्तुत किया जाने लगा। आपका चिन्तनशील व्यक्तित्व इस विषम स्थिति को सह नही सका। मन में इस स्थिति से उत्पीडन पैदा हुई। आपने "समयसार" पर शोध-पूर्ण ग्रन्थ लिखकर आगरा विश्वविद्यालय से "डॉक्टर ऑफ फिलासफी" की उपाधि प्राप्त की। यह समाज के लिए गौरव की बात है और ग्रन्थ हिन्दी साहित्य और जैन ग्रन्थागार की अमूल्य निधि है।

साहित्य स्रष्टा

जैन समाज के लिए यह अत्यन्त गौरव की बात है कि आपने जहाँ एक ओर आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ पर शोध करके "डॉ० आफ फिलासफी" की उपाधि प्राप्त की वहाँ दूसरी ओर आपने 'मुक्ति मन्दिर', 'महावीर वाणी', 'महावीर दर्शन', 'तत्त्वार्थ सूत्रसार' आदि ग्रन्थो की रचना की है। साथ ही चारो अनुयोगो के सारभूत ग्रन्थाधिराज 'मोक्षमार्ग प्रकाश' का हिन्दी मे प्रथम रूपान्तर करके जन आगम के अध्ययन, चिन्तन एवं मनन का सुगम मार्ग प्रशस्त किया।

निर्भीक वक्ता एवं प्रखर पत्रकार

आपका अध्ययन बडा गहन और ज्ञान बडा व्यापक है। आप निर्भीक वक्ता और प्रखर पत्रकार हैं। आपके प्रवचनो मे जैन-अजैन बडी सख्या मे उपस्थित रहते है और पूरी तन्मयता के साथ आपको सुनते है। जिस दो टूक शैली में आप बोलते है, उसी प्रखर स्पष्ट शैली में आप लिखते और पत्रों का सम्पादन करते हैं। 'जैन गजट', 'पद्मावती सन्देश', 'वीतरागवाणी' आदि पत्रो का आपने वर्षों सम्पादन किया है। वर्तमान मे भी विगत काफी समय से आप 'जैन दर्शन' साप्ताहिक पत्र का सम्पादन कर रहे हैं।

विद्यावारिधि

आपका ज्ञान वाङ्मय का अनुपम भण्डार है। आप ऐसे विद्यावारिधि हैं जिनका ज्ञान-जल भव्य आत्माओ के सासारिक मल को धोने एव मोक्ष मार्ग के पथिक का पाथेय एव परम प्रेरक है।

समाजरत्न

आप जैन समाज के ऐसे रत्न हैं जिससे उभरते हुए विद्वानो, धर्म प्रेमियो एवं कार्यकर्ताओ को मार्ग-दर्शन, प्रोत्साहन एव वात्सल्य मिलता है।

अन्त में माँ सरस्वती के इस वरद पुत्र के गुणो का स्मरण करते हुए एक बार पुनः नमन करते हैं।

हम हैं आपके पदाधिकारी एव समस्त सदस्य

दिनाक २७-९-१९८५ श्री भारतवर्षीय अनाथरक्षक जैन सोसायटी, दरियागज, नई दिल्ली

●

पूज्य ऐलक श्री १०५ सन्मति सागर जी महाराज के सानिध्य में श्रमण-भारती के उद्घाटन के अवसर पर अभिव्यक्त विचार

सम्माननीय विद्वान्

जैनागम मे अटूट श्रद्धा, अनेकात व स्याद्वाद वाणी के उज्ज्वल प्रवक्ता, देवशास्त्रगुरु के प्रगाढ़ भक्त, ज्ञान की गरिमा और चरित्रनिष्ठा के परिचायक आप अनेक उपाधियो से विभूषित हैं। साहित्याचार्य, न्याय-काव्यतीर्थ, एम० ए०, डॉक्टर ऑफ फिलॉस्फी, विद्वत्भूषण, पडितरत्न, व्याख्यानवाचस्पति आदि अभिनन्दनीय सम्बोधनों से आप सुशोभित हैं।

महान् लेखक

आर्ष प्रणीत धर्म व जिनवाणी के प्रचार प्रसार मे अविरत परिश्रमशील, जैन दर्शन के सम्पादक के पद पर पत्र के माध्यम से आपने जो वाणी गुञ्जायमान की है वह अपूर्व है। मोक्षमार्ग प्रकाश, रामचरित, महावीर दर्शन, महावीर वाणी और हाल ही में पूज्य उपाध्याय श्री विद्यानन्द मुनि के सानिध्य में श्री कमलापति त्रिपाठी द्वारा विमोचित 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार' आपकी लेखन प्रतिभा के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। इस शोध ग्रन्थ ने जिस पर आपको पी-एच० डी० प्राप्त हुई है समाज को आचार्य कुन्दकुन्द और महान् ग्रन्थ समयसार के प्रति नवीन दृष्टिकोण तथा आयाम तो दिया ही है साथ ही एक प्रकाश-पुञ्ज का भी कार्य किया है।

आप शास्त्री परिषद् के अध्यक्ष, लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय विद्यापीठ में जैन विभाग के अध्यक्ष, संस्कृत विद्यापीठ के व्याख्याता भी हैं। सभी कार्यों मे आप अत्यन्त निडरता, साहस, गम्भीरता, निस्पृहता, विद्वत्ता और त्याग के आधार पर लगनशील रहते हैं।

कृतज्ञता ज्ञापन

आज के यह पावन क्षण, आपका यह अल्पकालिक प्रवास 'श्रमण-भारती' तथा जैन समाज के लिए ऐतिहासिक धरोहर बन गया है। आपके प्रति अपनी कृतज्ञता हम शब्दो मे व्यक्त करने मे असमर्थ है। श्री जिनेन्द्र देव से प्रार्थना है कि आप स्वस्थ प्रसन्न रहते हुए दीर्घायु प्राप्त करें, जिससे सम्पूर्ण भारतवर्ष की समाज को चिरकाल तक आपका मार्ग दर्शन मिल सके। ज्ञान ज्योति जो कि आपने प्रज्वलित की है वह सदैव-उद्दीप्त होती रहे, यदा-कदा हम आपके दर्शनो हेतु उत्कण्ठित रहेंगे।

पुन' हार्दिक आभार रहित,

दिनाक १-४-१९७७ — हम हैं

वीर नि० स० २५०३ — 'श्रमण-भारती' के सरक्षक व सदस्यगण

●

सकल दिगम्बर जैन समाज मडावरा द्वारा वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव पर व्यक्त विचार

समाज जागृति के उत्कृष्ट प्रहरी—वर्णी वाणी के सच्चे उपासक के रूप मे पाकर हम सब धन्य हुए। आपने अनेकों सप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक पत्र-पत्रिकाओ का सम्पादन कर और अपने महान् सम्पादकीय लेखों द्वारा समाज धर्म संस्कृति की अमूल्य सेवा कर सत्पथ का मार्ग बताया उसके लिए हम सब हृदय से आपका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

जिनवाणी के सच्चे श्रद्धानी—वर्तमान मे माँ जिनवाणी के प्रति एकान्त मिथ्या कथन करके एक नये सम्प्रदाय ने दिगम्बर जैन साहित्य मे जो विकार उत्पन्न किया उसके प्रतिकार मे आपने जो निष्ठा विवेक और स्वाभिमान के साथ जिनवाणी के सच्चे स्वरूप का स्याद्वाद दृष्टि से दिशा बोध देकर सरक्षण किया वह युगों-युगों तक कीर्तिमान रहेगा।

पाण्डित्य की प्रतिमूर्ति—वर्तमान विद्वत् समाज के बीच आप जैसे महान् तार्किक ठोस विद्वान् को पाकर भारत की जैन समाज अपने को अहोभाग्य मानती है। आपकी वाणी प्रत्येक व्यक्ति के हृदय मे गहरा प्रभाव डालकर जिन धर्म का सच्चा श्रद्धालु बना देती है, आपकी तार्किक प्रवचन शैली और शंका समाधान की प्रामाणीक अभिव्यक्ति जन मन को मोह लेती है।

साहित्य प्रणेता के उत्कृष्ट अग्रदूत—अब तक आपने अनेको ग्रन्थों की रचनाओ की शोध पूर्ण भूमिकायें लिखी एवं लेखो प्रवचनो द्वारा साहित्य समाज और जिनवाणी की जो महान् सेवा की है उससे आप जन-जन के वन्दनीय बन गये। जैन सस्कृति धर्म और आचरण के धनी महापुरुषो की भक्ति सेवा और संरक्षण की दिशा मे आपने युग पुरुष को भूमिका निभाई है।

शास्त्रि परिषद् के प्राणाधार—शास्त्रि परिषद् के आप एकमात्र प्राणवान् व्यक्ति हैं। संस्था के अध्यक्ष पद के रूप मे आपने परिषद् को समुन्नति मे आशातीत कार्य किये। आपके महान् कृतित्व से अनुप्राणित होकर ग्यारह गगनचुम्बी जिनालयो से युक्त मडावरा नगरी मे वेदी प्रतिष्ठा के इस पावन पुनीत प्रसग पर हम सब मडावरावासी आपको "समाजरत्न" की उपाधि से अलंकृत करते हुए गौरव का अनुभव करते हैं। और आपके सुखी सम्मृद्ध यशस्वी दोर्घ जीवन की मगल कामना करते है।

स० सि० सुखानन्द कुमार जैन
अध्यक्ष वर्णी सस्थान, मडावरा
पं० विमल कुमार जैन सोरया शास्त्री
सयुक्त मत्री—वर्णो सस्थान मडावरा

हम है आपके अभिनन्दन कर्ता—
सकल दिगम्बर जैन समाज
प० लक्ष्मण प्रसाद जैन न्यायतीर्थ शास्त्री
व्यवस्थापक वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव समिति, मडावरा
दि० २४-११-७७

●

श्री दि० जैन समाज ललितपुर द्वारा पर्यूषण पर्व पर समायोजित अवसर पर व्यक्त विचार

हे साधना-पथ के सजग प्रहरी!

साधना-पथ पर आरूढ सजग प्रहरी के रूप मे आपने अपने समय के झझावातो मे जिस अनूठी सूझबूझ एवं अडिगता का परिचय दिया है—वह आपको विशिष्ट प्रतिभा का द्योतक है। फलस्वरूप धर्मानुरागी जन आपके नेतृत्व मे जैनागम के रहस्यो को हृदयगम करने हेतु अग्रसर है एव आपका मम्बल प्राप्त कर लक्ष्य प्राप्ति की दिशा मे आश्वस्त है।

हे अनेकान्त आराधक!

जैनागम का आलोडन करने हुये जहाँ आपने न्यायशास्त्र एवं तर्कशास्त्र जैसे गहन क्षेत्र मे दक्षता प्राप्त की है, वही विद्वद्-जगत् मे भी अपना विशिष्ट स्थान निर्मित किया है। न्याय एवं तर्कशास्त्र जैसे गम्भीर विषयो को अध्यात्म के परिवेश मे जिस सरल एव मरस कोमलकान्त शब्दावलि द्वारा प्रतिपादित करते हैं—वह अनेकान्तमयी स्वर-लहरी अनुरागी श्रोतागण के अन्तःकरण मे एक गुंजन पैदा करती हुई हृदयतन्त्री झकृत कर एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति प्रदान करती है, और वही झकार विपक्षी जन के लिये गर्जना एव तर्जना का रूप ले लेती है।

हे स्याद्वाद स्वर साधक!

वर्तमान "अध्यात्म" की गूँज एक अजीब-सी विसगति को लिये उठ रही है। आचार्य श्री कुन्दकुन्द के नाम पर तथ्यों को विसगतियो सहित जनसामान्य के बीच प्रस्तुत किया जाने लगा है। आपका चिन्तन-

शील व्यक्तित्व इस स्थिति को ग्राह्य नही कर सका। मन में एक उत्पीडन पैदा हुआ, और 'समयसार' पर डाक्टरेट करने का निर्णय इस तथ्य का द्योतक है। 'समयसार' पर शोध ग्रन्थ लिखने का कार्य समुद्र-मन्थन जैसा महान् है जिसके फलस्वरूप प्राप्त अमृत आज हम सबको आपके अनुग्रह से सहज प्राप्त हो रहा है। अपने इस भगीरथ प्रयत्न के फलस्वरूप ही अब जब आप 'समयसार' का विवेचन प्रारम्भ करते हैं तो जिनागम के रहस्य अपने प्राकृतिक स्वरूप मे प्रस्फुटित होने लगते हैं। जिनवाणी के रहस्यो को खोजने का प्रशस्त कार्य जिस लगन से आप कर रहे हैं वह जन-जन के लिये अनुकरणीय है। हमारी कामना है—जैसा कि आचार्यों ने उल्लेख किया है—

"शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः, अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत्"
आपका व्यक्तित्व मणि की तरह प्रकाशवान् रहे।

हे प्रशस्त मार्ग-दर्शक!

"परिवर्तिनि संसारे मृत' को वा न जायते, स जातो येन जातेन याति धर्मा. समुन्नितम्।" के सिद्धान्त को मूर्तरूप देनेवाला आपका व्यक्तित्व हमे मौन निमन्त्रण दे रहा है कि हम भी स्वस्थ जीवन-निर्माण की ओर अग्रसर रहें। मानवीय उदात्त भावनाओं को "जैन दर्शन" साप्ताहिक पत्र के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाना आपका लक्ष्य है। 'जैन दर्शन' के माध्यम से जहाँ आप जैन-जगत् मे व्याप्त भ्रान्तियो का निवारण अपनी सशक्त लेखनी से कर रहे हैं वही जैनागम का परिमार्जित मूल रूप भी हमारे सामने प्रस्तुत कर रहे हैं। राष्ट्र-सेवा के साथ-साथ समाज-सेवा भी आपका जीवन-व्रत है। आप हमारे सशक्त मार्ग-दर्शक है।

हे यशस्वी नायक!

साहित्यिक क्षेत्र में रचनात्मक कार्य के रूप मे एक ओर जहाँ आपने श्री टोडरमल जी रचित "मोक्ष-मार्ग प्रकाश" ग्रन्थ का ढुँढारी भाषा से हिन्दी मे रूपान्तर एव आप्तपरीक्षा, रामचरित आदि ग्रन्थो का सम्पादन किया है, वहाँ दूसरी ओर काव्य के रूप मे 'महावीर दर्शन' 'महावीर वाणी' 'मुक्ति मन्दिर' जैसी कृतियाँ प्रदान की है। एक लम्बे अर्से से आप पत्र-सम्पादन के कार्य मे रत हैं—"जैन गजट" एव "जैन-दर्शन" के सम्पादक के रूप मे समाज ने आपको देखा है। वर्तमान मे आप 'जैन दर्शन' साप्ताहिक का सम्पादन कर रहे हैं। निरन्तर सेवाओ में रत आपने 'भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद्' के अध्यक्ष के रूप मे सारे भारत मे भ्रमण किया एव नवीन दिशा दी।

देहली में ही 'श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय सस्कृत विद्यापीठ' जो कि भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय के अधीन चल रही है उसमे आप 'रीडर' जैसे उच्च पद पर आसीन है। साथ ही सस्था मे अध्यापक-परिषद् के अध्यक्ष है। इस तरह अनवरत रूप से आप अपनी सेवाओ से जैन-जगत् को लाभान्वित कर रहे है।

हम एक बार पुन आपका अभिनन्दन करते हुए आपके समृद्धिमय यशस्वी एव दीर्घ जीवन की कामना करते है।

ललितपुर (उ० प्र०) — हम हैं आपके अनुगामीजन
दिनांक २०-९-७५ — श्री दि० जैन समाज, ललितपुर

श्री दि० जैन समाज कानपुर द्वारा पर्यूषण पर्व के पुनीत अवसर पर समायोजित समारोह पर अभिव्यक्त विचार

विद्वत्प्रवर !

जिनवाणी की विवेक ज्योति को जाज्वल्यमान करने के लिये, सर्वजन हिताय की भावना से आपने अल्पकाल मे ही दीर्घदर्शी आध्यात्मिक प्रगति उपलब्ध की है। आपके परिमार्जित अध्ययन ने ही सर्व कल्याण-कारी जैन दर्शन जैसे विशाल सागर को, विचारो रूपी गागर मे प्रवेश दिया है। आपके तात्त्विक प्रभाव पूर्ण प्रवचनो मे गहन अध्ययन, मनन, ज्ञान, गरिमा और चिन्तनशीलता के अपूर्व दर्शन होते हैं तथा आपके तार्किक चिन्तन मे आगम, उदाहरण और विषय के स्पष्टीकरण का अपूर्व सगम श्रोताओ मे नई हलचल पैदा करता है। आपका सम्पूर्ण विशेषताओ युक्त व्यक्तित्व, उस मानवीय चेतना का प्रखर एव मूर्त स्वरूप है जो निश्चय ही अभिनद्य है।

श्रेष्ठ लेखक !

भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि मे आपका योगदान उल्लेखनीय है। आपने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन तथा हिन्दी में रूपान्तर बडी सफलतापूर्वक किया है। आचार्य कुन्दकुन्द की विशिष्ट साहित्यिक उपलब्धि समयसार ग्रन्थ है। इस शोधयुग मे आपने गम्भीर मनन, चिन्तन एव वैदुष्यपूर्ण श्रम से, तथ्यो पर विशद प्रकाश डालते हुए उक्त ग्रन्थ की अनेक भ्रान्तियो का सप्रमाण निरसन किया है। आपकी सिद्धहस्त लेखनी स्तुत्य है तथा एक श्रेष्ठतम ग्रन्थकार के रूप मे आप अभिनद्य है।

निर्भीक पत्रकार !

जैन जगत् के साप्ताहिक पत्र "जैन दर्शन" के प्रधान सम्पादक के रूप मे सेवा कर आपने पत्रकारिता को अपनी निर्भीकता, निष्पक्षता एव स्पष्टवादिता से, गरिमा प्रदान की है। पुष्कल साधनो के अभाव मे भी, आपने कदापि पराधीन होकर अध्ययन-सम्पादन कार्य नही किया, अपितु जैन धर्म की प्रभावना के लिए अहर्निश परिश्रम कर न्याय मार्ग से ही पत्रकारिता के उच्च आदर्शों की रक्षा की है। वर्तमान द्रव्य प्रधान युग मे पत्रकारिता की विचारधारा को चेतना प्रदान करने वाला आपका व्यक्तित्व निश्चय ही अभिनद्य है।

सेवा मूर्ति !

अखिल भारतीय स्तर की अनेक धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक तथा राष्ट्रीय सस्थानो के पदो को सुशोभित कर, आपने कर्म एव आचरण से उच्चता के उस शिखर को प्राप्त किया है जो साधारणतया अलभ्य है। आपकी उल्लेखनीय सेवाओ के प्रति समाज ने अनेक गौरवपूर्ण उपाधियो से, आपको समय-समय पर सम्मानित किया है। धर्म और न्यायशास्त्र के प्रगाढ विद्वानो की प्रमुख सस्था शास्त्रि परिषद् के अध्यक्ष पद को ग्रहण कर आपने उसे एक नवीन शक्ति प्रदान की है। आप जैसे सहृदय व्यक्ति मे विद्वद् समाज की शोभा है तथा शास्त्रि परिषद् समपकृत है। विद्या और विद्वानों एव साहित्यिक प्रवृत्तियो के उज्जवल भविष्य का यह पवित्र सकल्प, आपकी श्रमशीलता और प्रज्ञा का द्योतक है जो सर्वथा अभिनद्य है।

सतत अभिनन्दनीय व्यक्तित्व !

आपका व्यक्तित्व-कृतित्व जाति, समाज, देश के लिये प्रेरणा का प्रखर स्फुरण है जिसका स्मरण मात्र कर्तव्य-बोध, राष्ट्र-बोध और सबसे बढकर मानवीय-बोध देता है। क्षमावणी की इस मंगलमय वेला में हम आपको अपने मध्य पाकर गौरवान्वित है तथा इस अल्प सत्सग की मधुर स्मृति को सदैव बनाये रखने के

आकांक्षी है। हम आपका अर्चन-अभिनन्दन करते हैं—इस विश्वास के साथ कि यदि अज्ञान या प्रमादवश कोई त्रुटि हमसे हो गई हो तो उसे आप कृपापूर्वक क्षमा करेंगे तथा हमें पुनः-पुनः यह गौरवान्वित क्षण इसी जीवंतता से प्राप्त होते रहेंगे।

बुहारी देवी बालिका विद्यापीठ इण्टर कालेज, कानपुर | दिनांक १ अक्टूबर १९७७ | विनयावनत कानपुर जैन समाज के सदस्यगण

श्री दि० जैन समाज नागपुर तथा श्री पं० दि० जैन मोठे मंदिर इतवारी नागपुर द्वारा पर्यूषण पर्व पर सामाजिक समारोह पर अभिव्यक्त विचार

निष्काम कर्मयोगी :

मान्यवर पण्डितजी, आप जीवन भर निष्काम कर्मयोगी रहे हैं। आप समीचीन देव-शास्त्र-गुरु के अनन्य भक्त हैं। आप अनेक संस्थाओ के ऊँचे से ऊँचे पद पर अधिष्ठित होते हुये भी कभी अहकार, गर्व, घमड ने आपको स्पर्श नही किया। आपने कभी पदों की लालसा नही की। पद आपके पीछे आते गये। किसी प्रकार की आशा न रखते हुये शास्त्र तथा धर्म की सेवा करना ही आपके जीवन का लक्ष्य रहा है।

आर्ष मार्ग तथा दि० मुनिके प्रबल समर्थक :

आदरणीय महोदय, आपका स्वय का जीवन आर्ष मार्ग की रक्षा तथा प्रभावना करने के लिए समर्पित है। देखने मे आता है कि कनककाचन प्रलोभनो मे आकर जिनवाणी का विकृतीकरण, दि. जैन मुनियो का उपहास, अनेकान्तात्मक जैन तत्त्व का विनाश, पण्डितमन्यो के द्वारा हो रहा है। किन्तु आपने अपनी अविचल निष्ठा को अक्षुण्ण रखा। इतना ही नही इस आर्ष मार्ग की रक्षा करने के लिये आप कृतसकल्प और दृढप्रतिज्ञ हैं।

सरस्वती भक्त :

आप सरस्वती भक्त है। आपने जीवन भर जिनवाणी माता की उपासना की। समस्त ग्रन्थो का मर्म समझकर आपने दि० जैन समाज के चरणो मे अपनी बहुमूल्य कृतियाँ समर्पित कर दी। सर्व प्रथम 'मोक्षमार्ग प्रकाश'' का सरल हिन्दी अनुवाद आपने किया। तत्वार्थसूत्र पर विवेचनात्मक हिन्दी में ग्रन्थ लिखा। 'कुदकुद शोध ग्रन्थ' आपकी एक मौलिक कृति है। इस शोध ग्रन्थ पर आपको बहुमानदर्शक डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी की उपाधि प्राप्त हुयी।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी :

आप अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी हैं। चारो अनुयोगो के शास्त्रो का आगमानुकूल आपने गम्भीर तथा सूक्ष्म अध्ययन किया है। आपका सम्पूर्ण समय अध्ययन, अध्यापन, तत्त्व चिन्तन, मनन मे व्यतीत होता है। आपने सस्कृत साहित्य का भी अध्ययन किया है। आप केन्द्रीय लालबहादुर शास्त्री सस्कृत विद्यापीठ मे सस्कृत साहित्य के रीडर रहे हैं।

कुशल व्याख्याता तथा संपादक :

आप अत्यन्त कुशल प्रवचनकार तथा सम्पादक हैं। जैन गजट, जैन दर्शन आदि जैन वृत्त पत्रो का आपने कुशलता से सम्पादन किया। आपके जैन दर्शन द्वारा दि. जैन समाज को वास्तविकता का परिचय मिलता है। आप निर्भीकता से दि धर्म के नाम पर, दि. जैनाचार्यों का लेबल लगाकर मायाचार करनेवालो का भण्डाफोड करते हैं यह आपका समाज के लिये महान् उपकार है। क्लिष्ट और गम्भीर विषय को भी सुलभ,

सुगम शब्दों में कथन करने की आपकी शैली अत्यन्त प्रभावी है। आपके प्रवचन से आबालवृद्ध मन्त्रमुग्ध होते हैं। अनेको दृष्टान्त, अनेकों उदाहरण बताकर आप श्रोताओं को प्रभावित एवं आकृष्ट करते है।

आपसे सदैव धर्म की महती प्रभावना हो, आपको सदा ही शक्ति और उत्साह प्राप्त हो तथा आप शतायुषी हो ऐसी हम कामना करते हैं।

भवदीय
पंच कमेटी
श्री दि० जैन मांठे मन्दिर
तथा आर्ष प्रेमी दि० जैन समाज, नागपुर
प्रभवतु आर्षमार्गम्।

रविवार
दि० ९-९-७९
वर्धतां जिनशासनम्।

दिगम्बर जैन पंचायत सभा एवं सकल दि० जैन समाज जबलपुर द्वारा पावन पर्यूषण पर्व समारोह पर अभिव्यक्त विचार

सम्माननीय विद्वान्

आपने स्व-पुरुषार्थ से सरस्वती माता का शुभाशीर्वाद प्राप्त किया है। इसीलिए आप साहित्याचार्य, न्याय काव्यतीर्थ, एम ए., डाक्टर ऑफ फिलासफी सदृश मान्य उच्चकोटि की उपाधियो मे समलकृत किए गए है। जैन समाज के विभिन्न क्षेत्रो मे, विभिन्न अवसरो पर आपको विद्वत्-भूषण, पडित-रत्न, व्याख्यान-वाचस्पति सदृश अभिनदनीय सबोधनो से समाहत किया गया है। ये उपलब्धियाँ आपके ज्ञान की गरिमा, चरित्र निष्ठा, और सर्वज्ञ प्रतिपादित तत्त्वदर्शन के प्रति अगाध श्रद्धा की परिचायक है।

समाज के मार्ग दर्शक

एक ओर जब आप स्व-कल्याण मे निरतर जागरूक हैं, तो दूसरी ओर आप श्रद्धालु और ज्ञानपिपासु समाज का सामयिक मार्गदर्शन करते रहते है। 'जैन दर्शन' का सफल सपादन, भारत० दिगबर जैन शास्त्रि परिषद् की मानसेवी अध्यक्षता, लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय विद्यापीठ मे जैनदर्शन विभाग की अध्यक्षता, सस्कृत विद्यापीठ का व्याख्याता पद आदि इसके प्रतीक है। इन सभी सुकार्यों मे आप अत्यन्त निष्पृहता, निडरता, साहस और गभीर विद्वत्ता के आधार पर लगनशील रहते हैं। आर्थिक प्रलोभन आदि आपको इस सन्मार्ग से नही डिगा सके हैं।

सफल लेखक

जिनवाणी का प्रचार-प्रसार करने की पवित्र भावना से प्रेरित हो आपने अनेकानेक ग्रन्थो का लेखन-सम्पादन किया है। इनमे भगवान् कुदकुद का समयसार, जिस पर आपको पी-एच डी से सम्मानित किया गया, मोक्षमार्ग प्रकाश, रामचरित, महावीर दर्शन, महावीर वाणी आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इन सभी ग्रन्थों मे आपकी अविचल श्रद्धा, अगाध ज्ञान और स्व-पर-कल्याण की सद्भावना के दर्शन होते है।

कृतज्ञता ज्ञापन

श्रद्धेय पडित जी, आपने इन दस दिनों मे हम पर जो उपकार किया है उसके लिए हम आपके चिर-ऋणी है। जबलपुर मे आपका यह अल्पकालिक प्रवास हमारे लिए ऐतिहासिक धरोहर बन गया है। किन शब्दो मे हम आपके प्रति अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करे। हमारी तो श्री जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है कि आप दीर्घायु और स्वस्थ हो ताकि सकल समाज को आपका आशीर्वाद और मार्गदर्शन चिरकाल तक प्राप्त हो सके। हमारा निवेदन है कि आप यदाकदा हमारे बीच आने की कृपा करते रहे ताकि ज्ञान-ज्योति, जो आपने प्रज्वलित की है, वह मदी न पडे।

हम हैं आपके
दिगम्बर जैन पंचायत सभा एवं
सकल जैन समाज, जबलपुर

समस्त दिगम्बर जैन समाज चन्देरी, स्याद्वाद शिक्षण परिषद् द्वारा समायोजित समारोह के अवसर पर व्यक्त विचार

महामान्य,

भारतीय विद्वानों की शृंखला मे वर्तमान विद्वत् जगत् के प्रथम श्रेणी के विद्वानो मे आपका यश भारतीय जैन समाज के बीच है यह अपूर्व गौरव की बात है। आज चन्देरी मे ऐसे महान् विद्वान् द्वारा माँ जिनवाणी की अपूर्व महानता तथा प्रभावी प्रवचनो से हम सब कृतकृत्य हुये।

अत हम सब आपके इस महत् उपकार के प्रति कृतज्ञ है।

विद्वत्वर्य,

आपने अपने जीवन के उन क्षणो को धर्म समाज और सस्कृति की रक्षा मे समर्पित कर युग के इतिहास मे अपना नाम चिरस्मरणीय कर दिया। महान् अध्यात्म ग्रन्थों की टीकायें कर, अनेक ग्रन्थो का अनुवाद एव स्वतंत्र लेखन कर तथा जैन गजट, जैन दर्शन, पद्मावती पुरवाल वीतराग वाणी, आदि अनेको पाक्षिक, साप्ताहिक, मासिक पत्रो का बीसो वर्ष तक सम्पादन कर धर्म एव जिनवाणी के भण्डार को तो भरा ही साथ ही समाज को जो अपूर्व धर्म बोध दिया उसे हमारी हजारो पीढियाँ आपके इस महान् कृत्य से अनुप्राणित रहेगी।

जिनागम के महान् अध्येता,

महामना आपने जब भी भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म पर सकट के बादल आये बड़ी निर्भीकता, स्पष्टता, निडरता से गर्जना के साथ जिस एकान्तवाद का खण्डन कर धर्म और सस्कृति की रक्षा करते हुये समाज को उठाये रखा वह भारतीय जैन समाज के इतिहास की अपूर्व एव ऐतिहासिक घटना है। जैन सघ के तत्वावधान मे वहाँ आर्यो से शास्त्रार्थ करके धर्म की ध्वजा फहराई तो अ० भा० शास्त्री परिषद् के द्वारा एकान्तवाद एव विकृतियो के निराकरण मे आपने अपूर्व प्रतिभा का परिचय देकर सस्कृति, समाज और धर्म की रक्षा मे जो योग दिया वह युग के इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे अकित रहेगा। यही कारण है कि २० वर्षों से आप अ० भा० शास्त्री परिषद् के अध्यक्ष पद पर सगौरव पदासीन है।

समाजरत्न,

अ० भा० दि० जैन शास्त्री परिषद् एव अ० भा० स्याद्वाद शिक्षण परिषद् के तत्वावधान में आयोजित आध्यात्मिक शिक्षण प्रशिक्षण एव ध्यान साधना शिविर के इस पुनीत अवसर पर आपने जिनवाणी के सभी प्रसगो पर अपना जो सद्बोध दिया वह अपने आप मे एक अपूर्व घटना है। आपके आगमन की बात सुनकर क्षेत्रवर्ती समाज ने आपकी सद्वाणी का जो लाभ प्राप्त कर हमे व्यक्त किया वह अकथनीय है।

अतः ऐतिहासिक नगरी चन्देरी के साथ प्रान्तीय उपस्थिति अ० भा० शास्त्री परिषद् एवं अ० भा० शिक्षण परिषद् के तत्वावधान मे आयोजित शिक्षण शिविर मे उपस्थित जैन समाज आपको आदर श्रद्धा और सम्मान के साथ अभिनन्दित कर गौरव अनुभव करती है।

अन्त मे हम भगवान् महावीर से प्रार्थना करते है कि आप शतायु होकर इसी प्रकार समाज सस्कृति और धर्म की सेवा मे निरत रहे।

कमल हाथीशाह	कु० कमलसिंह
सयोजक शिविर	सरक्षक शिविर एव
एवं अध्यक्ष स्याद्वाद शिक्षण परिषद्	अध्यक्ष दिगम्बर जैन समाज
शाखा चन्देरी	चन्देरी

दिनांक १-१-८४

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार : एक अध्ययन

● डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी,
अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, स० सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पूर्ण विश्व के आध्यात्मिक साहित्य के क्षेत्र मे आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा लिखित 'समयसार'' अद्वितीय ग्रन्थरत्न है। तीर्थकर महावीर के बाद की जैन आचाय परम्परा मे आचार्य कुन्दकुन्द (ईसा की प्रथम शताब्दि) का महत्वपूर्ण स्थान है। दिगम्बर जैन परम्परा मे आचार्य कुन्दकुन्द ही एकमात्र ऐसे आचार्य हैं जिनके प्राय सभी परवर्ती आचार्यो ने अपने को उनकी सम्पूर्ण विरासत से जोडने मे गौरव माना और उनकी परम्परा तथा ज्ञानगरिमा को एक स्वर से मान्यता दी तथा उन्हे जैनशासन की सर्वोच्च परम्परा मे अपूर्व श्रद्धा के साथ इस प्रकार उल्लिखित किया—

मङ्गल भगवान्वीरो मङ्गल गौतमो गणी।
मङ्गल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्माऽस्तु मङ्गलम् ॥

आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा रचित ग्रन्थो मे चाहे पञ्चास्तिकाय पढें, समयसार या प्रवचनसार पढे उनके द्वारा वस्तुतत्त्व का जो प्रतिपादन किया गया वह अपूर्व ही है। अष्टपाहुड, बारसअणुवेक्खा और भत्ति-सगहो—इन ग्रन्थो के अध्ययन मे ज्ञात है कि इनमे रत्नत्रय, वैराग्य और भक्ति आदि विषयो का प्रतिपादन बेजोड है। समयसार आदि ग्रन्थो मे उन्होने पर से भिन्न तथा स्वकीय गुण-पर्यायो से अभिन्न आत्मा का जो वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होने इन ग्रन्थो मे आध्यात्मिक सुख प्राप्ति की धारारूप जिस अपूर्व मन्दाकिनी को प्रवाहित किया है उसमें अवगाहन कर मुमुक्षु शाश्वत शान्ति की प्राप्ति के योग्य बनते है। तभी तो कविवर वृन्दावन ने कहा है—

जासके मुखारविन्दतें प्रकाश भासवृन्द स्याद्वाद जैन वैन इंद कुन्दकुन्द से,
तासके अभ्यासतै विकास भेद ज्ञात होत मूढ सो लखे नही कुबुद्धि कुन्दकुन्द से।
देत है अशीस शीस नाय इन्द चद जाहि मोह मार खड मारतण्ड कुन्दकुन्द से,
विशुद्धि बुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्ध ऋद्धि सिद्धिदा हुए, न है न होहिगे मुनिद कुन्दकुन्द से ॥

प्रस्तुत लेख के प्रसंग मे 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार' नामक श्रेष्ठ शोध प्रबध मेरे समक्ष हैं। इसके लेखक जैनदर्शन के विश्रुत एव वयोवृद्ध विद्वान् डॉ० लालबहादुर शास्त्री जी है। गहन और दीर्घ अध्ययन, मनन एव चिन्तन की परिणति स्वरूप यह शोध प्रबन्ध विविध विशेषताओ से मण्डित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे आठ अध्याय और उनमे प्रतिपादित विषय इस प्रकार है—प्रथम अध्याय में आचार्य कुन्दकुन्द का परिचय और व्यक्तित्व प्रस्तुत किया गया है। ''कुन्दकुन्द का युग'' शीर्षक के द्वितीय अध्याय मे तत्कालीन अन्यान्य धार्मिक, सास्कृतिक परम्पराओ और उनकी गतिविधियो का सुन्दर विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय मे कुन्दकुन्द का समय विभिन्न प्रमाणो के आधार पर विक्रम की प्रथम शताब्दी मान्य किया गया है। चतुर्थ अध्याय मे कुन्दकुन्द की समस्त रचनाओ का विषय परिचय प्रस्तुत किया गया है। 'समयसार एक अध्ययन' नामक पचम अध्याय मे समयसार की वस्तु विवेचना, उसका मौलिक आधार प्रस्तुत

करते हुए उपनिषद्, गीता, वेदान्त, सांख्य तथा अन्य भारतीय दर्शनों से समयसार का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसी अध्याय मे नय एवं उनका वर्गीकरण तथा समयसार की विभिन्न दृष्टियो से तत्त्व मीमासा प्रस्तुत की गई है। षष्ठ अध्याय में 'समयसार का सामाजिक जीवन पर प्रभाव' दिखाया गया है। सप्तम अध्याय मे ''समयसार के अनुकर्ताओं एवं उनकी कृतियो का विस्तृत परिचय दिया गया है तथा अष्टम अध्याय मे कुन्दकुन्द की रचनाओं के टीकाकारो का विस्तृत परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इस शोध प्रबन्ध में अपने विषय का सांगोपाङ्ग विवेचन दिया गया है।

समयसार पर अनेक टीकाये तथा उन टीकाओ पर भी टीकाये उपलब्ध होती है। इनमे आचार्य अमृतचन्द्र (१०-११वी शती) की आत्मख्याति तथा कलश टीका सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी टीका मे समयसार के भाव तथा अपनी टीका के फलितार्थ पद्यबद्ध करने की दृष्टि से जो पद्य रचे हैं उन्हें 'समयसार कलश' नाम दिया। सचमुच मे अमृतचन्द्र जी के ये पद्य समयसार-रूपी मन्दिर के शिखर पर कलश स्वरूप ही हैं। उन पर आचार्य शुभचन्द्र (१५वी शती) ने परमाध्यात्म-तरंगिणी नामक संस्कृत टीका रची और पाण्डे राजमल्ल (१६वो शती) ने भाषा टीका रची। उसी के आधार पर कविवर बनारसीदास ने समयसार नाटक रचा और इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र के वे पद्य एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप मे प्रवर्तित हुए। वे पद्य इतने मनोरम और भावपूर्ण है कि सस्कृत भाषा का साधारण पाठक भी उनका रसास्वादन कर सकता है।[1] क्योकि आचार्य अमृतचन्द्र ने स्याद्वाद नयो द्वारा मक्षालित प्रमाणज्ञान से श्रुतसागर का मन्थन कर जो अध्यात्मरूपी अमृत प्राप्त किया है, उसे टीका के साथ निबद्ध छन्दो मे भर दिया है इसी से इनका ''अध्यात्मकलश'' नाम सार्थक है। यदि कहा जाय तो समयसार पर अमृतचन्दाचार्य की टीका यदि अध्यात्मरस का सागर है तो छन्द उस रसामृत के कलश (घट) है।[2]

समयसार एव उसकी कलश टीका के आधार पर उपर्युक्त ग्रन्थकारो के अतिरिक्त भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति (१८वी शती) ने संस्कृत टीका लिखी जो कुचामन के दि० जैन अजमेरी मदिर के शास्त्र भण्डार मे है तथा अभी अप्रकाशित है। पं० जयचद्र जी छावडा (१८-१९वी शती के मध्य) ने भी (भाषा वचनिका मे) टीका लिखा। इनके अतिरिक्त बीसवी शती के विद्वानो मे पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी, सहजानन्द वर्णी, पूज्य कानजी स्वामी, सिद्धान्ताचार्य प० जगन्मोहन लाल जी शास्त्री प्रभृति अनेक विद्वानो ने गीता की तरह समयसार पर अपनी व्याख्याएँ एव व्याख्यान प्रस्तुत कर अपनी मनीषा को सफल बनाया है।

डॉ० लालबहादुर शास्त्री ने भी अपने इस शोध ग्रन्थ के माध्यम से अपने को इसी शृंखला मे सम्मिलित कर लिया है।

विद्वान् लेखक ने लिखा है कि इस ग्रन्थ के अन्दर मैंने जितनी गहराई से झाका, मेरे सामने ग्रन्थ का हार्द स्पष्ट होता गया और तब मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार का प्रणयन कर एक अद्भुत और अभूतपूर्व कार्य किया है। यद्यपि दिगम्बर जैन परम्परा में शुद्ध अध्यात्म का वर्णन करने वाले और भी ग्रन्थ हैं, पर कुन्दकुन्द का समयसार उन सब मे प्राणभूत होकर रह रहा है। समयसार पर यह शोधग्रन्थ वस्तुतः मैंने किसी उपाधि-लाभ के लिए नही लिखा पर समयसार के पढने से मुझे जो आत्मतुष्टि हुई और तथ्य को हृदयगम किया उसी का परिणाम यह ग्रन्थ है।[3]

---

१. अध्यात्म अमृतकलश : प्राक्कथन पृ० ९.

२. वही, प्रस्तावना पृष्ठ २२.

३. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार पृ० २२-२४।

आचार्य कुन्दकुन्द ने मगलाचरण में समयसार को कहने की प्रतिज्ञा की है तथा समयसार का उद्भव श्रुतकेवली से बताया है। इस कथन मे उनका अभिप्राय विशेष रहा है। शास्त्रों मे अरहत केवली को अर्थकर्ता तथा गणधर श्रुतकेवली को ग्रन्थकर्ता कहा है। केवली के मुख से सुनने के बाद जब उनकी वाणी को गणधर स्याद्वाद का पुट देखकर उसे ग्रथित करते हैं तब वह श्रुत का रूप लेता है क्योंकि वह सुना हुआ है। अत गणधर श्रुतकेवली की रचना नयप्रधान होती है। चूँकि समयसार एक नय (निश्चय) को प्रधान करके लिखा गया है अत नयप्रधान कथन की प्रामाणिकता श्रुत के आधार पर ही हो सकती है और श्रुत केवली कथित होता है। इसीलिए कुदकुन्द ने भी समयसार को श्रुत केवली कथित बताया है।[1]

साक्षात् गणधर कथित या प्रत्येकबुद्ध कथित सूत्र ग्रन्थो को जिनको केवल मौलिक परम्परा चली आ रही थी, सिद्धान्त ग्रन्थों के नाम पर गृहस्थो को पढने की अनुमति नही थी। श्रुत प्राय. इतना विच्छिन्न और विस्मृत भी हो गया था कि सर्वसाधारण विद्वान् साधुओं को उन विषयो पर लेखनी चलाने का साहस न होता था विशेषत इसलिए कि वे अपनी लिखित रचना की प्रामाणिकता को जनता के हृदय मे बैठाने मे सन्देहशील थे। स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य के सामने भी कुछ अंशो मे यही स्थिति थी लेकिन अपनी इस स्थिति को बडी कुशलता के साथ बचाते हुए जनता को उद्‌बोधन करने के लिए वे आगे बढे। अपने साहित्य को द्विगुणित किया और अपने अनुभव की बाजी लगाकर उन्होने पचास्तिकाय, समयसार तथा प्रवचनसार की रचना की।

पंचास्तिकाय मे सम्यग्दर्शन के विषयभूत अस्तिकाय द्रव्यो का वर्णन है। समयसार मे सम्यग्ज्ञान के आधारभूत स्वद्रव्य-परद्रव्य का विवेचन है और प्रवचनसार मे सम्यक्चारित्र की व्याख्या है। इस प्रकार तीनो ही ग्रन्थो मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आवश्यक विस्तार के साथ सुसम्बद्ध विवेचन कर उन्होने साक्षात् मोक्षमार्ग को मुमुक्षु जनों के लिये प्रदर्शित किया। यह उनकी ऐसी विशेषता थी जिसके सामने सभी नतमस्तक हुए। श्रोता और पाठको की बुद्धि मे संशय विमोह आदि का अवकाश न रहा। भगवान् महावीर और गौतम गणधर के बाद यह पहला ही अवसर था, जब ज्ञानाभ्यासियो को तत्त्वचिंतन की एक व्यवस्थित दिशा मिली। मोक्षमार्ग का स्पर्श करने वाली मूल-मान्यताओं पर असदिग्ध विवेचन मिला तब मत-भेद के स्थान पर मतव्य के कुछ पैर जमे। यही कारण है कि दिगम्बर जैन परम्परा में भगवान् महावीर और गौतम गणधर के बाद आचार्य कुन्दकुन्द का नाम ही बडे आदर के साथ लिया जाता है। उनकी परम्परा मे उनके नामोल्लेख को गौरव की वस्तु समझा जाता है। कुन्दकुन्द की ये रचनाये उनके बाद भी शताब्दियो तक जन-जन को प्रेरणा देती रही हैं और आज भी उनका आकर्षण कम नही है।

यद्यपि श्रुत-विच्छेद के बाद और कुन्दकुन्द से पहले केवल श्रुत रक्षा के लिए प्रयत्न तो होते रहे किन्तु मान्यताओ के आधार पर जो मतभेद उत्पन्न हो गये थे उन पर साधिकार लिखने का प्रयत्न किसी ने नही किया। यह कार्य आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ऊपर लिया। अतः युग प्रतिष्ठापक होने का श्रेय कुन्दकुन्द को स्वाभाविक था। फलत उस समय और बाद की परम्परा ने कुन्दकुन्द को वह स्थान दिया जो अन्य आचार्यों को नही मिला। इस प्रकार युगप्रतिष्ठापक होने के कारण कुन्दकुन्द की महत्ता का बढ जाना स्वाभाविक है। अतः बाद के आचार्यों ने उन्हे बडी श्रद्धा और भक्ति के साथ स्मरण किया है। कुन्दकुन्द के मूलसंघ का नामान्तर ही कुन्दकुन्दान्वय हो गया था।[2]

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार, पृ० २२.

२. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार : प्रस्तावना पृ० २२.

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रतिपाद्य विषयो में मौलिकता है। अनेक विषय और चर्चायें ऐसी हैं, जिन्हें उनकी लेखनी से ही पहली बार प्रस्तुत देखो गई है। उन्होंने एकत्व विभक्त आत्मा का वर्णन जिस मौलिकता को लेकर किया वह दिगम्बर-श्वेताम्बर वाङ्मय मे कही नही है। उन्होंने स्पष्ट कहा है:—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥—समयसार, गाथा ४।

अर्थात् काम और भोग की बध कथा को सभी लोग सुनते है, सभी उससे परिचित हैं और सभी को वह अनुभूत है किन्तु एक और पृथक् आत्मा की प्राप्ति इसे कभी सुलभ नही हुई। अतः—

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्व ॥—समयसार, गाथा ५।

अर्थात् मैं अपने निज विभव-(अनुभव) ज्ञान की सामर्थ्य से उम दुर्लभ एकत्व विभक्त आत्मा का दर्शन कराता हूँ। यदि दर्शन करा सकूँ तो अगीकार करना, यदि चूक जाऊं मेरा छल ग्रहण नही करना—यह कह कर उन्होने यह सिद्ध कर दिया कि आत्मा के वर्णन के सम्बन्ध मे उनके ज्ञान और अनुभव का सारा भण्डार लग चुका है। यही कारण है कि उनके आत्मा सम्बन्धी अनुभव पढकर 'यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' वाली कहावत चरितार्थ होती है।

लेखक ने तुलनात्मक रूप में लिखा है कि कुन्दकुन्द ने आत्मा के अकर्तृत्व की जो व्याख्या की है वह न सांख्य के पुरुष से मेल खाती है न नैष्कर्म्य से प्रसिद्ध है, न कर्म करने के लिए तीसरी शक्ति की ओर देखती हैं, न अकारणवाद को प्रोत्साहन देती है। वह उनकी अपनी मौलिक व्याख्या है और आध्यात्मिक क्षेत्र मे एक अद्भुत देन है। कुन्दकुन्द के पहले हमें ये बातें कही देखने को नही मिलती। गीता मे जिस अनासक्ति कर्मयोग की व्याख्या की गई है वह युद्ध-विरत अर्जुन के लिए तात्कालिक समाधान है। कुन्दकुन्द का अकर्तृत्व तो आसक्ति-अनासक्ति की अपेक्षा ही नही रखता।[1]

समयसार की वस्तु विवेचना के संबंध में पंचम अध्याय मे बताया है कि सम्पूर्ण समयसार मे शुद्ध नय दृष्टि से शुद्ध आत्मा के दिग्दर्शन का प्रयत्न किया है। आत्मा और परपदार्थ मे जो एकत्व की भ्रान्ति होती है उसका एक कारण पर-पदार्थों के साथ आत्मा के षट्-कारक का प्रयोग भी है। आचार्य ने इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए "कर्त्ताकर्म" अधिकार मे यह सिद्ध किया है कि आत्मा का परद्रव्य के साथ कोई कर्त्ता कर्म अथवा अन्य कारक रूप से बंध नही है। सक्षेप मे यो समझना चाहिए कि प्रथम अधिकार मे सामान्य तथा जीव-अजीव का पार्थक्य बताया है, दूसरे मे परपदार्थ के साथ कर्तृकर्म सम्बन्ध का निषेध, तीसरे में पुण्य पाप का आत्मा से पार्थक्य, चौथे से आठवे तक के अधिकार मे क्रमश: आस्रव, संवर, निर्जरा, बध और मोक्ष का निवेचन है तथा नवें अधिकार मे जीव की सर्वविशुद्धता का वर्णन किया है।[2]

समयसार शब्द की व्युत्पत्ति के अन्तर्गत 'समय' शब्द के 'समस्त पदार्थ' और आत्मा—ये दो अर्थ हैं। 'सम्—एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छति'—इस निरुक्ति के अनुसार समय शब्द का अर्थ समस्त पदार्थों में घटित होता है क्योंकि सभी पदार्थ अपने-अपने ही गुण पर्यायो को प्राप्त है। तथा 'सम्'—एकत्वेन युगपत् अयते गच्छति, जानाति, इस दूसरी निरुक्ति केअनुसार समय शब्द का अर्थ आत्मा होता है क्योकि आत्म-पदार्थ ही जानने वाला है और उसका स्वभाव सर्व पदार्थों का एकत्वरूप अर्थात् केवल उसका सत्तात्मक बोध एक

१. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार : पृ० ४१।
२. वही पृ० १६६।

साथ जानने का है। वस्तुत: आत्मा सब पदार्थों मे सारभूत है जिसका प्रतिपादन इस ग्रन्थ में होने से यह ग्रन्थ 'समयसार' नाम से विख्यात है। क्योंकि यह आत्मतत्त्व को विवेचना का अनुपम ग्रन्थ है। किन्तु मूल ग्रन्थ में 'समयसार' नाम का उल्लेख नहीं है अपितु 'समयपाहुड' नाम ही मिलता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इस ग्रन्थ की व्याख्या प्रारम्भ करते हुए अपने आत्मा की परम विशुद्ध की कामना करते हुए कहा है—नमः समयसाराय '। इस आधार पर परवर्ती टीकाकारो ने ग्रन्थ का नाम समयसार समझ लिया और उसे इसी रूप में प्रचलित किया।

इस ग्रन्थ मे आत्मा और कर्मों को अनादि बन्ध पर्याय के लक्ष्य से नव पदार्थों की भेदरूप प्रतीति होती है।

वस्तुत जैनागम मे जो सात तत्त्व माने हैं उनमें मूल में दो ही तत्त्व हैं—एक जीव दूसरा अजीव। इन दोनों तत्त्वो के संयोग से आस्रव, बन्ध सँवर, निर्जरा और मोक्ष—इन पाँच तत्त्वों का सृजन हुआ है। अत अजीव सयोग से जीव की ही पाँच अवस्था विशेष है। समयसार मे इन सात तत्त्वों के आधार पर आत्म तत्त्व की खोज की गई है। क्योकि कुन्दकुन्द प्रारम्भ मे ही प्रतिज्ञा कर चुके है कि मैं एक और विभक्त आत्मा को दर्शाऊँगा। इन सात तत्त्वो के साथ पुण्य और पाप मिलाकर दो पदार्थों की रचना की गई है।[1] लोक मे शुभ कर्म को पुण्य तथा अशुभ कर्म को पाप कहा जाता है। पुण्य को सब लोग अपनाना चाहते हैं और पाप को बुरा कहते है। समयसारकार कहते हैं कि पुण्य-पाप मे लौकिक दृष्टि से अन्तर भले ही हो किन्तु मुमुक्षु के लिए दोनो समान है। कर्म का कार्य ससार मे प्रवेश कराना है तब पाप-कर्म हो या पुण्य-कर्म। संसार में प्रवेश जब दोनो ही कराते है तब पाप की तरह पुण्य कर्म भी अशुभ ही है। ससार भ्रमण अपने आप मे अशुभ है तब उसका साधन पुण्य शुभ कैसे कहा जा सकता है। बन्धन सोने की बेडी से या लोहे की बेडी से किया गया हो किन्तु जहाँ तक बन्धन का प्रश्न है दोनो ही समान हैं। एक को अच्छा या दूसरे को बुरा नही कहा जा सकता। क्योकि परतन्त्रता दोनो का कार्य है जो मनुष्य को अभीष्ट नही है। उसी प्रकार मुमुक्षु को जब ससार अभीष्ट नही है तब ससार के कारण पुण्य-पाप दोनो समान है। इसलिए दोनो ही प्रकार के कर्मों से इस जीव को संसर्ग नही करना चाहिए।[2]

विद्वान् लेखक ने परस्पर उदाहरणो द्वारा उपनिषद्, गीता, वेदान्त, साख्य तथा अन्यान्य भारतीय दर्शनो के साथ समयसार का युक्तिसगत तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। वेदान्त के साथ सयमसार की तुलना करते हुए लिखा है कि कुछ कि कल्पना है कि कुन्दकुन्द ने समयसार को वेदान्त के साँचे मे ढाला है पर वस्तुत बात ऐसी नही है। कुन्दकुन्द के अध्यात्मवाद मे और वेदान्त में मौलिक मतभेद है। वर्णन शैली वेदान्त की व्याख्यात्मक शैली के अनुरूप लगती हो पर इससे वेदान्त समयसार का मौलिक आधार नही कह जा सकता।[3] वेदान्त का ब्रह्म और समयसार का शुद्धात्मा सिद्धान्त परस्पर भिन्न होने पर भी व्याख्या और वर्णन शैली से इतने निकट हो गये है कि उनमे आपाततः कोई भेद दिखाई नही पडता। ब्रह्म को जो कुछ विशेषण है समयसार मे उन सभी का प्रयोग किया गया है। समयसार और वेदान्त में मौलिक मतभेद तो यही से प्रारम्भ हो जाता है कि ससार की जड-चेतना जितनी भी वस्तुएँ दिखाई दे रही हैं वे सब ब्रह्म रूप ही हैं। इन सब वस्तुओ का ब्रह्म ही उपदान कारण है। जो इन्हें ब्रह्म से पृथक् समझता है वह अज्ञानी है। इसके

१. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार, प० १६६।
२. वही पृ० १५८।
३. वही पृ० १६९।

विपरीत समयसार की मान्यता है कि संसार में आत्मा के अतिरिक्त अन्य जितने भी पदार्थ हैं वे उसी प्रकार अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं जैसे आत्मा स्वय अपनी रखता है। आत्मा के अतिरिक्त वे सभी सत्तात्मक पदार्थ जड़ हैं और आत्मा ही केवल चेतन है। इस तरह वेदान्त जहाँ ब्रह्म की अद्वैतता स्वीकार कर अभेदवाद को प्रोत्साहन देता है वहाँ समयसार ब्रह्म और जगत् की द्वैतता को स्वीकार कर भेदभाव को प्रोत्साहन देता है। वेदान्त भेद से अभेद की ओर और समयसार अभेद से भेद की ओर ले जाता है।

इस प्रकार दोनों की मान्यताओं और सैद्धान्तिक तथ्यों मे अन्तर होते हुए भी समयसार और वेदान्त की आध्यात्मिक व्याख्याओ और चर्चाओं मे विशेष अन्तर नही मालूम पड़ता। ऐसा प्रतीत होता है कि इन संस्कृतियों का कभी मूल उद्गम एक रहा होगा किन्तु जैसे-जैसे सूत्र, भाष्य, वार्तिक, टीका आदि व्याख्याओं के माध्यम से विभिन्न आचार्यो द्वारा इन्हे पल्लवित और पुष्पित किया गया वैसे-वैसे उन मूल मान्यताओं मे अन्तर आता गया। इस विषय के अन्त मे लेखक ने लिखा है कि इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखने को है। यहाँ केवल समयसार और वेदान्त के सम्बन्ध में एक दृष्टि दी गई है जो विद्वानो को विचारणीय है।[1]

निश्चय तथा व्यवहार नय के विवेचन प्रसग मे लेखक को मान्यता है कि अपने कथम मे सतुलन रखने के लिए आचार्य कुंदकुद ने व्यवहार नय का भी उपयोग किया है और व्यवहार नय के कथन को जिनेन्द्र प्रतिपादित कहकर उसकी प्रामाणिकता की ओर सकेत किया है।[2] इसलिए व्यवहार नय और निश्चय नय वस्तुओं को दो पहलुओ से समझने के लिए सकेत है। उनमे से एक सत्य और दूसरे को मिथ्या नही कहा जा सकता। क्योकि दोनो वस्तु-स्वरूप को समझने मे सहायता करते है। फिर भी दोनो का विषय एक नही है। समयसार की टीकाओ मे लिखा है कि स्वाश्रित कथन को निश्चय तथा पराश्रित कथन को व्यवहार कहते हैं अथवा गुण-गुणी का भेद न कर अखड वस्तु को जानना निश्चय है तथा अखण्ड वस्तु मे खण्ड कल्पना या भेद करना व्यवहार है। नयो के सामान्य विवेचन मे किसी भी नय को कही भी अप्रमाण या असत्य नही कहा है। ये ही नय जब परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा को छोड देते है तब मिथ्या या असत्य बन जाते है और जब सापेक्ष रहते है तब सम्यक् या सत्य बन जाते है। इस दृष्टि से यदि देखे तो व्यवहार और निश्चय नय दोनों एक दूसरे से निरपेक्ष रहने पर मिथ्या है और सापेक्ष रहने पर दोनो ही सम्यक् है।[3]

इस तरह विद्वान् लेखक ने समयसार ग्रन्थ का पूरा आलोडन किया है और पूरी ईमानदारी से उसका विवेचन प्रस्तुत किया है। आगे के अध्यायो मे लेखक ने समयसार को तत्त्वमीमासा, समयसार के दार्शनिक तत्त्व, समयसार का सामाजिक जीवन पर प्रभाव आदि विषयो का अच्छा प्रतिपादन किया है। बाद मे समयसार के स्वाध्यायी परवर्ती जिन आचार्यों, विद्वानो एवं पंडितो ने अपनी कृतियो मे समयसार का अनुकरण किया है। उनका तथा उनकी कृतियो का परिचय दिया गया है। अन्तिम अध्याय मे कुदकुद की रचनाओ के टीकाकारो एवं उनकी टीकाओ की विवेचना की गई है।

इस शोध प्रबन्ध के उपसंहार मे लिखा है कि कुन्दकुन्द का समयसार सभी युगो मे अपना एक सा प्रभाव रखता आया है। अतः आज इस भौतिकवाद के युग मे भी इसका आकर्षण कम नही है।[4] जैन वाङ्मय

१. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार, पृ० १९७।

२. समयसार गाथा ४६।

३. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार, पृ० २१५-२१६।

४. वही पृ० २२-२३, २४।

में यह एक ही शास्त्र है जो अध्यात्मवाद की उत्कृष्ट दार्शनिक रचना है और अपने आप मे बेजोड़ है। बाद के आचार्य इससे प्रभावित हुए हैं अतः उन्होने अध्यात्म की जो कुछ रचना की है उन सब में किसी न किसी प्रकार से कुन्दकुन्द के भावो को अपनाया गया है। इन अनुसरण करने वालो में आचार्य पूज्यपाद, गुणभद्र, योगेन्दु आदि अनेक समर्थ विद्वान् हुए हैं।[1]

इस प्रकार 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार' नामक यह शोध प्रबन्ध अनुसन्धान के क्षेत्र में एक अनुकरणीय उदाहरण है। वस्तुत समयसार आचार्य कुन्दकुन्द की विशिष्ट आध्यात्मिक एव साहित्यिक चेतना का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार है। आध्यात्मिक चेतना के विकास मे यह महान् ग्रन्थराज न केवल जैन वाङ्मय में अपितु विश्व वाङ्मय का अद्वितीय रत्न है। और यह भी सत्य है कि जो ऐसे महान् आचार्य और उनकी कृतियो पर ईमानदारी से गहन अध्ययन-अनुसधान करना चाहे उसे अनेक प्रकार की दीर्घ साधना की गहराई में जाना होगा, तभी आचार्य कुन्दकुन्द के समीप पहुँच सकेगा।

वस्तुत आचार्य कुन्दकुन्द का व्यक्तित्व और कर्तृत्व इतना विशाल है कि इस दिशा मे विविध दृष्टिकोणो से अनुसधान की अपेक्षा है। इनके सबध मे अनुसंधान तथा अध्ययन का जितना कार्य आगे बढ़ेगा आचार्य कुन्दकुन्द का व्यक्तित्व और कर्तृत्व जनमानस को उतना ही प्रभावित करेगा तथा सम्पूर्ण आध्यात्मिक क्रान्ति के क्षेत्र मे आचार्य कुन्दकुन्द की पहचान अद्वितीय एव अनोखे युगपुरुष के रूप में अलग बनती रहेगी। किन्तु आवश्यकता है कि हम सभी आगे आकर इस कार्य में अपने को समर्पित करे।

---

१ आचार्य कुंदकुद और उनका समयसार, पृ० ३३४।

मौलिक सृजन

सैद्धान्तिक · दार्शनिक · धार्मिक

समयसार पर एक दृष्टि

कुन्दकुन्द और उनका समयसार शीर्षक ग्रंथ आज से लगभग पच्चीस वर्ष पहले मैंने लिखा था। अपनी छात्र अवस्था में समयसार ग्रंथ को कभी अन्दर से देखने का मुझे अवसर ही प्राप्त नही हुआ था। कभी किसी लायब्रेरी मे काम की पुस्तके खोजते समय मुझे समयसार के भी ऊपर से दर्शन हो जाते थे। और मै उसे निरर्थक-सा ग्रंथ समझकर कभी पढने की इच्छा भी नही करता था। शायद कभी खोलकर देखा भी हो तो आधी सी गाथा पढकर उसे रख देता था। सन् १९४६ मे जैन समाज मे समयसार की आध्यात्मिक चर्चा को लेकर जहाँ-तहाँ अखबारो मे लेख प्रकाशित होने लगे। पण्डित होने के नाते कही-कही शंका-समाधान के अवसर भी आ जाते थे। ऐसी स्थिति मे समयसार का पढना आवश्यक सा हो गया। उन दिनो मैं सभवत: बनारस मे था और जयधवला सपादन कार्यालय मे काम करता था। समयसार को कही से ढूँढकर अपने घर पर पढने ले गया। पहली गाथा मे ही मैंने देखा कि समयसार के मंगलाचरण मे समयसार को श्रुतकेवली कथित बताया है।[1] मैं हैरान था कि सभी ग्रथों मे आचार्यों ने अपने ग्रन्थ की परम्परा सर्वज्ञ से जोडी है, और कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्य उसे श्रुतकेवली कथित बताते है। बहुत सोचने के बाद भी मै अपने आप में उलझा ही रहा, मन को कोई समाधान नही मिला। आगे चलकर श्रुतकेवली की व्याख्या देखी तो वह भी अजीब सी प्रतीत हुई। लिखा था जो श्रुत के द्वारा आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है। इन तरह-तरह की उलझनो को लेकर मैंने समयसार पढना प्रारम्भ किया। उसे पढते-पढते ऐसी उलझने समाप्त सी होने लगी और निष्कर्ष पर पहुँचा कि कुन्दकुन्द जिस पद्धति से जो कुछ कहना चाहते है वह सुसबद्ध तर्कपूर्ण और वास्तविकता को लेकर है। सारे ग्रन्थ मे आचार्य कुन्दकुन्द का एक ही लक्ष्य रहा है कि पाठको को किस प्रकार एक और पृथक् (विभक्त) आत्मा को दिखाया जाय। अन्य दर्शनो ने भी एक आत्मा की चर्चा की है पर एक होकर भी वहाँ आत्मा के पार्थक्य का अभाव है। वेदान्त आत्मा को एक और अद्वैत ही मानता है, अद्वैत का अर्थ है ससार मे दूसरी कुछ वस्तु नही है। जब दूसरी वस्तु कोई है ही नही तब आत्मा को पृथक् मानने की कोई गुजायश नही रहती। दो भिन्न वस्तुओ के रहते हुए ही पार्थक्य सभव है। अद्वैत का प्रयोग भी बिना द्वैत को माने हुए नही हो सकता। इसलिए कुन्दकुन्द जहाँ आत्मा को एक कहते वहाँ दूसरे भिन्न पदार्थों की भी सत्ता मानते है अत. उससे पृथक् बताने के लिए उन्होने एक और विभक्त आत्मा को बताने की प्रतिज्ञा की है।[2]

एक का अर्थ भी कुन्दकुन्द के लिए वैशेषिक की तरह एक नित्य सर्वगत एक आत्मा से नही है किन्तु वह अपने नियत प्रदेशो मे रहती है। ज्ञानदर्शन ही उसका अपना स्वरूप है। उसके साथ दूसरा कुछ भी नही है। अमृतचन्द्र ने अपने कलश श्लोको मे लिखा है कि "निर्विकल्पदशा मे जब आत्मा अपना अनुभव करती है तब वहाँ द्वैत नाम की कोई वस्तु नही रहती।"

१. वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
बोच्छामि समयपाहुणमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥

२. तं एयत्त विहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।

इस तरह आत्मा को एक और विभक्त बताने के लिए अभेद दृष्टि को सामने रखकर कुन्दकुन्द ने आत्मा का वर्णन किया है। अनेकांत के अनुसार वस्तु मे भेद दृष्टि है पर कुन्दकुन्द उसे गौण रखना चाहते हैं। इसका अर्थ यह नही है कि उन्हें भेद दृष्टि मान्य नही है। यदि ऐसा होता तो कुन्दकुन्द अपनी अन्य रचनाओ में भेद दृष्टि को प्रधानता न देते। यह भेद दृष्टि ही व्यवहार नय है। इसलिए कुन्दकुन्द जहाँ गुणस्थान, मार्गणा, लेश्या, कषायस्थान, संयमस्थान आदि अध्यवसानों का निषेध करते हैं वहीं वे आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का भी निषेध करते हैं। वे कहते हैं :—

"णवि णाण ण चरित्तं ण दसण जाणयोशुद्धो।"

अर्थात् आत्मा[1] मे न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है वह तो एक शुद्ध ज्ञायक है।

यहाँ सोचने की बात यह है कि यदि ज्ञान दर्शन चारित्र किसमे नही है आत्मा तो मे है अथवा किस कर्म के उदय से है। इसका सीधा उत्तर यह है कि जब हम आत्मा मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र बताते हैं तब आधार आधेय की कल्पना मे ऐसा कहते हैं। आधार आधेय भाव दो वस्तुओं मे होते हैं। जैसे घडे में पानी है। यहाँ घडा पृथक् वस्तु है और पानी पृथक् वस्तु है। इसी प्रकार जब आत्मा मे हम ज्ञान दर्शन चारित्र की बात करते है तब इसका अर्थ यह होता है कि आत्मा पृथक् वस्तु है और ज्ञानदर्शनादि पृथक् वस्तु हैं। जबकि ये घड़े और जल की तरह पृथक् वस्तुएँ नही हैं। किन्तु ज्ञान-दर्शन-चारित्र का पिण्ड ही आत्मा है और आत्मा ही ज्ञानदर्शनचारित्र है। अत· आत्मा मे ज्ञानदर्शन बतलाना भेद दृष्टि है। कुन्दकुन्द इस भेद दृष्टि को अर्थात् व्यवहार दृष्टि को गौण रखना चाहते हैं इसलिये इसका निषेध करते हैं। भेद दृष्टि को अभूतार्थ और अभेद दृष्टि को भूतार्थ कहने का भी कुन्दकुन्द का यही प्रयोजन है। जब वे आत्मा को एक विभक्त बताना चाहते हैं तब अभेद दृष्टि ही उनके लिए भूतार्थ हो सकती है। जब जिस व्यक्ति के लिए एक दृष्टि भूतार्थ या प्रधान है तब उसी व्यक्ति के लिए उससे विपरीत दृष्टि अभूतार्थ या अप्रधान है। रसोई घर मे घी का घडा माँगना ही भूतार्थ है मिट्टी का घडा माँगना अभूतार्थ है। इसके विपरीत कुम्हार के यहाँ मिट्टी का घडा माँगना ही भूतार्थ है घी का घडा माँगना अभूतार्थ है। भेद और अभेद दृष्टि दोनो एक दूसरे के विपरीत हैं अत एक जीव को एक ही दृष्टि एक समय मे प्रयोजनभूत या भूतार्थ हो सकती है। समयसार मे आ० कुन्दकुन्द को एक और विभक्त आत्मा को बताने के लिए अभेद दृष्टि ही प्रयोजनभूत है। अत· वह उनके लिए भूतार्थ है। जो लोग भूतार्थ का अर्थ सत्य और अभूतार्थ का अर्थ असत्य करते हैं वे ग्रथ के हार्द को बिना समझे ही ऐसा करते हैं। कम से कम कुन्दकुन्द की दृष्टि मे तो भूतार्थ अभूतार्थ आ अर्थ सत्य और असत्य नही है। उसके लिए एक तर्क तो यह है कि यदि कुन्दकुन्द को उक्त दोनो अर्थ स्वीकृत होते तो भूतार्थ अभूतार्थशब्दो का प्रयोग न कर वे सत्यार्थ और असत्यार्थ शब्दो का ही सीधा प्रयोग करते। अभीष्ट और स्पष्टार्थ बताने वाले शब्दो का प्रयोग न कर अन्य शब्दो का प्रयोग करना आ० कुन्दकुन्द जैसे युग प्रधान पुरुष से आशा नही की जा सकती। हाँ कदाचित् छन्दशास्त्र के अनुसार स्पष्ट अर्थ वाले शब्दो का प्रयोग किसी प्रकार न हो सकता हो तो कवि पर्यायवाची शब्दो का भी प्रयोग करता है। पर हम देखते हैं कि कुन्दकुन्द की भूतार्थ अभूतार्थ वाली गाथा मे सत्यार्थ असत्यार्थ शब्द भी ज्यो के त्यो जुड जाते हैं। यहाँ दोनों गाथाओ को तुलनात्मक दृष्टि से पाठकों के विचारार्थ देते हैं —कुन्दकुन्द की मूल गाथा निम्न प्रकार है—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

---

१. 'अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव'।

यह गाथा इस प्रकार भी बन सकती थी—

ववहारोऽसच्चत्थो सच्चत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
सच्चत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ।।

इस दूसरी गाथा में कुन्दकुन्द का असत्यार्थ रूप अभिप्राय और भी सरलता तथा स्पष्टता से प्रकट हो सकता था और आ० कुन्दकुन्द को इसमें छन्द को लेकर भी कोई कठिनाई नही थी । फिर भी उन्होंने भूयत्थो और अभूयत्थो शब्दों का प्रयोग प्रधान और अप्रधान दृष्टि को रखकर ठीक किया है ।

दूसरे अभी यह कहना भी सन्दिग्ध है कि आचार्य कुन्दकुन्द का अभिप्राय इस गाथा द्वारा व्यवहार को अभूतार्थ और निश्चय को भूतार्थ बताना है । क्योंकि इन गाथाओ को तात्पर्यवृत्ति टीका के कर्त्ता आचार्य जयसेन ने उक्त गाथा का इस प्रकार अर्थ किया है :—

"व्यवहारनय भूतार्थ और अभूतार्थ है तथा शुद्धनय भी भूतार्थ और अभूतार्थ है । इनमे जो भूतार्थ का आश्रय लेता है वह सम्यग्दृष्टि है ।"

अत: इस अर्थ के द्वारा कुन्दकुन्द व्यवहार को भूतार्थ भी कहना चाहते हैं और निश्चयनय को अभूतार्थ भी कहना चाहते हैं ।

उनका अभिप्राय आगे की गाथाओ से भी सिद्ध होता है । वे लिखते हैं—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णं पावं च ।
आसवसवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ।।

—समयसार गाथा १३

अर्थ—भूतार्थ रूप से जाने हुए जीव अजीव पुण्य-पाप आस्रव संवर निर्जरा बन्ध मोक्ष को सम्यक्त्व कहते हैं । अर्थात् व्यवहार भूतार्थनय से जीवाजीवादि पदार्थों को जानना सम्यग्दर्शन है ।

इसमे स्पष्ट नव जीवादि तत्त्वों को मूल रूप से जानने की अपील की गई है । प्रश्न यह है कि जब भूतार्थ नय अर्थात् निश्चय नय से आस्रव बध सवर निर्जरा कुछ है हो नही तब इन्हे भूतार्थ नय से जानने की बात क्यो कही गई है । क्योकि आत्मा मे बध अबध की बातें मात्र व्यवहार नय से हैं और व्यवहार नय अभूतार्थ है तो इन्हें भूतार्थ नय से जानने की बात क्यो कही गई है । इससे सिद्ध होता है कि व्यवहार नय भी भूतार्थ है । यहाँ हम अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका के कुछ उद्धरण देगे जिससे यह सिद्ध हो कि व्यवहार नय भी कथंचित् भूतार्थ है ।

"यथा खलु विसनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेण अनुभूयमानताया सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमपि एकान्तत. सलिलास्पृश्य विसनोपत्रस्वभाव उपेत्य अनुभूयमानताया अभूतार्थम् तथा आत्मन: अनादिबद्धस्पृष्टत्वपर्यायेण अनुभूयमानताया बद्धस्पृष्टत्व भूतार्थं अपि एकान्तत: पुद्गलास्पृश्यं आत्मस्वभाव उपेत्य अनुभूयमानताया अभूतार्थम् ।

यथा च मृत्तिकाया करककरीरकर्करीकपालादि पर्यायेण अनुभूयमानताया अन्यत्व भूतार्थं अपि सर्वत: अपि अस्खलंतं एक मृत्तिका स्वभाव उपेत्य अनुभूयमानताया अभूतार्थं । तथाहि आत्मन: नारकादिपर्यायेण अनुभूयमानताया अन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वत अपि अस्खलन्त एक आत्मस्वभाव उपेत्य अनुभूयमानतायां अभूतार्थम् ।"

अर्थ—जैसे जल में निमग्न कमलिनी पत्र की जल से स्पृष्ट पर्याय भूतार्थ है तो भी सर्वथा जल से स्पर्श न होने योग्य उसके स्वभाव का अनुभव किया जाय तो वह अभूतार्थ है ।

इसी प्रकार आत्मा की अनादिकालीन बद्धस्पृष्ट पर्याय को लेकर आत्मा का अनुभव किया जाय तो वह भूतार्थ है तो भी सर्वथा पुद्गल से स्पर्श न होने योग्य आत्मस्वभाव का अनुभव करने पर वह अभूतार्थ है।

अथवा जैसे मिट्टी की स्यास कोश कुशूल घट आदि आकृति रूप पर्यायो का अनुभव किया जाय तो मिट्टी से भिन्नपना उन पर्यायो का भूतार्थ है फिर भी मिट्टी के एक नित्य स्वभाव (मृत्तिका रूप) का अनुभव करने पर उनका भिन्नपना अभूतार्थ है। उसी प्रकार आत्मा का नारकादि पर्यायो से अनुभव किया जाय तो उनका भिन्नत्व भूतार्थ है किन्तु सर्वथा न च्युत होने वाले एक आत्मस्वभाव को लेकर अनुभव किया जाय तो वह सब अभूतार्थ है।

उक्त दृष्टान्तो से यह स्पष्ट है कि द्रव्य की पर्यायो को प्रधान करके देखा जाय तो वे सब पर्यायें भूतार्थ है जो व्यवहार नय का विषय है और यदि उन पर्यायों को अप्रधानता कर द्रव्य स्वभाव की अपेक्षा से विचार किया जाय तो वे पर्याये अभूतार्थ है जो निश्चय नय का विषय है। ऐसी स्थिति मे व्यवहार नय भी कथचिद् भूतार्थ है। ऊपर जो दो दृष्टान्त दिए हैं उनमे दो द्रव्यो की स्पृष्ट पर्याय को भी भूतार्थ माना है और एक ही द्रव्य की नाना पर्यायो को भी भूतार्थ माना है। पहला उदाहरण दो द्रव्यो (बिसनी पत्र और जल) का है। दूसरा उदाहरण एक ही द्रव्य (मिट्टी) का है। लेकिन द्रव्य स्वभाव की दृष्टि से उक्त पर्यायें अभूतार्थ हो जाती है।

सार यह है कि दृष्टि भेद से ही हम किसी को भूतार्थ या अभूतार्थ कह सकते है, सर्वथा नही। व्यवहार और निश्चय दोनो का परस्पर विरुद्ध विषय है अत व्यवहार नय जब निश्चय नय से प्रतिषिद्ध होता है तब अभूतार्थ है जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वय कहा है :

एव ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावति णिव्वाण ।।२७२।।

इस तरह निश्चय नय के द्वारा व्यवहार प्रतिषिद्ध है। उस निश्चय नय के विषय भूत विज्ञानघन निज आत्म स्वभाव मे लीन होकर मुनि निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

लेकिन जब व्यवहार दृष्टि प्रधान होती है तो उस समय निश्चय दृष्टि भी प्रतिसिद्ध समझना चाहिए। नय तो वस्तु के अश है पूर्ण वस्तु नही है। यदि व्यवहार-नय वस्तु के किसी एक अश को बताता है तो निश्चय नय भी वस्तु के एक ही अश को बताने वाला है। व्यवहार भेदाश का ग्रहण करता है और निश्चय अभेदाश को ग्रहण करता है। किन्तु वस्तु भेदाभेदात्मक है।

वास्तव मे तो दोनो ही नय वस्तु के साथ पक्षपात है। वस्तु को समझने के लिये दोनो नयो का पक्षपात आवश्यक है। समझने के बाद वस्तु का आनन्द लेने के लिए किसी भी पक्षपात की आवश्यकता नही है। आ० कुन्दकुन्द इसी तथ्य को इस प्रकार प्रकट करते है।

जीवे कम्म बद्ध पुट्ठ चेदि ववहारणयभणिद।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठ हवइ कम्म ।।१४१।।
कम्म बद्धमबद्ध जीवे एव तु जाण णयपक्ख।
पक्खातिक्कतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ।।१४२।।
दोण्हवि णयाण भणिय जाणइ णवर तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ।।१४३।।

अर्थ—व्यवहार नय कहता है कि जीव में कर्म बद्ध और स्पृष्ट है, शुद्ध नय कहता है कि जीव के कर्म बद्ध स्पृष्ट नही है। तथ्य यह है—कर्म जीव मे बद्ध है या अबद्ध है, यह दोनो ही नय पक्ष हैं। समयसार तो इन दोनों ही पक्षो से रहित है। इसलिए समय से प्रतिबद्ध आत्मा दोनो ही नयो के कथन को जानता है पर किसी भी नय पक्ष को वहाँ ग्रहण नही करता क्योंकि वह स्वय नय पक्ष से रहित है।

उक्त तीन गाथाओ में व्यवहार नय और निश्चय नय दोनो को पक्षपात लिखकर एक ही कोटि में रखा है। ऐसा नहीं है कि व्यवहार नय तो पक्षपात है और निश्चय नय वास्तविक है। इस कथन से भी यही प्रमाणित होता है कि अपने विषय के प्रतिपादन मे सापेक्षता को लेकर दोनो ही नय भूतार्थ हैं और निरपेक्ष दशा में दोनो ही अभूतार्थ हैं।

इन गाथाओं पर आचार्य अमृतचन्द्र ने अनेक कलशो की रचना की है। उदाहरण के लिए उनमे से हम यहाँ एक कलश देते हैं :

> एकस्य बद्धो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
> यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥७०॥

एक नय कहता है आत्मा कर्मों से बद्ध है, दूसरा नय कहता है आत्मा कर्मों से बद्ध नही है। ये दोनों ही चैतन्य रूप आत्मा में पक्षपात हैं। जो तत्त्वज्ञानी हैं और पक्षपात से शून्य हैं उनके लिये आत्मा चिद् सामान्य वस्तु है।

ऊपर के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि निश्चय सर्वथा भूतार्थ-सत्यार्थ होता तो आचार्य उसे पक्षपात न कहते। किन्तु व्यवहार की तरह जब वे निश्चय को भी पक्षपात कहते हैं तब उनकी दृष्टि मे दोनों नय समान हो जाते हैं। अत सबका निष्कर्ष यह है कि अभेद दृष्टि मे भेद दृष्टि प्रतिषिद्ध रहती है अतः वह अभूतार्थ हो जाती और भेद दृष्टि मे अभेद दृष्टि प्रतिषिद्ध हो जाती अत वह भी अभूतार्थ है। समयसार में कुन्दकुन्द की दृष्टि एक और पृथक् आत्मा को दिखाना है अतः वे द्रव्यकर्म और नोकर्म से बिल्कुल अलग अपने आप में एक ज्ञान दर्शन स्वरूप से अपृथक् आत्मा को देखना ही भूतार्थ बताते है। इसलिये वे आत्मा में सभी प्रकार के अध्यवसानो का निषेध करते हैं। अध्यवसानो का ही नही बल्कि आत्मा के साथ अभिन्नता रखने वाले सहज ज्ञान दर्शन का भी निषेध करते है। इससे कोई ज्ञानदर्शन को भी अभूतार्थ असत्य समझने लगे तो यह समझने वाले की बुद्धि का ही दोष हो सकता है, आचार्य कुन्दकुन्द का नही। उक्त २७२ वी गाथा मे यह भी लिखा है कि "निश्चय नय का आश्रय लेकर मुनि निर्वाण प्राप्त करते हैं" उसका भी मतलब यही है कि जब तक मुनि उस अभेद अर्थात् निर्विकल्प दशा मे नही पहुँचेगा तब तक वह मुक्त नही हो सकता लेकिन जब इस निर्विकल्प दशा तक पहुँचने के लिए उसे भेद अर्थात् विकल्प दिशा को प्राप्त करना ही होगा। अपने इसी अभिप्राय को उन्होने गाथा ७२ मे निम्न प्रकार प्रकट किया है।

> "सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परभावदरिसीहिं।
> ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ॥१२॥

जो परमभाव को देखने वाले हैं उन्हें शुद्ध तत्त्व का उपदेश करने वाला शुद्ध नय ग्रहण करना चाहिये और जो अपरम भाव मे स्थित नहीं हैं उन्हें व्यवहार का उपदेश ही कार्यकारी है।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने कथन को बडी ही संतुलित दृष्टि से प्रतिपादित किया है। व्यवहार दृष्टि का निषेध नही किया किन्तु उसे गौण रखा है यदि व्यवहार दृष्टि का निषेध किया होता तो

कुन्दकुन्द के विशेष व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्र दोनो नयो को न छोड़ने की बात न कहते जैसा कि गाथा १२ में उनके निम्न श्लोक से प्रकट है—

जइ जिणमयं पवज्जह तो मा ववहार णिच्छए मुयह ।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण उण तच्चं ।।

यदि जिनेन्द्र भगवान् के मत मे दीक्षित होना चाहते तो व्यवहार और निश्चय को मत छोडो क्योंकि व्यवहार नय के परित्याग से तीर्थ प्रवृत्ति नष्ट हो जायगी और निश्चय नय के परित्याग के तत्त्व का स्वरूप नष्ट हो जायेगा ।

आचार्य अमृतचन्द्र की स्थिति आचार्य कुन्दकुन्द की छाया के समान है । कुन्दकुन्द जो कुछ कहना चाहते है अमतचन्द्र आचार्य उसको कलश श्लोको मे बिल्कुल स्पष्ट कर देते हैं ।

आचार्य कुन्दकुन्द को सन्तुलित दृष्टि

यह सही है कि विभक्त और अपने आप मे अद्वैत आत्मा का वर्णन करने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय दृष्टि को प्रधान रखा है । पर व्यवहार दृष्टि को उन्होने भुलाया नही है । प्रत्युत बीच-बीच मे वे विषय को समझाने के लिए व्यवहार दृष्टि का भी सकेत करते गये हैं । यहाँ हम कुछ उदाहरण देंगे जिनसे पाठक यह समझ सकेगे कि कुन्दकुन्द अपने कथन के लिए सदा सापेक्ष रहे हैं निरपेक्ष नही ।

गाथा नं ६ मे कुन्दकुन्द कहते है कि यह आत्मा न प्रमत्त है न अप्रमत्त है शुद्ध ज्ञायक है । यहाँ तक कि आत्मा मे ज्ञान दर्शन चारित्र भी नही है । किन्तु आगे सातवी गाथा मे कहते है आत्मा मे ज्ञान दर्शन चारित्र व्यवहार नय से है । निश्चय से न ज्ञान है न दर्शन है । गाथा न० ८ मे लिखते है कि बिना व्यवहार के परमार्थ का उपदेश नही है ।

गाथा न० ९-१० मे कहा है जो श्रुत मे आत्मा को जाने वह परमार्थ से श्रुतकेवली है । जो समस्त श्रुत को जाने वह (व्यवहार से) श्रुतकेवली है । १२ वी गाथा मे लिखा है परमभाव मे जो स्थित है उनको शुद्ध नय का उपदेश है । और जो अपरम भाव मे स्थित है उनको व्यवहार का उपदेश है ।

इसी गाथा के अन्तर्गत अमृतचन्द्र आचार्य ने दो कलश श्लोक दिये है जिनका आशय है "यदि जिनेन्द्र के मत में दीक्षित होना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनो को मत छोडो । व्यवहार के बिना तीर्थ नष्ट हो जायगा और निश्चय के बिना तत्त्व नष्ट हो जायेगा ।"

"दोनो नयो के विरोध को दूर करने वाले स्याद्वाद से अंकित जिनेन्द्र भगवान् के वचनो में जो रमण करते हैं वे शीघ्र ही उस समयसार ज्योति को देखते हैं जो सनातन है और किसी नय पक्ष से क्षुण्ण नही है ।"

गाथा १४ लेकर पुन शुद्ध नय को प्रधानता से कथन है और लिखा है "कर्म नो कर्म (शरीर) आदि सबसे पृथक् यह आत्मा है । किन्तु गाथा न० २७ मे व्यवहार का समर्थन करते हुए लिखते हैं कि व्यवहार नय की अपेक्षा जीव और शरीर एक है किन्तु निश्चय नय से वे कभी एक नही हैं ।

इसके बाद आचार्य ने अध्यवसान आदि भावो को पुद्गल बताया है किन्तु गाथा ४६ मे वे पुनः व्यवहार दृष्टि देते हुये लिखते है भगवान् जिनेन्द्र ने अध्यवसानादि भावो को व्यवहार दृष्टि से जीव के भाव बतलाये हैं । और आगे की गाथाओ मे दृष्टात देकर अपने कथन का दृढीकरण किया है ।

पुन गाथा ५० से ५५ तक वर्ण, रस, गन्ध, राग-द्वेष, उदयस्थान, योगस्थान, गुणस्थान, मार्गणा आदि

का जीव में निषेध किया है। परन्तु ५६वी गाथा मे लिखते हैं कि वर्ण आदि से लेकर गुणस्थान पर्यंत भावै व्यवहार नय से है। निश्चय नय से नही है। ६०वीं गाथा मे भी इसी अभिप्राय को पुन. दुहराया है।

कर्तृकर्म अधिकार मे आत्मा के परद्रव्य के कर्तृत्व का निषेध किया है किन्तु ८४ वी गाथा में लिखा है व्यवहार नय की दृष्टि से आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल आदि कर्मो को करता है। और उन्ही कर्मों का वेदन करता है। अर्थात् भोक्ता है।

आगे चलकर पुन: वे अकर्तृत्व का प्रतिपादन करते है। और भाव्य भावक ज्ञेय ज्ञायक भाव का विश्लेषण करते हुए लिखते है व्यवहार नय से आत्मा घट, पट, रथ आदि द्रव्यो को करता है। स्पर्शन आदि पच इन्द्रियो को करता है ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का तथा क्रोधादि भावकर्मो को करता है।

इस तरह व्यवहार दृष्टि देकर पुन. निश्चय दृष्टि पर आ जाते है। और कहते है कि जीव न घट बनाता है न पट बनाता है न अन्य शेष द्रव्यो को करता है। जीव के योग उपयोग हो उक्त वस्तुओ को बनाते है लेकिन पुनः व्यवहार दृष्टि की ओर सकेत करते हुए कहते है—

आत्मा पुद्गल द्रव्य को व्यवहार नय से उत्पन्न करता है, बनाता है, परिणमाता है, ग्रहण करता है।

इस तरह दोनो नयो का यथास्थान संकेत देते हुए आचार्य कुन्दकुन्द शिष्य के द्वारा प्रश्न उठाते है तब आत्मा कर्मों से बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट है इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति समझाइये इसका उत्तर कुन्दकुन्द निम्न प्रकार देते है —

हमने जो यह कहा है कि व्यवहार नय से जीव कर्म से बद्धस्पृष्ट है और शुद्धनय मे बद्धस्पृष्ट नही है। इसका तात्पर्य यह है कि जीव में कर्मों की बद्धस्पृष्टता या अबद्धस्पृष्टता मे दोनो ही नय पक्षपात है। समयसार (शुद्धात्मा) तो इन दोनों पक्षो से रहित है।

आचार्य अमृतचन्द्र जी ने इसी गाथा को अपने कलश श्लोक मे इस प्रकार स्पष्ट किया है।

"य एवमुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृत पिबन्ति" ॥६९॥

जो नयो के पक्षपात को छोडकर अपने आत्म स्वरूप में लीन रहते है वे सभी विकल्प जालों से रहित शात चित्त होकर साक्षात् अमृत पान करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इस कलश के बाद अपने कथन के समर्थन मे २० कलशो की रचना की है। जिनमें नित्य अनित्य मूढ अमूढ एक अनेक आदि परस्पर विरोधी धर्मों के प्रतिपादित व्यवहार और निश्चय को पक्षपात बतलाया है और लिखा है जो तत्त्वज्ञानी है वह इन दोनो पक्षपातो से रहित होकर चित् सामान्य को ही ग्रहण करता है।

आचार्य कुन्दकुन्द की मूलगाथाओं मे यह विषय प्रतिपादित है जैसे:—

दोण्हवि णयाण भणिय जाणइ णवरि तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

शुद्ध आत्म स्वरूप मे लीन रहने वाला पुरुष दोनों नय के विषय को जानता है पर दोनो नयो के पक्ष को ग्रहण नहीं करता क्योंकि वह नयपक्ष से रहित है।

आगे की गाथा मे इसी का पुन: समर्थन किया है और कहा है कि समयसार दोनों पक्षपातो से रहित है।

इस तरह उक्त दोनो आचार्यो ने निश्चय और व्यवहार को समान कोटि में ला दिया है। यदि व्यवहार नय एक पक्ष है तो निश्चय नय भी वैसा ही दूसरा पक्ष है। आत्म स्वरूप मे लीन होने के लिए दोनो पक्षों की आवश्यकता नही है किन्तु वस्तु को समझने तक ही दोनो नयो के पक्षपात की आवश्यकता होती है।

कर्तृकर्म अधिकार मे जहाँ यह लिखा है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता नही है वही आगे चलकर परद्रव्य का कर्ता भी मानते हैं। वे लिखते है सम्यक्त्व को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है उसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि होता है। गा० १६१ बन्धाधिकार मे वे लिखते है कि ज्ञानी पुरुष स्वय रागादि रूप परिणमन नही करता किन्तु पर के निमित्त से वह रागादि रूप परिणमन करता है, जैसे स्फटिक मणि जपा पुष्प आदि से लाल होती है स्वयं लाल नही होती।

मोक्षाधिकार गाथा ३०६ मे लिखा है प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार धारण निवृत्ति निंदा गर्हा और शुद्धि यह आठ प्रकार विष कुम्भ है, किन्तु सर्वविशुद्ध अधिकार मे लिखा है 'पूर्वकृत अनेक प्रकार के जो शुभ-अशुभ कर्म है उनसे अपने आप को निवृत्त करना प्रतिक्रमण है।' आचार्य अमृतचन्द्र इससे भी आगे बढकर लिखते है। जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कैसे हो सकता है इसलिये यह जीव प्रमाद से नीचे नीचे क्यो गिरता है। प्रमाद रहित लेकर ऊपर क्यो नही चढता। इसी सर्वविशुद्ध-अधिकार मे एक ओर तो कुन्दकुन्द मुनिलिंग और गृहीलिंग दोनो को मोक्ष मार्ग होने का निषेध करते है और दूसरी ओर लिखते हैं कि व्यवहार नय से दोनो लिंग मोक्षमार्ग है किन्तु निश्चय नय सभी लिंगो को मोक्ष-मार्ग में नही चाहता इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य कुन्दकुन्द और उनके प्रमुख टीकाकार अमृतचन्द्र निश्चय प्रधान कथन का सहारा लेते हुए भी अपनी सतुलित दृष्टि को नही छोडते।

यही कारण है कि निश्चय का व्याख्यान करते हुए भी व्यवहार दृष्टि को भी कहना चाहते है। आचार्य अमृतचन्द्र ने तो अपनी इस सतुलित दृष्टि के लिये स्याद्वाद अधिकार मे उपाय और उपेय भाव का चिन्तन किया है। जिसमे उपाय को व्यवहार और निश्चय को उपेय माना है। अर्थात् दोनो मे साधन साध्य भाव माना है। व्यवहार को भेद रत्नत्रय कह कर उसे अभेद रत्नत्रय निश्चय का साधन माना है और अभेद रत्नत्रय को साध्य माना है। यह अधिकार उन्हे एकान्त के विरोध मे स्याद्वाद के लिए लिखना पडा है।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द ने मङ्गलाचरण मे समयसार को कहने को प्रतिज्ञा की है। और समयसार का उद्भव श्रुतकेवली से बताया है। यद्यपि टीकाकारो ने श्रुतकेवली का अर्थ श्रुत और केवली दोनो के द्वारा कहा हुआ भी बतलाया है। पर वस्तुत कुन्दकुन्द का समयसार को श्रुतकेवली कथित कहने से अभिप्राय विशेष रहा है। शास्त्रो मे केवली अरिहत का अर्थकर्ता बताया है और गणधर श्रुतकेवली को ग्रन्थकर्ता बताया है। इसका सीधा अर्थ यह है कि केवली मात्र वस्तु का प्ररूपण करते है। किंतु गणधर उसमे स्याद्वाद का पुट देकर उसे श्रुत का रूप देते है। श्रुत शब्द का अर्थ ही 'सुना हुआ' है। चूँकि गणधर इसे केवली तीर्थङ्कर के मुख से सुनते है और सुनने के बाद जब उसे ग्रथित करते है वह श्रुत का रूप ले लेता है क्योंकि वह सुना हुआ है। अतः गणधर श्रुत केवली की रचना नयप्रधान होती है। जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्र के "उभयनयायत्ता हि पारमेश्वरी देशना" इस वाक्य से स्पष्ट है, अर्थात् परमेश्वर द्वारा उपदिष्ट श्रुत व्यवहार और निश्चय दोनो नयो को लेकर होता है। चूँकि प्रस्तुत ग्रन्थ समयसार किसी एक को प्रधान करके लिखा

१. अथ स्याद्वाद शुद्धयर्थ वस्तुतत्त्वव्यवस्थिति।
उपायोपेयभावश्च मनाक् भूयोऽपि चिन्त्यते ॥२४७॥

जा रहा है अतः नय प्रधान कथन की प्रामाणिकता श्रुत के आधार पर ही हो सकती है और श्रुत केवली कथित होता है। इसलिये कुन्दकुन्द भी समयसार को श्रुतकेवली कथित बताते हैं। शास्त्रों में केवली के ज्ञान को प्रमाण-ज्ञान बताया है क्योंकि वह यथार्थ की अनन्त गुण पर्यायों को युगपत् देखता है किन्तु क्रमिक ज्ञान स्याद्वाद से संस्कृत होकर ही प्रमाणभूत होता है। इस तरह हम देखते हैं कि आ० कुन्दकुन्द ने समयसार की परम्परा को जो श्रुत केवली से जोड़ा है वह विशेष अभिप्राय से खाली नहीं है।

इस प्रकार ग्रन्थ के अन्दर मैंने जितनी गहराई से झाका मेरे सामने ग्रन्थ का हार्द स्पष्ट होता गया। और तब मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार का प्रणयन कर एक अद्भुत और अभूत-पूर्व काम किया है।

यद्यपि दिगम्बर जैन परम्परा में और भी शुद्ध अध्यात्म का वर्णन करने वाले ग्रन्थ हैं। पर कुन्दकुन्द का समयसार उन सबमें प्राणभूत होकर रह रहा है। आचार्य पूज्यपाद का समाधिशतक या समाधितन्त्र अध्यात्म का अनूठा ग्रन्थ है पर वह समयसार के बाद की रचना है और समयसार के अध्ययन से प्रेरित होकर ही लिखा गया है।

आज से चालीस वर्ष पहले समयसार के पढ़ने वाले बहुत कम थे फिर भी समयसार का अध्ययन कम अधिक रूप से समाज मे सदा ही प्रचलित रहा है। यदि ऐसा न होता तो उस पर आ० अमृतचन्द्र, आ० जयसेन, पं० बनारसीदास, पं० राजमल, पं० जयचन्द जी छाबड़ा आदि की टीकाएँ न होती। आज के युग मे भी कारंजा के स्व० भट्टारकजी, पू० गणेशप्रसाद वर्णी आदि सतो ने समयसार का अच्छा अध्ययन किया था। आज यद्यपि समयसार के पढ़ने वाले बहुत है पर वस्तुतः वे प्रायः समयसार की पुस्तक को बगल में दबाकर चलने वाले हैं। उन्हे न पद पदार्थ का ज्ञान है न चारों अनुयोगो का यथावत् और सापेक्ष ज्ञान है। ऐसे व्यक्तियों के लिए समयसार अपने आप मे विष है। स्वय अमृतचन्द्र आचाय ने भी ऐसे व्यक्तियो को लक्ष्य मे लेकर लिखा है.—

अत्यतनिशितधार दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाण मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्॥

जिनेन्द्र भगवान् का नय रूपी चक्र, अत्यत तेज धार वाला है, अज्ञानी पुरुषो के हाथ में पड जाने से वह उन्ही का गला काटता है—दूसरे का नही। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आज से ४०० वर्ष पूर्व प० बनारसीदास जी की यही दशा हुई थी। उनके साथी प० रूपचद पाडे आदि ने उन्हे बोध दृष्टि दी। वे अपनी स्थिति को समझने लगे कि जहाँ मैं खडा हूँ वह अध्यात्म नही है। अपनी इस वेदना को उन्होने निम्न शब्दो में प्रकट किया है—

करनी कौ रस मिट गयौ मिलौ न आतमस्वाद।
भई बनारसि की दशा जथा ऊँट को पाद॥

अर्थात् समयसार पढकर मैंने पूजापाठ आदि सब क्रियाकाड छोड दिया अतः उसका आनन्द तो जाता ही रहा किन्तु जिसके लिये छोड़ा वह आत्मा का स्वाद भी नही मिला। इसलिए मुझ बनारसी की दशा ऊँट के पाद (न जमीन पर न आसमान मे) जैसी हो गई।

समयसार पढ़कर भ्रष्ट होने वाले अर्थात् एकाकी निर्णय करने वालो को पं० बनारसीदास जी की इस घटना से कुछ शिक्षा लेनी चाहिए।

निरपेक्ष नय दृष्टि विष है चतुर वैद्य तो उस विष को रसायन आदि के प्रयोग से अमृत बना लेता है । पर अनाड़ी वैद्य तो उसे खाकर मृत्यु को ही प्राप्त होता है ।

यही कारण है कि आज समयसार का आधार लेकर कुछ जैन बन्धुओ ने एकान्त मिथ्यात्व को पकड़ लिया है और मनमाने तरीके से वे जैन सिद्धान्त की व्याख्या करने लगे हैं । इसी आधार पर वे कहते है कि जड़ शरीर की क्रिया से कोई धर्म नही होता । इस पर हमारा कहना यह है कि यदि जड शरीर से धर्म नही होता तो जड शरीर से फिर अधर्म भी नही होता । ऐसी स्थिति मे कोई समयसार का सहारा लेकर अपने को सम्यग्दृष्टि भेद विज्ञानी मानता हुआ व्यभिचार आदि कुकर्म भी कर सकता है क्योंकि उसके लिये ये व्यभिचार आदि कुकर्म की क्रियायें सब जड शरीर की ही तो क्रियायें है । अत' यह समयसार का दुरुपयोग ही हुआ और उससे अपना ही गला काटा अर्थात् अपना ही अहित किया । इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि हम समयसार का अध्ययन करते समय स्याद्वाद दृष्टि को न भूलें । आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी स्याद्वाद की आधार तुला पर समयसार ग्रन्थ की रचना की है ।

समयसार और वेदान्त

भारतीय दर्शनों में वेदान्त का प्रमुख स्थान है। और जैन दर्शन के अतिरिक्त यही एक दर्शन ऐसा है जिसने एकमात्र आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध मे खोज की है। अन्य दर्शनो ने केवल भौतिक जगत् की छानबीन की है और आत्मा को अन्य द्रव्यों की तरह एक चेतन द्रव्य मानकर छोड दिया है। उसके सम्बन्ध में आगे उन्होंने कुछ नही कहा। जहाँ तक परमात्मा का सम्बन्ध है उसका सम्पूर्ण विश्लेषण उसके जगन्निर्माण को आधार बनाकर ही किया है। वह स्वयं अपने आप मे क्या है और उसका क्या रूप है इस विषय में अन्य दर्शन मौन हैं। जैन दर्शन ने जहाँ भौतिक जगत् की छानबीन की है वहाँ उसने आत्मा और परमात्मा के ऊपर भी अपने निर्णयात्मक और विस्तृत विचार दिये हैं। समयसार उन्ही विस्तृत विचारो मे से एक है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि समयसार और वेदान्त पर कुछ तुलनात्मक दृष्टि डाली जाय और उनके मौलिक मतभेदो की चर्चा की जाय।

वेदान्त का महावाक्य है 'तत्त्वमसि' इसका अर्थ है वह तू है। यहाँ 'वह' से अभिप्राय परीक्षा तथ सर्वज्ञत्वादिगुण विशिष्ट चैतन्य से है और 'तू' से अभिप्राय प्रत्यक्ष एव अल्पज्ञत्व आदि गुण विशिष्ट चैतन्य से है। अर्थात् जो ईश्वर है वह तू है। इस महावाक्य से शुद्ध चैतन्य तथा अज्ञानोपहत चैतन्य मे एकरूपता स्थापित की गई और इस प्रकार जीव को ब्रह्म का अंश ही माना है। जीव की तरह अन्य सम्पूर्ण चराचर जगत् भी ब्रह्म से पृथक् नही है। अतः यह सब जो कुछ दिखाई दे रहा है वह माया का प्रपच है वस्तुत कुछ नही है। इसलिए आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म ही एक सत्य है जैसा कि लिखा है ''ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या'' लोक में जिस प्रकार भ्रान्तिवश रस्सी मे सर्प का आभास होने लगता है किन्तु भ्रान्ति मिटने पर रस्सी ही सामने रह जाती है उसी प्रकार जब मिथ्या जगत् की प्रतीति का आभास मिट जाता है तो एक ब्रह्म की ही सत्ता प्रतीत होने लगती है। इस ब्रह्म मे मिल जाना ही इस अज्ञानोपहत चैतन्य (जीव) का अन्तिम लक्ष्य है। जैसे एक दीप की ज्योति दूसरी ज्योति मे मिलकर एकाकार हो जाती है वैसे ही यह जीव भी ब्रह्म में मिलकर एकाकार हो जाता है। यही आत्मा की शुद्ध स्वानुभूति है।

वेदान्त की यह उक्त मान्यता जैन दर्शन से सर्वथा भिन्न नही है। 'तत्त्वमसि' की तरह जैन दर्शन मे 'सोऽहं' की भावनाओ को प्रमुखता दी गई है। और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक माना गया है कि प्रत्येक जीव अपने-आपको परमात्मस्वरूप ही देखे। जीव और परमात्मा मे व्यक्ति भेद होने पर भी दोनों में जाति भेद नही है, आकार भेद होने पर भी स्वरूप भेद नही है। 'सोऽहं' का अर्थ है जो परमात्मा का स्वरूप है वही मेरा है। अज्ञान और आवरण की अपेक्षा यह भेद दिखाई दे रहा है वस्तुतः दोनो का एक ही स्वरूप है जैन ग्रन्थो में लिखा है—जो जीव को परमात्मा और परमात्मा को जीव समझे वह समभाव मे स्थित होकर शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेता है—

''जो जीवा जिणवर मुणइ जिणवर जीव मुणेइ।
सो समभाव परिट्ठिया लहु णिव्वाणु लहेइ॥''—प० प्र०॥

समयसार मे शुद्ध चिन्मात्र को पहचानने के लिये ही जोर दिया है। यह शुद्ध चित् ही परब्रह्म परमात्मा है। प्रत्येक ससारी आत्मा (स्वरूप दृष्टि से शुद्ध-चित् है अत परमात्म स्वरूप ही है। पर मिथ्यादर्शन के प्रभाव से अपने इस स्वरूप का भान नही है अतः यह अपने को अल्पज्ञ अल्प शक्तिमान अल्प द्रष्टा एवं दु.खी माने हुए है। समयसार मे इसी भ्रांति को दूर किया गया है। समयसार के सफल टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र स्वरूप दृष्टि से अपने को शुद्ध चिन्मात्र ही मानते है और उसकी अनुभूति की निर्मलता पाने के लिये कामना करते है। वे अपनी टीका के मगल प्रसग मे लिखते हैं—

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषिताया ।
मम परम विशुद्धि शुद्ध चिन्मात्रमूर्तेभर्वतु समयसार व्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

पर परणति का कारण जो मोह उसके प्रभाव से कषाय कलुषित किन्तु स्वरूपतः शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप मुझ आत्मा का समयसार की व्याख्या से स्वानुभूति की परम विशुद्धता प्राप्त होवे।

जैन शास्त्रो मे काय एव इन्द्रियो को लेकर जीवो के अनेक भेद किये हैं[1]। समयसार निश्चय दृष्टि (द्रव्य दृष्टि) की प्रधानता से उन सब भेदो का निराकरण करता है। और उस भेदवाद का कारण पुद्गल को बतलाकर उनसे भिन्न शुद्ध आत्मा का प्रतिपादन करता है—

"एक्क च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पच इंदिया जीवा।
बादर पज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥—समयसार ६५।
एदेहिं य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमइहिं ताहिं कह भण्णदे जीवो ॥"

एक, दो, तीन, चार, पाँच इन्द्रिय तथा बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त जीव ये सब नाम कर्म की प्रकृतियाँ है जो कारणभूत है। इन्ही के द्वारा जीव समास (जीवो के भेद) की रचना की गई है। ये सब पुद्गल (जड) मयी हैं अत इनको जीव (आत्मा) कैसे कहा जा सकता है।

इस पर आचार्य अमृतचन्द्र व्याख्या करते हुए लिखते है—

"वर्णादिसामग्र्यमिद विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोस्त्विद पुद्गल एव नात्मा यत स विज्ञानघनस्ततोऽन्य ॥
घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुभो घृतमयो न चेत्।
जीवो, वर्णादिमज्जीव जल्पनेऽपि न तन्मय ॥

वर्ण से लेकर गुणस्थान तक जितने भी जीव के भेद है वह सब पुद्गल द्रव्य का निर्माण है इसलिये यह सब पुद्गल ही है आत्मा नही हैं। चैतन्य घन आत्मा तो पृथक् ही है।

जिस प्रकार घी का घडा कहने पर घडा घृतमय नही होता उसी प्रकार जीव को वर्णादि मान कहने पर जीव भी वर्णादिमय नही होता। यहाँ अमृतचद्राचार्य ने जीव की सभी औपाधिक दशाओ को पौद्गलिक प्रकृति का कार्य बतलाया है और आत्मा को स्वभावत शुद्ध और उससे भिन्न माना है। आचार्य कुन्दकुन्द उक्त गाथा के आगे इसी बात को पुनः लिखते है—

---

१. फासरसगंधरूवे, सद्दे णाण च चिण्हय जेसिं।
इगिबितिचदुपंचिदिय जीवा णियभेयभिण्णा ओ ॥—गो० जो० गा० १६६ ॥
जिन जीवो को बाह्य इन्द्रियो के द्वारा स्पर्श रस, गध, रूप, एव शब्द ज्ञान हो वे क्रमशः एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय कहलाते है।

'मोहण कम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥—स० सा० ६८।

जीव के जिन गुणस्थान रूप अन्तरंग भावों को मोह के उदयपूर्वक बतलाया है वे भाव जीव कैसे हो सकते हैं, वे तो नित्य अचेतन हैं।

इसकी व्याख्या में कलश लिखते हुए अमृतचन्द्र कहते हैं :—

"रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिरियं च जीव." ।

राग, द्वेष, मोह पौद्गलिक विकार हैं। इनसे विपरीत यह जीव शुद्ध चैतन्य धातुमय है।

जैन शास्त्रों में समस्त श्रुत के पारगामी को श्रुत केवली कहा है। परन्तु समयसार में श्रुत केवली की व्याख्या इस प्रकार की है —

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोकप्पईवयरा ॥९॥

जो श्रुत के द्वारा केवल शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है उसी को लोक के प्रकाशक ऋषियो ने श्रुतकेवली कहा है। आत्मा को एक और शुद्ध अनुभव करने के लिये आचार्य कुन्दकुन्द निम्न प्रकार उल्लेख करते हैं :—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदा रूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥३८॥

मैं एक, शुद्ध हूँ। ज्ञान दर्शन मय हूँ, अन्य परमाणुमात्र भी मुझमे कुछ नहीं है। इस प्रकार समयसार में मात्र शुद्ध आत्मा के अनुभव की प्रेरणा की गई है और बताया गया है कि प्रत्येक आत्मा शुद्ध सिद्ध परमात्मा की तरह ही सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा और अनंत शक्तिमान है। द्रव्य दृष्टि से आत्मा और परमात्मा मे कोई अन्तर नही हैं। केवल पर्याय दृष्टि से उनमे भेद है। जब यह जीव पर्याय दृष्टि को गौण कर द्रव्य-दृष्टि से अपनी ओर देखता है तो वह अपने को परमात्मा स्वरूप ही अनुभव करता है। यह अनुभव ही इसकी सोऽहं दशा है। इसी अनुभव रूप अभ्यास के बल पर यह कालान्तर में परमात्मा बन जाता है। अतः वेदान्त का 'तत्त्वमसि' और जैनो का 'सोऽहं' दोनों एक ही अभिप्राय और एक ही उद्देश्य को सिद्ध करते हैं।

वेदान्त में ब्रह्म को एक, अद्वैत एवं आदि अन्त रहित माना है। समयसार में भी शुद्ध आत्मा के लिए भिन्न-भिन्न स्थानो पर इन विशेषणो का उपयोग किया गया है। अमृतचन्द्र आचार्य एक स्थल पर आत्मा के दर्शन की बात इस प्रकार लिखते हैं :—

'एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मन , पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं, तन्मुक्त्वा नवतत्त्व संततिमिमामात्मायमेकोस्तु नः ॥
—स. सा. कलश ६ ॥

निश्चय दृष्टि से जो एक हैं, व्याप्त है और पूर्ण ज्ञान घन है ऐसा आत्मा को अन्य द्रव्यो से पृथक् देखना सम्यग्दर्शन है और यह आत्मा उस सम्यग्दर्शन स्वरूप ही है। इसलिये नवतत्त्वो (जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप) की परम्परा को छोडकर हम केवल एक आत्मा को ही चाहते हैं।

उक्त श्लोक मे 'एकत्वे नियतस्य' और 'व्याप्तु' ये दो विशेषण आत्मा के ठीक वैसे ही हैं जैसे वेदान्त में माने गये है। अन्तर केवल इतना ही है कि वेदान्त ने जहाँ इन्हे सर्वथा माना है वहाँ समयसार में

नय विवक्षा से इन्हें अंगीकार किया है आत्मा भले ही व्यक्तिश. भिन्न-भिन्न हो पर स्वरूप की दृष्टि से वे सब एक ही है। इस दृष्टि से चींटी या हाथी की आत्मा मे, शूद्र या ब्राह्मण की आत्मा मे, कीट पतगों या मनुष्य की आत्मा में कोई अन्तर नही है। यह एक ही आत्मा आवरण से आच्छादित होकर विश्व में अनेक रूप धारण करती रहती है। हमे मूर्तिमान् जो कुछ भी दिखाई दे रहा है वह मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट पतंगादि है या पथ्वी, अप तेज, वायु और वनस्पति इनसे भिन्न कुछ भी नही है। ये सभी वस्तुएँ त्रस अथवा स्थावर जीवो की पर्यायें हैं। सारा चराचर जगत् इन्ही से भरा पडा है। इस दृष्टि से आत्मा की व्यापकता भी सिद्ध होती है। दूसरी दृष्टि यह है कि शुद्ध आत्मा स्वभावतः सर्वज्ञ है। जो सर्वज्ञ होता है वह सभी देश और सभी काल की बात का जानता है। जब वह सबको जानता है तब वह सर्वत्र ही रहता है ऐसा लोक मे माना जाता है। सबके हृदय घट का बात जानता है अत. घट-घट व्यापी कहा जाता है। यो ज्ञान की अपेक्षा भी वह सर्वत्र व्याप्त है। तीसरी दृष्टि सम्पूर्ण लोक के बराबर इस आत्मा के प्रदेश हैं और केवलिसमुद्घात अवस्था मे यह सर्वत्र लोक मे व्याप्त हो जाता है अतः आत्मा व्यापक है। अभिप्राय यह है कि विवक्षा कुछ भी रही हो पर समयसार मे भी आत्मा को एक और व्यापक कहा गया है।

आत्मा की अद्वैतता के विषय मे समयसार के टीकाकार इस प्रकार उल्लेख करते है :—

'उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाण क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।

किमपरमदिध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन् अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥—स० म० क० ९ ॥

आत्मा का अनुभव करते समय नय, प्रमाण, निक्षेप की तो बात ही क्या है वहाँ द्वैत का भी प्रतिभास नही होता।

इसका स्पष्ट अर्थ है कि जब यह आत्मा स्वरूपानुभव करता है तब यह एक अद्वैत का ही अनुभव करता है।

वेदान्त में भी 'अहं ब्रह्मास्मि' जब यह अनुभव करता है तब माया का प्रपच रूप जगत् उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है और वह एक अद्वैत ब्रह्म का ही अनुभव करता है। इस तरह आत्मा को अद्वैत मानने में वेदान्त और समयसार में कोई मतभेद नही है भले ही दोनो मे दृष्टि भेद हो।

आत्मा को आदि अन्तरहित मानने मे भी वेदान्त और समयसार दोनो एक मत है। शुद्धनय से आत्मस्वभाव का वर्णन करते हुए समयसार मे लिखा है —

आत्मस्वभाव परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।

विलीनसकल्पविकल्पजाल प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥—स. सा. क. १० ॥

परभाव से पृथक्, सर्वथा परिपूर्ण, आदि अन्त रहित, एक, सकल्प, विकल्प जिसके नष्ट हो चुके हैं ऐसे आत्मस्वभाव को यह शुद्ध नय बतलाता है।

ठीक इसी प्रकार वेदान्त ने भी ब्रह्म का स्वरूप माना है। विवेक चूडामणिकार लिखते हैं —

'अत' पर ब्रह्म सदद्वितीय विशुद्धविज्ञानघन निरजनम् ।

प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रिय निरन्तरानन्दरसस्वरूपम्' ॥

ब्रह्म (जगत्) इससे भिन्न है, वह सत् रूप है, अद्वितीय है, विशुद्ध विज्ञान धन है, प्रशान्त है, आदि अन्त से रहित है, निष्क्रिय है सदा आनन्द रस स्वरूप है।

यहाँ समयसार और विवेक चूडामणि के इन श्लोको पर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनो एक दूसरे के कितने निकट हैं। दोनो ने आत्मा और ब्रह्म के लिए जिन विशेषणो का उपयोग किया है उनकी तुलना नीचे दी जाती है .—

समयसार	विवेक चूड़ामणि
परभावभिन्नम्	अतः परम्
आपूर्णम्	सत्
आद्यन्तविमुक्तम्	आद्यन्तविहीनम्
एकम्	अद्वितीयम्
विलीन संकल्प विकल्प जालम्	प्रशान्तम्

इसके अतिरिक्त 'विज्ञानघन' विशेषण का भी स्थान-स्थान पर समयसार में उपयोग किया है और लिखा है जैसे व्यजनो से भिन्न लवण का स्वाद लें तो एक लवण का ही स्वाद आता है, उसी प्रकार पर द्रव्य के संयोग से रहित-यदि एक आत्मा का अनुभव किया जाय तो विज्ञान घन होने से ज्ञान रूप से ही उसका अनुभव होता है :—

'यथा सैधवखिल्योन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एकानुभूयमान· सर्वतोप्येकलवणरसत्वाल्लवणेन स्वदते तथात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यच्छेदेन केवल एवानुभूयमान· सर्वताप्येकविज्ञानत्वाज्ज्ञानत्वेन स्वदते'। स सा. आत्मख्याति ही० ।। इसका अर्थ ऊपर दिया जा चुका है।

वेदान्त मे भी ब्रह्म स्वाद के लिए इसी प्रकार वर्णन किया गया है —

'यथा सैन्धवाखिल्य उदके प्रास्त उदक मेवानुविलीयेत् न हि अस्य उद्ग्रहणाय इव स्याद्यतो यतस्त्वा-ददीत लवणमेवैक वा अरे इद महद्भूत अनन्त अपारं विज्ञानघन एव' (बृह० उ०)

जिस प्रकार नमक को जल मे डालकर पिया जाय तो वह जल मे घुलकर उसके प्रत्येक कण मे व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार यह ब्रह्म भी जगत् के प्रत्येक अणु मे व्याप्त है। वह अनन्त, अपार और विज्ञान घन है।

यहाँ उक्त दोनो स्थानो पर आत्मा और ब्रह्म को विज्ञान घन स्वीकार किया गया है। तथा दोनो की प्रतीति को लवण के दृष्टात से पुष्ट किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मा की अनुभूति को ज्ञान की अनुभूति ही मानते है और सिद्धान्त स्थिर करते है कि आत्मा को आत्मा मे निश्चल स्थापित किया जाय तो वह आत्मा एक विज्ञान घन हो प्रतीत होगी ?

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिक या ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकपमेकोऽस्ति नित्यमवबोधघन समन्तात्'' ।।१३।।

विवेक चूडामणि में ब्रह्म को अपूर्व ज्योति रूप से उल्लेख किया है जैसा कि निम्न श्लोक से प्रकट है—

निरस्तमायाकृतसर्वभेद नित्य विभु निष्कलमप्रमेयम्।
अरूपमव्यक्तमनाख्यमव्यय ज्योति. स्वय कश्चिदिद चकास्ति ।।

समयसार की आत्मख्याति मे भी शुद्ध नय के आश्रित आत्मा की ज्योति रूप से ही उल्लेख किया है—

''अत शुद्धनयायत्त प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्। नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्व न मुञ्चति ।।७।।

वास्तव मे वेदान्त का ब्रह्म और समयसार का शुद्धात्मा सिद्धान्तत परस्पर भिन्न होने पर भी व्याख्या और वर्णन शैली से इतने निकट हो गये है कि उनमे आपाततः कोई भेद दिखाई नही पड़ता। ब्रह्म के जो कुछ विशेषण है समयसार मे उन सभी का प्रयोग किया गया है जैसा कि ऊपर दिखाया गया है।

आचार्य शंकर ने एक ऐसी सर्वव्यापी चैतन्य सत्ता को ब्रह्म माना है जो निर्विकल्प है, निराकार है, अविनाशी है, अनाद्यनन्त और आनन्दघन है, वह नाम रूप आदि से परे है, इन्द्रिय मन बुद्धि, शब्द आदि से गम्य नही है। जैन दर्शन में भी शुद्ध आत्मा को इसी प्रकार माना है।[1] समयसार में स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने परमार्थ से निरुपाधि आत्मा का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

"अरसमरूवमगंध अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं। जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं। स० सा० ४९।।

यह आत्मा रसरहित, रूपरहित, गंधरहित, अव्यक्त (स्पर्शरहित) और शब्द रहित है अर्थात् पाँचों इन्द्रियों से ग्राह्य नही है, इसका अपना कोई चिह्न नही हैं जिससे इसे पहचाना जाय।

अनियत आकार वाले अनंत शरीरों मे रहने के कारण[2] इसका कोई आकार नही है, इसमें एक चेतना गुण है अन्य कुछ नही है।

इसी गाथा पर कलश लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

"सकलमपि विहायान्हाय चिच्छक्तिरिक्तं, स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।

इममुपरि चरन्त चारु विश्वस्य साक्षात्, कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम्।।३५।।

चित् शक्ति से शून्य सबको शीघ्र छोडकर, चित् शक्ति मात्र अपने-आप में अवगाहन कर जो इस दृश्य जगत् से पृथक् है ऐसे परमात्म स्वरूप अनन्त आत्मा को आत्मा मे ही देखो।

यहाँ उक्त दोनों स्थानो पर वेदान्त ब्रह्म की ही झाँकी मिलती है। गाथा और कलश दोनो में ही उसकी अनन्तता को स्वीकार किया गया है। साथ ही उसकी निराकारता, इन्द्रिय अग्राह्यता, अनन्त शरीरवर्तीपन, चैतन्यशक्ति आदि विशेषण भी स्वीकार किये हैं।

इसके आगे के कलश में गाथाओं मे जीव की सभी उपाधियो को पौद्गलिक बताकर उसे ब्रह्मस्वरूप ही स्वीकार किया है जैसा कि निम्न श्लोक से प्रकट है—

"चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।

अतोऽतिरिक्ता· सर्वेऽपि भावा· पौद्गलिका अमी।।३६।।"

चैतन्य शक्ति से व्याप्त ही इस जीव का अपना सब कुछ है। इस शक्ति के अतिरिक्त अन्य सब भाव पौद्गलिक हैं।

वेदान्त में ब्रह्म के लिये नेति-नेति शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। चूँकि ब्रह्म निर्गुण है, निरुपाधि है, उसका वर्णन नही किया जा सकता। अत ब्रह्म के बारे मे निषेधात्मक वाणी का प्रयोग ही उसका वर्णन है, इसलिए ब्रह्म को नेति-नेति शब्द से याद किया गया है।

जैनदर्शन मे भी पारमार्थिक वस्तु विचार मे नेति-नेति की आवश्यकता को स्वीकार किया गया है। उसका कहना है कि सत्य दो प्रकार का है एक व्यावहारिक सत्य दूसरा पारमार्थिक सत्य। भेदाश्रित जितना भी कथन है वह व्यावहारिक सत्य तो है पर परमार्थभूत नही है। पारमार्थिक सत्य अपने-आपमें अनिर्वचनीय है वह अनुभवगम्य है किन्तु वाणीगम्य नही है। अत व्यावहारिक सत्य जो कुछ कहता है उसका निषेध करना ही पारमार्थिक सत्य का विषय है।[3] जैनागमो मे इस व्यावहारिक सत्य को व्यवहार नय

१. तन्नमामि परं ज्योति रवाङ्मानसगोचरम्। उन्मूलयत्यविद्या विद्यामुन्मीलयत्यपि।।—धनंजय कवि।

२. अनियतसंस्थानानन्तशरीरवर्तित्वात्''' आत्मख्याति टीका

३. तस्मादवसेयमिद यावदुदाहरणपूर्वको रूप।

तावान् व्यवहारनयस्तस्य निषेधात्मकस्तु परमार्थः।।६२५।।—पंचाध्यायी

और पारमार्थिक सत्य को निश्चय नय अथवा शुद्धनय से उल्लिखित किया है। यह व्यवहार नय क्यों प्रतिषेध्य है और निश्चयनय क्यों प्रतिषेधक है इसके उत्तर में लिखा है कि व्यवहारनय स्वयं मिथ्या उपदेश करता है अतः मिथ्या है और इसीलिए व्यवहार दृष्टि रखने वाला मिथ्यादृष्टि है इसलिए वह प्रतिषेध्य है।[1] निश्चयनय स्वयं भूतार्थ होने से सम्यक् है उसका वाच्य पदार्थ निर्विकल्प और वचन अगोचर होने से एक अनुभवगम्य ही है। यह पुनः शंका की गई है कि निश्चयनय का कुछ तो वाच्य होना चाहिए। यदि सभी विशेषों का अभाव इसका वाच्य मान लिया जाय तो वह अत्यंताभाव के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। इसके उत्तर में कहा है कि व्यवहारनय का जो वाच्य है उन (वाच्यरूप) विकल्पों का अभाव ही निश्चयनय का वाच्य है।[2] अर्थात् व्यवहार नय जो कुछ कहे उसके विरोध मे 'न इति न इति' कहकर निषेध करना ही निश्चयनय का वाक्य है।

समयसार मे शुद्धनय की अपेक्षा आत्मा के स्वरूप वर्णन में सर्वत्र नेति-नेति का प्रयोग ही दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिये समयसार गाथा क्रमांक ७ में शुद्ध आत्मा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसण णाण।
णवि णाणं चरित्तं ण दंसणं जाणओ सुद्धो ॥७॥—स० सा०।

व्यवहारनय की दृष्टि से हो आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र का होना बतलाया गया है (परमार्थतः) आत्मा के न ज्ञान है न दर्शन है न चारित्र है एक शुद्ध ज्ञायक भाव है।

यहाँ गाथा के पूर्वार्द्ध मे व्यवहारनय का वाच्यार्थ आत्मा का स्वरूप बताकर निश्चयनय से उसका निषेध किया गया है।

गाथा क्रमाक १४ मे शुद्धनय आत्मा को किस प्रकार अनुभव करता है उसका उल्लेख निम्न प्रकार है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियद।
अविसेसमसजुत्त त सुद्धणय वियाणीहि ॥१४॥—स० सा०

जो आत्मा को अबद्ध स्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असयुक्त अनुभव करता है वह शुद्धनय है।

यहाँ एक 'नियत' विशेषण को छोडकर सर्वत्र नञ् समास का प्रयोग कर नेतिनेति का ही सहारा लिया गया है।

आगे पन्द्रहवी गाथा मे भी थोडे हेर-फेर से इसी प्रकार निषेधात्मक विशेषणो से शुद्ध आत्मा का स्मरण किया गया है। पुनः ५५ वी गाथा मे लेकर ६१ वी गाथा तक लिखा है कि जीव, गध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, आकार, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बधस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबधस्थान, सक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान, गुणस्थान आदि कुछ भी नही हैं।

---

१. व्यवहार किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यतः।
प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च ॥६२८॥

२. स्वयमपि भूतार्थत्वाद्भवति स निश्चयनयो हि सम्यक्त्वम्।
अविकल्पवदतिवागिव स्यादनुभवैकगम्यवाच्यार्थः ॥६२९॥-प० अ०

ये सब वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यंत भाव व्यवहारनय से हैं निश्चय से कोई नहीं है। १४१ की गाथा मे भी व्यवहार दृष्टि का निषेध कर निश्चय दृष्टि स्थापन करते हैं—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठ चेदि व्यवहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठ हवइ कम्म ॥—स० सा० ॥

जीव कर्म से बद्ध और स्पृष्ट है यह व्यवहारनय कहता है, शुद्धनय से जीव मे कर्मबद्ध स्पृष्ट नहीं है।

इस प्रकार व्यवहार से आत्मा के सम्बन्ध मे जो कुछ भी आगम मे कहा गया है निश्चयनय में उन सभी का निषेध किया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र नेति के स्थानापन्न नास्ति का प्रयोग करते है और तन्मय होकर कहते हैं कि मैं तो केवल शुद्ध चिद्घन तेजोनिधि हूँ।

"सर्वत स्वरसनिर्भरभावं, चेतये स्वयमह स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोह शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

यो हम देखते है कि निश्चय नय से आत्मा का जो स्वरूप है उसका वर्णन निषेधात्मक वचनो मे ही किया गया है। जैनागमो मे शुद्ध आत्मा का जो वर्णन है वह विधिपरक होने से सभी व्यवहारनय का वाच्य है किन्तु समयसार अध्यात्म प्रधान ग्रन्थ होने से निश्चयनय को मुख्यता देता है। अतः व्यवहार नय से शुद्ध आत्मा के बारे मे जो कुछ कहता है निश्चयनय उसका निषेध करता है। यहाँ तक कि शुद्ध निरजन, निर्लेप आत्मा को बताने के लिये समयसार ने उसमे ज्ञान दर्शन का भी निषेध किया है जिसका आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है।

वस्तुत ब्रह्म की अद्वैतता जीव के साथ एकरूपता, व्यापकता, विभुत्व नेतिनेति वाच्यता आदि वेदान्त सम्बन्धी मान्यताओ का समयसार की आत्मा सम्बन्धी मान्यताओ के साथ समन्वय किया जा सकता है। यदि वेदान्त और समयसार दोनो को दोनो ओर से स्याद्वाद दृष्टि से विचार का विषय बनाया जाय तो समन्वय ही नही दोनो एक प्रतीक होगे। अन्यथा दोनो मे बहुत अन्तर है और दोनो एक दूसर से अत्यन्त दूर है।

ऊपर हम तुलनात्मक दृष्टि मे दोनो पर विचार कर आये हैं। आगे उनकी भिन्नता के विषय में चर्चा करेंगे। समयसार और वेदान्त मे मौलिक मतभेद तो यही से प्रारम्भ हो जाता है कि ससार की जड-चेतन जितनी भी वस्तुएं दिखाई दे रही हैं वे सब ब्रह्म रूप ही है। इन सब वस्तुओ का ब्रह्म ही उपादान कारण हैं। जो इन्हें ब्रह्म से पृथक् समझता है वह अज्ञानी है। आवरण तथा विक्षेप द्वारा ही वह उनमे पृथकत्व का अनुभव करता है। इस जीव पर अविद्या का आवरण (पर्दा) पडा हुआ है उससे ब्रह्म का असली रूप दिखाई नही देता और विक्षेप के द्वारा पर्वत, नदी, वायु, वृक्ष, सूर्य, चाँद, पत्नी, माता, पिता, पुत्र भेद करता है। वस्तुतः यह भेद नही है किन्तु ब्रह्म के विवर्त हैं। जब इसके अविद्या का पर्दा हटता है तो ये भेद भी समाप्त हो जाते हैं और वह एक अद्वैत ब्रह्म का ही अनुभव करता है। अभिप्राय यह है कि जब तक इस जीव की ब्रह्म तथा जगत् के जड चेतन पदार्थो मे भेद बुद्धि रहेगी तब तक ससार के कष्टो से इसका छुटकारा नही हो सकता।

इसके विपरीत समयसार की मान्यता है कि ससार मे आत्मा के अतिरिक्त अन्य जितने भी पदार्थ हैं वे उसी प्रकार अपनी पृथक् सत्ता रखते है जैसे आत्मा स्वय अपनी रखता है। आत्मा के अतिरिक्त वे सभी सत्तात्मक पदार्थ जड है और आत्मा ही केवल चेतन है। आत्मा के लिये 'परविरहितम्' 'द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्' 'परभावभिन्नम्' आदि विश्लेषणो का उपयोग किया है जिसका स्पष्ट अर्थ है कोई पर पदार्थ और द्रव्यान्तर

पदार्थ भी हैं जिनसे आत्मा भिन्न हो। स्वय आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा से भिन्न पर पदार्थों की सत्ता स्वीकार की है। पंचास्तिकाय आदि उनके ग्रन्थो में तो इन पृथक् द्रव्यो का वर्णन है ही समयसार मे भी वे आत्मा को पृथक् दिखलाने के लिये इस प्रकार वचनबद्ध होते हैं—

'तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छल ण घेतव्व ।।—स० सा० ५।।

मैं एक और विभक्त आत्मा को अपने अनुभव रूप वैभव से दिखाऊँगा यदि दिखा सकूँ तो प्रमाण मानना अन्यथा छल ग्रहण नही करना। यहाँ आत्मा को विभक्त कहने से अभिप्राय उसे अन्य द्रव्यो से पृथक् बतलाना है। इससे आत्मा तथा पृथक् पदार्थो की पारमार्थिक सत्ता का ही प्रकारान्तर से उल्लेख किया गया है। इसलिये ज्ञान प्राप्ति के लिये समयसार की सबसे पहली शर्त है कि स्व पर मे विवेक रक्खा जाय। इसी को समयसार मे भेद विज्ञान के नाम से उल्लिखित किया है। समयसार इस चराचर जगत् को आत्मा या ब्रह्म का विवर्त नही मानता है। अतः सारा विश्व वेदान्त की तरह व्यावहारिक सत् नही है किन्तु पारमार्थिक सत् है। उसके पृथक् अस्तित्व से इन्कार नही किया जा सकता इसलिए आत्मा और अनात्मा म भेद रखना ही होगा। समयसार की आत्म-ख्याति टीका मे लिखा है—

"भेदविज्ञानतः सिद्धा. सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा-बद्धा ये किल केचन।।"१३१।।

जो संसार से मुक्त हुए हैं वे भेद विज्ञान से ही मुक्त हुए हैं और जो ससार के बधन मे है वे भेद विज्ञान के अभाव से ही बन्धन मे हैं।

सार यह है कि वेदान्त जहाँ ब्रह्म की अद्वैतता स्वीकार कर अभेदवाद को प्रोत्साहन देता है[1] वहाँ समयसार ब्रह्म और जगत् की द्वैतता को स्वीकार कर भेदभाव को प्रोत्साहन देता है। वेदान्त भेद से अभेद की ओर समयसार अभेद से भेद की ओर ले जाता है।

वेदान्त जगत् को चराचर सत्ता को व्यावहारिक कहता है समयसार उसे पारमार्थिक कहता है।

वेदान्त माया को ब्रह्म की शक्ति कहता है साथ ही उसे सत् असत् दोनो से विलक्षण अनिर्वचनीय मानता है। समयसार ऐसी किसी शक्ति को स्वीकार नही करता।

वेदान्त एक ही आत्मा को सर्वव्यापक मानता है। समयसार व्यक्तिशः आत्माओ की अनन्तता को परमार्थ भूत मानता है। अनत ज्ञान की अपेक्षा प्रत्येक आत्मा व्यापक है व्यक्ति प्रदेशो की अपेक्षा वह परिच्छिन्न है।

वेदान्त मुक्त होने पर उसी निर्विकल्प चेतन सत्ता रूप ब्रह्म में जीव का मिल जाना मानता है।

समयसार मुक्त अवस्था मे जीव का ब्रह्म होना तो मानता है पर वह किसी मे मिलकर अपना अस्तित्व नही खोता प्रत्युत स्वतन्त्र अस्तित्व लेकर अनन्त काल तक रहता है जैसा कि कुन्दकुन्द ने अपने मंगलाचरण 'वंदित्तु सत्व सिद्धे' कहकर अनन्त मुक्तात्माओ के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया है।

वेदान्त में ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति का निमित्त और उपादान कारण माना है।

समयसार में इस प्रकार की कोई उत्पत्ति स्वीकार नही की प्रत्युत उसका निषेध किया है। सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार मे जीव के कर्तव्य का निषेध करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य लिखते है जिस प्रकार लोक मे विष्णु

१. "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।"

को सब जीवों का कर्त्ता माना जाता है उसी प्रकार यदि श्रमण भी षट्काय के जीवो का आत्मा को कर्त्ता माने तो दोनो मे कोई अन्तर नही रहता।[1]

इस प्रकार दोनों की मान्यताओं और सैद्धान्तिक तथ्यों मे अन्तर होते हुए भी समयसार और वेदान्त की आध्यात्मिक व्याख्याओ और चर्चाओ मे विशेष अन्तर नहीं मालूम पड़ता। भाषा के आवरण और शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों को हटाकर समयसार और वेदान्त के प्रतिपाद्य विषय को यदि पढ़ा जाय तो समयसार में वेदान्त के दर्शन होंगे और वेदान्त मे समयसार के दर्शन होंगे।

ऐसा प्रतीत होता है इन संस्कृतियों का कभी मूल उद्गम एक रहा होगा किन्तु जैसे-जैसे सूत्र भाष्य, वार्तिक, टीका और व्याख्याओ के माध्यम से विभिन्न आचार्यों द्वारा इन्हे पल्लवित पुष्पित किया गया वैसे-वैसे उन मूल मान्यताओं में अन्तर आता गया है। औषधियों मे पुट और भावनाओं के अनन्तर होने वाले परिवर्तन की तरह उनमें मौलिकता नही रही। इस परिवर्तन ने ही षट् दर्शन का रूप ले लिया। विक्रम की प्रथम शताब्दी के आचार्य समन्तभद्र ने भी इस तथ्य का उद्घाटन किया है।[2] इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखने को है। यहां केवल समयसार और वेदान्त के सम्बन्ध मे एक दृष्टि दी गई है जो विद्वानों को विचारणीय है।

●

---

१ लोयस्स कुणइ विण्हू, सुरणारयतिरियमीणुसे सत्ते।
समणाणपि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काये ॥३२१॥
लोगसमणाणमेयं सिद्धन्त जइ ण दीसइ विसेसो।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणणवि अप्पओ कुणइ ॥३२२॥—स० सा०

२. कालः ? कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतु. प्रवक्तुर्वचना नयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥

मुक्ति-मंदिर

क्षमा

१

क्षमा अहिंसा की जननी है विश्वप्रेम का है आधार।
क्षमा समर्थों का जीवन है बलहीनों को है उपहार॥
क्षमा दण्ड से भी बढ़कर है अपराधी के लिये सुधार।
क्षमा बना देती है हिंसामय जग को मधुमय संसार॥

२

नैतिक जन को अपराधी से है न उचित लेना प्रतिशोध।
रुकते हैं अपराध न इससे बढ़ जाता है और विरोध॥
जहाँ आत्मसम्मान नष्ट कर दण्ड दिया जाता है क्रूर।
कहने को वह है मनुष्य पर मानवता से है अति दूर॥

३

बतलाओ तो कौन दूध का धुला हुआ है मानव आज।
जो कह सके स्वयं अपने को निरपराधियों का सिरताज॥
देते समय दंड यदि हम भी देख सके कुछ अपनी ओर।
तो फिर कभी न होंगे इतने अपराधी के लिये कठोर॥

४

क्रुद्ध हुआ मानव सब खो देता है अपना सहज विवेक।
हो पर अहित न हो अथवा पर स्वय उठाता दुःख अनेक॥
वही क्रोध करता है होता है जो कायर और अधीर।
क्षमाशील नर पुंगव होते है स्वभाव से ही गंभीर॥

५

लेकर ओट क्षमा की लेकिन जो जन बन जाते हैं दीन।
क्षुद्र जन्तुओ से भी उनका जीवन है अत्यंत मलीन॥
या तो पूर्ण अहिंसक बनकर दुश्मन का करिये प्रतिरोध।
क्षमादान देकर अथवा फिर भूल जाइए वैर विरोध॥

निरभिमानता

१

उच्च प्रतिष्ठा पाकर भी जो अहंकार से रहते हीन।
प्रभुता पाकर भी जो रहते हैं जनता के ही आधीन॥
जिनका अपना एक ध्येय है करना औरों का उपकार।
महापुरुष वे सचमुच भूतल पर हैं इस युग के अवतार॥

२

आखिर वे भी हैं मनुष्य जो पीडित है या वैभवहीन।
उन्हें चिढ़ाकर करते है हम अपना ही व्यक्तित्व मलीन॥
बढ़कर जो अभिमान शिखर पर औरों का करते उपहास।
कभी समय आता है पाते हैं वे भी जीवन में त्रास॥

१४

३

सदा तुम्हारे व्यवहारो मे मिले नम्रता का आभास।
समझो औरो के विकास मे ही तुम अपना सहज विकास ।।
सेवाओ मे छिपा तुम्हारा हो जीवन का सब इतिहास।
अधिकारी बनकर भी अपने को समझो जनता का दास ।।

४

जीवन यह अस्थिर है सुख दुख है चलती फिरती छाया।
कौन यहाँ मानव है ऐसा मनचाहा जिसने पाया।।
अत रूप बल विद्या वैभव वश और स्वागत सन्मान।
कभी भूल कर भी इन सबका दर्प न करते हैं मतिमान।।

५

निरभिमान बनकर भी लेकिन स्वाभिमान का रखना ध्यान।
इसके बिना पुरुष का जीवन समझो केवल मृतक समान।।
जी हजूर मानव रहते है बन कर इस पृथ्वी के भार।
किन्तु मनस्वी निरभिमान जन करते है जग का उद्धार।।

सरलता

१

रखते हैं जो भीतर बाहर अपना शुद्ध सरल व्यवहार।
कभी न मन मे क्षणभर को भी आने देते हैं मायाचार।।
अपना सब कुछ खोकर भी जो पाते जनता का विश्वास।
ऐसे साधुपुरुष के दर्शन कर होगा न किसे उल्लास।।

२

स्वय युद्ध मे सन्मुख जाकर लड़ते है अभिमानी शूर।
छुरा पीठ मे वही भोकते है जो होते कायर क्रूर।।
साधुपुरुष करते है सबके साथ सदा निश्छल व्यवहार।
दुर्जन इसी टोह मे रहते है कब उन पर करें प्रहार।।

३

होता है पर का अनिष्ट उसके ही कर्मों के अनुसार।
व्यर्थ पाप के भागी होते है हम करके मायाचार।।
अगर किसी को दुख हो सकता है करने से छल व्यवहार।
तो फिर उसके कर्म शुभाशुभ हो जायेंगे सब बेकार।।

४

दुष्ट न उतना प्रकट रूप मे कर पाता है अत्याचार।
साधुवेश मे देता है वह जितना जग को कष्ट अपार।।
सिंह न अपने सत्यरूप मे हो चाहे उतना खूँख्वार।
किन्तु गाय की खाल ओढ़ कर करता है वह खूब शिकार।।

५

महापुरुष है वही सभी जन करते हैं जिसपर विश्वास।
धनी पुरुष है वही न छल से संचित है धन जिसके पास॥
साधुपुरुष है वही न जिसका है बनावटी अपना वेश।
वही धर्म है जहाँ न छल करने का है किंचित् आदेश॥

सत्य

१

सत्य न जिनकी वाणी मे है जीवन है उनका निष्फल।
सत्यहीन मानव स्वभावत. होते हैं मन से दुर्बल॥
विना सत्य के कभी न कोई पाता है आदर सन्मान।
कौन पुरुष बोलो तो जग में झूठ बोल कर हुआ महान॥

२

सभी गुणो मे सत्य अहिंसाका है सुन्दरतम वरदान।
सब कुछ न्योछावर है इसपर धन वैभव पाडित्य महान॥
धन्य धन्य है महापुरुष वे मिला सत्य का जिन्हे प्रकाश।
स्वय सत्य के लिए कर सके जो निज प्राणो का नाश॥

३

झूठ बोलकर ही जो प्रतिदिन करते है अपना व्यापार।
ऐसे पतित उदरपोषण करने वालो को है धिक्कार॥
सदा साख पर ही चलते हैं दुनियाँ के सब कारोबार।
बिना साखके व्यापारी को कही न मिलता है बाजार॥

४

हो मिठास वाणी मे, सबसे मित्रो का सा हो व्यवहार।
मुख से कभी न निकलें निन्दा और बुराई के उद्गार॥
हिल मिलकर सब रहे, करे सब आपस मे सबका आदर।
सत्यधर्म की पूजा का यो मिले सभी जगको अवसर॥

५

सदा आपदाओ मे औरो की रक्षाका रखिये ध्यान।
हमे चाहिए झूठ बोलकर भी रोके अनुचित बलिदान॥
वही सत्य है जहाँ छिपा हो जीवो की रक्षा का भाव।
उसे झूठ ही समझो करता हो जो सत्य हृदय मे घाव॥

निर्लोभता

१

जो न स्वार्थ वश कभी दूसरो के हित का करते बलिदान।
जिनसे कभी न शोषित होते है गरीब मजदूर किसान॥
उचित मुनाफा लेकर जो रखते है राष्ट्रहितो का ध्यान।
धर्म और निज मातृभूमि की महापुरुष व रखते शान॥

२

लोभ न केवल दुर्गुण ही है, है वह ऐसा पाप महान।
सभी पाप करता है इसके वश होकर यह पुरुष अजान ।।
लोभ न मन में स्वाभिमान का होने देता है अनुराग।
अधिक कहें क्या लोभी निज प्राणोंका भी करता है त्याग ।।

३

लोभ कृपणता का प्रतीक है लोभ दीनता का आधार।
सुना न देखा कभी किसी ने लोभी का व्यक्तित्व उदार।।
रख कर अपने पास कोष मे अरबो की सम्पत्ति अपार।
कृपण धनी उस सचित धनका है बस केवल पहरेदार ।।

४

क्षुद्र स्वार्थ के लिए छीनिये कभी न औरो के अधिकार।
ध्यान रहे जनसाधारण की रक्षा का तुम पर है भार ।।
जो कुछ मिले न्याय से रखिये उसमे ही अपना संतोष।
पेट गरीबो का न काटकर करिए अपना सचित कोष ।।

५

दुनियाँ मे रहकर तृष्णाओं का न कभी होता है अन्त।
आते रहते सदा प्रलोभन पग पग पर जीवन पर्यंत ।।
मूढ पुरुष उनमे ही फँस कर सदा उठाते दुःख महान।
पा कर उनपर विजय न पथ से विचलित होते हैं मतिमान ।।

संयम

(इन्द्रिय निग्रह, और जीव रक्षा)

१

सदा संयमी पुरुष बिताते है कठोर अपना जीवन।
सतत किया करते हैं अपनी इच्छाओ का घोर दमन ।।
सुख विलासिताओं से उनको कभी न होती है अनुराग।
नित्य साधनाओ में ही जीवन का जाता है बहुभाग ।।

२

विषय वासनाओ से जिनका चित्त सदा रहता चंचल।
रागरंग में ही जाता है जिनके जीवन का प्रति पल ।।
जिन्हें त्याग की जगह सुहाता है करना बस भोग विलास।
पुरुष न ऐसे करपाते है जीवन में निज उच्च विकास ।।

३

हुआ न कोई तृप्त आज तक भोगों का कर के सेवन ।
शांत हुई है अग्नि कभी क्या पाकर इंधन पर इंधन ॥
अतः इन्द्रियों के पोषण से रहते हैं संयमी उदास ।
भला कौन रहना चाहेगा इच्छाओं का बन कर दास ॥

४

क्षुद्र जन्तुओं की रक्षा का भी रखना है हमको ध्यान ।
सभी इन्द्रियों के निरोध का हो सकता है पुण्य महान ॥
जीवन का है प्रश्न जहां तक सभी जीव हैं एक समान ।
क्या छोटे क्या बडे सभी को देना होगा जीवनदान ॥

५

हो मन पर अधिकार हमारा निर्मल हों आचार विचार ।
दर्शक बन कर रहें, न अपनावें तन्मय होकर संसार ॥
जीवन हो कर्तव्यपरायण, बोलें संयत वचन उदार ।
बन कर यों संयमी करें हम अपने जीवन का उद्धार ॥

तप

१

पुरुष हृदय यह निज भूलों पर करता है जब पश्चात्ताप ।
उठती है अव्यक्त वेदना उसके तब मनमें चुपचाप ॥
उसे दूर करने को करता है वह नाना व्रत उपवास ।
तपश्चरण यह हृदय शुद्धि के लिए एक है सफल प्रयास ॥

२

तपश्चरण से होता है पिछले अपराधों का परिशोध ।
आगामी के लिए सर्वथा हो जाता ही पाप निरोध ॥
तपश्चरण से होता है कष्टो के सहने का अभ्यास ।
तपश्चरण करता है मन की सब दुर्बलताओं का ह्रास ॥

३

स्वर्ण तपाये जाने से हो जाता है जैसे कुन्दन ।
तप से पूर्ण निखर जाता है वैसे ही मानव जीवन ॥
कभी तपस्वी को न सताते हैं दुश्चिंताएँ या रोग ।
जनसेवा में ही होता है उसके जीवन का उपयोग ॥

४

जिन्हें सदा जीवन में सुखके साधन रहते है भरपूर ।
बन कर जो सुकुमार सदा बाधाओं से रहते हैं दूर ॥
क्षणिक त्याग मे भी होता है जिनको अनुभव कष्ट महान ।
करने पर भी यत्न न उनके पापो का होता अवसान ॥

५

धन्य तपस्वी हैं वे करते हैं जो कहीं विपिन में वास।
होता है अपने शरीर के शोषण में जिनको उल्लास ।।
जो निरीह भावों से जनता का करते रहते उपकार।
सदा खुला रहता है उनके लिए 'मुक्ति मंदिर' का द्वार ।।

त्याग

१

होते है निर्दोष सर्वथा कभी न धनसचय के द्वार।
स्वच्छ शुद्ध जल से देखा है कभी न भरते सिन्धु अपार ।।
अत. उचित कामो मे करना आवश्यक है धन का दान।
इसके बिना न हल्का होता धनसंचय का पाप महान ।।

२

अन्न वस्त्र के लिए कर रही हो जब जनता हा हा कार।
है न उचित यह पडा रहे एकत्र अपरिमित धन बेकार ।।
उसे बाँट देना ही सबमे है उसका समुचित उपयोग।
न्याय न है यह करे एक ही जन सारे धनका उपभोग ।।

३

याद रहे जो जनता से धन खीचा है कर के व्यापार।
एक मात्र उस सारे धन पर जनता का ही है अधिकार ।।
अवसर आए अगर न आता है वह जनता के कुछ काम।
राजा को है उचित छीन लेना उसकी सपत्ति तमाम ।।

४

वही दान समुचित है यश की जहाँ न हो कुछ अभिलाषा।
अथवा जहाँ न बदले मे कुछ पाने की होती आशा ।।
वही दान है श्रेष्ठ दिया जाता जो देख उचित अवसर।
कौन विवेकी मानव बोना चाहेगा पृथ्वी ऊसर ।।

५

सदा सब जगह केवल धनका ही न दिया जाता है दान।
ज्ञानदान देकर भी जीवन सफल बनाते है विद्वान ।।
अभय दान देना भी दानो मे सबसे ऊँचा है दान।
औषध के वितरण से रोगी को मिलता है जीवनदान ।।

अपरिग्रहता

१

भोग्य वस्तु हैं परिमित उनका सचय है नैतिक अपराध ।
धनकुबेर बन कर भी किसकी यहाँ हुई है पूरी साध ॥
अतः न हम आवश्यकता से अधिक करें कुछ भी स्वीकार ।
शेष वस्तुएँ उन्हें छोड़दें जिनको हो उनकी दरकार ॥

२

धन कुटुम्ब आवास न इनमे होते हैं सुख के दर्शन ।
पहुँचाते ये दुख सदा जीवन मे आकुलताएँ बन ॥
जो जन जितना कर देता है अपने सिर का हल्काभार ।
उतना ही वह बडे चैन से सोता है निज पैर पसार ॥

३

जिसे चाहते हैं हम रहता है वह प्राय' हम से दूर ।
जिसकी चाह न होती है वह मिल जाती है वस्तु जरूर ॥
यो जब वस्तु न कोई परिवर्तन करती मनके अनुसार ।
तब फिर उससे प्रेम बनाए रखना है बिल्कुल बेकार ॥

४

भोगों की ममता से बढकर और न है दुनियाँ में पाप ।
सेवन में हैं मधुर किन्तु देते हैं पीछे से संताप ॥
सच्चा सुख है वही न जिसमें हो किंचित् दुख का आभास ।
खाज खुजाने मे भी यो तो होता है तत्क्षण ऊल्लास ।

५

कब आवे वह समय करें हम हाथों में लेकर आहार ।
वस्त्र न हो तन पर, मन में भी रहे न कोई सहज विकार ॥
भूमिशयन नित करें बनावे जंगल में अपना आवास ।
यों निरीह बनकर न रखें हम तिलतुषमात्र परिग्रह पास ॥

ब्रह्मचर्य

१

ब्रह्मचर्य से बढकर जगमे और न है कुछ आत्मसुधार ।
ब्रह्मचर्य ही सच पूछो तो है मानवजीवन का सार ॥
ब्रह्मचर्य के बिना सभी गुण बिना गन्धके होते फूल ।
ब्रह्मचर्य में छिपा हुआ है जीवन की रक्षा का मूल ॥

२

ब्रह्मचर्य पालन करने मे रहते है जो सदा उदास ।
युवक दशा में भी होता है जिन्हे बुढापे का आभास ॥
वे न कभी जीवन मे कोई कर सकते है अद्भुत कर्म ।
अतः वीर्यरक्षा करना ही है मनुष्य का पहला धर्म ॥

३

सभी पराई बहू बेटियों में हो माता का सन्मान।
सभी नारियां समझे पर पुरुषों को अपने पिता समान ॥
उसी समय तब हो जाएगा कृत्रिम पर्दा भी बेकार।
स्वयं उठा लेगी अबलाएँ अपनी रक्षा की तलवार ॥

४

कहाँ बैठते उठते हैं क्या करते हैं बच्चे सुकुमार।
माँ बापो को सदा चाहिए रखे ध्यान इसका हरबार ॥
बुरी आदतो में पड़कर वे ब्रह्मचर्य का करें न नाश।
बालक है सम्पत्ति राष्ट्र की कुलके हैं वे स्वच्छ प्रकाश ॥

५

है दुष्कर्म बड़ा यह सबसे दुनिया में करना व्यभिचार।
रावण का साम्राज्य खो गया कीचक पहुँचा यम के द्वार ॥
दुराचार करने से मिलता है निगोद नरको का वास।
ब्रह्मचर्य का फल है पाना अपना ऊंचा आत्मविकास ॥

मूर्तिपूजा की उपयोगिता

आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम् ।
तार्क्ष्यमुद्रान किं कुर्यात् विषसामर्थ्यसूदनम् ।।—सोमदेवसूरि

पदार्थों की पूज्यता अपूज्यता उनकी अपनी चीज नही है, किन्तु प्राणियों की रुचि और आवश्यकताओं का परिणाम है। जिसे हम कूड़ा समझ कर बाहर फेक देते है, वही घूरे पर जाकर किसान के लिये उपयोगी हो जाता है। इसका मतलब यही है कि फेंकने वाले के लिए कूडा उपयोगी न था, परन्तु किसान की आवश्यकतायें उससे पूरी होती थी, इसलिए वह उपयोगी हो गया। एक वेदोपजीवी ब्राह्मण कभी तराजू की डण्डी में पैसा मारता नही देखा गया, परन्तु सुबह शाक बेचने के बाद मालिन के हाथ मे जब पहला पैसा आता है तब वह उसे तराजू की डण्डी से स्पर्श करके माथे की ओर ले जाती है। लोग कहते है, पगली, कही डण्डी में पैसा मारने से कमाई होती है, मालिन कहती है कि कमाई का साधन तराजू ही तो है। आज इसके उपयोग से जब सुबह पैसा मिल गया तब क्या इसका इतना भी आदर न करूँ। इस तरह दो ओर से जब दो विभिन्न बातें आती हैं तब निर्णायक बुद्धि कहती है कि न लोगो का अपराध है न मालिन का केवल उपयोगिता का सवाल है।

तराजू साक्षात् पैसा न दिलाती हो पर पैसा दिलाने में उसका अधिक से अधिक उपयोग है, जिसका उपयोग है उसका आदर तो करना ही पडता है, फिर उसका रूप कुछ भी हो, यही आदर उस उपयोगी चीज की पूजा है। मसजिद की एक एक इंट पर जान देने वाला मुसलमान भाई भले ही बुतपरस्ती से नफरत करता हो, पर मसजिद की उपयोगिता तो वह समझता ही है। इसलिये इंटो पर जान देना बुतपरस्ती नही तो मसजिदपरस्ती तो है ही। राज-घरानो मे आज भी प्राचीन शस्त्रो की पूजा होती है, वैसे तो वे सब जड है और आज की लडाई मे उनकी उपयोगिता भी नही है फिर भी वे कभी उपयोगी रहे है। युद्धो को जीतने मे उनकी अधिक से अधिक उपयोगिता के कारण ही भावुक हृदय के लिये वे आदर (पूजा) की चीज बने हुये हैं। मतलब यह है कि पूजा की चीज पदार्थ नही, उसकी उपयोगिता है, जिस पदार्थ मे जितनी अधिक उपयोगिता है वह उतनी ही अधिक पूजा (आदर) की चीज है।

प्रश्न—संसार मे अनुपयोगी चीज तो कोई है ही नही, आखिर हर एक चीज का कुछ न कुछ उपयोग तो है ही, फिर हम सब की पूजा क्यों नही करते ?

उत्तर—पदार्थों में कुछ न कुछ उपयोगिता होने पर भी व्यक्ति समय और आकाक्षा के लिहाज से ही उसकी उपयोगिता को पूजा का स्थान दिया जाता है। पडोस मे दस मकान रहने पर भी जिसमे हम रहते हैं उसी में हमारी आदर बुद्धि होती है, ९ मकानो मे नही। इसका अर्थ यह नही कि उन ९ मकानो मे उपयोगिता नही है। वे उपयोगी हैं पर सरक्षण जब हमे अपने ही मकान से मिलता है तब वे ९ हमारे लिये अनुपयोगी हैं, इसलिये हम उन ९ मकानों को आदर का स्थान नही दे सकते। वस्त्र जब तक पहनने के काम आता रहा तब तक सम्हाल की, जब फट गया तब फेक दिया। वस्त्र का यह आदर-अनादर उसकी उपयोगिता पर था वस्त्र पर नही, परन्तु वस्त्र के फट जाने से उसकी उपयोगिता जाती नही रही। पहनने के लिए अनु-

पयोगी होने पर भी कागज बनाने के लिये वह उपयोगी है। इस तरह एक चीज में कुछ न कुछ उपयोगिता रहने पर भी वह तब तक हमारी पूजा की चीज नही बनती जब तक हमारी आवश्यकतायें उससे जुड नही जाती। मिट्टी सदा मिट्टी है, पर आवश्यकता पडने पर वही संपत्ति है उस समय यदि उसको कोई विशेष संरक्षण के साथ रखता है तो वह मिट्टी की पूजा नही करता बल्कि उसको उपयोगिता का आदर करता है। इस तरह जब किसी वस्तु की उपयोगिता हमारे कल्याण की चीज बन जाती है तभी हम उसका आदर करने लगते हैं, यही आदर उस वस्तु की पूजा है।

प्रश्न—आप उपयोगिता को पूजा का स्थान बतला रहे हैं, पर शास्त्रकारो ने तो गुणो को पूजा का स्थान बतलाया है[1] यह कैसे ?

उत्तर—शास्त्रकारो का अभिप्राय उन्ही गुणो मे है जिनकी उपयोगिता मे व्यक्ति का कल्याण होता है। पदार्थ मे यो तो कोई न कोई गुण होता ही है पर उन सबसे हमारा कल्याण नही होता। पृथ्वी मे गुरुत्वाकर्षण गुण है परन्तु उनसे हमारे कल्याण का सरोकार नही है इसलिये वह पूजा की चीज भी नही है। इस तरह गुणों की पूजा और उपयोगिता की पूजा दोनो एक ही चीज है। पदार्थ की समयानुसार उपयोगिता ही उसका एक गुण है और उसी को पूजा की ओर शास्त्रकारो का संकेत है। कुछ पदार्थ ऐसे भी है जिनकी उपयोगिता है, आवश्यकता भी है, परन्तु उनके साथ हृदय की आकाक्षा नही है, इसलिये उनमे जन साधारण की आदर बुद्धि नही होती। आकाश का अवकाश दान गुण[2] उपयोगी भी है, आवश्यक भी है परन्तु जनता की आकाक्षा उसके साथ न होने से वह पूजा की चीज नही है। बहुत से लोग अपने से बडे और गुणी व्यक्तियो का भी अहकारवश आदर नही करते, उसका कारण भी यही है कि वे उनकी उपयोगिता समझ कर भी उनके साथ अपनी आकाक्षाये नही रखते। मतलब यह है कि उपयोगी पदार्थ की यदि हमारी आकाक्षाये उसके साथ है, हम किसी न किसी प्रकार पूजायें करते ही है।

मूर्तिपूजा का विरोध करते समय मूर्ति की जडता की ओर जितना विरोधी का ध्यान रहता है उतना उसकी उपयोगिता की तरफ नही होता। विरोधी कहता है कि मूर्ति जड है, उसकी उपासना से जडता ही मिलेगी पर उसको यह नही मालूम कि मूर्ति जड होकर भी जडता के लिहाज से उसकी उपयोगिता नही है। गोबर स्वय एक मल है लेकिन उसकी उपयोगिता मल के लिहाज से नही बल्कि स्वच्छता के लिहाज से है, इसलिये जैसे उसका सचित करना मल का सचित करना नही है उसी प्रकार मूर्तिपूजा भी जड की पूजा नही है। भारतवर्ष मे गऊपूजा का रिवाज है, परन्तु गऊपूजा का अर्थ उसकी अधिक से अधिक उपयोगिता कबूल करना है न कि उसका मतलब पशुपूजा से है। अगर पशुपूजा से ही तात्पर्य होता तो गधे और सुअरो की भी पूजा होती। इसलिए गौ का पुजारी जैसे गऊ की पशुता की ओर ध्यान नही देता वैसे ही मूर्तिपूजक मूर्ति की जडता की ओर ध्यान नही देता, दोनो के सामने अपनी-अपनी उपयोगिता है और उसी के दोनो पुजारी हैं। मूर्ति को जड कह कर उसकी पूजा का विरोध करने वाला एक तारण पंथी[3] जब शास्त्र को शास्त्रजी कहकर उसकी आरती उतारता है तब उसकी मूर्तिपूजा का विरोध एक उपहास की चीज बन जाता है। पक्षान्धता उसे यह नही सोचने देती कि शास्त्रजी भी तो जड है, जब शास्त्र की पूजा जड की पूजा नही तब मूर्ति की पूजा जड की पूजा कैसे कहलायेगी।

प्रश्न—शास्त्र का पठन पाठनादि सदुपयोग उचित है, शास्त्र द्वारा हेय ज्ञेय और उपादेय का ज्ञान होता है। जो समाजें मूर्तिपूजा में ही आत्म कल्याण मानती हैं। उन्होंने भी शास्त्र की उपयोगिता को मजूर किया है। ऐसे परमोपयोगी शास्त्रो का जितना भी आदर किया जाय थोड़ा है।

---

१. "गुणा पूजास्थान"। २ सबको जगह देने की शक्ति। ३. जैनियों का एक फिरका।

उत्तर—शास्त्र परमोपयोगी है जब इसी से उनका जितना आदर किया जाय थोडा है, तब मूर्ति भी तो परमोपयोगी है उसका भी जितना आदर किया जाय थोडा क्यों नही ? शास्त्रों में तो हम वीतरागता पढते ही हैं पर मूर्ति मे हम उसे आंखो से देखते हैं। गाय का स्वरूप पढ लेने के बाद गाय का चित्र देखने से कुछ अधिक ही सतोष होता है। इसलिये अगर शास्त्र परमोपयोगी है तो मूर्तियाँ उससे भी अधिक परमोपयोगी हैं। शास्त्रो का पठन पाठनादि सदुपयोग है तो मूर्तियो का दर्शन करना कराना आदि सदुपयोग क्यो नही ? शास्त्र द्वारा यदि हेय ज्ञेय और उपादेय का ज्ञान होता है तो मूर्ति द्वारा भी हेय ज्ञेय उपादेय का ज्ञान होता है। एक शब्द चित्र है दूसरा रेखाचित्र है। शब्द चित्र को देखने के बाद जब समझ मे कुछ त्रुटि रह जाती है तब उसकी पूर्ति रेखा चित्र द्वारा की जाती है। इस तरह उपयोगिता के लिहाज से मूर्ति का दर्जा शास्त्रों से कुछ अधिक ऊचा है। यह कहना कुछ मूल्य नही रखता कि मूर्तिपूजा मे ही आत्म-कल्याण मानने वाली समाज भी शास्त्र की उपयोगिता को मजूर करती हैं। इस तरह तो शास्त्रो मे ही आत्म-कल्याण मानने वाली समाजे भी मूर्ति की (चित्रो की) उपयोगिता को कम से कम व्यवहार मे तो मजूर करती ही है। शब्दो को पहचानने वाले ससार मे बहुत थोड़े हैं। इसलिये शास्त्रो से बहुत थोडो का ही कल्याण हो सकता, परन्तु मूर्ति को देखने वाले प्राय सभी हैं। इसलिये अगर चाहे तो वे सभी आत्म-कल्याण कर सकते हैं। जो अधिक से अधिक प्राणियो के कल्याण की वस्तु है। उसकी उपयोगिता किसी प्रकार अधिक ही है।

प्रश्न—जब शास्त्रो से मूर्ति की उपयोगिता अधिक है तब मूर्ति पूजको को शास्त्रो का व्यवहार नही करना चाहिये। अधिक उपयोगी चीज के सामने कम उपयोगी चीज की कोई कीमत नही ?

उत्तर--अपेक्षाकृत किसी चीज की उपयोगिता कम होने पर भी उसकी आवश्यकता मिट नही जाती। पानी मे बर्तन की उपयोगिता कम है फिर भी बर्तन की आवश्यकता तो है ही। हवा से अन्न कम उपयोगी है फिर भी उसकी पूरी-पूरी आवश्यकता होती है। इसलिये उपयोगिता एक चीज है आवश्यकता दूसरी चीज। मनुष्य को दोनो चाहिये। इसलिये वह उपयोगी और आवश्यक दोनो ही चीज का व्यवहार करता है। कभी-कभी काल विशेष और देश विशेष, अवस्था विशेष की अपेक्षा अधिक उपयोगी चीज भी कम उपयोगी हो जाती है। प्यासे को पानी की उपयोगिता है पर वही जब बरतन बेचने बैठता है तब पानी की नही उसे बरतनो की उपयोगिता हो जाती है। शाब्दिक ज्ञान को पूरा करने के लिये जैसे चित्र की आवश्यकता है वैसे ही कभी-कभी चित्र को समझने के लिये शाब्दिक ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। इसलिये आत्म-कल्याणेच्छु को मूर्ति की तरह शास्त्र और शास्त्रों की तरह मूर्तियो का भी उपयोग आवश्यक है।

प्रश्न—रोग को दूर करने मे वैद्य की पुस्तक जितनी उपयोगी हो सकती है उतना चित्र मूर्ति नही तो फिर आध्यात्मिक रोगो को दूर करने के लिए भगवान् को मूर्ति कैसे कामयाब होगी ?

उत्तर—वैद्य दवाओ से रोग अच्छा करता है, परन्तु स्वय दवा नही है। इसलिये रोग मुक्ति मे उसके चित्र का कोई उपयोग नही, परन्तु भगवान् वीतरागता का मूर्तिमान रूप होने से स्वय एक दवा है। इसलिये उनके चित्र (मूर्ति) से आध्यात्मिक रोग की शाति हो सकती है।

प्रश्न—वैद्य स्वय दवा न सही पर जो दवा है उसका चित्र भी तो देख लेने मात्र से रोग दूर नही हो सकता। इसी तरह भगवान् स्वय दवा भी हो परन्तु उनका चित्र आध्यात्मिक रोग कैसे शान्त कर सकता है ?

उत्तर—दवा का चित्र यदि रोग दूर नही करता तो वैद्य की पुस्तक जिसमे दवा का वर्णन है वही रोग को दूर कैसे कर सकती है ? पुस्तक से जैसे दवा का प्रयोग समझ लेने के बाद उसके उपयोग की आव-

श्यकता है, वैसे ही चित्र से दवा को पहचानने के बाद उसके उपयोग की आवश्यकता है। यही बात भगवान् और मूर्ति के साथ है। भगवान् के चित्र से वीतरागता पहचानी जाती है और उसका प्रयोग शास्त्रों से समझा जाता है। इस तरह पहचानने और समझने के बाद वीतरागता जब उपयोग की चीज हो जाती है तब आध्यात्मिक रोग भी दूर होने लगता है।

प्रश्न—मूर्ति से कल्याण मार्ग के दर्शन आध्यात्मिक बल प्राप्त करने के नियम किस प्रकार जाने जा सकते हैं?

उत्तर—वीतरागता स्वयं कल्याण मार्ग है जब उसके दर्शन मूर्ति या मूर्तिमान मे होते है तब कल्याण मार्ग के ही दर्शन होते है। यदि मूर्ति से कल्याणमार्ग के दर्शन नही हो सकते हैं तो मूर्तिमान के दर्शन से ही कल्याण मार्ग के दर्शन कैसे हो सकते है। फिर तो दिव्यध्वनि सुनने के अलावा अरहन्त का साक्षात् दर्शन करना भी बेकार है। अतरग के विचारो को कहने सुनने के लिये जैसे शब्द माध्यम (medium) है वैसे ही उन विचारो को समझने समझाने के लिये बाह्य मुद्रा भी माध्यम है। चेहरा मन की बात कह देता है। 'उनके शरीर से ही मोक्षमार्ग टपक रहा था'[1] आदि प्रासंगिक उक्तियाँ भी बाह्य मुद्रा की माध्यमता स्वीकार करती हैं। मुस्कराती हुई युवती के चित्र को देख कर जब अकल्याण पंथ की ओर जाया जा सकता है तब क्या भगवान् की शान्ति मूर्ति को देखकर कल्याण पथ के दर्शन भी नही हो सकते। किसी डरावने यक्ष और भगवान् जिनेन्द्र की मूर्ति देखकर एक अपढ बच्चा भी बता देगा कि कल्याणक मार्ग के दर्शन किधर हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक बल यदि भगवान् जिनेन्द्र के साक्षात् दर्शन से प्राप्त किया जा सकता है तब वह मूर्ति के दर्शन से भी प्राप्त किया जा सकता है।

प्रश्न—मूर्ति द्वारा मूर्तिमान के भाव को जानने का मुख्य कारण मूर्ति नही है मूर्ति या साक्षात् प्राणधारी व्यक्ति को देखकर उसके भाव या परिचय का जानने का प्रधान कारण ज्ञान ही है। ज्ञान बल से ही मनुष्य समान वयरूप लावण्ययुक्त दो युवतियो को देखकर एक को बहिन दूसरी को पत्नी रूप मे समझता है।

उत्तर—भावो के पहचानने से मतलब यहाँ शक्ल सूरत के परिचय से नही है, बल्कि मानसिक विचारो की पहचान से है। बहिन और पत्नी का परिचय ज्ञान से होता है। पर, बहिन और पत्नी के समय-समय पर होने वाले मानसिक विचारो का परिचय चेहरे पर उनकी (मानसिक विचारो की) झलक से होता है। यही झलक उनकी बाह्यमुद्रा या मानसिक विचारों का प्रतिबिम्ब है जो अन्तरङ्ग को समझने लिये माध्यम है। समयानुसार पत्नी की विषय निवृत्ति और बहिन की कामुकता ज्ञान से पहचानने की चीज नही है। ज्ञान तो उसे बहिन करके छोड देगा, पर उसकी कामुकता को ओर सकेत उसकी बाह्यमुद्रा ही करेगी। इसी तरह ज्ञान कहेगा कि पत्नी से पत्नी का कार्य लिया जाय, पर उसके चेहरे की उदासीनता (विषय विरक्तिजन्य) कहेगी कि वह अभी इस योग्य नही है। इसलिये मूर्तिमान के भावो को जानने का मुख्य साधन मूर्ति ही है न कि ज्ञान।

प्रश्न—यदि बाह्यमुद्रा (Appearance) से ही अन्तरङ्ग का परिचय मिलता है तब तो कोई भी मूर्तिपूजक चोर, ठग, हत्यारो के धोखे मे न आता होगा क्योकि उनके अन्तरङ्ग का पता उनके देखने से ही लग जाता होगा।

उत्तर—जो चोर, ठग है वे चीजो के छुपा देने की तरह अपने अन्तरङ्ग के भावों को भी छुपा लेते हैं, उन्हें चेहरे पर आने नही देते। अगर वे ऐसा न करें तो स्वभावत उनके अन्तरङ्ग के भाव चेहरे पर

१. वक्र वक्ति हि मानसम् (वादीभसिंह) मोक्षमार्गमवाग्वपुषा निरूपयन्तम् (पूज्यपाद)

आये बिना न रहें। इसलिये बदमाशों द्वारा धोखे मे आ जाने का मतलब यह नहीं है कि उनके अन्तरङ्ग का भाव चेहरे पर नही आता, बल्कि यह है कि वे उसे प्रकट नही होने देते।

प्रश्न—मूर्ति की उपयोगिता होने पर भी मूर्तिमान की जो उपयोगिता है वह मूर्ति की उपयोगिता नही हो सकती ?

उत्तर—मूर्तिमान की उपयोगिता से मतलब उसकी तमाम हरकतों से नही है बल्कि उस हरकत से है जिसे हम चाहते हैं। मूर्तिमान (भगवान् जिनेन्द्र) चलता है, चला करे उससे हमें क्या ? उसकी तरह हम भी चलने लगें तो इससे हमारा कल्याण न हो जायगा। इसलिये हम मूर्ति मे चलना नही देखना चाहते। मूर्तिमान (भगवान् जिनेन्द्र) मे वीतरागता है उससे हमारा कल्याण होता है इसलिये हम उसे चाहते हैं, जब चाहते हैं तब उसी वीतरागता का प्रतिबिम्ब बना लेते हैं। इसी तरह हम भगवान् के वचनो को भी चाहते हैं और उनका प्रतिबिम्ब शास्त्रो के रूप से (जिनवाणी) तैयार कर लेते हैं। इसलिये मूर्तिमान की उपयोगिता जिस दृष्टिकोण को लेकर है उसी दृष्टिकोण को लेकर मूर्ति की उपयोगिता है उससे कम नही है।

प्रश्न—इसका अर्थ तो यह है कि आप असल और नकल मे कोई भेद नही कबूल करते ?

उत्तर—असल और नकल का भेद उनकी तमाम अवस्थाओ की अपेक्षा से है, इच्छित अवस्था को लेकर नही। मूर्ति और मूर्तिमान मे जड चेतन के लिहाज से भेद है परन्तु शान्त मुद्रा को समझने के लिहाज से कुछ भी भेद नही है। इतना ही नही बल्कि कभी-कभी तो असल और नकल मे भेद होने पर भी नकल की उपयोगिता असल से अधिक बढ जाती है। गवाह के असली वचनो का उतना मूल्य नही है जितना लिखित बयानों का। लिखित बयान आखिर कहे हुए वचनो का प्रतिबिम्ब ही है दूसरे शब्दो मे वह असल की नकल है। जब आदमी कोई वायदा करता है तब कहते हैं आप लिख दीजिये। लिखी हुई चीज जड है फिर भी उसका आदर है उसके लिखने वाले चेतन का नही। यहाँ असल और नकल पर दृष्टि नही है, न जड चेतन पर ही, बल्कि उनकी उपयोगिता पर है। इसी तरह कोई अत्यन्त प्रामाणिक पुरुष जब अपना वायदा लिखने बैठता है तब कहा जाता है 'अजी आपका कहना हो काफी है' यहाँ भी कहने वाले की चेतनता का लिहाज नही है बल्कि जो उपयोगिता उसके लिखित वाक्यो से थी वह उससे ही पूरी हो जाती है इसलिये उसी से काम ले लिया जाता है। इस तरह असल और नकल मे भेद होने पर समय-समय पर एक से दूसरे की उपयोगिता बढ जाती है और जब किसी इच्छित दृष्टिकोण को रखकर हम असल और नकल का मिलान करते हैं तब दोनो मे कोई भेद नही रहता।

प्रश्न—इच्छित दृष्टिकोण को लेकर जब असल और नकल मे कोई भेद नही है तब सिंह की प्रस्तर मूर्ति से सिंह की पहचान कर लेने के बाद साक्षात् सिंह को देखने का कुतूहल क्यो पैदा होता है ?

उत्तर—प्रस्तर मूर्ति से सिंह की पहचान कर लेने के बाद भी सिंह की अन्य हरकतो के देखने का कुतूहल होता है, सिंह की पहचान का नही। कोई-कोई सिंह को प्रस्तर मूर्ति को देख कर उसकी सचाई परखने के लिये भी साक्षात् सिंह को देखते है। पर, इस प्रकार का कुतूहल एक बार साक्षात् सिंह को देखकर दुबारा दूसरे सिंह को देखने के लिये भी हो सकता है। इससे असल और नकल मे भेद नही मानना चाहिये, अन्यथा असल-असल में भी भेद कबूल करना होगा। एक चीज का दुबारा दर्शन या तो उसकी अन्य विशेषताओ के लिये है या पहले विश्वास को दृढ़ता के लिये है। वह नकल से असल का, असल से नकल का अथवा नकल से नकल का या असल से असल का भी होता है इसमें भेद की कोई बात नही है। कभी-कभी बार-बार विषय तृप्ति के लिये भी मनुष्य ऐसा करता है। बगीचे मे विशेषता न होने पर भी हम प्रतिदिन

टहलने उसमें इसलिये जाते हैं कि हमको आनंद आता है, इसका अर्थ यह नही कि प्रतिदिन के बगीचे मे कुछ भेद हैं। इसी तरह सिंह के देखने में भी समझना चाहिये।

प्रश्न—आप ऊपर लिख आये हैं कि मुसकराती हुई युवती के चित्र को देखकर जब अपथ की ओर जाया जा सकता है तब वीतराग जिनेन्द्र का मूर्ति देखकर कल्याण मार्ग के दर्शन क्यों न होंगे ? यहाँ आप यह भूल जाते है कि वहाँ मुसकराती हुई युवती का चित्र कारण नही है बल्कि मोह की प्रबलता कारण है। युवती का चित्र न भी हो तब भी उस प्रकार को बातें सुनने से या जरा-सा वैसा निमित्त मिलने से मनुष्य के अन्दर कामुकता आ सकती है परन्तु वीतरागता समान क्षयोपशम भावो का होना सहज नही है अन्यथा आज मूर्ति-पूजा से सभी दिगम्बर मूर्ति पूजक वीतरागी बन गये होते।

उत्तर—कौन से भाव सरलता से पैदा होते है, कौन से कठिनता से यहाँ इसकी चर्चा नही। चर्चा इसकी है कि जड मूर्ति भी उन भावो को पैदा करने मे कारण है मूर्ति न हो मूर्ति की तरह अन्य कोई जड पदार्थ हो यदि वह असल नही है असल से सम्बन्धित पदार्थ है तो मूर्ति की उपयोगिता या भावोदय मे उसकी प्रमुखता स्वय सिद्ध हो गई। मान लीजिये 'क' को 'ख' मे वैर है यदि 'क' को 'ख' के कपडे लत्ते देखकर वैर उठता है तब 'ख' की मूर्ति देखकर तो उठेगा ही। विरोधी का कहना तो यह है कि असल के बिना काम नही चलता पर उक्त दृष्टान्त से तो असल की नकल तो क्या जो केवल असल से सबधित पदार्थ है उससे भी काम चल गया। असल (मूर्तिमान) के आकार (मूर्ति) से तो भावोदय न हो और असल से सबंधित निराकार चीज से हो जाय ऐसा कहने वाला अज्ञान या पक्षपात की चरम सीमा पर ही बैठा है। भावोदय मे यदि केवल मोह की प्रबलता ही कारण माना जाय तब तो अत्यन्त रोगिणी युवती को देखकर भी कामुकता सवार हो जाना चाहिये। दफ्तर के काम मे सलग्न एक क्लर्क को भी काम चेष्टाये करते रहना चाहिये पर यह सब होना नही है। इसलिये मोह की प्रबलता भी अनुकूल निमित्त चाहती है। विरोधी कह सकता है कि जब मोह की प्रबलता कारण नही तब निर्मोही केवली में भी चित्र आदि देखने से कामुकता आ जानी चाहिये। परन्तु उसे यह नही मालूम कि इस तरह तो नकल (मूर्ति) की तरह असल (मूर्तिमान) भी बेकार हो जायगा। निर्मोही केवली के सामने सुन्दर स्त्रियो को बैठे रहने पर भी मोहोदय नही होता। जब मोह के विषय मे यह बात है वही वीतरागता के बारे मे है। वह कठिनता से या देर से ही पैदा होती हो फिर भी निमित्त को पाकर होती तो है। वह निमित चाहे मूर्ति हो या मूर्तिमान, वीतरागता की कष्ट साध्यता दोनो के लिये एक सी रहेगी। दूसरी बात यह है कि मनुष्य अनुकूल और प्रतिकूल विचारो का सघर्ष है जब जैसा वातावरण मिला तब उसी प्रकार के विचार पैदा हो जाते है इसलिये वीतरागता की कष्टसाध्यता और सरागता की सहजसाध्यता केवल वातावरण का प्रश्न है। गृहस्थ जितने सरागता के वातावरण मे रहता है साधु उतने ही वीतरागता के वातावरण मे रहता है सरागता मे जैसे हमे वीतरागता के कठिनता से दर्शन होते हैं वैसे ही वीतरागता मे सरागता के भी कठिनता से दर्शन होते हैं। कोई साधु जंगल में युवती देखकर भ्रष्ट हो सकता है तो सुदर्शन सठ जैसे युवतियो के साथ सोकर भी निर्लेप रह सकते हैं। सरागता मे जहाँ मोहोदय की प्रबलता है वहो वीतरागता मे उसके रसादय को निर्बलता है। अपने से द्वेष करने वाले की चीजें देखकर द्वेष पैदा होता है तो अपने द्वेषी की श्मशान म राख देखकर वीतरागता भी जाग्रत हो उठती है। इस तरह वीतरागता को कष्ट साध्य कहकर उसके प्रतिबिम्ब की उपयोगिता से पिण्ड नही छुडाया जा सकता अगर वीतरागता को एकात कष्टसाध्य मान लिया जाय तब तो मूर्ति की और भी आवश्यकता हो जाती है। जो चीज सहज साध्य है उसको मूर्ति हो या न हो पर कष्टसाध्य चीज के लिए तो मूर्ति चाहिये ही। यह कहना बेकार है कि यदि मूर्ति से वीतरागता मिलती है तो सभी दि० मूर्ति पूजक वीतरागी क्यो नही हो गये जब

तारण महाराज के शास्त्रों को पढ़कर तारण पंथी तारण नही बन गये या वीतरागी नही बन गये तब मूर्ति से ही सबको वीतरागी बन जाने का उलाहना व्यर्थ है। सब तो साक्षात् वीतरागी भगवान् को देखकर भी वीतरागी नहीं बन सके है।

प्रश्न—जब आप रसोदय की निर्बलता वीतराग प्राप्ति मे कारण मानते है तब वीतराग की मूर्ति कारण कैसे ?

उत्तर—रसोदय की निर्बलता रहने पर जैसे साक्षात् वीतराग भगवान् कारण है वैसे ही उनकी मूर्ति कारण है।

प्रश्न—जिनमें रसोदय की निर्बलता है ऐसा महात्मा तो ससार की किसी भी वस्तु से वैराग्य ही ग्रहण करेंगे। रागवान मूर्ति भी उनकी वैराग्य प्राप्ति मे कारण होगी। इसमे मूर्ति को विशेषता ही क्या रही।

उत्तर—इस तरह से तो जिनमे मोहोदय की प्रबलता है वे ससार की किसी भी वस्तु से राग ही ग्रहण करेंगे। साक्षात् साधु मुनि या वीतराग भगवान् भी उनकी राग प्राप्ति मे ही कारण होंगे फिर साक्षात् मूर्तिमान मे ही क्या विशेषता रही ? वीतराग ऋषभ के रहते हुए जब मारीच को अपने मिथ्यात्व मे प्रेरणा ही मिली। तब इससे कुछ भगवान् ऋषभनाथ व्यर्थ न हो जायगे। इसी प्रकार सरागी मूर्ति से भी यदि किसी को वैराग्य ही मिला तो मूर्ति की विशेषता न जाती रहेगी।

भावो के उदय मे अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनो प्रकार के ही निमित्त कारण होते है अन्तरंग कारण जहाँ द्रव्य कर्म है वही बहिरङ्ग कारण नो कर्म है मूर्ति और मूर्तिमान दोनो ही बहिरङ्ग कारण है इसलिये नो कर्म है और कर्मोदय की तरह इनका निमित्त मिलना भी आवश्यक है इस तरह मूर्तिमान की तरह मूर्ति की उपयोगिता भी हर हालत मे माननी होगी।

कहने का मतलब इतना ही है कि मूर्तिमान की तरह मूर्ति भी उपयोगी है और उसकी उपयोगिता कभी-कभी मूर्तिमान से अधिक भी हो जाती है। मूर्ति पूजा के विरोधी भी मूर्ति की उपयोगिता समझते हैं और उसका लाभ लेते हैं। सिनेमा के पर्दे पर अभिनय करने वाली मूर्तियाँ विरोधी और पूजक सभी के आनन्द की चीज होती है। अभिनय केवल शरीर का ही नही होता बल्कि अतरङ्ग भावो का भी होता है। वीरत्व भावो के प्रदर्शन के लिये तेज आवाज, रोबीला चेहरा आदि ढग अभिनयी को बनाना ही पडता है। कहने को तो वह अभिनय है पर दर्शकों के हृदय मे एक गुदगुदी पैदा कर देता है। अपनी न्यायोचित वीरता के लिए अभिनयी दर्शको की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है यहाँ तक कि उनमे आत्मीयता पैदा कर लेता है, उसके सुख मे सुख और दुख में दुख दर्शकों की अपनी चीज हो जाती है। इसी तरह मूर्ति मे भी मूर्तिमान के भावो का अभिनय (नकल) है वहाँ सरागता का भी हो सकता है और वीतरागता का भी परन्तु मूर्ति का अभिनय स्वय अभिनय होकर भी दर्शक के हृदय मे सरागता और वीतरागता के भाव पैदा कर देता है। इसस इस बात का भी निराकरण हो जाता है जो मूर्तिरूप कल्पित भगवान् से कल्पित स्वर्ग मोक्ष की आशङ्का करते है। अभिनय कल्पित होकर भी जब वास्तविक सुख-दुख पैदा करने मे कारण है तब भगवान रूप से कल्पना की गई मूर्ति भी वास्तविक स्वर्ग मोक्ष का कारण हो सकती है। कभी-कभी तो उस अभिनय के साथ दर्शक अपने को इतना मिला देता कि वह चीत्कार करने लगता है, हाथ पीटता है, रोने लगता है। यह सब उन मूर्तियों का ही असर है। यहाँ यह प्रश्न नही करना चाहिए कि अभिनय से ही ऐसा असर हो सकता है मूर्तियाँ तो चुपचाप बैठी रहती हैं। मूर्तियों का रूप स्वयं एक अभिनय का रूप है। कोई मनुष्य भी जब शान्त मुद्रा का अभिनय करने बैठेगा तब मूर्तियो की तरह ही चुपचाप बैठेगा अभिनय जब कला की दृष्टि से पार उतर जाता है तब दर्शक उसे

सजीव अभिनय कहने लगते हैं। यहाँ सजीव का अर्थ असल मूर्तिमान के अभिनय से है हालांकि अभिनय करने वाला कल्पित मात्र है और उसका अभिनय असल की नकल है फिर उसमें सजीवता का अनुभव होता है, इससे कम से कम यह तो समझना चाहिये कि अगर नकल हूबहू असल की तरह है तो दोनों के प्रभाव में कोई असर नहीं होता। जिनका हृदय इतना कठोर है कि मूर्ति के सजीव अभिनय से भी प्रभावित नहीं होता उनका हृदय साक्षात् मूर्तिमान से भी प्रभावित नही होगा परन्तु इसीलिए मूर्तिमान की अनुपयोगिता जाहिर न कर दी जायगी जब मूर्तिमान की अनुपयोगिता नही तब मूर्ति की उपयोगिता स्वय सिद्ध है। किसान को जब पक्षियों से खेत की रक्षा करनी होती है तब बाँसों के टुकडो को क्रॉस का रूप देकर उसे आदमी की शकल बना देते हैं और सिर की जगह हँडिया रख देते है। हालाकि वह आदमी की शकल का सजीव अभिनय नहीं फिर भी पक्षियो के लिये इतना ही काफी है और उसके आसपास पक्षी आते भी नही है। इस तरह किसान उस कल्पित आदमी की शक्ल से धान्य की वास्तविक रक्षा कर लेता है। कुतर्की यहाँ भी कहेगा कि इस प्रकार मूर्तियो का असर जानवरो पर ही डाला जा सकता है, मनुष्य जानवर नही तब उसे मूर्ति की क्या आवश्यकता है? परन्तु मनुष्य के लिये मूर्ति की आवश्यकता पहिले लिखी जा चुकी है। अब तक जो कुछ मूर्ति की उपयोगिता सिद्ध की गई है वह मनुष्य के लिहाज से ही की गई है खैर, विषय को समझाने के लिये यहाँ और भी लिख दिया जाता है। प्राणियो की योग्यता अवस्था और आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न है। इनका एकीकरण दो मनष्यो मे भी नही होता पशुओ की बात तो अलग है। कलाकार को चाहिये कि किस ढग की मूर्ति कब किसको उपयोगी होगी इस बात का ध्यान रक्खे। बालक से वृद्ध की योग्यता बिल्कुल भिन्न है इसीलिये गुड्डे गुडिया और खिलौनो की उपयोगिता जो बच्चो को हो सकती है वह वृद्ध को नही। अपने प्रयोग मे लगे हुए वैज्ञानिक के चित्र का उपयोग जितना एक साइन्स के विद्यार्थी को हो सकता है, उतना सडक पर झाड देने वाले भगी को नही क्योकि दोनो की परिस्थितियाँ भिन्न है। विवाहार्थी को कन्याओ के चित्र की जितनी उपयोगिता हो सकती है उतनी कन्या पढाने वाले को नही क्योकि दोनो की अपनी-अपनी आवश्यकतायें अलग हैं। यह तो दो मनुष्यो की बात है कभी-कभी एक ही मनुष्य को समयानुसार योग्यता अवस्था और आवश्यकता के लिहाज से भिन्न-भिन्न चित्रो की उपयोगिता होती है। मनुष्य और पक्षी दो विभिन्न योग्यता के प्राणी हैं। जिन चित्रो का उपयोग जिस लिहाज से पक्षियो के लिये है उस लिहाज मे उन चित्रो का उपयोग मनुष्यो के लिये नही होता। किसान को पक्षियो को योग्यतानुसार बाँसो के क्रॉसवाला मूर्ति के निर्माण की आवश्यकता थी जिसका उसने खेत की रक्षा निमित्त पक्षियो को उडाने के लिय उपयोग किया। इसलिये मूर्तियों का असर जानवरों पर भी होता है। मनुष्यो पर भी सिफ उनका योग्यता परिस्थिति और आवश्यकता के अनुकूल चित्र का निर्माण होना चाहिये। ग्रामोफोन के रिकार्ड असल आवाज नही किन्तु आवाज की नकल है फिर भी उसका प्रभाव वही है जो असल आवाज का है। इस तरह हमारे अधिकाश व्यवहार मूर्तियो से चला करते है। उदाहरणो के नाम पर वे और भी लिखे जा सकते हैं पर उनसे लेख का कलेवर ही बढेगा समझने के लिये जो कुछ लिखे गये है वे ही काफी है। मूर्ति की उपयोगिता क्या है उसमे और मूर्तिमान मे क्या अन्तर है। दोनो में कौन अधिक उपयोगी है। मूर्ति का जडता से क्या सबध है मूर्ति पूजा विरोधी भी मूर्ति का कैसे उपयोग मे लाता है आदि प्राय सभी बातो का उल्लेख पहले आ चुका है। स्वय तारणपथियो ने अपने ट्रक्टो मे मूर्ति की उपयोगिता मानी है और मूर्तिमान के परिचय तक उसके व्यवहार का कबूल किया है। इसलिये मूर्ति की उपयोगिता मे कोई विवाद नही है। अब विवाद केवल दो बातो पर है १. मूर्ति की पूजा, २. और उस पूजा का तरीका। यह पहले लिखा जा चुका है कि जो चीज उपयोगी है उसका आदर तो किया ही जाता है आदर का ही दूसरा नाम पूजा है। यदि मूर्ति हमारे लिये उपयोगी है तो उसका आदर की चीज होना या पूजा

की चीज होना अपने आप सिद्ध है। पदार्थ को उपयोगी मानकर भी उसके लिये निरादर के भाव रखना मूर्खों की दुनिया में ही उचित माना जा सकता है। हाँ उपयोगी चीज के आदर के तरीके में अन्तर भले ही हो पर आदर तो होता ही है। अगर इन तारणपन्थियों से कहा जाय कि तुम दिगम्बर जैनों के तरीकों से मूर्ति का आदर मत करो पर अपने तरीके से तो करो क्योंकि उपयोगिता तो तुम कबूल कर ही चुके हो तब ये बगलें झांकने लगते हैं और अपनी जडता दिखाते हैं। यह और कुछ नही है अपनी हठधर्मी से मूर्ति में जडता की ओर ध्यान देने का ही परिणाम है। खैर इनकी इस अविवेकता से उपयोगिता कुछ निरादर की चीज न हो जायगी। शास्त्रों का उपयोग मानकर उनका तो आदर किया जाय और मूर्ति का उपयोग मानकर उसका आदर किया जाय यह एक विलक्षण फिलॉसफी है जो दिगम्बर जैनो में इन तारणपथी पडितो के ही हाथ लगी है। पूजा आदर का ही नाम है जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। उपयोगिता की मात्रा जिसमें जितनी अधिक है आदर का रूप भी उसमे उतना ही बढ जाता है। एक विद्यार्थी को साधारण आदमी की अपेक्षा गुरु की उपयोगिता अधिक है इसलिये गुरु के आदर का रूप साधारण आदमी के आदर से बढ़ा हुआ ही होगा। सम्राट भरत ने अपने चक्र रत्न की पूजा की थी तेरह रत्न उनके पास और भी थे परन्तु साम्राज्य स्थापन में उनका इतना उपयोग न था जितना चक्र रत्न का था। इसलिये आदर तो और रत्नों का भी था परन्तु चक्ररत्न के आदर का रूप उनसे बढा हुआ था। घर मे कोई चीज बुजुर्गों के जमाने से चली आई है हम उसकी सम्हाल जितने अच्छे रूप से करते हैं उतनी अन्य चीजो की नही, इसका मतलब इतना ही है कि बुजुर्गों वाली चीज अधिक समय से अधिक आदमियो के उपयोग की चीज रही है। बुजुर्गों की तरह वह हमें कुछ दे तो न देगी परन्तु इतने समय तक जो उसने काम दिया है और अब भी जो बुजुर्गों के स्मरण कराने मे सहायक है उसकी इस उपयोगिता को हम भुला नही देते प्रत्युत और घर की चीजो की अपेक्षा अच्छा आदर करते हैं। उसके रखने का स्थान अच्छा रखते हैं उसकी निगरानी रखते है जब बुजुर्गों की याद आती है तब उसे छाती से लगा लेते हैं यह सब पूजा का ही एक रूप है। इस तरह उपयोगिता के अनुसार ही आदर (पूजा) का दर्जा निश्चित किया जाता है।

प्रश्न—उपयोगिता के अनुसार आदर का दर्जा तो निश्चित किया जाय परन्तु उपयोगिता की कमी बेशी को कैसे परखा जाय ? घर मे पीतल का ग्लास जितना उपयोगी है उतना सदूक मे रखा हुआ सोना नही फिर भी सोने का जो आदर है वह पीतल के ग्लास का नही। घर मे बने हुये पाखाने की उपयोगिता सभी जानते है पर लोग उसका आदर नही करते किन्तु थूकते है। हवा जीवन के लिये सबसे ज्यादा उपयोगी है पर उसके लिए पूजा का थाल लेकर कोई नही बैठता।

उत्तर—जिसके द्वारा हमारा अधिक से अधिक कल्याण हो और जिस कल्याण मे हमारी अभिलाषा हो वही अधिक उपयोगी है और जिसमें यह बातें कम हो वही कम उपयोगी है और उसी के अनुसार हम उसका कम या अधिक आदर करते हैं। सन्दूक में रखा हुआ सोना उपयोग मे तो नही आ रहा पर उसके द्वारा कई उपयोगी पीतल के ग्लास खरीदे जा सकते है। इसलिये एक पीतल के ग्लास की जितनी उपयोगिता है उससे कई गुने अधिक पीतल के ग्लास की उपयोगिता उस सन्दूक के सोने मे है। ऐसी हालत मे पीतल के ग्लास की अपेक्षा सन्दूक के सोने का अधिक आदर होना उचित ही है। यह हमारा भ्रम है कि बने हुए पाखाने का आदर नही करते, क्योंकि हमारा ध्यान उसकी अनुपयोगिता के अंश पर रहता है, उपयोगिता के अंश पर नही। उसके बनाने के लिए सौ-पचास रुपये खर्च करना ही उसमे आदर बुद्धि को सूचित करता है इसके अलावा उसे प्रतिदिन धुलवाना, साल भर बाद पुतवाना, रोज साफ करवाना उसके लिये खास तौर से

भंगियो को हिदायत करना और उस पर की हुई मेहनत का मूल्य चुकाना आदि सभी तो उसका आदर है। थूकना तो उसकी गन्दगी पर है जो स्वास्थ्य के लिये अनुपयोगी है। उसकी उपयोगिता के लिए तो आदर ही है। हवा के लिए कोई पूजा का थाल लेकर न बैठे पर पूजा (आदर) तो करता ही है। मकान में झरोखे लगवाना, पंखे खरीदना, बिजली के पखे लगवाना, समुद्र के भीतर पनडुब्बियों में बैठने के लिए गैसों (जो एक प्रकार की हवा ही है) का प्रयोग करना, साईकिल या मोटर के पहियो में से हवा निकल जाने पर बेचैनी हो उठना यह सब हवा के ही आदर को सूचित करता है। असल में यह हमे एक भ्रम है कि हम हवा का आदर नही करते, चूँकि उसकी बहुतायत है और उसका पैदा करने मे प्रकृति का ही अधिक हाथ रहता है, अगर उसके पैदा करने मे हमारा ही हाथ अधिक रहता और कुछ कष्ट-साध्य होता तो हमे उसके आदर का भान भी होता। खैर! भान न हो पर आदर तो उसका होता ही रहता है। हाँ, आदर के साथ उसके लिये थाल लेकर नही बैठा जाता, इसका मतलब इतना ही है कि उपयोगिता के साथ उसमे अपेक्षित आदर्शता नही है और न यह भय ही है कि कभी हवा रूठ जायगी तो हम जिन्दा कैसे रहेंगे। इस तरह उपयोगिता की कमीबेशी समझ कर ही आदर का दर्जा निश्चित किया जाता है। घर मे अनेको चीजे होती है, परन्तु उनका आदर एक सा नही होता, इसका कारण उनकी उपयोगिता की कमीबेशी ही है। स्टूल के आदर से कुर्सी का आदर कुछ अच्छा ही होता है। इस तरह आदर (पूजा) में तर-तमता होकर भी उनके प्रकार में भी अन्तर हो जाता है।

प्रश्न—उपयोगी चीज के आदर करने का मतलब तो यह है कि मूर्ति की भी साल-सम्हाल की जाय उसे टूटने-फूटने से बचाया जाय उसे विकृत न होने दिया जाय यह नही कि उसके नाम पर गोत गाये जाँय, चीजें चढ़ाई जाँय यह बातें तो व्यर्थ ही है।

उत्तर—गीत गाना और चीजें चढ़ाना तो साक्षात् मूर्तिमान (वीतराग भगवान्) के नाम पर भी व्यर्थ है, परन्तु यहाँ व्यर्थता का ख्याल नही है। केवल कृतज्ञता का तकाजा है। मनुष्य जब कृतज्ञता के बोझ से लद जाता है तब स्वभावतः उसका बदला चुकाना चाहता है, भले ही उसका उपयोग जिसके हम कृतज्ञ है करें या न करे। अपने अक्षम्य अपराध को लेकर नौकर दण्ड पाने की आशा से मालिक के पास जाता है, परन्तु जब वहाँ से क्षमा और सान्त्वना पाकर लौटता है तब कृतज्ञता से दब कर स्वभावत उसके पैरो मे गिर पडता है। कोई-कोई तो बदले मे अपनी जान तक देने को तैयार हो जाते हैं। श्रेणिक को विश्वास था कि मुझे अपने अपराध के बदले मे मुनिराज से गालियाँ ही मिलेगी, परन्तु चेलना की तरह जब अपने को भी आशीर्वाद पाया तब पानी-पानी हो गया, कृतज्ञता ने तकाजा किया कि इस महात्मा के चरणो मे वह अपना सिर चढा दे, परन्तु मुनिराज ने मनोभावो को ताडकर इसे अस्वीकार कर दिया। श्रेणिक का सिर चढ़ाना भले ही मुनिराज के उपयोग की चीज न था, परन्तु श्रेणिक पर कृतज्ञता का जो बोझ था वह उसी के उतारने का यह बदला था। वीतरागता से आज तक अनन्तो प्राणियो का कल्याण हुआ है, उसने साधारण आत्माओ को भी परमात्मा बना दिया है। इसलिये उसका प्रतिबिम्ब चाहे जिन्दा शरीर पर हो या जड प्रस्तर पर सामने जाते ही मनुष्य कृतज्ञता से झुक जाता है और बदले मे प्रशसा भी गाता है, चीजें भी चढ़ाता है, यह केवल कृतज्ञता का ही तकाजा है। चित्रपट (सिनेमा) की मूर्तियो का अभिनय देखकर दर्शको के मुँह से चीत्कार निकल पडता है, तालियाँ बजने लगती है, धन्य-धन्य और वाह-वाह की आवाजें आने लगती हैं। दर्शक यह सब करने के लिहाज से नही करते, परन्तु मूर्तियों का असर कारक अभिनय उनसे करा लेता है। इसी प्रकार वीतराग मूर्तियो की पूजा केवल पूजा के लिए नही की जाती, किन्तु वीतराग छवि उनसे पूजा करा लेती है। इसलिये गीत गाने और द्रव्य चढाने की व्यर्थता का ध्यान नहीं है, किन्तु प्रभाव और

कृतज्ञता का तकाजा है, जिसे पुजारी पूरा करता है। शास्त्रों की आरती भी इसीलिए उतारी जाती है कि उतारने वाला कृतज्ञता का बदला चुकाना चाहता है।

प्रश्न—रोगी के चित्र से रोगी का परिचय तो मिल जाता है परन्तु चित्र सेवा से रोगी का रोग दूर नहीं हो जाता अगर कोई दूर करने की चेष्टा करता है तो समझदार उसे मूर्खराज ही कहेंगे।

उत्तर—मूर्ति न पूजने वाले जब भगवान का परोक्ष स्मरण विधेय बताते हैं[1] तब उनसे भी यही प्रश्न हो सकता है। जिस प्रकार चित्रसेवा से रोगी के रोग दूर करने की कल्पना मूर्खता है उसी प्रकार रोगी के स्मरण करने से ही रोगी के रोग दूर करने की चेष्टा करना और भी वज्र मूर्खता है। चिट्ठी पढ़कर रोगी का परिचय पाया जा सकता है परन्तु चिट्ठी की आरती उतारने, उसे पालकी में निकालने से रोगी का रोग दूर न हो जायगा, फिर भी जब शास्त्रों की पूजा होती है तब मूर्तियों की क्यो नही।

प्रश्न—एक बालक या पशु भी सिंह की मूर्ति को देखकर डरता नही, भौंरा नकली फूलो पर मँडराता नही, कामी पुरुष भी प्रेयसी के चित्र से काम पिपासा शांति का प्रयत्न नही करता फिर क्या कारण है कि समझदार कहे जाने वाले महानुभाव मूर्ति की पूजा कर उसे प्रभु पूजा होना मान लेते है।

उत्तर—यों तो बालक या पशु भी सिंह के स्मरण से भी नही डरते, भौंरा फूलो का स्मरण कर मँडराता नही, कामी पुरुष भी प्रेयसी का स्मरण कर उससे काम पिपासा शान्त नही कर लेता। फिर अपने को समझदार कहने वाले मानसिक स्मरण से प्रभु स्मरण कैसे मान लेते हैं। इसी प्रकार शास्त्रो के बारे मे भी समझना चाहिये, वहाँ भी सिंह का वर्णन पढकर बालक डरता नही है, प्रेयसी के रूप की चर्चा पढकर उन अक्षरों से काम पिपासा शांत नही कर लेता, फिर शास्त्रों की पूजा से ज्ञान की पूजा कैसे समझ ली जाती है।

मूर्तिपूजा विरोधी उत्तर देने के लिये प्राय: इसी प्रकार की दलीले दिया करते है। वे दलीले और भी हो सकती है, पर विचारक के लिये उनमे बल नही है खासकर शास्त्रो की पूजा और मानसिक स्मरण से वे मूर्तिपूजको से भी पक्के मूर्तिपूजक बन जाते है। इस तरह एक मूर्तिपूजा की जगह पचासो शास्त्र मूर्तियो की वे पूजा करने लगते है। उदाहरण के लिये उनकी मुख्य-मुख्य दलीले और दी जाती हैं—

१—गृहस्थ चित्र लिखित वाटिका को देखकर प्रसन्न हो सकता है सैर नही कर सकता। सरोवर के चित्र को देखकर मनुष्य खुश हो सकता है नौका विहार नही कर सकता।

२—क्या फूलो के चित्र से सुगन्धि प्राप्त हो सकती है? क्या नकली गाय के आश्रय से दुग्ध प्राप्त हो सकता है यदि नही तो मूर्ति के आश्रय से मूर्तिमान की पूजा कैसे हो सकती है?

३—लकडी मे घोड़े का आरोप करने से बच्चो को खुद ही दौडना पडता है, उसी प्रकार मूर्ति में भगवान् का आरोप कर अपनी ही मनमानी क्रियाये करते हुये धर्म मान कर खुश होना पडता है।

४—मिट्टी, पत्थर अथवा लकडी के बने हुये नकली अंगूर, सेब, सन्तरे, बादाम आदि फलों को खाने की बुद्धिमानी कोई नही करता।

५—मन्दिर का नकशा होने पर भी जैसे मन्दिर की मुराद पूरी नही हो सकती वैसे ही प्रभु की मूर्ति होने पर भी प्रभु सम्बन्धी मुराद (पूजा आदि) पूरी नही हो सकती।

६—गाय के चित्र के सामने एक गँवार आदमी भी घास दाना नही डालता फिर भगवान् की मूर्ति

१. आप यदि प्रभुभक्ति करना चाहते हैं तो स्वय अनन्त चतुष्टय सम्पन्न प्रभू का (बिना मूर्ति के ही) नियम-पूर्वक ध्यान कीजिए। अना० दि० जैन मूर्तिपूजा, पे० २१)

के सामने ही जल चन्दनादि क्यों डालते हैं। संक्षेप में यही खास दलीलें हैं जो प्रायः एक सी हैं, अन्य दलीलों का भी सार इन्हीं में गर्भित हो जाता है इसलिये उन्हें अधिक न बढ़ाकर उनका उत्तर नीचे दिया जाता है।

१—चित्र लिखित वाटिका में जैसे कोई घूम नहीं सकता वैसे ही वाटिका का स्मरण करने से भी तो उसमें घूमना नहीं हो जाता और न पुस्तक में लिखी हुई वाटिका की शोभा को पढ़ कर ही पुस्तक में विहार किया जा सकता है। इसलिये जैसे वाटिका का चित्र, वाटिका का स्मरण, वाटिका की पुस्तक तीनों ही निरर्थक साबित हुई वैसे ही प्रभु की मूर्ति, प्रभु का स्मरण और प्रभु की पुस्तक (शास्त्र) तीनों ही बेकार हो गए और साक्षात् प्रभु सामने हैं नहीं तब तो कल्याण का कोई मार्ग ही नहीं रहा फिर चैत्यालय और निसईजी बनाना धर्म के नाम पर पाखण्ड को ही प्रोत्साहन देना है।

२—फूलों के चित्र से सुगन्धि प्राप्त नहीं हो सकती तो फूलों के स्मरण से भी सुगन्धि प्राप्त नहीं हो सकती और न फूलों के लिखित वर्णन से ही सुगन्धि प्राप्त हो सकती है। नकली गाय से जैसे दूध नहीं मिलता वैसे ही असली गाय के स्मरण से भी दूध नहीं मिल सकता।

३—लकड़ी में घोड़े का आरोप करने से पैरों में खुद ही थकान आती है वैसे ही घोड़े का स्मरण करने से खुद मस्तिष्क में ही थकान होगी। घोड़े की सवारी का मजा यदि लकड़ी में नहीं है तो घोड़े के स्मरण में भी नहीं है। प्रभु भक्ति का होना यदि मूर्तिपूजा से नहीं है तो प्रभु के स्मरण से भी नहीं है।

४—नकली सेव-सन्तरों को कोई खाने की बुद्धिमानी नहीं करता तो सेव-सन्तरों के स्मरण से भी उनके स्वाद चखने की कोई मूर्खता नहीं करता। दूसरे की आँखों की फुली देखने वाले, दुःख है कि अपनी आँखों का टेंट भी नहीं देखते। सेव-सन्तरों का स्मरण तो उपयोगी हो पर सेव-सन्तरों का चित्र उपयोगी न हो इससे अधिक बुद्धि की दयनीयता और क्या हो सकती है?

५—मन्दिर के नकशे की तरह मन्दिर के स्मरण से भी मन्दिर की मुराद पूरी नहीं होती, फिर प्रभु-मूर्ति की तरह प्रभु स्मरण से ही मुराद कैसे पूरी हो जायगी।

६—गाय को घास दाना खिलाना गाय की कृतज्ञता का फल नहीं है : गाय की आवश्यकता का प्रश्न है, परन्तु प्रभु के सामने जल चन्दनादि चढ़ाना प्रभु की आवश्यकता का प्रश्न नहीं है किन्तु कृतज्ञता का फल है। इसका ठीक-ठीक मतलब यह है कि कृतज्ञता की भावना पुजारी में है और आवश्यकता की प्रेरणा पूज्य में है। असली गाय को भी यदि कभी दाने घास की आवश्यकता न होगी तो हम उसे दाना घास डालते न रहेंगे पर कृतज्ञता में जो कुछ चढ़ायेंगे वह गाय को उसकी आवश्यकता के बिना भी चढ़ाते रहेंगे। मूर्ति को हम जो कुछ चढ़ाते हैं वह कृतज्ञता की प्रेरणा से ही चढ़ाते हैं और वही कृतज्ञता की प्रेरणा हमें मूर्तिमान के सामने भी चढ़ाने को बाध्य करती है। परन्तु आवश्यकता आवश्यकता के समय भी कुछ चढ़ाने या खिलाने को बाध्य करेगी। इसलिये पुजारी जो कुछ चढ़ाता है वह कृतज्ञता के तकाजे से, न कि आवश्यकता की प्रेरणा से। गाय के चित्र को घास-दाने की आवश्यकता नहीं है न मूर्ति को जल चन्दनादि की। पर, चन्दन जलादि का चढ़ाना कृतज्ञता का एक बदला चुकाना है। घास और दाना कृतज्ञता का बदला नहीं है इसलिये गौ चित्र के सामने उनका पटकना जल चन्दनादि चढ़ाने की कोटि में नहीं आता। फिर भी यदि गाय के चित्र को घास-दाना न खिलाने की युक्ति ठीक न मान ली जाय तो गाय की पुस्तक को हम घास-दाना न खिलाने लग जायेंगे जिससे शास्त्रों की आरती उतारना या उनको पालकी में निकालना अथवा वेदियों में विराजमान करना ठीक माना जाय। हँसी की बात तो यह है कि मूर्तिपूजा विरोधियों में से कोई तो शास्त्रों की पूजा करते हैं कोई भगवान् का परोक्ष स्मरण करते हैं कोई दोनों ही बातें करते हैं। पर, मूर्ति की पूजा नहीं करते। प्रभु के परोक्ष स्मरण से तो प्रभु-भक्ति उन्हें मञ्जूर है पर प्रभु की मूर्ति के भक्तिपूर्वक दर्शन से प्रभु भक्ति मञ्जूर नहीं है। वे

यह नहीं सोचते कि परोक्ष स्मरण भी तो एक मानसिक कल्पना है। जब एक कल्पना कल्पना है तब उससे सुधार की आशा भी क्या ? पर बात यह नहीं है। मानसिक कल्पना में भी जिसकी वह कल्पना है एक मूर्ति रूप देना पड़ता है। मानसिक विचार यों ही नही आ जाते, पर वे एक मूर्तिमान रूप लेकर आते हैं। वही मूर्तिमान रूप जब तक मन की चीज रहता है तब तक मानसिक विचार है और जब वही मूर्तिमान रूप मन से निकलकर अक्षरों, रेखाओ और धातुओ मे आ जाता है तब वही मूर्ति (शब्द चित्र, रेखा चित्र, प्रस्तर चित्रादि) कहलाने लगता है इसलिये मूर्तिपूजा और मानसिक स्मरण दोनो एक ही उद्देश्य के लिये हैं और दोनो एक दूसरे की उपयोगिता में सहायक है। जो इन दोनो से ऊपर उठ गये है उन्हे न भगवान् का स्मरण ही करना है न उनकी मूर्ति पूजना है, न साक्षात् भगवान् को देखना है, केवल शुद्ध वस्तु या उसकी किसी पर्याय अथवा गुण को आगे रखकर चिन्ता का विरोध ही उनके लिये बहुत है। इस तरह प्रभु का मानसिक स्मरण करने वाला प्रभु-मूर्ति की पूजा से इन्कार नही कर सकता। मूर्तिपूजा विरोधियो की तरफ से दी जाने वाली दलीलों के ऊपर जो उद्धरण दिये हैं या इस तरह की और भी जो दलीले है उनका खडन तो इसलिये कर दिया गया है कि साधारण लोग भ्रम मे न आ जायें अन्यथा विषय के प्रतिपादन मे वे चर्चा की भी चीज नहीं हैं और आश्चर्य तो तब और होता है जब वे पण्डिताई के नाम पर लिखी जाती हैं। खैर यहाँ ऊपर के २-१ उदाहरणो की व्यर्थता दिखाकर ही कुछ आगे बढा जायगा। एक उदाहरण है कि असली गाय से दूध मिलता है नकली गाय से नही, इसी तरह असली वीतराग से वीतरागता मिलेगी। नकली वीतराग (मूर्ति) से नही। यहाँ वीतरागता मिलने से मतलब अपने अन्दर वीतरागता पैदा करना है परन्तु गाय मे दूध मिलने का मतलब स्वयं दूध देने लगना नही है। वीतरागी को देखकर वीतरागी बना जाता है परन्तु गाय को देखकर गाय नही बना जाता। इसलिये यह उदाहरण विषम हो है और विचार कोटि के बाहर है। दूसरा उदाहरण नकली सेव, सन्तरे, अंगूरो का है। विरोधी कहता है कि नकली सेव, सन्तरे, अंगूरो मे पेट नही भरा जा सकता, उसी तरह मूर्ति की पूजा से प्रभु-भक्ति होना न मानिये। किन्तु उसे यह नही सूझता कि पेट भरने का प्रभाव जैसा पेट भरने वाले पर है वैसा ही फलो पर है किन्तु प्रभु भक्ति का प्रभाव भक्ति करने वाले पर हैं प्रभु पर कुछ नही इसलिये प्रभु के दर्शन से वीतरागी बना जा सकता है फलो के दर्शन से पेट नही भरा जा सकता। प्रभु-भक्ति का अर्थ जैसे वीतरागता मे अनुराग है वैसे ही वहाँ पेट भरने का अर्थ फलो मे अनुराग नही है। प्रभु-भक्ति का उद्देश्य प्रभु जैसा बन जाना है परन्तु पेट भरने का उद्देश्य फल जैसा बन जाना नही है। इसलिये उदाहरण भी व्यर्थ ही है। एक और उदाहरण लीजिये जब चित्र लिखित बाटिका से सैर नही हो सकती तब मूर्तिपूजा से ही प्रभु-भक्ति कैसे हो जाती है। यहाँ लिखने वाले ने यह तो मिला लिया कि चित्र लिखित बाटिका मे जैसे असली बाटिका (बाग) का घूमना नही वैसे ही मूर्तिपूजा से वास्तविक प्रभुभक्ति नही पर यह नही मिलाया कि प्रभु-भक्ति का मतलब जैसे वीतरागता का गुण-गान करता है वैसे ही वाटिका की सैर का मतलब वाटिका के गुण बखान करना नही है। वीतरागता की गुण-गाथा साक्षात् प्रभु के बिना भी गाई जा सकती है पर साक्षात् वाटिका के बिना सैर नही हो सकती। इसलिए यह उदाहरण भी विषम होने से चर्चा के बाहर है और व्यर्थ तो है ही। कुछ भाई यहाँ दार्ष्टान्त और दृष्टान्त के सभी धर्मों के न मिलने का बहाना करेंगे, पर सभी धर्म न मिले तो कम से कम इच्छित धर्म तो मिले। यहाँ दार्ष्टान्त यह नही है कि असल की तरह नकल से भी काम होता है बल्कि यह है कि जिस इच्छित धर्म को लेकर दार्ष्टान्त का प्रयोग होता है वही इच्छित धर्म दृष्टान्त मे भी हो। दार्ष्टान्त यह है कि वीतराग की मूर्ति से वीतरागता का स्वरूप पहचानना है परन्तु दृष्टान्त गाय के चित्र से गाय के रूप को समझना नही है किन्तु गाय से दूध लेना है। यही विषमता उक्त उदाहरणो को चर्चा की चीज नही रहने देती। इन २-३ उदाहरणो का तो नमूने के तौर भण्डाफोड

किया गया है। इसी तरह के और उदाहरणों की भी व्यर्थता समझ लेनी चाहिये। जो लोग यह आशा करते हैं कि असल के सभी काम नकल से हों वे यह भूल जाते हैं कि असल के सभी काम दूसरे असल से भी नहीं होते। भगवान् ऋषभनाथ के शरीर की ऊँचाई उनके विहार के स्थान, उनका आयुकाल, उनकी तपस्या का समय आदि सभी बातें अन्य तीर्थङ्करो से नही मिलती फि' भी भ० ऋषभनाथ मे तथा अन्य तीर्थङ्करों मे कोई एक बात ऐसी अवश्य है जिसको लेकर हम भगवान् ऋषभनाथ की पूजा करते हैं। वैसे ही अन्य तीर्थङ्करो की। उसी तरह मूर्ति और मूर्तिमान मे सभी बातें न हो परन्तु कोई एक बात अवश्य है जिससे मूर्ति और मूर्तिमान का एक-सा उपयोग होता है उसी उपयोग के लिए उन दोनो का आदर है। इसलिये मूर्तिपूजा प्रभु-भक्ति ही है। चित्र लिखित गाय के रूप को देखकर अनुराग होना गाय के असली रूप का अनुराग ही है कोई अन्तर नही।

प्रश्न—यह तो ठीक है कि मूर्तिपजा से प्रभु-भक्ति का कार्य हो जाता है परन्तु प्रभु-भक्ति मे उनको बुलाना, बैठालना और विदा कर देने का (आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण) क्या मतलब है' जबकि मुक्ति से न भगवान् आते है न जाते हैं न आकार बैठते है बल्कि इससे तो व्यर्थ ही भगवान् को आज्ञाकारी साबित करना है। इसलिये यह तो पाखण्ड ही है।

उत्तर—आह्वान, ·थापन और विसर्जन का क्या मतलब है यह तो किसी अन्य लेख मे बताया जायगा। फिर भी जिस मतलब को लेकर यहाँ आक्षेप है वह भी निरर्थक ही है। भगवान् न आते हैं न जाते हैं पर स्नेह और भक्ति हमसे यह कहलवा लेती है जिससे अनुराग होता है उसे पास बुलाने और बैठाल्ने की इच्छा होती है भले ही आने वाला आये या न आये। वहाँ आने वाले के आने जाने का सवाल नही है, बल्कि स्नेह और उससे पैदा होने वाले शिष्टाचार का सवाल है। अगर ऐसा न हो तो व्यवहार ही कुछ न रहे। मनुष्य अपने पडोसी से कहता है कि आइये रसोई जीम लीजिये। पडोसी उत्तर देता है कि अजी आपका ही जीमते हैं। यहाँ पडोसी का उत्तर सच्चाई के लिहाज से गलत है पर स्नेह और शिष्टाचार के नाते उचित और ठीक है। एक मित्र ने दूसरे मित्र से उसके बच्चे के बारे मे पूछा कि ये बच्चा किसका है ? मित्र ने जवाब दिया कि अजी आपका ही है। स्नेह और शिष्टाचार इसको उचित कहेगा, परन्तु सचाई के लिहाज से उसमे एक दूसरे के सिर ही फूटेंगे। स्तुति मे मुलाहिजा है, परन्तु सिद्धान्त मे कसौटी है न मुलाहिजा ही बुरा है, न कसौटी ही। दोनो ही अपने-अपने समय की चीजे हैं। जब स्तुति करते हैं तब कुछ बढ़ा-चढ़ा कर ही करते हैं। स्तुति का अर्थ ही यह है कि "भूताभूतगुणोद्भावन स्तुति" जो गुण है उनको भी कहना, जो नही हैं उनको भी कहना। तारणपथी मूर्ति का आश्रय न भी लें तब भी स्तुति तो करते ही है, परन्तु स्तुति में आये हुए कर्तावाद से सहमत नही होते। इसका अर्थ इतना ही है कि कर्तावाद जब स्नेह के रूप मे कहा जाता है तब उचित हो जाता है। जब सिद्धान्त के लिहाज से कहा जाता है तब अनुचित हो जाता है। यही बात आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण के विषय मे है, ये सब स्तुति की चीजे हैं। इसलिये उचित है और जब उचित हैं तब पाखण्ड नही। इस तरह भगवान् के आने जाने बैठने का आक्षेप निरर्थक ही है। दूसरा आक्षेप भगवान् को आज्ञाकारी बनाने का है। किसी बडे आदमी को अनुरागवश बुलाने का मतलब आज्ञा नही है। देश नेताओं और समाज हितैषियो के पास जो निमन्त्रण-पत्र आते है वे आज्ञापत्र नही होते। क्षुल्लक नामधारी जयसेनजी को तारणपन्थियो का निमन्त्रण यदि आज्ञा है तब तो क्षुल्लक जी भी तारणपथियो के आज्ञाकारी (गुलाम) हो जायेंगे। यदि नही ता भगवान को बुलाने से ही भगवान आज्ञाकारी कैसे साबित हो जायेंगे। पिछले दिनों एक हैंड बिल मे किसी ने मूर्खतावश यह लिखा था कि दि० जैनी भगवान् को Come on, sit down, और Go away कह कर बुलाते, बैठाते और भेजते है। यदि यही है तब तो तारणपंथी क्षुल्लक जयसेनजी को 'आइये क्षुल्लक जी' की जगह Come on, Mr. Kshullak Jaisain (कम ओन मिस्टर क्षुल्लक जयसेन)

और बैठने के लिए Sit down Mr. Kshullak Jaisain (सिट डाउन मि० क्षुल्लक जयसेन) तथा चले जाने के लिये Be off Kshullak Jaisain (बी ऑफ क्षुल्लक जयसेन) अवश्य कहते होंगे। पता नही अपने भक्तों की इस प्रकार आज्ञा सुनकर क्षुल्लकजी पर क्या बीतती होगी ? क्या तारणपंथियों को उनकी मूर्खता के लिये क्षुल्लक जी सजा देंगे ? यह कहना झूठ है कि क्षुल्लकजी को कोई बुलाता ही नही है। आखिर समाज में आते हैं तो आवश्यकता होने पर बजाने के लिये बुलाये भी जाते होंगे। खैर, क्षुल्लकजी की क्षुल्लक जानें और उनके भक्त परन्तु दि० जैनियों के यहाँ आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण सब स्तुति के लिये हैं और स्तुति में आज्ञा का प्रश्न ही नही है। इसलिये मूर्ति की उपयोगिता उसकी पूजा, पूजा का प्रकार दि० जैनियों के यहाँ सभी आवश्यक हैं। और इतनी लम्बी चर्चा मे अब तक जो कुछ लिखा गया है वह उसी आवश्यकता की सिद्धि की गई है। आशा है तारणपंथी भाई इसे पढकर आत्म-कल्याण करेंगे और मूर्ति-पूजा के महत्व को समझेंगे।

दि० जैन मूर्तिपूजा पर शंकाएँ और उनका उत्तर

प्रश्न—क्या तीर्थंकरो की 'दिव्य-ध्वनि'' द्वारा ''मूर्तिपूजा'' का उपदेश हुआ है ?

उत्तर—हुआ है।

प्रश्न—दि० जैन मूर्ति-पूजा का जैन सिद्धात के अनुसार मोक्षमार्ग से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—जो सम्बन्ध शास्त्रो का तथा साक्षात् जिनेन्द्र पूजा का है।

प्रश्न—दि० जैन मूर्ति की पूजा करते समय जो आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण तथा विसर्जनादि क्रियाएँ की जाती हैं, इनका पूज्य के प्रति कितना व कौन सा सम्बन्ध कब तक के लिये क्यो किया जाता है तथा उक्त क्रियाएँ अपने-अपने नाम के अनुसार क्या वास्तविक अर्थ रखती है, या कल्पनामात्र है ?

उत्तर—आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण यह स्तुतिवाद है और उसका पूज्य के प्रति उतना ही सम्बन्ध है जितना स्तुत्य के साथ स्तुति का हुआ करता है। यह सब स्तुति करते समय तक किया जाता है। स्तुति तथा उसके फल के लिहाज से यह कल्पना नही किन्तु वास्तविक अर्थ रखते है जैसे पिण्डस्थ, पदस्थ आदि ध्यानों का फल है।

प्रश्न—जैन सिद्धान्त के अनुसार जब कि मोक्ष गया हुआ जीव वापिस संसार में नही आता फिर आह्वाननादि क्रियाओं के द्वारा किसको बुलाया जाता है, किसका स्थापन किया जाता है वा किसका सन्निधिकरण, विसर्जन किया जाता है।

उत्तर—मुक्त जीव वापिस नही आता फिर भी उसका आह्वाननादि करना भक्त के उत्कट अनुराग का फल है। मनुष्य कभी-कभी अपनी संतान को किसी स्नेही मित्र द्वारा पूछे जाने पर कह देता है 'अजी आपका ही लडका है'। यहाँ लड़का पूछने वाले का नही है परन्तु स्नेह और शिष्टाचार की दृष्टि से यह उचित ही है, यही बात आह्वाननादि में है।

प्रश्न—दिगम्बर जैन मूर्तियो के समक्ष रहते हुए, फिर आह्वाननादि की क्या आवश्यकता है। यदि मूर्ति के सामने रखते हुए फिर भी आह्वाननादि करने की जरूरत है तो फिर मूर्ति को क्या आवश्यकता है, कही भी आह्वाननादि होकर पूजन हो सकती है ?

उत्तर—स्तुति मे स्तुत्य की समक्षता और परोक्षता का सवाल नही है। वह हो या न हो पर अनुरागी भक्त तो अपना काम करता ही है। सूर्य को दीपक से आरती करने वाला दीपक के प्रकाश को यथार्थता नहीं देखता किन्तु स्नेह और शिष्टाचार से ऐसा करता है।

प्रश्न—कल्पित मूर्ति के सामने कल्पित इन्द्र पुजारी बन कर कल्पित आह्वाननादि करके, कल्पित द्रव्यों से, कल्पित पूजा करके पूजा करने वाले को कल्पित स्वर्गमोक्ष मिलेंगे या वास्तविक ?

उत्तर—कल्पना का फल कल्पना नहीं हैं, किन्तु वास्तविक है। कहानी और कथाएँ सभी कल्पनाएँ हैं परन्तु मनुष्य के चरित्र निर्माण में उनका बहुत बड़ा हाथ है और वह वास्तविक है। पिण्डस्थ पदस्थ आदि ध्यानो में भी कल्पना[1] का ही रूप होता है, परन्तु उनका फल वास्तविक है।

प्रश्न—दि० जैन मूर्तियो की पूजा जैसे प्रायः भाडे से हो होती है, क्या मोक्ष भी भाड़े से (किराये पर) मिल सकेगा यदि नहीं तो ये भाडे के पुजारी द्वारा कराई गई भाडे की पूजा कहाँ तक व किसको मोक्ष फल दे देगी ?

उत्तर—पूजाएँ भाडे से कहीं नहीं होती, जहाँ कहीं कुछ दिया जाता है वह पुजारी की सुविधा का प्रश्न है।

प्रश्न—पूजन के बाद विसर्जन क्रिया हो जाने पर फिर दि० जैन मूर्ति को आप पूज्य मानते हैं या नहीं ? यदि फिर भी वह पूज्य है तो पूजन के समय बिना आह्वानन के पूजा क्यो नहीं की जाती ?

उत्तर—विसर्जन के बाद मूर्ति पूज्य है, आह्वानन के बिना पूजा नहीं करने का उत्तर पहले आ चुका है।

प्रश्न—आह्वाननादि करके पूज्य का विसर्जन कर देना क्या यह उनका अपमान नहीं है ?

उत्तर—किसी को विदा देना या करना अपमान नहीं है।

प्रश्न—क्या मूर्ति के सामने जल चढा देने से जन्म, जरा, मृत्यु का विनाश हो सकता है ?

प्रश्न—क्या मूर्ति के सामने चन्दन चढा देने से ससारताप का विनाश हो सकता है ?

प्रश्न—क्या मूर्ति के सामने चावलो के अक्षत चढा देने से अक्षयपद मिल सकता है ?

प्रश्न—क्या मूर्ति के सामने पुष्प चढ़ा देने से कामबाणो का नाश हो सकता है ?

प्रश्न—क्या मूर्ति के सामने नैवेद्य चढा देने से क्षुधारोग का विनाश हो सकता है ?

प्रश्न—क्या मूर्ति के सामने दीप चढा देने से मोहरूपी अन्धकार का नाश हो सकता है ?

प्रश्न—क्या मूर्ति के समक्ष धूप चढाने से अष्ट कर्मों का नाश हो सकता है ?

प्रश्न—क्या मूर्ति के सामने फल चढाने से मोक्ष फल की प्राप्ति हो सकती है ?

प्रश्न—क्या मूर्ति के सामने अर्घ्य चढाने से अनर्घ्यपद की प्राप्ति हो सकती है ?

उत्तर—साक्षात् जिनेन्द्र के सामने आठो द्रव्य चढाने से यदि उक्त फल मिल सकता है, तो मूर्ति के सामने चढाने से भी।

प्रश्न—उक्त आठ द्रव्यो के चढ़ाने से जब मोक्षमार्ग सम्बन्धी आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती है फिर अष्ट कर्मों को नाश करने के लिये जिनेन्द्र ने तप, त्याग आदि तथा मुनिमार्ग आदि का निर्देश क्यो किया ?

उत्तर—मुनि मार्ग के आदेश का मतलब गृहस्थाश्रम मार्ग को भुला देना नहीं है, अष्टद्रव्य का पूजन गृहस्थ मार्ग है और वह भी तप है। 'इच्छानिरोधस्तप' के अनुसार उसमे भी इच्छाओ का निरोध होता ही है।

प्रश्न—मोक्षमार्ग की पूर्ण सिद्धि मूर्ति पूजा से होते हुये भी मुनि-दीक्षा आदि लेकर तप करना क्या भूल नहीं है। जबकि मूर्तिपूजा ही गृहस्थावस्था मे मात्र आठ द्रव्य के बदले घर बैठे मोक्ष दे देती है ?

---

१. हृदय के भीतर कमल की रचना करना पचपरमेष्ठी या णमोकार मन्त्र के पदों का उस पर स्थापन करना फिर उसका ध्यान करना आदि।

उत्तर—मोक्षमार्ग की पूर्ण सिद्धि न मूर्तिपूजा से है न मूर्तिमान की पूजा से है, लेकिन मूर्तिमान (साक्षात् जिनेन्द्र) की पूजा के बाद भी जैसे—मुनिदीक्षा लेकर तप आदि करना अनिवार्य है वैसे ही मूर्तिपूजा के बाद भी।

प्रश्न—मूर्ति के सामने चढाया हुआ द्रव्य निर्माल्य समझा जाता है तथा उसको खाने वाला नरक निगोद का पात्र समझा जाता है, फिर भारतवर्ष के दि० जैन मूर्ति पूजक मन्दिरों में निर्माल्य द्रव्य देकर ही मालियों को नौकर रखा जाता है, उनको वह द्रव्य खिलाई जाती है यह पाप मूर्तिपूजा करने वालों को लगता है या मालियों को ? नरक निगोद का पात्र वह निर्माल्य खाने वाला माली है या खिलाने वाले जैनी हैं, या दोनो हैं ? इसका जरा खूब खुलासा कीजिये।

उत्तर—माली निर्माल्य द्रव्य भक्षण के लिये किसी की तरफ से मजबूर नही है, न उसके इस कार्य की कोई सराहना करता है, निर्माल्य के अतिरिक्त उसे ऊपर से भी और कुछ दिया जाता है। इसलिये माली के निर्माल्य भक्षण का पाप मूर्तिपूजा करने वालों को बिल्कुल नही है। यो तो किसी का जूठन खाना पाप है। पंक्तिभोजो के अवसर पर तारणपन्थी क्या अपनी जूठे भगियो को नही खिलाते ? फिर बताइये यह पाप खिलाने वाले तारणपन्थियो का है या खाने वाले भगियो को। या दोनो को। जो इसका खुलासा है, वही उसका खुलासा है।

प्रश्न—माली जब अपने से बचा हुआ निर्माल्य द्रव्य बेचने के लिये बाजार में लाता है तब मांस-भक्षी लोग उस माली से वे अरहन्त मूर्ति के सामने चढे हुये केशरिया चावलादि खरीद कर ले जाते हैं और उन्हें मांस के साथ पकाकर खाते हैं, बतलाइए यह पाप माली को, या भगवान् को, या मूर्ति को, या जैनियों को, या किसको, या सबको लगता है ? और इस प्रकार आप स्वयं निर्माल्य-भक्षण से बच कर कर दूसरो को खिलाकर क्या हमारे मूर्तिपूजक भाई अहिंसा धर्म के पालक कहे जा सकते है।

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर इन्ही शब्दो मे इस तरह है—भङ्गी जब आपकी जूठन के रूप मे इकट्ठी हुई मिठाई को दूसरे भंगी के हाथ बेचता है या स्वय मासादि के भक्षण के साथ खाता है तब बताइये यह पाप भंगी को है या आपको या जिसकी खुशी मे ये भोज किये गये है उनको। इस प्रकार आप स्वय जूठन खाने से बचकर और दूसरो को खिलाकर अहिंसा धर्म के पालक कहे जा सकते है। जो आपके पास इसका उत्तर है वही निर्माल्य द्रव्य के विषय मे समझिये।

प्रश्न—कही-कही माली लोग चढी हुई द्रव्य कठरया (किराने के दुकानदारो) को बेच देते हैं और उनसे वह निर्माल्य द्रव्य जैनी लोग खरीद कर फिर से पूजन मे व खुद के इस्तेमाल में लाते है तो क्या इसका दोष मूर्तिपूजकों को नही लगता है ?

उत्तर—बहुत से भगी अपनी मिठाइयों को रिश्तेदारो के यहाँ पारसलो से भेजते है और रेल के कर्मचारी उसमे से निकाल कर खा लेते हैं, क्या इसका दोष जूठन खिलाने वालो को नही लगता।

प्रश्न—मूर्ति और उसकी पूजन का यह कपोल कल्पित मार्ग यदि जिनेन्द्र के द्वारा प्रणीत होता तो इतनी भूलें इसमें नही होती। मूर्तिपूजा में प्रारम्भ से ही असत्य कल्पनाओ से काम लिया जाता है और अन्त तक सत्य का नाम नही, तो क्या ऐसे असत्यमार्ग के उपदेष्टा जिनेन्द्र देव हो सकते हैं ? यह छद्मस्थो द्वारा स्वार्थवश चलाया हुआ कपोल-कल्पित मार्ग क्योकर उपादेय हो सकता है ?

उत्तर—मूर्तिपूजा कपोल-कल्पित नही है, बल्कि उसका विरोध कपोल-कल्पित है। मूर्तिपूजा जिनेंद्र का उपदेश है, परन्तु उसका विरोध अज्ञानियों का। मूर्तिपूजा मे भूलें नही है, भूलें है उसके विरोध करने में। इसलिये मूर्तिपूजा तो उपादेय ही है, उसका विरोध हेय है।

प्रश्न—चौबीस तीर्थङ्कर परस्पर एक दूसरे से नही मिल सकते ऐसा उनका नियोग है फिर उनकी चौबीस मूर्तियो को साक्षात् अरहन्त तीर्थङ्कर कहते हुये भी एक ही जगह परस्पर मिलाकर रख देना उक्त नियोग को भग करके जैन सिद्धान्त को झूठा बनाना है या नही ?

उत्तर—मूर्तियाँ वीतराग भावो की झलक है, मानसिक प्रत्यक्ष (परोक्ष स्मरण) के लिये जैसे उनके मानसिक प्रतिबिंब की आवश्यकता है। वैसे ही चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए भी उनके चाक्षुष प्रतिबिंब की आवश्यकता है। इसलिये अगर चाक्षुष प्रतिबिम्बो के एकत्र रहने से तीर्थङ्करो के परस्पर न मिलने के नियम का विरोध होता है तो स्मरण करते समय मन मे उनके एक साथ रहने से भी तो उक्त नियम का विरोध होता है फिर आप परोक्ष स्मरण भी एक साथ क्यों करते हैं।

प्रश्न—मूर्ति को अरहन्त कह कर उसका अरहान्तावस्था मे अभिषेक करना क्या जिनेन्द्राज्ञा है ? या मनमानी ?

उत्तर—अर्हंत मूर्ति का अभिषेक अरहन्त की जन्मावस्था को याद करके किया जाता है, इसलिए मनमानी नही है, बल्कि जिनेन्द्राज्ञा ही है।

प्रश्न—तत्वार्थ-सूत्र के तीसरे-चौथे अध्याय मे श्री उमास्वामी ने तीन लोक का समस्त भूगोल बता दिया है, किन्तु अकृत्रिम चैत्यालयो के सम्बन्ध मे एक भी सूत्र बनाने का कष्ट नही किया सो क्यो ? क्या अकृत्रिम चैत्यालय नही है, यदि है तो भरत क्षेत्र मे भी कही पर हैं, या भरत क्षेत्र के सब बाहर ही हैं ?

उत्तर—सूत्रो में अकृत्रिम चैत्यालय क्या बहुत सी बातो का वर्णन नही है। कृत्रिम चैत्यालय और निसई आदि बनाने का ही वर्णन कहाँ है जबकि ७ वे और नौवें अध्याय मे सभी प्रकार के चारित्र का वर्णन है। तीर्थंकर प्रवृत्ति और उसके बन्ध के कारण आदि सब कुछ तो बतलाया, परन्तु तीर्थंकर के ४६ गुण पच कल्याणक आदि कुछ नही बतलाया, फिर भी तारणपन्थी इन बातो को मानते हैं ही।

प्रश्न—श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने अपने अष्ट पाहुड मे मूर्ति, प्रतिमा, प्रतिबिम्ब का क्या स्वरूप कहा है और वह किनके लिये पूज्य है ?

उत्तर—कुन्दकुन्दाचार्य ने मूर्ति, प्रतिमा, प्रतिबिम्ब का वही स्वरूप कहा है जो दि० जैनो ने माना है।

प्रश्न—समन्तभद्र आदि आचार्यों ने ग्यारह प्रतिमाओ का स्वरूप कहते हुये श्रावक के कर्त्तव्यो में मूर्तिपूजा क्यो नही बतलाई ?

उत्तर—ग्यारह प्रतिमाओ मे यदि मूर्तिपूजा का विधान आपको नही मिलता तो साक्षात् जिनेन्द्र पूजन का विधान भी तो उसमे नही मिलता, तब क्या आप मूर्तिपूजा की तरह साक्षात् जिनेन्द्र पूजन से भी इन्कार करते हैं, यदि नही तो मूर्तिपूजा से इन्कार क्यो।

प्रश्न—क्या मूर्ति मे पसीना आना सत्य बात है यदि नही तो अभी खुरई में देवगढ के रथों के समय एक मूर्ति की पसीना आने की पूजको द्वारा अफवाह क्यो उडाई गई थी ? अठारह दोषों मे पसेव दोष है या नही ?

उत्तर—पसीना तो कहना भर मात्र है। बाकी सम्भव है मूर्ति का गीला हो जाना कोई अतिशय हो। इसमें अफवाह या आश्चर्य की क्या बात है ?

प्रश्न—पचकल्याणक प्रतिष्ठाओ मे जो मूर्ति के अन्दर पाँचो कल्याणकों की कल्पना करके प्रतिष्ठा की जाती है और मूर्ति को आहारादि की चर्या कराई जाती है तो क्या यह सब जिनेन्द्र की आज्ञानुसार ही होती है ?

उत्तर—प्रतिष्ठाशास्त्र जिनेन्द्र की आज्ञा ही है और उसी के अनुसार यह विधान किया जाता है।

प्रश्न—क्या नक्शे के नदी तालाब आदि मे नाव चल सकती है या कागज के फूलो से खुशबू आ सकती है यदि उक्त कागज के फूल खुशबू दे दे तब तो मूर्ति भी मोक्ष मार्ग दे सकती है।

उत्तर—नक्शे के नदी तालाब आदि मे यदि नाव नही चल सकती तो नदी तालाबो के स्मरण से भी तो उनमे नावें नही चल सकती। कागज के फूलो से यदि खुशबू नही आती तो फूलो के स्मरण से भी तो खुशबू नही आती। इसी तरह यदि वीतरागी की मूर्ति मोक्षमार्ग नही दे सकती तो वीतरागी का स्मरण भी मोक्षमार्ग नही दे सकता फिर मूर्ति-पूजा की तरह भगवान् का परोक्ष स्मरण भी छोड दीजिए।

प्रश्न—जिनेन्द्र देव ने व्यवहार और निश्चय यह दो नय बताए है। निश्चय तो निश्चय ही है किन्तु व्यवहार भी निश्चय का अनुगामी सत्यार्थ है, यह नही हो सकता कि निश्चय तो मोक्ष-मार्ग (साक्षात्) देवे व व्यवहार उमसे एकदम उल्टा असत्य का व कल्पना का पाठ पढाकर धोखे मे डाले। झूठा व्यवहार निश्चय के पास तक पहुँचाने मे क्या समर्थ हो सकता है ?

उत्तर—मूर्ति पूजा का व्यवहार सच्चा व्यवहार है और वह निश्चय का अनुगामी है।

प्रश्न—सिद्धक्षेत्रो पर, पहाडो के ऊपर चरणपादुका तथा जहाँ मदिरो मे मूर्ति रखी जाती है तो ऐसा क्यो किया जाता है जबकि मूल स्थान सिद्ध क्षेत्र की टोको पर ही मूर्ति नही रखी जाती, फिर मन्दिरो में चरणपादुका न रखकर मूर्ति क्यो रखी जाती है। सिद्ध क्षेत्रो पर चरण-पादुका तथा मन्दिरों मे मूर्ति रखने की क्या यह जिनेन्द्राज्ञा है ?

उत्तर—चरण पादुका रखिये या मूर्ति आखिर मूर्तिपूजा का तत्त्व दोनो में एका सा है। मन्दिरो मे चरण पादुकायें रहती है और सिद्धक्षेत्रो मे मूर्तियाँ। कोई शास्त्र या जिनेन्द्राज्ञा का विरोध नही।

प्रश्न—सम्यक्त्व का क्या स्वरूप है उसका मूर्ति से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है यदि सम्बन्ध है तो नरको मे कौन से तीर्थङ्कर की मूर्ति को देखकर नारकी जीव सम्यक्त्व लाभ करता है, यदि नरक मे बिना मूर्ति के सम्यक्त्व हो जाता है तो फिर यहाँ पर भी मूर्ति अनावश्यक ही है।

उत्तर—सम्यक्त्व का स्वरूप देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान है। मूर्ति-पूजा का उससे उतना ही सम्बन्ध है जितना मूर्तिमान की पूजा का। नरको मे न तीर्थंकर की मूर्ति है न तीर्थंकर फिर भी जैसे तीर्थंकर की पूजा आवश्यक है वैसे हो उनकी मूर्ति की पूजा आवश्यक है।

प्रश्न—यदि मूर्ति के देखने से वैराग्य होता है तथा वह इतने से कारण से ही पूज्य मानी जाती है तो अभ्रपटल, उल्कापात, श्मशान भूमि आदि क्यो न पूज्य माने जावे, जिससे मूर्ति से कई गुना वैराग्य तीर्थंङ्करो तक को होता है ?

उत्तर—यह बात तो आप अपने शास्त्रो मे तथा साक्षात् जिनेन्द्र मे भी लगा लीजिये। शास्त्रों से भी वैराग्य ही होता है। फिर भी अभ्रपटल, उल्कापात, श्मशान भूमि शास्त्रो की आदर कोटि मे नही आते। साक्षात् जिनेन्द्र के दर्शन से भी वैराग्य ही होता है पर पूजा के स्थान मे जिनेन्द्र और अभ्रपटल आदि का दर्जा एक नही है। यही बात मूर्ति और अभ्रपटल आदि के सम्बन्ध मे समझना चाहिये।

प्रश्न—क्या किसी तीर्थङ्कर को मूर्ति के देखने से वैराग्य हुआ है ?

उत्तर—किसी तीर्थंकर को मूर्ति के देखने से वैराग्य न होने पर भी मूर्ति व्यर्थ नही है यों तो जिनेन्द्र के देखने या स्मरण से भी तीर्थंकरो को वैराग्य नही हुआ फिर भी जिनेन्द्र अरहन्त का दर्शन स्मरण व्यर्थ नही है।

प्रश्न—यह दि० जैन मूर्तिपूजा कब से, किसके द्वारा वा क्यों प्रचलित हुई है ?

उत्तर—जब से जैन धर्म है तब से मूर्ति पूजा है। जिसके द्वारा जैन धर्म का उपदेश हुआ उसी के द्वारा मूर्ति पूजा का। जिस लिये जिनेन्द्र पूजा प्रचलित हुई उसी लिये उनकी मूर्ति-पूजा।

प्रश्न—मूर्तिपूजा से पुण्य मिलता है या मोक्ष; यदि मात्र पुण्य ही मिलता है तो फिर द्रव्य चढ़ाते समय मोक्ष सम्बन्धी सिद्धियाँ माँग कर पूजा क्यो की जाती है ? पुण्य क्यो नही माँगते ?

उत्तर—पुण्य तो साक्षात् जिनेन्द्र पूजन से भी मिलता है, लेकिन परम्परा से जैसे उनकी पूजा मोक्ष का कारण है वैसे ही मूर्ति की पूजा भी मोक्ष का कारण है यो तो अणुव्रत भी साक्षात् मोक्ष का कारण नही है, परन्तु उनका पालन तो मोक्ष के लिये ही होता है। इसलिय जिसका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है उसी की सिद्धि माँगी जाती है।

प्रश्न—मूर्ति-पूजन का सम्बन्ध पूज्य से है, या पूजक से ? या दोनो से ?

उत्तर—दोनो से है।

प्रश्न—मूर्ति-पूजक दि० जैन समाज की ओर से यह कहा जाता है कि "सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ" अर्थात् प्रतिमा-पूजन मे थोडा पाप होता है किन्तु पुण्य की राशियाँ लग जाती है, जब ऐसा है तो क्या जिनेन्द्र देव ने लेश मात्र सावद्य क्रिया करके पुण्यराशि को लूटने की आज्ञा अपने मुखारविन्द से स्वयं ही दी है, तो क्या जिनेन्द्र देव अपने सर्वज्ञपद से पाप क्रिया करने का उपदेश दे सकते है ? चाहे वह पाप लेश हो या विशाल हो, किन्तु जिनेन्द्र देव सावद्य क्रिया का उपदेश कदापि नही कर सकते। यदि पाप क्रिया करने का उपदेश जिनेन्द्र स्वय दे सकते है, तो हमारे मूर्ति पूजक भाइयो को यह बात प्रामाणिक ग्रन्थो से सिद्ध करनी चाहिये। तथा यदि जिनेन्द्र देव के वचन बिलकुल निर्दोष ही होते है, तो फिर इस "मूर्ति पूजन की वृथा की आज्ञा जिनेन्द्र देव को नही है" ऐसा दृढ़ श्रद्धान करके उक्त बन्धु जिनेन्द्र आज्ञानुसार जैन धर्म का पालन करें, तभी उनका कल्याण हो सकता है।

उत्तर—"सावद्यलेशौ बहुपुण्यराशौ" का अर्थ प्रतिमा पूजन क्या जितने भी क्रियात्मक व्यवहार धर्म है, सभी मे सावद्य लेश होता है। तारणपन्थी क्षुल्लक जयसेनजी को आहारदान देते है, क्या यह जिनेन्द्र की आज्ञा से देते है, यदि जिनेन्द्र की आज्ञा है तो सावद्यलेश तो दान देने मे भी है तब तो आपके भी मन से जिनेन्द्र पाप कर्म का उपदेश देने वाले हो गये। साक्षात् जिनेन्द्र पूजन मे भी सावद्यलेश है तारणपन्थियो को वह भी नही करना चाहिये। चैत्यालय बनाना, निसईजी बनाना इनमे पुण्य होता है या पाप, यदि पाप है तो इसके बनाने वाले पापी हुये, यदि पुण्य है तो सावद्यलेश तो इसमे भी है। क्या यह धर्मायतन आप मनमानी तौर से बनाते हैं या जिनेन्द्र की आज्ञा से। अब आप ही सोचिए जिनेन्द्र सावद्य कर्म का उपदेश देते है या कल्याणकारी मार्ग का।

प्रश्न—जो पुण्य और पाप दोनो से विरक्त होगा वही आत्म-कल्याण का वास्तविक मार्ग पा सकेगा, किन्तु इससे उल्टा जो थोडा पाप करके बहुत सी पुण्यराशि लूटने की फिक्र मे रहेगा, वह क्या आत्म-कल्याण करेगा ? तथा जैन धर्म का तो सिद्धान्त यही है कि पुण्य-पाप के चक्कर मे नही पडने वाला सम्यग्दृष्टि ही मोक्ष मार्ग का पथिक है, हाँ उदय में आये कर्मफल को उसे भोगना यह बात तो दूसरी ही है। जब प्रारम्भिक सम्यग्दृष्टि पद मे ही जिनेन्द्र की शिक्षा है कि वही सम्यग्दृष्टि है जो "जल मे भिन्न कमलवत्" संसार मे रहे, जो इस तरह के अन्तरग मे सम्यग्दर्शन दीपक के प्रकाश से युक्त होगा क्या उसे पुण्यराशि लूटने का चाव हो सकता है ? उसे तो यह उपमा देंगे कि—

चक्रवर्ति की सम्पदा, इंद्र सरीखे भोग।
काकबीट सम लखत हैं, सम्यग्दृष्टी लोग ॥

जब ऐसी बात है तो फिर आत्मरस का दीवाना वह सुदृष्टि (पुण्य और पाप को एक निगाह से देखने वाला) मूर्ति पूजा के प्राप्त होने वाली पुण्य राशि जो कि—"सुकृतमपि समस्त भोगिना भोग मूलं" (वह समस्त पुण्य भी भोगों का मूल है) उसे क्योंकर लेने का लोभ करेगा और अपना समय व्यर्थ व्यतीत क्यों करेगा। इससे सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि को पुण्य की चाह नहीं, तथा पुण्य चाहने वाला सम्यग्दृष्टि नहीं, तब मूर्तिपूजा से पुण्य लाभ सिद्ध करके हमारे मूर्ति-पूजक भाई पुण्य चाहने वाले मिथ्यादृष्टियों को ही अपनी मूर्ति-पूजा के आडम्बर जाल में फँसा सकते हैं, यह बोझ सम्यग्दृष्टि के सिर पर तो लद ही नहीं सकता। इतने पर भी क्या हमारे मूर्ति पूजक-भाई सम्यग्दृष्टि के कर्तव्य में मूर्ति-पूजा को खींचतान कर प्रविष्ट कर सकते हैं ?

उत्तर—यदि मूर्तिपूजा से पैदा होने वाली पुण्यराशि सम्यग्दृष्टि नहीं चाहेगा तो दान देने से पैदा होने वाली पुण्यराशि को ही सम्यग्दृष्टि क्यों चाहेगा। तब तो आपके क्षुल्लक जयसेनजी आप लोगों पर उल्लू की लकड़ी फेरकर खूब मिथ्यात्वरूपी अंध कूप में पटक रहे हैं। भाई छोडिये न क्षुल्लकजी को जिससे दान न देना पड़े। आप लोग सम्यग्दृष्टि बन जाँय नहीं तो फिर वही गति होगी जो लोभी गुरु लालची चेलों की होती है।

प्रश्न—आजकल जो भारतवर्ष में दि० जैन मूर्तियाँ विद्यमान हैं क्या वे तदाकार हैं या अतदाकार हैं। क्या आँख, कान, नाक, हाथ, पैर आदि बना देने से ही तदाकार मूर्ति हो जाती हैं। या मूर्तिमान के समान ही आकार वाली (हूबहू) मूर्ति तदाकार हो सकती है, क्या हमारे तीर्थंकर आजकल की मूर्तियों जैसे ही, उस समय थे।

यदि नहीं तो फिर यह मूर्तियाँ तदाकार कैसे हो सकती हैं ? तथा अतदाकार से फिर तदाकार का ज्ञान भी कैसे हो सकता है ?

उत्तर—आजकल की मूर्तियाँ तदाकार हैं। यहाँ आकार का मतलब आँख, कान, नाक की लम्बाई-चौडाई और उनकी बनावट से नहीं है, बल्कि ध्यानस्थ वीतराग मुद्रा के प्रतिबिम्ब से है। कोई भी तीर्थंकर जब वीतरागी बनकर बैठेंगे तब इसी मुद्रा और इसी प्रकार के भावों की झलक (Appearance) लेकर बैठेंगे, उनके चेहरे का कट कुछ भी हो। क्षुल्लक जयसेनजी जब सामायिक करते होंगे तब शायद आप उनके रूप, रंग चेहरे की सुन्दरता पर ही मरते होंगे, अन्यथा इतनी बात भी समझ में नहीं आती।

प्रश्न—प्रतिमा पूजन में जो आरम्भ जनित हिंसादि पाप होते हैं उनका फल किस प्रकार का (या कौनसा) मिलता है क्या कहीं शास्त्रों में उस पाप के फल का भी भोगने का वर्णन दिया है या नहीं ?

उत्तर—दान देने में आरम्भ जनित हिंसादि पापों का जो फल जिन शास्त्रों में लिखा है, उन्हीं शास्त्रों में प्रतिमा-पूजन के आरम्भजनित पापों का फल है। वहीं उनके फल भोगने का भी वर्णन है।

प्रश्न—खण्डित मूर्तियों को आप द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा पूज्य मानकर उनकी पूजा क्यों नहीं करते हैं। द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा क्या संसार के समस्त पाषाण या पहाड़ आदि भी आप के द्वारा पूज्य हो सकते हैं ? क्योंकि सम्भव है इनके परमाणु कभी प्रतिमा रूप रहे हो या आगे प्रतिमा रूप बन जावें ?

उत्तर—द्रव्य निक्षेप का यदि यही प्रयोग है तब तो कुत्ते, बिल्ली, साँप, शूकर सभी की पूजा तारण-पन्थियों को करना चाहिये। क्योंकि आगे सभी की जयसेनजी की तरह क्षुल्लक बनने की सम्भावना है। मान

लीजिये आपके जयसेनजी क्षुल्लक पद से भ्रष्ट हो जायें तब क्या आपका द्रव्य निक्षेप उनका इसी तरह आदर करने को आपको बाध्य करेगा, यदि नही तो खण्डित प्रतिमा में भी वही समझ लेना चाहिए।

प्रश्न—स्थापना निक्षेप से जैसे पाषाण आपके द्वारा पूज्य हो सकता है। क्या नाम निक्षेप द्वारा भी उसी प्रकार कोई जीवधारी या पुद्गल पूज्य हो सकता है जैसे "जैनेन्द्र देव" नाम का व्यक्ति आपके द्वारा पूज्य है या अपूज्य। यदि अपूज्य है तो क्यो। उसकी भी मूर्ति के समान ही नाम निक्षेप की अपेक्षा से पूजा कर लेने मे आपका कौनसा पाप लगेगा। और स्थापना निक्षेप से एक पाषाण को पूज लेने में कौनसा पुण्य लगेगा, जरा खूब खुलासा करें।

उत्तर—स्थापना निक्षेप मे जिसकी स्थापना है उसके गुणो की ओर हमारा ध्यान रहता है उसकी जड़ता या सजीवता पर नही, इसलिये पूज्य है। परन्तु नाम निक्षेप मे गुणो की ओर नही व्यक्ति की ओर ध्यान रहता है, इसलिये अपूज्य है। जिनेन्द्रो की पूजा यदि उनकी सजीवता के लिहाज के होती तब तो हम किसी भी जीवधारी पूजा की पूजा कर सकते थे। इसी प्रकार प्रतिमा का पूजन यदि उसकी पाषाणता के कारण होती तब हर एक पाषाण की पूजा का प्रश्न भी उपस्थित हो जाता। जिनेन्द्र मे हमे वीतरागता के दर्शन होते है। वह अन्य जीवधारियो मे नही, वही वीतरागता के दर्शन हमे मूर्ति मे होते है, पाषाण में नही। इसका और खुलासा 'मूर्तिपूजा की उपयोगिता' पुस्तक मे देखिये।

प्रश्न—मूर्ति मे एक साथ कितने निक्षेपो को मानकर आप उसकी पूजा करते है?

उत्तर—स्थापना निक्षेप मानकर।

प्रश्न—प्रतिमा पूजन मे आप भाव निक्षेप का भी आह्वानन करके उसे वहाँ स्थान देते हैं, या विसर्जन करके बिदा कर देते है। भाव निक्षेप की अपेक्षा मूर्ति पूज्य है या अपूज्य?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर वही है जो इस प्रश्न का है कि साक्षात् जिनेन्द्र स्थापना निक्षेप की अपेक्षा पूज्य है या अपूज्य। शास्त्रो को आप जिनवाणी कहते है वह स्थापना निक्षेप की अपेक्षा है या भाव निक्षेप की अपेक्षा।

प्रश्न—स्थापना निक्षेप का मोक्षमार्ग से क्या सम्बन्ध है। क्या बिना स्थापना निक्षेप के कोई मोक्ष प्राप्त नही कर सकेगा?

उत्तर—स्थापना निक्षेप का मोक्षमार्ग से वैसा ही संबध है जैसा भाव निक्षेप से है।

प्रश्न—स्याद्वाद के सप्तभगो मे से कौन से भग द्वारा आप मूर्तिपूजा को जिनेन्द्र प्रतिपादित सिद्ध कर सकते है?

उत्तर—जिन भगो से आप जिनेन्द्र पूजा को जिनेन्द्र प्रतिपादित सिद्ध कर सकते हैं।

प्रश्न—सप्तभगों मे से कौनसे भग द्वारा आप मूर्तिपूजन मे जिनेन्द्र का आह्वानन आदि कर बुलाते बिठाते है, आपका मनमाना स्याद्वाद क्या मुक्त जीवो को यहाँ बुलाकर साक्षात्कार करा देने की भी शक्ति रखता है या मनमाना ही है?

उत्तर—स्तुतियाँ जिन भगो को लेकर की जाती हैं, उन्ही भगो की अपेक्षा से आह्वाननादि क्रियायें हैं।

प्रश्न—आप किस नय की सिद्धि करने के लिये किस नय के द्वारा मूर्ति-पूजन करके अभीष्ट सिद्ध प्राप्त करते है जिनागम की साक्षी उसी के अनुकूल बतावें?

उत्तर—मूर्ति-पूजन किसी नय को सिद्धि के लिये नही, बल्कि आत्म-कल्याण की सिद्धि के लिये किया जाता है। जिस नय के द्वारा मूर्तिमान के पूजन से अभीष्ट की सिद्धि की जाती है उसी नय के द्वारा मूर्ति की पूजन से भी।

प्रश्न—मूर्ति-पूजन करते समय किन कर्मों का आस्रव, बंध होता है ? तथा किन-किन कर्मों की निर्जरा होती है ?

उत्तर—जिन कर्मों का आश्रव बंध और निर्जरा मूर्तिमान के पूजन से होता है ।

प्रश्न—यदि मूर्ति-पूजन करते समय वहाँ के पंचेन्द्रियो को लुभाने वाले सामान से मूर्ति-पूजक का मन लुभा जावे तो उसे कौनसे पाप का बंध होकर कौनसी गति मिलेगी ?

उत्तर—वही गति जो मूर्तिमान के पूजक की समवशरण से लुभाने वाले सामान से होती है ।

प्रश्न—मूर्ति-पूजन मे खूब राग रग की जरूरत है या वीतरागता की ? यदि वीतरागता की जरूरत है, तो फिर पेटी तबले पर पूजन किसको खुश करने के लिये की जाती है इसमें भी पुण्य है या पाप ?

उत्तर—समवशरण में जिनेन्द्र के सामने दुंदुभि बजने का जो फल है वही मूर्तिपूजन मे पेटी, तबले बजाने का फल है ।

प्रश्न—अपने मनोनीत वीतरागियो के सामने रागयुक्त क्रियाये करना उन वीतरागियो की अवज्ञा है या उनका ही आज्ञापालन ?

उत्तर—वीतरागी जिनेन्द्र के सामने रागयुक्त (समवशरणादि की सजावट दुदुभि आदि का बजना) क्रियाये करना जब उनकी अवज्ञा नही तब मूर्तिपूजन मे भी उक्त क्रियाये अवज्ञारूप कैसे हो सकती है ।

प्रश्न—भक्त, भक्तिरस मे कौन-कौन से कार्य अपने भगवान् के प्रति करने का अधिकारी है । या मनमानी करके भक्त कहा जा सकता है ?

उत्तर—वे कार्य जो शुभ परिणामो की ओर ले जाते है ।

प्रश्न—समवशरण आदि के माडनो के धुले हुए चावलादि जब तक माडने का विसर्जन न हो तब तक क्या प्रासुक हो रहते है ? कौन-कौन से माड़नो को कितने-कितने दिन रखा जाता है ?

उत्तर— प्रासुक नही रहते, यही वजह है कि यह प्रथा कम होती जा रही है और लोग काँच का माँडना माडने लगे हैं ।

प्रश्न—पचकल्याणक प्रतिष्ठा, गजरथ आदि मे "सावद्य लेशो बहुपुण्यराशौ" के अनुसार पाप अधिक होता है ? या पुण्य, या बराबर-बराबर ।

उत्तर—पुण्य अधिक होता है ।

प्रश्न—जिस चीज को श्रावक छूने मे भी आगम के अनुसार पाप समझता है उन चीजो का पूजनादि मे उपयोग करना क्या मोक्षमार्ग है ? जैसे गोरोचन कस्तूरी आदि ?

उत्तर—जिनके छूने मे पाप है उन्हे कोई नही चढाता ।

प्रश्न—यक्ष, यक्षिणी, क्षेत्रपाल, देवी, देवता, नवग्रह आदि की पूजन करना क्या जैन सिद्धान्त के अनुकूल है ?

उत्तर—जिनेन्द्र की तरह शासन देवताओ का पूजा कोई नही करता ।

प्रश्न—मूर्ति के आह्वानन करने पर जब देव आ जाते है और उनकी पूजनादि करने से आपको यह स्वर्गीय आनन्द प्राप्त होता है तथा आप इन्द्र तक भी बन जाते हैं, जिसके आनन्द का पारावार नही तब कुछ समय के बाद ही, भगवान् का आपने हाथो विसर्जन करके आप उस आनन्द से क्यो हाथ धो बैठते है ? मेरी समझ से ऐसे आनन्द को छोड़कर फिर संसार मे संसारियो जैसी हाय-हाय करना वैसा ही होगा कि जैसे कोई चिन्तामणि रत्न को पाकर उसे अपने हाथो समुद्र में फेंक दे । यदि चिन्तामणि को समुद्र मे फेंक देना फेंक देने

वाले की भूल या अज्ञान है तो फिर उपर्युक्त पूजन को प्रारम्भ करके इन्द्र बनकर फिर ससारी बन जाने वालो की क्या बुद्धिमानी है ?

उत्तर—विसर्जनादि क्रियायें अनुराग प्रदर्शक केवल स्तुतियाँ है । अन्यथा जो साक्षात् जिनेन्द्र का दर्शन करते हैं उनको भी करते रहना चाहिए, वे क्यो जिनेन्द्र को छोडकर उस आनन्द से वचित होते हैं । क्षुल्लकजी के पास से तो कोई तारणपन्थी उठता ही नही होगा । शास्त्र स्वाध्याय करने मे भी आपको आनन्द आता होगा, फिर आप उस आनन्द से वचित होकर घर क्यो चले जाते है ? इसका उत्तर ही आपके प्रश्नों का उत्तर है ।

प्रश्न—जबकि आप प्रतिमा को देव कहकर पूजते हैं और उसमें वीतरागता मिलती है ऐसी ही आप मानते हैं फिर आप एक गुण वीतरागत्व को मूर्ति मे घटा कर केवल एक ही गुण से देव मान बैठे यह कैसा अन्धेर है जब कि आप्त का स्वरूप वीतरागीपने के साथ सर्वज्ञत्व और हितोपदेशीपना भी है तो क्या प्रतिमा मे सर्वज्ञत्व और हितोपदेशी-पन भी पाया जाता है ? यदि नही तो फिर यह शास्त्र-विरुद्ध बात क्यो की जाती है । जैन शासन के अनुसार देव वही हो सकता है जो वीतरागी, हितोपदेशी और सर्वज्ञ हो । इन तीन गुणो में से एक भी कम हो वह आप्त नही कहला सकता है फिर मूर्ति मे यह उक्त तीन गुण नही है, तो वह "देव" कैसे कहला सकती है ?

उत्तर—सर्वज्ञता और हितोपदेशिता की पूज्यता वीतरागता के ऊपर ही निर्भर है । वीतरागता के बिना बडे से बडा विद्वान और हितोपदेशी भी पूज्य नही होता । कोई वीतरागी तो न हो, पर दूसरे के हित की बाते बघारता हो, इसलिये हम उसे पूज्य न कह देंगे । इसी प्रकार हो तो बडा ज्ञानवान पर हो सरागी, भला हमारे किस काम का । दूसरी तरफ ज्ञानवान् तो न हो लेकिन हो वीतरागी, हम उसका आदर करेंगे । इसी तरह हित की बाते भले ही न कहे, लेकिन वीतरागी जीवन बिताता हो तो वह भी हमारे आदर का चीज है । ज्ञान का अन्तिम विकासपूर्ण वीतरागता के ऊपर निर्भर है, पर वीतरागता का अन्तिम विकासपूर्ण ज्ञान के ऊपर नही । कल्पना कीजिये एक आदमी सर्वज्ञ है, त्रिकाल त्रिलोक की बात जानता है, लेकिन सरागी (ख्याति, लाभ, पूजा का इच्छुक) है, दूसरा आदमी त्रिकाल त्रिलोक की बात तो क्या घर के पीछे क्या हो रहा है यह भी नही जानता, परन्तु वीतरागी है (ख्याति, लाभ, पूजादि का इच्छुक) नही है । दोनो मे से जनता जितना दूसरे का आदर करेगी पहले का नही । इसलिये वीतरागता है तो सब कुछ है, वीतरागता नही तो कुछ भी नही । कल्याणार्थी को वीतरागता चाहिये । मूर्ति मे वह उसी के दर्शन करता है । इसलिए सर्वज्ञता और हितोपदेशिता तो उसमे अपने आप अन्तर्भूत हो जाते है । दूसरी बात यह है कि देवता बनने के लिए जितने उदार हृदय बनने का आवश्यकता है उतने विशाल ज्ञान की आवश्यकता नही । 'अमुक आदमी की क्या बात है वह तो देवता है' इसका मतलब यही है कि वह अत्यन्त उदार है, अत्यन्त ज्ञानवान् नही । उदारता वीतरागी की चीज है, ज्ञानवान् की नही । इसलिए देवत्व वीतरागता के जितना निकट है सर्वज्ञता के निकट उतना नही । भ्रम तो यह है कि लोग इन तीनो बातो को देव का लक्षण समझते है, परन्तु दरअसल यह देव का लक्षण नही आप्त का लक्षण है । देव और आप्त मे बडा अन्तर है । देव का मतलब उदार हृदयी से है और आप्त का मतलब प्रामाणिक वक्ता[1] से है । देव मे आप्तता स्वय आ जाती है, पर आप्त को देवत्व लाना पडता है । इसलिए आप्त का लक्षण करते समय तो हम यह कह सकते हैं कि जिसमें देवत्व, सर्वज्ञत्व और हितोपदेशित्व हो वह आप्त है, पर देव का लक्षण करते समय हम यही कहेंगे जो वीतरागी

१. यो यत्रावञ्चकः स आप्तः । (अनंतवीर्य)

हो। देव में आप्तता रहती है, इसलिये भले ही देव को आप्त कह दिया जाय। और शास्त्रकारों का भी दोनों को एक कहने में यही दृष्टिकोण रहा है, पर दोनों एक नही हैं। इसलिए मूर्ति में वीतरागता की झलक देख कर जहाँ हम देव की स्तुति करने लगते हैं वहाँ उससे आप्तता कुछ अलग नही रह जाती।

तीसरी बात यह है कि वीतराग भावों की झलक जैसे हम चेहरे पर देख लेते हैं वैसे सर्वज्ञता कुछ चेहरे से नही टपक पड़ती। अमुक आदमी सर्वज्ञ है इसको प्रत्यक्ष तो सर्वज्ञ ही जानेगा दूसरा क्या जाने। पर अमुक आदमी वीतरागी है इसको दूसरे लोग भी प्रत्यक्ष जानेंगे। सर्वज्ञ की वाणी सुनकर भी सर्वज्ञता नही आँकी जा सकती, क्योंकि सर्वज्ञ जो कुछ कहते हैं वह उनके ज्ञान का अनन्तवाँ भाग है। इसलिए सर्वज्ञ की वाणी उनकी बहुज्ञता की परिचायक है, सर्वज्ञता को नही। मतलब यह है कि वीतरागता की तरह सर्वज्ञता का कुछ बाह्य रूप नही है। इसलिए दर्शनार्थियो को उसका कुछ उपयोग नही। जब उपयोग नही तब मूर्ति में ही उसे लाने या बतलाने की क्या आवश्यकता है। साक्षात् जिनेन्द्र मे सर्वज्ञता तो क्या और भी पचासो गुण हो, पर दीखती तो हमे वीतरागता ही है। वही वीतरागता हमे मूर्ति मे दीखता है, इसलिए वहाँ अगर हम देव कह कर स्तुति करते हैं तो बेजा नही करते।

प्रश्न—पञ्चकल्याणको की प्रतिष्ठाओ मे गर्भ कल्याणक के दिन भगवान् को किस माता के गर्भ में लाया जाता है? वहाँ माता की स्थापना किसमें की जाती है? तथा पिता भी कोई उस समय माना जाता है या नही?

उत्तर—पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठाओ में प्रतिष्ठाकारक दम्पति माता-पिता बनते हैं।

प्रश्न—इसी प्रकार महावीरजी जो (चान्दन गाँव) मे भी यह कहा जाता है कि भगवान् की प्रतिमा जिस जगह जमीन मे थी वहाँ एक गाय का दूध झर जाता था तो वह दूध क्या वह प्रतिमा झरा लेती थी। और यह घटना सत्य है? तो उस मूर्ति को दूध झरा लेने की क्या आवश्यकता थी, इसी प्रकार और भी अनेक अतिशय क्षेत्रो के महत्त्व को बताने के लिए अनेक प्रकार की कपोल कल्पनाये जो गढी जाती हैं क्या उनमें से किसी एक का भी वर्तमान में सत्य-साक्षात् हो सकता है, यदि नही तो उक्त बाते कौन से आधार से प्रमाण मानी जावे?

उत्तर—चाँदन गाँव मे प्रतिमा के ऊपर दूध झरने की सत्यता मे कोई बाधा नही। हाँ, प्रतिमा दूध झराने मे प्रेरक नही थी निमित्त थी।

प्रश्न—मूर्ति पूजक भाई यह कहते है, कि कुण्डलपुर के महावीर स्वामीजी की प्रतिमा को जब यवन बादशाह ने खण्डित करने के हेतु अंगुली मे टाँकी मारा तब उसमे मे दूध की धारा बह निकली, क्या यह घटना सत्य है? या बनाई हुई बात है। यदि सत्य है तो क्या अभी भी दूध की धारा बहाने वाली प्रतिमा आप बता सकते हैं? या कुण्डलपुर की ही उक्त मूर्ति से दूध झरने का साक्षात्कार करा सकते हैं?

उत्तर—अतिशय सदा और सब जगह होने की चीज नही है, अन्यथा वे अतिशय ही न रहें। उनकी सचाई में कोई बाधा भी नही है।

प्रश्न—मूर्ति में आह्वानन करने से जब मुक्त आत्मा उसमे आ जाती है तो फिर मूर्ति सजीव होकर उपदेशादि क्यों नही देती?

उत्तर—आह्वाननादि का मतलब केवल स्तुति से है, मुक्त जीव के आने-चले जाने का कोई प्रश्न नहीं।

प्रश्न—भगवान को अपनी पूजन कराना आवश्यक है ? अथवा भक्तो को उनकी पूजन करना आवश्यक है ? यदि भक्तों का कर्तव्य नित्य पूजन करने का है तो पाली, पाली से या पुजारी रखकर भगवान की पूजा कराना श्रावक का कर्तव्य कैसा ? पाली से अथवा पुजारी द्वारा पूजन कराना, इससे तो यही मालूम होता है कि पूजन करना श्रावको का कर्तव्य नही, किन्तु भगवान अपनी पूजन नित्य नियम से किसी के भी द्वारा करा लेना चाहते हैं। तब क्या किसी दिन भगवान की मूर्ति-पूजा न होने से भगवान का उस दिन नुकसान या अपमान समझा जावे ?

उत्तर—पूजा करना भक्त का कर्तव्य है। पाली-पाली से पूजा कोई नही करता, यदि कहीं की जाती है तो वह उचित ठहरा कर प्रश्न कोटि मे नही आ सकती। यो तो २-१ तारण पन्थियों को चरित्रहीन देखकर सबको चरित्रहीन ठहरा कर बहुत से प्रश्न किए जा सकते हैं।

प्रश्न—निश्चय नय से मूर्ति पूज्य है या अपूज्य ?

प्रश्न—व्यवहार नय से मूर्ति पूज्य है या अपूज्य ?

उत्तर—मूर्ति हो या मूर्तिमान पूज्य पूजक सम्बन्ध ही व्यवहार नय से है।

प्रश्न—यदि व्यवहार नय से मूर्ति पूज्य है तो आप मूर्ति को मूर्ति समझ कर पूजते हैं या और कुछ ? यदि आप मूर्ति को मूर्ति समझ कर पूजते हैं तो पाषाण पूजन से क्या लाभ ? तथा यदि मूर्ति को भगवान समझकर पूजते हैं तो—

'जीव अजीव तत्व अरु आस्रव-बंधरु संबर जानो।
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको ज्यों को त्यो सरधानो ॥'

इस व्यवहार सम्यग्दर्शन के मुआफिक मूर्ति को भगवान मानकर पूजने से "ज्यो को त्यो सरधानो" कहाँ रहा ? मूर्ति में भगवान और भगवान को मूर्ति में" इस प्रकार उल्टे सीधे व्यवहार का नाम व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है। अब व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा जब मूर्ति-पूजा अनावश्यक है तो आप फिर व्यवहार या निश्चय के अतिरिक्त कौन से तीसरे नय से मूर्ति मानते हैं ?

उत्तर—मूर्ति पूजन में पूजक का ध्यान उसकी पाषाणता की ओर नही है, बल्कि वीतराग छवि की ओर है। यों तो फिर अरहन्त का पूजन भी उनके हाड-मांस की पूजा कहलायेगी। गौपूजक जैसे पशुपूजक नही। रत्नधारी जैसे पत्थरधारी नही, वैसे ही मूर्तिपूजक पाषाणपूजक नही। शास्त्रों का आदर करने वाला कागज के ढेरों का आदर करने वाला नही कहलाता। निसई और तारणगुरु की कब्र की एक एक ईंट पर जान देने वाला तारण पन्थी मिट्टी के ढेर का पुजारी नही, फिर मूर्ति की पूजा करने वाला ही पाषाण पूजक कैसे है ?

स्थापना निक्षेप और उसका उपयोग 'ज्यों को त्यो सरधानो' से बाहर नही है। 'ज्यों को त्यों सरधानो' से बाहर तो वे हैं जो मूर्ति की उपयोगिता का विरोध कर केवल तीन ही निक्षेप मानते हैं और स्थापना निक्षेप की अवहेलना करते है। इसलिये व्यवहार सम्यग्दर्शन मूर्तिपूजा का विरोध नही करता।

प्रश्न—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत, इन सात नयों में से कितने नय मूर्ति के पूजक है ?

उत्तर—जिस नय से मूर्तिमान की पूजा करना आप विधेय मानते हैं।

प्रश्न—आपने अपनी नाटक लीला, तथा कल्पना को ही धर्म का जामा क्यो पहना दिया है ? यदि नही तो इन सब आपकी कल्पनाओ का धार्मिकता से क्या सम्बन्ध है ? जैसे मूर्ति से भगवान का पार्ट अदा

कराते हैं, वैसे ही चाहे जिस स्त्री, पुरुष को इन्द्राणी और इन्द्र बनाकर उनसे भी पार्ट अदा कराते हैं, आदि आदि दो ऐसी इन सब लीलाओं का धर्म से क्या सम्बन्ध है ? यदि इन्ही नाटक, लीला कल्पना को ही धर्म का जामा पहना दिया जावेगा तो "वत्थुसहावो धम्मो" इसे कौन पूछेगा तथा आप इसका क्या अर्थ करेंगे ? इस प्रश्न का खूब विचार कर सप्रमाण उत्तर देने की कृपा करे ।

उत्तर—'वत्थु सुहावो धम्मो' का गीत गाने वालो को पहले उक्त लक्षण का अभिप्राय समझना चाहिये । मूर्तिपूजा तो दूर रहे पूजामात्र ही जीव का धर्म नही, फिर तो साक्षात् जिनेन्द्र पूजा भी वस्तुधर्म के खिलाफ है । तब तो मूर्तिपूजा और जिनेन्द्र पूजा दोनो हो बेकार रहे । खाना पीना उपदेश करना सभी तो जीव के धर्म नही, फिर तारण पन्थी क्यो वस्तु धर्म के खिलाफ जा रहे हैं । अच्छा हो सबके सब खाना पीना छोड़ दे और वस्तु स्वभाव की रक्षा करें । भाई ! वस्तु स्वभाव धर्म तो निश्चय धर्म है और उसका कारण (उसके प्रकट होने मे सहायक) व्यवहार धर्म है । वीतरागता की पूजा चाहे उसके दर्शन जिनेन्द्र मे हो या मूर्ति मे व्यवहार धर्म है । नाटक का अर्थ ही यथार्थता को सामने लाना है रामलीला राम चरित्र की यथार्थता ही सामने लाती है या आप यह लिख दीजिये कि रामलीला झूठी है, उससे राम का यथार्थ चरित्र सामने नही आता । जिससे यथार्थता का भान हो, वस्तुस्थिति समक्ष मे आ जाय वह नाटक हो या और कुछ उपादेय है, धर्म है । आप तो व्यवहार को ही रो रहे है, पर शास्त्रकारो ने तो निश्चय धर्म (वस्तुस्वभावधर्म:) को समझाने के लिए भी उसे नाटक का रूप दिया है । 'समयसार नाटक' आदि शास्त्रो की रचना उसी का परिणाम है । आप तो शास्त्रो को वेदियो मे रखते हैं, पालकी मे निकालते है । उक्त नाटक भी आपकी वेदियो मे होगा । कुछ नही तो शास्त्रो का उपकार तो आप मानते ही है, क्या समयसार नाटक का आप पर उपकार नही है (सम्भव है उस ही पढकर या गुरु मुख से सुनकर आपके तारणगुरु अध्यात्म प्रेमी बने हों) फिर नाटक से इतनी घबराहट क्यो ? इसी का नाम है जादू सिर पर चढकर बोले ।

प्रश्न—मूर्ति-पूजक दि० जैन समाज के अच्छे अच्छे विद्वान् भी कहते है कि "तारणसमाज जो शास्त्र या जिनवाणी को मानती है तो यह जिनवाणी उपासना भी मूर्ति-पूजा ही है । हम पूछते है जब आपने शास्त्र (जिनवाणी) मानने मे तारणपथियो को मूर्ति-पूजक ठहरा दिया तब फिर पाषाण मूर्ति की पूजा को तारण-पथियो के सिर पर लादने की व्यर्थ कोशिश आप लोग क्यों करते है आप तो अपने मन मे सन्तोष कर लो कि जिनवाणी उपासक तारण समाज की मूर्तिपूजा जिनवाणी—उपासना ही है । परन्तु देखते है कि आप को सन्तोष न होकर उल्टा क्रोध आता है और आप लोग विचारते है कि इन तारण-पथियो के सिर पर भी कब यह भार लद जावे । पर अब आप ही अपने सिर पर इस भार को दूर करने की कोशिश कोजिये ।

उत्तर—हम लोग मूर्तिपूजा को अनुचित मानते होते तब तो यह कहना ठीक था कि हमने शास्त्र मानने मे तारण पन्थियो को मूर्तिपूजक ठहरा दिया । अब पाषाण निर्मित मूर्ति का पूजा को तारण पन्थियो के सिर पर लादने की क्यो चेष्टा करते हैं, परन्तु हम तो मूर्तिपूजा को उचित मानते है । इसलिए हमारा कहना तो यह है कि जैसे आप कागज, स्याही निर्मित शास्त्रों के आदर को जिनवाणी की उपासना कह कर एक मूर्तिपूजा उचित मानते हैं वैसे ही आप पाषाण निर्मित मूर्ति की पूजा को जिनकी उपासना कह कर दूसरी मूर्तिपूजा भी कबूल कीजिए । आपका इसमें कल्याण ही होगा । किसी को उत्तरोत्तर कल्याण मार्ग पर ले जाने के लिये सन्तोष करके बैठ जाना भूल है । इसलिये हमे सन्तोष न होना यह ठीक ही है । हमें क्रोध आता है तो वैसा ही जैसा अज्ञानी शिष्य पर के गुरु को । गुरु के इस क्रोध मे भी जैसे शिष्य की भलाई छिपी है वैसे ही हमारे इस कोध मे भी तारण पन्थियो की भलाई छिपी है ।

प्रश्न—"मूर्ति-पूजा" इस शब्द की व्याख्या क्या है ? मूर्ति-पूजा के मायने मूर्ति (पाषाण) की पूजा

है या भगवान् की। क्या मूर्ति शब्द का अर्थ भगवान् या देव हो सकता है ? "मूर्ति-पूजा" इस शब्द से ही साफ जाहिर होता है कि मूर्ति की पूजा याने पाषाण निर्मित जो प्रतिमा, मात्र उसकी पूजा।

जब यह स्पष्ट है फिर मूर्ति शब्द का अर्थ जबर्दस्ती खींचतान कर देव या भगवान् क्यो किया जाता है। बात करते हैं जिनेन्द्र भगवान् की ओर दौड पडते हैं मूर्ति की तरफ, यह क्या तमाशा है ?

उत्तर—मूर्तिपूजा शब्द की व्याख्या वही है जो शास्त्र पूजा शब्द की है। अन्तर इतना है कि यहाँ मूर्ति है वहाँ शास्त्र है।

दि० जैन मूर्तिपूजा पर प्रश्नों का उत्तर

प्रश्न—गुण वन्दनीय हैं या आकार ? जो गुण वन्दनीय हैं, तो प्रतिमा जोकि गुण रहित हैं, उसे वन्दना क्यो करते हो ? जो आकार वन्दनीय है तो फिर 'गुणा पूजास्थान' यह वाक्य असत्य सिद्ध होता है। गुणों की वन्दना करने वाले के लिये मूर्ति की कोई जरूरत नही है। यदि जरूरत है तो वह गुणों का पुजारी नहीं है, सिर्फ आकार का या जड का ही पुजारी कहा जावेगा।

उत्तर—गुण वन्दनीय है, वीतरागता एक गुण है। वह जैसे जिनेन्द्र के चेहरे पर प्रतिबिम्बित होता रहता है वैसे ही मूर्ति के चेहरे पर भी। इसलिये हम प्रतिमा को भी वन्दना करते हैं और जिनेन्द्र को भी।

प्रश्न—आप मूर्ति मे कौनसी अवस्था की कल्पना करके उसका पूजन वन्दन करते है, अरहन्त या सिद्ध, या गृहस्थ ?

उत्तर—अरहन्त, सिद्ध दोनो।

प्रश्न—आप प्रतिमा वन्दन के अवसर पर किसे नमस्कार करते है ? जो प्रतिमा को नमस्कार करते हो तो उस समय वीतराग वन्दन नही होता है, और वीतराग को वन्दन करते हो तो सामने प्रतिमा को वन्दन नही होता, क्योकि वीतराग और प्रतिमा ये दोनो भिन्न-भिन्न चीजें हैं।

उत्तर—प्रतिमा वीतरागता का प्रतिबिम्ब है। इसलिये प्रतिमा वन्दन का मतलब वीतराग वन्दन से ही है। वीतराग और प्रतिमा दोनो भिन्न है तो क्या हुआ दो वीतराग वीतराग भी तो परस्पर भिन्न होते हैं, पर दोनो वीतरागियो का स्वरूप और उद्देश्य जैसे एक है वैसे ही वीतरागता और उसके प्रतिबिम्ब का भी उद्देश्य और स्वरूप एक है।

प्रश्न—तीर्थङ्करो के नाम से पाषाण मूर्ति स्थापित करते हो तो यह बताओ कि तीर्थङ्करो के समस्त अतिशय और गुण लक्षण सहित स्थापना करते हो, या अतिशयादि को छोडकर कोरे तीर्थङ्कर भगवान् की स्थापना करते हो।

उत्तर—अतिशय सो चमत्कार है उनका आत्म-कल्याण के साथ कोई सम्बन्ध नही, इसलिए मूर्ति मे अतिशयों की स्थापना की कोई आवश्यकता भी नही। स्वामी समन्तभद्र ने उनकी उपेक्षा ही की है। मूर्तियां तो केवल वीतरागियो की है, वे तीर्थंकर भी हो सकते हैं, सामान्य केवली भी, सिद्ध भी।

प्रश्न—आपने चार निक्षेप मे से स्थापना को तो ग्रहण करके मूर्तिपूजा का प्रचार किया, किन्तु भाव निक्षेप को क्यो छोड दिया ? यदि नही छोडा है तो दोनो को एक साथ एक ही वस्तु मे कैसे व्यवहृत होगे ?

उत्तर—भाव निक्षेप को छोडा नही है हां दोनो का स्थान भिन्न २ है। एक का आधार मूर्ति है दूसरे का आधार मूर्तिमान है, परन्तु इच्छित प्रयोजन की सिद्धि के लिये दोनो का मतलब एक है।

प्रश्न—दि० जैन मूर्तियो मे जो चिह्न होते है उनका क्या मतलब है, क्या मूर्ति की पूजा होते समय वे चिह्न भी पुजते है, यदि नही तो क्यो ? चिह्न तथा मूर्ति मे कितना अन्तर है ? इसके लिये श्री महावीर स्वामी की आज्ञा क्या है ?

उत्तर—मूर्ति में चिह्न का होना अमुक तीर्थङ्कर का सूचक है। प्रत्येक तीर्थंकर के अंगूठे मे जन्म काल से ही कोई न कोई इस प्रकार का चिह्न होता है। इसकी पूजा नहो होती।

प्रश्न—मूर्ति में पूजन के समय कौनसा निक्षेप तथा पूजन के बाद कौनसा निक्षेप रहता है।

उत्तर—स्थापना निक्षेप रहता है।

प्रश्न—दि० मुनियो को मूर्तिवन्दन करना चाहिये या नही? यदि दि० मुनि मूर्ति को बन्दन करते हैं तो फिर मूर्ति का दर्जा मुनियों से बडा हुआ। फिर मुनियों द्वारा पूज्य इस मूर्ति का णमोकार मन्त्र या चत्तारि-दण्डक में नाम क्यो नही?

उत्तर—मूर्ति वन्दन का मतलब ही अरहन्त वन्दन है और णमोकार मंत्र मे उसका नाम आया है।

प्रश्न—श्री पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्ति जो फण सहित होती है वह किस अवस्था की है? अरहन्तावस्था या छद्मस्थावस्था की। यदि अरहन्तावस्था की है तो उस पर फण क्यो? क्या अरहन्त के सिर पर फण होना उचित है? तथा पार्श्वनाथ के पूजन के समय उसकी भी पूजन होती है या नहीं?

उत्तर—जिनको जिनेन्द्र पूजन का अधिकार है।

प्रश्न—पाँचो पापो का करने वाला प्रतिमा पूजन कर सकता है या नही?

उत्तर—यदि जिनेन्द्र पूजन कर सकता है तो प्रतिमा पूजन भी कर सकता है।

प्रश्न—जैसे श्रीपाल राजा का कुष्ठ गन्धोदक लगाने मे मैना सुन्दरी ने ठीक किया, क्या यह बात सत्य है। यदि सत्य है तो आजकल के कुष्ठ रोग वालो को गन्धोदक देकर हमारे मूर्ति-पूजक भाई उपकार करके उनकी रक्षा क्यो नही करते?

उत्तर—अतिशय का अर्थ ही यह है जो कभी-कभी किसी-किसी के हो और सबके और सदा न हो।

प्रश्न—प्रतिमा मे कितने अतिशय होने चाहिये? उनके नाम बतावें।

उत्तर—प्रतिमा मे केवल वीतराग मुद्रा होना अनिवार्य है।

प्रश्न—दीपावली को निर्वाण लाड्डू क्यो चढ़ाया जाता है? क्या महावीर स्वामी कह गये थे?

उत्तर—क्योंकि उस दिन देवो ने निर्वाण लाडू चढ़ाया था। कोई भी महापुरुष अपनी पूजा करने को नही कह जाता, किन्तु कर्त्तव्य के प्रेरणा से ऐसा होता है।

प्रश्न—किसी वर की इच्छा से पूजन विधान करना कौनसी मूढ़ता है?

उत्तर—मोक्ष की इच्छा करना भी वर है और किसी की हत्या माँगना भी वर है। दोनो को भगवान् के आधीन समझना मूढता है। मोक्ष और हत्याये अपने ही कर्मो के क्षय और उदय का परिणाम है। इसलिये अपने ही आधीन है, ऐसा समझ कर अपने परिणामो मे भद्रता लाने के लिये वीतराग प्रतिबिम्ब का सहारा लेना मूढता नहीं है।

प्रश्न—जंगल, खेत, बगीचादि कई स्थानो की गढी हुई मूर्तियाँ क्या स्वप्न देकर निकल सकती है?

उत्तर—स्वप्न देती नही है, बल्कि होता है।

प्रश्न—मूर्ति पूजन करना लोक व्यवहार की रूढिमात्र है या धर्म? यदि धर्म है तो दश धर्मो मे कौन सा है?

उत्तर—धर्म है, तप धर्म के अन्तर्भूत है।

प्रश्न—पंचामृताभिषेक क्यों किया जाता है? उसके करने वालो को क्या फल मिलेगा?

उत्तर—परिणामो की शुद्धि के लिए, वही उसका फल है।

प्रश्न—खारे कुआँ के खारी पानी मे क्षीर सागर के जल की कल्पना करके चढाना पुण्य है या पाप?

उत्तर—पुण्य है।

प्रश्न—झोपड़ा की एक चिटक में नाना प्रकार के व्यंजनों की कल्पना करके चढ़ाने में झूठ का पाप लगेगा या पूजन का पुण्य ?

उत्तर—पूजन का पुण्य ।

प्रश्न—सत्य भाषण करना बड़ा या मूर्ति के भगवान् की पूजा करना बड़ा ? आप की मूर्ति पूजन में पुजारी को सत्य का पाठ पढ़ाया जाता है या असत्य का ?

उत्तर—दोनो बडे हैं, सत्य का पाठ पढाया जाता है ।

प्रश्न—यदि सत्य का पाठ पढाया जाता है तो कुंए के पानी मे क्षीर सागर का जल, चिटकों में घेवर बावर कहकर चढाना उसका यह सत्य व्यवहार है या असत्य ?

उत्तर—सत्य व्यवहार है, देखो दश प्रकार के सत्यो मे सम्मति सत्य और स्थापना सत्य का स्वरूप ।

प्रश्न—क्या आपके यहाँ पूजन में शासन देवताओ का भी आह्वानन स्थापनादि होता है ।

उत्तर—होता है ।

प्रश्न—विसर्जन मे जो "लब्धभागा यथाक्रमम्" है उसका क्या मतलब है ?

उत्तर—इसका मतलब शासन देवताओ से है ।

प्रश्न—आपके यहाँ प्रतिमा के समक्ष प्रतिदिन कितनी पूजनें होती हैं ? उनका फल अलग-अलग है या एक सा ?

उत्तर—पूजक जितनी चाहे करे । अलग-अगल भी होता है, एक सा भी ।

प्रश्न—जब आपके यहाँ प्रतिमा पूजन में सभी कल्पित बातें मानो जाती हैं, फिर रेवती रानो ने कल्पित महावीर के उस कल्पित समवशरण मे क्यो नही जाकर वहाँ के परीक्षार्थी क्षुल्लक को नमस्कार किया । उस समवशरण मे जैनधर्म के विरुद्ध क्या बात थी ?

उत्तर—क्षुल्लक २५ वाँ तीर्थङ्कर बनता था । यही जैन धर्म के विरुद्ध बात थी ।

प्रश्न—प्रतिमा से कौन-कौन से गुणो का लाभ होता है वे गुण आत्मीय है या पौद्गलिक ।

उत्तर—वीतरागता का लाभ होता है । वह अगमीय है ।

प्रश्न—अछूत लोग दि० जैन मन्दिर मे जाकर वहाँ की मूर्ति का अभिषेक पूजनादि कर सकते है या नही, यदि नही तो क्यो ? क्या मूर्ति के कल्पित अरहतो पर किसी का अधिकार भी रहता है ?

उत्तर—अधिकारो का सवाल नही, परन्तु शारीरिक योग्यता का सवाल है अछूतों में उसकी कमी है इसलिये पूजनादि नही कर सकते ।

प्रश्न—दि० जैन मन्दिरो मे जो क्षेत्रपालादि की मूर्तियाँ द्वार पर रहती हैं उनका क्या प्रयोजन तथा उन पर सेन्दूर वगैरह लगाने का क्या कारण है, क्या उनकी भी पूजन होती है ?

उत्तर—क्षेत्रपालादि मूर्तियाँ द्वारपालो का प्रतिरूपक हैं । सेन्दूर वगैरह उनके अनुरूप उनका आदर है पर प्रतिमा की तरह उनका पूजन निषिद्ध है ।

प्रश्न—खडित मूर्ति पूज्य है या अपूज्य । यदि अपूज्य है तो क्यो ।

उत्तर—खण्डित मूर्तियाँ कई प्रकार की होती है उनमें पूज्य भी होती हैं अपूज्य भी ।

प्रश्न—वह कौन सी बात है जिसकी पूर्ति जिनवाणी से न होकर मूर्ति द्वारा होती हैं । विस्तार से ठीक-ठीक समझाइये ।

उत्तर—किसी चीज के वर्णन को पढ़कर उसके चित्रो की आवश्यकता जिस बात की पूर्ति करती है वही पूर्ति जिनवाणी से न होकर मूर्ति से होती है ।

प्रश्न—जबकि सब जिनेन्द्र एक से हैं फिर उनकी मूर्ति और मन्दिरों में भेद क्यो, यदि न हों तो मूलनायक की मुख्यता और अन्य मूर्तियो की गौणता क्यो की जाती है।

"मूलनायक" की व्याख्या आप क्या करते है।

उत्तर—जिस प्रतिमा के नाम से मन्दिर का नामकरण होता है जो पहले प्रतिष्ठित की जाती है इसलिये उसको मूलनायक कहते हैं। प्रभाव और गुणों की अपेक्षा कोई भेद नही। मूलनायक की व्याख्या प्रधानमालिक है प्रधानता का कारण ऊपर दिया है।

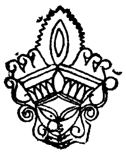
प्रश्न—आपके यहाँ नौकरी से पूजा करने वाला पुजारी जैन ही होता है या अजैन भी।

उत्तर—द्रव्यत सभी जैन होते है भावत सर्वज्ञ जाने।

प्रश्न—नौकरी से पूजा करने वाले को पूजन का क्या फल मिलेगा, खाली वेतन या मरने पर स्वर्ग भी।

उत्तर—नौकरी से पूजा करने वाले को उसके भावो के अनुसार फल मिलेगा।

●



'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का आध्यात्मिक रूप

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र

लोक मे साक्षर व्यक्तियो के मुख से जब तब एक सूक्ति का प्रयोग किया जाता है 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' । सत्यं शिवं सुन्दरम् क्या वस्तु है ? इस सूक्ति के तीनो शब्द लगभग एक जैसे ही मालूम पडते है । जो सत्य होगा वह शिव रूप ही होगा और जो सत्य और शिव रूप है उसकी सुन्दरता में किसको विवाद हो सकता है ! पर बात ऐसी नही है । प्रत्येक सत्य शिव रूप ही हो यह आवश्यक नही है । शिव और सुख एक ही वस्तु है । तब इसका अर्थ यह है कि सत्य सुख रूप ही नही होना चाहिए । प्रश्न हो सकता है कि जो सत्य है वह दु ख रूप कैसे हो सकता है ? समाधान यह है कि जो सत्य प्रमाद मिश्रित है अथवा जो सत्य दूसरे को पीडा पहुँचाने के लिए बोला जाता है वस्तुत वह सत्य सत्य नही झूठ ही है । किसी नेत्रहीन मनुष्य को अन्धा कह कर पुकारा जाय तो उसे सत्य नही कहा जा सकता क्योकि वह वचन नेत्रहीन मनुष्य को ठेस पहुँचाता है । यदि उसे अन्धा न कहकर सूरदास जी शब्द से सम्बोधित किया जाए तो वहीवचन सत्य है क्योकि उसमे वक्ता का कोई प्रमाद या पीडा पहुँचाने वाला अभिप्राय नही है । आम तौर से सत्य का अर्थ यह लिया जाता है जैसा देखा हो, सुना हो किया हो, वैसा ही कहा जाय । पर जैनशास्त्रो मे इस प्रकार की व्याख्या नही है । वहाँ तो 'असदभिधानमनृतम्' यह व्याख्या है—अर्थात् असत् बोलना ही झूठ है । असत् का स्पष्टीकरण पं० दौलतराम जी ने इन शब्दो मे किया है—'परबधकार कठोर निंद्य नहि वचन उच्चरे, दूसरे का वध करने वाले क्रूरता पूर्ण अथवा लोकनिंद्य वचन सत्याणुव्रती को नही कहना चाहिए क्योकि यह असत् भाषण है । इस कथन से स्पष्ट है कि सत्य वह है जो दूसरों के लिए शिव रूप (कल्याणकर) हो ।

'सुन्दरम्' का स्पष्टीकरण इस प्रकार है मनुष्य को वचन और कृति मे तालमेल होना चाहिए । वचन का सौन्दर्य यदि कृति मे भी आ जाय तो कहना हो क्या है ? यदि वचनो से हम किसी को बाधा नही पहुँचाना चाहते तो अपना आचरण भी इसी तरह का बनावे जिससे किसी को बाधा न पहुँचे । लोक मे 'सोने मे सुहागा' का जो अर्थ है वही सत्य के साथ सुन्दरता का अर्थ है । यह सत्य के साथ सुन्दरता तभी हो सकती है जब वचन और आचरण दोनों मे सामंजस्य हो ।

ऊपर हम लिख आये है कि जो सत्य हो वह कल्याणकर होना चाहिए । यहाँ सत्य की कुछ शाब्दिक व्याख्या करेंगे । सत्य शब्द सत् से निर्मित हुआ है । सत् का अर्थ है अस्तित्व । लेकिन किसका अस्तित्व कैसा अस्तित्व यह कुछ स्पष्ट नही है । दार्शनिक क्षेत्र मे इस 'अस्ति नास्ति' शब्द का बडा महत्त्व है । इन्ही शब्दो के सहारे आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शनो का विभाजन हुआ है । जो परलोक और ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास रखता है वह आस्तिक है और इसके विपरीत नास्तिक है । परलोक के विश्वास का अर्थ है आत्मा के अस्तित्व का विश्वास । अत. दार्शनिक क्षेत्र मे आस्तिक का अर्थ है आत्मा के अस्तित्व का विश्वासी । यह आत्मा का विश्वास जैनों के लिए सम्यग्दर्शन का मूल आधार है । सराग सम्यग्दर्शन के लक्षण में प्रशम, संवेग,

अनुकम्पा और आस्तिक्य को आवश्यक बतलाया गया है। अतः सत् शब्द से निर्मित सत्य का वास्तविक अर्थ है आत्मा की प्रतीति जो सम्यग्दर्शन का ही रूप है। यह आत्मा की प्रतीति विवेक के आधार पर होना चाहिए तभी वह कल्याण कर या शिवरूप हो सकती है इसलिए शिवम् का अर्थ सम्यग्ज्ञान है। और जिस विवेक के आधार पर यह आत्मा की प्रतीति की है वह विवेक यदि आचरण में भी आ जाय तो यही उसका सौन्दर्य है अत. 'सुन्दरम्' शब्द से सम्यक्चारित्र का अर्थ ग्रहण करना चाहिये। इस तरह सत्यम्—सम्यग्दर्शन, शिवम्—सम्यग्ज्ञान, सुन्दरम्—सम्यग्चारित्र यह अर्थ समझना चाहिए। मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी सत्यं शिवं सुन्दरम् में है। जिन आत्माओं ने अपना जीवन रत्नत्रयमयो बना लिया है वे ही आत्माएँ सत्य शिवं सुन्दरं की प्रतीक हैं।

लोक में जहाँ 'सत्य' शब्द का अर्थ सत्यवादिता है उसका सम्बन्ध भी सत् असत् के विवेक से है। इस विवेक के बिना सत्य वचन भी मिथ्या वचन ही हैं। शास्त्र चर्चा मे प्रश्न किया है कि मिथ्यादृष्टि भी सत्य भाषण करते हुए देखे जाते हैं तब उनके ज्ञान को मिथ्याज्ञान क्यो कहना चाहिये। इसका उत्तर दिया है कि वहाँ उसे सत् असत् की कोई पहचान नही है। इच्छानुसार उल्टा-सीधा बोलता है ठीक उसी तरह जिस तरह कोई उन्मत्त बोलता है। अतः सत्य शिवं सुन्दरम् का अभिप्राय है विश्वास, विवेक और तदनुसार आचरण।

सच्चिदानन्द

लोक मे 'सच्चिदानन्द' शब्द का भी व्यवहार होता है। बहुत से व्यक्तियो का यह नाम भी होता है। यह शब्द भी तीन शब्दो से बना है सत् + चित + आनन्द। यहाँ भी सत् का संबध आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति से, चित का प्रयोजन आत्मा के स्वरूप-ज्ञान से, आनन्द का अर्थ है आत्म निमग्नता से। इसी की तुलना से आचार्य अमृतचन्द्र की वह आर्या छन्द देखना चाहिए जिसमें लिखा है :—दर्शनमात्मविनिश्चिति, रात्मपरिज्ञानमिष्यते ज्ञान। स्थितिरात्मनिचारित्रम् । आत्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन, आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान, आत्मा मे स्थित सम्यक्चारित्र है। अत यह सच्चिदानन्द शब्द भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का ही नयासीकरण है। सच्चिदानन्द शब्द का प्रयोग उपनिषदों में भी मिलता है। अत. यह विश्वास करने के कारण है कि सम्प्रदायो के विभिन्न रूप कुछ भी रहे हो पर उनकी आत्मा एक ही रही है और उन्हें लोगो ने सुविधानुसार अपने शब्दो मे प्रकट किया है।

जिन, जिनागम और जिनमुद्रा पर आस्था रखने वाला जैन है

जैन-धर्म एक धर्म विशेष अवश्य है पर उसकी विशेषताएँ वैयक्तिक मान्यताओ के आधार पर न होकर उन सार्वजनिक मान्यताओं के आधार पर है जो सबको इष्ट है। सस्कृत व्युत्पत्ति के अनुसार 'जिनो देवता यस्येति जैन' अर्थात् 'जिन' जिसका देवता है वह जैन है। प्रश्न होता है कि जिन कौन है ? इसका उत्तर है "रागद्वेषान् जयतीति जिन" अर्थात् जो रागद्वेष पर विजय प्राप्त करे वही जैन है। इसका सीधा मतलब हैं कि जो वीतरागी है वह जिन है उसे जो माने या उस पर आस्था रखे वह जैन है। साराश यह है कि वीतरागता अपने आप मे एक गुण है। वह गुण किसी व्यक्ति विशेष के लिए नियत नही है प्रत्युत् प्रत्येक व्यक्ति जो पूर्ण वीतरागता गुण का धारक है वह जिन है और उसका भक्त जैन है इसलिए कहना होगा कि जैन-धर्म गुण परक धर्म है व्यक्ति परक धर्म नही है। यो भी हम भगवान् की जब स्तुति करते हैं तो उनके गुणो की ही याचना करते हैं जैसा कि निम्न श्लोक से प्रकट है।

मोक्षमार्गस्यनेतार भेत्तार कर्मभूभृता।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वाना वन्दे तद्गुणलब्धये।।

हितोपदेशी, वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान् को मै उक्त तीनो गुणो की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ।

अन्य धर्मों मे उक्त विशेषता नही है वे सभी धर्म प्राय व्यक्ति विशेष से सबधित हैं। वहाँ भगवान्-भगवान् ही है और भक्त-भक्त ही है, भक्त कभी भगवान् नही बन सकता। पर जैन-धर्म मे भक्त भी भगवान् बन सकता है। अत हमें मानना होगा कि जैनधर्म मे जो उदारता है वह अन्य धर्मों मे नही है फिर भी मान्यता के साथ-साथ जब आचरण की बात आती है तब उसमे दो दृष्टियाँ रहती है—एक अन्तरंग आचरण की दूसरी बहिरग आचरण की। अन्तरग आचरण तो व्यक्ति का अपना आचरण है जिस पर किसी दूसरे का अधिकार नही है लेकिन बहिरग आचरण मे बाह्य दृष्टि की प्रधानता रहती है। उदाहरण के लिए अन्तरंग मे भगवान् जिनेन्द्र का स्मरण कोई भी व्यक्ति, कही भी, कभी भी, किसी रूप मे कर सकता है उसके लिए कोई रोक-टोक नही है किन्तु बाह्य मे यदि वह जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करना चाहता है तो उसे स्नान करना होगा, पवित्र धौत वस्त्र पहरने होगे, चैत्यघर मे जाना होगा, उचित समय का ध्यान रखना होगा। यदि कोई हठधर्मी इन सब बातो की अवहेलना करता है और उसी मार्ग को सही समझता है तो वह जैनत्व को ही कलकित करता है। ऐसा व्यक्ति यदि दावा करे कि जैन होने के नाते हमे सभी प्रकार की स्वच्छदता की छूट मिलनी चाहिए तो इसको कहाँ तक उचित समझा जा सकता है। जैनधर्म को स्वीकार करने वाला जैन अवश्य है पर उसे स्वच्छदता पूर्वक मनमाने आचरण की छूट नही दी जा सकती। जिन प्रणीत आगम को साक्षी बनाकर उसे अपनी मर्यादा के अन्दर ही आचरण करना चाहिए। आगम में लिखा है कि—

'जातिर्गोत्रादि कर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः।
येषा तेस्यु त्रयोर्वर्णा शेषाः शूद्रा प्रकीर्तिता।।

जाति, गोत्र और कर्म जिनके शुक्लध्यान के कारण है वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण हैं शेष शूद्र वर्ण हैं। यदि प्रत्येक जैन को सब प्रकार के आचरण की छूट होती तो शास्त्रकारो को जाति-गोत्र-कर्म को बीच मे लाने की क्या आवश्यकता थी। हमारे सुधारक बन्धुओ की स्थिति भी विचित्र है। एक ओर तो वह कहते हैं कि प्रत्येक जैन को धर्मकार्यों मे सब प्रकार की छूट होनी चाहिए दूसरी ओर जब स्त्री द्वारा प्रक्षाल करने की बात आती है तो कहते हैं नही स्त्री प्रक्षाल नही कर सकती। वहाँ वे यह क्यो भूल जाते है कि पुरुष जैन की तरह स्त्री भी जैन है अत पुरुष की तरह स्त्री को भी अभिषेक की छूट होनी चाहिए। यदि स्त्री के लिए उसकी शारीरिक स्थिति उसे अभिषेक से रोकती है तो जो विधवा विवाह या विजातीय विवाह आदि करते हैं उनकी शारीरिक स्थिति भी उन्हे कुछ धर्मकार्यों से रोकती है उनके लिए कदाग्रह क्यो किया जाना चाहिए।

पण्डित आशाधर जी ने लिखा है कि—

नामतः स्थापनातोऽपि जैन पात्रायतेतराम्।
स लभ्यो द्रव्य तो धन्यै भावतस्तु महात्मभि ॥

अर्थात्—जैन नाम निक्षेप से हो या स्थापना निक्षेप से हो। तो भी वह पात्र है द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप मे हो तो कहना ही क्या है।

आज अधिकाश लोग यह नारे लगाते है कि मनुष्य कर्म से महान् होता है जन्म मे नही। और इस नारेबाजी के आधार पर वे धार्मिक क्षेत्र मे सबके लिए समान अधिकार चाहते हैं। लेकिन वे यह भूल जाते है कि यह नारेबाजी मात्र एक प्रकार की कहावते है जो परिस्थिति के अनुसार प्रयुक्त होती है इनको सिद्धात मानना भूल है। लोक मे अनेक कहावतें है जो परस्पर विरुद्ध हैं। कभी कहा जाता है कि 'ओस की बूँद से प्यास नही मिटती" और कभी कहा जाता है कि 'डूबते को तिनके का सहारा बहुत है' ये दोनो कहावतें परस्पर विरुद्ध है फिर भी जब जैसा समय होता है तब वैसा उसका प्रयोग होता है। कोई व्यक्ति सत्कुल और सपन्न घराने मे पैदा हुआ है और बाद मे दुर्व्यसनी बन जाता है तो उसके लिए सब उपर्युक्त कहावत का ही प्रयोग करेंगे कि आदमी जन्म से बडा नहीं होता कर्म से होता है, इसी तरह कोई दूसरा व्यक्ति जो अच्छे कुल ख्याति प्राप्त खानदान मे पैदा हुआ बाद मे परिस्थितियो वश वह निर्धन हो जाता है तो उस समय कहा जाता है भाई खानदान देखो आज वह छोटा धन्धा करता है तो क्या है, छोटा होकर भी आज वह बडा है। इस तरह हम देखते है कि कही जन्म से बडा माना जाता है तो कही कर्म से बडा माना जाता है तीर्थंकर अपने असयम काल मे भी सयमी मुनि या अरहन्त को नमस्कार नही करते इसमे जन्म कारण समझा जाय या कर्म कारण समझा जाय यह सोचने की बात है। वास्तव मे कुल जाति और उनमे सम्बन्धित आचरण का संबध तो जन्म से ही माना जाता है और विद्या, व्यसन, कला, चातुर्य का सम्बन्ध कर्म से है अत. दोनों ही अपने-अपने स्थान पर उपादेय है और व्यक्ति के सम्मान के कारण है। इनमे जैन जन्म से होता है या कर्म से इसका उत्तर इतना ही है जो व्यक्ति जिन, जिनागम, जिनमुद्रा मे श्रद्धा और आस्था रखता हो वह जैन है। ये तीनो ही बातें जन्म के साथ भी आती है और कर्म से भी मिलती है। इस प्रकार उक्त तीनो पर श्रद्धान रखने वाला जैन जिनागम के आधार से अपनी शारीरिक योग्यता को पहचाने और उसके अनुसार बाह्य आचरण करे।

जैनधर्म को तो चारो ही वर्ण पालन कर सकते है किसी पर कोई प्रतिबन्ध नही। मनुष्य की तो बात अलग पशु भी जैनधर्म धारण कर सकता है। लेकिन इसका अर्थ यह नही कि जिस पंक्ति भोज मे हम बैठे वहाँ पशु को भी साथ बैठा ले क्योकि जैन होने से उसको भी वे ही अधिकार प्राप्त है जो हमे है। लोग उदाहरण दिया करते हैं कि जब समवशरण मे मनुष्य तिर्यंच सभी जाते हैं जैन मन्दिरो मे भी सबको जाना चाहिए ? लेकिन यह तो उसी तरह की दलील हुई कि जब साक्षात् सयमी मुनि और केवली के हम बिना स्नान किये

चरणं स्पर्श कर सकते हैं तो उनकी मूर्ति को भी बिना स्नान किये छू लेने में क्या हर्ज है। अथवा जब समव-सरण में सब प्रकार के पशु विचरते हैं तो यहां मन्दिरों में भी विचरना चाहिये। वे यह नहीं समझते कि साक्षात् समवशरण और उस प्रतिबिम्ब स्वरूप जिन मन्दिर दोनो एक नही हैं। इन दोनों में उतना ही अन्तर है जितना साक्षात् जिनेन्द्र और उनके प्रतिबिम्ब में है। साक्षात् जिनेन्द्र का अभिषेक नही होता लेकिन जिनेन्द्र की मूर्ति का होता है। इसी तरह साक्षात् समवशरण में पशु आदि आ सकते हैं लेकिन जिन मन्दिर में नही।

इस प्रकार शास्त्र के आधार को लेकर ही किसी भी जैन को अपनी शारीरिक योग्यता के अनुसार धर्माराधन करना चाहिए।

●

जैन सिद्धान्त के सम्बन्धमें

एक विशिष्ट तत्त्व प्रणाली का नाम दर्शन है। नित्य, अनित्य, शून्य, स्याद्वाद आदि विभिन्न तत्त्व प्रणालियाँ हैं जो वेदान्त, वैशेषिक, सांख्य आदि नामो से प्रचलित हैं। स्याद्वाद भी एक विशिष्ट तत्त्व प्रणाली है जो जैनदर्शन नाम से प्रसिद्ध है। जैनदर्शन और अन्य दर्शनो मे यह मौलिक अन्तर है कि जहाँ अन्य दर्शन एकान्त तत्त्व प्रणाली पर आधारित हैं वहाँ जैनदर्शन अनेकान्त (स्याद्वाद) प्रणाली पर आधारित है। इसका दूसरा नाम सापेक्षवाद भी है। अन्य दर्शन वस्तु को नित्य अनित्य या शून्य रूप एव धर्मात्मक मानते है तब जैनदर्शन वस्तु को नित्य-अनित्य शून्य आदि अनन्त धर्मात्मक मानता है। वास्तव में वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है। उसमें ये सभी धर्म सापेक्षदृष्टि से होते है। यदि आत्मा द्रव्य दृष्टि से और निश्चय दृष्टि से नित्य और अविनश्वर है तो वह पर्याय दृष्टि से और व्यवहार दृष्टि से अनित्य और नश्वर भी है। ये दोनो धर्म मुख्यत: से आत्मा मे भूतार्थ रूप से विद्यमान है। इसी अनन्त धर्मात्मक दृष्टि का नाम स्याद्वाद है। यही सत्य और भूतार्थ है। यदि इनमे से किसी भी एक धर्म को अभूतार्थ कहकर उसकी अवगणना की जाती है या वस्तु को एकान्त रूप से ऐसी 'ही' है कहा जाता है तो उसमे वस्तु की सिद्धि नही होती। जैनदर्शन में इस 'ही' रूप एकान्त स्थिति को मिथ्यात्व कहा जाता है। जो जीवात्मा का सबसे बडा शत्रु है। जो जीव को अनन्त काल तक महान् दु ख देने वाला है। शाश्वत मोक्ष सुख की प्राप्ति मे अर्गला के समान है।

यह स्पष्ट है कि हाथी को जानने के लिए उसके सारे अवयव मिलकर ही हाथी के पूर्ण ज्ञान कराने मे समर्थ हैं। अलग-अलग एक-एक अवयव हाथी का बोध नही करा सकते। जब कि हाथी के सभी अवयव भूतार्थ हैं इसी तरह जीव (आत्मा) भी एक द्रव्य है। 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इस सूत्र के अनुसार जीव के गुण और पर्याय दोनो ही जीवात्मा का बोध कराते हैं अत. दोनो ही भूतार्थ हैं। यदि इन दोनों में से किसी एक को ही भूतार्थ मानकर चलते हैं तो उससे न तो जीवात्मा का वास्तविक बोध होगा और न उसकी सिद्धि। जीवात्मा के वास्तविक बोध के बिना शाश्वतिक सुख की प्राप्ति भी असभव है।

संसार का हर एक प्राणी शाश्वतिक सुख चाहता है। दु.ख वह कभी नही चाहता है। किन्तु वास्त-विक सुख प्राप्ति के लिए जिस गुण पर्याय रूप आत्मा को भूतार्थ रूप से जानने की आवश्यकता है उसको वह जानने की चेष्टा नही करता है। यदि जानता भी है तो वह उसे एकान्तिक रूप से नित्य अनित्यादि रूप मानता है। स्याद्वाद दृष्टि के अभाव में उसका आत्म स्वरूप का जानना मिथ्या होता है। इसी मिथ्यात्व के कारण वह ससार दशा मे निरन्तर दु खी रहकर छटपटाता रहता है।

जैनदर्शन ने यह स्याद्वाद दृष्टि विश्व को देकर अनन्त उपकार किया है। यह स्याद्वाद की सम्यक-दृष्टि देकर उसने ससार के लिए वास्तविक सुख का मार्ग खोल दिया है।

निश्चय और व्यवहार ये स्याद्वाद के दो मुख्य सत्यार्थ पहलू हैं। सापेक्ष रूप से दोनो उपादेय तत्त्व हैं।

●

आगम चक्षु साधु

शास्त्रो में सर्वत्र चतुर्विध संघ की चर्चा मिलती है। मुनियो का विशाल संघ हुआ करता था और जब वह एक नगर से दूसरे नगर की तरफ विहार करता था तो यह चतुर्विध सघ के रूप में विहार करता था। यह चतुर्विध सघ मुनि आर्यिका और श्रावक श्राविका के रूप मे होता था। यद्यपि मुनियो मे भी अपना चार प्रकार का संघ अलग था। जिसमे ऋषि, यति, मुनि और अनगार चार प्रकार के साधु सम्मिलित थे। परन्तु जहाँ चतुर्विध सघ के विहार का उल्लेख मिलता है वहाँ उस सघ से मतलब मुनि आर्यिका और श्रावक श्राविका से ही है। मुनि निस्पृह और निरीह होते है। किसी से कुछ याचना नही करते, अपने आहार के लिये केवल माधुकरी वृत्ति का आश्रय लेते हैं। मधुकर का अर्थ भौरा है। भौरा फूलो पर बैठता है और उनसे रस लेता है। लेकिन फूलों के विकास और सौन्दर्य को हानि नही पहुँचाता। इसी प्रकार मुनि गृहस्थो के यहाँ आहार लेते हैं लेकिन गृहस्थो के लिये बोझिल बनकर नही बल्कि गृहस्थ जो कुछ अपने लिये बनाता है उसी मे से अपने योग्य थोडा सा ग्रहण कर लेता है। अत मधुकर के समान जो वृत्ति (चर्या) होती है वह माधुकरी वृत्ति कहलाती है। यह माधुकरी वृत्ति भी व्रतपरिसख्यान के साथ होती है। अर्थात् मुनि जब चर्या को निकलते हैं तब कुछ अभिग्रह के साथ निकलते हैं। अभिग्रह का अर्थ है कि कुछ अटपटी प्रतिज्ञाएँ लेकर चर्या (आहार) के लिये निकलना। ये प्रतिज्ञाएँ कभी तो मात्र ४-६ घर घूमने की होती है। कभी मात्र अमुक गल्ली या मोहल्ले में चर्या करने की होती है। कभी पति-पत्नी के जोडे से आहार लेने की होती है, कभी दातार के हाथ में श्रीफल या अन्य कोई वस्तु हो तभी प्रतिग्रहीत होने की होती है।

इससे अन्य प्रतिज्ञाएँ भी होती है जिसे स्वय मुनि ही जान सकते हैं दूसरा कोई नही।

इस व्रतपरिसंख्यान की आवश्यकता इसलिये होती है कि साधु भोजन करने मे गृद्ध और लोलुपी न हो, तृष्णाएँ कम हो। क्योकि आहार को अधिक से अधिक अनुकूलताएँ रखना साधु चित तपश्चरण मे कायरता को प्रोत्साहन देना है। सदा आहार की अनुकूलता रखने वाला साधु प्रमादी हो जाता है। वह इन्द्रिय-निग्रह नही कर सकता। गृद्धतावश आहार मे आने वाले अन्तरायो की उपेक्षा कर जाता है इस तरह साधु अपनी मर्यादा से च्युत होकर भ्रष्ट हो जाता है।

इस शास्त्रीय मार्ग को आडम्बर बताकर आज के जमाने में आहार की अधिक से अधिक अनुकूलता सम्पादन करना किसी भी साधु के लिए उचित नही कहा जा सकता और न किसी गृहस्थ को इसका समर्थन करना उचित है। चार-छ घरों मे आहार बने तो वह आडम्बर है और दो घरो मे आहार बने तो वह आडम्बर नही है ऐसा कोई भेद नही किया जा सकता। जहाँ तक अपव्यय का प्रश्न है वह भी अनुचित ही है। प्रत्येक गृहस्थ अपनी सामर्थ्य और श्रद्धा को आगे रखकर ही आहार बनाता है और यदि भक्तिवश कुछ मेवा और फल भी वह देय आहार मे सम्मिलित कर लेता है तो यह न अपव्यय है और न आडम्बर है। भगवान् की पूजा प्रत्येक गृहस्थ करता है अपनी शक्ति सामर्थ्य के अनुसार कोई साधारण द्रव्य ही चढाता है। कोई

विविध प्रकार के नैवेद्य और फल चढाते हैं कोई सोने-चाँदी के फूलों को चढ़ाते हैं। यह सब आडम्बर या अपव्यय है ऐसा कुछ नही कहा जाता है। गृहस्थो में कोई सूत की माला पर जप करता है। कोई काँच की गुरियों पर जपता है, कोई स्फटिक की माला बनाता है, कोई चाँदी की माला रखता है, कोई सच्चे मोतियों की माला बनाता है। क्या यह सब आडम्बर है ? क्या कोई ऐसा नियम बनाया जा सकता है कि केवल दो ही गृहस्थ प्रतिदिन पूजा करें जिससे अपव्यय न हो या आडम्बर न हो।

गृहस्थो के लिये देव पूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, सयम, तप और दान इस प्रकार दैनिक षट्कर्मों का उपदेश है। इसमे जहाँ देव पूजा करने का गृहस्थ को दैनिक विधान है वहाँ दान करने का भी दैनिक विधान है। वह दैनिक विधान दान के सम्बन्ध मे किन्ही दो आदमियो के लिये ही सीमित कर देना उचित नही है यदि प्रतिदिन दान के लिये कोई दो आदमी सीमित किये जा सकते है तो प्रतिदिन पूजा के लिये भी दो आदमी सीमित कर देना चाहिये। क्योकि अपव्यय की या आडम्बर की सम्भावना तो दोनो ही जगह की जा सकती है।

साधु के लिये जो दो गृहस्थ आहारार्थ चुने जाते है अपव्यय तो वे भी करते हैं। क्योकि निश्चित रूप से वे उस दिन विशिष्ट आहार ही बनाते हैं। तब अच्छा हो किसी एक ही घर को आहार बनाने के लिए कहा जाय जिससे और भी अधिक कम आडम्बर दिखाई दे। इससे तो गृहस्थ अधिक आडम्बर हीन है जो किसी एक घर मे भी भोजन करने नही जाता है किन्तु अपना बनाया ही खाता है तब क्या मुनि को भी यह कहा जा सकता है कि वे अपने ही हाथ से बनायें खाये ?

दो गृहस्थो के घर आहार बनवाना और उनमे से किसी एक के घर भोजन करना क्या अनुद्दिष्ट आहार की भावनाओ को पुष्ट करता है। वास्तव मे इस प्रकार की सब प्रवृत्तियो का हेतु लोकैषणा ही हो सकती है जिसका साधु को परित्याग ही करना चाहिये। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है —

अदु:ख भाविन ज्ञान क्षीयते दु:खसन्निधौ।
तस्माद् यथाबल दु:खैरात्मान भावयेन्मुनि:॥

अर्थात् आराम के साथ जो ज्ञान (आत्मा) की आराधना की जाती है वह ज्ञान कष्ट आने पर छूट जाता है। इसलिये मुनि को शक्ति के अनुसार कष्ट सहकर आत्मा की भावना करना चाहिए।

दो घरो मे जाकर सरलता से आहार कर आना क्या दु:ख भावित ज्ञान की आराधना कही जा सकती है। किसी भी मार्ग को बिगाडना आसान है और शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार सनातन मार्ग पर आरूढ रहना कुछ कठिन है। किन्तु साधु के सम्बन्ध मे आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि 'आगमचक्खू साहू' अर्थात् साधु की आँखें आगम (शास्त्र) होता है। इसलिए उसे ख्याति लाभ की चिन्ता न कर शास्त्रानुमोदित मार्ग पर ही चलना चाहिए फिर भले ही कोई उसे चाहे न चाहे। शास्त्रो मे ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही है कि साधु को आडम्बर-हीन बनने के लिए अधिक घरो मे नही घूमना चाहिए। या केवल दो ही गृहस्थ साधु को आहार बनाया करे। प्रत्येक घर साधु के लिए आहार बना सकता है। उसे इतना ध्यान रखना चाहिये कि वह आहार साधु के सयम तप को बढाने वाला हो, न कि दूषित करने वाला। अधिक घरो में आहार बनना न कोई आडम्बर है और न अपव्यय। साधु को चाहिए कि आत्मा की दु:ख भावित आराधना करे जिससे वह अपने सयम की कठोरता का पालन कर सके।

●

णमो लोए सव्वसाहूणं

जैनों में नमस्कार मन्त्र की बडी महिमा है तथा इसे अनादिनिधन मन्त्र स्वीकार किया है । यहाँ तक कि समस्त अनादिनिधन श्रुत के अक्षर भी इसमे समाविष्ट है । पूजन के प्रारम्भ से इस मन्त्र की स्तुति का भी निर्देश है । "पवित्र या अपवित्र अवस्था मे भी जो इस मन्त्र का ध्यान करता है वह सब पापो से छुटकारा प्राप्त करता है अच्छे या बुरे स्थान मे हो अथवा किसी भी अवस्था मे हो इस मन्त्र का स्मरण करने वाला भीतर-बाहर सदा पवित्र है । यह मन्त्र कभी किसी अन्य मन्त्र से पराजित नहा होता, सम्पूण विघ्नों का नाशक है और सभी मगलो में प्रथम मगल है ।" इस प्रकार मन्त्र के माहात्म्य को देखकर प्रत्येक श्रावक साधु इस मत्र का स्मरण करता है । शास्त्रों ने तो यहाँ तक लिखा है कि चलते-फिरते उठते-बैठते आते-जाते सदा इस मन्त्र का स्मरण करना चाहिए । जैनो मे जितने भी सम्प्रदाय हैं वे सभी इस मन्त्र का समादर करते है । धर्मध्यान के भेदो में पदस्थ नाम का भी एक धर्मध्यान है । इस ध्यान में णमोकार मन्त्र के पदो को लेकर ध्यान किया जाता है । आचार्य नेमिचन्द्र लिखते है—"पणतीससोलछप्पण चउदुगमेग च जवह ज्झाएह । परमेट्ठिवाचयाणं अण्ण पि गुरूवएसेण ॥" अर्थात् परमेष्ठी के वाचक पैतीस सोलह छ पाँच चार दो एक अक्षर रूप मन्त्र पदो का ध्यान करना चाहिए ।

ऐसे महामन्त्र को लेकर आज अनेक लोग उसके शुद्ध-अशुद्ध होने की चर्चा करते हैं । यद्यपि लिखावट या छापे की अशुद्धि से अशुद्धि का आ जाना कोई बडी बात नही है । वे अशुद्धियाँ किसी प्रकार शुद्ध की जा सकती है । लेकिन मूलत ही मन्त्र को अशुद्ध मान कर उसको शुद्ध करने का प्रयत्न करना वैसा ही है जैसे कोई टिटहरी चित्त लेटकर अपने चारो पैरो से आकाश को गिरने से रोकने का प्रयत्न करे । सुना है जैनो के एक सम्प्रदाय मे इस पर बडी चर्चा चली कि इस मन्त्र का अन्तिम पद अशुद्ध है । अन्तिम पद है—"णमो लोए सव्व साहूण" का अर्थ है लोक मे सब साधुओ को नमस्कार हो । इस पर किन्ही लोगो का कहना है कि यहाँ साधु के लिए "सव्व" विशेषण उचित नही है क्योकि "णमो लोए सव्व साहूण" का अर्थ होता है लोक मे सब साधुओ को नमस्कार हो । इसका अभिप्राय यह हुआ कि लोक मे जितने भी साधु है । चाहे वे दिगम्बर, श्वेताम्बर हो, रक्ताम्बर हो, पीताम्बर हो, जटाधारी हो, मुडित हो, कापालिक हो या किसी भी वेष के धारण करने वाले हो उन सबको नमस्कार है । जबकि आचार्य समन्तभद्र के अनुसार "श्रद्धान परमार्थानामाप्तागम तपोभृताम् । त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥" अर्थात् जो सच्चे देवशास्त्रगुरु है उनका तीन मूढता रहित आठ मद रहित तथा अष्टाग सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । लेकिन जब सब साधुओ को नमस्कार किया जाता है इससे झूठे देव शास्त्र गुरु का निरसन नही होता । अत: यह "सव्व" पद नही होना चाहिए । इस पर कुछ लोगो का कहना है कि साधु कहा ही उसे जाता है जो २८ मूलगुणो को धारण करता है । अत "णमो लोए सव्व साहूण" का अर्थ होता है, "लोक में सम्पूर्ण २८ मूलगुणधारियो (साधुओ) को नमस्कार है ।

इसके उत्तर मे पूर्व पक्ष का कहना है कि यदि "सव्व साहूणं" से मतलब उक्त जैन साधुओं से है तो

फिर सभी जगह अर्थात् पाँचों परमेष्ठियों मे भी सव्व विशेषण प्रयोग होना चाहिए। फिर तो णमोकार मन्त्र का रूप इस प्रकार होगा "णमो सव्व अरिहंताणं, णमो सव्व सिद्धाणं णमो सव्व आयरियाणं" इत्यादि।

• उत्तर पक्ष इसका उत्तर इस प्रकार देता है कि "सव्व" विशेषण को पाँचों परमेष्ठियों में लगाने की आवश्यकता नही है। "सव्व साहूणं" के साथ जो सव्व विशेषण है उसी को सब जगह पाँचों परमेष्ठियों के साथ लगा लेना चाहिए। पर यह उत्तर भी समुचित नही बैठता। "सव्व" शब्द यदि अरिहन्त शब्द के साथ प्रयुक्त होता तो बाद में सब परमेष्ठियो के साथ लग सकता था। परन्तु जब वह स्पष्ट अन्तिम साधुपद का विशेषण है तो उसे पिछले सभी पदो का विशेषण माना जाय यह कुछ युक्तियुक्त नही लगता।

अत: वास्तविक स्थिति क्या है उसका हम यहाँ खुलासा करते हैं :—

परमेष्ठी पाँच है अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु। इनमे अरिहन्त परमेष्ठी के अन्तर्गत कोई किसी प्रकार का भेद नही है। जब भेद नही है तब वहाँ "सव्व" विशेषण की कोई सार्थकता नही है। अरिहन्तो के ४६ मूलगुण होते हैं वे ४६ मूलगुण सबमे एक ही प्रकार के होते हैं कम अधिक नही होते। जो जिस मूलगुण का रूप है वही सभी अरहतो के सभी मूलगुणो का रूप है अतः अरिहत व्यक्ति रूप में अनेक है किन्तु गुणो के रूप मे सब एक ही है। अत अरहतों को नमस्कार हो इसमे सभी अरहंत व्यक्ति अन्तर्भूत हो जाते हैं अत वहाँ "सव्व" शब्द की आवश्यकता नही है।

इसी प्रकार सिद्ध व्यक्ति रूप से अनन्त है गुणो के रूप में वे सब एक ही हैं क्योंकि आठ गुण जो एक सिद्ध मे हैं वे ही आठो गुण उसी प्रकार से अनन्तानन्त सिद्धो मे हैं अत. सिद्धो को नमस्कार हो यह कहने से अनन्तानन्त सिद्धो को नमस्कार हो जाता है अत यहाँ भी सिद्धो के साथ "सव्व" विशेषण की आवश्यकता नही है।

तीसरी परमेष्ठी आचार्य परमेष्ठी है—आचार्य परमेष्ठी के ३६ मूल गुण होते है। शिष्यो को दीक्षा निग्रह अनुग्रह इनका मुख्यतया काम है। इनके ३६ मूलगुणो के पालन में किसी प्रकार का कोई अपवाद नही है वे यथावत् पालने ही होते हैं। अत: आचार्यो के अन्तर्गत कोई भेद नही है। समयानुसार वे आचार्य पद छोड भी सकते है। लेकिन उन्हे अपने मूल गुण पालन मे कोई छूट नही दी जा सकती। इसलिए आचार्यों को नमस्कार करने मे "सव्व' पद की कोई आवश्यकता नही है। आचार्यों को नमस्कार हो, यह कहने में सभी आचार्यों का ग्रहण अपने आप ही हो जाता है।

चौथी परमेष्ठी उपाध्याय हैं—उपाध्याय शब्द का अर्थ है उपेत्य अधीयन्ते यस्तात् सः अर्थात् जिनके निकट बैठ पढा जाय वे उपाध्याय है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपाध्याय में परमेष्ठियो में कोई अन्तर नही है सब एक ही है। उपाध्याय के २५ मूलगुण भी माने है। वे २५ मूलगुण ११ अग और १४ पूर्व हैं। इन दोनो का जोड २५ होता है। यह २५ प्रकार का श्रुत द्वादशाक (१२ अक) मे गर्भित है। यह द्वादशाक श्रुत दो प्रकार का है एक द्रव्य श्रुत दूसरा भावश्रुत।

सम्पूर्ण द्रव्य श्रुत का या उस द्रव्य श्रुत के भाव का जिसको ज्ञान है वह उपाध्याय परमेष्ठी है। उमास्वामी आचार्य की प्रशसा मे उन्हे "श्रुत केवलिदेशीय" कहा गया है इसका अभिप्राय यही है कि उन्हें पूर्णद्रव्य श्रुत का ज्ञान नही था फिर भी उन्हे भावश्रुत का अत्यधिक ज्ञान था। इसलिए श्रुत केवली कल्प थे। इस प्रकार द्वादशाक का सारभूत विशिष्ट ज्ञान जिनको होता है वे अन्य मुनियो को शिक्षा देने वाले उपाध्याय परमेष्ठी हैं। उपाध्याय परमेष्ठी मे भी कोई अवान्तर भेद नही है। इसलिए "णमो उवज्झायाणं" में भी 'सव्व' विशेषण की आवश्यकता नही है।

अब पाँचवाँ नम्बर आता है साधु परमेष्ठी का। साधु के २८ मूलगुण होते हैं। इसके साथ ही इन्हें उत्तरगुण भी पालन करने होते हैं। लेकिन इनके पालन करने में सभी साधु एक जैसे नहीं होते। किसी के मूलगुण पलते हैं तो उत्तरगुण नही पलते और मूलगुण में भी दोष लगता है अतः इन साधुओं में परस्पर भिन्नता है। यहाँ पूछा जा सकता है कि जब उनके मूलगुण नही पलते तब उन्हें साधु ही नहीं कहना चाहिए। लेकिन शास्त्रकारों ने उन्हें साधु माना है। अतः इन भावलिंगी साधुओ के शास्त्रकारो ने पाँच भेद किए हैं जिनके पाँच नाम इस प्रकार हैं—१–पुलाक, २–बकुश, ३–कुशील, ४–निर्ग्रन्थ, ५–स्नातक।

१. इनमे पुलाक मुनि वे है जो उत्तरगुणो की भावना नही रखते और व्रतो में भी कभी-कभी दोष लगाते हैं वे पुलाक हैं।

२. वकुश व्रतो का अखण्ड पालन करने पर भी शरीर, उपकरण आदि की विभूषण मे अनुरक्त हैं।

३. कुशील दो प्रकार के हैं। प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील। प्रतिसेवना—कुशील जो मूलगुणो उत्तर गुणों का पालन करते है शरीर उपकरण आदि की मूर्छा से रहित नही है वे प्रतिसेवना कुशील हैं। कषाय कुशील—जिन्होने अन्य कषायो को वश मे कर लिया है किन्तु सज्वलन कषाय के अधीन हैं वे कषाय कुशील हैं।

४. निर्ग्रन्थ—क्षीण मोही १२वें गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ है यहाँ ग्रन्थ का अर्थ अन्तरंग परिग्रह कषाय से है।

५ स्नातक—परिपूर्ण ज्ञानी (केवलज्ञानी) स्नातक हैं। इस तरह साधु परमेष्ठी के ये पाँच भेद जिनके पृथक् पृथक् नाम है जो गुण आदि की मात्रा से एक दूसरे से पृथक् हैं उन सबका ग्रहण करने के लिए साधु परमेष्ठी के साथ "सव्व" वि ेषण दिया है। अर्थात् "णमो लोए सव्वसाहूण" इस पद मे "सर्व साधुओ को नमस्कार हो" इसका अर्थ यह है कि लोक मे उक्त पाँच प्रकार के साधुओ को नमस्कार हो, अन्य परमेष्ठियो मे इस प्रकार गुण भेद को लेकर कोई भेद नही है अत उनके साथ "सव्व" विशेषण नही दिया है।

द्रव्यलिंग और भावलिंग

द्रव्यलिंग शब्द का अर्थ बाह्य वेष से है मिथ्यात्व और सम्यक्त्व से नही है। द्रव्यलिंगी साधु मिथ्यादृष्टि भी हो सकता है और सम्यग्दृष्टि भी होता है। यदि मात्र मिथ्यादृष्टि ही होता तो द्रव्यलिङ्ग का पर्यायवाची शब्द मिथ्यादृष्टि हो सकता था। हम द्रव्यलिंग का पर्यायवाची मिथ्यादर्शन को समझे तब जो साधु द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनो से संयुक्त है उसे हमे मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन दोनों से संयुक्त मानना चाहिए।

शंका—भावलिंग से निरपेक्ष द्रव्यलिंग मिथ्यादृष्टि के ही होता है ?

समाधान—नही, जिस मुनि के छठे गुणस्थान जैसे भाव नही है वह पंचम गुणस्थान या चतुर्थ गुणस्थान जैसे भाव भी रख सकता है लेकिन द्रव्यलिंग उसका मुनि जैसा ही है। अत द्रव्यलिंगी होकर भी वह सम्यक्दृष्टि है।

शंका—यदि ऐसा है तो शास्त्रो मे ऐसा क्यो लिखा है कि द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि भी मर कर ग्रैवेयकों में उत्पन्न हो सकता है।

समाधान—जहाँ द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि या केवल द्रव्यलिंगी की चर्चा आती है कि वह आत्म ज्ञान से शून्य होता है वहाँ अभव्य द्रव्य लिंगी से अभिप्राय है। क्योकि अभव्य को कभी सम्यग्दर्शन नही होता। अत उसका मिथ्यादृष्टिपन निश्चित है।

पडित दौलतराम जी ने छ ढाला मे जो लिखा है 'मुनिव्रतधार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो ' ' वह अभव्य को लक्ष्य मे रखकर ही लिखा ह। जो भव्य है वह अनन्तवार मुनिव्रत नही धारण करता। अधिक से अधिक वह ३२ बार ही मुनिव्रत धारण करेगा। ३२वी बार तो वह अवश्य ही मुक्ति प्राप्त करेगा, ऐसा शास्त्रो का उल्लेख है।

समयसार मे तो आचार्य कुन्दकुन्द ने जिस मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की चर्चा की है उसे द्रव्यलिंगी न लिख कर अभव्य शब्द से ही उच्चरित किया है। यथा—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतव जिणवरेहि पण्णत्त।
कुव्वतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित (मनमाने ढंग से सदोष नही) पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति इस तरह १३ प्रकार के चारित्र का पालन करता हुआ भी अभव्य अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है।

इसके आगे पुन लिखा है कि अभव्य ११ अगो का पाठी होने पर भी ज्ञानी नही है :—

मोक्खं असद्दहतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुण असद्दहं तस्स णाण तु ॥२७४॥

मोक्ष तत्त्व का श्रद्धान न करने वाला अभव्य जीव यदि ११ अंग का पाठ भी करे तो उससे लाभ नही है।

इस कथन में भी अभव्य शब्द का ही प्रयोग किया है। द्रव्यलिंग शब्द का प्रयोग नही किया है। वास्तव में जिसका द्रव्यलिंग सुरक्षित (आगमानुमोदित) है वह साधु के उचित भावो से किंचित् हीन भी हो तब भी उसे द्रव्यलिंगी नही कहा जा सकता। कारण स्पष्ट है, परिणामों का उतार-चढ़ाव इतना सूक्ष्म है कि उसे छद्मस्थ व्यक्ति ग्रहण नही कर सकता। जो मुनि वेष और तदनुकूल आचरण का निर्दोष पालन कर रहा है वह कदाचित् अन्तरंग के भावो से हीन होने पर भी स्थूल ऋजुसूत्र नय को दृष्टि से भावलिंगी ही कहा जायेगा। इस सम्बन्ध मे यहाँ हम एक उदाहरण देते है। पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक इन सभी साधुओं को आगम में भावलिंगी बताया है। साथ ही जहाँ सयम श्रुत प्रतिसेवना आदि से इनका विभाजन किया है वहाँ पुलाक के छहो लेश्याएँ बतलाई है। प्रश्न यह है कि छहो लेश्याओ का सद्भाव चतुर्थ गुणस्थान तक ही बतलाया है उसके बाद नही। यदि पुलाक के कृष्ण लेश्या भी होती है तो वह चतुर्थ गुणस्थान मे आ गया फिर भावलिंगी कहाँ रहा? और यदि वह भावलिंगी है तो उसके कृष्ण लेश्या नही होना चाहिए। इसका समन्वय यही है कि करणानुयोग की अपेक्षा पुलाक मुनि का लेखा-जोखा करें तो उसके कृष्ण लेश्या सम्भव है और चरणानुयोग की अपेक्षा तो वह महाव्रती मुनि है क्योकि मुनि का वह आचरण पालन कर रहा है फिर भले ही वह त्रुटि पूर्ण ही क्यो न हो।

उत्तरपुराण में एक कथा आई है। कोई मुनि कही ध्यान मे बैठे हुए थे। उनके बारे मे समवशरण मे भगवान् से पूछा गया तो उन्होने कहा कि इस समय उन मुनि के ऐसे निकृष्ट परिणाम हैं कि यदि आयु का बन्ध हो जाय तो सातवे नरक चले जाँय। दूसरे क्षण मे उनके सातवे नरक के भावो की तीव्रता कम हुई तो केवली ने वैसा बतलाया। धीरे-धीरे उनके भावो की विशुद्धि बढती गई तो वैसा ही सर्वज्ञ के द्वारा उनका उत्कृष्ट फल होने को सम्भावना प्रकट की गई। इस कथा से यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्तर्मुहूर्त मे भावो का उतार-चढाव कही से कहीं जाता है और उतार-चढाव के साथ ही साथ साधु के गुणस्थान भी बदलते रहते है। तब कौन कब द्रव्यलिंगी हुआ और कौन कब भावलिंगी हुआ? इसका निर्धारण नही किया जा सकता।

कोई मुनि जब ११वें गुणस्थान से गिरता है तो क्रमशः वह गिरते-गिरते पहले गुणस्थान मे भी आ सकता है। ध्यान मे बैठे ही बैठे उसका यह पतन हो रहा है ऐसी स्थिति मे हमे वहाँ यह आशका करने का अधिकार नही है कि कही इस समय वह मिथ्यादृष्टि न हो? या द्रव्यलिंगी न हो? इसे नमस्कार करे या नही। वहाँ तो उसे भावलिंगी समझकर नमस्कार करना ही होगा। वहाँ हमारी दृष्टि चरणानुयोग का ही आश्रय लेगी।

वास्तव में जिस भावलिंग का हम अभिनन्दन करते हैं वह भावलिंग भी द्रव्यलिंग पर ही निर्भर करता है। यदि भावलिंग के बिना द्रव्यलिंग व्यर्थ है तो द्रव्यलिंग के बिना भावलिंग का तो अस्तित्व ही नहीं है व्यर्थता तो बहुत दूर की बात है। व्यर्थ तो वह है जिसका अस्तित्व तो हो पर अपेक्षित लाभ न हो। यहाँ द्रव्यलिंग का अस्तित्व तो है पर भावलिंग का तो अस्तित्व भी नही है।

उक्त चर्चा का निष्कर्ष यह है कि अभव्य जीव यदि मुनि बनता है तो वही द्रव्यलिंगी मुनि है। दि० जैन शास्त्रों मे जिन जैनाभासो की चर्चा की है वे द्रव्यलिंगी नही हैं। क्योकि उनकी बाह्य वेषभूषाएँ द्रव्यलिंग के अनुकूल नही है। जैनेतर सम्प्रदाय के कुटिचक, बहूदक, हस, परम हस साधु भी द्रव्यलिंगी नही है क्योकि वहाँ जैनत्व का आभास नही है। सच्चे देवशास्त्रगुरु का श्रद्धालु यथावत् निर्ग्रन्थ दीक्षा लेने वाला जो अपने मूलगुणो मे भी दोष लगाता है वह भी द्रव्यलिंगी नही है। क्योकि उस प्रकार के पुलाकादि मुनि

सभी शास्त्रों में भावलिंगी बताये हैं, इसी प्रकार अधःकर्म करने वाले, मंत्र तंत्रादि से आजीविका करने वाले तथा दूसरे प्रकार के भ्रष्ट मुनि भी द्रव्यलिंगी नहीं प्रत्युत द्रव्यलिंग से भी अत्यधिक गिरे हुए हैं। नव ग्रैवेयक तक पहुँचने वाले द्रव्यलिंगी साधुओं का बाह्य आचरण भी बडा सधा हुआ होता है, वे उपसर्ग भी सहन करते हैं विचलित नहीं होते, कायक्लेश भी असाधारण करते हैं तभी तो उनका नवग्रैवेयक मे पहुँचना सम्भव है अन्यथा भ्रष्ट मुनि तो नरक निगोदादि के पात्र ही होते हैं। समयसार की गाथा २७३ जिसे हम ऊपर लिख आये हैं, उसकी टीका में अमृतचन्द्र आचार्य ने लिखा है—

"परिपूर्ण शील तप. त्रिगुप्तिपंचसमिति परिकलितमहिंसादि पचमहाव्रत रूप व्यवहारचारित्र-भव्योऽपि कुर्यात् ..." यहाँ पर रेखाकित शब्द 'परिपूर्ण' इस बात का द्योतक है कि द्रव्यलिंग अभव्य मिथ्या-दृष्टि का द्रव्यलिंग भी बडा निर्दोष होता है उसमे पोल नही होती। अत जो लोग द्रव्यलिंग का सम्बन्ध आचरणहीनता, सदोष आचरण या मिथ्यादर्शन से जोडते है वह उचित नही है भव्य जीव तो मुनि बनकर परिणामो का उतार-चढ़ाव करता है उसकी द्रव्य या भावलिंगता का निश्चय न होने से वह भावलिंगी ही साधु है। चूँकि अभव्य कभी सम्यग्दर्शन धारण नही कर सकता अत उसके परिणामो का गुणस्थानानुसार कोई उतार-चढ़ाव नही है। यदि है तो केवल मिथ्यात्वगुणस्थान के अन्दर ही है। बस उसी का मुनि बनना द्रव्यलिंग है।

जैनदर्शन में वस्तु विवेचन का प्रमुख आधार नय

सत्य और तथ्य की व्याख्या

जैनदर्शन मे नयो का बहुत बडा चक्र है और उन्ही के आधार पर जैन ग्रथो मे सर्वत्र वस्तु विवेचन किया है। जैनाभिमत सात तत्त्वो को समझने के लिए 'द्रव्य सग्रह' एक छोटा सा ग्रन्थ है इसमे ५८ गाथाएँ है लगभग सभी गाथाओ मे निश्चय नय और व्यवहार नय से तत्त्वो की व्याख्या है। आचार्य अकलक ने तत्त्वार्थ-राजवार्तिक भाष्य मे सर्वत्र सप्तभगी प्रक्रिया को अपनाया है। यह सप्तभगी प्रक्रिया विधि प्रतिषेध को लेकर सात नय दृष्टियाँ है। वस्तु मे अनेक धर्म है वक्ताओ को जिस धर्म की विवक्षा होती है उसको प्रधान बना लेता है शेष को गौण। लोक मे यही देखा जाता है। लेकिन प्रधान विवक्षा वाला धर्म ही सच्चा है दूसरा झूठा यह बात नही है। इस तरह तो वस्तु की व्यवस्था ही नही बन सकती। एक मनुष्य मे पितृत्व और पुत्रत्व दोनो ही धर्म है। जब पितृत्व धर्म की विवक्षा होती है तो पुत्रत्व धर्म गौण हो जाता है और जब पुत्रत्व की विवक्षा होती है तो पितृत्व गौण हो जाता है, पर दोनो ही धर्म सत्य है किसी एक को सत्य तथा दूसरे को मिथ्या नही कहा जा सकता। यही बात वस्तुगत सभी धर्मों के लिए है।

जैनागम वस्तुवर्णन की दृष्टि से चार भागो मे विभक्त है जिन्हे क्रमश. प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग कहा जाता है। पहले मे इतिहास है, दूसरे मे आत्मा की दशाएँ है, तीसरे मे क्रियात्मक मोक्ष के लिए आचरण है, चौथे मे शुद्ध अशुद्ध द्रव्यो का कथन है।[1] चौथा द्रव्यानुयोग आगम यदि अध्यात्म प्रधान है तो उसमे शुद्ध आत्मा का वर्णन ही मिलेगा उसकी अशुद्धता का कथन गौण रूप से चर्चित रहेगा। समयसार इसी प्रकार का अध्यात्म प्रधान द्रव्यानुयोग का ग्रन्थ है जिसमे शुद्ध आत्मा के स्वरूप की व्याख्या है और आत्मा की अशुद्ध दशा को औपचारिक या अभूतार्थ कहा है। यह औपचारिकता या अभूतार्थता एक दृष्टि है जिसे व्यवहार नय के नाम से आचार्य ने उल्लेखित किया है और शुद्ध आत्म दृष्टि या निश्चय नय के नाम से लिखा है।

ऊपर जिन चार अनुयोगो का उल्लेख किया गया है वे सभी जिनेन्द्रप्रतिपादित है। ऋषभनाथ से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीसो तीर्थङ्करो ने उनका उपदेश दिया है अत. वे सभी समान रूप से प्रमाणित है। फिर भी करणानुयोग द्वारा प्रतिपादित आत्मा की विभिन्न दशाओ का निराकरण[2] आत्मा की शुद्धता को समयसार द्वारा प्रतिपादित करना किसी नय दृष्टि का ही परिणाम हो सकता है। सर्वथा या एकान्त कथन नही हो सकता। आचार्य कुन्दकुन्द जैसे युग प्रतिष्ठापक महापुरुष जिनका पुण्य स्मरण जैन परम्परा में महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम के बाद ही किया जाता है गौतम द्वारा ग्रथित एक अनुयोग

---

१. देखो गाथा ३, ६, ६, ७, ८, ९ इत्यादि।

२. देखो गाथाएँ ३९ से ५५।

(करणानुयोग) को मिथ्या कहें और द्रव्यानुयोग को ही सत्य बतावें यह कैसे सम्भव हो सकता है। अतः समयसार का अध्ययन करते समय कुन्दकुन्द की विवक्षा को समझना चाहिए। वस्तुतः कुन्दकुन्द आत्मा की अशुद्धता का निषेध नही करते और न शुद्धता का प्रतिपादन ही करते हैं वे तो उस अनिर्वचनीय तत्त्व की ओर सकेत करते है जो अशुद्धता और शुद्धता दोनो से परे है जो केवल स्वसवेद्य या स्वानुभवगम्य है। आत्मा को अशुद्ध या शुद्ध कहना ये नय सापेक्ष कथन है। इनमें आत्मा की वास्तविकता नही प्रतीत होती और जब वास्तविकता प्रतीत होती है तब नय दृष्टि सर्वथा सामने नही रहती।[1] आत्मा को शुद्ध तब कहा जा सकता है जब उसकी अशुद्धता को भी वास्तविक माना जाय। अन्धकार नही तो प्रकाश का उल्लेख भी कैसे किया जा सकता है। अत कुन्दकुन्द ने उस अनिर्वचनीय तत्त्व को समझाने के लिए सकेत रूप में दो नयो का आधार लिया है। वे दो नय व्यवहार नय और निश्चय नय हैं। इनमे व्यवहार नय को गौण कर निश्चय नय को प्रधान रक्खा है। अतः जब वे निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मतत्त्व का वर्णन करते हैं तो प्रतीत होता है कि व्यवहार नय को उन्होने सर्वथा छोड दिया है लेकिन बात ऐसी नही है। अनादिकाल से इस जीव की सयोगी दृष्टि रही है अत वह भ्रम से आत्मा तथा कर्म को एक मानता आ रहा है उस सयोगी दृष्टि को दूर कर असंयोगी दृष्टि देना आचार्य का प्रधान लक्ष्य रहा है अत आभास ऐसा होता है कि आचार्य व्यवहार दृष्टि का निषेध कर रहे हैं क्योकि सयोगी दृष्टि व्यवहार नय का ही विषय है। लेकिन यह तो रोग का उपचार है। शीत ज्वर वाले को उष्ण औषधि दी जाती है इसका यह अर्थ नही कि वैद्य शीत औषधियो का प्रयोग सर्वथा निषिद्ध मानता है। जिसे उष्ण ज्वर है उसे शीत औषधि देना भी वैद्य जानता है। निश्चय नय को आगे रखकर जो जडवाद का समर्थन करते हैं समयसार मे उनकी भी निन्दा की गई है।[2] अपने कथन में संतुलन रखने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार नय का भी उपयोग किया है और व्यवहार नय के कथन को जिनेन्द्र प्रतिपादित कह कर उसकी प्रामाणिकता की ओर सकेत किया है[3] इसलिए व्यवहार नय और निश्चय नय वस्तुओ को दो पहलुओ से समझने के लिए दो सकेत हैं उनमे से एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या नही कहा जा सकता। संकेत, सकेत हैं स्वय वस्तुभूत नही है इसलिए या तो दोनो ही असत्य हो सकते हैं या फिर दोनों ही सत्य। व्यवहार और निश्चय संकेतमात्र होने से दोनो अवस्तुभूत हैं परन्तु वस्तुभूत तत्त्व को समझने में सहायक हैं इस अपेक्षा से दोनो प्रमाणभूत हैं। आचार्य कुन्दकुन्द की भी यही दृष्टि रही है तभी तो वे लिखते हैं—'जीव कर्म से बद्ध है अथवा अबद्ध है ये दोनो ही नय पक्ष है जो पक्ष से अतिक्रान्त है वही समयसार है। अत नय पक्षपात रहित समय से प्रतिबद्ध होकर दोनो नयो के कथन को जानता है किसी नया पक्ष को ग्रहण नही करता।[4]

इस प्रकार व्यवहार नय और निश्चय नय दोनो वस्तु स्वरूप को समझने में सहायता करते हैं। फिर भी दोनो का विषय एक नही है। समयसार की टीकाओ में लिखा है कि स्वाश्रित कथन को निश्चय तथा पराश्रित कथन को व्यवहार कहते है अथवा गुण गुणी का भेद न कर अखड वस्तु को जानना निश्चय है और अखण्ड वस्तु में खण्ड कल्पना या भेद करना व्यवहार है। जैनों की स्याद्वाद दृष्टि में पदार्थ को कथंचित्

---

१. उदयति न नयश्री इत्यादि कलश न० ९।

२. कलश नं० १११।

३. ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एवे सव्वे अज्झवसाणादियो भावा ॥४६॥

४. समयसार गाथा १४२-१४३।

भेदाभेदात्मक नित्यानित्यात्मक मान कर एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्मों का मैत्रीभाव से रहना स्वीकार किया है । जीव न कभी मरता है न कभी उत्पन्न होता है वह नित्य, सनातन है यह निश्चय दृष्टि का कथन है । जीव मरता है, जीता है, चतुर्गति तथा चौरासी लाख योनियों मे भ्रमण करता है यह व्यवहार नय का विषय है । जीव संसारी है यह पराश्रित कथन होने से व्यवहार दृष्टि है, जीव संसारी नही है त्रैकालिक शुद्ध है यह स्वाश्रित कथन होने से निश्चय दृष्टि है । इस प्रकार सर्वत्र ही निश्चय व्यवहार का विषय समझ लेना चाहिए । नयो के सामान्य विवेचन मे किसी भी नय को कही भी अप्रमाण या असत्य नहीं कहा है । ये ही नय जब परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा को छोड देते हैं तब मिथ्या या असत्य बन जाते हैं और जब सापेक्ष रहते हैं तब सम्यक् या सत्य बन जाते है ।[1] इस दृष्टि से यदि देखें तो व्यवहार और निश्चय नय दोनो एक दूसरे से निरपेक्ष रहने पर मिथ्या है और सापेक्ष रहने पर दोनो ही सम्यक् है । अन्यथा पदार्थ भेदाभेदात्मक या नित्यानित्यात्मक कैसे बन सकता है जब कि भेद, अभेद और अनित्य तथा नित्य इन दो युगलो मे पहले २ भंग क्रमश व्यवहार और दूसरे भग निश्चय नय के विषय हैं । अत. हमे इन दोनो नयो का विश्लेषण कर इनकी ठीक स्थिति को समझना होगा ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने इन दोनों नयो के विषय मे एक गाथा समयसार मे निम्न प्रकार दी है—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ।।११।। स. सा.

अमृतचन्द्र के अनुसार इसका सरल अर्थ है—व्यवहार अभूतार्थ है और निश्चय भूतार्थ है । भूतार्थ का आश्रय लेने वाला जीव सम्यक्दृष्टि होता है ।

जयसेन ने इसका सरल अर्थ इस प्रकार भी किया है—व्यवहार भूतार्थ और अभूतार्थ होता है । शुद्ध नय भी भूतार्थ और अभूतार्थ होता है इनमे भूतार्थ का आश्रय लेने वाला जीव सम्यक्दृष्टि होता है ।[2]

उक्त दोनो टीकाकारो के अर्थ में सगति बैठाने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि कुन्दकुन्द ने व्यवहार नय के लिए असत्य या मिथ्या विशेषण का प्रयोग नही किया है प्रत्युत अभूतार्थ विशेषण का प्रयोग किया है । अन्यथा वे गाथा का इस प्रकार भी निर्माण कर सकते थे—

ववहारोऽसच्चत्थो सच्चत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
सच्चत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ।।

अभूतार्थ शब्द की अपेक्षा असत्यार्थ का प्रयोग अधिक सरल और सहज गम्य है । भला जब व्यवहार को असत्य ही बताना था तब उसके लिए असत्यार्थ पद का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त रहता । किन्तु कुन्दकुन्द व्यवहार को असत्य नही कहना चाहते इसीलिए उन्होने 'अभूतार्थ' पद का प्रयोग किया है और सम्भवत: आगमान्तर दृष्टि के साथ समन्वय बनाये रखने के लिए उन्होने जान-बूझकर ही अभूतार्थ पद का प्रयोग किया है क्योंकि आगम में व्यवहार को सद्भूत असद्भूत शब्द से व्यवहृत किया है । इस सम्बन्ध मे एक यह भी तर्क है कि गाथा क्रमाक १३ में कुन्दकुन्द ने यह भी लिखा है कि भूतार्थरूप से जीव-अजीव, पुण्य-पापादि नव पदार्थों के जानने से सम्यक्त्व होता है । पुण्य-पापादि ये व्यवहार नय से जीव के है इन्हें भूतार्थ रूप से जानने

---

१. निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् । स. म.

२. जैन शास्त्रों में व्यवहार के सद्भूत व्यवहार नय और असद्भूत व्यवहार नय इस प्रकार दो भेद किये हैं । निश्चय नय के भी शुद्ध निश्चय अशुद्ध निश्चय इस तरह दो भेद किये हैं ।

का मतलब है व्यवहार दृष्टि के विषय को भूतार्थ रूप से जानना। अतः पूर्वोक्त गाथा मे कुन्दकुन्द का अभिप्राय व्यवहार को असत्य कहना नही है। किन्तु व्यवहार को कथंचित् भूतार्थ मानना भी है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने व्यवहार को जो अभूतार्थ कहा है वह केवल गाथा के अर्थ को लेकर ही कथन है। उनके अभिप्राय मे भी यह सर्वथा नही है कि व्यवहार नय असत्यार्थ है। समयसार की गाथा क्रमाक चौदह का उन्होंने जो अर्थ किया है उसमें व्यवहार नय के विषय को भूतार्थ बताकर निश्चय दृष्टि की अपेक्षा उसे अभूतार्थ कहा है।

गाथा चौदह का अर्थ है—'जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असयुक्त देखता है उसे शुद्ध नय समझना चाहिए।'

आचार्य अमृतचन्द्र ने इनमे से प्रत्येक पद की व्याख्या की है और उदाहरण के लिए अबद्धस्पृष्ट दशा को इस प्रकार समझाया है—

जैसे कमलिनी पत्र पानी मे डूबा हुआ है अत. पत्र की जल से स्पृष्ट रूप अवस्था का अनुभव करने पर तो जलस्पृष्टता उसकी भूतार्थ है किन्तु कमलिनी पत्र का जब स्वभाव अनुभव करते हैं तब वह जल स्पष्टतया अभूतार्थ है। इसी प्रकार जब आत्मा की अनादिकाल से बद्ध और स्पृष्ट पर्याय (अवस्था) का अनुभव करते है तो वह भूतार्थ प्रतीत होती है किन्तु जब एकान्तत पुद्गल से अस्पृष्ट आत्म-स्वभाव की ओर देखते हैं तो वह बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ प्रतीत होती है।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नही कि आत्मा की बद्ध स्पृष्ट दशा व्यवहार दृष्टि से ही स्वीकार की गई है।[1] फिर भी आचार्य उसे भूतार्थ कहते है। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य अमृतचन्द्र व्यवहार को भी भूतार्थ मानते है। तब निष्कर्ष यह निकला कि व्यवहार नय अपने रूप मे भूतार्थ है और निश्चय रूप में अभूतार्थ है। इसलिए व्यवहार नय का कही प्रतिषेध नही है यदि प्रतिषेध है तो निश्चय की प्रधानता को लेकर है,[2] और इस प्रकार यदि व्यवहार नय को भी प्रधान बना लिया जाय तो निश्चय नय भी प्रतिषिद्ध हो जाता है।

यहाँ तक व्यवहार नय की भूतार्थता के विषय मे आचार्य जयसेन, आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य अमृतचन्द्र का अभिप्राय दिया जा चुका है। अब यह बताने का प्रयत्न किया जायेगा कि व्यवहार और निश्चय यदि अपनी-अपनी जगह दोनो भूतार्थ है तो दोनो की भूतार्थता का रूप क्या है जो परस्पर भिन्न होकर भी भूतार्थ बने रहे। जब इन दोनो का विषय एक-दूसरे के विरुद्ध है तब दोनो मे सत्य तो एक ही हो सकता है जो सत्य है वही भूतार्थ कहलायेगा असत्य भूतार्थ नही कहा जा सकता। इसलिये दोनो को भूतार्थता समझने के लिए हमे सत्य और तथ्य को समझने का प्रयत्न करना पडेगा।

लोक मे सत्य और तथ्य दोनो ही शब्दो का लगभग एक ही 'वास्तविक' अर्थ में प्रयोग होता है। जब हम किसी की बुराई सुनते है तो जानना चाहते है कि इसमे तथ्य कितना है। यहाँ तथ्य का सरल अर्थ सत्य ही है अर्थात् इस बुराई मे सचाई कितनी है। 'इसमे कभी न कभी तो तथ्य निकलेगा।' यहां भी सत्य की खोज से ही अभिप्राय है। इसलिए स्थूल रूप से व्यवहार या बोलचाल की भाषा में सत्य और तथ्य मे कोई अन्तर प्रकट नही होता। परन्तु जो इन शब्दो का रहस्य समझते है वे जानते हैं कि दोनो मे महान्

१ जीवे कम्म बद्धं पुट्ठ चेदि ववहारणय भणिदं ।।—स० सा० गा० १४१ ।।

२. एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।।—स० सा० गा० २७२ ।।

अन्तर है और दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। 'सत्य' का व्याकरण सम्मत अर्थ है सते-हितं-सत्यम्। जो भले पुरुषों को हितकर हो वह सत्य है। इस व्युत्पत्यर्थ को लक्ष्य में रख कर यदि सोचा जाय तो वस्तु हो या न हो अथवा अन्यथा हो यदि किसी भी रूप में उसके कथन से प्रयोजन सिद्ध होता है तो वह सत्य है।

इस सम्बन्ध में हम कुछ शास्त्रीय उदाहरण देंगे—आगम में असत्य का लक्षण बतलाया है 'असद-भिधानमनृतम्'। अर्थात् असत् कहना झूठ है। 'असत्' का अर्थ है बुरे अहितकर पीडाकारक वचन। यदि अंधे व्यक्ति को उसे ठेस पहुँचाने के लिए अंधा कहा जाय तो वह असत्य है क्योंकि वह अहितकर वाणी है इसी प्रकार विपत्तिग्रस्त प्राणी को बचाने के लिये यदि झूठ भी बोला जाय तो वह सत्य है[1] क्योंकि वह हितकर वाणी है। इन दोनों उदाहरणो मे एक जगह वस्तु का सद्भव है फिर भी वह असत्य है दूसरी जगह वस्तु का असद्भव है फिर भी वह सत्य है। आगम मे दस प्रकार के सत्य का वर्णन मिलता है—जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापना सत्य, नाम सत्य, रूप सत्य, प्रतीत्य सत्य, व्यवहार सत्य, सभावना सत्य, भाव सत्य, उपमा सत्य।[2] इनमे प्राय वस्तु अन्यथा रूप है फिर भी वह सत्य की कोटि मे है। उदाहरण के लिये किसी पुरुष का नाम हाथीसिंह है। यह सही है कि मनुष्य न हाथी होता है न सिंह। मनुष्य को उक्त संज्ञा देना वस्तु का अन्यथा रूप है फिर भी 'हाथीसिंह' नाम से उस मनुष्य का बोध होता है अथवा उस मनुष्य को समझने मे वह नाम हितकर है इसलिये किसी मनुष्य को हाथीसिंह कहकर बुलाना यह नाम सत्य है। इसी प्रकार स्थापना सत्य में प्रस्तर की मूर्ति को भगवान् कहा जाता है यद्यपि प्रस्तर को भगवान् कहना वस्तु का अन्यथा रूप है फिर भी वह सत्य के अन्तर्गत है। 'मन्दिर मे चल कर भगवान् के सामने कसम खाओ' यहाँ भगवान् के अस्तित्व की सचाई उस प्रस्तर मूर्ति के ही साथ जुडी है, इसलिए कसम खाने और खिलाने वाले दोनो व्यक्ति उस प्रस्तर मूर्ति के ही पास जाते है साक्षात् भगवान् के पास नही।

शब्द मे तीन शक्तियाँ साहित्यकारो ने बताई हैं। उनमे एक अभिधा शक्ति ही ऐसी है जो शब्द के अनुसार ही अर्थ को बताती है। शेष लक्षणा और व्यजना शक्ति शब्द के अनुसार अर्थ को नही बताती। इनमें कहा कुछ जाता है और अर्थ कुछ दूसरा ही होता है। कोई व्यक्ति जब अपने शत्रु से कहता है 'अजी! आपके मुझ पर सैकडो उपकार हैं' यहाँ उपकार का अर्थ भलाई नही है किन्तु बुराई है। इसी प्रकार 'गगा मे अहीरो का गाँव है' यहाँ गगा शब्द का अर्थ जल प्रवाह नही है किन्तु गगा का किनारा है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि शब्द के अनुसार अर्थ न भी हो फिर भी वह सत्य है। सत्य के लिए यह आवश्यक नही है कि जो कुछ कहा जाता है वह वैसा ही हो। ऊपर के प्रयोगो मे शब्द का जो वास्तविक अर्थ है वह असत्य है और जो अवा-स्तविक अर्थ है वह सत्य है। इसलिए सत्य कभी वस्तु पर निर्भर नही करता वह भावो या अभिप्रायो पर निर्भर करता है।

तथ्य के विषय मे यह बात नही है वह सदा वस्तु पर निर्भर करता है भावो या अभिप्रायो पर नही।

अंधे को अंधा कह कर चिढ़ाना भले ही असत्य की परिभाषा मे आता हो पर वह अतथ्य नही है। अन्धा अन्धा ही रहेगा और वही तथ्य है। चूंकि सत्य-अहिंसा का सहयोगी है अत. अपने अहिंसक भावो की रक्षा के लिए उसे 'प्रज्ञाचक्षु' आदि कहना सत्य के अन्दर गर्भित होता है पर तथ्य के अनुरोध से वह चक्षुहीन (अन्धा) ही है।

१. त० स० अ० ७।

२. गाथा नं० २२२ गो० जी०

विपत्तिग्रस्त प्राणी को बचाने के लिए भी यही बात है। वहाँ अतथ्य का प्रतिपादन कर जो प्राणी की रक्षा की गई है वह अहिंसक या हितकर भावो के कारण सत्य है अन्यथा वह तथ्य नही है।

आगम प्रतिपादित दस प्रकार के सत्य भी वस्तुभूत दृष्टि की अपेक्षा अतथ्य है किन्तु अभिप्रायो की अपेक्षा से वे सत्य हैं। अतथ्य इसलिए है कि जैसा कहा गया है वैसा है नही। जिस मनुष्य को हम 'हाथीसिंह' कह रहे हैं कौन बुद्धिमान उसे हाथी या सिंह अथवा दोनो का मिला जुला रूप मान सकता है। मनुष्य को हाथीसिंह मानना तथ्य नही कहा जा सकता, पर नामसत्य तो है ही।

'तथ्य' शब्द 'तथा' से बना है और 'तत्र साधु.' इस अर्थ मे यत् प्रत्यय हुआ है। अत 'तथ्य' का सरलार्थ है—जैसा है वैसा ही होना।

स्थापना सत्य से जिस प्रस्तर मूर्ति को भगवान् महावीर कहा जाता है वह वैसी (भगवान् महावीर) नही है। महावीर मे चैतन्य था प्रस्तर मे चैतन्य नही है, अत मूर्ति को महावीर कहना तथ्यपूण नही है जबकि वह सत्य (स्थापना) अवश्य है।

तथ्य वस्तु को अन्दर घुस कर देखता है सत्य उसके दृश्यमान आवरण से ही सतुष्ट होता है। तथ्य कहता है कि जलीय तत्त्व कोई खास वस्तु नही है आॅक्सीजन एव हाइड्रोजन गैसें मिलकर ही जल बन जाते हैं। सत्य को इन गैसो से कोई प्रयोजन नही है जलीय तत्त्व मे भले ही वे रहे। वह तो जल देखता है और अनुभव करता है कि इससे प्यास बुझती है दाह शमन होती है, वस्त्र धुलते है, स्नान किया जाता है अतः जल है और सत्यभूत पदार्थ है।

एक फल में कितना क्षार तत्त्व है, कितना लोह तत्त्व है, कितनी शक्कर है इत्यादि बाते तथ्य निर्णय करता है और सत्य तो उसे फल कहता है और उसका अमुक स्वाद जानता है।

जिसने नमक न खाने का व्रत लिया है वह उस फल मे क्षार तत्त्व की सम्भावना कर उस फल को खाना नही छोड़ेगा और न ऐसे तर्क को भी स्वीकार करेगा कि अमुक फल मे क्षार होने से तुम्हारे नमक न खाने का व्रत भग होगा। उसका स्पष्ट उत्तर होगा मैं फल खा रहा हूँ नमक नही। उसके इस उत्तर को असत्य नही कहा जा सकता है और न नमक न खाने के व्रत को भग हुआ कहा जा सकता है।

तथ्य वस्तु का विश्लेषण करता है और सत्य उसे भावनाओ का रूप देता है इसलिए सत्य सदा कोमल होता है और तथ्य सदा कठोर होता है।

तथ्य कहता है जिसे तू पत्नी बनाने जा रहा है वह अस्थि, चर्म, मज्जा, रक्त और नसो का जाल है, अत्यन्त घृणित और निन्द्य वस्तुओ का पिण्ड है आत्मा तो न किसी की पत्नी है न पति। सत्य इसे सुन कर सोचता है कि क्या पत्नी का अर्थ अस्थि, चर्म है फिर लोग श्मशान मे जाकर अस्थि चर्म क्यो नही उठा लाते, जीवित स्त्री को पत्नी बनाने क्यो जाते हैं? क्यो नही अस्थि चर्म से ही सतानोत्पत्ति कर लेते। अस्थि और चर्म को देखकर तो उद्वेग पैदा होता है और पत्नी को देखकर अनुराग पैदा होता है। अत तथ्य जो कुछ कह रहा है वह सब झूठ है अथवा उसकी वह जाने। मै तो अस्थि चर्म नही एक सुन्दर पत्नी देख रहा हूँ ऐसी पत्नी जिसको महापुरुषों ने भी अपनाया है जो घर के वातावरण को प्रसन्नता मे भर देती है। अस्थि चर्म मे ये सब बातें कहाँ हैं।

सत्य के इस विचार (भावनाओ) को असत्य नही कहा जा सकता और तथ्य के उक्त विश्लेषण को अतथ्य नही कहा जा सकता। दोनो अपनी-अपनी जगह पर है और अपने-अपने रूप मे स्पष्ट हैं दोनों के अभि-

व्यक्त विचार क्रमशः विश्लेषणात्मक और भावनात्मक है इसलिये असत्य को तो कहीं अवकाश ही नहीं है अन्तर उतना ही है जितना तथ्य और सत्य में हो सकता है।

तथ्य वस्तु की अधिक से अधिक चीड-फाड करता है सत्य उस चीड-फाड को सहन नही करता। इसीलिए ऊपर तथ्य को कठोर और सत्य को कोमल बताया है। दूसरे शब्दो मे यों भी कहा जा सकता है कि तथ्य रूक्ष है और सत्य स्निग्ध है। भावनाओ को ठेस पहुँचे या न पहुँचे वह तो वस्तु को नंगा करके सामने रख देता है। सत्य वस्तु को नगा नही उसे आवृत देखता है। वस्त्र पहने हुए मनुष्य भी मनुष्य ही है यह क्या आवश्यक है वस्त्र उतार दे तभी वह मनुष्य समझा जाय लेकिन तथ्य का आग्रह है कि मनुष्य को समझने के लिये उसे धोती, कुरता, पायजामे आदि विभिन्न परिधानो से पृथक् देखा जाय अन्यथा किस परिधान को धारण करने वाला मनुष्य होता है यह निश्चय नही हो सकेगा।

इस तरह निष्कर्ष निकलता है कि तथ्य के पास कोई समझौता नही है सत्य समझौते से काम निकालता है। तथ्य एक और अखड है सत्य अनेक और नाना है। तथ्य स्वतः नग्न है और सत्य परिधान सज्जित है। तथ्य भोडा है और सत्य सुन्दर है। इसलिए 'सत्य शिव सुन्दरम्' कह कर सत्य को हितकारी और सुन्दर बताया है।

वैज्ञानिक सत्य और व्यावहारिक सत्य मे जो अन्तर है वही अन्तर तथ्य और सत्य मे है। तथ्य वैज्ञानिक सत्य है। लौकिक बातो मे वह लोक सम्मत विज्ञान (साइन्स) है और मोक्ष मार्ग मे वह अध्यात्म सम्मत विज्ञान (भेद विज्ञान) है। व्यावहारिक सत्य लौकिक बातो मे लोक सम्मत व्यवहार है और मोक्षमार्ग मे अध्यात्म का साधक प्रवृत्तिरूप आचरण है। दोनो एक दूसरे से पृथक् और कथचित् विरुद्ध होने पर भी एक दूसरे के पूरक है इस प्रकार सत्य और तथ्य का जो रूप है वही निश्चय नय और व्यवहार नय का रूप है। अतः दोनो की सरल अभिव्यक्ति निम्न शब्दो मे की जा सकती है। 'व्यवहार नय सत्य है और निश्चय नय तथ्य है' अभूतार्थ कोई नही है, यदि कथचित् व्यवहार को अभूतार्थ माना भी जाय तो केवल इसी अर्थ मे कि वह निश्चय (तथ्य) नही है।

मोक्ष-मार्ग मे प्रवृत्ति रूप व्यवहार को साक्षात् मोक्ष का कारण नही माना क्योकि आगे चल कर जब आत्मा परम चरित्र मे स्थिर होता है[1] तब प्रवृत्तिरूप व्यवहार नही रहता है अत वहाँ प्रयोजन रहित होने से वह अभूतार्थ कहा गया है जैसा कि स्वय आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वीकार किया है। वे कहते हैं—शुद्ध आत्म भाव का अनुभव करने वालो को शुद्ध आत्म द्रव्य का कथन करने वाला शुद्ध नय ग्राह्य है तथा शुद्ध आत्म-भाव का अनुभव न करने वालो (असयमी सम्यग्दृष्टि, श्रावक, प्रमत्त, अप्रमत्त मुनि) को व्यवहार का प्रतिपादक व्यवहार नय ग्राह्य है। इसका अर्थ यह नही है कि प्रमत्त अप्रमत्त मुनि तक अभूतार्थ असत्य पदार्थ को ग्राह्य करे और इसके बाद भूतार्थ सत्य पदार्थ को ग्रहण करे जबकि मुनि से बहुत नीचे श्रावक अवस्था मे ही वह असत्य का सेवन छोड चुका है। इसीलिये अभूतार्थ शब्द आपेक्षिक है उसका अभिप्राय असत्य नही है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी समयसार मे प्रतिक्रमणादिक को आठ प्रकार का विषकुम्भ कहा है और अप्रतिक्रमणादिक को अमृतकुम्भ कहा है।[2] यह सब जानते हैं कि प्रतिक्रमणादिक करना मुनि को पाप निवृत्ति के लिए कितना आवश्यक है। षड् आवश्यको मे शास्त्रो द्वारा प्रतिक्रमण का निर्देश किया गया है।

१. सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ॥१२॥ स. सा.

२. देखो समयसार गाथा ३०६, ३०७।

और उसको पालन उतना ही अनिवार्य है जितना मुनित्व का पालन करना । फिर भी उसे विषकुम्भ कहा है वह इसीलिए कि शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा (श्रेणी आरोहणकाल में प्रतिक्रमणादिक कार्यकारी या प्रयोजन भूत नही है क्योंकि ये सब उस स्थिति से पहले ही होते हैं । अत प्रतिक्रमण को विषकुम्भ उस अमृतकुम्भ की अपेक्षा से है जहाँ शुक्ल ध्यान में बैठ कर प्रतिक्रमणादिक नही किये जाते अन्यथा वे विषकुम्भ नही हैं अमृतकुम्भ ही हैं और न संसार चक्र में परिभ्रमण कराने वाले हैं । प्रतिक्रमण करने वाले मुनि न तो विष ही पीते हैं न संसार परिभ्रमण की कोई क्रिया ही करते हैं । इसलिए प्रतिक्रमण को विषकुम्भ कहने में आचार्य का जो अभिप्राय है वही अभिप्राय व्यवहार को अभूतार्थ कहने मे है । व्यवहार का असत्य कहने का अभिप्राय उनका सर्वथा नही है ।

इसी प्रकार मुक्ति के लिए मुनिवेष और श्रावकवेष का आग्रह करने वालो को आचार्य ने मूढ़ लिखा है ।[1] इसका अर्थ यह नही कि अब तक जो साधु निर्ग्रन्थ वेष धारण करते आये है वे सब मूढ़ थे । वस्तुत ये सब आपेक्षिक कथन हैं । जहाँ जिस अभिप्राय से कह गये है वहाँ उसकी स्थिति को समझ लेना चाहिए । व्यवहार नय की अभूतार्थता भी अभिप्राय विशेष को लेकर ही कही गई है उसका अर्थ वहाँ असत्यार्थ नही है ।

प्रतिक्रमणादिक या निर्ग्रन्थ (नग्न) वेष मे सब प्रवृत्तिरूप होने से व्यवहार है । अतः निवृत्तिरूप मुक्ति आचरण से भिन्न होने के कारण इनको विषकुम्भ, मूढता आदि शब्दो से स्मरण किया गया है । और व्यवहार नय इन सबको विषय करता है । इसलिए व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है ।

वास्तव मे व्यवहार नय सत्य है और तथ्यभूत निश्चयनय की भूमिका है । व्यवहार निश्चय को आश्रय देता है इसलिए व्यवहार आश्रय है और निश्चय आश्रयी है । आश्रय आश्रयी पृथक्भूत होकर भी परस्पर विरुद्ध नही हैं । तब व्यवहार को असत्य और निश्चय को सत्य मानना वस्तु स्थिति का अप्रलाप है ।

यथार्थ में व्यवहार नय और निश्चय नय ये दो नय हैं प्रत्येक नय अपने आप मे कभी पूर्ण नही है । यहाँ तक कि असख्य नय मिलकर अपनी अपूर्णता को नही छोडते है । इसलिये इन नयो को प्रमाण न मानकर प्रमाणो का एक देश माना गया है । असख्य नय मिलकर अपनी-अपनी दृष्टियाँ ही दे सकते हैं वे असख्य दृष्टियाँ मिलकर भी वस्तु की पूर्णता का प्रतिपादन नही कर सकती । वस्तु की पूर्णता का प्रतिपादक प्रमाण ज्ञान है ।

प्रमाण ज्ञान के लिये यह नही कहा कि इतने नय मिल जाँय तो प्रमाण ज्ञान बन जाता है क्योकि नयो की प्रमाणैकदेशता जैसी एक नय के साथ है वैसी ही सब नयो के साथ है और वैसी ही सम्मिलित नयो के साथ है । इस दृष्टि से व्यवहारनय और निश्चयनय की यथार्थता को देखे तो दोनो नय प्रमाण नही हैं किन्तु प्रमाणैकदेश हैं । प्रमाणैकदेश से मतलब प्रमाण के अश हैं । यदि प्रमाण पदार्थ की पूर्णता को जानता है तो जो प्रमाण के अश हैं वे पदार्थ का अंश ज्ञान ही कर सकेंगे । चूँकि निश्चय नय प्रमाण का अंश है इसलिये वह भी आत्मा का या अन्य किसी पदार्थ का पूर्ण ज्ञान नही देता प्रत्युत् अश ज्ञान ही देता है । अत. निश्चय नय से जितना कुछ जाना गया है वह पदार्थ का अंश ज्ञान होने से अपूर्ण ज्ञान है । तब निश्चय नय से वस्तु की पूर्णता का कैसे पता चल सकता है । यदि आशिक वस्तुतत्त्व का परिचायक होने से इसे सत्य माना जाय तो व्यवहार नय भी (प्रमाण का अंश होने से) आशिक वस्तु स्थिति का परिज्ञान कराता है अतः वह भी सत्य है । अतः या तो दोनो ही सत्य होते हैं और परस्पर निरपेक्ष हो तो दोनो ही असत्य सिद्ध होते हैं ।

---

१. समयसार गाथा ४०८।

आगम में नय और अध्यात्म नय कहकर जो व्यवहार और निश्चय नय की विशेष स्थिति को स्वीकार करते हैं और फिर निश्चय नय को सत्य और व्यवहार नय को असत्य मानते है वे भूल करते हैं। इनकी इस विशेष स्थिति मे भी इनके स्वरूप पर कोई प्रभाव नही पडता। इनको आगम और अध्यात्म स्थिति इनकी प्रमाणैकदेशता से इन्कार नही करती। जब ये प्रमाण के एक देश (अंश) है तो दोनो ही सच्चे हैं। यह बात पृथक् है कि निश्चय नय के कथन को प्रधान कर व्यवहार नय के कथन को गौण कर दिया गया है। पर उसकी वह सामयिक गौणता उसकी असत्यता सिद्ध नही करती। नही तो जिन ग्रन्थों में व्यवहार नय की प्रधानता से कथन है उनमें निश्चय नय की गौणता उसकी असत्यता का कारण बन जायगी।

समयसार के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने भी अपने पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ मे व्यवहार और निश्चय नय की भूतार्थता अभूतार्थता का कथन किया है लेकिन उन दोनो की उपयोगिता को औपम्य कथन से बडी सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किया है। वे लिखते हैं कि जिस प्रकार ग्वालिन दही को बिलोते समय एक हाथ की रस्सी को ढीला करती है और दूसरे हाथ की रस्सी को खीचती है और इस तरह बार-बार करने से दही मे से मक्खन निकाल लेती है इसी प्रकार जैनी नीति कभी व्यवहार नय को गौण पर निश्चय नय को प्रधान कर लेती है और कभी निश्चय नय को गौण कर व्यवहार नय को प्रधान कर लेती है और इस तरह वस्तु तत्त्व को प्राप्त कर लेती है। मक्खन निकालने के लिये न तो एक हाथ की रस्सी पकड कर दूसरे हाथ की छोडी जा सकती है और न दोनो हाथो की रस्सी को युगपत् खीचा जा सकता है न दोनो को छोडा ही जा सकता है। उसी प्रकार वस्तु तत्त्व को समझने के लिये न तो एक नय को प्रधान कर दूसरे नय को छोडा जा सकता है और न दोनो नयो को प्रधान किया जा सकता है, न दोनो नयो को गौण किया जा सकता है। अत मक्खन को हस्तगत करने के लिये जैसे दोनो हाथो की समकक्षता है वैसे ही वस्तु को समझने के लिये दोनो नय समान हैं कोई छोटा-बडा नही है। पञ्चाध्यायी मे निश्चय नय को जो नयराज कहा है वह वैसी ही है जैसी दोनो हाथों मे दाएँ हाथ को अच्छा माना गया है अथवा दोनो आँखो मे दायी आँख को शुभ माना गया है इससे दोनों हाथों या दोनो आँखो की उपयोगिता मे कोई अन्तर नही पडता। इसी तरह व्यवहार और निश्चय नयो मे यदि निश्चय को नयराज कहा है तो दोनो नयो की उपयोगिता मे कोई अन्तर नही है। व्यवहार नय की अभूतार्थता बाएं हाथ और बायी आँख की तरह मानी जा सकती है पर जैसे उक्त दोनो हाथ और आँखे असत्य नही हैं वैसे ही व्यवहार नय असत्य नही है। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने स्वयं गाथा क्रमाक १२ की टीका करते हुए 'उक्त च' कह कर एक प्राचीन गाथा को उद्धृत किया है। वे लिखते है यदि जिनमत को प्रवर्तित करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय को मत छोडो। व्यवहार के बिना तीर्थ और निश्चय के बिना तत्त्व का विनाश हो जाएगा।[1]

प्रश्न यह है कि जिस तीर्थ के बिनाश होने का भय बताया है क्या वह असत्यार्थ है। यदि असत्यार्थ है तो तीर्थंकर असत्यार्थ के कर्ता हुये। पर ऐसा नही है। तीर्थ और तत्त्व से अभिप्राय उनका सत्य और तथ्य से ही है। दोनो अपने-अपने स्थान पर समग्राह्य और सरक्ष्य है। इसलिये दोनो के न छोड़ने की बात कही है।

इस प्रकार सत्य और तथ्य की व्याख्या के संदर्भ मे व्यवहारनय और निश्चयनय की स्थिति को समझा

---

१. जइ जिणमयं पवज्जइ''''इत्यादि गाथा १२ की टीका।

जा सकता है। समयसार में इन दोनों नयों का प्रयोग उसी अर्थ में किया गया है। एक को असत्य और दूसरे को सत्य बताने के लिये नही किया गया।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भूतार्थ और अभूतार्थ शब्द का अनेक जगह प्रयोग किया है। उनमें से किसी भी स्थल पर अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ नही निकलता। इस संबंध में पहले कुछ स्थलो का निर्देश किया जा चुका है यहाँ एक और स्थल निर्देश करते है। समयसार गाथा क्रमाक २७५ की व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं[1]—

"अभव्य नित्य कर्म फल चेतनारूप वस्तु का श्रद्धान करता है, नित्य ज्ञानचेतना मात्र वस्तु का श्रद्धान नही करता क्योकि उसके सर्वदा भेद विज्ञान नही है। इसलिये वह कर्म विनाश का कारण ज्ञान मात्र भूतार्थ धर्म का श्रद्धान नही करता है। भोग के निमित्त शुभकर्ममात्र अभूतार्थ धर्म का श्रद्धान करता है। इसीलिये वह अभूतार्थ धर्म के श्रद्धान-विश्वास रुचि-स्पर्श से नवग्रैवेयक के भोग मात्र को प्राप्त करता हुआ ससार से कभी भी नही छूटता, इसलिये इसके भूतार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से श्रद्धान ही नही है। ऐसा होने पर निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय का प्रतिषेध ठीक ही है।"

उक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि अमृतचन्द्र स्वर्गादि प्राप्ति के कारण शुभ भावो को अभूतार्थ मानते हैं और वह भी केवल अभव्य के लिये जिसका उद्देश्य धर्म से भोग प्राप्ति है। इसका अभिप्राय यह हुआ है कि यदि कोई शुभभावो को भोग के उद्देश्य से नही करता तो वह भी अभूतार्थ नही है।

आत्मा के लिये अर्थभूत (प्रयोजन भत) तो मोक्ष है न कि भोग अत मोक्ष के लिये जो भी आचरण किया जाता है चाहे उसका मोक्ष से सबध साक्षात् हो या परम्परा से सब भूतार्थ हैं और जो आचरण मोक्ष के लिये नही केवल भोग के लिये किए जाते है वे आचरण अभूतार्थ हैं—भूताना-जीवाना अर्थ प्रयोजन यस्मात् स भूतार्थ —' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जीवो का आत्महित रूप प्रयोजन जिससे सिद्ध होता है वह भूतार्थ नय या भूतार्थ धर्म है और जिसमे सिद्ध नही होता वह अभूतार्थ नय या धर्म है। स्वय आचार्य कुन्दकुन्द भी व्यवहार नय को अभूतार्थ कहते है जिसका सहारा अभव्य लेता है न कि भव्य। समयसार गाथा क्रमाक २७३ की उत्थानिका इस प्रकार है—कथ अभव्येन आश्रियते व्यवहारनय ? इसका उत्तर कुन्दकुन्द देते हैं—"भगवान् जिनेन्द्र के द्वारा प्रतिपादित व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप का पालन करते हुये भी अभव्य अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता है।"

यहाँ अभव्य के व्रत, समिति आदि पालन को व्यवहार नय का आश्रय बताया है। यह वही व्यवहार नय है जिसे अभूतार्थता की सज्ञा दी है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र की दृष्टि अभूतार्थ के विषय मे क्या रही है। यह सर्वाङ्ग स्पष्ट हो जाता है।

---

१. अभव्यो हि नित्यकर्मफलचेतनानुरूप वस्तु श्रद्धत्ते, नित्यज्ञानचेतनामात्र न तु श्रद्धत्ते नित्यमेव भेदविज्ञानार्हत्वात्। तत स कर्ममोक्षनिमित्त ज्ञानमात्र भूतार्थ धर्म न श्रद्धत्ते। भोगनिमित्त शुभकर्ममात्रमभूतार्थमेव श्रद्धत्ते। तत एवासौ अभूतार्थधर्मश्रद्धानप्रत्ययनरोचनस्पर्शनैरुपरितनग्रैवेयकभोगमात्रमास्कन्देन्न पुन: कदाचनापि विमुच्यते, ततोऽस्य भूतार्थधर्मश्रद्धानाभावात् श्रद्धानमपि नास्ति। एवं सति तु निश्चयनयस्य व्यवहारनयप्रतिषेधो युज्यत एव।—आत्मख्याति गाथा २७५।

जो सत्य पदार्थ है वह अभूतार्थ भी हो सकता है और भूतार्थ भी। वैराग्य की भाषा मे स्त्री, पुत्र, मित्र आदि को झूठा कहा जाता है। वहाँ स्त्री पुत्रादिक का अस्तित्व ही नही है। यह बात नही है किन्तु ये रागवर्द्धक हैं संसार बन्धन के कारण है इसलिये वैराग्यवान को अर्थ (प्रयोजन) भूत न होने के कारण झूठे हैं। भजनो मे 'जग झूठा रे सारा साइयाँ' इसी अभिप्राय को पुष्ट करता है। "इन्द्रजालोपम जगत्" यहाँ जगत् को इन्द्रजाल की तरह बताया है जबकि इन्द्रजाल में और जगत् मे बहुत अन्तर है। इन्द्रजाल में तो आभास है किन्तु जगत् का तो प्रतिभास होता है। इन्द्रजाल मे वस्तु प्रतीति होकर भी वस्त मे अर्थ क्रियाकारित्व नही है। जगत् मे जो वस्तु है वह अर्थक्रिया सम्पन्न है। फिर भी जगत् को इन्द्रजाल कहने का अभिप्राय यही है कि जैसे इन्द्रजाल मे जो वस्तु दिखाई देती है उसका कुछ उपयोग नही है वैसे ही जगत् मे जो, कुछ विद्यमान है उसका आत्म हित मे कोई उपयोग नही है। इस तरह वैराग्य की भाषा मे जगत् को जिस अभिप्राय से झूठा कहा जाता है अध्यात्म भाषा मे व्यवहार को उसी अभिप्राय से अभूतार्थ कहा गया है। अत. व्यवहार और निश्चय नय की अभूतार्थता एव भूतार्थता को सत्य और तथ्य के अतिरिक्त और कुछ नही समझना चाहिये।

नयो का वर्गीकरण

नय दो ही नही है, नयो का बहुत बडा चक्र है। यदि प्रयोक्ता इन नयो को बिना ही समझे इनका प्रयोग करने लग जाय तो वह इस चक्र मे स्वयं फंसे बिना न रहेगा। अमृतचन्द्र आचार्य ने इस नय चक्र को बडा दुरासद् और तीक्ष्ण धार वाला बतलाया है। चलाने का अभ्यास होने पर उसमे दूसरे का सिर (मिथ्यातर्क) काटा जा सकता है किन्तु अनभ्यास दशा मे उसके प्रयोग से अपने ही सिर (निजी मान्यताएँ) के कटने का भय रहता है। नयों का भी यही हाल है। ये नय बहुत है और परस्पर एक दूसरे के विरोधी हैं। मनुष्य भ्रम मे पड जाता है कि दो विरोधी बातो मे कोई एक ही सच हो सकती है, दोनो नही। पर ये नय परस्पर विरुद्ध ज्ञय को बतलाकर भी दोनो ही सत्य बने रहते है। उदाहरण के लिये बौद्ध दर्शन पदार्थ को क्षणिक, अनित्य सिद्ध करता है, साख्य दर्शन उन्ही पदार्थों को नित्य और शाश्वत सिद्ध करता है। पदार्थ की नित्यता और अनित्यता दो परस्पर विरोधी धर्म हे फिर भी ये असत्य नही है। एक वस्तु को जितनी विभिन्न दृष्टियो से देखा जायगा उसमे उतने ही विभिन्न धर्म परिलक्षित होगे। नित्यता और अनित्यता दो भिन्न दृष्टियाँ है अत: पदार्थ का नित्यानित्यात्मक होना ठीक है। अनित्य वह इसलिये है कि एक ही पदार्थ कभी एक दशा में नही रहता। परिवर्तनशीलता उसका स्वभाव है और ये परिवर्तन प्रत्येक क्षण होते है ये क्षणिक परिवर्तन हमे दिखाई नही देते और वस्तु जैसी की तसी दिखाई देती है वही परिवर्तन जब स्थूल और मूर्तरूप धारण करते है तो हम समझते है वस्तु परिवर्तित हुई है। उदाहरण के लिये एक आम्र फल जिसे एक सप्ताह पहले वृक्ष पर हरा देखा था अब पीला दिखाई देने लगा है। पर वस्तुत: वह सात दिन बाद पीला नही हुआ किन्तु प्रत्येक क्षण उसमे पीलापन आया है। वह क्षणिक पीतिमा हमे चक्षुगोचर नही होती थी सात दिन बाद उसकी स्थूल पीलिमा के दर्शन हुये तो हमने समझा कि अब पीली हुई है। यदि एक समय का सूक्ष्म परिवर्तन न हो तो अनेक समयो का स्थूल परिवर्तन भी नही हो सकता। 'देवदत्त' शिशु अवस्था से युवा हो गया और उसकी ऊँचाई एक फुट से लेकर पाँच फुट तक बढ गई। यह चार फुट की वृद्धि प्रत्येक सेकेण्ड प्रत्येक पल प्रत्येक विपल का परिणाम है अत. कहना होगा कि वस्तु का स्थूल परिवर्तन क्षणिक परिवर्तनों के बिना नही होता इसलिए वस्तुओ को क्षणिक या अनित्य मानने मे कोई बाधा नही है।

अब दूसरी दृष्टि की तरफ आइये जो वस्तु को नित्य बतलाती है। जिन क्षणिक परिवर्तनो की चर्चा

ऊपर कर आये हैं वे परिवर्तन क्या हैं ? किसमे होते हैं । और जिसमे होते हैं उसका क्या होता है ? ये प्रश्न हैं जिनके समझने से पदार्थ की नित्यता समझी जा सकती है।

ये क्षणिक परिवर्तन मूलभूत वस्तु की दशाएँ हैं। आम का हरा होना और बाद में पीला होना ये आम की दो दशाएँ हैं। माना कि ये परिवर्तित होती हैं पर इस परिवर्तन से आम का आम्रत्व नष्ट नही होता। आम अमरूद या टमाटर नही बन जाता वह आम ही रहता है। दृश्य जगत् मे दो मौलिक तत्त्व हैं एक जड़ दूसरा चेतन। जैन दर्शन मे इन्हे ही क्रमश. पुद्गल और जीव नाम से उल्लिखित किया है। पुद्गल की अनेक दशाएँ हैं काठ, लोहा, पत्थर, शीशा, सोना, चाँदी, रत्न, काच, कागज आदि। ये दशाएँ बनती-बिगड़ती रहती हैं रासायनिक प्रयोगो से कोई एक दूसरे में परिवर्तित भी की जा सकती है पर इनका पुद्गलत्व नष्ट नही होता। पुद्गल असख्य क्या अनन्त दशाओ मे भी परिवर्तित हो वह पुद्गल ही रहेगा। सूरत बदल जाने से मूल वस्तु नही बदल जाती। शिशु देवदत्त युवावस्था मे बालक सूरत से सर्वथा बदल गया है पर वह है देवदत्त ही, वही व्यक्ति है जो शिशु था। इसलिये ये क्षणिक या स्थूल परिवर्तित दशाएँ है, जिसमे ये दशाएं होती है वह मूलभूत वस्तु है, वह मूलभूत वस्तु अनेक दशाओ मे रहकर भी मूलतः नष्ट नही होती। ये उक्त तीन प्रश्नो के उत्तर है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि दशाएँ बदलने की दृष्टि से वस्तु अनित्य है और मूलभूत वस्तु के विनाश न होने की दृष्टि से वस्तु नित्य है। साख्य की नित्यता इसी दृष्टि के आधार पर है। अर्थात् असत् का कभी सद्भाव नही होता और सत् का कभी विनाश नही होता। नया उत्पाद जो हमारी दृष्टि में आता है वह पुराने व्यय का परिणाम है यह नया पुराना किसी एक सत् की दो दशाएँ हैं[1]।

इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ मे नित्यत्व और अनित्यत्व ये दो विरोधी धर्म दो दृष्टियो से हैं। बस ये दृष्टियाँ ही नय है। जितनी दृष्टियाँ है उतने ही नय है। इन नयो को दृष्टि, अभिप्राय, अपेक्षा, विवक्षा, दृष्टिकोण, आदि शब्दो से कहा जाता है।

इन नयो को समझने के लिये एक सप्तभगी प्रक्रिया है। अर्थात् वस्तु मे विधि प्रतिषेध रूप दो मौलिक धर्म है। ये दोनो भग (धम) एक दूसरे से विपरीत होने के कारण युगपत् वाच्य नही होते है अत एक तीसरे भग अवक्तव्य को जन्म देते है। इन तीन मौलिक भगो के द्विसयोगी और त्रिसयोगी भग मिलकर सात भग हो जाते है। यही सप्तभगी है।

उदाहरण के लिये वस्तु सत् होने से उसमे एक अस्तित्व भग है, अन्योन्याभाव (एक मे दूसरे का अभाव) की अपेक्षा वस्तु मे दूसरा नास्तित्व भग है, अस्तित्व एव नास्तित्व युगवत् वाच्य नही है इसलिये तीसरा अवक्तव्य भग है, एक ही समय मे अस्ति और नास्ति होने से 'चौथा' अस्तिनास्तिभग है, अस्ति के साथ अवक्तव्य धर्म जोड देने से पाँचवाँ भग अस्ति अवक्तव्य है नास्ति के साथ अवक्तव्य भग जोड़ देने छठा भग नास्ति अवक्तव्य होता है, अस्ति के साथ नास्ति और अवक्तव्य भग जोड देने से सातवाँ अस्तिनास्ति अवक्तव्य भग होता है। सार यह है कि स्वतन्त्र धर्म तीन है और द्विसयोगी धर्म तीन हैं और त्रिसगी धर्म एक है। इस प्रकार कुल सात भग हैं। ये सात भग सात दृष्टियाँ हैं अतः इन्हे नय भी कहा जा सकता है मूलभूत तीन वस्तुओ के साथ ही भग हो सकते है। जैसे नमक, मिर्च, खटाई के सात हो स्वाद होते है। जितने मूलभूत धर्म हैं उतने बार दो सख्या को परस्पर गुणा करने से जो गुणनफल प्राप्त हो उसमें से एक कम कर देने पर भगो की संख्या निकल आती है। उदाहरण के लिये यदि मूल धर्म ४ है तो चार बार दो की संख्या रखकर उसका गुणा करने से १६ होते है उसमें एक कम कर देने

१. नासतोविद्यतेभावो नाभावो विद्यते सतः ॥

से १५ होते हैं। बस चार वस्तुओं के द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी, और चतु:संयोगी भंग मिलकर १५ ही हो सकते हैं।

प्रश्न हो सकता कि जब मूलभूत धर्म बहुत हो सकते हैं तो उनके संयोगी भंग भी बहुत हो सकते हैं फिर जैन दर्शन में सर्वत्र सप्तभंगी का ही प्रदर्शन क्यो मिलता है इसका उत्तर यह है कि पृथक्-पृथक् द्रव्यो के पृथक्-पृथक् धर्म हैं अतः उनकी सख्या अनन्त है। उन सबका इस प्रकार वर्गीकरण नही किया जा सकता जिनमें सभी द्रव्य और उनके अनन्त गुणों का समावेश हो जाय।

किन्तु सत् कहने में सभी द्रव्य और उनके अन्वयीगुण अन्तर्भूत हो जाते है अत एक अस्तित्व धर्म ले लिया और दूसरा इसका प्रतिपक्षी नास्तित्व ग्रहण कर लिया है। ये दोनो धर्म सभी द्रव्य, उनके सभी गुण-पर्यायों के साथ लग सकते है। यह स्मरण रखना चाहिये कि सप्तभंगी का व्यवहार परस्पर प्रतिपक्षी धर्मों में ही होता है। इसलिये उनमें विधि प्रनिषेध कल्पना का होना अनिवार्य है।[1] कोई भी गुण ले लीजिये सप्त-भंगी नय का अवतरण करने के लिये एक विध्यात्मक दूसरा निषेधात्मक होना चाहिये। उदाहरण के लिये वस्तुत्वगुण को लेकर इस प्रकार सातभग होगे :—१ स्याद्वस्त्वेव, २ स्यादवस्त्वेव, ३ स्यादवक्तव्य एव, ४. स्याद्वस्त्ववस्त्वेव, ५. स्याद्वस्त्ववक्तव्यएव, ६. स्यादवस्त्ववक्तव्य एव ७. स्याद्वस्त्ववस्त्वक्तव्य एव।

इन भंगों मे 'स्यात्' और 'एव' ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। 'स्यात्' शब्द सकेत करता है कि पदार्थ उतना ही नही है और भी है तथा एव शब्द बतलाता है कि और भी होने से उतने को संशयात्मक नही मान लेना चाहिये। क्योंकि जो धर्म जिस अपेक्षा से कहा जाता है उस अपेक्षा से वह वही है उसमे कोई सशय नही है अत 'स्यात्' और 'एव' ये दोनो शब्द वस्तु के स्वरूप को सतुलित रखते है। 'स्यात्' शब्द उसको न्यूनता से रोकता है और एव शब्द उसको अतिरिक्तता से रोकता है। न्यून और अतिरिक्तता से रहित यथार्थ, अविपरीत और असदिग्ध ज्ञान को सम्यक्ज्ञान कहा है।[2]

उक्त कथन से यह बात फलितार्थ हुई कि जिस वस्तु को जिस दृष्टि से जैसा कहा जा रहा है उस दृष्टि से वह वैसी ही है। उसे असत्यार्थ कहना वस्तु स्वरूप से अनभिज्ञता प्रकट करना है। ये दृष्टियाँ ही शास्त्रीय भाषा मे नय कहलाती हैं। अतः प्रत्येक नय का विषय सत्य है असत्य नही है। वस्तु भले ही नही भी हो फिर भी कोई नय उसके अस्तित्व का प्रतिपादन करता है तो वह है उससे इन्कार नही किया जा सकता। उदाहरण के लिये सात नयो मे नैगम नय सकल्प मात्र को ही वस्तुरूप से ग्रहण करता है। भात बनाने के लिये समिधा इकट्ठे करने वाले से उसके काम के बारे मे पूछा जाय तो वह यही कहेगा कि मैं भात बना रहा हूँ। यद्यपि वहाँ भात नही है भात का मात्र सकल्प है फिर भी उसका यह कहना कि मै भात बना रहा हूँ सत्य है। अत ये नय असत् को भी सत बनाते है फिर भी सम्यक्ज्ञान के अश है। किसी भी बात की वास्तविकता वक्ता के अभिप्राय मे जानी जा सकती उसके शब्दो या व्यवहार से नही। इसलिये नयो के लक्षण मे स्पष्ट लिखा है—"ज्ञातुरभिप्रायो नय." अर्थात् ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते है। ये अभिप्राय असंख्य होते है इसलिये वस्तुतः नयो की सख्या नही है फिर भी जैनदर्शन मे इनको सीमित करने का प्रयत्न किया गया है। अतः आगम में सर्वत्र सात नय दृष्टिगोचर होते हैं। जिन्हे क्रम से नैगमनय, सग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय, एवभूतनय कहा जाता है। नैगम नय जैसा कि ऊपर बताया

१. एकस्मिन्वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेध कल्पना सप्तभगी।—त वा.

२. अन्यूनमनतिरिक्तं, याथातथ्य विना च विपरीतात्।
नि सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिन.॥३०२॥—र श्रा

गया है वस्तु का अभाव होने पर भी केवल उसके सकल्प मात्र से उसे सत् रूप ग्रहण करता है। अतः यह नय असत् को सत् मानकर चलता है।

दूसरा संग्रहनय विभिन्न पदार्थों को एक देखता है। प्रत्येक पदार्थ की अपनी-अपनो सत्ता पृथक् है पर इसे सत्ता पार्थक्य से कोई मतलब नही। वह तो जितने पदार्थ पृथक्-पृथक् सत्ता को लेकर स्थित है उन सबको एक 'सत्' से ग्रहण करना चाहता है। यहाँ असत् को तो सत् नही मानता किन्तु अनेक अस्तित्वों को एक सत् मानकर चलता है। इसलिए प्रथम नय से सूक्ष्म होकर भी अनेकता मे एकता रखने से स्थूल विषय को स्पर्श करता है। सभी प्राणधारियो को एक जीव शब्द से कहना इसका उदाहरण है।

तीसरा व्यवहार नय उसी एक सत् को अनेक रूप मे देखता है। जब पदार्थ अनेक है तो उनके अस्तित्व भी अनेक होना चाहिये अत सत् को भेद रूप ग्रहण करना ही इस नय का लक्ष्य है। इसका उदाहरण है जीव आदि मूलभूत सत् के भेद-प्रभेद की ओर सकेत करना। द्वितीय नय की अपेक्षा यह अधिक सूक्ष्म विषय को ग्रहण करता है क्योकि सत् ओर सत् के खण्ड स्वत ही महा और अल्प परिणाम को धारण करते हैं अतः इनकी स्थूलता और सूक्ष्मता स्वतः सिद्ध है।

चौथा ऋजूसूत्र नय विभक्त सत् मे भी उसकी वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता है। सत् नियमत कालभेद से रहित है। जोव जो वर्तमान मे है वह मरने के बाद भो भविष्य मे जीव ह्रो रहेगा और उत्पत्ति के पहले भी भूतकाल मे जोव ही था। हाँ योनियो की अपेक्षा वर्तमान मनुष्य योनि का जीव मरने के बाद भविष्य में मनुष्य नहो भी रहेगा। अत यह नय खण्डभूत सत् की वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करता है। क्योंकि सत् मे कालभेद न होने पर भी उसकी पर्याय मे कालभेद है अत यह नय वर्तमान कालीन पर्याय को ग्रहण करने से तीसरे नय की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। इसका उदाहरण जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त जीव सत् को मनुष्य जीव पर्याय से ग्रहण करना है।

पाँचवाँ शब्दनय है—सत् की वर्तमान पर्याय मे भी यदि उसमे लिग, कारक, वचन आदि का भेद है तो उस पर्याय मे भी भेद है अत. उस वर्तमान पर्याय मे भी भेद करना इस नय का विषय है। यही इस नय की पूर्व नय से सूक्ष्मता है। उदाहरण के लिए मनुष्य योनि की अपेक्षा दार, भार्या और कलत्र मे कोई अन्तर नही है पर दार शब्द पुल्लिग है, भार्या शब्द स्त्री लिग है और कलत्र शब्द नपुसक लिग है अत इस लिंग भेद से तीनो के वाच्य अर्थ में भिन्नता है।

छठा समभिरूढ नय है—इस नय की अपेक्षा लिंग भेद, कारक भेद, वचन भेद न भी हो किन्तु एक ही अर्थ के वाचक यदि दो शब्द है तो वाच्य अर्थ भी दो ही होगे स्त्री और भार्या इनमे कोई लिंगादि का भेद नहो है फिर भो चूँकि दोनो शब्दो की व्युत्पत्ति पृथक्-पृथक् है इसलिए व्युत्पत्यर्थ भी पृथक्-पृथक् ही हैं। यह नय एक ही लिंगादि रहने पर भी वस्तु को शब्द भेद से ही वस्तु में भेद करता है अत. यह पाँचवे नय से अधिक सूक्ष्म है।

सातवाँ एवभूतनय है—शब्द भेद से अर्थ भेद होने पर भी जब तक वह अर्थ अपनी अर्थ क्रिया में परिणत नहो है तब तक वह उस शब्द से नही कहा जायेगा। अर्थात् शब्दवाच्य अर्थक्रिया परिणत पर्याय ही उस शब्द का वाच्यार्थ हो सकती है। जैसे कामिनी शब्द कोष के अनुसार स्त्रीवाचक है पर जब वह कामक्रीड़ा करती हो तभी कामिनी कही जा सकती है, रोटी बनाते या चक्की पीसते समय नही। पर्याय, शब्द के अनुसार यदि भाव से भी उपलक्षित हो तो वह एवंभूतनय का विषय है।

यह संक्षेप में सात नयो का स्वरूप है। इनको एक दृष्टि में इस प्रकार समझा जा सकता है—

१. नैगम नय — असत्ग्राही।
२. सग्रह नय — सत्ग्राही (महासत्ता का ग्राहक)।
३. व्यवहारनय — अनेक सत्ग्राही (अवान्तर सत्ता का ग्राहक)
४. ऋजुसूत्रनय — विवक्षित सत् की वर्तमान पर्याय का ग्राही।
५ शब्दनय — वर्तमान पर्याय में भी लिंगादि भेदग्राही।
६. समभिरूढनय — लिंगादि भेद मे भी शब्द भेद ग्राही।
७ एवभूतनय — शब्द भेद मे भी अर्थ क्रिया ग्राही।

यो इन नयो के देखने से इनके अलग विषयो की झांकी हो जाती है साथ ही इनकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता भी समझी जा सकती है।

इन नय को जैनाचार्यों ने और भी सीमित किया है। यहाँ तक कि इन सात नयो को निम्न दो नयो में गर्भित कर लिया गया है—एक द्रव्यार्थिक दूसरा पर्यायार्थिक। जो नय द्रव्य की प्रधानता से वस्तु को आंकता है वह द्रव्यार्थिक नय है और जो पर्याय की प्रधानता से आंकता है वह पर्यायार्थिक नय है।

उक्त सात नयो मे से पहले के तीन द्रव्यार्थिक नय मे गर्भित होते हैं क्योंकि ये सत् की प्रधानता रखते है पर्याय की नही। सत् को द्रव्य का लक्षण माना गया है। शेष चार नय सत् की नही किन्तु पर्याय की प्रधानता रखते है अत ये पर्यायार्थिक नय हैं।

कही-कही इन्हे अर्थनय और शब्दनय से भी कहा गया है। इनमे पहले के चार नय अर्थनय हैं और बाद के तीन नय शब्द नय हैं।[१] क्योंकि ऋजुसूत्रनय तक केवल अर्थ की दृष्टि से ही पदार्थों को देखा गया है और बाद मे शब्द की दृष्टि से पदार्थ का विश्लेषण किया गया है। इस पृथक्-पृथक् नामकरण मे केवल दृष्टि भेद है। अन्य कोई अन्तर नही है। मूलत ये सात नय उक्त दोनो नयो में ही अन्तर्भूत हो जाते है। अत हमारे सामने दो नय है एक द्रव्यार्थिकनय दूसरा पर्यायार्थिक नय। तथा पहले निश्चय नय और व्यवहार नय की भी चर्चा की जा चुकी है। देखना यह है कि इन दोनो प्रकार के युगल नयो की स्थिति क्या है ? और दोनों में परस्पर क्या भेद है ? या नही भी है।

जैनाचार्यो ने जसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय को मूल दो नय माना है वैसे ही निश्चय और व्यवहार को भी मूल दो नय माना है।[२] साथ मे यह भी कहा है कि द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक निश्चय साधन के हेतु है। सिद्धान्त के उदभट विद्वान् पडित गोपालदास जी बरैया ने निश्चय व्यवहार को मूल नय मानकर निश्चय के दो भेद किये है। एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। किन्ही विद्वानो का यह भी मत है कि निश्चयनय ही द्रव्यार्थिक है और व्यवहार नय ही पर्यायार्थिक है।[३] वस्तुत बात यह है कि नय जैसे पदार्थ मे दृष्टि भेद रखते हैं वैसे वे स्वय भी दृष्टि भेद के विषय है। इसलिए उनको परिभाषा प्रयोग और प्रकरण के अनुसार की जाती है। द्रव्यार्थिक के जहाँ दश भेद गिनाये हैं[४] उनमे नैगमादि तीन नयो का अन्तर्भाव नही

---

१. पढमतिया दव्वत्थी पज्जयगाही य इयर जे भणिया।
ते चदु अत्थपहाणा सद्पहाणा हु तिण्णिणया॥—द्रव्य स्वभाव प्रकाश २१६

२. णिच्छयववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाण।
णिच्छयसाहणहेउ पज्जयदव्वत्थिय मुणह॥१८॥—द्र. स्व. प्र. १८२

३ पर्यायार्थिकनय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति। प० अ. ५२१

४. देखो आलापपद्धति।

होता फिर भी उन्हें द्रव्यार्थिक स्वीकार किया गया है। यदि वे द्रव्यार्थिक हैं तो कम से कम उन दस भेदों की अपेक्षा से तो नही हैं। अत यह स्वीकार करना चाहिये कि द्रव्यार्थिक नय बहुत हो सकते हैं। स्वयं नयचक्र के रचयिता आचार्य देवसेन ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं 'मूल में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही नय हैं अन्य सख्यात असख्यात जितने भी नयों के भेद हैं वे सब उन्ही दो नयो के भेद समझना चाहिए।[1] इसलिये यह आवश्यक नही कि द्रव्यार्थिक के जिन दश भेदों की चर्चा है उनमें नैगमादि नय अन्तर्भूत होना ही चाहिए। इन दश भेदो की तरह नैगमादि तीन नय भी द्रव्यार्थिक के स्वतन्त्र भेद हो सकते है।

शास्त्रो मे नयो का तीन प्रकार से उल्लेख है मूल नय, नय, उपनय। मूलनय दो हैं, नय सात (नैगमादि) हैं, उपनय तीन है —सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहार नय, उपचरितासद्भूत व्यवहार नय। इन तीन नयो को उपनय माना है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य देवसेन की दृष्टि मे ये उपनय व्यवहारनय के भेद नही हैं अन्यथा वे इन्हे व्यवहारनय के भेदो मे गिनाते। किन्तु इन्हे उपनय के भेदो मे गिनाया है। मूलनय के भेदो को यदि उन्होंने उपनय शब्द से उल्लेखित किया होता तो इन तीन उपनयो को भी व्यवहार नय का भेद समझ लिया जाता पर ऐसा नही है।

द्रव्यस्वभाव प्रकाश ग्रन्थ के इस कथन से कि 'मूल नय दो है निश्चय और व्यवहार इनमे निश्चय के साधन हेतु पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक है' ऐसा मालूम होता है कि अध्यात्म विद्या के क्षेत्र मे ये आगम कथित द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक व्यवहार नय ही है। क्योकि सर्वत्र आगम और अध्यात्म ग्रन्थो मे निश्चय और व्यवहार को क्रमशः साध्य साधन भाव से स्वीकृत किया है।[2] इधर द्रव्यस्वभाव प्रकाश के कर्ता जब द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक को निश्चय का साधन मान रहे हैं तब उनका लक्ष्य उक्त दोनो नयो को व्यवहार नय के अन्तर्भूत कहना ही प्रतीत होता है।

तब प्रश्न यह उठता है कि यदि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक व्यवहार नय की कोटि मे आते है तो निश्चय नय की कोटि मे क्या आएगा ? इसका उत्तर यह है कि द्रव्यार्थिक के दश भेदो मे दसवाँ भेद परमभाव ग्राहक नय है। उसका लक्षण आचार्य देवसेन ने निम्न प्रकार लिखा है—

---

१. 'दो चेव य मूलणया भणिया दव्वत्थ पज्जयत्थगया।
अण्णे असखसखा ते तब्भेया मुणेयव्वा ॥१८३॥—न च.

२. मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चय व्यवहारतः।
तत्राद्य साध्यरूप स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२८॥—तत्त्वानुशासन
'निश्चय रत्नत्रयसाधके व्यवहाररत्नत्रयेऽस्थितस्य । गा. २३६ की ता वृ. ॥
निश्चय व्यवहार नययो परस्पर साध्यसाधक भावदर्शनार्थम्' ॥२३६॥ ता. वृ.
णिच्छय सज्झसरूव सराय तस्सेव साहण चरण।
तम्हा दो वि य कमसो पडिज्जमाण पबुज्झेहि ॥३२९॥—द्रव्यस्वभाव प्रकाश.
णो ववहारेण विणा णिच्छयसिद्धो कया वि णिद्दिट्ठा।
साहणहेऊ जम्हा तस्स य सो भणिय ववहारो ॥२९६॥—द्र. स्व. प्र.
निश्चयस्साधकत्वाद् व्यवहारनयः सप्रयोजनः ॥ गा० २९६ ता. वृ.

णिहृद दव्व सहावं असुद्ध सुद्धोपचार परिचत्तं ।
सो परमभावग्राही णायव्वो सिद्धिकामेण ॥२९॥—न. च.

अशुद्ध शुद्ध और उपचार (व्यवहार) से रहित जो द्रव्य स्वभाव को ग्रहण करता है वह सिद्धि के इच्छुक पुरुष को परम भाव ग्राही नय जानना चाहिये ।

इस गाथा मे अशुद्ध और शुद्ध से मतलब अशुद्ध निश्चयनय और शुद्ध निश्चयनय से है तथा उपचार का अर्थ व्यवहार हैं । यह अशुद्ध और शुद्ध निश्चयनय प्रकारान्तर से द्रव्यार्थिकनय ही है परम भाव ग्राहक नय में अशुद्धता का प्रश्न ही नही है ।

यह परमभाव ग्राहक नय ही अध्यात्म भाषा में निश्चयनय कहा गया है ।

समयसार में निश्चयनय से आत्मा का स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार बताया है—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एव भणति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥६॥ स. सा.

अर्थात् आत्मा का जो यह ज्ञायक भाव है न प्रमत्त है न अप्रमत्त है वह जैसा कुछ अनुभव से ज्ञात है वैसा ही है इसी को शुद्ध कहते है । यहाँ स्पष्ट अप्रमत्त अर्थात् शुद्धता और प्रमत्त अर्थात् दोनो का निषेध किया है और एक ज्ञायक भाव को आत्मा बतलाया है ।

इसी प्रकार आचार्य सातवो गाथा मे लिखते है कि आत्मा के दर्शनज्ञानचारित्र व्यवहारनय से है । निश्चयनय से न ज्ञान है, न दर्शन है न चारित्र है, मात्र एक ज्ञायक भाव है ।

यहाँ भी आत्मा में ज्ञान दर्शन चरित्र का निषेध परमभाव ग्राहक नय से ही बनता है अतः कुन्दकुन्द की दृष्टि मे यह नय ही निश्चयनय है ।

गाथा क्रमाक १४१ मे कुन्दकुन्द ने लिखा है । व्यवहार से जीव में कर्म बद्ध और स्पृष्ट है शुद्धनय से अबद्ध स्पृष्ट है किन्तु गाथा १४२ मे इन दोनो नयो का ही निषेध करते है और कहते हैं कि जीव मे कर्म बद्ध अथवा अबद्ध है ये दो नय पक्ष है लेकिन जो इन दोनों पक्षो से अतिक्रात है वही समयसार है ।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नही कि अशुद्ध और शुद्धनय पक्ष का निराकरण करके परमभाव ग्राहकनय की अपेक्षा से आत्मा को समयसार बतलाया है ।

इस प्रकार कुन्दकुन्द एव उनके सभी टीकाकारो ने निश्चयनय की विवक्षा मे परम भाव ग्राहकनय को ही ग्रहण किया है और उसी दृष्टि से समयसार भूत आत्मा का वर्णन किया है ।

वस्तुतः समयसार में भेद प्रभेदो के लिए स्थान ही कहाँ है । वहाँ तो दो टूक बात है—आत्मा को ज्ञायक भाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कहना व्यवहारनय है चाहे वह द्रव्यार्थिकनय हो या पर्यायार्थिक, शुद्ध निश्चयनय हो या अशुद्ध निश्चयनय अथवा सद्भूत, असद्भूत और उपचरित नय हो, कुन्दकुन्द को इन भेदो से कोई मतलब नही है । परमभाव ग्राहक नय तो उनका निश्चयनय है और इतर शेषनय व्यवहारनय है । इन दो ही दृष्टियो से वे आत्मा का वर्णन करते जाते है । उनके यहाँ आत्मा की दो ही दशा है ज्ञानी और अज्ञानी निर्विकल्प अवस्थावान् आत्माज्ञानी है । शेष अज्ञानी है । जब आत्मा-आत्मा मे तन्मय है तब अन्तरात्मा है, और ज्यों ही आत्म चिंतन मे अलग हुआ कि वह बहिरात्मा है । परभाव से हटकर जब वह स्वभाव मे है तभी वह प्रतिक्रमण रहित है, जो अमृतस्वरूप है, आगम मे वर्णित दैवसिक पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण करना विषकुम्भ है । जो श्रुत से आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है और जो सपूर्ण श्रुत को जानता है वह तो व्यवहार से केवली है । इस प्रकार आत्मा के एक ज्ञायक भाव को छोड़कर उसकी सभी दशाएँ चाहे वे कर्मोपाधि

निरपेक्ष हों वा कर्मोपाधि सापेक्ष व्यवहारनय के अन्तर्गत हैं। उनके यहाँ द्रव्य की अभेद और स्वाश्रित अवस्था ही निश्चयनय है। वह वक्तव्य नही है क्योंकि वचन मात्र व्यवहार है इसलिए कुन्दकुन्द कहते हैं कि व्यवहारनय निश्चय से प्रतिषिद्ध है अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध में व्यवहार दृष्टि का प्रतिबंध ही निश्चयनय का विषयभूत आत्मा है।

सार यह है कि आगम मे मूलनय दो हैं—द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक इनके उत्तर भेद संख्यात असंख्यात है। आध्यात्मचिंतन में निश्चय और व्यवहारनय है इनके कोई उत्तर भेद नही हैं। समयसार मे इन्ही दो नयो के आश्रित कथन है। इसमे निश्चय को प्रधानता दी है और व्यवहार को गौणता। निश्चयनय को शुद्धनय, परमार्थ, भूतार्थ आदि नाम से पुकारा गया है और व्यवहार को अशुद्धनय, अपरमार्थ, अभूतार्थ।

यह स्मरण रखना चाहिये कि कोई भी कथन किसी एक नय को प्रधान करके ही हुआ करता है। तत्त्वार्थसूत्र मे उमास्वाति आचार्य ने 'अर्पितानार्पित सिद्धेः' कहकर इसी नय सबधी प्रधानता अप्रधानता की ओर सकेत किया है। इसका अर्थ यह नही है कि प्रधान नय सत्यार्थ है और गौण नय असत्यार्थ है। किन्तु अभिप्राय इतना ही है कि जिस नय की प्रधानता से जो बात कही जा रही है वही उस समय भूतार्थ है शेष तत्सम्बन्धी नय अभूतार्थ है।

यदि व्यवहारनय की प्रधानता से कोई कथन किया गया हो तो उस समय वही भूतार्थ है निश्चयनय अभूतार्थ है। नयों के भूतार्थ होने मे यही रहस्य है। घडे का उदाहरण लेकर अधिकाश लोग कहा करते हैं घडा तो मिट्टी का ही होता है उसे घी का कहना असत्य है क्योकि घी से घडा नही बनता। पर वे यह भूल जाते हैं कि घट निर्माण की अपेक्षा से ही उसे मिट्टी का कहना सत्य है लेकिन घृत आधेय की अपेक्षा से वह मिट्टी का नही है असत्य है। घी विक्रेता के यहाँ घी का घडा ही मिलेगा मिट्टी का नही जबकि कुम्भकार के यहाँ मिट्टी का ही घडा मिलेगा घी का नही। यदि घी का घडा नही होता—तो घी विक्रेता तुरन्त कहता कि कही घडे भी घी के होते है इसलिए घी का घडा कहना उतना ही सत्य है जितना मिट्टी का घडा कहना। हाँ कुम्भकार के यहाँ घी का घडा माँगना अभूतार्थ है और घी विक्रेता के यहाँ मिट्टी का घडा माँगना अभूतार्थ है। किन्तु अपने-अपने स्थान पर दोनो ही भूतार्थ है।

'का' विभक्ति का प्रयोग निश्चित नही है कि वह उपादान उपादेय सबध को प्रदर्शित करने के लिये ही किया जाय उसका प्रयोग आधार आधेय सबध, स्व स्वामी संबध, कर्त्ता कर्म संबध, विषय विषयी सबध, व्याप्य व्यापक सबंध, सहयोग सबध, संयोग संबध, वाच्य वाचक सबध, क्रिया कारक संबध, गुण गुणी सबध, जन्य जनक आदि संबन्ध, आदि अनेक सम्बन्धो को प्रदर्शित करने के लिये होता है। उदाहरण के लिये—

मिट्टी का घडा	उपादान उपादेय संबध	प्रदर्शित करता है
घी का घडा	आधार आधेय संबध	,, ,,
देवदत्त का घडा	स्व-स्वामी ,,	,, ,,
कुम्हार का घडा	कर्ता कर्म ,,	,, ,,
ज्ञान का ज्ञेय	विषय विषयी ,,	,, ,,
नीम का पेड	व्याप्य व्यापक ,,	,, ,,
गाडी का घोडा	सहयोग ,,	,, ,,
आँगन का पेड	संयोग ,,	,, ,,
गंगा का प्रवाह	वाच्य वाचक ,,	,, ,,
देवदत्त का जाना	क्रिया कारक ,,	,, ,,

इन प्रयोगों में जहाँ वक्ता के अभिप्राय की पूर्ति होती है वह भूतार्थ है शेष अभूतार्थ है। निश्चय नय और व्यवहार नय की भी यही स्थिति है।

निश्चय नय से अध्यात्म कथन मे उक्त सभी सम्बन्ध केवल आत्मा के साथ प्रयुक्त होते हैं वहाँ आत्मा का उपादान आत्मा ही है। आत्मा का आधार आत्मा ही है आत्मा का स्वामी आत्मा है, आत्मा का कर्म आत्म परिणाम ही है[1], आत्मा का विषय आत्मा ही है आत्मा का। व्याप्य आत्मा ही है। क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार पर पदार्थों से आत्मा को विभक्त बताने के लिये यह आवश्यक समझते हैं कि आत्मा का परपदार्थ से कोई सबध न बताया जाय। उसे एक और अद्वैत रूप में आत्मा को प्रदर्शित करने के लिये निश्चय नय को उन्होने प्रधानता दी है इस भूमिका को समझ लेने के बाद समयसार के उस निश्चय नयो कथन को समझा जा सकता है जिसमे कुम्भकार आदि को घट पट के कर्तृत्व का निषेध किया है। नयों का जो विषय है और उनका जैसा कुछ विस्तार है उन सब का इस अध्याय मे वर्गीकरण तथा प्रयोजन के आधीन, उनकी समकक्षता को भी समझाया गया है सम्यक्-दृष्टि बनने के लिये यह आवश्यक है इन नयो की उपयोगिता और प्रयोग कुशलता को समझा जाय। जो इन नयों में से किसी एक नय को ही सत्य मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि इस समयसार भूमि को वही प्राप्त करता है यो स्याद्वाद की कुशलता से तथा उपेक्षा सयम धारण करके प्रतिदिन आत्मा की उपासना करता है एव ज्ञान और आचरण की मैत्री का पात्र बनकर आचरण करता है[2]। यह स्याद्वाद की कुशलता नय ज्ञान के बिना नही होती।[3] क्योकि तत्त्व अनेक विकल्पो (नयो) से साध्य है इसलिये जो एक विकल्प से ही तत्त्व की सिद्धि चाहते है वे एकान्त का प्रसाधन करते है[4] निश्चय नय एक विकल्प है इसलिये तन्मात्र ही वस्तु को नही समझना चाहिये। निरपेक्ष निश्चय नय एकान्त है और सापेक्ष सभी नयो का समूह अनेकान्त है।[5] सम्यक्दृष्टि के लिये अनेकान्त दृष्टि रखना आवश्यक है अन्यथा उसकी दृष्टि सम्यक् नही कही जा सकती।[6] अनेकान्त दृष्टि के रखने के बाद ही सम्यग्दृष्टि स्वानुभव करते समय यह सोच सकता है है कि यह आत्मा अनेक शक्तियो का समुदाय है।

यदि इसे (एकान्त दृष्टि से) एक-एक नय द्वारा देखा जायगा तो यह खण्ड-खण्ड होकर नष्ट हो

---

१. यः परिणमति स कर्ता, य परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्न न वस्तुतया ॥५१॥—स मा क.

२. स्याद्वादकौशल सुनिश्चिलसयमाभ्या यो भावयत्यहरह स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्र मैत्री-पात्रीकृत श्रयति भूमिमिता स एक ॥२६७॥—स सा क

३. जम्हा णएण विणा होइ ण णरस्स सियवायपडिवत्ती।
तम्हा सो बोहव्वो एयत हतुकामेण ॥१७४॥—न च गा न.

४. तच्चं विस्सवियप्पं एयवियप्पेण साहए जो हु।
तस्स ण सिज्झइ वत्थु किह एयन्तं पसाहेदि ॥१७६॥—न. च. गा.

५. एयंतो एयणओ होइ अणेयंत तस्स सम्मूहो।
त खलु णाणवियप्पं सम्म मिच्छ च णायव्वं ॥१८०॥—न च.

६. जे णयदिट्ठिविहोणा ताण ण वत्थूसहावउवलद्धि।
वस्तुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं हुंत्ति ॥१८१॥

जायगा। फिर भी खण्डो का निराकरण न करते हुए मैं एक अखण्ड, एकांत, शान्त, अचल और चैतन्य तेज हूँ।[1]

आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि सम्यग्दृष्टि के ही ज्ञान वैराग्य की शक्ति नियत होती है क्योंकि पर रूप से रहित स्व को पहचानने का वह अभ्यास करता है। और अभ्यास हो जाने के बाद सम्पूर्ण पर राग से विरत होकर अपने में ही स्थिर हो जाता है। अत: सम्यक्दृष्टि नयो के सहारे ही वस्तु तत्त्व की पहचान कर हेय उपादेय को समझना है और बाद में उन नयो को छोड कर अपने कार्य मे लग जाना है।



१. चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा, सद्य: प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमान ।
तस्मादखण्डमनिराकृतखंडमेकमेकान्तशान्तमचल चिदह महोऽस्मि ।।२७०।। स. क.

आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में निश्चयनय और व्यवहारनय

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित समयसार को लेकर अनेक लोगो की यह धारणा है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय दृष्टि को लेकर ही समयसार की रचना की है व्यवहार नय को उन्होने छुआ तक नही है क्योंकि वे समयसार के प्रारम्भ में ही व्यवहार नय को अभूतार्थ कह चुके है। अत: कुन्दकुन्द की दृष्टि में व्यवहारनय हेय है मात्र एक निश्चय नय ही ग्राह्य है और उसी को लेकर उन्होने समयसार की रचना की है। पर यह लोगों की भूल है उनके लिए दोनों ही नय समकक्ष है और दोनो नयो को लेकर ही उन्होने समयसार तत्त्व की विवेचना की है। व्यवहार नय द्वारा प्रतिपादित विषय की तुलना मे निश्चय नय द्वारा प्रतिपादित विषय भी वस्तु का स्वरूप है अत उस दृष्टि को सामने रखकर उन्होने निश्चय प्रतिपादित विषय को लिखना अपना दृष्टिकोण बनाया है। उदाहरण के लिए कूटस्थ नित्यवादी साख्य दर्शन के विरोध मे जैनाचार्य अनित्यता के पक्ष का समर्थन करते हैं तब इसका अर्थ यह नही कि वे नित्यता को मानते ही नही है। इसी तरह अनित्यवादी क्षणिक सिद्धान्त को मानने वाले बौद्धो का जब वे खण्डन करते हैं तब उसका यह अर्थ नही है कि जैनाचार्य अनित्यता को मानते ही नही है अथवा अनित्यता का सिद्धान्त मिथ्या अथवा हेय है। इस प्रकार जो लोग व्यवहार दृष्टि को सामने रखकर ही अब तक आत्मतत्त्व को पहचान करते आए हैं उनके विरोध में उन्हें निश्चय दृष्टि भी सामने रख कर आत्मतत्त्व की पहचान करना चाहिए इसके लिए उन्होंने समयसार की रचना की है। हमारा यह कथन कुन्दकुन्द की इस गाथा से सिद्ध होता है—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबधकहा।
एयत्तस्सुवलभो णवरि ण सुल्हो विहत्तस्स ॥४॥
तं एयत्तविहत्त दाएह अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाण चुक्किज्ज छल णे घेतव्व ॥५॥ —समयसार

अर्थ—काम भोग बन्ध की कथा से तो सभी जीव श्रुत परिचित अनुभूत हैं लेकिन आत्मा सबसे पृथक् एक है यह आज तक किसी ने नही सुना है, न परिचय किया है न अनुभव किया है इसलिए मैं उसी एक और पृथक् आत्मा को अपने पूर्ण अनुभव के आधार पर बताऊंगा। यदि बता सकूँ तो आप लोग ग्रहण करना और कही चूक जाऊं तो छल मत ग्रहण करना।

इस कथन से स्पष्ट है कि आत्मा को रागी, द्वेषी कर्मबद्ध तो सभी जानते मानते आ रहे हैं पर आत्मा इनसे रहित भी है यह किसी ने नही जाना। अत. आचार्य इस ग्रन्थ मे यही बताने जा रहे हैं कि आत्मा जहाँ रागी द्वेषी कर्मबद्ध व्यवहार नय की अपेक्षा से है वही वह राग द्वेष कर्मों रहित भी निश्चय नय की अपेक्षा से है। अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार निश्चय दृष्टि से आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते है पर व्यवहार दृष्टि को भी भुलाते नही है। अत. बीच-बीच में विषय को समझाने के लिए वे व्यवहार दृष्टि का भी सकेत देते जाते हैं। यहाँ हम समयसार के कुछ उद्धरण पेश करेंगे जिनसे पाठक यह समझ सकेंगे कि कुन्दकुन्द अपने कथन के लिए सदा सापेक्ष रहे हैं निरपेक्ष नही।

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एव भणंति सुद्धं णाओ जो उ सो चेव ।।६।।

अर्थ—यह आत्मा निश्चय नय की अपेक्षा न अप्रमत्त है न प्रमत्त है किन्तु ज्ञायक स्वभाव रूप जो है सो है । यहाँ तक कि आत्मा में ज्ञानदर्शनचारित्र भी नही है—किन्तु

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदसण णाण ।
णवि णाणं च चरित्तं ण दंसण जाणगो सुद्धो ।।७।।

हाँ व्यवहार से आत्मा में ज्ञानदर्शन है ऐसा उपदेश है पर निश्चय से आत्मा मे न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है किन्तु शुद्ध ज्ञायक है ।

इसी प्रकार गाथा नं० ६ मे जहाँ शुद्ध निश्चय दृष्टि दो हैं वहाँ गाथा न० ७ मे व्यवहार दृष्टि भी दे दी है । फिर आगे चल कर अपनी इस व्यवहार दृष्टि का भी वे समर्थन करते हैं और उसमे तर्क देते हैं—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउँ ।
तह ववहारेण विणा परमत्थवुएसणमसक्कं ।।८।।

व्यवहार दृष्टि इसलिए आवश्यक है कि उसके बिना निश्चय दृष्टि को नही समझा जा सकता । जैसे अनार्य पुरुष को अनार्य भाषा में ही समझाया जा सकता है ।

गाथा न० ९, १० में भी एक ही विषय का दोनो दृष्टियो को लेकर समझाया गया है जैसे—

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिण तु केवल सुद्ध ।
त सुयकेवलिमिसिणो भणति लोयप्पईवयरा ।।९।।
जो सुयणाण सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाण अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तह्मा ।।१०।।

अर्थ—जो श्रुतज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा को अनुभव करता है वह निश्चय से श्रुतकेवली हैं । किन्तु जो समस्त श्रुत [द्वादशाग] को जानता है वह व्यवहार से श्रुत केवली है क्योकि द्रव्य श्रुत का ज्ञान आत्म-स्वरूप ही है आत्मा से भिन्न नही है ।

यहाँ श्रुतकेवली के विषय में निश्चय व्यवहार दोनो दृष्टि दी हैं ।

आगे चल कर १२ वी गाथा में निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि दोनो के उपदेश के पात्र कौन-कौन हैं यह बतलाते हैं ।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।।१२।।

अर्थ—शुद्ध नय का उपदेश परम भाव के दर्शी (पूर्ण ज्ञान चारित्र वाले) साधुओ के लिए है किन्तु जो अपरम भाव (अपूर्ण ज्ञान चारित्र वाले) में स्थित है उनको व्यवहार नय का उपदेश है ।

यहाँ पर कुन्दकुन्दाचार्य ने दोनो नयों की उपादेयता को बतलाया है और उसके लिए अपेक्षा भेद का भी प्रदर्शन किया है । अर्थात् परम भाव वालों की अपेक्षा निश्चय नय उपादेय है तथा अपरम भाव वालों की अपेक्षा व्यवहार नय उपादेय है ।

इसी गाथा के अन्तर्गत अमृतचन्द्र आचार्य ने दो कलश श्लोक दिए हैं जिनमे इस गाथा के कथन का दृढता से समर्थन किया है । यथा—

जइ जिणमयं पवज्जइ ता माववहार णिच्छए मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ।।

अर्थ—अगर तुम जिनमत में प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों में से किसी को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहार के बिना तीर्थ नष्ट हो जाएगा और निश्चय के बिना तत्त्व नष्ट हो जायगा। आगे पुनः लिखते हैं—

> उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाके, जिन-वचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
> सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षत एव ॥४॥

अर्थ—निश्चय नय एवं व्यवहार दोनो नयो के विरोध को ध्वस करने वाला स्याद्वाद रूप जिनवाणी के अन्दर जो मिथ्यात्व को उगल कर रमण करते है वे शीघ्र ही परम ज्योति स्वरूप आत्मा को देख लेते है जो आत्मा सनातन है एवं नय पक्षो से अक्षुण्ण है।

इस तरह इस श्लोक द्वारा भी स्याद्वाद दृष्टि से दोनो नयो को अमृतचन्द्र आचार्य ने ठीक माना है और दोनों नयों से ही आत्मा के दर्शन होना माना है।

इसके आगे गाथा न० १४ से लेकर पुन. शुद्ध नय की प्रधानता से कथन है और लिखा है—कर्म नोकर्म आदि सबसे पृथक् यह आत्मा है किन्तु गाथा न० २७ मे व्यवहार का समर्थन करते हुए लिखते है कि व्यवहार नय की अपेक्षा वे कभी एक नही है। यहाँ हम गाथा न० २४ से २६ तक की गाथाओ के भाव देते हैं—

"निश्चय नय से आत्मा कर्म से बद्ध नही है, दर्शनज्ञानचारित्र ये तीनो एक आत्मा ही है, कर्म और नोकर्म में हूँ या मै कर्म नोकर्म हूँ। ऐसा कहने वाला अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) है। यह अज्ञानी जीव सचित्त अचित्त तथा सचित्ताचित्त पर द्रव्यो मे यह मैं हूँ मै यह हूँ यह मेरा था मै इसका था। यह मेरा होगा मै इसका होऊंगा इस तरह झूठे विकल्प करता है लेकिन सर्वज्ञ के द्वारा देखा गया यह उपयोगमयी जीव पुद्गल रूप कैसे हो सकता है। यदि पुद्गल रूप हो जाता है तो जीव जड रूप हो जायगा या पुद्गल जड जीव रूप हो जाएगा।

हम यह लिख आए है कि गाथा १४ से लेकर गाथा न० २६ तक कुन्दकुन्द ने शुद्ध नय को लेकर आत्मतत्त्व की विवेचना की है कि यह कर्म नोकर्म आत्मा के नही है। आत्मा इनसे सर्वथा रहित है परन्तु आगे २७वी गाथा मे वे पुन व्यवहार दृष्टि पर आ जाते हैं। वे लिखते है—

> ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
> ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥२७॥

अर्थ—व्यवहार नय तो कहता है कि जीव और शरीर एक है लेकिन नय की अपेक्षा जीव और शरीर कदापि एक नही होगे।

इसके बाद आचार्य कुन्दकुन्द ने पुन निश्चय दृष्टि मे आत्मा का लम्बा विवेचन करते हुए लिखा है—

"केवली भगवान् की स्तुति मे आत्मा से भिन्न केवली के पौद्गलिक शरीर की स्तुति करने से मुनि ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवान् की स्तुति की पर निश्चय से शरीर की स्तुति से केवली भगवान् की स्तुति नही होती किन्तु केवली के गुणो की स्तुति से केवली की स्तुति होती है। इसी प्रकार इन्द्रियो को जीतकर ज्ञान स्वभाव आत्मा को जानने वाला ही जितेन्द्रिय कहलाता है। मात्र द्रव्येन्द्रियाँ जीतकर जितेन्द्रिय नही होता। इसी प्रकार मोह को जीत कर ही यह जीव क्षीणमोही होता है। सब पदार्थ मुझसे पर है यह जानकर जो पर पदार्थों का त्याग करता तभी उसका नाम प्रत्याख्यान है। मै एक शुद्ध दर्शन ज्ञानमयी अरूपी

हैं। अन्य परमाणु मात्र भी मेरा कोई नही है। आत्मा का न जानते हुए मूढ़ पर द्रव्य को अपना कहते हैं। इसीलिए वे रागादि अध्यवसान को भी अपना ही मानते हैं लेकिन ये सभी अध्यवसानादि भावपुद्गल द्रव्य के परिणमन से निष्पन्न है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है फिर वे भाव जीव के हैं यह कैसे हो सकता है।" (गाथा २८ से गाथा ४५ तक)

अपने इस शुद्ध नय के लम्बे कथन के बाद आचार्य पुन. व्यवहार नय पर आ जाते हैं अतः व्यवहार के समर्थन मे लिखते है—

यदि अध्यवसानादि भाव पुद्गल स्वभाव है तो उन्हें आगम में जीव के भाव क्यों कहा है ? उत्तर—

ववहारस्स दरिसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ।।४६।।

अर्थ—व्यवहार दृष्टि को लेकर ही जिनेन्द्र भगवान् ने इन अध्यवसानादि भावो को जीव कहा। जैसे—

राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ।।४७।।
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं।
जीवोत्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ।।४८।।

अर्थ—सेना समुदाय चढाई के लिए निकलने पर राजा निकला ऐसा जाना है हालाकि उस सेना के साथ राजा नही है ठीक उसी तरह से अध्यवसानादि भावो को जीव कह दिया जाता है हालाकि अध्यवसानादि भाव पुद्गल के परिणमन जीव के उत्पन्न हुए हैं किन्तु जीव के अपने नही हैं।

पुन आगे चलकर शुद्ध नय से आत्मा का वर्णन करते हुए ५० से ५५ गाथा तक लिखा है—

"वर्ण रस, गन्ध, राग, द्वेष, उदय, स्थान, योगस्थान, गुणस्थान, मार्गणा आदि जीव मे नही हैं"— किन्तु ५६वी गाथा मे पुन. व्यवहार नय पर आ जाते हैं और लिखते है—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणताभावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ।।५६।।

अर्थ—वर्णादिक से लेकर गुणस्थान पर्यन्त ये भाव व्यवहार नय को अपेक्षा से हैं निश्चय नय की अपेक्षा से नही है। जैसे—

एएहिं य सबधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ।।५७।।

जैसे नीर और क्षीर का परस्पर एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है उसी तरह जीवादिक और वर्णादिक का सम्बन्ध जानना। जीव मे उपयोग गुण अधिक है जो वर्णादिक मे नही है।

इसी प्रकार आगे चलकर कर्तृकर्म अधिकार मे शुद्ध नय को दिखाते हुए आत्मा के पर द्रव्य के कर्तृत्व का निषेध किया है किन्तु ८४ वी गाथा मे पुन. कुन्दकुन्द व्यवहार पर आ जाते है और कहते है—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्म करेदि णेयविह।
त चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविह ।।८४।।

व्यवहार नय से आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मा का कर्ता है और उसी तरह अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों को भोगता है।

आगे चलकर आचार्य निश्चय नय को लेकर पुन अकर्तृत्व का प्रतिपादन करते है। और भव्य श्रावक ज्ञेय ज्ञायक भाव का विश्लेषण करते हुए पुन' व्यवहार पर आ जाते हैं यथा—

ववहारेण दु एवं करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ।।९८।।

व्यवहार से आत्मा घट-पट रथ आदि द्रव्यों को करता है तथा विविध प्रकार के इन्द्रिय विषय, कर्म और नो कर्म को करता है।

इस प्रकार व्यवहार दृष्टि देकर पुन. निश्चय दृष्टि को दुहराते है कि आत्मा न घट बनाता है न पट बनाता है आत्मा के योग उपयोग ही उक्त वस्तुओ को बतलाते है। इस कथन को पुनः व्यवहार दृष्टि देते हैं—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ।।१०७।।

अर्थ—आत्मा पुद्गल द्रव्य को उत्पन्न करता है, बाँधता है, परिणमाता है, ग्रहण करता है यह सब व्यवहारनय का कथन है।

इस प्रकार दोनों नयो को यथा स्थान संकेतित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द शिष्य के द्वारा प्रश्न उठाते हैं तब आत्मा कर्मों से बद्धस्पृष्ट है या अबद्ध स्पृष्ट है इस सबध में वास्तविक स्थिति बतलाइए, इसका उत्तर कुन्दकुन्द निम्न प्रकार देते है।

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ।।१४२।।

हमने जो यह कहा है कि व्यवहार नय से जोव कर्मों से बद्ध स्पृष्ट है और शुद्ध नय से बद्ध स्पृष्ट नही है इसका तात्पर्य यह है कि जीव मे कर्मो को बद्ध स्पृष्टता या अबद्ध स्पृष्टता ये दोनो ही नय पक्षपात है। शुद्धात्मा (समयसार) तो इन दोनो पक्षो से रहित है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इसी गाथा को अपने कलश श्लोक मे इस प्रकार स्पष्ट किया है—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपात, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृत पिबन्ति ।।कलश ६९।।

अर्थ—दोनो नयो के पक्षपात छोडकर अपने आत्मस्वरूप मे जो लीन रहते है वे सभी विकल्प जालों से रहित शातचित्त होकर साक्षात् अमृत पान करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इस श्लोक के बाद अपने कथन के समर्थन में २० कलशो को रचना की है। जिनमें नित्य अनित्य, मूढ अमूढ़, एक अनेक, बद्ध अबद्ध, रागी अरागी, द्वेषी अद्वेषी, कर्ता-अकर्ता, भोक्ता अभोक्ता आदि परस्पर विरोधी धर्मो के प्रतिपादक व्यवहार और निश्चय को पक्षपात बतलाया है। और लिखा है जो तत्त्वज्ञानी है वह इन दोनों पक्षपातो से हटकर चित्त सामान्य का ही अनुभव करता है।

मूल ग्रंथकर्ता आचार्य कुन्दकुन्द ने भी मूल गाथाओं में यही विषय प्रतिपादित किया है। यथा—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ।।१४३।।

अर्थ—शुद्ध आत्मस्वभाव मे लीन रहने वाला पुरुष दोनो नयो के विषयो को जानता है। पर दोनो के पक्ष को ग्रहण नही करता, क्योकि नय पक्ष से रहित है।

पीछे की गाथा में भी इसी का समर्थन मिलता है—

कम्म बद्धमबद्ध जीवे एव तु जाण णयपक्ख ।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

अर्थ—जीव मे कर्म बद्ध है या अबद्ध है यह दोनो ही पक्ष है जो इन पक्षों से हटकर कहा जाता है वही समयसार है ।

इस तरह दोनो आचार्यों ने अन्त मे निश्चय और व्यवहार को समान कोटि में ला दिया है । यदि व्यवहार नय एक पक्ष है तो निश्चय नय भी वैसा ही दूसरा पक्ष है, आत्मनय मे लीन होने के लिए दोनों पक्षो की आवश्यकता नही है क्योकि वस्तु समझने तक ही दोनो नयो के पक्षपात की आवश्यकता होती है ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कर्तृकर्म अधिकार मे जहाँ यह लिखा है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्त्ता नही है वही आगे चलकर वे एक द्रव्य को पर द्रव्य का कर्त्ता भी मानते है । कुन्दकुन्द की मूल गाथाओं को देखिये—

सम्मत्तपडिणिबद्ध मिच्छत्त जिणवरेहिं परिकहिय ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिबद्ध अण्णाण जिणवरेहिं परिकहिय ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्तपडिणिबद्ध कसाय जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन को रोकने वाला मिथ्यात्व है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है । उस मिथ्यात्व के उदय से जीव मिथ्यात्वदृष्टि होता है । ज्ञान को रोकने वाला अज्ञान कर्म है उसके उदय से यह जीव अज्ञानी होता है । चारित्र को रोकने वाला कषाय है ऐसा जिनेन्द्रभगवान् ने कहा है उसके उदय से चारित्र भाव होता है ।

इस प्रकार उक्त तीनो श्लोको मे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द पर द्रव्य को कर्त्ता भी मानते है क्योकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये आत्मा के अपने भाव है इनको रोकने वाले मिथ्यात्व ज्ञान और कषाय कर्म अचेतन है जो पर द्रव्य हैं ।

इसी प्रकार आगे बन्धाधिकार मे लिखा है कि जीव के अपने अध्यवसान ही बन्ध के कारण है पर द्रव्य कोई बन्ध के कारण नही है । रागादिक भाव तो अध्यवसान है इसलिए रागादिक से बन्ध होता है पर द्रव्य से नही इस पर शिष्य पूछता है कि रागादिक शुद्ध आत्मा में तो है नही फिर आत्मा मे ये रागादि भाव कहाँ से आए ? इस पर आचार्य कुन्दकुन्द उत्तर देते है—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सय परिणमइ रायमाईहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एव णाणी सुद्धो ण सय परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहि दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

अर्थ—जैसे स्फटिक मणि स्वय स्वच्छ होती है वह स्वय लाल पीले आदि रंगो मे परिणमन नही करती किन्तु अन्य लाल-पीले आदि द्रव्यो मे लाल पीली रग रूप परिणमन कर जाती है इसी प्रकार ज्ञानी आत्मा स्वय शुद्ध है वह अपने आप रागादि रूप परिणमन नही करती किन्तु रागादि दोषों से रागादि रूप परिणमन कर जाती है ।

इन श्लोको मे स्पष्ट रूप से आत्मा के रागादि रूप परिणमन करने मे पर रागादिद्रव्यो को कारण

माना है । और उसकी पुष्टि मे लाल पीले रंग रूप परिणमन करने वाली स्फटिक मणि का उदाहरण दिया है ।

आचार्य अमृतचन्द्र भी इसी का समर्थन करते हुए कहते हैं—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः ।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

अर्थ—आत्मा स्वयं रागादि भाव को कभी प्राप्त नही होता किन्तु रागादि रूप परिणमन करने में पर द्रव्य रागादिक ही कारण है जैसे स्फटिक मणि स्वय लाल आदि रग वाली नही होती किन्तु निकट मे जैसा पर द्रव्य होगा तद्रूप ही वह परिणमन करेगी यही वस्तु का अपना स्वभाव है ।

इस कलश में पर द्रव्य से तद्रूप परिणमन करना अमृतचन्द्राचार्य ने वस्तु का स्वभाव बतलाया है ।

इसके बाद मोक्षाधिकार मे प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारण, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा एवं शुद्धि इन आठो को जो मुनि के लिए आवश्यक है विष कुम्भ बताया है । गाथा इस प्रकार है—

पडिकमण पडिसरण परिहारो धारणा णियत्तो य ।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥३०६॥

अर्थात्—प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि यह आठो जहर के भरे घडे हैं ।

तो फिर अमृत कुम्भ क्या है ? कुन्दकुन्द उत्तर देते है—

अपडिकमण अप्पडिसरण अपरिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्तीय अणिदा गरहा सोही अमयकुभो ॥३०७॥

अर्थ—ऊपर जिनको विष कुंभ बताया है उनसे उल्टे अप्रतिक्रमण अप्रतिसरण आदि अमृत है अर्थात् प्रतिक्रमण आदि न करना ही अमृत कुभ है ।

यह सब कथन आचार्य ने निश्चय दृष्टि को सामने रखकर ही किया है । लेकिन कोई मन्द बुद्धि एकान्तत इनको विष कुम्भ मान कर हेय न बतलाएँ इसके लिए अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यत्र प्रतिक्रमणमेव विष प्रणीत तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।
तत्किं प्रमाद्यति जन. प्रपतन्नधोऽधः किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥१८९॥

अर्थ—जहाँ प्रतिक्रमण को विष कह दिया गया है वहाँ प्रतिक्रमण न करने को अमृत कैसे कहा जा सकता है इसलिए मनुष्य को प्रतिक्रमणदि छोडकर प्रमाद के वशीभूत होते हुए नीचे नही गिरना चाहिए किन्तु प्रतिक्रमण, प्रतिसरण आदि की कोटि से (अर्थात् छठे गुणस्थान से) निकल कर ऊपर शुद्ध पूर्ण वीतराग दशा में पहुँचाना चाहिए जहाँ प्रतिक्रमण आदि अपने आप सब छूट जाते हैं ।

आचार्य कुन्दकुन्द भी ऊपर जहाँ प्रतिक्रमण आदि को विष कह आए है वही आगे चलकर सर्व विशुद्ध अधिकार से प्रतिक्रमण आदि के द्वारा भूत भविष्य वर्तमान के दोषो का निराकरण करने के लिए प्रतिक्रमण आदि की आवश्यकता भी बताते है । वे लिखते है—

कम्म ज पुव्वकय सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तए अप्पय तु जो सो पडिक्कमण ॥३८३॥
कम्म जं सुहमसुह जह्मि य भावह्मि बज्झइ भविस्सं ।
तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाण हवइ चेया ॥३८४॥

जं सुहमुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं ।
जं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया ॥३८५॥
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं य पडिक्कमदि जो ।
णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया ॥३८६॥

अर्थ—पूर्व में जो नाना प्रकार के शुभ अशुभ कर्म किए हैं उनसे जो आत्मा की निवृत्ति की जाती है वह प्रतिक्रमण है ।

आगामी काल बँधने वाले शुभ-अशुभ कर्म जिन भावो से बँधते हैं उनसे आत्मा की निवृत्ति करना यह प्रत्याख्यान है । वर्तमान मे उदय को प्राप्त नाना प्रकार का जो शुभाशुभ कर्म है उससे आत्मा की निवृत्ति करना है वह आलोचना है ।

इस प्रकार जो नित्य प्रतिक्रमण करता है, नित्य प्रत्याख्यान करता है, नित्य आलोचना करता है यह आत्मा नित्य चेतन स्वरूप है ।

इस प्रकार विष कहकर भी कुन्दकुन्द प्रतिक्रमणादिक की उपयोगिता बता रहे हैं ।

आगे चलकर कुन्दकुन्द इसी सर्व विशुद्ध अधिकार मे मुनिलिंग और गृहस्थलिंग दोनो को मोक्षमार्ग होने का निषेध करते है जैसा कि निम्न गाथा से स्पष्ट है—

पासडीलिंगणि व गिहलिंगाणि य बहुप्पयाराणि ।
घितुं वदन्ति मूढ़ा लिंगमिण मोक्खमग्गोत्ति ॥४०८॥

अर्थ—अनेक प्रकार का साधुलिंग या गृहस्थ लिंग को धारण करके मूढ़ पुरुष उसे मोक्षमार्ग बतलाते हैं किन्तु—

ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंग ज देहणिम्मया अरिहा ।
लिंग मुइत्तु दसणणाचरित्ताणि सेयंति ॥४०९॥

लिंग मोक्ष का मार्ग नही है क्योकि लिंग (वेष) देहाधीन होते हैं और अर्हंत भगवान् देह से निर्मम होकर ही मोक्ष को प्राप्त हो सके है ।

वह कथन आचार्य का निश्चय नय की अपेक्षा से है कि वे व्यवहार को भी भुलाते नही है अत. आगे चलकर दोनो लिंगो की उपादेयता भी मानते हैं । जैसा निम्न गाथा से स्पष्ट है—

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे ।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

अर्थ—व्यवहार लिग दोनो को मोक्ष का मार्ग स्वीकार करता है, निश्चय नय मोक्षमार्ग मे सभी लिंगों को निषेध करता है ।

इस तरह हम देखते हैं कि आचार्य कुदकुंद और उनके प्रमुख टीकाकर अमृतचन्द्र निश्चय प्रधान कथन का सहारा लेते हुए भी व्यवहार दृष्टि को नही छोडते और इस तरह अपनी संतुलित दृष्टि को कायम रखते हैं । आचार्य अमृतचन्द्र ने तो अपनी इस संतुलित दृष्टि के लिए स्याद्वाद अधिकार की रचना की है जिसमें उपाय और उपेय भाव का चिन्तन किया है । उन्होने कषाय को व्यवहार और उपेय को निश्चय माना है । अर्थात् दोनों मे साधन (उपाय) साध्य (उपेय) भाव माना है । भेद रत्नत्रय को निश्चय को व्यवहार कहकर उपाय माना है और अभेद रत्नत्रय को निश्चय कहकर उपेय माना है । अर्थात् भेद रत्नत्रय साधन है और अभेद रत्नत्रय साध्य है ।

इस तरह समयसार में सर्वत्र निश्चय व्यवहार दृष्टि को अपनाया है। व्यवहार को कहीं झूठा या हेय नहीं कहा। हाँ इतना अवश्य कहा है कि व्यवहार मे तो सभी श्रुत परिचित और अनुभूत हैं लेकिन निश्चय दृष्टि आज तक भी नही सुना। अतः मैं उस निश्चय दृष्टि को (एक पृथक् आत्मा को) बताऊँगा अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार वे निश्चय दृष्टि का खूब विवेचन करते हैं परन्तु कोई बहक न जाय अत. साथ मे व्यवहार दृष्टि भी देते आते हैं—

आज यद्यपि समयसार को पढने वाले बहुत है पर वस्तुतः वे समयसार को बगल में दबाकर चलने वाले हैं उन्हें न पद पदार्थ का ज्ञान है न चारों अनुभागो का सापेक्ष यथावत् ज्ञान है। ऐसे ही व्यक्तियों के लिए अमृतचन्द्र आचार्य ने लिखा है—

अत्यंतं निशितधारं दुरासद जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्र का नय रूपी सुदर्शन चक्र अत्यन्त तेज धार वाला है, कठिनता से प्राप्त होता है। जो इसको चलाना नही जानते वे अज्ञानी उससे अपना ही गला काट लेते हैं।

व्यवहारनय और निश्चयनय

जैनदर्शन मे वस्तु विवेचन का आधार केवल नय प्रक्रिया है अत' किसी तत्त्व को समझने समझाने के लिये नय विवक्षा ही एक मात्र साधन है। नयो के शास्त्रो मे अनेक लक्षण मिलते हैं उनमे अर्थ भेद न होकर केवल शब्द भेद की ही प्रमुखता रहती है। उन शब्दो की अपेक्षा कर यदि सार भूत कोई अर्थ हो सकता है तो हम नय को 'आपेक्षिक सत्य' कह सकते है। एक ही वस्तु के अनेक पहलू होते है जब जिस पहलू को अपेक्षा होती है तब उसी पहलू का प्रतिपादन आपेक्षिक सत्य बन जाता है। इसका अर्थ यह नही कि वस्तु मे दूसरा पहलू नही होता तो पहले पहलू के साथ 'आपेक्षिक' शब्द की स्थिति ही न्याय संगत नही हो सकती थी।

'आपेक्षिक' शब्द इस बात का सूचक है वस्तु में अन्य पहलू भी हैं लेकिन विवक्षा के रूप मे वे अपेक्षित नही हैं पर किसी दूसरे वक्ता को उस एक ही समय मे वे विवक्षा रूप मे अपेक्षित भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिये वस्तु भेदाभेदात्मक है। अर्थात् वस्तु मे भेद भी है अभेद भी है। एक वक्ता को भेद की विवक्षा (कहने की इच्छा) है और दूसरे वक्ता को अभेद की विवक्षा है तो दोनो ही वक्ता आपेक्षिक सत्य का वर्णन कर रहे है ऐसा समझना चाहिए। सत्य के प्रतिपादक दोनों ही वक्ताओ में से किसी एक को यह अधिकार नही है कि वह दूसरे क विवक्षित पहलू को गलत झूठा या असत्यार्थ अथवा अभूतार्थ कहे।

यदि वह ऐसा करता है तो स्वय मिथ्यावादी है और एकान्त मिथ्यात्व का कदाग्रही है। व्यवहार नय और निश्चय नय की यही स्थिति है। ये दो नय है और दोनो ही अपनी-अपनी विवक्षा को लेकर वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। अत' दोनो ही आपेक्षिक, सत्य है। वक्ता को जब जो विवक्षा अपेक्षित होती है तब वह उसी रूप से वस्तु का कथन करता है। यदि वक्ता को वस्तु मे भेद की विवक्षा है तो वह वस्तु का भेदात्मक कथन करेगा और यदि अभेद की विवक्षा है तो अभेद का कथन करेगा। ये भेदात्मक कथन अभूतार्थ है और अभेदात्मक कथन भूतार्थ है ऐसा विश्लेषण अज्ञानी के हो सकता है ज्ञानी के नही। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नही कि भेदाश्रित कथन व्यवहार दृष्टि है और अभेदाश्रित कथन निश्चय दृष्टि है।

ये दोनो व्यवहार और निश्चय दृष्टि आपेक्षिक सत्य का ही प्रतिपादन करती हैं। यदि यहाँ निश्चय-दृष्टि व्यवहार दृष्टि को अभूतार्थ बतलाती है तो निश्चय दृष्टि उससे पहले अभूतार्थ हो जाती है। निश्चय दृष्टि को ही एकमात्र भूतार्थ मानने वालों को यह नही भूलना चाहिए कि निश्चयनय एक नय ही तो है और नय सदा अशग्राही होता है अर्थात् यह वस्तु के एक देश को ग्रहण करता है सर्व देश को नही। यदि वह वस्तु के सर्व देश को ग्रहण करता तो निश्चयनय की स्थिति से हटकर प्रमाण ज्ञान बन जाता पर जैन दर्शन का एक साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि नय प्रमाण ज्ञान नही है प्रत्युत प्रमाण का एक देश है, ऐसी स्थिति में वस्तु के जितने अश को निश्चय नय ने ग्रहण किया है उसी में उसकी शक्ति क्षीण है तब उससे अतिरिक्त अश को ग्रहण करने वाला कोई दूसरा ही नय होना चाहिये वह नय व्यवहार नय ही हो सकता है। इस-

लिए वस्तु के अतिरिक्त अंश के ग्रहण करने वाला व्यवहार नय उतना ही भूतार्थ है जितना निश्चयनय। अंशग्राही होने से दोनों ही अपने स्थान पर समान बल हैं, सशक्त हैं और वस्तु ग्रहण मे एक दूसरे के पूरक है। अज्ञानी इस पर भी पूछता है कि दोनो नय कितना-कितना टका सत्य है उसे यह पता नहीं है कि वस्तु के स्वरूप में टकों का कोई हिसाब नही है। वस्तु मे जब भेदात्मक और अभेदात्मक है तब उसके स्वरूप में कितना टका भेद है और कितना टका अभेद है यह कहना ही मूर्खतापूर्ण है। भेदात्मक का मतलब है भेद स्वरूप और अभेदात्मक का मतलब है अभेदस्वरूप अर्थात् वस्तु के समग्र स्वरूप मे भेद भी है और अभेद भी है। जब वस्तु का समग्र स्वरूप ही वैसा हो तब उसमे टको का हिसाब लगाकर प्रतिशत की कल्पना करना अव्वल दर्जे की अज्ञानता है फिर भी दुर्जनतोष न्याय से यदि यही हिसाब लगाना है तो कहा जा सकता है दोनो ही पचास-पचास टका सत्य है।

आगमनय और अध्यात्म नय भेद की दुहाई देकर इन दोनों नयो की नय सम्बन्धी स्थिति को नही बदला जा सकता। वे अंशग्राही से पूर्णग्राही नही हो सकते और जब तक पूर्णग्राही नही तब तक किसी एक ही नय को या निश्चयनय को भूतार्थ कहना आकाश कुसुम की कल्पना है। इसी आशय को लेकर अमृतचन्द्र आचार्य ने लिखा है —

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के जिन वचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहा।

सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव॥—स सा क ४॥

अर्थात् दोनो व्यवहार और निश्चयनय के विरोध को ध्वंस करने वाले स्याद्वाद स्वरूप जिन वचनो मे जो रमण करते है व मिथ्यात्व को उगलकर सनातन नय पक्ष से अक्षुण्ण पर ज्योति समयसार का शीघ्र ही साक्षात्कार करते है।

यहाँ पर दोनो नयो के विरोध को दूर कर स्याद्वाद रूप जिन वचनो मे रमण करने की बात कही गई है। पर जब तक व्यवहार नय सर्वथा अभूतार्थ और निश्चय नय सर्वथा भूतार्थ है तब दोनो नयो का विरोध कभी दूर नही हो सकता। विरोध तभी दूर हो सकता है जब दोनो को परस्पर सापेक्ष दशा मे भूतार्थ निरपेक्ष दशा मे अभूतार्थ जाय।

यदि यह कहा जाय कि व्यवहार नय को निश्चय नय की ही अपेक्षा हो किन्तु निश्चय को व्यवहार की अपेक्षा तो 'निरपेक्षानया मिथ्या वस्तु तेऽर्थकृत' के व्यवहार नय सापेक्ष हो सिद्ध होगा और निश्चय नय निरपेक्ष होने से मिथ्या होगा। ऐसी स्थिति मे व्यवहार नय द्वारा प्रतिपादित यह कथन मिथ्या सिद्ध होगा निश्चय भूतार्थवादियो के नही होगा।

हमे आश्चर्य तो उस पर होता है जो यह कह सकती कि बताओ व्यवहार को कहाँ भूतार्थ कहा है और निश्चय को कहाँ अभूतार्थ कहा ह व्यवहार भूतार्थ नही है निश्चय का उसके साथ मिटाने की आवश्यकता क्यो है जब कि शास्त्रकार अमृतचन्द्र स्वयं ही समयसार साक्षात्कार करने के लिये के विरोध मिटाने की बात कहते है। व्यवहार की अभूतार्थ लिये आचार्य कुन्दकुन्द की गाथा का प्रमाण दिया जाता है उस बारे मे जयसेन आचार्य की तात्पर्यटीका को आँखो से ओझल कर दिया जाता है। आ० कुन्दकुन्द की गाथा है —

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।

आचार्य जयसेन लिखते है कि व्यवहार नय अभूतार्थ भूतार्थ दोनो प्रकार का है और शुद्धनय भी अभूतार्थ भूतार्थ दोनो प्रकार का है।

आचार्य अमृतचन्द्रजी ने बिसनी पत्र आदि का उदाहरण देकर व्यवहार नय को भूतार्थ और अभूतार्थ दोनों रूप से विवेचित किया है। यदि शुद्ध नय का जो विषय है उस दृष्टि से व्यवहार नय अभूतार्थ है तो

व्यवहारनय का जो विषय है, उस दृष्टि से शुद्धनय भी अभूतार्थ है। कोई दो विरोधी नय अपनी दृष्टि से ही तो भूतार्थ हो सकते हैं। इसलिए किसी एक नय को सर्वथा भूतार्थ बताना और दूसरे नय को सर्वथा अभूतार्थ बताना आगम का अपलाप है। अत व्यवहारनय और निश्चय नय दोनो ही पदार्थ के सत्य विवेचन मे अपनी दृढ़ स्थिति रखते है।

वस्तु तत्त्व के विवेचन मे व्यवहार नय और निश्चय नय को समान स्थिति है। एक की भी उपेक्षा कर देने पर दूसरा नय अपने आप लगडा हो जाता है। यह बात दूसरी है कि वस्तु की किसी विशेष स्थिति को समझने के लिये हम व्यवहार नय को अनर्पित (गौण) कर निश्चय नय को अर्पित (प्रधान) करें। लेकिन यह बात जैसी निश्चय के विषय मे है वैसी ही व्यवहार नय के विषय मे है वहाँ की वस्तु स्थिति को समझने के लिये कभी निश्चय नय को भी अनर्पित और व्यवहार नय का अर्पित करना होता है।

वस्तु मे अनेक धर्म है उनमे परस्पर विरोधी भी है वे सब उतने ही सत्य है जितनी वस्तु अपने आप में सत्य है। जब धर्म सब सत्य है तब उनके ग्रहण करने वाले नय भी सब सत्य है। यदि निश्चय नय अभेद को ग्रहण करता है तो व्यवहार नय भेद को ग्रहण करता हं यहाँ व्यवहार नय को तभी अभूतार्थ कहा जा सकता है जब वस्तु को भेदाभेदात्मक मान कर केवल अभेदात्मक ही माना जाय। यदि भेदात्मकता और अभेदात्मकता दोनो ही वस्तुगत धर्म हैं तो दोनो की वास्तविकता मे कोई अन्तर नही आ सकता। जब दोनो की वास्तविकता मे कोई अन्तर नही है तब दोनो को ग्रहण करने वाले नयो मे झूठ और सत्य का अन्तर डालना अज्ञान या कषाय जन्य ही कार्य हो सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द की "ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ" इस गाथा का तात्पर्य यह कदापि नही है कि व्यवहार नय को एकान्तत अभूतार्थ माना जाय और निश्चय नय को एकान्ततः भूतार्थ माना जाय बल्कि वही अभिप्राय है जो अभिप्राय आचार्य जिनसेन का है अर्थात् वे भी व्यवहार को अभूतार्थ और भूतार्थ दोनो प्रकार का ही मानते हैं इस सम्बन्ध में उनकी १३ नम्बर की गाथा देखिये। वे लिखते है—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपाव च।
आसवसवरणिज्जरबधो मोक्खो य सम्मत्त।।१३।।

अर्थात्—भूतार्थ रूप से जाने हुये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष, सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण हैं।

यह सब जानते है कि आत्मा के आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा आदि सब व्यवहार नय के विषय है निश्चय नय क नही। जब ये व्यवहार नय से ही प्रतिपाद्य हैं और व्यवहार है अभूतार्थ तब इनके साथ भूयत्थेणाभिगदा यह पद नही देना चाहिये था। किन्तु कुन्दकुन्द जब इन्हें भी भूतार्थ मे जाना हुआ कहते हैं तब निश्चयरूप से वे व्यवहार नय को भी कथचित् भूतार्थ मानते है व्यवहार नय की कथचित् भूतार्थता सिद्ध हो जाने पर निश्चय नय की अभूतार्थता (कथंचित्) सुतरा सिद्ध हो जाती है क्योकि व्यवहार और निश्चय नय परस्पर विरोधी नय हैं जिस अपेक्षा से एक भूतार्थ है उस अपेक्षा से दूसरा अभूतार्थ है अतः जिस दृष्टि से व्यवहार नय भूतार्थ है उस दृष्टि से निश्चय नय अभूतार्थ है लेकिन आश्चर्य है कि सिद्धान्तशास्त्री के आचार्यों को इधर दृष्टि नही पहुचती और वे झट से यह फतवा निकाल देते है कि बताओ निश्चय नय को कहाँ अभूतार्थ कहा है। आखिर कषाय का और कार्य भी क्या हो सकता है। पर्वत अपने गुरु क्षीरकदम्ब के अभिप्राय को समझता था फिर भी वह कषायावेश मे अज का अर्थ न उगने वाले धान्य नही कर सका। इसके हिमायती राजा वसु ने तो और भी कमाल कर दिया था पर्वत के समर्थन मे उसका सिंहासन भूमिसात् हो

रहा था फिर भी वह झूठ का ही समर्थन करता आ रहा था। सोनगढ़ और उनके हिमायतियों की यही दशा है।

जिन अमृतचन्द्र आचार्य के लिये यह कहा जाता है कि वे व्यवहार नय को अभूतार्थ ही मानते हैं वे भी व्यवहार नय को भूतार्थ और अभूतार्थ मानते हैं। वे लिखते हैं कि 'अमूनि जीवादीनि तत्त्वानि भूतार्थेन अभिगतानि सम्यग्दर्शन सम्पद्यन्त एव' अर्थात् ये जीवादि तत्त्व जब भूतार्थ रूप से जाने जाते हैं तब सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करते हैं। इनमे भूतार्थता और अभूतार्थता कैसे घटित होती है इसके लिये आचार्य लिखते हैं—

"बहिर्दृष्टया नवतत्त्वान्यमूनि जीव पुद्गलयोरनादिबन्ध पर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायाभूतार्थानि। अथ एक जीवद्रव्यस्वभावनानुभूयमानतायामभूतार्थानि"।

अर्थ—बाहिरी दृष्टि से ये नवतत्त्व जीव पुद्गल की अनादिबन्ध पर्याय को लेकर एक रूप अनुभव करने पर भूतार्थ है और एक जीव द्रव्य स्वभाव को लेकर अनुभव करने पर अभूतार्थ है।

यहाँ स्पष्ट बहिर्दृष्टि अर्थात् व्यवहारनय की अपेक्षा जीवादि नवतत्त्वो को भूतार्थ स्वीकार किया गया है। यदि व्यवहारनय सर्वथा अभूतार्थ ही होता तो उसके द्वारा प्रतिपाद्य नवतत्त्वो को आचार्य अमृतचन्द्र भूतार्थ न कहते। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द की तरह आचार्य अमृतचन्द्र भी व्यवहारनय को भूतार्थ और अभूतार्थ दोनो ही प्रकार का मानते है, यही बात आचार्य जयसेन ने भी कही है इस तरह आ० कुदकुद, अमृतचन्द्र, जयसेन तीनो आचार्य व्यवहार नय की भूतार्थता और अभूतार्थता स्वीकार करने मे एकमत है। अब इन आचार्यो के पृथक्-पृथक् कथनों के प्रसङ्ग मे यदि 'ववहारोऽभूयत्थो' गाथा को देखे तो स्पष्टतः उसका वही अर्थ है जो जयसेन आचार्य ने द्वितीय व्याख्यान मे कहा है। इसलिये अपेक्षा भेद से निश्चयनय की अभूतार्थता भी उतना ही ध्रुव सत्य है जितनी व्यवहारनय की अभूतार्थता।

इस संबध में आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है—

व्यवहारनिश्चयो यः प्रबुद्धयतत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनाया स एव फलमविफलं शिष्यः॥—पु० सि०॥

अर्थ—व्यवहार और निश्चय को समझ कर जो दोनो मे मध्यस्थ हो जाता है अर्थात् किसी एक नय का पक्षपात नही करता वही शिष्य उपदेश का फल प्राप्त करता है। समयसार मे आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

एकस्य बद्धो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥

अर्थ—एक नय (व्यवहार) कहते है कि जीव कर्मबद्ध है, दूसरा नय (निश्चय) कहता है कि जीव कर्मबद्ध नही है किन्तु आत्मा के सम्बन्ध मे ये दोनो ही पक्षपात है जो तत्त्वज्ञानी पक्षपात रहित होता है उसके लिये चित्त के अतिरिक्त और कुछ नही है।

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र ने दोनो नयो को पक्षपात बताया है। और जो इन पक्षपातों से रहित है उसे तत्त्वज्ञानी बताया है। स्वय आचार्य कुन्दकुन्द ने भी यह अभिप्राय व्यक्त किया है। वे भी दोनो नयो को जानकर मध्यस्थ हो जाने की बात कहते हैं। इस तरह अनेक स्थानो पर दोनो नयो को पक्षपात कहकर दोनो नयों की तुल्य स्थिति और दोनो को ही स्वरूप निमग्नता के लिये त्याज्य घोषित किया है। सार यह है कि वस्तु तत्त्व को समझने के लिये ही दोनों नयो की उपयोगिता है बाद मे इन दोनो की कोई उपयोगिता नही है। आगम भाषा हो या अध्यात्म भाषा दोनो का यही अभिप्राय है।

●

निश्चय और व्यवहार में साध्य-साधन भाव

नय ज्ञान का ही पर्यायवाची शब्द है जो वस्तु के अंश को ग्रहण करते है वे नय है। वस्तु अनेकान्तात्मक [अनेक धर्म स्वरूप है] है और उन अनेक अन्तो [धर्मों] को ग्रहण करने वाले अनेक ही नय [दृष्टियां] हैं। जब वे अनन्त धर्म वस्तु मे एक साथ रहते हैं तब उन्हे ग्रहण करने वाले अनेक नयो का प्रयोग भी एक साथ किया जा सकता है। यह जरूरी नही है कि पर्याय दृष्टि से यदि एक व्यक्ति वस्तु को अनित्य देख रहा है तो दूसरा व्यक्ति सत् की अपेक्षा उसे नित्य न देखे। क्योकि वस्तु मे जब नित्यत्व और अनित्यत्व दोनो धर्म युगपत् रहते है तो दोनो विवक्षायें भी युगपत् की जा सकती है। युगपत् की जानेवाली विवक्षाओ मे एक साध्य हो दूसरा साधन हो यह सभव नही है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि साधन पहले होता है और साध्य बाद मे। परन्तु किसी पदार्थ का ग्रहण करने के लिये व्यवहार नय पहले हो और निश्चय नय बाद मे हो यह सम्भव नही है। वस्तु मे यदि अनेक धर्म एक के बाद एक होते तो यह सम्भव था कि उनके ग्रहण करने वाले नय भी आगे पीछे होते। पर जब प्रत्येक धर्म का अस्तित्व युगपत् है तब उनके ग्राहक नयो का प्रयोग भी युगपत् हो सकता है। इसलिये किन्ही भी नयो मे चाहे वे निश्चय व्यवहार हो या कोई दूसरे हो साध्य साधन भाव नही है। क्योकि नय तो वस्तु के जानने के प्रकार है अत. उनमे साध्य साधन की कल्पना करना ही अनुपयुक्त है नय और वस्तु धर्म मे ज्ञेय ज्ञायक भाव है। साध्य साधन भाव नही है। तब फिर विभिन्न शास्त्रो मे निश्चय व्यवहार को साध्य साधन भूत बताया है वह कैसे है ? इसका समाधान करना आवश्यक है आत्मा मे अनेक धर्म युगपत् रहने पर भी उसमे उपाय उपेय भाव भी विद्यमान है। उपाय का अर्थ साधन है और उपेय का अर्थ साध्य है। दूसरे शब्दो मे उपाय का अर्थ मोक्षमार्ग है और उपेय का अर्थ मोक्ष है। मोक्षमार्ग और मोक्ष साथ-साथ नही रहते किन्तु आगे पीछे होते है, मोक्षमार्ग पहले होता है और मोक्ष बाद मे होता है। यद्यपि ये दोनो अवस्थाएँ आत्मा में ही होती है परन्तु जब साधक अवस्था है तब उसकी साध्य अवस्था नही है और साध्य प्राप्ति (सिद्ध बन जाने) के बाद साधक अवस्था नही होती अत इन दोनो का आगे पीछे होना आवश्यक है। विषय को स्पष्ट करने के लिये यहाँ हम अपनी तरफ से कुछ न लिखकर अमृतचन्द्र आचार्य की टीका का अर्थ मात्र लिखते है, जिज्ञासुओ को मूल टीका समयसार के अन्त मे देख लेना चाहिये—

अब आत्मा के उपाय उपेय भाव चिन्तन करते हैं—आत्मा ज्ञान स्वरूप है तो भी उसमें उपाय उपेय भाव विद्यमान है। क्योंकि एक ही आत्मा में साधक और सिद्ध दोनो परिणाम होते है। आत्मा की साधक अवस्था उपाय है और सिद्ध अवस्था उपेय है। अत यह आत्मा अनादि कालीन मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र से स्वरूप च्युत हो रहा है और ससार मे घूम रहा है। किन्तु जब भले प्रकार व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को ग्रहण करता है और जैसे जैसे उस [व्यवहार रत्नत्रय] की प्रकर्षता बढ़ती जाती है वैसे वैसे स्वरूप मे अपने को स्थापित कर अन्तर्मग्ननिश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की विशेषता से साधक रूप बनता है तब परम प्रकर्षता की पराकाष्ठा को प्राप्त रत्नत्रय के अतिशय से होने वाले सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से

प्रकाशमान स्थिर तथा निर्मल स्वभाव को धारण कर सिद्ध बन जाता है। इस तरह ज्ञानमात्र परिणमन करता हुआ यह एक ही उपाय उपेय भाव का साधन करता है" (म० सा० ५३१ अहिंसा मंदिर दिल्ली से प्रकाशित)

उक्त कथन से यह सिद्ध है कि मोक्षमार्ग साधन है और मोक्ष साध्य है। यह मोक्षमार्ग भी दो प्रकार का है व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग। दो प्रकार से मतलब यह नहीं है कि ये दो कोई भिन्न मार्ग हैं। मार्ग तो एक ही है किन्तु साधक आत्मा की अन्तर्मग्न होने से पहले की स्थिति व्यवहार मोक्षमार्ग है अन्तर्मग्न होने पर बाद की स्थिति निश्चयमोक्षमार्ग है। अत यह दोनो प्रकार का मोक्षमार्ग उपाय है साधन है और रत्नत्रय की परम प्रकर्षता की पराकाष्ठा साध्य है जहाँ सकल कर्मों का क्षयरूप सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। निष्कर्ष यह है कि रत्नत्रय की परम प्रकर्षता की पराकाष्ठा मोक्षमार्ग का दोनो स्थितियों में नही है चाहे वह व्यवहार मोक्षमार्ग की स्थिति हो या निश्चय मोक्षमार्ग की स्थिति। हाँ यह अवश्य है कि जैसे मोक्ष के लिये दोनो मोक्षमार्ग साधन है वैसे ही निश्चय मोक्षमाग के लिये व्यवहार मोक्ष मार्ग साधन है। एक ही मार्ग पर चलने के लिये जैसे पूर्ववर्ती मार्ग परवर्ती मार्ग के लिये कारण है वैसे ही व्यवहार मोक्ष मार्ग निश्चय मोक्षमार्ग के लिये कारण है। क्योकि व्यवहार मोक्ष मार्ग पूर्ववर्ती मार्ग है और निश्चय मोक्षमार्ग परवर्ती मार्ग है। आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी टीका मे यही स्पष्ट किया है। जहाँ हम कारण समयसार और कार्य समयसार की चर्चा करते है वहाँ भी कारण समयसार से मतलब मोक्षमार्ग से है और कार्य समयसार से मतलब मोक्ष से है। इसलिये जहाँ व्यवहार को साधन और निश्चय को साध्य बतलाया है वहाँ व्यवहार नय और निश्चय नय से अभिप्राय नही है किन्तु उपाय और उपेय से अथवा मोक्षमार्ग और मोक्ष से अभिप्राय है। अथवा कही व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग मे है। नयो मे साध्य साधन भाव तो सर्वथा नही है।

नय पक्षातीत अवस्था मे भी जिज्ञासु दोनों नयो का प्रयोग करता है और वस्तु के स्वरूप को आत्मसात् करने का प्रयत्न करता है। शास्त्रो मे स्पष्ट लिखा है कि अरहन्त को द्रव्य गुण पर्याय मे जानने वाला अपनी आत्मा को जानता है। अरहन्त अवस्था स्वय अरहन्त के लिये नय पक्षातीत है फिर भी उसे द्रव्य और पर्याय से जानने के लिये कहा है इसका स्पष्ट अर्थ है द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय से अरहन्त का ज्ञान किया जाय। स्वय कुन्दकुन्द ने लिखा है कि सर्वज्ञ व्यवहार नय मे सबको जानता देखता है और निश्चय नय से अपनी आत्मा को ही जानता है। अत दोनो नयो का उपयोग तो सर्वत्र सर्वदा किया जा सकता है। इसलिये वहाँ साध्य साधन की कल्पना करना ही सर्वथा अनुचित है निष्कर्ष यह है कि साध्य साधन भाव एक समय मे नही होने दो नयो से वस्तु का ग्रहण एक साथ हो सकता है नय तो सापेक्ष दृष्टियाँ है उनका कभी भी आगे पीछे उपयोग हो सकता है किन्तु साध्य साधन भाव मे पहले साधन और बाद मे साध्य होगा। अत वस्तु विवेचन के समय हमे इनके विश्लेषण का ध्यान रखना चाहिये।

जैनागमों में अनेक नयो का वर्णन है। निश्चय और व्यवहार इन दो नयो की तो चर्चा आती ही है इसके अतिरिक्त नैगमादि सात नयो का विवेचन भी सर्वत्र किया गया है। फिर यह भी लिखा है कि जितने शब्द हैं उतने ही परमार्थ है जितने परमार्थ है उतने ही नय है। वक्ता के अभिप्राय को भी नय सज्ञा दी गई है। मूल मे इन नयो का वर्गीकरण द्रव्यार्थिक एव पर्यायार्थिक नयो मे किया गया है और बाद मे इनके भेद और उपभेदों का वर्णन किया है। अत जब हम नयो की सख्या पर जाते है वे दो भी है और असख्यात भी हैं। ये सभी नय अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार वस्तु को स्पर्श करते है और उसके विविध रूपो को जिज्ञासु के सामने रखते हैं। कोई भी नय एक अपने ज्ञेय रूप को ही कह सकता है दूसरे के ज्ञेय को नही। इसलिये ये नय वस्तु के समग्र अशो को नही किन्तु वस्तु के पृथक्-पृथक् अशो को ही ग्रहण करते है। इस दृष्टि को सामने रखकर यहाँ हम व्यवहार नय और निश्चय नय को लेकर कुछ चर्चा करना चाहेंगे।

जीव तत्त्व या आत्म द्रव्य को लेकर जैनाचार्यों ने जहाँ विवेचना की है वहाँ वे इन दो नयों को ही काम में लाये हैं। द्रव्य संग्रह मे जीवतत्त्व के नौ अधिकारों की रचना की है। वे नौ अधिकार इस प्रकार है– १. जीव है, २. वह उपयोगमयी है, ३. वह अमूर्तिक है, ४. वह कर्ता है, ५. वह अपनी देह के बराबर है, ६. वह भोक्ता है, ७. वह ससारस्थ है, ८. वह सिद्ध है, ९. वह स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करता है। इन नौ अधिकारों में ग्रंथकार ने व्यवहार नय निश्चय नय या शुद्ध नय का आश्रय लेकर जीवतत्त्व का स्वरूप बतलाया है। जीव अधिकार मे लिखते हैं :—इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण जिसके थे हैं या होंगे वह व्यवहार नय से जीव है और निश्चय से जिसके चेतना है वह जीव है। इसी प्रकार अन्य अधिकारो के वर्णन मे भी उन्होने इन्ही दो दृष्टियो (व्यवहार निश्चय नयो) का उपयोग किया है उक्त दोनों दृष्टियों से जीव का लक्षण करते समय ग्रन्थकार ने कही भी अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषो को प्रश्रय नही दिया है। निश्चय नय से यह लक्षण जितना निर्दोष है व्यवहार नय से भी उतना हो निर्दोष है। चेतना के बिना कोई जीव नही पाया जाता इसलिये तो अव्याप्ति नही है और जीव के अतिरिक्त अन्यत्र चेतना नही पायी जाती इसलिये अतिव्याप्ति नही है इसी तरह व्यवहार नय से भो इसकी निर्दोषता है। कोई जीव ऐसा नही है जिसके त्रिकाल मे चार प्राण न रहे हो। जहाँ तक सिद्ध भगवान् का प्रश्न है उनके भी अतीत काल मे ४ प्राण रहे है। एकेन्द्रिय अपर्याप्त के वर्तमान चार प्राण नही होने पर उसके भी थे या होगे इस दृष्टि से कोई भी जीव चार प्राणो से रिक्त सिद्ध नही होता अतः अव्याप्ति नही है और जीव के अतिरिक्त किसी अजीवादिक मे चार प्राण किसी भी काल मे नही पाये जाते अतः व्याप्ति दोष नही आता। 'तिक्काले चदुपाणा' इत्यादि गाथा में 'तिक्काले' पद अत्यत ही महत्त्वपूर्ण है। और उसी ने व्यवहार नय से जीव के लक्षण का निर्दोष रक्खा है।

प्रश्न यह होता है कि क्या लक्षण की निर्दोषता कायम रखने के लिये ही यह 'तिक्काले' पद दिया है अथवा वस्तुत' तीन काल मे चार प्राणो का होना जीव का स्वरूप है। इसका समाधान यह है कि द्रव्य त्रैकालिक पर्यायो का समूह है। ये त्रैकालिक पर्यायें शुद्ध भी होती हैं और अशुद्ध भी होती है। ऐसी स्थिति मे द्रव्य सभी शुद्ध अशुद्ध पर्यायो का समूह है। जब हम कहते हैं 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' तब इसका अर्थ यह नही है कि द्रव्य वर्तमान पर्याय मात्र हो जितना है। जीव को सिद्ध पर्याय और ससारी पर्याय दोनो ही हैं। यदि जीव द्रव्य को केवल सिद्ध पर्याय मात्र ही माना जाय तो अयुक्त है और यदि ससारी पर्याय मात्र ही माना जाय तब भी गलत है। प० टोडरमल जी ने मोक्षमार्गप्रकाश' मे जहाँ एकान्त निश्चयावलम्बो का खण्डन किया है वहाँ स्पष्ट लिखा है कि "तू द्रव्य दृष्टि से आत्मा को शुद्ध माने है सो द्रव्य तो सभी शुद्ध अशुद्ध पर्यायो का संग्रह है तू शुद्ध ही कैसे कहे है।" इससे यह सिद्ध होता है कि द्रव्य का त्रैकालिक स्वरूप सभी शुद्ध अशुद्ध पर्यायो का सग्रह रूप है। निश्चय नय से जहाँ जीव का लक्षण चेतना किया है वहाँ भी उसका त्रैकालिक चैतन्य केवल शुद्ध पर्यायों का सग्रह मात्र ही नही है। द्रव्य सग्रह के 'णिच्चय णय दो दु चेदणा जस्स' अर्थात् निश्चय नय से जिसके चेतना हो वह जीव है, इस लक्षण मे ये विकल्प उठ सकते है कि जीव का लक्षण जिस चेतना को बताया गया है क्या वह सिद्ध परमात्मा का शुद्ध चैतन्य है अथवा संसारी जीवो का अशुद्ध चैतन्य है, अन्यथा चैतन्य सामान्य है। यदि सिद्ध परमात्मा का शुद्ध चैतन्य है तब ससारी जीवो मे जीव का उक्त लक्षण घटित नही होगा यदि ससारी जीव का अशुद्ध चैतन्य है तो वह सिद्ध जीवो मे घटित नही होगा और यदि चैतन्य सामान्य है तो वह ससारी और शुद्ध दोनो जीवो मे पायी जाती है। अत निश्चय नय से भी जो जीव का लक्षण किया गया है वह उन सभी त्रैकालिक शुद्ध अशुद्ध पर्यायों से विशिष्ट चेतना सामान्य है जिन्हे तिक्काले पद के द्वारा व्यवहार नय से किये गये जीव के लक्षण मे गर्भित किया गया है। अतः व्यवहार और निश्चय नय से जो जीव के लक्षण किये गये हैं वे दोनो ही अपनी-अपनी परिधि मे अत्यन्त निर्दोष और प्रौढ़ हैं। उनमे से किसी को भी असत्य नही कहा जा सकता और न दोनो की सचाई को कोई चुनौती दी जा सकती है। ●

व्यवहार रत्नत्रय

जैन शास्त्रो में मोक्ष और मोक्ष के कारणो की चर्चा की है कारणों से मतलब उनका मोक्षमार्ग से है। मोक्षमार्ग को उपाय और मोक्ष को उपेय माना है। मोक्षमार्ग उपाय भूत मोक्षमार्ग के भी दो भेद किये हैं एक निश्चय मोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग। निश्चय मोक्षमार्ग को निश्चय रत्नत्रय और व्यवहार मोक्षमार्ग को व्यवहार रत्नत्रय कहा है। और लिखा है इन दोनो मे साध्य साधक भाव है। अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है। इसी आशय को लेकर आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है—

निश्चय व्यवहाराभ्या मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद्वितीयस्तस्य साधनम् ॥

अर्थात्—निश्चय व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है इनमे पहला साध्य है और दूसरा साधन है।

इस कथन से स्पष्ट है कि व्यवहार रत्नत्रय को निश्चय रत्नत्रय की कारणता है न कि इन दोनो से परे मोक्ष की। जैन विद्वान् प्रारम्भ से उक्त बात ही कहते आ रहे हैं। उन पर यह थोपना कि वे मोक्ष का कारण व्यवहार रत्नत्रय को ही मानते हैं गलत है, मनगढन्त है। हमें यह भी नही सूझ पडता कि किसी विद्वान् ने व्यवहार रत्नत्रय को मोक्ष का मूल कारण बतलाया है और यदि बताया भी है हमने यह नही सुना कि जो स्वयं कार्य रूप परिणत हो जाय वह मूल कारण है। उपादान के सम्बन्ध मे तो यह कहा जा सकता है कि वह कार्य रूप परिणत हो जाता है परन्तु सभी मूल कारण उपादान हो यह बात नही है। वास्तव में तो मूल कारण आद्य कारण ही कहा जाता है और यदि इस अर्थ में व्यवहार रत्नत्रय को मूल कारण कहा जाय तो कोई बेजा बात नही है। निश्चय रत्नत्रय के लिये व्यवहार रत्नत्रय की मूल कारणता भी उसी तरह है जिस तरह वृक्ष के लिये जड की कारणता है। जड के बिना यदि वृक्ष की स्थिति नही है तो व्यवहार रत्नत्रय के बिना निश्चय रत्नत्रय की भी स्थिति नही है और जब निश्चय रत्नत्रय की स्थिति नही तब मोक्ष भी कहाँ टिक सकता है। अतः यह कहना भी गलत नही है कि पहले यदि व्यवहार रत्नत्रय न हो तो निश्चय रत्नत्रय और मोक्ष दोनों ही नही हो सकते।

बीज वृक्ष का कारण है वृक्ष पुष्पों का कारण है पुष्प फलो का कारण है। फलोदय के समय जैसे बीज का कोई अस्तित्व नही रहता उसी प्रकार मोक्षफल की प्राप्ति के समय व्यवहार रत्नत्रय का अस्तित्व नही रहता। पर बीज का वृक्ष पुष्प फल के लिये जो महत्त्व है वही महत्त्व व्यवहार रत्नत्रय का निश्चय रत्नत्रय और मोक्ष के लिये।

समन्तभद्र स्वामी ने जो यह लिखा है "जैसे बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और फलोदय नहीं होता वैसे ही सम्यक्त्व के अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और फलोदय नहीं होता।" इस कथन में फलोदय से मतलब मोक्ष से ही है और सम्यक्त्व से अभिप्राय व्यवहार रत्न-

त्रय से है। रत्नकरण्ड में सबसे पहले उन्होंने दर्शन ज्ञान चारित्र को धर्म लिखा है और फिर दर्शन का लक्षण लिखा है 'श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागम तपोभृता, त्रिमूढापोढमष्टाग सम्यग्दर्शनमस्मयम्' अर्थात् परमार्थ भूत देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान करना, तीन मूढ़तायें और आठ मद छोडना तथा आठ अंगों का पालन करना सम्यग्दर्शन है। इस लक्षण से स्पष्ट आचार्य का अभिप्राय व्यवहार रत्नत्रय से है। इसी व्यवहार सम्यक्त्व को लेकर उन्होने लिखा है कि बिना सम्यक्त्व के ज्ञान चारित्र नही होते न उनकी स्थिति वृद्धि फलोदय होते हैं। अतः वृक्ष के बीज की तरह व्यवहार रत्नत्रय को यदि मोक्ष का मूल कारण मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है। मूल कारण मे मतलब यहाँ आद्य कारण से ही है जैसा कि फलोदय के लिये बीज आद्य कारण है। वृक्ष की स्थिति निश्चय रत्नत्रय जैसी है और बाद मे फलोदय की स्थिति मोक्ष जैसी है। इसलिये इसमे किसको आशका है कि व्यवहार रत्नत्रय परम्परा से मोक्ष का कारण है। जैन विद्वान् बहुत पहले से ही व्यवहार को परम्परा से मोक्ष का कारण कहते आ रहे है।

व्यवहार रत्नत्रय मोक्ष का साक्षात् कारण नही है किन्तु उसकी मूल कारणता से इन्कार नहीं किया जा सकता है। किसी भी कार्य को उत्पत्ति मे कारणो को जो परम्परा है उसमे पहला कारण ही मूल कारण है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि मोक्ष का साक्षात् कारण निश्चय रत्नत्रय है और निश्चय रत्नत्रय का साक्षात्कारण परम्परा से प्राप्त व्यवहार रत्नत्रय को प्रकर्षता है। इस सबध मे हम आचार्य अमृतचन्द्र की समयसार की टीका के कुछ उद्धरण देते है—

> "अस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रैः स्वरूप प्रच्यवनात् संसारत सुनिश्चल परिगृहीत व्यवहार सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र पाक प्रकर्ष परम्परा क्रमेण स्वरूपमारोप्यमाणस्यान्त-र्मग्न निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा परम प्रकर्षमकरिकाधिरूढ रत्न-त्रयातिशय प्रवृत्त सकल कर्मक्षय प्रज्वलितास्खलित विमलस्वभाव भावतया सिद्धरूपेण च स्वय परिणममानः ज्ञान मात्रमेकमेवोपायोपेयभाव साधयति"।

अर्थ—यह आत्मा अनादि काल से मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान एव मिथ्याचारित्र से अपने स्वरूप से च्युत हो रहा है किन्तु जब व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को यह भली भाँति ग्रहण करता है तब उस व्यवहार रत्नत्रय की प्रकर्ष परम्परा के क्रम से यह स्वरूप मे अन्तर्मग्न होकर निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को ग्रहण करता है और उस निश्चय रत्नत्रय की विशेषता से साधक रूप होकर उसी रत्नत्रय की परम प्रकर्षता की पराकाष्ठा को प्राप्त कर उसके अतिशय से सकल कर्मों का क्षयकर अस्खलित विमल स्वभाव से सिद्ध अवस्था मे स्वयं परिणत होकर ज्ञान मात्र स्वरूप उपाय उपेय भाव को साधता है।

इस कथन से दो बातें निश्चित होती है एक तो यह कि व्यवहार रत्नत्रय पहले होता है और उसकी पाक प्रकर्ष की परम्परा से जब स्वरूप मे अन्तर्मग्न होता है, तब निश्चय सम्यग्दर्शन होता है, दूसरी यह कि व्यवहार रत्नत्रय मूल कारण है और निश्चय रत्नत्रय को परम प्रकर्षता की पराकाष्ठा साक्षात् कारण है।

यहाँ मूल कारण व्यवहार रत्नत्रय अपने कार्य निश्चय रत्नत्रय रूप परिणत हुआ है और निश्चय रत्नत्रय रूप साक्षात् कारण अपने कार्य मोक्ष रूप मे परिणत हुआ है। यह कहना नितान्त गलत है कि व्यवहार कभी निश्चय रूप मे परिणत नही होता। हमारा कहना है कि व्यवहार रत्नत्रय ही निश्चय रत्नत्रय रूप परिणत होता है। यह दलील भी अनुचित है कि व्यवहार का विषय 'पर' है और निश्चय का

विषय स्व है इसलिये व्यवहार निश्चय रूप परिणत नही होता । वास्तव में दोनों ही रत्नत्रय का विषय एक आत्मा है अन्तर इतना है कि व्यवहार रत्नत्रय में आत्मा के दर्शन ज्ञान चारित्र के लिये अन्य देव शास्त्र गुरु आदि का अवलम्बन लेना पडता है और निश्चय रत्नत्रय में आत्मा के दर्शन ज्ञान चारित्र के लिए आत्मा का ही अवलम्बन रह जाता है । सालम्बन ध्यान और निरालम्बन ध्यान की जो स्थिति है अथवा सवीचार और अवीचार ध्यान की जो स्थिति है, वही स्थिति कारण कार्य के प्रश्न मे व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय की है । शीर्षासन प्रारभ करने वाला व्यक्ति पहले दीवाल का सहारा लेकर शीर्षासन करता है । बाद में बिना सहारे के शीर्षासन करता है । इसका अर्थ यह नही कि सहारा लेकर शीर्षासन का अभ्यास बिना सहारे के अभ्यास मे कारण नही है ।

आचार्य अमृतचन्द्र ने 'तत्त्वार्थसार' मे व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का जो कथन किया है उनके कथन के दो श्लोक हैं—

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा शुद्धस्य स्वात्मनो हिया,
सम्यक्त्वज्ञान वत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चय. ।
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा या पुन' स्यु परात्मना,
सम्यक्त्व ज्ञान वृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥

इन दो श्लोको मे पहले का अर्थ किया गया है शुद्धात्मा का श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा निश्चय मोक्ष-मार्ग है ।

और दूसरे का अर्थ किया है—परात्मा का श्रद्धान ज्ञान उपेक्षा व्यवहार मोक्षमार्ग है ।

यहाँ प्रष्टव्य यह है कि यदि शुद्धात्मा का श्रद्धान ज्ञान उपेक्षा निश्चय मोक्षमार्ग है तो व्यवहार मोक्ष-मार्ग मे क्या अशुद्ध आत्मा का श्रद्धान ज्ञान उपेक्षा होती है ?

आगे के श्लोक मे जो परात्मा का श्रद्धान ज्ञान उपेक्षा होना बतलाया है वहाँ परात्मा से क्या मतलब है ? क्या स्वात्मा को छोडकर या कोई दूसरा अभिप्राय है ।

वस्तुत दोनो श्लोको मे सभी पद एक जैसे है । अन्तर केवल दो पदो मे है । पहले श्लोक मे 'स्वात्मन ' पद है जो षष्ठी विभक्त्यन्त है और दूसरे श्लोक 'परात्मना' पद है जो तृतीय विभक्ति का है । जिसका अर्थ होता है 'परात्मा के द्वारा' । लेकिन लेखक ने इसका षष्ठी परक अर्थ 'परात्मा का' किया है जो गलत है । और यह गलती स्वात्मनः पद के साथ सगति बैठाने के कारण हुई है । वास्तव मे तो दोनो ही जगह 'स्वात्मना' और 'परात्मना' पद होना चाहिये । अत दोनों श्लोको का सगत अर्थ इस प्रकार करना चाहिये ।

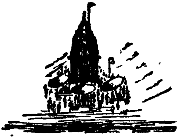
अपने ही अवलम्बन से शुद्ध स्वरूप ज्ञान और उपेक्षा भाव निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है तथा पर के अवलम्बन से शुद्ध स्वरूप का श्रद्धान ज्ञान और उपेक्षा भाव व्यवहार रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग है । यहाँ पर के अवलम्बन से अभिप्राय है देव शास्त्र गुरु के आलम्बन से, और अपने ही अवलम्बन से मतलब है निर्विकल्प समाधि रूप अवस्था जहाँ पर का अवलम्बन नही रहता । जिसको छहढालाकार ने 'निज मोहिनिज के हेत निजकर आपको आपै गहे' कह कर स्पष्ट किया है ।

आचार्य समन्तभद्र ने "ज्ञान चारित्र की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और फलोदय बिना सम्यक्त्व के उसी तरह नही होती जिस तरह बीज के अभाव मे वृक्ष की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और फलोदय नही होते" यह जो दृष्टान्त दिया है वह बीज को फलोदय का उपादान मान कर नही दिया है किन्तु फलोदय का मूल कारण

मानकर दिया है। यदि मूल कारण कार्य रूप परिणत हो जाता है तब क्या यह माना जाय बीजफल रूप परिणत हुआ है यदि ऐसा हो फल से पहले की पर्याय जो फूल है उसको क्या कहा जायगा। यदि फूल साक्षात् कारण है तो कहना चाहिए साक्षात् कारण हो वहाँ कार्य रूप परिणत हुआ है न कि मूल कारण बीज। बीज तो साक्षात् कारण अंकुर का है फलोदय के लिये तो वह परम्परा से कारण है। यही स्थिति बीज की तरह व्यवहार रत्नत्रय की है वह साक्षात् कारण निश्चय रत्नत्रय का है और निश्चय रत्नत्रय साक्षात् मोक्ष (फलोदय) का है। व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रय रूप परिणत होता है और निश्चय रत्नत्रय मोक्ष रूप परिणत होता है।

वास्तव मे तो उपादान कारण ही कार्य रूप परिणत होता है। जिस तरह स्थाल कोष कुशूल घट आदि पर्याय के लिये मिट्टी उपादान है उसी तरह व्यवहार निश्चय रत्नत्रय आदि तो आत्मा की पर्यायें हैं उन सबमे एक आत्मा ही उपादान कारण है जो प्रत्येक पर्याय रूप परिणत होती है।

इस तरह आचार्य समन्तभद्र के अनुसार बीज की जो स्थिति है वही स्थिति व्यवहार रत्नत्रय की है। और मोक्ष के लिये व्यवहार रत्नत्रय मूल कारण है। उससे इन्कार नही किया जा सकता '



धर्म और धर्मात्मा

धर्म क्या है ? और धर्मात्मा किसे कहा जाता है ? इन दोनों ही बातों पर आज विचार करने की आवश्यकता है। आम तौर से लोगों ने धर्म की एक ही व्याख्या को पकड रखा है और जब कोई धर्म की व्याख्या का प्रसंग आता है तब वे उसी एक व्याख्या को दोहराते है अर्थात् "धम्मोवत्थु सहाओ" वस्तु के स्वभाव का नाम धर्म है। जो जिसका स्वभाव है वही उसका धर्म है जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है वह अग्नि का धर्म है जल का स्वभाव ठण्डापन है अत ठण्डापन उसका धर्म है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान दर्शन है अत ज्ञान दर्शन आत्मा का धर्म है। लेकिन प्रश्न यह है कि यदि वस्तु के स्वभाव का नाम धर्म है तो कौन सी ऐसी वस्तु है जो अपने स्वभाव को लिए हुए नही है।

धर्म की इस व्याख्या के साथ हमे धर्मात्मा की भी व्याख्या करनी चाहिए। जो धर्म को अपनाता है तद्रूप आचरण करता है उसे धर्मात्मा कहा जाता है। अग्नि कभी अपने उष्ण स्वभाव को नही छोड़ती है, आत्मा कभी अपने ज्ञान दर्शन स्वभाव को नही छोडती, तब इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक अग्नि धर्मात्मा है तथा प्रत्येक आत्मा धर्मात्मा है। इस व्याख्या से यदि प्रत्येक आत्मा धर्मात्मा है तब अधर्मात्मा किसे कहा जायेगा ? फिर तो सातवें नरक का नारकी भी धर्मात्मा है क्योकि वह भी ज्ञान दर्शन रूप स्वभाव से रहित नही है तथा नित्य निगोदिया जीव भी धर्मात्मा है। क्योकि ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला तो वह भी है। यदि उसको ज्ञान दर्शन नही माना जाएगा तो वह जड अचेतन कहलायेगा। अत हमें सोचना यह है कि वस्तु के स्वभाव को धर्म किस अपेक्षा से कहा गया है। वस्तुतः एक शब्द के अनेक अर्थ होते है इसलिए अपेक्षा भेद से उनका प्रयोग भी अलग-अलग अर्थों मे किया जाता है। धर्म शब्द का प्रयोग कहाँ-कहाँ होता है। इस जिज्ञासा के समाधान के लिए कहा गया है।

१. 'वत्थु सहावो धम्मो' धर्म वस्तु के स्वभाव को कहा जाता है।

२. "खमादिभावो हि दसविहो धम्मो" धर्म क्षमा आदि दस भावो को भी कहते है।

३ 'चारित्तं खलु धम्मो' धर्म चारित्र को भी कहते है।

इस प्रकार धर्म शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों मे किया जाता है।

जहाँ वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा गया है उसका अभिप्राय है कि वस्तु अनेक धर्मातमक है अर्थात् वस्तु में नित्यत्व, अनित्यत्व, अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व आदि अनेक धर्म रहते है ये धर्म सब वस्तु के स्वभाव हैं। इन्ही सब धर्मों को शास्त्रीय भाषा मे अनेकात कहा जाता है। इन धर्मो से वस्तु के धर्मात्मा अधर्मात्मा पन से कोई सम्बन्ध नही है जिस धर्म के आधार पर मनुष्य को धर्मात्मा कहा जाता है वह धर्म वस्तु का स्वभाव नही है किन्तु मनुष्य का अपना निर्दोष आचरण है जो जिनभक्ति, व्रत, सयम, तप आदि मे बँटा हुआ है। जिसे व्यवहार चारित्र भी कहा जाता है। स्वामी समन्तभद्राचार्य ने समीचीन धर्म (रत्नकरण्ड-श्रावकाचार) पुस्तक में लिखा है।

देशयामि समीचीनं धर्मकर्मनिबर्हणम् ।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥

अर्थ—मैं उस समीचीन धर्म का उपदेश कर रहा हूँ जो जीवो को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में पहुँचा देता है । अतः इस पद्य के अनुसार धर्म की व्युत्पत्ति है ।

प्रश्न होता है इस उत्तम सुख में पहुँचाने वाले धर्म का रूप क्या है ? उसके उत्तर में आचार्य समन्त-भद्र लिखते हैं —

सदृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥

अर्थ—वह धर्म सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और इससे प्रतिकूल—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र ससार भ्रमण के कारण हैं । अर्थात् धर्म नही हैं आगे चलकर इन्ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के लक्षणभेद, प्रभेद अतीचारो आदि का वर्णन किया है जो सब व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप हैं अतः इससे यह सिद्ध होता है वह धर्म जिसको पालन करने वाला व्यक्ति धर्मात्मा कहलाता है आचरणात्मक धर्म है न कि वस्तु का स्वभाव । जब यह जीव प्रवृत्ति से हटकर पूर्ण निवृत्ति मे आ जाता है तब वह धर्मात्मा नही रहता किन्तु धर्मात्मा की परिधि से भी ऊपर निकल जाता है । सिद्ध या अरहत भगवान् को कोई धर्मात्मा नही कहता न शास्त्रों में इसका उल्लेख है कि सिद्ध भगवान् या अरहत भगवान् बडे धर्मात्मा होते हैं । उन्हें धर्मात्मा कहना नीच की श्रेणी में ले आना है ।

कुछ लोग "धम्मो वत्थुसहावो" के आधार पर कहा करते है कि पूजा पाठ दया दानादिक धर्म नही है क्योंकि ये वस्तु (आत्मा) के स्वभाव नही हैं । यह सब तो राग परिणति है पर वे यह भूल जाते हैं इस प्रकार की राग परिणति के बिना वे वीतरागता को पा नही सकते हैं मोक्षशास्त्र मे लिखा है 'आस्रव निरोधः संवरः' अर्थात् आस्रव (कर्मो के आगमन) को रोकना सवर है । और यह सवर किन कारणो से होता है ? उसके लिए सूत्र लिखा है ।

"स गुप्ति-समितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ।

अर्थ—वह सवर (कर्मों का निरोध) गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह, जय एव चारित्र से होता है । इनमें गुप्तियाँ तो पूर्ण निवृत्ति मार्ग है बाकी प्रवृत्ति निवृत्ति रूप है । अन्त मे चारित्र लिखा है । वह धर्माचरण का ही मार्ग है यह धर्माचरण चतुर्थ गुणस्थान से सातवे गुणस्थान तक होता है अतः निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति को अपनाना ही होगा । आगम मे यो तो चारित्र के अनेक भेद बतलाये हैं पर मूल मे उसके तीन ही भेद है । वे तीन भेद इस प्रकार हैं—सम्यक्त्वचरण चारित्र, सयमचरण चारित्र, स्वरूपाचरण चारित्र इनमें पहले के दो चारित्र प्रवृत्ति रूप हैं और तीसरा स्वरूपाचरणचारित्र निवृत्ति रूप है लेकिन तीनों ही संवर और निर्जरा के कारण हैं ।

अतः धर्म की व्याख्या करते समय हमें सोचना चाहिए कि कहाँ कौन सा अर्थ धर्म का विवक्षित है सब जगह धर्म का ही अर्थ करना 'वत्थु सहावो धम्मो' बुद्धिमानी नही है । शब्दों में अभिधा, लक्षणा, व्यजना आदि अनेक शक्तियाँ हैं । इनमें से किस विवक्षा से शब्द का प्रयोग किया गया है इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है ।

●

उत्कृष्ट भक्ति ही मोक्षमार्ग है

जैन शासन में देवशास्त्रगुरु की भक्ति का अत्यधिक महत्त्व है यहाँ तक कि उसे ही मोक्ष का मार्ग बताया है। लेकिन यह देवशास्त्रगुरु की भक्ति मात्र संसार सुख को कामनाओ को लेकर नही होना चाहिये। यदि सासारिक सुख की कामनाओं से भक्ति की जाती है तो उससे मसार के सुख तो मिलेगे लेकिन संसार से छुटकारा नहीं मिल सकता। हाँ यही भक्ति यदि मोक्ष प्राप्ति की कामना से की जाती है तो निःसन्देह उसके द्वारा संसार से छुटकारा मिलेगा। "यादृशी भावना यस्य सफली भवति तादृशी" की नीति के अनुसार हमारी अपनी भावनाएँ ही उद्देश्य के अनुसार सफल होती हैं। यही कारण है कि मिथ्यादृष्टि द्वारा की गई देव शास्त्र गुरु की भक्ति उसके लिए ससार का ही कारण होती है क्योकि उसके अन्दर संसार ही समाया हुआ है। कदाचित् वह सयम आदि भी धारण कर ले फिर भी वह मंसार के सुखो से आगे नही बढ सकता। इसी सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार के बंध अधिकार में एक गाथा दी है—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेंहि पण्णत्त।
कुव्वतोवि अभव्वो अण्णाणो मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥

इसका भाव है—भगवान् जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप आदि करता हुआ भी अभव्यजीव मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी ही हं।

इसका स्पष्ट अभिप्राय है कि अभव्य जीव को कभी देव शास्त्र गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा नही होती वह पूजा पाठ आदि धर्म को मात्र भोग का कारण मानकर ही सेवन करता है। अतः सयम पालन भी मोक्ष सुख न मिलने के कारण व्यर्थ ही है। सयम का महत्त्व भी तब ही है जब उसकी आधारभूत देव शास्त्र गुरु के प्रति सच्ची भक्ति हो। यह सच्ची भक्ति सम्यग्दर्शन का ही रूप है जिसे हम देवशास्त्र गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र मे जो यह लिखा है कि "तत्त्वार्थश्रद्धानसम्यग्दर्शनम्" उसका भाव भी यही है कि वस्तुभूत तत्त्वो का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, और वस्तुभूत तत्त्व वही कहला सकते है जो सच्चे देव, शास्त्र, गुरु द्वारा प्रतिपादित हैं अतः तत्त्वार्थ श्रद्धा देव शास्त्र गुरु की ही श्रद्धा है। यह देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा ही सच्ची उत्कृष्ट भक्ति है। इस सम्बन्ध मे आगम प्रभाव देखिये। एकीभाव स्तोत्र मे वादिराज आचार्य लिखते है—

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा,
भक्तिर्नो चेदनवधि सुखावञ्चिका कुञ्चिकेयं।
शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो,
मुक्तिद्वारं परिदृढमहामोहमुद्राकवाटम् ॥

अर्थ—हे भगवन्! शुद्धज्ञान एवं समीचीन चारित्र के होने पर भी यदि अनन्त सुख की दाता अनीचा भक्ति रूपी ताली नही है तो मुमुक्षु पुरुष की मुक्ति के द्वार पर लगा हुआ मिथ्यात्व रूपी ताला कैसे खुलेगा? अर्थात् नही खुलेगा।

यहाँ शुद्ध ज्ञान और चारित्र होने पर जिस अनीचा भक्ति के अभाव का उल्लेख किया है वह सम्यग्दर्शन ही है। क्योंकि ज्ञान चारित्र के साथ सम्यक् दर्शन का ही गठबंधन है अतः उसको अनीचा भक्ति नाम से कह दिया है क्योंकि मिथ्यात्व के साथ जो भक्ति होती है वह नीचा भक्ति ही होती है और सम्यक्-दर्शन के रूप मे जो भक्ति होती है वह अनीचा अर्थात् उत्कृष्ट भक्ति होती है इसका सीधा अर्थ है कि उत्कृष्ट भक्ति ही सम्यग्दर्शन है। अत सम्यग्दृष्टि की भक्ति को अनीचा भक्ति कहना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्यत्र स्थानों मे तथा पाठ आदि मे सम्यग्दर्शन को ही भक्ति कहा है यह उत्कृष्ट भक्ति का ही सम्यक्-दर्शन है।

विद्यमान बीस तीर्थंकर की पूजा में अच्छत चढाने का जो पाठ बोला जाता है वहाँ भी तिथि पूजा में ऐसा ही उल्लेख है। जैसा कि निम्न छन्द से प्रकट है—

यह ससार अपार महासागर जिनस्वामी, तातै तारे बडी भक्ति-नौका जग नामी।

तदुल अमल सुगधसो..... .

अर्थ—हे जिननाथ! यह ससार अपार महासमुद्र है इस महा समुद्र से आपकी बड़ी भक्तिरूपी नाव ही पार उतारती है।

यहाँ भक्ति के साथ 'बडी' विशेषण लगाकर सम्यक्दर्शन का ही सकेत किया है ठीक उसी तरह जिस तरह एकीभावस्तोत्र मे भक्ति का अनीचा विशेषण लगाया है। अर्थात् भक्ति तो मिथ्यादृष्टि भी करता है पर उनकी भक्ति छोटी भक्ति होती है बडी नही। सम्यग्दृष्टि की भक्ति बडी भक्ति कहलाती है।

इसी प्रकार देवशास्त्र गुरु की समुच्चय हिन्दी पूजा मे भी अक्षत चढाने के पद्य मे भक्ति का उल्लेख किया है और उसके अनेक विश्लेषण दिये है। यथा—

यह भव समुद्र अपार तारण के निमित्त सुविधि ठई,
अति दृढ परमपावन जथारथ भक्ति वर नौका सही।
उज्ज्वल अखडित सालि तदुल. ....

इस अपार ससार समुद्र से पार होने के लिए वे अत्यत मजबूत, परमपवित्र, यथार्थ भक्ति रूपी नाव ही सही है। यहाँ भक्ति के तीन विश्लेषण दिये है। पहले भक्ति को 'अत्यन्त दृढ' विशेषण से अलकृत किया है अर्थात् अगर नाव कमजोर होगी तो वह स्वय भी नष्ट हो जायेगी और बैठने वाले को भी डुबो देगी। इसी तरह सम्यग्दर्शन में सशय विभ्रम आदि से कमजोर होगा तो वह सम्यग्दर्शन स्वय नष्ट हो जायेगा और स्वामी को मिथ्यादृष्टि बनाकर ससार समुद्र मे डूबो देगा। इसी तरह दूसरा विशेषण है 'परम पावन' अर्थात् अगर नाव शुद्ध मजबूत लकडी की बनी न होगी तो वह भी बैठने वालो को डुबो देगी। इसी प्रकार यदि सम्यग्दर्शन में निर्दोषता नही है तो उससे भी जन्म सतति नष्ट नही होगी जैसा कि लिखा है "नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शन जन्मसंततिम्" तीसरा विशेषण है "जथारथ" अर्थात् अगर नाव यथार्थ नही होगी धोखाधडी से काठ जैसी किसी अन्य नकली वस्तु से बनी होगी तो वह भी ले डूबेगी इसी तरह यह सम्यग्दर्शन में मात्र दिखावटीपन है वास्तविक नही है तो वह भी ससार से न तारकर उल्टा डुबा देगा। अतः जो भक्ति अत्यन्त दृढ (प्रगाढ श्रद्धा सम्पन्न) परम पवित्र (विषय भोगादि की वाञ्छा से रहित) यथार्थ (२५ दोष रहित) है वही सम्यग्दर्शन है और वह इस जीव के संसार के दु खो से छुटा कर उस उत्तम सुख (मोक्ष) में पहुँचा देता है। आचार्य समन्तभद्र ने भी यही लिखा है। धर्म की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं "ससार दु.खत. सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे अर्थात् जो ससार दुःखो से छुटकारा उत्तम मे सुख मे कर दे वह धर्म है। उस धर्म का रूप क्या है? इसके

समाधान में आचार्य ने लिखा है "सदृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः" अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को गणधरों ने धर्म कहा है। इसलिए सम्यग्दर्शन भक्ति प्रगाढ श्रद्धा का ही रूप है।

देवशास्त्रगुरु की संस्कृत पूजा में लिखा है—

ये पूजां जिननाथ शास्त्रयमिना भक्त्या सदा कुर्वते,
त्रैसंध्यं सुविचित्रकाव्यरचनामुच्चारयन्तो नरा।
पुण्याढ्या मुनिराज-कीर्ति-सहिता भूत्वा तपोभूषणा,
ते भव्याः सकलावबोधरुचिरा सिद्धि लभन्ते परम्॥

अर्थ—जो भव्य पुरुष तीनों सध्याओं में भक्तिपूर्वक विचित्र काव्य रचनाओं का उच्चारण करते हुए देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करते हैं वे पुण्य से परिपूर्ण होकर मुनिराज की कीर्ति को प्राप्त करते हैं अर्थात् मुनि बनते हैं, पुन. तप करते हैं और तप करते हुए केवलज्ञान से युक्त होकर परम सिद्ध को प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ पर भी परम भक्ति (सम्यग्दर्शन) पूर्वक पूजा का ही अभिप्राय है अर्थात् सम्यग्दर्शन से युक्त होकर जो भगवान् को पूजा करता है वही सिद्धि का पात्र है। अर्थात् जहाँ भी देवशास्त्र गुरु की भक्ति का उल्लेख है उसका अभिप्राय सम्यग्दर्शन ही है। इन्ही संस्कृत पूजाओं की जयमाला में लिखा है—

(१) जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्ति. सदास्तु मे।
सम्यक्त्वमेव संसार-वारण मोक्षकारणम्॥

अर्थात्—मेरी जिनेन्द्र में भक्ति हो, जिनेन्द्र मे भक्ति हो, जिनेन्द्र मे भक्ति हो क्योंकि सम्यक्त्व (जिनेन्द्र भक्ति) ही संसार का निवारण करने वाला मोक्ष का कारण है।

(२) श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः सदास्तु मे।
सज्ज्ञानमेव ससार-वारण मोक्षकारणम्॥

अर्थ—मेरी शास्त्र मे भक्ति हो, शास्त्र मे भक्ति हो, शास्त्र मे भक्ति हो क्योंकि शास्त्रभक्ति (सम्यग्ज्ञान) ही संसार का निवारण और मोक्ष का कारण है।

(३) गुरौर्भक्ति गुरौर्भक्ति गुरौ भक्ति सदास्तु मे।
चारित्रमेव ससार-वारण मोक्षकारणम्॥

अर्थ—मेरी गुरु मे भक्ति हो, गुरु मे भक्ति हो, गुरु मे भक्ति हो क्योंकि चारित्र की प्रतिमूर्ति गुरु की भक्ति ही संसार का निवारण करने वाली मोक्ष का कारण है।

उक्त तीनों श्लोकों में देव-शास्त्र-गुरुभक्ति को सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को प्रतीक मानकर तीनों से रत्नत्रय की प्राप्ति का उल्लेख किया है।

यहाँ कहा जा सकता है कि तीर्थङ्कर तो देवशास्त्र गुरु की कभी भक्ति नही करते तब उनके सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र नही होने चाहिये। लेकिन ऐसा नही देव शास्त्र गुरु भक्ति के उनके पूर्व जन्मो के संस्कार उनमे विद्यमान है। जब उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया था तब दर्शनविशुद्धिभावना एवं विनयसपन्नता भावनाओं में ही समीचीन भक्ति का समावेश हो जाता है। तथा तीर्थंकर भव मे भी वे "नमः सिद्धेभ्य" कहकर दीक्षा लेते है। अत. यह भी भक्ति ही है। तीर्थङ्कर हो या और कोई बिना सम्यग्दर्शन के मुक्ति का पात्र वह नही हो सकता और सम्यग्दर्शन ही भक्ति है इसलिए तीर्थङ्करों ने भी तीर्थङ्कर बनने के

पूर्व समीचीन या उत्कृष्ट भक्ति का आश्रय लिया है। कुछ लोग यह भी कहा करते हैं कि भक्ति तो मिथ्यादृष्टि भी करते हैं इसका उत्तर पहले भी दिया जा चुका है कि मिथ्यादृष्टि भक्ति तो करता है पर जैसी सम्यग्दृष्टि करता है वैसी नही करता। प० टोडरमल जी ने इसका बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है। शंकाकार उनसे पूछता है कि सम्यग्दर्शन के जो आठ अंग आपने बताये हैं वे आठ अंग तो मिथ्यादृष्टि में भी हो सकते हैं। उसका उत्तर उन्होने दिया है कि हाथ पैर आदि आठ अंग मनुष्य के भी होते हैं और बंदर के भी होते हैं पर जैसे मनुष्य के होते हैं वैसे बन्दर के नही होते। इसी तरह जो भक्ति गुरु शास्त्र और देव के प्रति सम्यग्दृष्टि की होती है वैसी मिथ्यादृष्टि में नही होती।

अत स्पष्ट है कि देवशास्त्रगुरु की उत्कृष्ट भक्ति ही सम्यग्दर्शन है न कि जब शुद्धात्मानुभूति होती है तभी सम्यग्दर्शन होता है। शुद्धात्मानुभूति वहाँ तब प्रारम्भ होती है जब पृथक्त्व वितर्क विचार नाम का शुक्लध्यान प्रारम्भ होता है। उस अवस्था मे बाह्य सब विकल्प मिट जाते हैं जैसा कि लिखा है— "जहाँ ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वचभेदन जहाँ" इसी को स्वरूपाचरणचारित्र कहा गया है। अत: देव शास्त्र गुरु की उत्कृष्ट भक्ति ही वास्तविक सम्यग्दर्शन कहा है। यह उत्कृष्ट भक्ति ही धीरे-धीरे ज्ञान चारित्र रूप परिणत होती हुई आत्म स्वरूप बन जाती है। वहाँ ज्ञान दर्शन चारित्र की कोई भिन्नता नही रहती। इसी का समर्थन पं० दौलतराम जी ने छ ढाला मे किया। तीनो अभिन्न अखड शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा अर्थात् वहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनो अभिन्न और अखंड बन जाते है, यही शुद्ध उपयोग निश्चल दशा है। अत निःकांक्षित अग के अनुसार सासारिक भोगाकाक्षा से रहित होकर शुद्ध आत्म लाभ की भावनाओ को लेकर जो देव, शास्त्र गुरु की पूजा, स्तुति, अभिषेक, चिन्तन आदि के द्वारा भक्ति की जाती है वह सम्यग्दर्शन का रूप है।

बन्ध का कारण कौन ?

सात तत्त्वों मे बन्धतत्त्व की चर्चा करते हुए आचार्य उमास्वामी ने आठवें अध्याय के प्रारम्भ में दो सूत्रों की रचना की है। पहला सूत्र है "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्ध हेतव " अर्थात् मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग ये बन्ध के कारण हैं।

इसी सूत्र के साथ दूसरा सूत्र है "सकषायत्वाज्जीव. कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः" अर्थात् कषाय सहित होने के कारण जीव कर्मों के योग्य पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता है वह बन्ध है।

इन दोनो सूत्रो मे विचारणीय यह है कि पहले सूत्र मे तो बन्ध के पांच कारण बताये हैं और दूसरे सूत्र मे बन्ध का एक ही कारण कषाय को बताया है। क्या ये परस्पर विरुद्ध कथन हैं या आपेक्षिक कथन हैं।

बन्ध चार प्रकार का है प्रकृतिबंध, प्रदेशबध, स्थितिबध, अनुभागबध ! इन चारो बन्धों के सम्बन्ध मे लिखा है—

'जोगापयडिपदेशा ठिदि अणुभागा कषाय दो होंति'।

अर्थात्—योगों से प्रकृतिबध और प्रदेशबन्ध होते है तथा कषायों से स्थितिबध और अनुभागबन्ध होते हैं।

इस तरह यहाँ चारों प्रकार के बंध के कारण मात्र योग और कषायो को ही बताया गया है इसमे मिथ्यात्व का कही नाम नही है। अत: इससे यही आभास होता है कि मिथ्यात्व बंध का कारण नही है। लेकिन फिर भी मिथ्यात्व, अविरति आदि को जो बध का कारण बताया है उसका कारण यह है कि यह गुणस्थानों के अनुसार बंध की प्रक्रिया के अभाव को लेकर बताया है। अर्थात् प्रथम गुणस्थान मे पाँचो ही प्रक्रिया बन्ध की होती है, दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थान मे मिथ्यात्व को छोडकर चार प्रक्रिया बध की होती है पाँचवे गुणस्थान विरताविरत तथा शेष तीन (प्रमाद, कषाय, योग) प्रक्रिया बध की होती है। छठे गुणस्थान मे प्रमाद, कषाय, योग इन तीनो की प्रक्रिया बध की होती है। छठे गुणस्थान में प्रमाद, कषाय योग इन तीनो की प्रक्रिया बन्ध के लिए होती हैं। सातवे से लेकर दसवे तक इन चार गुणस्थानो मे कषाय और योग दो ही बन्ध की प्रक्रिया के लिए होते हैं, ११, १२, १३ इन तीन गुणस्थानो (अशात कषाय, क्षीण कषाय, सहयोग केवली) में योग ही बध की प्रक्रिया के लिए होता है, चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान मे बन्ध ही नही होता है। इस प्रकार गुणस्थानों मे क्रम से किस प्रकार बंध की प्रक्रिया क्षीण होती जाती है उसका दिग्दर्शन पहले सूत्र में किया है, लेकिन ये सब बंध के वस्तुभूत कारण नही है।

मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी कषाय के ही सद्भाव में होता है। अत बन्ध तो अनन्तानुबन्ध कषाय से ही होता है लेकिन मिथ्यात्व का उसे सम्बल प्राप्त रहता है। अनन्तानुबन्धी का अर्थ ही यह है—"अनन्त मिथ्यात्वं तदनुबध्नाति इत्यनंतानुबंधी" अर्थात् जो अनन्त (मिथ्यात्व) को अपने साथ बाँधकर रखे वह अनन्तानुबन्धी कषाय है। अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय के साथ मिथ्यात्व का भी उदय अवश्य हो जायेगा। अन्तर्मुहूर्त कालीन प्रथमोपशम सम्यक्त्व की स्थिति मे अधिक से अधिक ६ आवली और कम से कम एक समय शेष रहने

पर अनन्तानुबंधी, क्रोध, मान, माया, लोभ इनमें से किसी एक के उदय होने पर सम्यक्दर्शन नष्ट हो जाता है तब सासादन गुणस्थान में होते हुए तुरन्त मिथ्यात्व गुणस्थान मे आ जाता है। इसके लिए उदाहरण दिया है कि सम्यक्त्व रत्न रूपी पर्वत से गिरकर जितने समय मे मिथ्यात्व रूपी भूमि पर गिरता है वह काल सासादन का है। मतलब यह कि अनन्तानुबंधी कषाय बिना मिथ्यात्व के नही रहती और मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी कषाय का संयोग पाकर ही कार्यकारी होता है। यद्यपि दोनों ही मोहनीय कर्म से सम्बन्धित हैं अनन्तानुबंधी चारित्र मोहनीय कषाय है और मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय है मिथ्यात्व है। इन दोनो का सम्बन्ध उसी प्रकार है जिस प्रकार कसाई और कसाई के हथियार का सम्बन्ध है। कसाई का काम पशु बध करना और पशु बध बिना हथियार के नही होता है इसलिए कसाई के साथ हथियार भी उसके पास रहता है। दोनो साथ रहते है पर कसाई वधक है और मिथ्यात्व वधक का साधन है वधक नही है। अथवा यो कहिये अनन्तानुबधी कषाय (कसाई) है और मिथ्यात्व उसका हथियार है। अगर कसाई हथियार का प्रयोग न करे तो हथियार अपने आप में अकिंचित्कर है वह एक तरफ पडा रहेगा, लेकिन प्रयोग करने पर वह कार्यकारी हो जाता है अकिंचित्कर नही रहता। इसलिए हम मिथ्यात्व को कथचित् अकिंचित्कर भी कह सकते हैं कथचित् कार्यकारी भी कह सकते है।

राजा श्रेणिक ने मुनि के गले मे मरा हुआ सर्प डाल दिया उसका आधारभूत मुनि से द्वेष नही था किंतु मिथ्यात्व था क्योंकि वह स्वय बौद्ध धर्म का अनुयायी था और उनकी पत्नी रानी चेलना को जो जैन थी उनको नीचा दिखाना चाहता था। अतः उस मिथ्यात्व के सम्बल से ही अनन्तानुबधी कषाय के उदय से उसे तेतीस सागर की आयु वाले सातवे नरक का बन्ध हुआ। मुनि निन्दा की और भी बहुत कथाएँ है। सुगन्ध दशमी कथा मे मनोरमा नाम की एक कन्या ने मुनि को देख कर उनकी खूब निन्दा की इतना ही नही बल्कि पान को उगाल भी थूक के साथ उनके ऊपर डाल दो। मुनि आहार ले रहे थे उस समय उनका अन्तराय हुआ और समता भाव से वहाँ चल दिये। मनोरमा इस मुनि द्वेष के कारण मरकर गधी हुई। स्पष्ट है कि यहाँ मनोरमा का मुनि से द्वेष था लेकिन मिथ्यात्व सम्बल नही था। अत. स्पष्ट है कि मिथ्यात्व स्वय कषाय भाव नही है लेकिन कषाय मे उग्रता पैदा करना उसका काम है। ठीक उसी तरह जैसे हथियार स्वय कसाई नही है लेकिन कसाई के हाथो में जाकर वह उसमे हिंसा की भी ओर उग्रता पैदा कर देता है। लेकिन हथियार यदि मोथरा हो, कमजोर हो तो उस उग्रता मे अन्तर पड जाता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय मे आनेवाले निषेक यदि मन्द अनुभाग के हैं तो हिंसा के फल मे उतनी उग्रता नही होगी अथवा अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय मे आनेवाले निषेक यदि मन्द अनुभाग के है तब हिंसा के प्रतिफल में अवश्य अन्तर होगा, ठीक उसी तरह जिस तरह यदि कसाई स्वयं कमजोर है। क्षीण शक्ति है तब भी उसके फल मे भी अन्तर होगा। मतलब यह है कि अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कम का तीव्र अनुभाग है तो उसका प्रतिफल भी तीव्र ही होगा। यदि दोनो का अनुभाग मन्द होगा तो फल भी मन्द ही होगा। अथवा एक मे तीव्र अनुभाग है और दूसरे मे मन्द है तब भी प्रतिफल से अन्तर आवेगा। जैसे कि कसाई भी विशेष शक्ति वाला है और हथियार भी मजबूत तो दोनो के द्वारा होने वाली हिंसा भी तीव्र होगी और यदि दोनो में एक क्षीण शक्तिवाला है और दूसरा अक्षीण शक्ति वाला है तब उनके द्वारा होने वाली हिंसा मे भी उसी प्रकार का अन्तर होगा।

अत निष्कर्ष यह हुआ कि अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यादर्शन दोनो ही अलग-अलग प्रकृतियाँ हैं, अनन्तानुबंधी चारित्र मोहनीय प्रकृति है, मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय प्रकृति है। अनन्तानुबंधी कषाय कसाई की तरह है और मिथ्यात्व कसाई के हथियार की तरह है, कसाई द्वारा प्रयोग न करने पर जैसे हथियार अकिंचित्कर है वैसे ही अनन्तानुबन्ध के प्रयोग के बिना मिथ्यात्व भी अकिंचित्कर है। जैसे कसाई के प्रयोग करने पर हथियार कार्यकारी होता है वैसे ही अनन्तानुबंधी कषाय के प्रयोग करने पर मिथ्यात्व भी कार्यकारी हो जाता है। उसकी अकिंचित्करता मिट जाती है। हाँ मिथ्यात्व अकेला बंध के प्रति अकिंचित्कर है।

शंका—अनन्तानुबंधी कषाय चारित्रमोहनीय प्रकृति है जिसका काम चारित्र का घात करना है और मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय प्रकृति है जिसका काम सम्यक् श्रद्धा का घात करना है। फिर इन दोनो का गठ जोडा क्यों है ?

समाधान—यह ठीक है कि एक चारित्र का घात करती दूसरी श्रद्धा का घात करती है। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिये कि श्रद्धा के साथ उसके अनुरूप आचरण भी जुडा है। सम्यक् श्रद्धा का अर्थ सच्चा (ठीक ठीक विश्वास) लेकिन विश्वास तो आत्मा का भाव है उसका क्रियात्मक रूप भी तो कुछ होना चाहिये।

क्रियात्मक रूप को ही चारित्र कहा जाता है। सम्यक्दर्शन का वह क्रियात्मक रूप है। नि.शंकता आदि आठ अगों का पालन करना, आठ मदों का त्याग करना, तीन मूढ़ताओ का त्याग करना, षट्अनायतनायो का त्याग करना। श्रद्धा के अनुरूप ये ही क्रियात्मक आचरण हैं। अनन्तानुबंधी के रहने पर यह क्रियात्मक आचरण (चारित्र) नही हो सकता। इसलिए सम्यक् श्रद्धा का अविनाभावीरूप यह चारित्र ही है। इसी का घात अनन्तानुबन्धी कषाय करती है।

शंका—आगम मे चारित्र के पाँच भेद बतलाये है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय यथाख्यात। इन्ही को देश सयम और सकल सयम मे विभाजित कर दिया गया है। इनमे आठ अंको का पालन तथा आठ मद आदि का त्याग कही आता नही फिर यह चारित्र कैसे है।

समाधान—आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वरचित चारित्रपाहुड मे चारित्र के दो भेदो का वर्णन किया है। वे गाथा न० ५ मे लिखते हैं—

जिणणाणदिट्ठिसुद्ध पढम सम्मत्तचरणचारित्त।
विदिय सजमचरण जिणणाणसदेसिय त पि ।।५।।

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्र के ज्ञान से उपदिष्ट पहला चारित्र सम्यक्त्वाचरण चारित्र है और दूसरा सयमचरण चारित्र है।

एव चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससकाइ।
परिहरिसम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण।।६।।

अर्थ—इस प्रकार सम्यक्त्वाचरण चारित्र को जानकर जिनेन्द्र के द्वारा प्रतिपादित मिथ्यात्व के उदय से शंकादिल दोषो को एव तीन मूढ़ता ६ अनायतन, आठ मद को मनवचनकाय से छोडना चाहिये।

इन प्रमाणो के अनुसार सम्यक्त्व चरण चारित्र मे सम्यग्दर्शन के २५ दोषो की निवृत्तिरूप चारित्र आता है और सयम चरण चारित्र मे सामायिकादि पाँच प्रकार का चारित्र आता है। अनतानुबधी इसी सम्यक्त्वचरण चारित्र का घात करती है। इस चारित्र का शब्दार्थ भी यही है—सम्यक्त्व के अनुरूप चरण अर्थात् आचरण करना सम्यक्त्वचरण चारित्र है। इससे सिद्ध होता है कि जैसे ही अनतानुबधी कषाय का अभाव होता है उसी समय मिथ्यात्व का भी अभाव हो जाता है बध को कर्ता अनतानुबधी कषाय है और उस कारण मिथ्यात्व है। अत. अपेक्षाकृत वह बध के प्रति अकिंचित्कर भी है और किंचित्कर भी है।

पुण्य कर्म उपादेय है या अनुपादेय

समयसार एक विशेष दृष्टिकोण को लेकर लिखा गया है । वह दृष्टिकोण स्वयं आ० कुन्दकुन्द ने निम्न शब्दों में प्रकट किया है ।

सुदपरिचिदणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबन्धकहा । एयत्तस्सुवलभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ।
त एयत्तविहत्त दाएहं अप्पणो सविहवेण । जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज , छलं ण घेतव्वं ।।

अर्थात् काम भोग बंध की कथा सभी के द्वारा श्रुत परिचित और अनुभूत है किन्तु एक और पृथक् आत्मा की किसी ने नही सुनी अत मै उसी एक और पृथक् आत्मा को बताऊँगा इसमें अगर मैं कही चूक जाऊँ तो छल नही ग्रहण करना चाहिये ।

अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार कुन्दकुन्द सभी द्रव्य कर्म नोकर्म और भाव कर्मों से आत्मा को पृथक् बताना चाहते है । ऐसी स्थिति मे शुभ अशुभ रूप पुण्य पाप कर्म का निषेध करना उनके लिये स्वाभाविक है । पर इसका अर्थ यह नही कि पुण्य हेय है । आचार्य कुन्दकुन्द ने तो गाथा नं० ७ में यहाँ तक लिखा है—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदसण णाण ।
णवि णाण च चरित्तं ण दसण जाणगो सुद्धो ।।

आत्मा के ज्ञान दर्शन चारित्र व्यवहार से कहे जाते हैं वास्तव में आत्मा मे न ज्ञान है न दर्शन है न चारित्र है ।

इसी पर से कोई सिर फिरा आदमी ज्ञान दर्शन चारित्र का निषेध करने लगे या हेय कहने लगे तो इसमें कुन्दकुन्द आचार्य का क्या दोष है । आचार्य कुन्दकुन्द की अपनी एक विवक्षा है जिसके आधार पर उन्होंने समयसार की रचना की है हमे उस विवक्षा को समझना चाहिये । मोक्ष अधिकार में कुन्दकुन्द ने गाथा ३०६ और ३०७ मे प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचना धारण निवृत्ति निन्दा गर्हा आदि को विषकुम्भ कहा है अर्थात् ये आलोचना प्रतिक्रमण आदि जहर के भरे हुये घडे है तब क्या मुनियो को या गृहस्थ को इन्हे हेय मानकर छोड देना चाहिये ? यदि नही तो कुन्दकुन्द के उस कथन को जिसमे पुण्य कर्म को कुशीलादि कहा है आधार बनाकर क्या पुण्य को हमें हेय समझ लेना चाहिये ।

वास्तव में कुन्दकुन्द ने पुण्य पाप नामक पदार्थ का सामान्य वर्णन किया है सामान्य वर्णन में विशेष व्यवस्था को गौण कर दिया जाता है उदाहरण के लिए शास्त्रो मे स्त्री की विष बेल कहकर निन्दा की है पर इस सामान्य कथन के आधार पर आर्यिका को कोई विष की बेल मानकर निरादर करे और कहे विष बेल की वन्दना आदि नही करना चाहिये तो यह कहाँ तक उचित होगा । आ० कुन्दकुन्द ने भी पुण्य पाप को कर्म सामान्य मानकर दोनो शूद्री के गर्भ से उत्पन्न मानकर निन्दा की है पर इसका अर्थ यह नही है कि प्रत्येक प्रकार का पुण्य कुशील है हेय है । मिथ्यादृष्टि के पुण्य और सम्यग्दृष्टि के पुण्य मे जमीन आसमान का अन्तर है एक का पुण्य आसक्ति का जनक है दूसरे का पुण्य निरासक्ति पूर्वक है, एक का पुण्य अधोगति को ले जाता है दूसरे का पुण्य उर्ध्वगति को प्राप्त कराता है पर चूंकि मिथ्यादृष्टियों की बहुतायत है अतः सम्यग्दृष्टियों को (विशेष को) गौण कर वहाँ पुण्य को हेय कह दिया है और लोह श्रृंखला तथा स्वर्ण श्रृंखला का उदाहरण

लेकर बन्धन की अपेक्षा उनकी समानता का प्रदर्शन किया गया है। इससे यह फलितार्थ निकलता है कि पुण्य मात्र हेय है लेखक की नादानी है।

शास्त्रो में लिखा है "आस्रव दुखकार घनेरे बुधवन्त तिन्हें निरवेरे" यहाँ आस्रव मात्र को दुःखकारी कह दिया है, पर क्या वास्तव मे सभी आस्रव दुःखकारी हैं ? यदि ऐसा है तो ईर्यापथ आस्रव की क्या स्थिति होगी ? अरहन्त भगवान् के सबसे अधिक आस्रव होता है साथ ही प्रकृतिप्रदेश बध भी होता है क्या उनका आस्रव भी उन्हें दुःखकारी और पुण्य (सातावेदतीय) बन्ध को अपेक्षा क्या वह पाप बन्ध के समान परतन्त्रता का द्योतक है ? उनके इस प्रकृतिप्रदेश बंध को आप लोह शृंखला का बन्धन मानेंगे या स्वर्ण शृखला का बन्धन मानेंगे आखिर बध तो बध ही है। सही स्थिति यह है कि सामान्य तथा आस्रव दुःख करने वाला ही होता है अतः ईर्यापथादि आस्रव विशेष को गौण कर वहाँ सामान्य बात कही गई। पुण्य पाप को कुशील कहने का आचार्य कुन्दकुन्द का भी यही अभिप्राय रहा है।

यदि आचार्य कुन्दकुन्द को सर्वथा ही प्रत्येक पुण्य कुशील अभीष्ट है तो उन्होंने अपनी दूसरी रचना प्रवचनसार में यह क्यो लिखा है "पुण्य फला अरहन्ता" यदि पुण्य कुशील है तो उसका फल भी कुशील होना चाहिये तो अरहन्त भगवान् भी कुशील हुए फिर तो णमो अरहंताण कहना भी कुशील को नमस्कार करना हुआ है।

सोलहकारण भावनाएं पुण्य हैं और इन सोलहकारण भावनाओ की प्रत्येक गृहस्थ पूजा करता है और पुण्य कुशील है तब क्या गृहस्थ कुशील की पूजा करता है क्या आचार्य कुन्दकुन्द को यह अभीष्ट था। सोलहकारण भावना रूप कुशील की पूजा न की जाय। दूसरे बन्ध की अपेक्षा पुण्य पाप दोनो एक समान है तब तो मैथुन आदि का सेवन करने वाला और सोलहकारण भावनाओं का चिन्तन करने वाला दोनों एक समान हुए। क्योंकि दोनो से ही बंधन होता है। मुनियो के छः आवश्यको मे स्तुति और वंदना को आवश्यक बताया।

सिद्धान्त मे सम्यग्दृष्टि के पुण्य को नियम से मोक्ष का कारण बताया है जैसा कि भाव सग्रह की निम्न गाथा से स्पष्ट है—"सम्माइट्ठी पुण्ण ण होइ ससार कारण णियमा। मोक्खस्स होइ हेउ जयपि णिवाण ण सो कुणइ" अर्थात् सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से ससार का कारण नही है बल्कि निदान न करें तो मोक्ष का ही कारण है क्या आ० कुन्दकुन्द और भाव सग्रह के कर्ता आ० देवसेन मे कोई टकराव है यदि नही तो कुन्दकुन्द के कथन को तो सिद्धान्त कथन कहा जाय और देवसेन के कथन को सिद्धान्त न माना जाय यह कहाँ का न्याय है।

आचार्यों ने ग्रन्थ रचनाओ में अपनी-अपनी विवक्षाओ को लेकर कथन किया है किन्तु उनमे से किसी एक को ही सिद्धान्त मानना दूसरी विवक्षा को नही इसका समर्थन कोई अज्ञानी कर सकता है। और फिर कुन्दकुन्द ने तो दोनो ही विवक्षाओ को स्वीकार किया है एक विवक्षा मे वे पुण्य को कुशील कहते है और दूसरी विवक्षा में वे अरहंत परमेष्ठी को पुण्य का फल मानते है।

व्रती मिथ्यादृष्टि और अव्रती सम्यग्दृष्टि

जैन शास्त्र चार अनुयोगो में विभाजित है और प्रत्येक अनुयोग का अपना अलग-अलग दृष्टिकोण रखकर भी चारो अनुयोग परस्पर समन्वित हैं कोई किसी का विरोध नही करता । जब चारो ही अनुयोग आप्तोपज्ञ है तब विरोध का तो प्रश्न हो नही उठता । स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥

शास्त्र उसे कहते है जो आप्त का कहा हुआ हो, वादी प्रतिवादी द्वारा उल्लघन न किया जा सके, जिसमे प्रत्यक्ष अनुमान से बाधा न आ सके, तात्त्विक उपदेश कर्ता हो, सबके लिए हितप्रद हो, कुमार्ग का विनाशक हो ।

चारो अनुयोग यदि शास्त्र है तो उनमे परस्पर विरोध की तो बात ही नही उठती । अतः प्रत्येक अनुयोग अपनी सचाई लिये उतना ही जिम्मेदार है जितने स्वय व्याप्त भगवान् ।

इन चारो अनुयोगो मे हम यहाँ दो अनुयोगो की चर्चा करेंगे । ये दो अनुयोग है करणानुयोग और चरणानुयोग । 'करण' शब्द का अर्थ परिणाम और गणित दोनो ही होते है । जिन शास्त्रो मे परिणामो की मुख्यता को लेकर या द्वीप समुद्रादि के नाप तोल की चर्चा है वह करणानुयोग है और जिन शास्त्रो मे बाह्य आचार को लेकर चर्चा है वे चरणानुयोग कहलाते है । रत्नकरण्डश्रावकाचार, मूलाचार, चारित्रसार, भगवती आराधना आदि चरणानुयोग के ग्रन्थ हैं और गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि करणानुयोग के ग्रन्थ है । जब कोई शास्त्रीय कथन या चर्चा हमारे सामने आती है तो हमे यह देखना होगा कि उस चर्चा का दृष्टिकोण करणानुयोग है या चरणानुयोग है । आचारशास्त्र कहता है कि अव्रत अवस्था से व्रत अवस्था श्रेष्ठ है अत. अव्रती की अपेक्षा व्रती स्वभावत पूज्य है । करणानुयोग कहता है कि व्रत के अनुकूल परिणाम होने पर ही व्रती है अब प्रश्न यह है कि व्रत सम्बन्धी बाह्य आचरण और अनुकूल परिणाम इन दोनो की पहिचान युगपत् सम्भव है या नहीं । उत्तर स्पष्ट है—व्रत सम्बन्धी बाह्य आचरण का प्रत्यक्ष तो सभी को होता है किन्तु तदनुकूल परिणामो की पहचान साक्षात् सभव नही है । एक व्रती अपने अणुव्रतो या महाव्रतो को जब यथावत् पालन करता है तब उसके योग्य उससे इच्छाकार या नमस्कार न कर केवल उसके परिणामो की जानकारी के लिए उससे प्रश्न करना या उसकी प्रतीक्षा के लिए रुके रहना सम्यग्दर्शन तो है ही नही औसत दर्जे की बुद्धिमानी भी नही है । दो अपरिचित साधु सघ जब परस्पर मे मिलते है तब परस्पर वन्दना या प्रतिवन्दना का शिष्टाचार नही भूलते हालाकि वे एक दूसरे के सम्बन्ध मे यह नही जानते कि इनमें कौन मिथ्यादृष्टि है और कौन सम्यग्दृष्टि है । यदि मूलत साधु के आचार मे ही किसी प्रकार की जघन्यता हो तब वदना या प्रतिवन्दना का प्रश्न अवश्य खडा होता है । जहाँ तक श्रावक की बात है वह साधु का कुछ शिथिल आचरण भी देखे तब भी नमस्कार आदि के प्रारम्भिक शिष्टाचार को न भूले । प्रारम्भिक शिष्टाचार के पालन करने वाले श्रावक को ही यह अधिकार है कि मुनि को उस शिथिलाचार के विरुद्ध उसे सम्बोधित करे । अन्यथा

पाखंडी, अश्रद्धालु, मायाचारी, ईर्ष्यालु ऐसे बहुत से व्यक्ति हैं जो अपनी मान्यताएं साधु पर थोपने के लिये परीक्षा प्रधानता का बहाना लिया करते हैं पर वे स्वतः अपने आप मे अत्यन्त पतित होते हैं।

हरिषेण कथाकोष में एक कथा आती है कि श्रेणिक के सम्यग्दर्शन की परीक्षा के लिए एक देव मध्य-लोक में आया। उसने मुनि का नग्न रूप धारण कर हाथ में पीछी कमण्डलु ले लिया और एक सरोवर के किनारे मछली पकडने के लिये जाल डालने लगा। नगर विहार करते हुए कही श्रेणिक उधर आ निकले। उन्होंने पीछी कमण्डलु सहित मुनि को दिगम्बर देखकर पहले तो उन्हें नमस्कार किया बाद मे स्थितिकरण अंग के अनुरूप उन्होने उस छद्मवेषी साधु से कहा कि इस जैनमुद्रा के वेष मे तुम्हारा यह कार्य अत्यन्त अनुचित है। तुम्हें इस कार्य से तुरन्त विरत होकर साधुता के अनुकूल आचरण करना चाहिए। अन्यथा नगर का अधिपति होने के कारण मैं तुम्हें प्रात गधे पर चढ़ाकर नगर भ्रमण कराऊँगा।

साधु वेषधारी उस देव ने सम्राट् श्रेणिक को उक्त विनय और स्थितिकरण की इन भावनाओ से प्रेरित होकर उसकी बडी स्तुति की और साधुवाद कर स्वर्ग मे अपने स्थान चला गया।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि विनय की परिधि मे रहकर ही परीक्षा प्रधानी बनता है। अन्यथा तो वह उच्छृङ्खल व्यक्ति है।

शास्त्रो में जहाँ द्रव्यलिगी की चर्चा आती है वह असत्य मिथ्यादृष्टि के लिये ही आती है। और उसके मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। परन्तु भव्य द्रव्यलिगी के लिए यह आवश्यक नही है कि वह मिथ्या-दृष्टि ही हो। मुनि लिंग धारण करके भी यदि मुनित्व के भाव न हो तो ऐसा भव्य सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है।

छःढाला मे यह जो लिखा है कि 'मुनि व्रतधार अनन्तवार ग्रीवक उपजायो' यह कथन अभव्य मिथ्या-दृष्टि द्रव्यलिंगी के लिए ही है। भव्य पुरुष अनन्तवार मुनिव्रत नही पालन करता बल्कि वह अधिक से अधिक ३२ बार सयम धारण करके मुक्त हो जाता है।

परिणामो का चढाव उतार इतना अल्पकालिक और सूक्ष्म है कि व्यक्ति का मिथ्यादृष्टिपन और सम्यग्दृष्टिपन जाना नही जा सकता। ग्यारहवे गुणस्थान मे पूर्ण वीतरागता प्राप्त करने के बाद भी गिरता हुआ साधु मिथ्यात्व गुणस्थान मे आ जाता है उसकी ध्यानस्थ मुद्रा भी वैसी ही बनी रहती है तब भी सम्य-ग्दृष्टि व्यक्ति तो उसको नमस्कार करेगा ही। उसको नमस्कार करने से सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि नही हो जायगा और न उस नमस्कार से उसे कोई अशुभ बध हो होगा। इसके विपरीत यदि वह यह सोचकर कि न जाने वह सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि है नमस्कार न करे तो उसी समय से मिथ्यादृष्टि ही है। दूसरी तरफ सम्यग्दृष्टि होकर भी जो अव्रती है वह किसी भी स्थिति मे पूज्य नही है। क्योकि उसकी अव्रत रूप स्थिति सामने नजर आती है। अतः ऐसे व्यक्ति को यदि कोई गुरु समझ कर नमस्कार करता है तो वह बोलचाल की भाषा में मूर्ख है और शास्त्रीय भाषा मे मिथ्यादृष्टि है। फिर किसी व्यक्ति के लिए यह दावा भी तो नही किया जा सकता कि वह अव्रती होकर सम्यग्दृष्टि ही है। सम्यग्दर्शन आत्मा का सूक्ष्म परिणाम है उसे केवली भगवान् ही प्रत्यक्ष देखते हैं अथवा अवधिमन पर्ययज्ञानी घातक कर्म की स्थिति के अभाव को देखकर सम्यग्दर्शन होने का अनुमान कर सकता है। इसलिए किसी व्यक्ति के सम्बन्ध मे यह कहना कि वह अव्रती तो है पर सम्यग्दृष्टि भी है महज अन्ध श्रद्धा के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

ज्ञान की बातें करना तो बहुत आसान है, ठग, छद्मवेषी, स्वार्थी मनुष्य सच्चे ज्ञानियो की अपेक्षा भी अधिक ऊँची और सुन्दर बातें ज्ञान की करते है पर यह सम्यक्त्व का चिह्न नही है। व्रतो का अभिनय भी

इस प्रकार के मनुष्य कर सकते है पर वह अभिनय दर्शक से छिपा नही रहता । लेकिन ज्ञान की बातें तो मनुष्य सदा ही कर सकता है उसका अन्तरंग नहीं पहचाना जा सकता । दिखावटी व्रत पालने में भूख प्यास का अभिनय भी तो कठिन तपस्या है पर ज्ञान की बातें झाडने में तो वह भी नही है । अतः अव्रती बनकर ज्ञान की आड़ में अपने को सम्यग्दृष्टि घोषित करना या किसी को सम्यग्दृष्टि मान लेने से ही तो कोई अव्रत सम्यग्दृष्टि नही कहला सकता ।

वस्तुतः सम्यक्त्व और मिथ्यात्व तो आत्मा के सूक्ष्म भाव हैं जिन्हें पहचानना अत्यन्त कठिन है अतः मनुष्य की पूज्यता या अपूज्यता उसके बाह्य चारित्र पर निर्भर है । यदि मनुष्य व्रत पालता है तो करणानुयोग की दृष्टि से वह मिथ्यादृष्टि भी क्यो न हो, हमारे सामने तो उसका व्रती व्यक्तित्व है अतः हमारे लिए वन्द्य है। हाँ, केवली हमे यह कह दे कि यह व्रती मिथ्यादृष्टि है तब उसकी वदना करना छोड दिया जायगा । व्यवहार-मार्ग तो व्यवहार तरीके से ही चलेगा । यह ध्यान रखने की बात है ।

पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है

धर्म की परिभाषा, व्याख्या और भाव जैन शास्त्रों में यथास्थान मौजूद है। जिन्होंने प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग का क्रम से पारायण किया है वे उन सभी परिभाषाओं का अनेक दृष्टिकोणों से समन्वय करके धर्म की वास्तविकता को समझते हैं, परतु जिनका उस प्रकार से क्रमबद्ध स्वाध्याय नही है और पल्लवग्राही पाण्डित्य के बल पर शास्त्रीय शब्दो का अर्थ करते-कराते हैं, वे स्वय तो भूलते ही हैं, साथ ही दूसरों को भुलाते हैं। धर्म को लेकर आजकल यही हो रहा है। यहाँ हम अपनी ओर से कुछ न लिख कर धर्म की व्याख्या के विषय में आचार्यों का दृष्टिकोण स्पष्ट करेंगे।

आचार्य कुन्दकुन्द, जिनके समयसार के नाम पर व्रतादिरूप पुण्याचरण को विष्ठा की उपमा दी जाती है, धर्म की व्याख्या इस प्रकार करते है—

धम्मो दयाविसुद्धो, पव्वज्जा सव्व संगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो, उदययरो भव्वजीवाण ।।—बो० पा० ।।

जिसमे विशुद्ध दया है वह धर्म है, जिसमे सर्व परिग्रह का त्याग है, वह दीक्षा है जो मोह रहित है वह देव है। उनसे भव्य जीवो का कल्याण होता है।

दसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
त सोऊण सकण्णे, दंसणहीणो ण वंदिव्वो ।।—द० पा० ।।

धर्म दर्शन—(सम्यग्दर्शन) मूलक होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। अपने कान से उसे सुनकर दर्शनहीन की वन्दना नही करनी चाहिए।

एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वय भणिय।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ।।—द्वा० अ० ।।

गृहस्थो का दर्शनपूर्वक ग्यारह प्रतिमा रूप और मुनियो का दश भेद रूप धर्म उत्तम सुख सम्पन्न जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

वदसमिदिपालणाए दडच्चाएण इंदियजएण।
परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ।।

व्रत समिति का पालन करना, मनवचन काय की अशुभ प्रवृत्ति रोकना, इन्द्रियो का जीतना सयम धर्म है।

दाण पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावया तेण विण।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मे त विण तहा सोवि ।।—र० सा० ।।

दान देना, पूजा करना मुख्य श्रावक धर्म है उसके बिना कोई श्रावक धर्म नही हो सकता। ध्यान व स्वाध्याय करना मुनियों का धर्म है उसके बिना उसी प्रकार कोई मुनि नही हो सकता।

चारित्तं खलु धम्मो-धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥७॥—प्र० सा०

चारित्र ही धर्म है, धर्म साम्यभाव कहा गया है । मोह और क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम साम्य-भाव कहा गया है ।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा उल्लिखित इन धर्म की परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का क्रियारूप आचरण और रागद्वेष की निवृत्ति दोनों ही धर्म है । वे जिस प्रकार रागद्वेष रहित साम्यभाव को धर्म कहते है उसी तरह प्रशस्त राग रूप दान पूजा व्रत समिति आदि को भी धर्म कहते है । यह प्रशस्त राग पुण्य रूप आचरण है । अत कुन्दकुन्द आचार्य पुण्य को भी धर्म मानते है । इस पुण्य को मल मूत्र कहना तत्त्व से अनभिज्ञता प्रकट करना है ।

इस विषय मे अन्य आचार्यो का भी अभिप्राय देखिये—

जइ भणइ को वि एव गिहवावारेसु वट्टमाणो वि ।
पुण्णे अम्ह ण कज्ज जं ससारे सुबाडेई ॥—भाव संग्रह ॥

अर्थ—यदि कोई कहे कि घर के कार्य करते हुए भी हमे पुण्य से कोई प्रयोजन नही है क्योंकि यह संसार भ्रमण का कारण है ।

तो उसका यह कहना ठीक नही है ।

मेहुणसण्णारूढो मारइ णवनक्खसुहमजीवाइ ।

शास्त्रो मे लिखा है कि गृहस्थ मेथुन करने मे न दिखाई देने वाले अनेक सूक्ष्म जन्तुओ का विनाश करता है ।

सदा घर के अनेक काम करता हुआ गृहस्थ आर्त, रौद्र ध्यान मे प्रवृत्त होकर अशुभ कर्मो का आस्रव करता है ।

जह गिरवई तलाए अणवरय पविसए सलिलपरिपुण्णे ।
मणवयतणुजोएहि, पवसइ असुहेहि तह पाव ॥ भा० स० ॥

जिस तरह जल से भरे सरोवर मे पर्वत का पानी निरन्तर प्रवेश करता रहता है उसी तरह अशुभ मन, वचन योगो से पाप कर्मो का आस्रव होता रहता है ।

जाम ण छडइ गेह ताम ण परिहरइ इतयं पावं ।
पाव अपरिहरंतो हेओ पुण्णस्स मा चयऊ ॥ भा० स० ॥

इसलिए जब तक यह जीव घर नही छोडता तब तक उसका पाप दूर नही हो सकता । इसलिए पाप का परिहार हुए बिना इसे पुण्य करना नही छोडना चाहिए ।

आमुक्क पाण्णुहेउ पावस्साव अपरिहरंतो य ।
वज्झइ पावेण णरो सो दुग्गइ जाइ मरिऊण ॥भा० स०॥

यदि पापास्रव को दूर किये बिना पुण्य के कारणों को छोड देता है तो वह पाप कर्म का बन्ध करेगा और मर कर दुर्गति को जायेगा ।

पुण्णस्स कारणाइ पुरिसो परिहरउ जेण णिय चित्तं ।
विसयकसायपउत्त णिग्गहियं हयपमाएण ॥भा० स०॥

पुण्य के कारण उसी पुरुष को छोड़ना चाहिए जिसने प्रमाद रहित होकर विषय कषायो मे प्रयुक्त मन का निग्रह कर लिया है ।

गिहवावारविरत्तो गहियं जिणलिंग रहियसपमाओ।
पुण्णस्स कारणाई परिहरउ सयावि सो पुरिसो ॥भा० स०।

जो घर के कामो से विरक्त है, जिसने जिनदीक्षा ग्रहण की है, जो प्रमाद रहित है वह पुण्य के कारणों का त्याग करे।

असुहस्स कारणेहिं य कम्मच्छक्केहिं णिच्च वट्टंतो।
पुण्णस्स कारणाइ बंधस्स भयेण णेच्छंतो ॥ भा० स० ॥
ण मुणइ इय जो पुरिसो जिणकहिय पयत्थणवसरूवं तु।
अप्पाण सुयणमज्झे हासस्स य ठाणय कुणई ॥ भा० स० ॥

अर्थ—अशुभ कर्मभूत के कारणबन्ध छह काय के जीवो की विराधना द्वारा कर्मबन्ध करता हुआ बन्ध के भय से जो पुण्य के कारणों को नही जानता, वह मनुष्य जिनेन्द्र कथित के नव पदार्थों के स्वरूप को न मानने वाला और सज्जनों के बीच में अपने को हँसी का पात्र बनता है।

पुण्णं पुव्वाचरिया दुविह अक्खंति सुतउत्तीए।
मिच्छपउतेण कय विवरीयं सम्मजुत्तेण ॥ भा० सं० ॥

अर्थ—पूर्वाचार्यों ने आगम के अनुसार पुण्य दो प्रकार का बताया है, एक मिथ्यात्वसहित पुण्य, दूसरा सम्यक्त्वसहित पुण्य।

मिच्छादिट्ठी पुण्ण फलह कुदेवेसु कुणरतिरियेसु।
कुच्छियभोगधरासु य कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥भा० स०॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि का पुण्य नीच देवो मे, नीच मनुष्यों में तिर्यचो मे फैलता है तथा कुपात्रदान से कुभोगभूमि प्राप्त होती है।

सम्मादिट्ठी पुण्ण, ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउ जइवि णियाण ण सो कुणइ ॥भा० स०॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से ससार का कारण नही है, वह सम्यग्दृष्टि यदि निदान (आगामी सासारिक सुखों की इच्छा) न करे तो मोक्ष का कारण है।

तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्ण मोक्खस्स कारण हवइ।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्ण चायरउजतेण ॥भा० सं०॥

अर्थ—इसलिए सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है, ऐसा जानकर गृहस्थ को प्रयत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करना चाहिए।

पुण्णस्स कारणं फुडु पढमं ता हवइ देवपूजा य।
कायव्वा भत्तीए सावयवग्गेण परमाए ॥भा० सं०॥

अर्थ—पुण्य का कारण पहला देव-पूजा है। श्रावक वर्ग को इसे परमभक्ति से करना चाहिए।

उक्त सब प्रकरण आचार्य देवसेन के भाव सग्रह से उद्धृत हैं, ये देवसेन वे ही हैं जिन्होने अपने दर्शन-सार में कुन्दकुन्द आचार्य के दिव्यज्ञान की प्रशसा करते हुए उनके उपकार को स्मरण किया है। उनका स्पष्ट कथन है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से मुक्ति का कारण है और ऐसा न समझने वाला क्या हँसी का पात्र नही है? हम नही समझते कि आचार्य देवसेन से अधिक श्री कुन्दकुन्द को समझने वाला आज कोई व्यक्ति है।

शुद्ध चैतन्य की प्राप्ति इसी पुण्य कर्म से होती है, इसके और प्रमाण देखिये—

जिनेशस्य स्नानात् स्तुतियजनजपान्मन्दिरार्चाविधाना-

च्चतुर्धादानादाध्ययवलजयतो ध्यानतः संयमाच्चा ।

व्रताच्छीलात्तीर्थादिकगयवविधेः क्षान्तिमुख्यप्रर्थ्वात्,

क्रमाच्चिद्रूपाप्तिर्भवति जगति ये वाछकास्तस्य तेषाम् ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक करने से, उनकी स्तुति पूजा जाप करने से, शास्त्रों का अध्ययन करने से, इन्द्रियों के जीतने से, ध्यान करने से, संयम करने से, व्रत से, शील से, तीर्थादि की यात्रा करने से, उत्तम क्षमा आदि धर्मो के पालने से शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति होती है

गृहिभ्यो दीयते शिक्षा पूर्वं षट्कर्मपालने ।

व्रतांगीकरणे पश्चात् संयमग्रहणे ततः ॥

यातिम्यो दीयते शिक्षा पूर्वं सयमपालने ।

चिद्रूपचिन्तने पश्चादपमुक्तो बुधै क्रम ॥त० ज्ञा० त०॥

अर्थ—गृहस्थ को पहले षट् कर्म (देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, दान, आदि छह पुण्यकार्य) पालन की शिक्षा दी जानी चाहिए, उसके बाद व्रत पालने की शिक्षा देनी चाहिए, फिर सयम धारण करने की शिक्षा देनी चाहिए।

मुनि को पहले संयम (महाव्रत समिति आदि पुण्य कार्य) पालन की शिक्षा दी जानी चाहिए, फिर चैतन्य स्वरूप के चिन्तन में उसे प्रवृत्ति करना चाहिए, विद्वानो ने यही क्रम बतलाया है।

इस प्रकार पुण्य की ग्राह्यता के संबंध मे पूर्वाचार्यों के उद्‌गार अत्यन्त संक्षिप्त रूप मे प्रकट किये गये है।

जड क्रिया और धर्म

व्रत पूजा उपासना आदि को जड क्रिया (शरीर की क्रिया) कहकर उसे धर्म न मानना उत्सूत्र भाषण है क्योंकि यदि पुण्य क्रियाये जड क्रियाये है तो पाप क्रियाये भी जड की ही क्रियायें कहलायेंगी। हिंसा आदि करना, अभक्ष्य-भक्षण करना आदि सभी तो जड शरीर के द्वारा होता है, यदि पुण्य क्रियायें धर्म नही हैं तो पाप क्रियायें अधर्म नही हो सकती। इस सबध मे आचार्य कुन्दकुन्द ने अच्छा स्पष्ट विवेचन किया है।

वे कहते हैं कि यदि जड कर्म ही शुभ (पुण्य) अशुभ (पाप) सब कुछ करते है तो ऐसा कहने वाले के यहाँ कोई मनुष्य परस्त्री सेवन करता हुआ भी परस्त्रीगामी नही कहलायेगा क्योकि उसके मत मे पुरुष वेद कर्म ही स्त्री की अभिलाषा करता है और कोई स्त्री व्यभिचारिणी नही कहलायेगी क्योकि उसके मत मे स्त्री वेद कर्म ही पुरुष की अभिलाषा करता है। न कोई किसी का हिंसक होगा क्योकि कर्म ही दूसरे का घात करता है। श्री कुन्दकुन्द ने अपने इस कथन को समयसार मे ३३२ से ३४४ तक की १३ गाथाओ द्वारा बहुत सुन्दर लिखा है। यहाँ पर हम उक्त समर्थन मे केवल दो गाथाये लिखते हैं—

पुरिसिच्छयाहिलासी इत्थीकम्मं पुरिसमहिलसइ ।

एसा आयरियपरपरागदा एरिसी दु सुई ॥३३६॥

तम्हा ण कोवि जीवो अवभचारी उ अम्ह उवएसे ।

जम्हा कम्म चेव हि कम्म अहिलसइ इदि भणिय ॥३३७॥

अर्थ—पुरुषवेद कर्म स्त्री को अभिलाषा करता है। स्त्री वेद कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है, यह आचार्य परम्परा से आई हुई श्रुति है। अतः तेरे (पुण्य पाप की जड क्रिया मानने वाले के) मत में कोई अब्रह्मचारी नही है क्योंकि कर्म (जड) ही कर्म (जड) की अभिलाषा करता है।

जैनागम मे वस्तु व्यवस्था अनेकान्त के आधार पर की गई है, एकान्त के आधार पर नहीं है, उसे आँखों से ओझल कर जो एकान्त कथन से वस्तुत्व का निर्माण करना चाहते हैं, वे श्री कुन्दकुन्द आचार्य के अनुयायी नही हो सकते। ●

आधुनिक चर्चाएँ और आगम प्रमाण

चर्चा १—दान पूजा इत्यादि शुभ भाव है और हिंसा असत्य आदि अशुभ भाव हैं इन शुभाशुभ भाव करने से धर्म होता है यह मानना तो त्रिकाल मिथ्यात्व है —समयसार प्रवचन भाग २

समाधान १—दान पूजा आदि को श्रावक का धर्म बताया है। उसके बिना श्रावक श्रावक नहीं कहला सकता। स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द जो समयसार जैसे निश्चय प्रधान ग्रन्थ के कर्ता है अपने पाहुड ग्रन्थ में लिखते हैं—

दाण पूजामुक्खो सावयधम्मो न सावया नेम बिना।

अर्थात् दान करना, पूजा करना यह श्रावक का मुख्य धर्म है। दान पूजा के बिना श्रावक, श्रावक नहीं है।

जिणवरचरणंबुरुहं णमति जे परमभत्तिरायेण।
ते जम्मवेलिमूल खणति वरभावसत्थेण ।।१५३।।—भावपाहुड

अर्थ—जो परम भक्ति अनुराग से भगवान् के चरणकमलो को नमस्कार करते है वे श्रेष्ठ भाव रूप शस्त्र से जन्म मरण रूप संसार की जड को उखाड फेकते है।

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्त दसणेण सुविसुद्ध।
सील विसयविरागो णाण पुण केरिसं भणिय ।।४०।। सीलपाहुड

अर्थ—अरहंत में शुभ भक्ति सम्यग्दर्शन है उस सम्यग्दर्शन मे विशुद्ध जो विरागो से विरक्ति है वही शील है वह शील ही ज्ञान है और ज्ञान क्या हो सकता है।

नित्य देव शास्त्र गुरु की पूजा का महत्त्व पूजा मे इस प्रकार बताया है—

ये पूजा जिननाथशास्त्रयमिना भक्त्या सदा कुर्वते,
त्रैसध्य सुविचित्रकाव्यरचनामुच्चारयन्तो नरा'।
पुण्याढ्या मुनिराजकीर्तिसहिता भूत्वा तपोभूषणम्,
ते भव्याः सकलावबोधरुचिरा सिद्धि लभन्ते पराम् ।।

अर्थ—जो भव्य पुरुष जिननाथ (देव) शास्त्र यतियो (गुरुओं) की पूजा की पूजा को भक्तिपूर्वक तीन सन्ध्याओं में अनेक सुन्दर स्तोत्रों के द्वारा करते हैं वे पुण्यशाली होकर मुनिराज पद को प्राप्त करते हुए तपश्चरण से केवलज्ञान से रुचिर सिद्धि को अर्थात् सिद्ध पद को प्राप्त कर लेते हैं।

इस श्लोक में देव शास्त्र गुरु की पूजा को परम्परा से मुक्ति का कारण बताया है। अतः स्पष्ट है कि पूजा करना भी धर्म है और धर्म से ही मुक्ति होती है। क्योंकि आ० समन्तभद्र ने धर्म शब्द की व्युत्पत्ति "संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे" दी है। अर्थात् जो जीवो को संसार के दुखो से छुटाकर उत्तम सुख में पहुँचा दे वही धर्म है। क्योंकि देव शास्त्र की भक्तिपूर्वक पूजा से भक्त विशिष्ट पुण्य का अर्जन करता

है, उस पुण्य के सहारे से वह मुनि बनने योग्य अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शुद्धि को प्राप्त करता है, मुनि बन जाने के बाद वह कठोर तपश्चरण करता है उस तपश्चरण से वह कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त करता है पुनः मोक्ष जाकर सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है।

चर्चा २—पुण्य का फल तो धूल है उससे आत्मा को कलंक लगता है। मनुष्य अनाज खाता है उसकी विष्ठा मूड़ नामक प्राणी खाता है। ज्ञानी ने पुण्य को जगत् की धूल को विष्ठा समझकर त्याग दिया है उधर अज्ञानी जन पुण्य की उमंग को अच्छा मानकर आदर करता है। इसलिए ज्ञानियों द्वारा छोडी पुण्य रूपी विष्ठा जगत् के अज्ञानी जीव खाते हैं।

समाधान २. पुण्य दो प्रकार का होता है। एक सम्यक्‌दृष्टि पुण्य व दूसरा मिथ्यादृष्टि पुण्य।

सम्यग्दृष्टि के पुण्य को शास्त्रो मे प्रातःकालीन सूर्य की लालिमा के समान बताया है तथा मिथ्यादृष्टि के पुण्य को सायकालीन सूर्य की लालिमा के समान बताया है। प्रातःकालीन सूर्य की लालिमा उत्तरोत्तर प्रकाश करती है और सायकालीन लालिमा उत्तरोत्तर अन्धकार लाती है। अतः निश्चित है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का ही एक मात्र कारण है। जैसा कि भाव संग्रह में लिखा है—

सम्मतइट्ठी पुणा होई संसार कारण णियता।
मोक्खसा होई हेउ जदपि णियाण सो कुणई ।।भा० स०।।

अर्थात् सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से संसार का कारण नही है। वह मोक्ष का ही कारण है अगर निदान नही करता है तो इस श्लोक मे पुण्य को नियम से मोक्ष का ही कारण बताया है। जहाँ कही पुण्य की निन्दा भी की है तो वह मिथ्यादृष्टि के पुण्य की अपेक्षा से ही की है फिर भी विष्ठा उसको भी कही नही बतलाया। आखिर मिथ्यादृष्टि का पुण्य उसके पाप की अपेक्षा तो ठीक ही है। लेकिन चर्चा मे जो पुण्य को विष्ठा कहा है और वह भी मिथ्यादृष्टि के पुण्य की तरह सम्यग्दृष्टि के पुण्य को भी यह तो उस अनंत मिथ्यात्व के कारण भी कहा गया है। ये अनंत मिथ्यात्वी जीव जिस पुण्य को विष्ठा कह रहे है उसको आचार्य कुन्दकुन्द क्या कहते है यह भी सुनिये—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदयिगा।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइगत्ति मदा ।।
प्र० सा० ज्ञानाधिकार गा० ४५।।

अर्थ—अरहंत भगवान् पुण्य के फल से हुए हैं उनकी समस्त क्रियाएँ भी कर्मों के उदय से हैं किन्तु उनका मोहादिक का पुट नही है इसलिए वे क्रियायें भी सब छायिक है।

यहाँ अरहंत भगवान् को जब पुण्य का फल माना है तब उस पुण्य को विष्ठा मानना चाहिए। फिर तो अरहंत भगवान् का यह तीव्र अवर्णवाद है और इस प्रकार का अवर्णवाद करने वाला नरक का पात्र ही होना चाहिए।

इस सम्बन्ध में कुछ व्यामोही व्यक्ति यह दलील देते है कि अरहत बनना पुण्य का फल नही है। किंतु घातिया कर्मो के क्षय का फल है। चूंकि उनके अन्य पुण्य प्रकृतियो सम्यक् परिपाक में जो अतिशम आधिक होते हैं उसको अपेक्षा से अरहंत को पुण्य का फल कह दिया है।

लेकिन यह सब उत्तर के नाम पर धोखाधडी है।

चार घातिया कर्मों के क्षय फल तो सामान्य केवली होना है लेकिन अरहंत केवली सामान्य केवली से भिन्न ही होते हैं। अरहंत वे हैं जो तीर्थंकर प्रकृति के साथ कैवल्य अवस्था को प्राप्त होते हैं। सामान्य केवली के तीर्थंकर प्रकृति नही होती है। यदि सामान्य केवली को अरहत कहा होता तो जो सामान्य केवली

भी ३४ अतिशय होना चाहिये। पाँचों परमेष्ठियों के अपने-अपने अलग मूलगुण होते हैं। अरहंत भगवान् के ४६ मूलगुण माने हैं जिसमे ३४ अतिशय ८ प्रातिहार्य एवं ४ अनन्त चतुष्टय हैं। इनमे ३४ अतिशय मात्र तीर्थंकर केवली के होते है जिन्हें अरहंत संज्ञा दी है। चार घातिया कर्मों के क्षय से तो अनन्त चतुष्टय होते हैं न कि अरहन्त बनते हैं। इसलिए ४ घातिया कर्मों के क्षय से अरहत बनने की बात कहना मायाचार से दूसरो को भ्रमित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

तीर्थंकर प्रकृति अपने आप मे पुण्य प्रकृति है और अरहत बनना उन तीर्थंकर प्रकृति का फल है, उस तीर्थंकर प्रकृति का उदय भी १३वें गुणस्थान में ही होता है। अत 'पुण्य फला अरहता' आचार्य कुन्दकुन्द का यह कथन सौ टच शुद्ध और सही है।

तीर्थङ्कर प्रकृति का बध जिन भावो से होता है वे सब भाव भी अर्थात् १६ कषाय भावनाएँ शुभ राग भाव हैं। और हम इन १६ कारण भावनाओं की भी पूजा करते है अतः पुण्य के कारण शुभ राग भाव की भी पूजा की जाती है। तब क्या हम इस पुण्य भाव की पूजा से विष्ठा के पूजक है। आश्चर्य है कि आध्यात्म का ढोल पीटने वाले लोग पुण्य को विष्ठा कहते हैं लगता है कि या तो उनके दिमाग मे कोई विकृति है या फिर उनके दुर्गति का बन्ध हो गया है। तीर्थङ्कर प्रकृति स्वय अपने आप मे जब पुण्य प्रकृति है और शुभ राग से उसका बध होता है तब क्या हम तीर्थंकर प्रकृति को हेय मान ले ? यदि तीर्थंकर प्रकृति हेय है और तीर्थंकर प्रकृति जिन १६ कारण भाव क्षय बध होता है तो वे भी हेय है। तो तीर्थंकर प्रवृति का बंध करने वाले तीर्थंकर भी हेय हैं पर शास्त्रो मे तो कही देखने मे नही आया कि तीर्थंकर हेय है या तीर्थंकर प्रवृति हेय है। तीर्थंकर प्रवृत्ति के साथ जो अन्य पुण्य प्रकृतियो का बध होता है वे साता वेदनीय आदि है तीर्थंकर बनना उनके परिपाक का फल नही है। किन्तु पुण्य स्वरूप तीर्थङ्कर प्रकृति के ही बध का फल है।

चर्चा—सच्चे देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा का शुभराग तो होता है परन्तु वह शुभराग सम्यग्दर्शन में सहायक नही है। समयसार प्रवचन भाग २ पृ० ४३९

समाधान—आगम मे सच्चे देव शास्त्र गुरु के श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहा है। श्रद्धा का अर्थ प्रगाढ या उत्कृष्ट भक्ति है जो शुभराग है। आचार्य समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन के स्वरूप का दिग्दर्शन करते हुए लिखा है—

श्रद्धान परमार्थनामाप्तागम तपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार

अर्थ—सच्चे देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान जहाँ तीन मूढताएँ आठ मद नही है तथा अष्ट अगो का पालन है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इस श्लोक में देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा को ही सम्यग्दर्शन कहा है अत सम्यग्दर्शन मे श्रद्धा के शुभराग का सहायक होना ही नही बल्कि श्रद्धारूप शुभराग ही को सम्यग्दर्शन बताया है। यह श्रद्धाभक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकती और भक्ति शुभराग ही है।

आगे चलकर यही आचार्य लिखते हैं—

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम् राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम् लब्ध्वा शिव च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥४१॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार

अर्थ—जिनेन्द्र मे भक्ति रखने वाला मनुष्य अर्थात् सम्यग्दृष्टि भव्य पुरुष अपरिमित देवेन्द्र समूह की महिमा को तथा राजाओं के मस्तकों से वन्दनीय चक्रवर्ती पद को एवं सर्वलोक को अपने से नीचे कर दिया है ऐसे धर्मचन्द्र के प्रवर्तक तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार मे यह प्रकरण सम्यग्दर्शन के माहात्म्य का चल रहा है। इस प्रकरण में ७ श्लोक हैं। उक्त श्लोक ७वा है जिसमे सम्यग्दर्शन जिनभक्ति के रूप मे स्मरण किया है। यही नही इसके पहले के श्लोको मे भी सम्यग्दृष्टि को 'जिनेन्द्रभक्ताः' आदि विशेषणों से याद किया है जैसा कि निम्न श्लोक से प्रकट है।

अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टा प्रकृष्ट शोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसा परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ।। ३७।।—र० श्रा०

अर्थात् जिनेन्द्रभक्त सम्यग्दृष्टि जीव अणिमा महिमा आदि आठ ऋद्धियो से सम्पन्न होकर चिरकाल तक अमर और अप्सराओ के मध्य मे सुख का उपभोग करते है। यहाँ पर सम्यग्दृष्टि को जिनेन्द्रभक्त नाम ही स्मरण किया है।

श्री आचार्य वादिराज ने अपने एकीभावस्तोत्र मे लिखा है—
शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा भक्तिर्नो चेदनवधि सुखावञ्चिका कुञ्चिकेयम्।
शक्योद्घाट भवति हि कथ मुक्तिकामस्य पुसो, मुक्तिद्वार परिदृढमहामोहमुद्रा कवाटम्॥

अर्थ—हे भगवान्! निर्दोष ज्ञान और पवित्र आचरण होने पर भी यदि तुम्हारे प्रति उत्कृष्ट भक्ति नही है तो उस भक्ति रूपी ताली के बिना मोक्ष के दरवाजे पर मिथ्यात्व का लगा हुआ ताला कैसे खुल सकता है।

यहाँ पर ज्ञान चारित्र होने पर भी जिस भक्ति रूप ताली के अभाव मे मिथ्यात्व का ताला न खुलने की बात लिखी है वह ताली सम्यग्दर्शन के साथ ही है जो ज्ञान चारित्र का आधार है अत उस सम्यग्दर्शन को ही भक्ति रूप ताली कहा है। और भक्ति शुभराग ही है।

शका—यदि भक्ति रूप शुभराग से मोक्ष का ताला खुलता है तो भक्ति तो मिथ्यादृष्टि भी करता है उसकी भक्ति से भी उसे मोक्ष मिलना चाहिये।

उत्तर—मिथ्यादृष्टि भक्ति तो करता है पर उसकी भक्ति 'नीचा भक्ति' है तभी तो उक्त श्लोक में 'अनीचा भक्ति' सम्यग्दर्शन को लिखा है अर्थात् सम्यग्दृष्टि की भक्ति ऊँची भक्ति होती है। पंडितप्रवर टोडरमल जी ने भी मोक्षमार्गप्रकाश में लिखा है कि सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गो का पालन मिथ्या दृष्टि भी करना है पर जैसे सम्यग्दृष्टि पालन करना है वैसे मिथ्या दृष्टि पालन नही करता। जिस प्रकार शरीर के अग मनुष्य के भी होते है और बदर के भी होते है पर मनुष्य के जिस रूप मे होते है उस रूप मे बन्दर के नही होते। इसलिये सम्यग्दृष्टि की अपनी भक्ति ही सम्यग्दर्शन है।

शास्त्रो में सम्यग्दर्शन के जो सराग वीतराग भेद कहे है उसका आशय ही यह है कि सम्यग्दर्शन के परिणाम स्वरूप देव शास्त्र गुरु के प्रति जो शुभ राग है वह सराग सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन के परिणाम स्वरूप वीतरागी की जो जीवात्म तल्लीनता है वह वीतराग सम्यदर्शन है। इसलिये देव शास्त्र गुरु की उत्कृष्ट भक्ति हो जो शुभ राग रूप है। सम्यग्दर्शन है।

बीस विरहमान तीर्थंकर की पूजा में अक्षत चढ़ाते समय जो पद्य पढ़ा है—

यह संसार अपार महा सागर जिनस्वामी,
ताते तारे बडी भक्ति नौका जगनामी ।

इसमे लिखा है कि अपार संसार समुद्र से बडी भक्ति रूपी नौका तार देती है । यहाँ पर भक्ति रूपी नौका के साथ जो 'बडी' विशेषण किया है वह सम्यग्दर्शन का ही द्योतक है । अत देव शास्त्र गुरु के प्रति जो उत्कृष्ट शुभराग है वही सम्यग्दर्शन है ।

जिने भक्तिर्जिने भक्ति जिने भक्तिः सदास्तु मे ।
सम्यक्त्वमेव ससार वारणं मोक्ष-कारणम् ॥

अर्थ—मेरी सदा जिनेन्द्र भगवान् मे भक्ति हो, भक्ति हो, भक्ति हो, क्योकि सम्यग्दर्शन ही संसार का नष्ट करने का कारण है ।

इस श्लोक मे भी जिनेन्द्र भक्ति को ही सम्यग्दर्शन कहा है । और भक्ति शुभराग है शुद्धोपयोग नहीं है । अत. देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा का शुभराग ही सम्यग्दर्शन है, उससे इन्कार नही किया जा सकता ।

आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी और उनका मोक्षमार्गप्रकाश

मोक्षमार्ग-प्रकाश नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ के रचयिता अपने समय के विचारक विद्वान् महान् प्रतिभाशाली श्री पं० टोडरमल जी है। स्वाध्यायी ससार मे शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति होगा जो आपके नाम से परिचित न हो। यद्यपि आप इस भौतिक ससार मे अधिक दिन तक नही रहे, फिर भी अपने जीवन के थोडे से समय मे आपने जैन समाज का जो महान् उपकार किया है वह किसी से भुलाया नही जा सकता। आज आपकी प्रत्येक रचना ज्ञान पिपासुओ की तृप्ति का कारण बनी हुई है और आपके वचन प्राचीन आचार्यों की तरह ही प्रमाण माने जाते है। विद्वान् गृहस्थ होकर भी 'आचार्य कल्प' कहलाने का सौभाग्य आपको ही प्राप्त है। आपका एक ही ग्रन्थ मोक्षमार्गप्रकाश प्राथमिक जिज्ञासुओ को स्वाध्याय मे प्रवेश कराता है और स्वाध्याय-प्रविष्ट व्यक्तियो मे विशेष स्वाध्याय के लिये उत्सुकता तथा लगन पैदा करता है। आज की जैन जनता मे गोम्मटसार जैसे महान् ग्रन्थो के पठन पाठन का श्रेय भी उन्ही को है। जैन साहित्य को देशभाषा मे जनता के सामने लाने वाले यद्यपि अनेक विद्वान् हुए हैं। पर अपने समय के अनुसार जिनकी रचनाएँ सर्वाधिक लोकप्रिय रही उनमे या तो प० बनारसीदास जी का नाम उल्लेखनीय है या प० टोडरमल जी का नाम उल्लेखनीय है। एक ने अपने ज्ञान के प्रकाश का साधन पद्य रचना को अपनाया तो दूसरे ने गद्य रचना मे ही अपने ज्ञान का प्रकाश किया। यद्यपि टोडरमल जी के समय मे प० दौलतरामजी की रचनाओ का भी जनता में कम प्रचार नही था—बल्कि साधारण जनता आपके ही अनूदित पुराण ग्रन्थो का स्वाध्याय करती थी। परन्तु जो अपेक्षा और प्रतीक्षा टोडरमलजी की ग्रन्थ रचनाओं के पढने व सुनने मे होती थी वह इन रचनाओ के लिये नही होती थी। पूजा विधानादि उत्सवो मे लोगो को इकट्ठा करने के लिए प० जी का नाम लिख देना पर्याप्त होता था जिसे सुनकर अनायास ही जिज्ञासु जनता की अपार भीड़ हो जाती थी। आपकी सत्सगति का लाभ उठाने के लिए अनेको लोग उस समय जयपुर मे आकर बस गये थे। स्वय साधर्मी भाई रायमल्ल और प० देवीदास जी ने टोडरमलजी के निमित्त से ही अपना जयपुर मे आना लिखा है। आपकी ख्याति और रचनाओ का प्रचार देखकर ही अनेक ग्रन्थो के टीकाकार श्री प० जयचन्द्रजी छावड़ा सभवत: अपनी बीस इक्कीस वर्ष की आयु मे जयपुर मे आकर बस गए थे। इस तरह जयपुर के जैनपुरी होने में आपका भी बहुत कुछ हाथ रहा है।

जयपुर का वैभव

जिन दिनो पं० जी अपने ज्ञान सूर्य से जैन जगत् को आलोकित कर रहे थे उन दिनों जयपुर का धार्मिक वैभव अपनी चरम सीमा को पहुँचा हुआ था। साधर्मी भाई रायमल्ल के पत्र से स्पष्ट है कि वहाँ करीब दस हजार घर जैनियो के थे। यदि प्रत्येक घर मे औसतन पाँच आदमी माने जाँय तो पचास हजार जैनियो की सख्या उस समय जयपुर मे थी। राज दरबार मे और राज्य के अन्य विभागों मे जैनो का ही बोलबाला था। दीवान रतनचदजी जो तत्कालीन राज्य के प्रधान मन्त्री थे खंडेलवाल जैन थे और प० टोडर-

मलजी की शास्त्र सभाओं तथा धार्मिक चर्चाओं में खूब भाग लिया करती थी। स्वयं जयपुर के शासक महाराज माधवसिंह जी जैनों से अत्यधिक प्रभावित थे। संवत् १८२१ में जयपुर के जैनों द्वारा इन्द्रध्वज पूजा का जो विशाल और ऐतिहासिक समारोह हुआ था उसमें राजदरबार की तरफ से घोषणा थी कि जैनों को दरबार से जिस चीज की आवश्यकता हो वह दी जाय। कहते हैं यह महोत्सव स्वयं महाराज की प्रेरणा से ही हुआ था और उनके दीवान रतनचन्द्रजी इस काम मे अग्रसर रहे थे। उन दिनो और उसके बाद तक भी जयपुर ही ऐसा केन्द्र रहा जहाँ सैकडों शास्त्रो को नकल करा कर माँग के अनुसार देश के विभिन्न मंदिरो मे पहुँचाया जाता था। दस बारह लेखक इसके लिए वहाँ सतत नियुक्त रहते थे। कुछ विशेष विद्वान् शास्त्रो का संशोधन करते रहते थे।

संस्कृत न्याय व्याकरण तथा गणित आदि के अध्यापन के लिए एक ब्राह्मण विद्वान् की नियुक्ति कर रक्खी थी जो जैन बालक-बालिकाओ को सस्कृत का ज्ञान कराता था। उस समय एक दो नही बल्कि सैकडो स्त्री पुरुषो को सस्कृत का अच्छा ज्ञान था। सिद्धान्त न्याय आदि की परस्पर खूब चर्चा होती थी। बाहर का बडे से बडा विद्वान् भी जयपुर मे आकर एक साधारण तत्त्व-जिज्ञासु की भाँति ही वहाँ की तत्त्व चर्चा सुनता था।

शास्त्र सभा मे सैकडो स्त्री पुरुष भाग लिया करते थे। विभिन्न मदिरो में सौ पचास जगह भगवान् का बडे उत्साह मे प्रति दिन पूजापाठ होता था जिसमे हजारो भाई भाग लेते थे। समूचे नगर मे शराब बेचने वाले, कसाई तथा वेश्याएँ बिल्कुल नही थी। इस तरह सप्तव्यसनो का नगर मे एक प्रकार से अभाव ही था।

जयपुर की इस बढती हुई धार्मिक प्रभावना मे एक कारण यह भी हुआ। सवत् १८१७ मे श्यामराम नाम का एक ब्राह्मण तत्कालीन महाराजा माधवसिंह का गुरु था। राजकार्यो मे जैनो का प्रमुत्व उनकी बढती हुई सख्या और धार्मिक सगठन देखकर उसकी साम्प्रदायिकता भडक उठी। उसने महाराज को ऐसी उल्टी पट्टी पढाई कि महाराज जैनो के विरुद्ध हो गए। रोष मे आकर उन्होने न केवल जयपुर नगर के किन्तु समूचे ढूढार प्रान्त के जैन मन्दिरो को अपने राज्य मे उपद्रव का शिकार बनाया। अनेक मन्दिरो को नष्ट-भ्रष्ट भी करवा दिया। जैनो को वैष्णव बनाने के प्रयत्न किये गये। इस तरह राज्य की तरफ से मनमाने अत्याचार किये गये फलस्वरूप अनेक जैन इस विपत्ति के शिकार हुए। करीब डेढ वर्ष तक यह दमन की चक्की चलती रही। बाद मे जैसे रात्रि का उत्तर परिणाम प्रभात होता है वैसे ही इस उपद्रव का परिणाम भी धर्म प्रभावना मे बदल गया। राजा को सुबुद्धि आई। अत्याचार बद हो गए और जैनो को स्वतत्रतापूर्वक धर्म सेवन की आज्ञा दे दी गई। इस आज्ञा से जयपुर के जैनो मे धर्म प्रभावना के लिए दूना जोश उमड आया। साधर्मी भाई रायमल्ल के शब्दो मे दूना क्या तिगुना चौगुना पहले की अपेक्षा जैनो का धार्मिक प्रभाव बढने लगा। नष्ट मंदिरो का पुन. शान के साथ निर्माण कराया गया। साथ ही बीस तीस मदिर नये बनवाये गये ऐसे सुन्दर कि जयपुर की जनता ने जिन्हे पहले कभी नही देखा था। तेरह पथियो के विशाल मदिर भी उसी समय बने। इनमे हजारो स्त्री पुरुष पूजापाठ का आनद तो उठाते ही थे परन्तु नित्य की जो शास्त्र सभा होती थी उसमें पाँच सात सौ पुरुष और तीन चार सौ स्त्रियाँ सम्मिलित होती थी। लिखा है कि बीस तीस स्त्रियाँ तो बडी ही सुन्दर और गभीर शास्त्र चर्चाएँ करती थी। २–३ नही बल्कि दस बीस विद्वान् जयपुर की शास्त्र सभा में ऐसे रहते थे जो संस्कृत शास्त्रों का प्रवचन करते थे। भाषा शास्त्रज्ञो की कोई कमी ही न थी। दुरूह चर्चाओ मे भाग लेने वाले भी सैकडो ही थे। विभिन्न देशो के प्रश्न समाधान के लिए जयपुर मे ही आते थे। इस तरह उस समय समाज धर्म और विद्वत्ता का केन्द्र एकमात्र जयपुर ही था। हमारी समक्ष मे

उक्त उपद्रव के बाद जैनो में जो तिगुना चौगुना धार्मिक जोश पैदा हुआ था उसी के फलस्वरूप ही १८२१ का विशाल इन्द्रध्वज पूजा समारोह हो सका था। क्योकि संवत् १८१७ के बीच में यदि यह उपद्रव हुआ होगा तो डेढ वर्ष तक रहने के कारण यह १८१९ के प्रारम्भ तक अवश्य रहा होगा। और सन् १९ तथा २० में नष्ट मन्दिरों के उद्धार करने, नए मन्दिर बनवाने तथा अपनी डेढ वर्ष की छिन्न भिन्न स्थिति को सुधारने में लगे होंगे। बाद मे सब तरफ से निराकुल होकर १८२१ मे उपद्रव शान्ति के उपलक्ष मे यह विशाल पूजा समारोह किया गया होगा। यद्यपि उस समय सर्वत्र जैनो मे इन्द्रध्वज पूजा समारोह करने का रिवाज था। जयपुर के पहले आगरा तथा बाद मे सागर आदि स्थानों मे उसके होने के उल्लेख पाये जाते हैं पर हमारा अनुमान है कि वह जयपुर में जिस विशाल पैमाने पर हुआ होगा वह अन्यत्र न हुआ होगा। रायमल्लजी ने जो विभिन्न स्थानों को निमंत्रण पत्र भेजा है उसमें लिखा है कि 'ए उछव फेरि ई' पर्याय में देखणां दुर्लभ है' अर्थात् यह उत्सव फिर इस पर्याय मे देखना दुर्लभ है। इससे स्पष्ट है कि जयपुर का उत्सव 'न भूतो न भविष्यति' के आधार पर था। पाठको की जानकारी के लिए हम यहाँ उत्सव सम्बन्धी कुछ तथ्यो के आँकडे देते हैं जिससे उत्सव की विशालता का अनुमान हो सकता है। यह उत्सव माघ शु० १० से फाल्गुन कृ० ४ तक दस दिन का हुआ था और पौने दो महीने इसकी तय्यारी मे लगे थे इस तरह करीब सवा दो महीने मे सारा उत्सव सम्पन्न हुआ। तेरह द्वीप की रचना के लिए जो चबूतरा बनाया गया था वह ६४ गज लंबा और ६४ गज ही चौडा था। उसमे द्वीप समुद्र पर्वत आदि की रचना चित्र की तरह नही बल्कि खिलौनो की तरह हूबहू थी। चौंसठ गज लम्बे चौडे चबूतरे पर जो मण्डप बनाया गया था उसके लिए उतना बडा एक ही डेरा ताना गया था। इस मण्डप की छत चबूतरे से ६० फुट ऊँची थी और इसके खडे करने मे २०० आदमियो को एक साथ लगना पडा था। इसके चारो ओर ९६ दरवाजे तोरन चित्राभ आदि से विभूषित बनाए गए थे। इसके ऊपर ठीक बीच मे सोने के कलश लगाए गए थे। डेरे के चारों ओर एक सुन्दर विशाल परकोट बनाया गया था। कोट के बाहर कुछ दूर पर राज्य के मन्त्रियो के डेरे लगाए गए थे। इस उत्सव मे करीब डेढ सौ मजदूरों ने सवा दो महीने तक प्रतिदिन काम किया था जिन पर पचास रुपया प्रतिदिन मजदूरी खर्च होती थी। यह मजदूरी उस समय की है जब एक रुपये का मनो अन्न आया करता था। यह पचास रुपया पौने दो महीने तक खर्च हुआ, इसके बाद दस दिन तक सौ रुपया प्रतिदिन के हिसाब से खर्च हुआ। इस तरह सवा दो महीने में चार हजार रुपया तो केवल स्थानीय मजदूरी मे खर्च हुआ था, जो इस समय साठ सत्तर हजार और युद्ध की पहले की स्थिति के अनुसार पन्द्रह सोलह हजार रु० बैठता है। केवल ध्वजा चदोवा और बिछायत के लिए ही चार हजार थान विभिन्न कपडो के मँगाए गए थे। अनेक प्रकार की रचना मे करीब तीस मन रद्दी कागज की लग गई थी। मण्डप मे चारो ओर चाँदी, सोना, जरी आदि के चित्राभ बनाए गए थे, चमचमाहट के लिए भोडल का उपयोग किया था। सोने या चाँदी के दीपक और पुष्प लाखो की सख्या में बनवाए गए थे। मशीन से चलने वाला एक सुन्दर नए रथ का निर्माण कराया गया था। इस तरह यह उत्सव अपने ढंग का अपूर्व और महान् समारोह था। इतना बडा समारोह धार्मिक लगन, रुचि, निराकुलता और पारस्परिक सगठन के बिना नही हो सकता। इसी से जाना जा सकता है कि उस समय जयपुर का धार्मिक वैभव कितना बढा चढा था। यह जयपुर ही था जिसने धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थो को उत्तर भारत मे लाने का सर्वप्रथम उपक्रम किया था और वहाँ से पाँच सात ग्रन्थ ताडपत्रो पर कर्णाटक लिपि मे लिखे हुए जयपुर लाए भी गये थे जिनका व्याख्यान पं० टोडरमलजी करते थे। थोडे से शब्दो में जयपुर की झाँकी करने के लिए हम यहाँ रायमल्लजी के पत्र के कुछ शब्द उद्धृत करते है—'दरबार के मुतसद्दी सब जैनी हैं और साहूकार लोग सर्व जैनी हैं। यद्यपि और भी हैं पर गौणतारूप हैं मुख्यता रूप नही। ऐसा जैनी लोगो का समूह और नग्र विर्षे-

नाहीं। और इहाँ के देश विषे सर्वत्र मुख्य बड़े श्रावगी लोग बसे हैं तातें यह नग्र व देश बहोत निर्मल पवित्र है, तातें धर्मात्मा पुरुष बसने का स्थान है अबारतो ए साक्षात् धर्मपुरी है' इस तरह विक्रम की १९वी शताब्दि में जयपुर का धार्मिक वैभव अपनी चरम सीमा को पहुँचा हुआ था। विद्वान् कहीं थे तो जयपुर में, शास्त्रों का अपूर्व संग्रह यदि कही था तो जयपुर में, जैनो की सबमे अधिक संख्या यदि कही थी तो जयपुर में, राजनैतिक क्षेत्र में यदि कही जैनों का प्रभाव था तो जयपुर मे। इस तरह सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और बौद्धिक क्षेत्र में जयपुर अपने समय का अद्वितीय नगर था जिसे टोडरमल जी जैसे महा विद्वान् को अपने यहाँ स्थान देने का गर्व था।

टोडरमलजी ने अपने अनूदित या रचित किसी भी ग्रन्थ मे अपना इतिवृत्त नही दिया अतः उनकी जीवन घटनायें, प्रायः अज्ञात ही हैं। उस समय के अन्य भाइयो ने श्रद्धावश जो उनकी यत्र तत्र चर्चा की है उसी से उनकी घटनाएँ तो नही किन्तु विद्वत्ता, वाग्मिता, ग्रन्थ रचना और थोडा सा कौटुम्बिक परिचय मिलता है। उसी के अनुसार हम यहाँ थोडा उनका परिचय लिखते है—

आप जयपुर के रहने वाले थे और साहूकार के पुत्र थे। सम्भवत आपके पिता का नाम जोगीदास और माता का नाम रमा या लक्ष्मी था। संभवत शब्द का प्रयोग हमने इसलिए किया है कि अभी तक इस संबंधी जानकारी के लिए कोई निश्चित उल्लेख नही मिले है। केवल सदृष्टि अधिकार की प्रशस्ति मे आपका लिखा हुआ एक दोहा मिलता है।

[1]रमापति स्तुतगुन जनक, जाको जोगीदास।
सोई मेरो प्राण है, धारे प्रकट प्रकाश॥

इसी पर से हमने आपके माता-पिता के उक्त नामो का अनुमान लगाया है। प० रामप्रसाद जी बम्बई इस दोहे पर से उनके पितामह का नाम जोगीदास बतलाते है परन्तु जोगीदास जो को उनका पितामह (बाबा) मानने के लिए दोहे मे हमें एक भी शब्द ढूँढे नही मिलता। दोहे का बिल्कुल सीधा अन्वय यह है जाको जनक स्तुतगुन रमापति जोगीदास (है) अर्थात् जिसका पिता गुणवान लक्ष्मी का पति जोगीदास है। यहाँ जनक जोगीदास कह कर ग्रन्थकार ने उन्हे रमापति कह कर लक्ष्मी या रमा को अपनी माता सूचित किया है। इस तरह माता-पिता का समन्वय तो ठीक बैठ जाता है लेकिन जोगीदास को पितामह मानने का समन्वय नही बैठता। यदि जोगीदास को हम पितामह भी मान ले तब रमापति शब्द का क्या अर्थ होगा? और जनक का किसके साथ मेल बैठेगा यह सब बाते विचारणीय हैं। प० परमानदजी सरसावा वालो ने भी आपके माता-पिता का नाम उमा और जोगीदास सूचित किया है जो हमारे अनुमान से मेल खाता है। यह पता नही कि आपने ये नाम इसी दोहे पर से लिखे हैं या कही अन्यत्र से लेकर लिखे है। आपका लिखा हुआ माता का नाम उमा खासतौर से विचारणीय है जो इस दोहे के अनुसार नही है। आपको शिक्षा दीक्षा कहाँ हुई इसका कुछ पता नही है न यही पता चलता है कि आपका विवाह सम्बन्ध किसके यहाँ कब हुआ। आपके दो पुत्र थे ज्येष्ठ पुत्र का नाम हरीचन्द और छोटे का नाम गुमानीराम था। गुमानीराम विशेष बुद्धिमान थे। साथ ही गद्दी पर बैठ कर शास्त्र प्रवचन भी बडे प्रभावपूर्ण ढग से करते थे। प० देवीदास जी गोधा ने पण्डित हो जाने के बाद भी गुमानीराम जी के पास कुछ दिन रहकर जिनागम का रहस्य समझा था। तेरह पथ के बाद जयपुर में जो गुमानपंथ की स्थापना हुई वह आपके ही प्रभाव और प्रयत्न का फल था। आपके 'गुमानीराम' नाम से ही उसका गुमान पंथ नाम पडा था अत- एक पथ का प्रस्थापक कितना प्रभावक और कमठ होना चाहिए

१. मालूम हुआ कि रमापति की जगह 'रंभापति' शुद्ध पाठ है।

इसी से उनकी योग्यता का पता चलता है। यह हम पहले कह चुके हैं कि जयपुर उन दिनों विद्वत्ता का केन्द्र था। परन्तु उपस्थित विद्वानों में एक टोडरमल जी ही ऐसे थे जिनकी विद्वत्ता, योग्यता और प्रभाव सर्वोपरि था। आपका क्षयोपशम विलक्षण था, जन साधारण की दृष्टि से उसे जो लोकोत्तर भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। गूढ से गूढ शकाओ का जहाँ कही भी उत्तर नहीं मिलता था वहाँ वे टोडरमल जी के पास ही हल होती थीं। जयपुर की समाज को आपको अपने बीच में पाने का अत्यधिक गौरव था। सैकडों वर्षों से जिस गोम्मटसार का पठन पाठन बद था उसको आपने अपनी विलक्षण बुद्धि से सहज ही हृदयंगम कर लिया था[1]। आपने बिना किसी से पढे कर्णाटक लिपि का अच्छा अभ्यास कर लिया था और जयपुर के जो भाई मूडबिद्री यात्रा से जिन कर्णाटक ताडपत्रीय ४—६ ग्रन्थो को जयपुर ले आए थे उनका वे शास्त्र सभा में अच्छी तरह प्रवचन भी करते थे। आपके विषय मे तत्कालीन साधर्मी भाई रायमल्ल ने इन्द्रध्वज पूजा के निमन्त्रण पत्र मे जो उद्गार प्रकट किए हैं उन्हे यहाँ हम ज्यो का त्यो देते हैं—'यहाँ घणा भाया और घणी बाया के व्याकरण व गोम्मटसार जी की चर्चा का ज्ञान पाइए है। सारा ही विषें भाई जी टोडरमल जी के ज्ञान का क्षयोपशम अलौकीक है जो गोम्मटसारादि ग्रन्थो की सम्पूर्ण लाख श्लोक टीका बणाई, और पाँच सात ग्रन्था की टीका बणायवे का उपाय है। न्याय, व्याकरण, गणित, छद, अलंकार का याके ज्ञान पाइए है। ऐसे पुरुष महंत बुद्धि का धारक ई काल विषें होना दुर्लभ है ताते यासू मिलें सर्व सदेह दूरि होय है। घणी लिखवा करि कहा आपणा हेतका वाछीक पुरुष शीघ्र आय या सू मिलाप करो।' पाठक देखेंगे कि रायमल्ल जी के इन शब्दो में उस समय की समाज का टोडरमल जी के प्रति कितना आदर और श्रद्धा का भाव दिया हुआ है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नही कि रायमल्ल स्वय एक विद्वान् पुरुष थे अत: एक निरपेक्ष विद्वान् द्वारा अपने समकालीन विद्वान् की प्रशंसा करना अवश्य ही उसकी योग्यता की यथार्थता का परिचायक है, खास करके उनके ये शब्द कि 'ऐसे महान् बुद्धि के धारक पुरुष इस काल मे होना दुर्लभ है, आज भी अपनी वास्तविकता को प्रकट कर रहे हैं।

आपके स्वतन्त्र और टीका ग्रन्थ सभी वि० स० १८१३ से १८२२ तक केवल १० वर्ष मे रचे गए हैं। गोम्मटसार की टीका आपकी सर्वप्रथम रचना है और विवेकी रायमल्ल की प्रेरणा से वह लिखी गई है। आपकी विद्वत्ता की प्रशसा सुनकर जब रायमल्ल जी आपसे मिलने गए तब आपको जयपुर मे नही पाया। मालूम हुआ कि आप देहली के किसी साहूकार के काम के लिए शेखावटी के सिंघाणा नगर गए है। रायमल्लजी अपनी ज्ञान की पिपासा बुझाने वही पहुँचे और टोडरमलजी से अनेक प्रकार की शकाएँ की। उनमें से सबंधित अधिकाश प्रश्नो का समाधान प० जी ने गोम्मटसार ग्रन्थ की साक्षी से दिया। गोम्मटसार का नाम रायमल्ल जी ने पहले सुन रक्खा था लेकिन उन शकाओ के सिलसिले मे जब उन्हे गोम्मटसार ग्रन्थ देखने को मिला तो उसके प्रमेय की गहनता देखकर वे दग रह गए। साथ ही टोडरमल जी के सातिशय ज्ञान ने उन्हें और भी चमत्कृत कर दिया। भावी सतान की कल्याण कामना से उन्होने प० जी से इसकी टीका करने के लिये प्रार्थना की। प० जी के टीका करने की इच्छा तो पहले से ही थी लेकिन इनकी प्रेरणा से वह इच्छा कार्य रूप मे परिणत हो गई। शुभ दिन और मुहूर्त देख कर उन्होने गोम्मटसार की टीका करना प्रारभ किया। रायमल्ल जी पढते जाते थे और प० जी टीका बनाते जाते थे। इस तरह तीन वर्ष तक टीका का क्रम चालू रहा। इन तीन वर्षों मे गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार और त्रिलोकसार इन चार ग्रन्थों की

१. अवार का अनिष्ट काल विषें टोडरमल जी कै ज्ञान का क्षयोपशम विशेष भया। ए गोम्मटसार ग्रन्थ का वचना पाँच से बरस पहली था। तो पीछे बुद्धि की मदता कर भाव सहित वाचना रह गया। अबैं फेरि याका उद्योत भया। देखो रायमल्ल लिखित स्वपरिचय।

६५०० श्लोक प्रमाण टीका बनाई गई और जयपुर में आकर संशोधन के पश्चात् वह जहाँ तहाँ मन्दिरों में विराजमान कर दी गई एवं जयपुर के बाहर भी जहाँ लोगों की माँग हुई प्रतियाँ कराकर भेज दी गई।

लब्धिसार की प्रशस्ति के अंत में पं० जी ने ग्रन्थ के पूरा होने का समय संवत् १८१८ दिया है अतः उक्त ग्रन्थो का लिखा जाना १८१५ के बाद होना चाहिए लेकिन कहा जाता है कि गोम्मटसार की भाषा टीका १८१५ में पूर्ण हो चुकी थी तब इससे दो अनुमान होते हैं एक तो यह कि उन्होंने १३-१५ तक इन सभी ग्रन्थों की टीका पूरी कर ली थी। इसके बाद जब संशोधन का क्रम चला होगा तब १८१८ मे उन्होने लब्धिसार का सशोधन पूर्ण किया होगा और वह सशोधन समाप्ति का ही सवत् लब्धिसार की टीका समाप्ति सवत् मान करके लिख दिया गया है। दूसरे यह कि तीन वर्षों मे उन्हे कम से कम एक वर्ष गोम्मटसार दोनो भागों की टीका करने मे लग गया होगा, अतः सवत् १३ से १५ तक गोम्मटसार की टीका पूर्ण की होगी इसके बाद संवत् १८ तक त्रिलोकसार, लब्धिसार क्षपणासार की टीका और उनका सशोधन समाप्त किया होगा। इस तरह उनकी ग्रन्थ रचना का काल वि० स० १८१३ के पहले सिद्ध नही होता।

उक्त चारो ग्रन्थों की रचना करने के बाद उन्होंने मोक्षमार्गप्रकाश, आत्मानुशासन टीका और पुरुषार्थसिद्धयुपाय की टीका की है। यह क्रम हमने इसलिए रखा है कि सवत् १८२१ मे जयपुर मे होने वाली इन्द्रध्वज पूजा का जो निमन्त्रण पत्र लिखा गया है उसमे उक्त चारो ग्रन्थो के साथ मोक्षमार्गप्रकाश के भी लिखे जाने का उल्लेख है किन्तु आत्मानुशासन टीका का उल्लेख नही है। इससे सिद्ध होता है १८२१ तक उक्त पाँच ही ग्रन्थ उनके द्वारा लिखे गये थे आत्मानुशासन टीका बाद मे लिखी गई है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय, आत्मानुशासन टीका मे भी आत्मानुशान टीका का पहले लिखा जाना हम इसलिए मानते है कि पुरुषार्थसिद्धयुपाय की टीका के समाप्त करने के पहले ही उनका स्वर्गवास हो गया था। स्वर्गवास के बाद किसी चीज का लिखा जाना हो ही कैसे सकता है ? और यदि पुरुषार्थ सिद्धयुपाय की टीका के साथ आत्मानु० टीका लिखी जाती तो वह भी उसकी तरह अधूरी होती अत आत्मानु० टीका का पहले लिखा जाना ही ठीक मानना चाहिए। यहाँ यह कहा जा सकता है कि मोक्षमार्गप्रकाश ग्रन्थ भी तो अधूरा है अत पुरुषार्थसिद्धयुपाय की टीका अधूरी होने से ही उसे लेखक की अन्तिम रचना मान लेना ठीक नही। इस सम्बन्ध मे हम यही कह सकते है पं० जी मोक्षमार्गप्रकाश ग्रन्थ को अधूरा ही छोडकर किसी को पढाने या अन्य किसी निमित्त से आत्मानुशासन की रचना मे और उसके बाद पुरुषार्थसिद्धयुपाय की रचना करने मे लग गए होगे। क्योकि मोक्षमार्गप्रकाश अधिक परिमाण मे लिखना था अत. उसमे अधिक समय लगने की सम्भावना थी। किन्तु उक्त दोनो ग्रन्थ छोटे थे और उनकी टीका करना आवश्यक था। अत थोडे दिनो मे पहले इनको टीकाओ से निपट लेना ही उचित समझा होगा और सोचा होगा कि बाद मे निश्चिन्त होकर मोक्षमार्ग प्रकाश को लिखेंगे। किन्तु पुरुषार्थसिद्धयुपाय की रचना करते हुए ही उनकी मृत्यु का दु:खद प्रसङ्ग आ गया। अत न तो पुरुषार्थसिद्धयुपाय पूरी हो सकी और अधूरा छोडा हुआ मोक्षमार्गप्रकाश भी यो ही रह गया। किन्तु यह निश्चित है कि मोक्षमार्गप्रकाश इन दोनो ग्रन्थो से पहले बना है।

गंभीर अध्ययन

पं० जी की सभी रचनाएँ सिद्धान्त विषयक है परन्तु वे सिद्धान्त के ही पडित थे यह बात नही है।

---

१. जैनी ज्ञानचन्द्रजी लाहौर न आत्मानुशासन की रचना स० १८१८ मे हुई बतलाई है। पता नही किस आधार से उन्होंने ऐसा लिखा है। जब कि आत्मानुशासन के अन्त मे टोडरमलजी ने अपनी कोई ऐसी प्रशस्ति नही दी है।

जहाँ वे सिद्धान्त के धुरन्धर विद्वान् थे वहाँ न्याय गणित आदि शास्त्रों के भी पूर्ण विद्वान् थे। ऐसा मालूम पड़ता है उन्होंने अपने जीवन में सैकड़ों ग्रन्थों का पारायण किया था उनके आलोडन से उनके जो विचार परिपक्व और केन्द्रीभूत हो गए थे मोक्षमार्गप्रकाश उन्ही का प्रतिम्बिब है[१]। सिद्धान्त ग्रन्थों में प्रमुख जैनाचार्यों में से शायद ही किसी का रचा हुआ ऐसा ग्रन्थ होगा जिसका उन्होंने एक से अधिक बार स्वाध्याय न किया हो। मोक्षमार्गप्रकाश में स्वयं उन्होंने ऐसे कुछ ग्रन्थो के नाम गिनाए हैं जिनका उन्होंने पहले अभ्यास किया था। उनकी अध्ययन की रुचि कितनी जबर्दस्त थी इसका पता इसी से चलता है कि वे सदा नए ग्रन्थो की खोज में रहा करते थे। धवला जयधवलादिक के स्वाध्याय के लिए उनकी अत्यधिक उत्सुकता बनी रही पर उनके उन्हें दर्शन भी नही हो सके। फिर भी उन्होंने कन्नडी लिपि के स्वाध्याय के लिए कुछ अन्य ग्रथ मँगा रक्खे थे। यहाँ तक कि उनके स्वाध्याय के लिए उन्होने कन्नडी लिपि भी सीख ली थी उसके सहारे वे स्वयं बाँचते थे और शास्त्र गद्दी पर बैठकर श्रोताओ को भी सुनाते थे। उनके सिद्धान्तविषयक तलस्पर्शी ज्ञान के लिए गोम्मटसार त्रिलोकसार आदि की टीकाएँ तो हैं ही परन्तु इन ग्रन्थो के अन्तरंग परिचय के लिए उन्होने जो प्रारम्भिक भूमिकाएँ लिखी हैं वे भी बडी महत्त्वपूर्ण हैं। भूमिका न कहकर उन्हें उन ग्रन्थो के खोलने की कुंजी ही कहना चाहिए। ग्रन्थ के पारिभाषिक और सिद्धान्तरूढ़ शब्दों को उन्होने बड़े ही सरल शब्दो में सहज तरीके से दृष्टान्तो द्वारा समझाया है जो मूल ग्रन्थ और संस्कृत टीकाओं मे कही नही दिए गए है। उनके सहारे कोई भी व्यक्ति थोडे से ही अभ्यास के बाद इन ग्रथों मे भलीभाँति प्रवेश पा सकता है। उनके पढे बिना यह निश्चित है कि एक बुद्धिमान् जिज्ञासु भी ग्रन्थगत प्रमेय को समझने के पहले उन शब्दो में ही उलझा रह सकता है, क्योकि ग्रंथ का खूब मथन किए बिना वे शब्द भलीभाँति समझ मे नही आ सकते।

पं० जी के न्याय विषयक पाडित्य के परिचय के लिए यद्यपि उनकी कोई न्याय सबधी रचना उपलब्ध नही है फिर भी मो० प्र० मे एक जगह जैसा कि हमने पिछले फुटनोट मे दिया है गणित व्याकरण के साथ वे अपने न्याय ग्रथो के अभ्यास को भी सूचित करते हैं। दूसरे गृहीत मिथ्यात्व का वर्णन करते समय जहाँ उन्होंने अन्य मतों का खण्डन किया है वहाँ उस खण्डन मे प्रायः न्याय शैली को अपनाया है[२]। तीसरे उनके विशेष खण्डन के लिए लिखा है कि जैन ग्रंथो से यह विषय खूब स्पष्ट होता है[3]। चौथे उन्होने अपने विषय की पुष्टि के लिए कहीं-कही अनुमान के पचावयवो का प्रयोग किया है[४]। उदाहरण के लिये वे आत्मा

१. ताते व्याकरण, न्याय गणित आदि उपयोगी ग्रन्थन का किंचित् अभ्यास करि टीका सहित समयसार, पचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि शास्त्र अर क्षपणसार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, अष्ट पाहुड, आत्मानुशासन आदि शास्त्र। अर श्रावक मुनि का आचार के प्ररूपक अनेक शास्त्र सुष्ठु कथा सहित पुराणादिशास्त्र इत्यादि अनेक शास्त्र हैं। तिनविषें हमारे बुद्धि अनुसार अभ्यास वर्तें है।

२. जो प्रथम पक्ष मानोगे तो परमेश्वर का एक स्वभाव न रहा ·· और द्वितीय पक्ष मानोगे तो सृष्टि ···

३. प्रमाणादिक का स्वरूप अन्यथा मानते हैं यह जैन ग्रन्थों से परीक्षा करने पर खूब स्पष्ट हो जाता है, मो० प्र०। इसलिए इनके सत्यासत्य का निर्णय जैनन्याय ग्रंथो से जानना चाहिए।

४. अनुमान का स्पष्ट प्रयोग इस प्रकार है—अनादिबद्ध कर्म आत्मा से पहले भिन्न हो जाते हैं जो बाद में भिन्न हो जाते हैं वह पहले भी भिन्न थे चूँकि कर्म आत्मा से बाद में भिन्न हो जाते हैं अतः पहले भी भिन्न थे।

से कर्मों को पृथक् सिद्ध करने के लिए कहते हैं—'अनादितें तो मिले थे परन्तु पीछे जुदे भए तब जाण्या जुदे थे तो जुदे भए तातें पहले ही भिन्न थे ऐसे अनुमान करि व केवलज्ञान करि प्रत्यक्ष भिन्न भासे हैं' एक जगह उन्होंने परीक्षा प्रधानता के प्रकरण में अष्टसहस्री का भी उल्लेख किया है। जैमिनीय मत का खण्डन करते हुए एक प्रकरण में उन्होंने लिखा है 'शैव सांख्य नैयायिकादि सब ही वेद को मानते हैं, और तुम भी मानते हो तुम्हारे और उन सबो के तत्त्वादि निरूपण में वेद विरुद्धता पाई जाती है यह क्यों है!' पाठक देखेंगे कि उनका यह भाव अष्टसहस्री के ठीक इस श्लोक के भाव से मिलता जुलता है।

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हितो भट्टप्रभाकरौ ॥

इससे यह निश्चित है कि उन्होंने न्याय ग्रंथो का खास अभ्यास किया था। लक्षण के अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषो को समझा कर सम्यग्दर्शन के लक्षण मे सम्भवित तद्तद् दोषों का न्याय की शैली मे खूब परिहार किया है अत. सिद्धान्त की तरह वे न्याय के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे इसमें सन्देह नही रहता।

उनके गणित सबधी ज्ञान के परिचय लिए गोम्मटसार लब्धिसार त्रिलोकसार आदि ग्रन्थ की टीकाएँ ही काफी हैं। गोम्मटसार त्रिलोकसार की भूमिकाएँ अधिकाश गणित की प्रक्रिया से ही भरी हैं। उनमें लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार का गणित समझाया गया है। गणित का प्रारम्भिक विद्यार्थी भी इन्हे पढकर गणितबहुल करणानुयोग के ग्रथो में अच्छी तरह प्रवेश पा सकता है। सस्कृत टीकाओ में यत्र तत्र बिखरे हुए करणसूत्रो को आपने हिन्दी टीका मे प्रसगानुसार एकत्र संकलित कर उनका खूब स्पष्टीकरण किया है। आपने करण सूत्रो के कुछ अपने उद्धरण[1] भी दिए है जो सस्कृत टीका के न होकर अन्य ही किसी स्वतत्र गणित विषयक ग्रन्थ के हैं। गणित की कोई-कोई प्रक्रिया आपकी बडी सरल है जो आज गणित सबधी नई-नई खोजो के युग में भी आविष्कृत नही हो सकी है, यहाँ हम केवल एक उदाहरण देते हैं—भिन्न मे ऊपर की संख्या अंश और नीचे की हर कहलाती है। आजकल की प्रक्रिया के अनुसार जब दो या अधिक भिन्न की सख्याओ का जोड करना होता है तब पहले हरो का लघुत्तम निकाल लेना पडता है बाद मे लघुत्तम की सख्या को प्रत्येक हर से भाग देकर और लब्ध भजनफल को उसी के अश से गुणा कर जो संख्याएँ आती हैं उन सबके जोड को ऊपर रखकर और लघुत्तम की सख्या को नीचे रखकर उत्तर ठीक किया जाता है। परन्तु पं० जी ने भिन्नों के जोड मे लघुत्तम का काम ही नही रक्खा उनकी प्रक्रिया है कि प्रत्येक अंश का अपने हर को छोड़कर अन्य हरो के साथ गुणा करना चाहिए उन सबके जोड को ऊपर और हरो के परस्पर गुणा करने से जो गुणनफल हो उसको नीचे रखकर उत्तर ठीक आ जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि गणित का आपका न केवल विशिष्ट अभ्यास था बल्कि उसपर असाधारण अधिकार था।

इन सबके पाडित्य के साथ आध्यात्मिक शास्त्रो का भी आपने खूब आलोड़न किया था। सातवे अध्याय में जहाँ जैन मिथ्यादृष्टियों का निरूपण किया है वहाँ साक्षिस्वरूप समय-प्राभृत की गाथाओ और समयसार कलश के श्लोको का खूब ही उपयोग किया है। केवल निश्चयावलबी, केवल व्यवहारावलबी और उभयावलंबी मिथ्यादृष्टियों के वर्णन मे आपने अपने समयसार के अध्ययन का सारा निचोड ही रख दिया है।

१. "कल्प्यो हारो रूपमाहारराशेः" जिस सख्या का हार न हो उसका एक हार कल्पना कर लेना चाहिए। गो० सा० जी० पृ० ६७ ॥ 'भागो नास्ति लब्धं शून्यं' भाग न जाय तो भजनफल की ओर बिन्दी रख देना चाहिए। गो० जी० पृ० ६३।

आपका कहना है कि जिस प्रकार निश्चय के बिना व्यवहार और व्यवहार के बिना निश्चय को लेकर चलना मिथ्यात्व है उसी प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनो को उपादेय मानना भी मिथ्यात्व है। इसके लिए हेतु दिया है कि व्यवहार और निश्चय दोनों परस्पर विरोधी है क्योकि समयसार मे 'ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ'। भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो [गा० ११] कहकर व्यवहार को अभूतार्थ (असत्य) और निश्चय को भूतार्थ (सत्य) कहा है। साथ ही भूतार्थ का आश्रय लेनेवाले को सम्यग्दृष्टि बतलाया है। अत: निश्चय को उपादेय मानकर व्यवहार की अनुपादेयता अपने आप सिद्ध हो जाती है, आपने इसका भी खंडन किया है कि 'सिद्ध समान शुद्ध आत्मा का अनुभवन निश्चय है और व्रतशील सयमादि रूप प्रवृत्ति व्यवहार है। वे कहते है कि द्रव्य के किसी भाव का नाम निश्चय और किसी भाव का नाम व्यवहार नही है बल्कि द्रव्य के एक ही भाव को उस रूप निरूपण करना निश्चय और उपचार से अन्य द्रव्य के भाव रूप वर्णन करना व्यवहारनय है। जैसे मिट्टी के घडे को मिट्टी का कहना निश्चय और घी के सयोग से घी का कहना व्यवहार है। दूसरे समयसार मे जहाँ शुद्ध आत्मा के अनुभवन को निश्चय कहा है उसका मतलब यह है कि स्वभाव मे अभिन्न और परभाव से भिन्न आत्मा का अनुभव करना शुद्धानुभव है। न कि ससारी को सिद्ध मानना। इसके अतिरिक्त जो ऐसा मानते है कि 'निश्चय का श्रद्धान करना चाहिए और प्रवृत्ति व्यवहार की रखना चाहिए' उन्हे भी वे मिथ्यादृष्टि ही बतलाते हैं। उसके लिए हेतु देते है कि एक का श्रद्धान रखने से तो एकान्त मिथ्यात्व हो जायगा। अत श्रद्धान तो दोनो का ही रखना चाहिए किन्तु निश्चय का निश्चयरूप से और व्यवहार का व्यवहाररूप से श्रद्धान करना चाहिए। रही व्यवहार नय की प्रवृत्ति की बात सो नय का प्रवृत्ति से कुछ मतलब ही नही है। प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है। द्रव्य की परिणति उस रूप निरूपित करना निश्चय नय है। और उसी परिणति को अन्य किसी द्रव्य रूप निरूपित करना व्यवहार-नय है। इस तरह विवक्षावश निरूपण करने से एक ही प्रवृत्ति मे दोनो नय बन जाते है। न कि प्रवृत्ति ही नयस्वरूप है। अत. निश्चय, व्यवहार दोनो को उपादेय मानना मिथ्यात्व है। इस तरह उन्होने निश्चय और व्यवहार की गुत्थी को खूब ही सुलझाया है। हमारी समझ मे समयसार के स्वाध्यायियो को और उसके स्वाध्याय के इच्छुको को यह प्रकरण अवश्य बाँच जाना चाहिए।

इसी ग्रन्थ के आठवें अध्याय मे द्रव्यानुयोग ग्रन्थो के उपदेश का स्वरूप बताते हुए आपने समयसारादि को लक्ष्य लेकर उनके उपदेश का स्वरूप लिखा है कि उनमे मुख्यतया ज्ञान वैराग्य का कारण आत्मानुभवनादि की महिमा गाई गई है। द्रव्यानुयोग मे निश्चय अध्यात्म उपदेश की प्रधानता होती हैं, वहाँ व्यवहार धर्म का भी निषेध कर दिया जाता है। जो जीव आत्मानुभवन का उपाय नही करते और बाह्य क्रियाकाड में ही मग्न रहते है उनको वहाँ से उदास कर आत्मानुभवनादि मे लगाने को व्रत शील सयमादि का हीनपना भी प्रकट किया जाता है। लेकिन उसका मतलब यह नही समझना चाहिए कि उन्हे छोडकर पाप मे लग जाना उचित है क्योकि उस उपदेश का मतलब अशुभ मे लगाना नही है बल्कि शुद्धोपयोग मे लगाने के लिए शुभोपयोग का निषेध किया जाता है।[1] इसके लिए उन्होने एक उदाहरण दिया है कि जो जिनप्रतिमा पूजन मे ही मग्न रहते हैं उनके लिए कहा जाता है कि 'देह विषे देव है देहुरा विषे नाही' लेकिन उसका यह अर्थ नही है कि भक्ति छोडकर भोजन पान मे ही मस्त रहना चाहिए। इस तरह प्रकरणानुसार आध्यात्मिक शास्त्रो के रहस्य को उन्होने खूब ही खोला है। साथ ही इस शका का कि अध्यात्मग्रन्थो के अध्ययन[2] से पूजन पाठ आदि छोडकर जीव स्वच्छन्द हो जाते है समाधान करते हुए बड़ा ही मार्मिक दृष्टान्त दिया है। उन्होने

१. पृ० २३५। २. जहाँ सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के कारण बताये गए हैं।

लिखा है कि गधा यदि मिश्री खाकर मर जाता है तो मनुष्य को मिश्री खाना नहीं छोड़ना चाहिए। उसी प्रकार अध्यात्म ग्रन्थों के सुनने में कोई मूढ स्वच्छंद हो जाता है तो विवेकी को स्वच्छद नही होना चाहिए।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प० जी आध्यात्मिक ग्रन्थ के अच्छे मर्मज्ञ थे और उन्होंने समयसार ग्रंथ का खूब बारीकी के साथ अध्ययन किया था। आगे उन्होने अनुयोग ग्रन्थो की व्याख्यान पद्धति बताते हुए समयसारादि आध्यात्मिक ग्रंथो के स्वाध्याय का तरीका बडी ही सुन्दरता के साथ विवेचन किया है।

पं० जी की कवित्व शक्ति

स्वाध्यायी संसार प० जी को अब तक गद्य लेखक के रूप में ही देखता आ रहा है और वह ठीक भी है कारण प० जी ने जो कुछ भी टीका या स्वतंत्र ग्रंथ लिखे हैं वे गद्य मे हो लिखे हैं। परंतु इसका अर्थ यह नही कि पं० जी में कवित्वनिर्माण की शक्ति नही थी। उन्होने ग्रन्थ को प्रशस्तियो तथा मङ्गलाचरणो मे जो पद्य लिखे हैं, वे बडे ही महत्त्व के है और उनसे उनको काव्योचित प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है। यहाँ हम उनकी कविता के कुछ उदाहरण देते है :—

श्रीवर धर्म जलधि के नन्दन रत्नाकर वर्धक सुखकार,
लोक प्रकाशक अतुल विमल प्रभु सन्तनि कर सेवित गुणधार।
माधव वर बलभद्रनमितपद पद्म युगल धारे विस्तार,
नेमिचन्द्र जिन नेमिचन्द्र गुरु चन्द्र समान नमहु सो सार ॥१॥

—मङ्गलाचरण क्षपणा सा०

इस छद में नेमिनाथ तीर्थंकर तथा नेमिचन्द्र सिद्धातचक्रवर्ती को नमस्कार किया है और उनकी उपमा चन्द्रमा से दो है अत तीनों को लेकर इस छंद के तीन अर्थ होते है जो इस प्रकार हैं :—

१—जो अतरग (केवलज्ञानादि) और बहिरङ्ग (समवशरणादि) श्रेष्ठ लक्ष्मी से संयुक्त है, धर्म (षोडश कारण भावना) समुद्र से उत्पन्न है, सम्यग्दर्शनादि रत्नमय कोष के वर्धक है, सुखकारी तथा लोक के प्रकाशक हैं, अद्वितीय, वीतराग और प्रभु हैं, धर्मात्मा जिनकी सेवा करते है, कृष्ण और बलराम जिनके चरणों को नमस्कार करते है, जो नेमिचन्द्राचार्य के गुरु (उपास्य) है उन नेमिनाथ भगवान् को नमस्कार करता हूँ।

२—शोभा से सयुक्त, धर्म रूपी समुद्र के पुत्र, रत्नत्रयादि कोष के (आशिक रूप से) बर्धक, सुखकारी, त्रिलोकसार के रचयिता, महान्, नि कषाय, प्रभु, विद्वानो द्वारा सेवित, माधवचन्द्र त्रैवेद्यदेव आचार्य और बाहुबली नाम के मत्री (राजा भोज) से नमस्कृत, नेमिनाथ भगवान् के उपासक, चन्द्रमा के समान गुरु, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती को मैं नमस्कार करता हूँ।

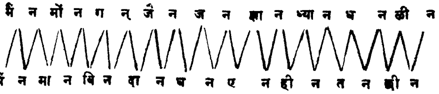
३—चन्द्रमा भी लक्ष्मी से युक्त समुद्र से पैदा हुआ है, समुद्र को आह्लादित करता है, ससार को प्रकाशित करता है एक, निर्मल और प्रभु है ससार जिसकी चाँदनी से लाभ उठाता है, सप्त सेना मे बसन्त-राज जिसका प्रधान सेनापति है।

इस तरह एक ही छद मे तीन अर्थों का समन्वय करना कवित्वशक्ति के बिना नही हो सकता। जन साधारण को मामूली छंद बनाने मे ही कठिनाई होती है। छद बनाकर उसमे चमत्कार लाना तो बहुत दूर की बात है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नही कि उपर्युक्तछद चमकृत काव्य है और श्लेष का उसमे बडा सुन्दर निर्वाह किया है एक चित्रालंकार का उदाहरण देखिए—

मैं नमों नगन जैन जन ज्ञान ध्यान धन लीन।
मैंनमानबिन दानघन, एन हीन तन छीन ॥ [मङ्गला० गो० सा० ५]

अर्थ—ज्ञान और ध्यानरूपी धन के अर्जन में लवलीन, काम और अहंकार आदि से रहित, मेघ की तरह धर्मोपदेश की वर्षा करनेवाले, पाप रहित, शरीर से कृष, नग्न जैन साधुओं को मैं नमस्कार करता हूँ।

यह गोमूत्रिका बन्ध दोहा है। इसका चित्र इस प्रकार है—



इसमे ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः एक एक अक्षर छोडने से ऊपर की लाइन बन जाती है। इसी प्रकार नीचे से ऊपर की ओर एक एक अक्षर छोडने से नीचे की लाइन बन जाती है। चित्रबध कविताएँ दुरूह होती हैं इसमे कवि को समय और शक्ति अधिक लगानी पडती है। कवि उचित प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति ही इस प्रकार की कविता कर सकता है। हम देखते है कि टोडरमल जी मे यह शक्ति खूब विकसित थी और उसका यदि वे उपयोग करते तो एक महान् और युगप्रवर्त्तक कवि सिद्ध हो सकते थे फिर भी उन्होने कविता जो दो चार छद लिखे है वे कम महत्त्व के नही हैं। ऊपर के दोहे मे जहाँ चित्रालंकार है वही उसमे यमकालंकार भी है। प्रथम और तृतीय चरण मे 'मैंन' 'मैंन' इन सार्थक भिन्न वर्णों को दुहरा कर यमक का अच्छा निर्वाह किया गया है। इसी प्रकार 'न' वर्ण की पुनः पुन. आवृत्ति होने के कारण उसमें वृत्यनुप्रास अलकार भी है 'ज्ञानध्यानधन' पद मे 'रूपक अलकार' भी है। कारण वहाँ ज्ञान ध्यान मे धन का आरोप किया गया है। इस तरह चित्र यमक अनुप्रास और रूपक चारो स्वतन्त्र रूप से एक ही जगह होने के कारण वहाँ सकर अलंकार भी है। यो एक छोटे से छद मे पाँच पाँच अलकारो का समावेश कर देना कवि का काव्य कौशल नही तो क्या है।

वृत्यनुप्रास और यमक का एक दूसरा उदाहरण देखिए—

सिद्ध सुद्ध साधित सहज स्वरससुधारसधार।
समयसार शिव सर्वगत नमत होहु सुखकार ॥३॥
जैंनीवानी विविधविध वरनत विश्व प्रमान।
स्यात्पदमुद्रित अहितहर करहु सकल कल्यान ॥४॥ [गो० सा० मङ्ग०]

उक्त दोहों मे से पहले में 'स' 'स' की पुनरावृत्ति होने से वृत्यनुप्रास और 'धार' 'धार' पदो की आवृत्ति होने से यमक है। इसी प्रकार दूसरे मे 'व' 'व' की आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास और 'विध विध' पदो की आवृत्ति होने से यमक है।

यह हमने प० जी की हिन्दी कविताओं के थोडे से उदाहरण दिए हैं। हिन्दी के साथ साथ वे संस्कृत कविताएँ भी कितनी सुन्दर और सरस करते थे इसके हम यहाँ दो-एक उदाहरण देते हैं:—

संदृष्टेर्लब्धिसारस्य क्षपणासारमीयुषः
प्रकाशिनः पदं स्तौमि नेमीन्दोर्माधवप्रभो. ॥१॥ [लब्धि० अर्थ सं० अ०]

इस श्लोक के दो अर्थ हैं एक मे लब्धिसार क्षपणासार के कर्ता नेमिचन्द्र आचार्य को नमस्कार किया है दूसरे में नेमिनाथ तीर्थंकर को नमस्कार किया है। आचार्य पक्ष में अर्थ होता है—'क्षपणासार सहित लब्धिसार की सदृष्टि का प्रकाश करने वाले, माधवचन्द्र आचार्य के गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के चरणों की मैं स्तुति करता हूँ। और तीर्थंकर पक्ष मे अर्थ होता है—करणलब्धि के परिणाम स्वरूप कर्मों के क्षपण

को प्राप्त, समीचीन दृष्टि का प्रकाश करने वाले, नारायण के गुरु नेमिनाथ भगवान् के चरणो की मैं स्तुति करता हूँ। पाठक देखेंगे कि दोनो अर्थों का कितना सुन्दर और संगत समन्वय हुआ है।

इसी प्रकार आपका एक तीन अर्थों वाला श्लोक देखिए—

शुद्धात्मानमनेकान्तं साधुमुत्तममङ्गलम्।
वंदे संदृष्टिसिद्धयर्थं सदृष्ट्यर्थं प्रकाशकम् ॥३॥ [गो० अ० सं० अ०]

पहला अर्थ है—अनंतज्ञान, दर्शन आदि अनेक धर्म (गुण) स्वरूप, निर्मल, मगलोत्तम, सम्यग्दर्शन के विषयभूत आत्मतत्त्व के प्रशासक शुद्ध आत्मा अरहंत देव को संदृष्टि रचना की निर्विघ्न पूर्ति के लिए नमस्कार करता हूँ।

दूसरा अर्थ है—विशुद्ध, श्रेष्ठ, मंगलोत्तम, समीचीन तत्त्व की प्रकाशक अनेकान्त वाणी को सदृष्टि रचना की निर्विघ्न पूर्ति के लिए नमस्कार करता हूँ।

तीसरा अर्थ है—निर्मल चित्त के धारी उत्तम क्षमादि अनेक धर्म धारण करनेवाले, मङ्गलोत्तम, सन्मार्ग के दर्शक साधुओ (गुरुओं) को संदृष्टि रचना की निर्विघ्न पूर्ति के लिए नमस्कार करता हूँ॥

इस तरह इसमे शुद्धात्मा अनेकान्त और साधु पद देकर देव शास्त्र गुरु को नमस्कार किया है अत. तीनों के पक्ष में उक्त श्लोक का अर्थ बैठ जाता है।

अब एक पाँच अर्थवाला श्लोक देखिए—

पचसंग्रहसद्वृत्त त्रिलोकीसारदीपकं।
माधबादिस्तुत स्तौमि, नेमिचन्द्रं गुणोज्ज्वल ॥२॥ [गो० सं० अ०]

इस श्लोकका अर्थ पंचसग्रह (गोम्मटसार), त्रिलोकसार, नेमिचन्द्राचार्य, नेमिनाथ भगवान् और चन्द्रप्रभ के पक्ष मे लगता है। इस प्रकार इन दो चार उदाहरणो में ही हमें प० जी की काव्योचित मौलिक प्रतिभा के दर्शन हो जाते हैं। सच तो यह है कि आपकी प्रतिभा चहुमुखी थी। जिस विषय को लेकर आपने थोड़ा बहुत लिखा है उस पर आपकी अपनी निजी छाप है। प० जी जैसे बहुश्रुत विद्वान् से साधारण रचना की तो कल्पना ही नही हो सकती है। अतः उनकी प्रत्येक रचना की श्रेष्ठता के लिए उनका नाम ही पर्याप्त है।

पं० जी का व्यक्तित्व

प० जी जैसे विद्वान् थे वैसे ही स्वभाव के बडे नम्र थे। अहकार उन्हे छू तक नही गया था। उन्हें एक दार्शनिक का मस्तिष्क, दयालु का हृदय, साधु का जीवन, सैनिक की दृढता और शहीद की मृत्यु वरदान में मिले थे। जिज्ञासु जनता की उनके पास भीड लगी रहती थी और वे अपने सातिशय ज्ञान से उन्हे तृप्त करते थे। उनका तत्त्वज्ञान इतना मँजा हुआ था और वाणी मे इतना आकर्षण था कि शास्त्र के नित्य प्रवचन मे हजारो की भीड हो जाना एक साधारण बात थी। कुछ लोग तो जयपुर इसलिए आया करते थे कि देखें यह ज्ञान का धनी अलौकिक प्रतिभा का पुञ्ज कैसा है। रहन सहन मे कोई आडम्बर न था। वात्सल्य के प्रतीक थे। किसी विषय का विवेचन करते समय उसकी तह तक पहुँचने के बाद ही आप आगे बढ़ते थे। ग्रन्थान्तरो के समर्थन और उपयुक्त उदाहरणो की आपके पास कमी न थी। गृहस्थ होकर भी गृहस्थी मे कभी अनुरक्त नहीं हुए। अपनी साधारण-सी आजीविका करने के बाद एक विरक्त पुरुष की तरह स्वाध्याय आदि मे लगे रहना ही आपका एकमात्र काम था। आपको अपने जीवनकाल मे ही अपने असाधारण व्यक्तित्व के लिए तत्कालीन जनता से जो सम्मान मिला था वह सहधर्मी भाई रायमल्ल के दो-एक उद्धरण देते हैं रायमल्लजीने अपना परिचय देते हुए लिखाहै 'अर टोडरमलजी सूं मिले, नाना प्रकार के प्रश्न किए। टोडरमलजी के ज्ञान

की महिमा अद्भुत देखी ।'" अवार के अनिष्ट काल विषै टोडरमलजी के ज्ञान का क्षयोपशम विशेष भया । टोडरमल जयपुर के साहूकार का पुत्र ताके विशेष ज्ञान जान वासू मिलने के अर्थि जैपुर आए ।' प० देवीदास जी ने लिखा है 'टोडरमल जी महाबुद्धिमान के पास शास्त्र सुनने का निमित्त मिला।'

इस तरह आप अपने जीवनकाल मे ही अद्वितीय विद्वान् समझे जाते थे । आप इतने अधिक तत्वदर्शी और दार्शनिक थे कि भगवान् की भक्ति और जी हजूरी को साधारण अल्पज्ञानी की चीज से अधिक महत्त्व नही दे देते थे । पूजक और पूज्य को वे विवेक और गुणो के साथ ही देखना चाहते थे । यही कारण था कि वे व्यक्तिवादी न होकर गुणवादी थे । मोक्षमार्ग-प्रकाश के अध्यायों के प्रारभ में प्रत्येक जगह आपने जो मङ्गला-चरण किया है उसमे व्यक्ति की कही भी पूजा नही है । आप के अनूदित ग्रन्थ गोम्मटसार[1], लब्धिसार, पुरु-षार्थसिद्धयुपाय, आत्मानुशासन, त्रिलोकसार आदि मे भी व्यक्ति की पूजा न होकर सर्वत्र गुणवाद की पूजा है ।[2] जहाँ कही व्यक्ति को नमस्कार किया है वह केवल संस्कृत श्लोकों का अनुवाद या छाया है ।

असाधारण विद्वान् होकर भी आप लघुता और विनय की साक्षात् मूर्ति थे । इस संबंध में आपने अपने ग्रन्थो मे जो उद्गार प्रकट किए हैं उसमे उनकी आन्तरिक सरलता फूट पडती है । गोम्मटसार के अर्थसंदृष्टि अधिकार के प्रारभ मे आपने लिखा है—तहाँ किछू चूक होइ सो मेरी मंदबुद्धि की भूलि जानि बुद्धिवत कृपा करि शुद्ध करियो.. । अर मेरी मति हीन है तातैं चूक होइगा ताके शुद्ध करने के अर्थि विशेष विनती करौं हौं । लब्धिसार के प्रारभ मे आपने लिखा है 'कोई कठिन अर्थ मेरी समझ में नीके न आवनेतें इहाँ न लिखिए हैं सो संस्कृत टीका व क्षपणासार तें जानियो ।' लब्धिसार के संदृष्टि अधिकार मे आपने लिखा है । . ... तातैं जानौं हौं तिनके स्वरूप लिखने में चूक परेगी... .. सो जहाँ चूक होइ तहाँ विशेषबुद्धि सवार

---

१ गोम्मटसार के प्रारंभ में जो नेमिचन्द्र को नमस्कार किया है वह केवल श्लेष को फलित करने के लिए मूलग्रन्थ के 'सिद्ध सुद्ध पणमिय' आदि गाथा का अनुकरण मात्र है । उसके बाद तो केवल देवशास्त्र गुरु का ही नमस्कार किया है यही बात अन्य ग्रन्थो के हिन्दी छदो मे भी है ।

२. दोष दहन गुन गहनघन, अरिकरि हरि अरहत । स्वानुभूति रमनी रमन जगनायक जयवत ॥१॥
सिद्ध सुद्ध साधित सहज स्वरस सुधारस धार । समयसार शिव सर्वगत नमत होहु सुखकार ॥२॥
जैनीवानी विविधि विध वरनत विश्व प्रमान । स्यात्पदमुद्रित अहित हर करहु सकल कल्यान ॥३॥
मै नमो नगन जैन जन ज्ञान ध्यान धन लीन । मैनमान विन दान धन एन हीन तन छीन ॥४॥ गो०सा०
सम्यग्दर्शन चरन गुन, पाप कुकर्म खिपाय । केवलज्ञान उपाय प्रभु, भए भजो शिवराय ॥१॥
जिनवानी के ज्ञान मे हात तत्वश्रद्धान । चरण धारि केवल लहे पावै पद निर्मान ॥२॥
लब्धिसार को पायकें, करिकै क्षपणासार, हो है प्रवचनसार सो, समयसार अधिकार ॥३॥ ल०सा०
शुद्धात्मानमनेकान्त साधुमुत्तममगल । वदे सदृष्टि सिद्धयर्थं संदृष्टयर्थ प्रकाशक ॥गो०अ०सं० ।
त्रिभुवनसार अपार गुन ज्ञायक नायक संत । त्रिभुवन हितकारी नमो श्री अरहत महत ॥१॥
तीन भुवन के मुकुट मनि, गुन अनंतमय शुद्ध, नमो सिद्ध परमात्मा वीतराग अविरुद्ध ॥२॥
तीन भुवन तिथि जान के, आप आपमय होय । परतै भए विरक्त अति नमो महामुनि सोय ॥३॥
तीन भुवन मदिर विषैं अर्थ प्रकासन हार । जैन वचन दीपक नमों ज्ञान करन गुन धार ॥४॥
तीन भुवन महिं जे लसैं चैत्य चैत्य ग्रह सार । ते सब बदौ भाव जुत सुभकारन सुखकार ॥५॥त्रि०सा०
श्री जिन शासन गुरु नमूं, नानाविध सुखकार । आतम हित उपदेश दे करूँ मङ्गलाचार ॥१॥

शुद्धि करियो । मोकों बालक मानि क्षमा करियो । बहुरि इहां संदृष्टि न तिनका स्वरूप विषें जिनका मोकों स्पष्ट ज्ञान न भया ते यहां नाहीं लिखीं है मूल ग्रन्थ ते जानियो । त्रिलोकसार टीका के प्रारंभ में लिखा है— संस्कृत टीकाका अनुसार ले इस भाषा टीका विषें अर्थ लिखोंगा। कहीं कोई अर्थ न भासैगा ताको न लिखोंगा। कहीं समझनेके अर्थ बधाय करि लिखोंगा। ऐसे यहु टीका बनेगी ता विषें जहां चूक जानो तहां बुधजन संवारि शुद्धि करियो । इस तरह प्राय. हर एक ग्रन्थ मे आपने अपनी लघुता प्रकट की है । हाला कि और भी ग्रन्थकार अपने ग्रन्थो में इस तरह लघुता प्रकट करते आए हैं, परन्तु उनमें प्राय: परपरा का पालन होता देखा गया है। हृदय के वहाँ दर्शन नही होते । परन्तु टोडरमलजी के शब्दो में जो हृदय, स्वाभाविकता और स्पष्टता है वह पाठक के हृदय पर सदा के लिए अपनी अमिट छाप छोड देती है । लगभग दो सौ वर्षों के बाद भी उनके इन शब्दों को पढकर उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा उमड पडती है और उनकी सरलता के लिए सहज ही मुख से प्रशसा के शब्द निकल पडते हैं । अपने टीका ग्रन्थो के अन्त में आपने जो अपना परिचय दिया है वह भी आपकी स्वाभाविक सरलता का द्योतक है । परिचय तो वह कहने भर को है वास्तव में वह आपके अन्तरङ्ग का मूर्तिमान रूप है । और भौतिक मनोवृत्ति के विरुद्ध ससार को आध्यात्मिकता को जबर्दस्त चुनौती है । लब्धिसार की टीका के अन्त मे आपका परिचय निम्न प्रकार है—

'मैं हौं जीव द्रव्य नित्य चेतना स्वरूप मेरी लग्यो है अनादिते कलक कर्ममलकौ ।
ताहीको निमित्त पाय रोगादिक भाव भए भयो है शरीरकौ मिलाप जैसो खलकौ ।।
रागादिक भावनिकौ पायकें निमित्त फुनि होत कर्मबध ऐसो है बनाव फलकौ ।
ऐसे ही भ्रमत भयो मानुष शरीर जोग बने तो बने इहाँ उपाय निज थलकौ ।।३६।।

रमापति स्तुत गुन जनक जाकौ जोगीदास ।
सोई मेरौ प्राण है धारे प्रकट प्रकाश ।।३७।।
मै आतम अरु पुद्गल स्कंध, मिलिकैं भयो परस्पर बंध ।
सो असमान जाति पर्याय, उपज्यो मानुष नाम कहाय ।।३८।।
मातगर्भमैं सो पर्याय, करिके पूरण अग सुभाय ।
बाहिर निकसि प्रकट जब भयो, तब कुटुम्बकौ भेलो थयो ।।३९।।
नाम धरघो तिनि हर्षित होय, टोडरमल्ल कहे सब कोय ।
ऐसो यहु मानुष पर्याय, वधत भयो निज काल गमाय ।।४०।।
देश ढूंढाहडमाहि महान, नगर सवाई जयपुर थान ।
तामैं ताकौं रहनौ घनौ, थोरो रहनो औढे बनो ।।४१।।
तिर पर्यायविषे जो कोय, देखन जानन हारो सोय ।
मैं हौं जीव द्रव्य गुन भूप, एक अनादि अनंत अरूप ।।४२।।
कर्म उदयको कारण पाय रागादिक हो हैं दुखदाय ।
ते मेरे औपाधिक भाव इनकौ विनशै मैं शिवराव ।।४३।।
वचनादिक लिखनादिक क्रिया, वर्णादिक अरु इद्रिय हिया ।
ये सब हैं पुद्गल का खेल इनमे नाहि हमारो मेल ।।४४।।

अन्य ग्रन्थों के अन्त मे भी जहाँ कही आपने अपने परिचय के नाम पर कुछ लिखा है वहाँ यही लिखकर छोड दिया हैं कि अर्थ और शब्द मे स्वयं ही वाच्य वाचक संबध है अत: इनका कोई कर्ता नही है[1] । हा

१. वाचक शब्द वाच्य है अर्थ इनकै यहु संबंध समर्थ ।
इनका कर्ता नाहीं कोय जाने इनका ज्ञाता होय ।।त्रि० सा०।।

जो इन शब्दों को कहता है या इन्हें जोड-जोड कर रखता है वह व्यवहार मात्र कर्ता है इन व्यवहारमात्र कर्ताओं में या तो भगवान् महावीर हैं या फिर गणधर और उनके अनुसार शब्दों को जोड़ने वाले अन्य कर्ता हैं[1]। इस तरह अन्य ग्रन्थो मे भी वे अपने आपको छिपा गए है। जिसने अपने समय मे असाधारण योग्यता और प्रतिभा प्राप्त की तथा जीवन भर जो लोगों का बौद्धिक और नैतिक स्तर ऊँचा करने के लिए अथक परिश्रम करता रहा। साथ ही जिसे श्रद्धा और सम्मान की कमी नही थी उसका इस प्रकार अपने यश और नाम के लिए उपेक्षित रहना उसके व्यक्तित्व की महानता का द्योतक है।

पं० जी के विषय में कहा जाता है कि वे लगन और निष्ठा के बडे पक्के थे। उनकी तन्मयता के बारे मे यह प्रसिद्ध है कि उन्होने छ महीने तक अलूना भोजन किया किन्तु उन्हे पता ही नही चला कि मैं अलूना भोजन कर रहा हूँ। इस तरह हम देखते है कि प० जी का जीवन एक साधक का जीवन भी रहा है।

पं० जी का जीवन काल

प० जी की अन्य बातो की तरह अभी तक उनका जीवन काल भी अनिश्चित है। इस संबंध में अधिकाश लोगो का ख्याल है कि वे २८ वर्ष से अधिक जीवित नही रहे। उनकी यह २८ वर्ष की अवधि वि० सं० १७९७ मे १८२४ तक मानी जाती है। जहां तक प० जी की मृत्यु का सवाल है यह निश्चित है वे १८२४ से अधिक जीवित नही रहे। पर उनके जन्म का सवत् १७९७ मानने को जी नही चाहता। १७९७ मे जन्म होने का मतलब यह है कि वे १२, १३ वर्ष की उम्र मे ही गोम्मटसार आदि ग्रन्थों के पारगामी और समस्त जिनागम रहस्य के वेत्ता हो गए थे। यहाँ तक कि उनकी विद्वत्ता की ख्याति देश देशान्तरो मे फैल गई थी। १२-१३ वर्ष हम इसलिए कह रहे है कि स० १८१२ मे अर्थात् १५-१६ वर्ष की उम्र में उन्होने गोम्मटसार आदि की टीका प्रारम्भ करना कर दिया था। किन्तु टीका करने के पहले ही वे अपनी असाधारण विद्वत्ता के लिये इतने प्रसिद्ध हो गये थे कि तत्कालीन साधर्मी भाई रायमल्ल उनकी धार्मिक सगति का लाभ उठाने उनसे जयपुर मिलने गए थे लेकिन यह मालूम कर प० जी इन दिनो सिंघाणा नगर मे है वे आगरे आदि चले गए। बाद मे पुन. टोडरमलजी से आकर मिले और गोम्मटसार की टीका करने की प्रेरणा की। इस तरह रायमल्लजी का टोडरमलजी की कीर्ति सुनना उनसे जयपुर मिलने जाना उन्हे वहाँ न पाकर आगरे आदि घूमना और पुन टोडरमलजी से मिलना इसमे दो तीन वर्ष सहज बीत गए होंगे अत टीका करते समय यदि उनकी उम्र १५ साल की थी तो १२-१३ वर्ष की उम्र मे वे अवश्य जैन सिद्धान्त के पारगामी हो गए होंगे। इतनी छोटी उम्र मे इस प्रकार अगाध पाण्डित्य प्राप्त कर लेना और वह भी जातिस्मरण से नही बल्कि अभ्यास के बल पर समझ मे नही आता। यदि किसी प्रकार उनकी इस बचपन की अगाध विद्वत्ता को सच भी मान ली जाय तब भी उसे एक महान् आश्चर्यपूर्ण घटना समझना चाहिए। इतनी बडी असाधारण बात को और

---

१ पृथ्वी शब्द पृथ्वी अर्थ इनके सम्बन्ध ऐसो पृथ्वी शब्द जानने ते पृथ्वी अर्थ जानिए। ऐसे साचे शब्द अरु साचे अर्थ जगमाहि तिनकै सबन्ध सो स्वभाव ही तें मानिए। तातें इस ग्रन्थमाहि जेते शब्द जेते अर्थ तिनकी नवीन कर्ता कोऊ नाहि मानिए। तिनकों जो जाने अरु भाषे जोरि शब्दनि को व्यवहार मात्र सो तो कर्ता पहचानिए। ऐसी परिपाटी माहि इहा वर्धमान जिन भए तिनहूतें तिनका स्वरूप जान्यो है। इच्छा बिन दिव्यध्वनि तिनके प्रकट भई ताकरि स्वरूप कछु तैसो ही बखान्यों है। गौतम-गणेश मुनि ऐसो उपकार कीनो ताको अनुसार सब ग्रन्थनि में आन्यो है। तिम करि ज्ञानवंत होइ छोटे ग्रन्थ जोरि किनहू ने नाना भाँति अरथ प्रमान्यो है। त्रि० सा०।

नहीं तो भाई रायमल्ल अवश्य चर्चा करते। लेकिन उन्होंने उनकी योग्यता विद्वत्ता और क्षयोपशम का जिक्र करते हुए भी इतनी कम आयु में इतना अधिक ज्ञान प्राप्त करने की चर्चा कही नही की। जिसकी चर्चा न करने का कोई कारण भी समझ मे नही आता। अत: १७९७ मे उनके जन्म को विश्वस्त नहीं माना जा सकता।

दूसरी बात यह है कि भाई रायमल्ल के दिए हुए परिचय[1] के अनुसार वे २९ वर्ष की अवस्था मे उदयपुर पं० दौलतरामजी से मिलने पहुचते हैं और वहाँ की शैली का अवलोकन कर साहपुरा नगर लौट आते हैं। वहाँ कुछ दिन रहकर प० टोडरमलजी की कीर्ति सुनकर उनसे मिलने चल देते है। हम समझते है इसमे उन्हें वर्ष डेढ़ वर्ष से ज्यादा नही लगा होगा। कारण वे उदयपुर मे वहाँ की शैली का अवलोकन करके ही साहपुरा लौट आना लिखते है और साहपुरा मे कुछ दिन ही रहना लिखते है। अत उनके २९ वर्ष में मे डेढ़ वर्ष और जोड देने से उनका साढ़े तीस वर्ष की आयु मे टोडरमलजी से मिलने जाना निश्चित होता है। अब यदि हम रायमल्ल का समय १७७० से १८२५ तक[2] ठीक मान लेते हैं ता इसका अर्थ यह है कि वे (१७७० + ३०½) स० १८०१ मे टोडरमलजी से मिलने जयपुर गए होगे। लेकिन उस समय टोडरमलजी की आयु कुल ४॥ वर्ष की ही होती है। अत यह कैसे माना जा सकता है साढे चार वर्ष की आयु मे हो वे (टोडरमलजी) इतने बडे भारी विद्वान् हो गए थे कि उनके ज्ञान की कीर्ति देश मे सब ओर फैल गई थी।

कहा जाता है कि प० देवीदास जी गोधा ने अपने चर्चाग्रन्थ मे आपका जन्म सवत् १७९७ दिया है। यद्यपि उक्त ग्रन्थ हमारे सामने नही है फिर भी इस संबंध मे जबतक उस ग्रन्थ को और प्रतियाँ न देख ली जाय तब तक कुछ निश्चयात्मक बात कहना कठिन है। श्री प० चैनसुखदासजी ने वीरवाणी के टोडरमल अङ्क मे अपने सम्पादकीय लेख के अन्तर्गत एक फुटनोट दिया है उसमें गोम्मटसार को पूजा को टोडरमलजी की कृति साबित करते हुए यह आश्चर्य प्रकट किया है कि 'उसके जयसिंह महाराज के राज्य काल मे बनाए जाने का क्यों उल्लेख है ?' हमारी समझ मे उसमें आश्चर्य की कोई बात नही है आश्चर्य तो तभी हो सकता है जब हम प० जी का जन्म १७९७ मे ही मानकर चलते है। लेकिन १७९७ मे जन्म मानने से जब बाधाएँ उपस्थित होती है तब उनका जन्म उससे पहले मानना चाहिए और वह महाराजा सवाई जयसिह के समय मे ही हो सकता है। हमारा अनुमान है कि महाराजा सवाई जयसिह के समय मे उनका जन्म ही नही हुआ बल्कि वे विद्याभ्यास भी पूर्ण कर चुके थे अत. अवश्य उन्हाने उनके ही राज्य काल मे गोम्मटसार की पूजा बनाई होगी। यद्यपि यह ठीक है कि प० देवीदासजी गोधा जिन्होने पं० जी का जन्म १७९७ मे लिखा है प० जी के समकालीन थे अत: उनकी बात प्रमाण मानना चाहिए परतु प० टेकचद्रजी भी जिनके पत्र से गोम्मटसार पूजा का महाराजा जयसिह के राज्यकाल मे रचा जाना सिद्ध होता है प० जी के समकालीन ही थे अत. उनकी बात प्रमाण न मानी जाय इसमे कोई हेतु प्रतीत नही होता। अब सवाल यह रह जाता है कि यदि प० जी का जन्म १७९७ मे नही हुआ तो कब हुआ। इस सबन्ध मे अभी तक हमे कोई किसी प्रकार का उल्लेख नही मिला और न इस समय हमारे पास समय और साधन ही है जिससे उसका पता

---

१. भाई रायमल्ल ने अपने परिचय मे लिखा है कि हम २२ वर्ष की अवस्था मे साहपुरा और वहाँ ७ वर्ष रहकर उदयपुर गए। इससे सिद्ध है कि वे २९ वर्ष की अवस्था मे उदयपुर गए। देखो 'वीर वाणी' वर्ष १ अंक २।

२. वीरवाणी वर्ष १ अक २।

लँगाया जा सके फिर भी जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं खोज करने पर उनका जन्म समय १७९७ से पहले ही सिद्ध होगा। जिज्ञासु पाठको से हमारा अनुरोध है कि वे इस संबन्ध में अधिक छान बीन करें।

पं० जी की मृत्यु यह निश्चित है कि १८२४ में हुई थी। वह उनकी स्वाभाविक मृत्यु नही थी बल्कि उन्हें आततायियों का शिकार होना पडा था। अपने समय के सुधारको और महापुरुषो को जो पुरस्कार मिलता आया है पं० जी को भी वही पुरस्कार मिला। आपकी विद्वत्ता, तार्किकता और वक्तृत्व शक्ति की बडी धूम थी। जैनों के अतिरिक्त अजैन भी उनके प्रभाव से अछूते न थे। सत्य खोजी के नाते मतमतान्तरो के कठोर समालोचक थे। ये सब बातें भला जयपुर के तत्कालीन ब्राह्मणो को कब सह्य थी। उनमे विद्वान् थे पर टोडरमलजी जैसे महाविद्वान् के सामने उनकी विद्वत्ता लगडी थी। वे परकटे पक्षी की तरह फडफडाते थे और बदला लेने के लिए कायरतापूर्ण आक्रमण की घात मे रहते थे। संवत् १८१८ मे श्यामनारायण तिवारी द्वारा हम जैन मंदिरो के विघ्न की बात ऊपर लिख आए है। वह तिवारी अपनी इस करतूत के कारण आखिर राज्य से निकाल दिया गया था। अत: उस समय के ब्राह्मणो को यह भी एक बडा घाव था। इन सब कारणो से वे तत्कालीन राजा माधवसिंह को जैनो के विरुद्ध भडकाते थे और कहते थे कि यह सब करतूत उनके गुरु प० टोडरमल की है। कहते हैं उन्होने राजा को यहाँ तक भडकाया कि ये जैनी लोग शिवमूर्तियो की बड़ी अविनय करते है और मजाक उडाते हैं। परन्तु महाराज उनकी मौखिक शिकायत न सुनकर इन सब बातो का प्रत्यक्ष प्रमाण चाहते थे। निदान उन लोगो ने मिलकर एक शिवपिण्डी उखाड डाली और अफवाह उडा दी कि यह सब जैनो की करतूत है। इस पर दरबार की आज्ञा से सभी जैनी कैद कर लिए गए और प० जी को उसका निर्देशक कहकर उन्हे तत्काल मरवा डाला गया। हत्यारो ने उन्हे मारकर ही दम नही लिया बल्कि उनके पार्थिव शरीर को किसी गदी जगह गडवा दिया। इस तरह उस महान् आत्मा का वध किया गया। बखतरामसाह ने अपने बुद्धिविलास ग्रन्थ मे इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया है—

तब ब्राह्मणनु मतो यह कियो शिव उठान को टोना दियो।
तामें सबे श्रावगी कैद करिके दड किए नृप फेद ॥
गुर तेरह पथिनु कौ भ्रमी, टोडरमल्ल नाम साहिमी।
ताहि भूप मारयो पल माहि गाड्यो मद्धि गंदिगी ताहि।।

कुछ विद्वानो की धारणा है कि उन्हे धोखे से छिपकर मारा गया इसीलिए उन्हे दुबका चोरी कूड़े के ढेर में मारकर गाड दिया गया। परन्तु जब राजा की आज्ञा से ही उनका बध हुआ तब उनके छिपकर मारे जाने की बात ही क्या थी। गंदगी मे गाड देना भी इस बात का सबूत नही है कि उन्हे छिपकर मारा गया। बल्कि उससे यह सिद्ध होता है कि राजा ने अत्यंत क्रोध मे आकर उनके शव की दुर्गति करने के लिए ही ऐसा किया होगा। बखतराम शाह ने जो यह लिखा है कि 'ताहि भूप मारयो पलमाहि' इसका अर्थ यही लेना चाहिए कि राजा ने उन्हें मरवाने मे बहुत शीघ्रता की। न तो उनको अपनी सफाई का अवसर दिया और न अन्य किसी को ही उनकी तरफ से कुछ कहने दिया। स्वयं भी शाति से नही सोचा कि उनको प्राण दण्ड की आज्ञा देकर मैंने ठीक किया या नही। इस तरह राजा ने उन्हें शीघ्र ही मरवा दिया। यही छंद मे 'पलमाहि' शब्द का अर्थ है।

हाथी के पैर के नीचे उन्हे दबाकर मारे जाने की बात भी किसी प्रामाणिक आधार से सिद्ध नही होती। अगर ऐसी बात होती तो बखतराम साह इसका भी लिखना नही भूलते। परन्तु जनश्रुति ऐसी ही रही है कि उन्हें हाथी के पैर के नीचे दबाकर मारा गया। अत प्रामाणिक आधार न होते हुए

भी यदि उनकी मृत्यु इसी प्रकार हुई हो तो आश्चर्य की बात नही है। फिर भी यह निश्चित है कि उनकी मृत्यु निर्दयता से की गई।

हमारा अन्दाज है कि मोक्षमार्ग-प्रकाश का पाचवा अध्याय भी उनकी मृत्यु में बहुत कुछ कारण रहा होगा। क्योंकि पं० जी के विरुद्ध राजा को भडकाने के लिए ये लिखित प्रमाण राजा के सामने अवश्य पेश किए जाते होगे और अन्य मौखिक बातें कही जाती होगी सो अलग। इन सब बातो को देख सुनकर राजा को क्रोध अवश्य आता होगा परन्तु पं० जी की भद्रता सौजन्य सदाचार और जैनियो की राजभक्ति देखकर उस क्रोध में उबाल आते-आते रह जाता होगा। लेकिन जब आततायियो ने शिवपिण्ड को उखाड राजा के सामने लाकर रख दिया और उसे जैनो की करतूत बताया तब उनके क्रोध का ठिकाना न रहा होगा। और उसी क्रोध में उन्होने पं० जी के लिए यह निर्दय आज्ञा दी होगी। खैर, प० जी का पार्थिव शरीर भस्म हो गया परन्तु मोक्षमार्ग के नाम से जनता को जो वह प्रकाश दे गए वह कभी नही बुझेगा। अज्ञानान्ध मे पडी हुई जनता हमेशा उस प्रकाश से अपना मार्ग देखेगी। सूर्य के प्रकाश की चकाचौंध और गर्मी का अनुभव कर भले ही कोई उस पर अनास्था प्रकट करे पर उस प्रकाश की आवश्यकता और अनिवार्यता से कौन इन्कार कर सकता है। मोक्षमार्गप्रकाश के विषय मे भी यही बात है। वह जब तक रहेगा तब तक पं० जी अमर रहेंगे। महात्मा सुकरात, महात्मा ईसा और महात्मा गाधी की तरह पू० प० जी का बलिदान भी ससार का कल्याण पथ पर अग्रसर होने के लिए मूक प्रेरणा देता रहेगा।

पं० जी की रचनाएँ

प० जी की कुल ग्यारह रचनाएँ है, इनमे सात तो टीका ग्रन्थ है, एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, एक आध्यात्मिक पत्र है, एक अर्थसंदृष्टि है जिसे गोम्मटसार की टीका का परिशिष्ट समझना चाहिए और एक भाषा पूजा है। टीका ग्रन्थो मे गोम्मटसार जीवकाड १ गो० कर्मकाण्ड २ लब्धिसार ३ क्षपणासार ४ त्रिलोकसार ५ आत्मानुशासन ६ पुरुषार्थसिद्धयुपाय ७ ये सात ग्रन्थ है। इनमें गोम्मटसार दोनो भाग (जीवकाड और कर्मकाण्ड) आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की रचनाएँ हैं। ये वि० की ग्यारहवी शताब्दि मे हुए हैं। इस ग्रन्थ पर टीकाओ की कमी नही है। पर उनमे मन्दप्रबोधिका और जीवतत्त्वप्रदीपिका ये दो टीकाएँ ही अधिक प्रचलित है। इनमे पहली अभयचन्द्र आचार्य की बनाई हुई है और दूसरी ज्ञानभूषण भट्टारक के शिष्य नेमिचन्द्र भट्टारक की बनाई हुई है। मन्द प्रबोधिनी अधूरी टीका है और जीवतत्त्व प्रदीपिका पूरी टीका है। पं० जी ने जो गोम्मटसार की भाषाटीका सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका बनाई है वह इनमें दूसरी टीका को आधार लेकर बनाई है।

सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका

यह संस्कृत जीवतत्त्व प्रदीपिका टीका का अविकल अनुवाद है। फिर भी प्रमेय को समझाने के लिए इसमे कही कही विशेष वर्णन भी है। अनुवाद बडा सरस है और स्वतन्त्र व्याख्या जैसा मालूम पडता है। इसके प्रारभ मे एक बहुत बडी विस्तृत भूमिका है जिसमे टीका के अवतरण का हेतु, ग्रन्थ के प्रमेयो का सामान्य परिचय, गणित आदि की प्रक्रिया का विधान है। गोम्मटसार की टीका की तरह क्षपणसार गर्भित लब्धसार की टीका का नाम भी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका है। लब्धिसार की रचना भी मन्त्री चामुण्डराय की प्रेरणा से आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा हुई है और कषायप्राभृत पर से सगृहीत है। इसके आदि में विस्तृत भूमिका है जिसमे ग्रंथ की पारिभाषिक संज्ञाओं को लौकिक दृष्टान्तो द्वारा बडी सुन्दरता से समझाया है। साथ ही अर्थ सदृष्टि रूप मे परिशिष्ट भी है।

त्रिलोकसार टीका

त्रिलोकसार भी आचार्य नेमिचन्द्र सि० च० की है। इसमे उर्ध्व, मध्य और अध. लोक का विस्तृत वर्णन है। यह भी गोम्मटसारादि की तरह सगृहीत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर एक संस्कृत टीका है जो माधवचन्द्र त्रैविद्य देव की बनाई हुई है। सम्भवतः ये आचार्य नेमिचन्द्र के ही शिष्य है। माधवचन्द्र का बनाया हुआ संस्कृत गद्य का क्षपणसार भी है। प० टोडरमलजीने इस ग्रन्थ पर भाषा टीका लिखी है। यह टीका न अति विस्तृत है न अति संक्षिप्त है। इसके प्रारभ मे भी बडी उपयोगी भूमिका है जिसमे परिकर्माष्टक विधान तथा परिधि धनुष जीवा, वेदी आदि सज्ञाओ का खुलासा किया है। गोम्मटसार के बाद ही इसका निर्माण हुआ है।

आत्मानुशासन टीका

आत्मानुशासन ग्रंथ आदि पु० के कर्ता जिनसेन के शिष्य आचार्य भदन्त गुणभद्र के द्वारा रचा गया है। यह २७२ अनुष्टुप श्लोको का लघुकाय ग्रंथ है। अपने नाम के अनुसार आत्मा को अनुशासित करनेवाला अपने ढंग का जैन वाङ्मय मे यह एक ही ग्रन्थ है और पढते समय सुभाषित जैसा ही आनन्द आता है। इस पर आचार्य प्रभाचन्द्र की एक छोटी सस्कृत टीका है जो प्रत्येक श्लोक के अर्थ को विशद करती है। इसी ग्रन्थ पर प० जी की भाषा वचनिका है जो शायद उक्त सस्कृत टीका के अनुसार ही बनाई गई है। इसमें श्लोको का अर्थ तो है ही साथ ही प्रत्येक श्लोक का भावार्थ भी दे दिया गया है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय टीका

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय अमृतचन्द्राचार्य की प्राढ और महान् रचना है। आचार्य कुन्दकुन्द के आध्यात्मिक ग्रन्थों के सफल टीकाकारों मे अमृतचन्द्र आचार्य का प्रमुख और गौरवपूण स्थान है। उक्त ग्रन्थ एक श्रावकाचार ग्रन्थ है। अन्यान्य विषयो के साथ इसमे हिसा और अहिंसा का बडा ही सुन्दर और हृदयग्राह्य विवेचन किया गया है। प० जी ने इसकी सुन्दर भाषाटीका लिखो है पर दुर्भाग्य से वह अधूरी ही रह गई है। स० १८२७ मे पद्मपुराण के टीकाकार प० दौलतराम जी ने इसे पूरा किया है। ऐसा मालूम पडता है शायद यह आपकी अन्तिम रचना है।

अर्थसंदृष्टि

यह कोई अलग ग्रन्थ नही है। गोम्मटसारादि ग्रन्थो के परिशिष्ट रूप मे इसे समझना चाहिए। फिर भी इसमे प० जो की अपूर्व प्रतिभा के दर्शन होते हैं। वस्तुत देखा जाय तो गोम्मटसारादि की भाषा टीकाएँ तो केवल सम्कृत टीकाओं का शब्दश अनुवाद हैं। उनमे विशेष वर्णन तो यत्र तत्र ही है। हाँ प० जी का गोम्मटसार के विशिष्ट अभ्यास का प्रतिबिम्ब इन अर्थ सदृष्टियो मे ही मालूम पडता है। इसमे सन्देह नही पं० जी ने यह बडे परिश्रम और भावना से लिखा है और उसे पढकर ऐसा मालूम पड़ता है कि गोम्मट-सारादि सिद्धान्त ग्रन्थो पर उनका असाधारण अधिकार था। आज तो अधिकार की कौन कहे उनका समझना भी दुरूह हो रहा है।

आध्यात्मिक पत्र

यह रचना रहस्यपूर्ण चिट्ठी के नाम से प्रसिद्ध है और वि० स० १८११ फा० ब० ५ को लिखी गई है। वास्तव मे यह कोई रचना नही है, पत्र ही है और मुल्तान के अध्यात्म प्रेमी खानचन्द्र जी गगाधर जी, श्री पालजी आदि महानुभावो को लिखो गई है। इसमे आपने अपने आध्यात्मिक हृदय को उडेल कर रख दिया है।

निर्विकल्पसमाधि का थोडे में ही बडा सुन्दर चित्र खींचा गया है । अध्यात्मरसिकों को यह पत्र अवश्य पढ़ना चाहिए ।

गोम्मटसार पूजा

यह रचना हमारे देखने में नहीं आई । पर कहा जाता है कि यह रचना आपकी ही है । बाबा दुलीचन्द्रजीकी ग्रन्थसूची मे भी इसका उल्लेख पं० जी की कृतियो मे नही किया गया है । यह निश्चित है कि पं० जी गोम्मटसार के विशिष्ट अभ्यासी थे । षट्खण्डागम और कषायपाहुड के बाद सिद्धान्त ग्रन्थों में गोम्मटसार का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । अतः उसकी महानता और गम्भीरता को देखकर ही आपने उक्त पूजा बनाई होगी । श्री पं० चैनसुखदासजी का अनुमान है कि गोम्मटसार की टीका आदि की समाप्ति पर हर्षोपलक्ष्य में इस पूजा को बनाया होगा । लेकिन जब हम उस संबंध मे यह पढते हैं कि यह महाराजा जयसिंह के राज्यकाल में बनाई गई है तब आपका उक्त अनुमान हमे ठीक नही मालूम पडता । क्योंकि गोम्मटसार की टीका महाराज माधवसिंह के समय मे पूरी हुई है । अत उसके बाद बनाई जानेवाली पूजा भी आपके ही समय में बनाई हुई लिखी गई होती । महाराजा माधवसिंह से पहले सवाई महाराजा जयसिंह ही ज्यपुर के अधिपति थे तब हो सकता है प० जी पूजा वगैरह बनाने लग गए हो । हाँ इसके लिए जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं १७९७ में उनके जन्म होने की मान्यता छोडनी पडेगी ।

यह पं० जी की कृतियों का सामान्य परिचय है । आप अगर अपनी पूर्ण आयु जीवित रहते तो निःसन्देह और भी अनेक ग्रन्थो की टीका करते । जयपुर के जैनो का आज जैसी यातायात की सुविधा न होने पर भी सिद्धान्त ग्रन्थो के लिए मूडबिद्री तक पहुँचना आपकी ही प्रेरणा का फल मालूम पडता है । भाई रायमल्ल ने इन्द्रध्वज पूजा सबधी अपने ऐतिहासिक पत्र मे टोडरमलजी के बारे मे लिखा है कि 'पाँच सात ग्रन्थो की टीका करने का और उपाय है सो आयु की अधिकता[1] रहे बनेगा' इससे भी उनकी टीका करने की उत्सुकता साबित होती है । अस्तु प० जी इस भौतिक ससार मे न रहकर भी अमर हो गए है और आज लगभग दो सौ वर्ष बाद नतमस्तक होकर उस शहीद आत्मा को हम अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते है ।

मोक्षमार्गप्रकाश : हिन्दी भाषा के गद्य साहित्य का आद्य ग्रन्थ

हमे यह कहते हुए हर्ष होता है कि मोक्षमार्गप्रकाश गद्य साहित्य का सर्व प्रथम हिन्दी स्वतन्त्र ग्रन्थ है और वह आज भी उसी प्रकार बेजोड है जिस प्रकार उस समय था । यद्यपि उन दिनो विद्वानो का अभाव नही था और न उसके बाद ही रहा पर उन सबकी प्रवृत्ति एक प्रकार से टीका ग्रंथो के लिखने तक ही सीमित थी । स्वतत्र रचना न होने के हम दो ही कारण समझते है एक तो यह कि उस समय प्राचीन आचार्यो द्वारा निर्मित सस्कृत प्राकृत अपभ्रंश का इतना विशाल साहित्य सग्रहीत था कि उसकी रक्षा करना उस समय के विद्वानो का आवश्यक हो गया था । वह रक्षा तभी हो सकती थी जब वे ग्रन्थ पठन पाठन मे आते रहें । किन्तु मुसलमानो के आक्रमण और उसके बाद होने वाले उनके अत्याचारो से देश का सास्कृतिक जीवन इतना छिन्न-भिन्न हो गया था कि अपनी इज्जत आबरू और ईमान की रक्षा मे ही सारा समय देना पडता था । जो लोग सताए जाते थे उन्हे अपना घर द्वार बसाने के लिए अन्यत्र जाना पडता था और अपना व्यापार जमाने के लिए फिर उसी तरह रात दिन जुट जाना पडता था । परिणाम यह होता था कि निश्चित तरीके से पठन-पाठन और स्वाध्याय को उन्हे समय ही न मिलता

---

१. उस समय पं० टोडरमल जी प्रचलित मान्यता के अनुसार २४ वर्ष के नवयुवक थे । पता नही उनके बारे में 'आयु की अधिकता' लिखने का रायमल्ल जी का क्या अभिप्राय है ।

था। धीरे-धीरे लोगो मे धार्मिक शिक्षा की कमी होती गई, उधर राज्य के कायदे कानून और अदालती कार्य-वाहियों पर विदेशी भाषा का प्रभाव पडने लगा। अत लोगों की प्रवृत्ति स्वभावतः उन भाषाओं के सीखने की तरफ होने लगी। धार्मिक शिक्षा और संस्कृत भाषा दोनों ही लोगो की जबान से हट गये और अङ्ग्रेजों के यहाँ जमने तक तो जयपुर आदि प्रदेशो मे क्वचित् ही सस्कृत के जानकार २-४ विद्वान् रह गए। ऐसी हालत में उन दो-चार विद्वानो को यह आवश्यक हा गया था कि उन प्राचीन ग्रन्थो की रक्षा के लिए उनको देशभाषा बनाकर उन्हे सर्व साधारण के लिए स्वाध्यायापयोगी सुलभ बना दिया जाय। यह काम स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना से नही हो सकता था। उससे लोगो का धार्मिक ज्ञान तो टिका रहता पर ग्रन्थो की रक्षा न हो पाती। न टीका ग्रन्थो के साथ स्वतंत्र रचना ही की जा सकती थी। क्योंकि टीका का काम ही इतना अधिक था कि उन थोडे से विद्वानो को स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना के लिए अवकाश ही नही था। अतः उस समय स्वतंत्र ग्रन्थ रचना नही हो सकी।

दूसरे यह कि उस समय के विद्वान् स्वतन्त्र रचना के लिए अपने आपको अधिकारी विद्वान् न पाते थे। उस सबध में हम अपनी तरफ से कुछ न लिखकर टोडरमलजी से लगभग ५० वर्ष बाद लिखी गयी। प० जयचन्द्रजी के ही एक पत्र की कुछ पक्तियाँ उद्धृत कर देना ठीक समझते है। यह पत्र कवि वृन्दावनदासजी काशी को लिखा गया था और वृन्दावनविलास के अन्त मे ज्यो का त्यो छपा है। पत्र की पक्तियाँ ये है—
'और लिख्या कि तोडरमलजी कृत मोक्षमार्गप्रकाश ग्रन्थ पूरण भया नही ताको पूरण करना योग्य है। सो कोई एक मूलग्रन्थ की भाषा होइ तौ पूरण करै। उनकी बुद्धि बडी थी याते बिना मूलग्रन्थ के आश्रय उनने किया। हमारी एतो बुद्धि नाही कैसे पूरण करे।'

इन पक्तियो से स्पष्ट है कि उस समय के विद्वान् स्वतंत्र रचना के लिए अपने आपको अधिकारी न पाते थे। पद्मपुराण, हरिवशपुराण आदि ग्रन्थो के सफल टीकाकार श्री प० दौलतरामजी टोडरमलजी के समकालीन विद्वान् थे किन्तु टोडरमलजी के स्वर्गारोहण के पश्चात् उनके अधूरे ग्रथो मे वे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टीका ही पूरी कर सके। मोक्षमार्गप्रकाश को उन्होने भी पूरा नही किया।

आगे चलकर विक्रम सवत् १८३८ मे श्री पं० टेकचन्द्रजी ने 'सुदृष्टि तरगिणी' नाम का स्वतन्त्र हिन्दी ग्रथ निर्माण किया। सुदृष्टितरगिणी सर्वसाधारण के लिए उपयोगी ग्रथ है परन्तु उसमे न मोक्षमार्ग प्रकाश जैसी विषय की गहनता है न विचारो की प्राजलता। परिचयात्मक ग्रथ जिस प्रकार के लिखे जाते हैं सुदृष्टि-तरगिणी उनमे से एक है। किन्तु मोक्षमार्गप्रकाश एक विचारात्मक ग्रन्थ है। उसमे जिस विषय को उठाया है उस पर खूब ऊहापोह करके ही आगे बढा गया है। स्वतन्त्र ग्रन्थ में विचारो की दृढता और मौलिकता को जो अवकाश होना चाहिए मोक्षमार्ग प्रकाश मे वह हमे जगह-जगह देखने को मिलता है।

सुदृष्टितरगिणी की रचना के करीब ७५ वर्ष बाद हमे एक और स्वतंत्र ग्रन्थ देखने को मिलता है जिसका नाम है विद्वज्जनबोधक। यह प० पन्नालालजी सघी की रचना है और स० १९०७ के बाद लिखा गया है। इसमे पथो के नाम से उस समय उठने वाले अनेक विवादो का निर्णय किया गया है। ऐसा मालूम पडता है कि यह उनके जीवन की अनेक धार्मिक चर्चाओ का सग्रह है जिसे उन्होंने चर्चाओ का रूप न देकर विषय वर्णन का रूप दे दिया है। अतः वह स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा तो मालूम पड़ता है पर उसमे स्वतन्त्र ग्रन्थ की सी आस्था नही होती। प्रमेय का परिमाण मोक्षमार्गप्रकाश से अधिक होने पर भी प्रमेय की सूक्ष्मता मोक्षमार्ग-प्रकाश जैसी बिल्कुल नही है। जिज्ञासु के लिए विद्वज्जनबोधक ग्रथ उपयोगी हो सकता है पर मुमुक्षु के लिए मोक्षमार्गप्रकाश ग्रन्थ की ही आवश्यकता है। विद्वज्जबोधक वह इक्षुरस है जिसे एक बार पीकर मन हट जाता है किन्तु मोक्षमार्गप्रकाश वह अमृत है जिसे पीते जाने पर भी तृप्ति नही होती।

विद्वज्जनबोधक की रचना के करीब ५०-६० वर्ष बाद पूज्य गुरु गोपालदासजी द्वारा हिन्दी गद्य का स्वतत्र ग्रन्थ 'जैन सिद्धान्त दर्पण' प्रकाश मे आया। यह लगभग ढाई सौ पृष्ठ का ग्रन्थ है। इसमे छः द्रव्यो का शास्त्रीय भाषा में बड़ा ही सुन्दर और प्रामाणिक विवेचन किया गया है। ग्रथ अपने आपमे प्रौढ़ और विद्वत्तापूर्ण है। पं० टोडरमलजी ने जहाँ शास्त्रीय विषयो को अपने भावा मे ढालने का प्रयत्न किया है वहा गुरुजी ने शास्त्रीय विषयो को अपने शब्दों मे ढालने का प्रयत्न किया है। मोक्षमार्गप्रकाश हमारी उन सभी विचारधाराओ और आचार परम्पराओ को निरख परख करता है जिनसे हमारे सुख दुख का घनिष्ट सबंध है। किन्तु जैनसिद्धान्तदर्पण हमे उन चीजो का आभास भर कराता है जिनके अस्तित्व से हमारा अस्तित्व बँधा हुआ है और जिन्हें जानकर ही हम आगे अपने निर्माण में प्रवृत्त हो सकते है। इस तरह दोनों ही ग्रथ अपने रूप मे परिपूर्ण होने पर भी आज मोक्षमार्गप्रकाश का स्वाध्यायी ससार मे जितना प्रचार और उपयोग है उतना जैनसिद्धान्तदर्पण का नही है। इस तरह मोक्षमार्गप्रकाश को हम न केवल जैन साहित्य मे हिन्दी गद्य का सर्वप्रथम स्वतत्र ग्रन्थ ही पाते है बल्कि वह अपनी उपयोगिता, प्रचार और शैली मे उन सभी ग्रथो से आगे है जो स्वतंत्र हिन्दी गद्य ग्रंथों के रूप में बाद के बने हुए है।

हिन्दी छन्दोबद्ध ग्रन्थो मे भी आज ऐसा कोई स्वतत्र महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नही है जिसे हम मोक्षमार्ग-प्रकाश की तुलना मे अपने सामने रख सके। चर्चाशतक, द्यानतविलास, जैनशतक आदि फुटकर रचनाएँ अवश्य प्रकाश मे आई। परन्तु वे न ग्रन्थ कहे जाने ही लायक है न बच्चो और विद्यार्थियो के अतिरिक्त उनका कभी जन साधारण मे उपयोग हुआ। हाँ एक छ ढाला ऐसी पुस्तक अवश्य है जो इन सबमे अपना अलग और महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। मोक्षमार्गप्रकाश के लगभग सौ वर्ष बाद १९१९ मे आगरे के पं० दौलतरामजी द्वारा इसकी रचना हुई है। इसका विद्यार्थी और वयस्को मे समान रूप से प्रचार रहा है। थोडे मे ही अधिक प्रमेय का वर्णन कर देना इस रचना की विशेषता है और इसी से यह सबके आकर्षण की चीज रही है। परन्तु हम इसे मोक्षमार्गप्रकाश की तुलना मे इसलिए नहीं रख सकते कि न तो वह उस परिणाम मे लिखी गई है और न विषय की उसमे उतनी गहनता ही है। छ ढाला को हम गागर मे सागर तो कह सकते हैं परन्तु सागर की गम्भीरता उस गागर मे नही देख सकते। जबकि मोक्षमार्ग प्रकाश स्वय एक सागर है और अपने रूप मे उतना ही विशाल तथा गम्भीर है।

ग्रन्थ का नाम

ग्रन्थ को बने हुए यद्यपि बहुत दिन नही हुए फिर भी उसके नाम को लेकर इधर लोगो मे कुछ मत-भेद हो गया है। कुछ का कहना है कि ग्रन्थ का नाम मोक्षमार्ग प्रकाशक है और कुछ उसका नाम मोक्षमार्ग-प्रकाश बतलाते हैं। हमारे सामने इस समय दो विद्वानो के प्रकाशित सस्करण है। एक श्री प० नाथूरामजी प्रेमी बम्बई का और दूसरा प० रामप्रसादजी शास्त्री बम्बई का। दोनो ही विद्वानो ने कही मोक्षमार्ग प्रकाश और कही मोक्षमार्ग प्रकाशक नाम ग्रन्थ मे दे रक्खा है। प्रेमी जी द्वारा प्रकाशित सस्करण मे मुखपृष्ठ पर मोक्षमार्ग प्रकाश नाम है किन्तु सन्धियो के अन्त मे सब जगह मोक्षमार्ग प्रकाशक नाम दिया हुआ है। इसी प्रकार प० रामप्रसाद जी द्वारा प्रकाशित सस्करण मे कवर पृष्ठ पर 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' नाम लिखा है और अन्दर मुखपृष्ठ पर 'मोक्षमार्गप्रकाश' लिखा हुआ है। इससे जहाँ ग्रन्थ के असली नाम का पता नही चलता वहाँ यह भी आभास होता है कि दोनो सस्करणो मे मुद्रित नाम विद्वान् प्रकाशको के सन्देह की चाज रहे हैं। परन्तु वस्तुतः छानबीन करने पर इस ग्रन्थ का नाम मोक्षमार्ग प्रकाश ही सिद्ध होता है। स्वय प० टोडरमल जी ने मंगलाचरण के बाद ग्रन्थ की उत्थानिका मे इसका मोक्षमार्ग प्रकाश नाम स्वीकार किया है। जैसा कि

उनकी इस पंक्ति से स्पष्ट है 'अब मोक्षमार्ग प्रकाश नाम शास्त्र का उदय हो है' । इसके अतिरिक्त संवत् १८८० में जयपुर निवासी पं० जयचन्द्रजी ने पं० वृन्दावनदासजी काशी को उनके पत्र में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए इस ग्रन्थ का नाम 'मोक्षमार्गप्रकाश' लिखा है । इससे भी स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का नाम 'मोक्षमार्ग प्रकाश' प्रचलित रहा है । इस नाम वाले अन्य ग्रन्थो मे भी 'प्रकाश' शब्द देखा गया है प्रकाशक नही । योगीन्द्र देव कृत परमात्मप्रकाश[1] इसका उदाहरण है । अत यह नि सकोच कहा जा सकता है कि प्रकृत ग्रन्थ का नाम मोक्षमार्ग प्रकाश ही है मोक्षमार्ग प्रकाशक नही ।

विषय परिचय

मोक्षमार्ग प्रकाश मे कुल ९ अध्याय हैं । नौवाँ अध्याय अधूरा है । पहले अध्याय मे ग्रथ की भूमिका है जिसमें पच परमेष्ठी का स्वरूप, अंगश्रुत की परपरा, ग्रथ की प्रामाणिकता तथा उसके नाम की सार्थकता आदि का वर्णन है । दूसरे अध्याय मे ससार अवस्था का निरूपण है । इसमे दु.ख का मूल कारण, कर्म फल की प्रक्रिया और उसका प्रभाव, आठो कर्मो का पृथक्-पृथक् कार्य आदि बातो का वर्णन है । तीसरे अध्याय मे ससार और मोक्ष सुख का निरूपण करते हुए दोनो की तुलना की गई है साथ ही दुःख निवृत्ति का सामान्य उपाय बताया गया है । चौथे अध्याय मे दुःख के मूल कारण अगृहीत मिथ्यात्व को लेकर मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का सविस्तर वर्णन किया गया है । पाँचवे अध्याय मे गृहीतमिथ्यात्व को बतलाते हुए विविध मतो की परीक्षा की गई है जिसमे शैव, साख्य, नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध, चार्वाक, वेदान्त, इस्लाम आदि मतमतान्तरो का विस्तार से खण्डन किया गया है । छठे अध्याय में मिथ्यादर्शन के कारणभूत कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का निषेध किया गया है । सातवे अध्याय मे मिथ्यादृष्टि जैनों का वर्णन है । इसमे एकान्त निश्चयावलबी और एकान्त व्यवहारावलबी को जैनाभास बताकर सच्चे जैनत्व के लिए निश्चय और व्यवहार इन दोनो के समन्वय पर जोर दिया गया है । आठवे अध्याय मे उपदेश का स्वरूप बतलाते हुए प्रत्येक अनुयोग का स्वरूप और उसकी व्याख्यान पद्धति पर विचार किया गया है । नौवें अध्याय मे मोक्षमार्ग पर विचार करते हुए पहले मोक्ष का लक्षण बाद मे मोक्षमार्ग के स्वरूप का विस्तार से विवेचन किया है ।

इस तरह यह ग्रन्थ साढे आठ अध्याओ मे अधूरा लिखा गया है । ग्रथ को जिस ढग से उठाया गया है और जिस प्रकार अध्यायो मे विषय का विभाजन किया है उससे ऐसा मालूम पडता है कि यह ग्रन्थ बहुत बडा लिखा जाना चाहिए था । हम देखते है कि ग्रन्थ का नाम मोक्षमार्ग प्रकाश है, और मोक्षमार्ग का स्वरूप ग्रन्थकार ने नौवे अध्याय से प्रारम्भ किया है । अतएव यह स्पष्ट समझ मे आए बिना नही रहता कि ग्रन्थ का असली भाग नौवें अध्याय से प्रारम्भ होता है । उसके पहले उन्होने जो कुछ लिखा है वह केवल मुख्य विषय के प्रतिपादन की भूमिका स्वरूप है । जिस प्रकार पहले के आठ अध्यायो मे ससार और उसके मूलकारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और इनके निमित्तभूत कुदेव, कुगुरु और कुधर्म आदि का निरूपण किया है उसी प्रकार बाद के अध्यायो मे मोक्ष और मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा उनके निमित्तभूत देव, गुरु, शास्त्र आदि का विवेचन भी अवश्य करते । नौवें अध्याय मे जहाँ ग्रन्थकार ने मोक्षमार्ग के स्वरूप का वर्णन किया है वहाँ वे केवल सम्यक्त्व का ही साधारण वर्णन कर सके हैं, इसके बाद अध्याय समाप्त हो जाता है । अतएव यह निश्चित है कि यदि ग्रन्थ का लिखना जारी रहता तो शायद नौवा अध्याय तो सम्यक्त्व के विवेचन मे ही समाप्त होता इसके बाद सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के भी स्वतत्र अध्याय होते क्योकि इनका विषय वर्णन भी कम नही है, और फिर टोडरमल जी जैसे विद्वान् वक्ता जो विषय के प्रत्येक पहलू पर अन्त तक विचार किए बिना आगे नही बढ़ते अवश्य ही इन अध्यायों को

१. हो सकता है अपने ग्रन्थ के नाम करण में परमात्मप्रकाश भी ग्रथकार के सामने रहा हो ।

विस्तार से लिखते और इस प्रसग में हमें बहुत से नए मुलझे हुए और युक्तियुत विचारों को देखने का मौका मिलता। अतएव इस ग्रन्थ का बहुत ब डे परिमाण में बढ़ जाना निश्चित था। किन्तु हमारे दुर्भाग्य से यह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया। आज जितना ग्रन्थ उपलब्ध हैं उसे सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रारभिक भाग कहना ही उपयुक्त है, अस्तु। इसमे सन्देह नही कि वह जितना कुछ लिखा गया है वह अपूर्व प्रतिभा और महान् विद्वत्ता के साथ लिखा गया है।

ग्रन्थ के महत्त्वपूर्ण प्रमेय

कुछ प्रकरणो की सूझबूझ तो निराली ही है जिस पर प्राय: विद्वानो का ध्यान नही गया। उदाहरण के लिये अघातिया कर्मो के प्रभाव का वर्णन करते हुए वेदनीय कर्म के बारे मे लिखा गया है कि जिससे शरीर मे या शरीर के बाहर नाना प्रकार के सुख दु खो के कारण परद्रव्यो का सयोग जुड़ता है वह वेदनीय कर्म है। वास्तव मे वेदनीय का काय अब तक सुख दुख देना ही माना जाता रहा है और परद्रव्यो के सयोग जुडने की जो बात कही है वह लाभान्तराय के क्षयोपशम का कार्य समझा जाता रहा है। लेकिन यह बात नही है। अतराय चूँकि घातिया कर्म है अत: उसका उदय या क्षयोपशम आत्मा के लाभ लेने की शक्ति के घात या विकास तक ही सीमिति रह सकता है परद्रव्यो के सयोग जुडने से उसका कोई सबध नही है। इसी प्रकार यदि वेदनीय कर्म सुख दु ख देता है तो अरहतो के भी (इन्द्रियजन्य) सुख दु ख होना चाहिए। लेकिन रति अरति नाम के मोहनीय कर्म न रहने मे उन्हे वेदनीयजन्य सुख दुख नही होता। इससे सिद्ध होता है कि न तो वेदनीय सुख दु ख देता है और न लाभान्तराय के क्षयोपशम से परद्रव्यो का सयोग जुडता है। परन्तु लाभान्तराय के क्षयोपशम से लाभ लेने की शक्ति का विकास आत्मा मे होता है और जो लाभ होता है वह वेदनीय के उदय मे होता है तथा लब्ध पदार्थ मे जो सुख दुःख महसूस होते है वह मोहनीय का काम है। अतः विद्वान् ग्रन्थकार की वेदनीय की व्याख्या ही सिद्धान्त से मेल खाती है अन्य नही।

इसी प्रकार जड कर्म किस प्रकार बाह्य द्रव्य का संयोग जुडाता है इस शका का बडा अच्छा समाधान किया है। आम तौर मे यह प्रश्न सभी को उठता है कि कर्म का उदय तो आत्मा मे होता है वह बाह्य द्रव्य को हम तक कैसे खीच लाता है। दृष्टात के लिए हम अपने घर के आगन मे बैठे हुए है और एक बन्दर अचानक कही से बहुमूल्य हीरे की अंगूठी लाकर हमारे आगन मे डाल जाता है। हमे उसे पाकर बडे आनन्द और सुख का अनुभव होता है। यहाँ आनन्द और सुख तो हमे मोहनीय का कार्य समझ मे आता है क्योकि वे आत्मा मे ही हो रहे हैं लेकिन साता वेदनीय का उदय तो आत्मा मे है और वह खीच कर ला रहा है हीरे को यह कैसे हो सकता है ? क्या कर्म का प्रभाव आत्मा की तरह हीरे पर भी है ? यदि नहीं तो वह वहाँ तक कैसे पहुँचा और बन्दर को यह ज्ञान कैसे हुआ कि अमुक आदमी के साता कर्म का उदय हो रहा है इसलिए हीरे को वही डालना चाहिए। इसी प्रकार एक आदमी अपने स्थान पर बैठा है और दूसरा आदमी कोसो दूर से चलकर उस आदमी को मारता पीटता है, यहाँ पिटने वाले आदमी के असाता का उदय है यह तो मान लिया लेकिन उसका असाता का उदय मारने वाले को यहाँ तक कैसे लाया ? क्या एक आत्मा का कर्म दूसरी आत्मा पर भी अपना प्रभाव डाल सकता है ? इन सब शकाओ का उत्तर ग्रन्थकार ने यह दिया है है कि कर्म स्वय किसी सामग्री को लाकर नही जुटाता बल्कि कर्म और मिलने वाली सामग्री मे निमित्त नैमित्तिक संबंध है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का अर्थ यह है कि जब कर्म का उदय होता है तब उसके निमित्त से वह सामग्री स्वाभाविक रूप से जिसके उदय है उसके पास आ जाती है। इसके लिए उन्होने एक सुन्दर उदाहरण दिया है वे कहते हैं कि सूर्य के उदय होने पर चकवा और चकवी मिल जाते है तथा सूर्य के छिप

जाने पर दोनों बिछुड़ जाते हैं। उन्हें न प्रेरणा कर कोई मिलाता है न प्रेरणा कर कोई अलग करता है। किन्तु सूर्य के उदय अस्त का निमित्त पाकर स्वय ही मिलते बिछुडते है अत: जिस प्रकार इनमे निमित्त नैमित्तिक संबंध है उसी प्रकार कर्म और उसके बाह्य फल मे निमित्त नैमित्तिक सबध है।

आरम्भ में मंगलाचरण की आवश्यकता बतलाते हुए शंका उठाई गई है कि जो अन्य मतावलम्बी उस प्रकार (जैनो की तरह) मगलाचरण नही करते उनके भी ग्रंथ समाप्ति देखी जाती है उसका उत्तर ग्रन्थकार ने बडा ही सुन्दर दिया है। वे कहते हैं कि उनके ग्रन्थ की समाप्ति को बिना उस प्रकार के मगलाचरण के ही हो सकती है। यदि वे ग्रन्थ के प्रारम्भ में जैन मगलाचरण करने लगें तो मोह मन्द हो जाने से उनके द्वारा वैसा मिथ्यात्व का कार्य ही नही हो सकता है। पाठक देखेंगे कि कितना युक्तियुत उत्तर है। शंकाकार को इसके आगे कुछ कहने के लिए रह ही नही जाता।

आगे एक शका उठाई गई है कि सिद्धो मे जब दान, लाभ, भोग, उपभोग रूप कार्य ही नही है तब वहाँ इनकी शक्ति प्रकट हुई कैसे कहलाई ? इसका उत्तर दिया है कि दान, लाभ आदि कार्य रोग के उपचार थे जब रोग नही तब उपचार भी क्या किया जाय ? अत: इन दानादि कार्यों का सद्भाव होते हुए भी चूँकि इनके रोकने वाले कर्मों का अभाव हो गया है इसलिए इनकी शक्ति प्रकट हुई कही जाती है। वास्तव मे बात भी यही है, सिद्धो मे प्रकट रूप मे दान लाभ आदि कार्य दिखाई नही देते। अत यह शका होना स्वाभाविक है कि उनके अवारक कर्म भी न माने जाँय किन्तु ग्रन्थकार का उपर्युक्त उत्तर इस शका को बिल्कुल साफ कर देता है। उनका यह तर्क कितना सगत है कि दानादि कार्य प्रकट न होने का अर्थ उनकी उस प्रकार की शक्ति का अभाव नही है बल्कि यह है कि उस प्रकार का वहाँ कोई प्रसग नहीं है। जब प्रसग था तब कर्मों ने उस शक्ति को आवृत कर रखा था जब कर्म का आवरण हट गया तब वह प्रसग नहो रहा अत. शक्ति तो प्रकट हो गई लेकिन उसका कार्य प्रकट न हो सका। इस तरह न तो दान आदि के आवारक कर्मो के अभाव की ही आपत्ति आती है और न उन कार्यों के सद्भाव मानने का प्रसग हो उपस्थित होता है।

आजकल सब जगह सर्वधर्मसमभाव की चर्चा सुनने मे आती है, यहाँ तक कि सभाये भी इस ढग के प्रस्ताव करती हुई देखो जाती हैं। इस सम्बन्ध मे प्रस्तुत ग्रन्थ मे जो चर्चा की गई है उसे भी देखिए—

प्रश्न—आपके रागद्वेष है इसलिए आप अन्यमत का निषेध और अपने मत का समर्थन करते है।

उत्तर—यथार्थ वस्तु के प्रतिपादन मे रागद्वेष कुछ भी नही है।

प्रश्न—राग द्वेष नहो है तो अन्यमत बुरे है और जैनमत अच्छा है ऐसा कैसे कहते है ? साम्यभाव मे तो सबको समान समझना चाहिए आप मत का पक्ष क्यो करते है ?

उत्तर—बुरे को बुरा और अच्छे को अच्छा कहने मे राग द्वेष क्या है। बुरे को भले के समान समझना तो अज्ञान भाव है साम्यभाव नही है।

पाठक देखेंगे कि कितना खरा और स्पष्ट उत्तर है। सबका भला बनने के लिए उदारता का झूठा आवरण ओढ कर सर्वधर्मसमभाव का राग अलापने वाले यह भूल जाते है कि जब सब धर्म समान नही है तब उनमे समभाव भी कैसे हो सकता है। एक मास मदिरा मैथुन (शाक्त) आदि को धर्म कहता है दूसरा उसको पाप कहता है जब इन दोनो मे इतनी विषमता है तब उनमे समभाव धारण करने के लिए कहना या तो आत्म वचना है या कहने वाले की अज्ञानता है और कुछ नही है।

एकान्त निश्चयावलम्बी जैनाभासो का वर्णन करते हुए उन लोगो को मिथ्यादृष्टि बतलाया है जो अपने को सिद्ध समान अनुभव करते है अथवा अपने केवलज्ञान का सद्भाव मानते हैं। ग्रन्थकार का कहना है कि जो प्रत्यक्ष ससारी है वह सिद्ध समान कैसे हो सकता है ? अशुद्ध पर्याय जब शुद्ध पर्याय के समान नह

कही जा सकती तब संसार पर्याय को सिद्ध पर्याय के समान कैसे कहा जा सकता है। बात भी ठीक है निश्चय की कथनी को लेकर भले ही हम अपने को शुद्ध बुद्ध समझें जैसा कि विनती में पढ़ा करते हैं 'मैं शुद्ध बुद्ध चेतन स्वरूप परमात्म परम पावन अनूप' लेकिन वस्तुतः जब कर्मों से बद्ध हैं तब शुद्ध कहाँ हैं। शुद्ध बुद्ध कहना तो द्रव्यदृष्टि से है लेकिन इसका अर्थ यह नही कि हम पर्याय दृष्टि को भुला दें। शुद्ध बुद्ध कहते समय हमे निश्चिन्त हो जाने की जरूरत नही है बल्कि अपनी अशुद्ध पर्याय का ध्यान रखते हुए उससे मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी तरह जो ससारी अवस्था में केवलज्ञान का सद्भाव मानते है ग्रन्थकार उनसे तर्क करते हैं कि जब उनके केवलज्ञान मौजूद है तब वह चराचर जगत् को जानता क्यो नही है ? यदि आवरण होने से नही जानता तो यह भी भ्रम है क्योंकि केवलज्ञान तो वज्र पटलादि के आडे होते हुए भी चराचर जगत् को जानता है कर्मों के आवरण की तो बात ही क्या है। दूसरे अगर केवलज्ञान का सदा सद्भाव रहता है तो उसे पारणामिक भावों मे गिनाना चाहिए था, परन्तु उसे क्षायिक भावो मे गिनाया है इससे सिद्ध है कि संसारी आत्मा मे केवलज्ञान का सदा सद्भाव नही रहता। सूर्य के दृष्टात का ग्रन्थकार ने इतना ही अर्थ बताया है जैसे मेघ पटल के होते हुए सूर्य का प्रकाश प्रकट नही होता वैसे ही कर्मों का उदय होते हुए केवलज्ञान नही होता न कि जैसे सूर्य में प्रकाश रहता है वैसे ही आत्मा मे केवलज्ञान रहता है।

अभी तक प्राय. अनेक विद्वानो की यही धारण है कि केवलज्ञान आत्मा मे इस तरह तिरोहित है जिस प्रकार मेघ पटल म सूर्य छिपा हुआ रहता है परन्तु ग्रन्थकार के इस सुन्दर तर्क से कि केवलज्ञान होता तो वह वज्र पटलादि के आड होते हुए भी पदार्थो को जानता उपर्युक्त धारणा निर्मूल हो जाती है।

ग्रन्थकार ने उन निश्चयावलम्बियो की अच्छी खबर ली है जो अपने आपको शुद्ध रूप चितन करते है और कहते हैं कि 'मै सिद्ध समान शुद्ध हूँ, केवलज्ञानादि सहित हूँ, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित हूँ, परमानन्दमय हूँ, जन्म मरणादि दु ख मेरे नही है इत्यादि' ? ऐसे लोगो से वे पूछते हैं कि उनका यह चिंतन द्रव्यदृष्टि पूर्वक है या पर्यायदृष्टि पूर्वक। यदि द्रव्यदृष्टि पूर्वक है तो द्रव्य तो सभी शुद्ध अशुद्ध पर्यायो का सग्रह है वे शुद्ध ही क्यो अनुभव करते है, यदि पर्यायदृष्टि पूर्वक है तो उनकी वर्तमान पर्याय तो अशुद्ध है वे उसे शुद्ध कैसे मानते है और यदि शक्ति की अपेक्षा शुद्ध मानते हैं तो 'मै ऐसा होने योग्य हूँ' ऐसा मानना चाहिए। हम समझते हैं कि इसका उत्तर शुद्धाभिमानियो के पास कुछ भी नही है।

रूढिवादियो का बडे जोरो से विरोध किया है और उन्हे जैनाभास (झूठा जैनी) बतलाया है। ग्रन्थकार कहते है कि जो कुलक्रम से ही जैनी है और जैनधर्म का स्वरूप जानते नही है वे उसी प्रकार हैं जैसे अन्य मती केवल कुलक्रम से ही अपने धर्म मे प्रवृत्ति करते है परन्तु कुल क्रम से ही यदि धर्म हो तो मुसलमान भी धर्मात्मा कहलाएँगे।

आगे उन्होने जैसा कि आजकल लोग प्राय कहा करते हैं इसी विषय मे प्रश्न उठाया है कि कुल परंपरा छोडकर नवीन मार्ग मे प्रवृत्ति करना ठीक नही हैं। इसका उत्तर वे देते हैं—अगर अपनी बुद्धि से नवीन मार्ग में प्रवृत्ति की जाय तो ठीक नही है। किन्तु जो अनादि निधन जैनधर्म का स्वरूप शास्त्रो मे लिखा है उसको न मानकर पापी पुरुषों द्वारा चलाई हुई अन्यथा प्रवृत्ति को परपरा मार्ग कैसे कहा जाएगा। अथवा जैन शास्त्रो मे जो पहले से धर्म की प्रवृत्ति चली आ रही है उसे नवीन मार्ग कैसे कहा जायगा। धर्म सत्य भी हो किन्तु कुलाचार जानकर जो उसमें प्रवृत्ति करता है वह धर्मात्मा नहीं है। पाठक देखेंगे कि रूढि पोषको को इससे अधिक और कोई करारा उत्तर नहो हो सकता।

इसी तरह आगे चलकर उन्होंने अन्ध श्रद्धालुओ की भी खबर ली है। वे कहते हैं कि जो केवल शास्त्रों की आज्ञा मानकर ही चलते हैं और उनकी परीक्षा नही करते वे धर्मात्मा नही कहला सकते। आज्ञा-विचय धर्मध्यान और आज्ञासम्यक्त्व की आड मे अन्ध श्रद्धा को प्रोत्साहन देनेवालो को उन्होंने कहा है कि जो पदार्थ प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय नही है वही आज्ञा मानने का प्रश्न आता है। किन्तु जिनका प्रत्यक्ष या अनुमान हो सकता है उन्हें तो परीक्षा करके ही मानना चाहिए।

आगे देव, गुरु, शास्त्र की भक्तिरूप अन्यथा प्रवृत्ति का बडा ही सुन्दर वर्णन किया है और लिखा है कि इस प्रकार की भक्ति से धर्म का कोई सम्बन्ध नही है। धन, वैभव, कुटुम्ब आदि सासारिक इच्छाओं से अरहतादि की भक्ति करने वालो के पाप का ही अभिप्राय बताया है। वास्तव मे कर्तव्यवश या मुमुक्षु भाव से तीर्थयात्रा या पूजा भक्ति करनेवालो की सदा कमी रहती है। सासारिक प्रलोभनों को लेकर ही मनुष्य इनमें प्रवृत्त होते है। आज भी ऐसे लोगो की कमी नही है और पहले भी नही थी। परन्तु आज के अधिकाश विद्वान् इसी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं। जो इसे बुरा समझते है वे समाज के भय से अपने विचार व्यक्त नही कर सकते। परन्तु प० टोडरमल जी ने ऐसे लोगो का विरोध ही नही किया किन्तु उन्हे जैनी मिथ्यादृष्टि तक लिख डाला है यह उनके साहस और स्पष्ट वक्तृत्व का ही फल है।

आगे चलकर जहाँ आप ने एकान्त निश्चयावलम्बी और एकान्त व्यवहारावलम्बी जैनो को मिथ्या-दृष्टि बतलाया है वहाँ एक तीसरे जैन मिथ्यादृष्टि निश्चयव्यवहारावलम्बियो का भी वर्णन किया है। अब तक शास्त्र स्वाध्याय और पारस्परिक चर्चाओ मे एकान्त निश्चयी और एकान्त व्यवहारी को ही मिथ्यादृष्टि कहते सुनते आये है। परन्तु दोनो नयो का अवलम्बन करनेवाले भी मिथ्यादृष्टि हो सकते है यह आपकी नई और विशेष चर्चा है। ऐसे मिथ्यादृष्टियो के सूक्ष्म भावो का विश्लेषण करते हुए आपने कई अपूर्व बाते लिखी हैं। उदाहरण के लिए आपने इस बात का खण्डन किया है कि मोक्षमार्ग निश्चय व्यवहार रूप दो प्रकार का है। वे लिखते है कि यह मान्यता निश्चय व्यवहारावलम्बी मिथ्यादृष्टियो की हैं, वास्तव मे तो मोक्षमार्ग दो नही है किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है। पाठक देखेंगे कि जो लोग निश्चय सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्दर्शन, निश्चय रत्नत्रय, व्यवहार रत्नत्रय, निश्चयमोक्षमार्ग, व्यवहारमोक्षमार्ग इत्यादि दो भेदो की रातदिन चर्चा करते रहते है उनके मतव्य से प० जी का मतव्य कितना भिन्न है। इसी प्रकार आगे चलकर उन्होने लिखा है कि निश्चय व्यवहार दोनो को उपादेय मानना भी भ्रम है, क्योकि दोनो नयो का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है इसलिए दोनो नयो का उपादेयपन नही बन सकता। अभी तक तो यही धारणा थी कि न केवल निश्चय उपादेय है और न केवल व्यवहार किन्तु दोनो ही उपादेय हैं किंतु पडित जी ने इसे मिथ्या-दृष्टियो की प्रवृत्ति बतलाई है और दोनो के उपादेय का क्या मतलब है इसे आगे स्पष्ट किया है। इसी प्रकार जो लोग सिद्ध समान शुद्ध आत्मा के अनुभव को निश्चय और व्रत, शील, संयमादि रूप प्रवृत्ति को व्यवहार मानते है वे भी प० जी के अभिप्राय से मिथ्यात्व का ही पोषण करते है। उनका कहना है कि एक ही द्रव्य के भाव मे उसी रूप से निश्चय का निरूपण करना चाहिए और उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भाव मे व्यवहार का निरूपण करना चाहिए। जैसे मिट्टी के घडे को मिट्टी का घड़ा कहना निश्चय है और घी रहने के कारण घी का घडा कहना व्यवहार है। किन्तु उपर्युक्त मान्यता मे यह बात नही है अत वह मिथ्यात्व है। इस तरह ग्रन्थ मे निश्चय और व्यवहार के कथन को बडी ही विद्वत्तापूर्वक सुलझाया गया है। समयसार के अभ्यासियो को यह प्रकरण अवश्य देखना चाहिए।

आठवे अध्याय मे चारो अनुयोगो का प्रयोजन और उनकी व्याख्यान पद्धति का बडा ही सुन्दर ढग से निरूपण किया है। प्रथमानुयोग की कथाओ के बारे मे लिखा है कि उनका घटनाश सभी ज्यो का त्यों है।

हाँ उनके कथनोपकथन मे अन्तर हो सकता है। वह भी केवल शब्दो का भावों का नही। साथ ही यह भी लिखा है कि प्रथमानुयोग मे यदि किसी एक चीज का पोषण मुख्यता से किया गया है तो उसको उसी प्रकार न मान लेना चाहिए। जैसे विष्णुकुमार मुनि ने उपसर्ग दूर करने के लिए वामन का रूप धारण किया तो हर मुनि को उसी प्रकार न करना चाहिए, बल्कि उस कथन को वात्सल्य धर्म की मुख्यता से निरूपित समझना चाहिए। इसी प्रकार यदि वज्रकरण ने किसी को नमस्कार न करने के लिए अपनी अंगूठी में प्रतिमा का आकार बना रक्खा था तो यह सबको उचित नही है। बल्कि वज्रकरण के धर्मानुराग की प्रशंसा भर उसे समझना चाहिए।

करणानुयोग मे लिखा है कि उसमे छद्मस्थ की प्रवृत्ति के अनुसार वर्णन नही है बल्कि केवलज्ञानगम्य पदार्थों का निरूपण है। जैसे छद्मस्थ की प्रवृत्ति के अनुसार व्यतरो के नगर नाशादि रूप कषायो का अत्यधिक व्यवहार पाया जाता है परन्तु वस्तुतः कषाय शक्ति थोडी होने से उनके पीत लेश्या ही बतलाई है। इसी प्रकार एकेन्द्रयादि के कषायजन्य कार्य कुछ नही है फिर भी उनके कृष्ण लेश्या बतलाई है। चरणानुयोग में व्यवहारनय की प्रधानता से जीवो के उनकी बुद्धि के गोचर धर्म का उपदेश किया गया है। तथा द्रव्यानुयोग मे जिस प्रकार जीवादि तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान हो उस प्रकार उपदेश दिया है अत विशेष प्रकार से युक्ति, हेतु दृष्टातादि का निरूपण किया है। इस तरह चारो अनुयोगो की व्याख्यान पद्धति का निरूपण कर प्रत्येक अनुयोग की शैली का भी निरूपण किया गया है।

इसी अध्याय मे आगे चलकर जैनशास्त्रो मे परस्पर विरुद्ध कथनो की चर्चा करते हुए लिखा है कि यद्यपि काल दोष से ही इस प्रकार के कथन हुए है फिर भी जो आचार्य अधिक प्रामाणिक हो उनके वचनो पर श्रद्धान करना चाहिए। अथवा अन्य जैन शास्त्रों से उन परस्पर विरोधी कथनो की आम्नाय मिलानी चाहिए। जिसकी आम्नाय मिले वही प्रमाण करना चाहिए। इतने पर भी सत्यासत्य का निर्णय न हो तो 'जैसा केवली ने देखा है वैसा ही प्रमाण है' इस प्रकार मान लेना चाहिए। साथ ही लिखा है कि इस प्रकार मान लेने से मोक्षमार्ग मे कुछ रुकावट नही आती। क्योकि मोक्षमार्ग मे स्थिर रहने के लिए देवशास्त्र गुरु या सप्ततत्त्वो श्रद्धान होना जरूरी है लेकिन नेमिनाथ का जन्म सौरीपुरी मे हुआ है या द्वारावती मे इससे देवादिक या तत्त्वो के श्रद्धान का कोई सबध नही है। अत उनसे मोक्षमार्ग के विघ्न का खयाल नही करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी समाधान किया है कि कथन भले ही परस्पर विरुद्ध हो परन्तु व प्रमाणविरुद्ध नही होना चाहिए। जैसे नेमिनाथ का जन्म सौरीपुरी मे हुआ हो या द्वारावती मे लेकिन हुआ वह नगर मे ही है जैसा कि आजकल हम देखते है अत. उस विरोधी कथन से कोई हानि नही है।

नौवे अध्याय मे मोक्षमार्ग का निरूपण करते समय सम्यग्दर्शन सामान्य का शका समाधानपूर्वक बड़ा ही विशद और युक्तियुत विवेचन किया है। कुछ शकाएँ और उनके समाधान तो बिल्कुल नए है जैसे ऊँची दशा मे जहाँ सात तत्वों के विकल्प का निषेध किया है वहाँ सम्यक्त्व कैसे रहता है? केवली के सबका जानना समान रूप से होता है वहाँ सात तत्त्वो की प्रतीति से कोई मतलब ही नही है फिर सम्यक्त्व कैसे? आप सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते है लेकिन समयसार कलश मे सात तत्त्वो को छोड एक आत्मा के निश्चय को ही सम्यग्दर्शन कहा है इसका समन्वय कैसे होगा? इत्यादि इन सब शकाओ को बडी अच्छी तरह सुलझाया है।

नौवें अध्याय के अन्त में सम्यक्त्व के आठ अंगो को गिनाते हुए शंका उठाई है कि बहुत से मिथ्यादृष्टियो के शका, काक्षा, ग्लानि आदि नही पाए जाते और सम्यग्दृष्टियो के पाए जाते हैं अतः उन्हे सम्यक्त्व

का अंग क्यो बतलाया है ? इसका उत्तर ग्रन्थकर्ता ने बडा ही सुन्दर दिया है । वे लिखते हैं जैसे मनुष्य शरीर के हस्त पादादि आठ अंग गिनाए हैं, परन्तु हस्त पादादि अग तो बन्दर के भी होते है लेकिन जिस प्रकार मनुष्य के होते है उस प्रकार बन्दर के नही होते । उसी प्रकार नि.शंकितादि गुण मिथ्यादृष्टियों के भी होते हैं लेकिन निश्चय की अपेक्षा लेकर जिस प्रकार सम्यक्त्वी के होते है उस प्रकार मिथ्यादृष्टि के नही होते । अथवा जैसे किसी मनुष्य के हस्त पादादि अग न हो तब भी उसका शरीर मनुष्य शरीर कहलाता है । भले ही वह सुशोभित नही होता । उसी प्रकार किसी सम्यक्त्वी के निःशंकितादि अग न हों तब भी वह सम्यक्त्वी कहलाता है भले ही उसका सम्यक्त्व सुशोभित न होता हो । पाठक देखेंगे कि इस उत्तर के आगे पुनः शंका को कोई गुंजायश नही है ।

इस तरह यह समूचा ग्रन्थ बडा ही गम्भीर सुसम्बद्ध और अनेक महत्त्वपूर्ण चर्चाओ से भरा पड़ा है । हमने जिन थोडे विषयो का उल्लेख किया है वह अपने दृष्टिकोण से किया है स्वाध्याय करने से पाठको को ऐसे अनेक विषय मिलेंगे जिन्हे पढ़ सुनकर उन्हें विशेष और नया बोध होगा और वे इस ग्रन्थ की महानता को समझे बिना नही रहेंगे ।

प्राय देखा गया है कि सस्कृत ग्रन्थो को सुनकर जिस प्रकार उनकी ओर श्रद्धा और जिज्ञासा एक बार ही सजग हो उठती है उस प्रकार हिन्दी ग्रन्थो के लिए नही होती । परन्तु मोक्षमार्गप्रकाश उन सबका अपवाद है । अपने इन दो सौ वर्षों मे स्वाध्यायी और तत्त्वचर्चालु ससार मे उसने ऐसा स्थान बना लिया है कि उसका नाम सामने आते ही उसके लिए श्रद्धा उमड पड़ती है और सम्बन्धित विवादस्थ विषयो को देखने के लिये आगम की तरह उसके पन्ने उलटने पडते है । इस दिशा मे हम उसे आगम से कम नही समझते और यह कहने को तैयार है कि वह हिन्दी का सर्व प्रथम स्वतन्त्र आगम ग्रन्थ है ।

ग्रन्थ की रचना शैली

ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय का प्रारम्भ एक दोहे से किया गया है । कुल नौ अध्याओ मे आठ दोहे हैं । आठवें अध्याय के प्रारम्भ में दोहा नही है । न जाने वह लेखको के प्रमाद से छूट गया है या स्वय ग्रन्थकर्त्ता ने नही लिखा । अथवा सातवे अध्याय के आधे अश का ही आठवाँ अध्याय मान लिया गया है । इस सम्बन्ध मे स्वयं टोडरमलजी की हस्तलिपिवाला ग्रंथ देखकर ही कुछ कहा जा सकता है । परन्तु प्रतीत यही होता है कि वह लेखको के प्रमाद से ही छूट गया है । जब पहले के और बाद के अध्याओ के प्रारम्भ मे दोहे है तब बीच के ही एक अध्याय के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने दोहा न लिखा हो यह समझ मे नही आता । न जी यही मानने को चाहता है कि आठवाँ अध्याय सातवें अध्याय का ही अश है क्योंकि दोनो का विषय वर्णन बिल्कुल भिन्न-भिन्न है । सातवे अध्याय मे जहाँ मिथ्यादृष्टियो का वर्णन है वही आठवे अध्याय मे उपदेश का स्वरूप है जिसमे चारो अनुयोगों का विषय व्याख्यान पद्धति, रचना शैली आदि का वर्णन है । अत. उसे सातवाँ अध्याय का अश नही माना जा सकता । अस्तु, ये आठो दोहे अपने-अपने अध्याय के निचोड़ हैं । जिस अध्याय मे जो विषय ग्रथकार को वर्णन करना है उसके पहले एक दोहे मे उस अध्याय का आभास दे दिया गया है । पढ़ने से ऐसा मालूम पडता है मानो ये दोहे गाथा सूत्रो की तरह किसी ग्रंथ के सक्षिप्त दोहा सूत्र हैं और प्रस्तुत ग्रन्थ उन दोहो का भाष्य है। पहले अध्याय के प्रारम्भ में मङ्गल दोहा लिखा है **'मगलमय मंगलकरण, वीतराग विज्ञान, नमों ताहि जाते भए अरहंतादि महान'** नीचे इसी अध्याय मे अरहतादि का स्वरूप, उनकी पूज्यता का कारण, वीतराग विज्ञानता, मङ्गल शब्द की व्याख्या और उसका प्रयोजन आदि बातो का वर्णन किया है । दूसरे अध्याय मे ससार अवस्था का निरूपण करते हुए उसका कारण मिथ्या भावों को बतलाया है । अत.

प्रारम्भ का दोहा लिखा है **'मिथ्याभाव अभावतें जो प्रगटे निजभाव, सो जयवंत रहे सदा यह ही मोक्ष उपाव'** इसी प्रकार पाँचवें अध्याय मे शैव, वैष्णव, इस्लाम आदि अनेक मिथ्यामतो का खण्डन किया है। अतः इसी आशय का इसके प्रारम्भ में श्लोक रक्खा है **'बहुविधि मिथ्या गहन कर मलिन भए निजभाव, ताको हेतु अभाव है सहज रूप दरसाव'**। इसी तरह सभी अध्यायो के श्लोक उस अध्याय के विषय वर्णन के अनुरूप ही रक्खे हैं। और खूबी यह है कि समूचे अध्याय में आदि से अन्त तक दोहे मे वर्णित प्रमेय के अनुसार कही भी विषय का स्खलन नही हुआ। साथ ही इन दोहो से मङ्गलाचरण का भी काम लिया गया है। हम देखते हैं कि पहले अध्याय में ग्रन्थकार ने किसी आत्मा विशेष को नमस्कार न कर वीतराग विज्ञान को नमस्कार किया है जिसका अर्थ है शुद्ध स्वभाव आत्मा को नमस्कार है आगे के दोहो मे भी उन्होने यही क्रम रक्खा है और शुद्ध आत्मा के स्मरण के लिए निजभाव, मोक्ष उपाव, सहज रूप आदि शब्दो का प्रयोग किया है। इस तरह प्रत्येक अध्याय के दोहे मे दो काम लिए हैं एक तो उस अध्याय का उसमे सार रख दिया है दूसरे प्रत्येक अध्याय का प्रारंभिक मगलाचरण भी किया गया है।

यह हम पहले कह आए हैं कि यह ग्रन्थ ९ अध्यायों मे विभक्त है। किन्तु नवो अध्यायो के उन प्रारंभिक दोहो को देखते हुए वह निश्चय हुए बिना नही रहता कि ग्रन्थकर्त्ता इस ग्रन्थ को अध्यायो की तरह कई भागो में बाटना चाहते थे। जहाँ तक हम समझ पाए हैं मौजूदा ग्रन्थ दो भागो मे बँटा हुआ है पहले भाग मे आठ अध्याय हैं और दूसरे भाग मे नौवा अध्याय है। यदि ग्रन्थ अधूरा न होता तो दूसरे भाग मे और भी कई अध्याय होते। नौवें अध्याय से दूसरा भाग मानने का कारण यह है कि जिस प्रकार ग्रथ के प्रारम्भ मे मङ्गलाचरण करते हुए उन्होने नमस्कार शब्द का प्रयोग किया है उसी प्रकार नौवें अध्याय के प्रारम्भ मे मङ्गलाचरण करते हुए नमस्कार शब्द का प्रयोग किया है। बीचके किसी भी अध्याय मे नमस्कार शब्द का प्रयोग नही किया। यह तभी हो सकता है जब कि नए ढग से कोई भाग या पुस्तक लिखी जाय। दूसरा हेतु यह है कि पहले आठ अध्यायो मे जो प्रकरण चला है नौवें अध्याय मे वह बिल्कुल बदल गया है। पहले आठ अध्यायो मे ससार के कारण मिथ्यादर्शनादि का वर्णन है और नौवे अध्याय मे मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शनादिक का वर्णन प्रारभ हुआ है। यह हम पहले लिख आए हैं कि आठ अध्याय तो केवल भूमिका के रूप मे लिखे गए हैं। ग्रन्थ का असली भाग तो नौवें अध्याय से ही प्रारम्भ होता है। अत इस निर्णय मे कोई बाधा नही आती कि नौवाँ अध्याय ग्रन्थ का दूसरा भाग है और पहले आठ अध्याय ग्रन्थ का पहला भाग है।

विषय वर्णन शैली

ग्रन्थ मे विषय की वर्णन शैली बडी ही सरल, रोचक और बोधगम्य है। दुरूह चर्चाओ को भी बड़ा सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है। जिस विषय को उठाया गया है उस पर खूब ऊहापोह किया गया है, और जब तक उसके हर एक पहलू पर विचार नही कर लिया गया तब तक आगे नही बढा गया। जहाँ बढा गया है वहाँ यह कह कर बढ़ा गया है कि इस पर आगे चलकर विचार करेंगे। विषय को सरल करने में वही शैली अपनाई गई है जो धवलादि प्राचीन ग्रन्थो मे अपनाई गई है। अर्थात् प्रत्येक विषय पर यथासंभव प्रश्नों को उठाकर उनका समाधान किया है। इतना ही नही बल्कि विषय को समझाने मे दृष्टात दिये हैं उनका इतना सुन्दर प्रयोग हुआ है कि प्रतिपाद्य विषय को गले उतरने मे कोई कठिनाई नही होती। कभी-कभी तो उन फबते हुए दृष्टातों को देखकर ग्रन्थकार की योग्यता और बहुमुखी प्रतिभा पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। उदाहरण के लिए जैसा कि पहले लिखा जा चुका है किसी ने शका की है कि नि.शङ्कितादि गुण मिथ्यादृष्टियों के भी होते हैं आप उन्हें सम्यक्त्व के अङ्ग कैसे कहते हैं। उत्तर दिया है कि हस्त पादादि

अङ्ग बन्दर के भी होते है पर मनुष्य के जैसे होते है वैसे नही होते । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि बन्दर की जगह किसी अन्य पशु का भी दृष्टात दिया जा सकता था परन्तु सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में जो साम्य है उसका मेल मनुष्य का बन्दर के साथ ही हो सकता था अन्य पशु के साथ नही अत. बन्दर के दृष्टात का यहाँ बडा ही सुन्दर और ठीक प्रयोग हुआ ।

इस प्रश्न का कि पुद्गल परमाणु जड है वे यथायोग्य प्रकृति रूप कैसे परिणमन कर जाते हैं । उत्तर दिया है कि जिस प्रकार भूख लगने पर मुखद्वारा ग्रहण किया गया भोजनरूप जड पुद्गलपिंड, मास, शुक्र, शोणित आदि धातु रूप परिणमन कर जाता है और उसे भोजन के परमाणुओ से यथायोग्य किसी धातु रूप कम और किसी धातु रूप अधिक परमाणु हो जाते हैं । उसी प्रकार कषायो के सद्भाव मे योगो द्वारा ग्रहण किया गया कार्माण वर्गण, रूप जड पुद्गलपिंड यथायोग्य ज्ञानावरणादि प्रकृति रूप परिणमन कर जाता है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नही कि दृष्टात कितना उपयुक्त और जी को लगने वाला है ।

आरम्भ मे एक शंका की है कि मङ्गल न करने वाले भी सुखी और करने वाले भी दुखी देखे जाते हैं तब आप मङ्गल को सुख का कारण कैसे कहते हैं । इसका उत्तर दिया है—जिस प्रकार किसी को पहले से ही बहुत सा धन इकट्ठा है, वर्तमान मे वह नही भी कमा रहा है तो भी उसके धन देखा जाता है कर्जा नही देखा जाता तथा जिसके ऊपर पहले से ही बहुत कर्जा है वह कमाते हुए भी कर्जदार और निर्धन देखा जाता है। लेकिन वस्तुत देखा जाय तो कमाना धन होने का ही कारण है कर्ज का नही । उसी प्रकार जिनके पहले बँधा हुआ पुण्य अधिक है उनके ऐसा मङ्गल किए बिना ही सुख देखा जाता है । और जिनके पहले बधा हुआ पाप अधिक है उनके वैसा मङ्गल करते हुए भी दुःख देखा जाता है । लेकिन वस्तुत देखा जाय तो मङ्गल करना सुख का ही कारण है दुःख का नही । पाठक देखेगे कि दृष्टात मे ही शका का कितना विशद और मार्मिक उत्तर है । इस तरह सारा ग्रन्थ ही दृष्टातो से भरा पडा है अत. मोटी बुद्धि भी विषय को तुरत पकड लेती है । कही कही तो दृष्टात का दार्ष्टात के साथ ऐसा रूपक बाँधा है कि वह पढते ही बनता है । बानगी के लिए हम यहाँ एक उदाहरण देते है—

मोक्षमार्गप्रकाश नाम की सार्थकता बतलाते हुए ग्रन्थकार लिखते है, संसार रूपी वन मे मिथ्यात्व रूपी अन्धकार व्याप्त है अत जीव को वहाँ से निकलने (मुक्ति) का मार्ग नही सूझता । ऐसे जीवो की भलाई के लिए तीर्थंकर केवली रूप सूर्य का उदय हुआ । उसकी दिव्यध्वनि रूपी किरणो स वहाँ से निकलने (मुक्त होने) का मार्ग प्रकाशित हुआ । सूर्य जैसे बिना इच्छा के स्वभावतः मार्ग प्रकाशन करता है वैसे ही तीर्थंकर केवली बिना इच्छा के मोक्षमार्ग का प्रकाशन करते है । जब तीर्थंकर केवली रूप सूर्य अस्त हुआ तो अधकार मे जीवो के भटकने के डर से गणधरो ने द्वादशाङ्ग रूपी दीपकों का प्रकाश किया । इसके बाद दीपको से दीपक जोडकर जैसे दीपको की परम्परा चलती है वैसे ही आचार्यों द्वारा उन ग्रन्थो से अन्य ग्रन्थ बनाए गए । उनसे किसी ने अन्य ग्रन्थ बनाए । तथा जिस प्रकार सूर्य और दीपक एक ही रूप से मार्ग का प्रकाशन करते है वैसे ही दिव्यध्वनि और सर्व ग्रन्थ एक ही रूप से मोक्षमार्ग का प्रकाशन करते हैं । तथा जिस प्रकार बडे दीपको के प्रकाश के लिए बहुत तेल वगैरह की आवश्यकता होती है, किन्तु जिनको अधिक तेल वगैरह देने की शक्ति नही है उन्हे यदि छोटा सा दीपक दे दिया जाय तो वे उसके अनुरूप थोडे से साधनों को रखकर उसके प्रकाश मे अपना कार्य करते हैं उसी प्रकार बडे ग्रन्थो का प्रकाश अधिक ज्ञानादिक साधनों की अपेक्षा रखता है । उतनी ज्ञानादिक शक्ति जिनके पास नही है उन्हें यदि छोटा सा ग्रन्थ बनाकर दे दिया जाय तो वे थोडे साधनो मे ही अपना कार्य कर लेते हैं इसीलिए यह छोटा और सरल ग्रन्थ बनाया गया है । इस

प्रकार जहाँ भी विषय को सरल करने की आवश्यकता समझी गयी है वही प्रायः इस प्रकार के रूपकों से काम लिया गया है।

ग्रन्थ की भाषा

प्रस्तुत ग्रन्थ यद्यपि आज की खडी बोली मे है पर मूलतः वह ढूँढारी भाषा मे है। ढूँढारी भाषा ढूढार प्रदेश की भाषा कही जाती है जो जयपुर और उसके आसपास के प्रदेशो में बोली जाती है। भाषा साहित्य के इतिहास मे ढूढारी भाषा का कोई अलग स्थान नही है जैसा कि ब्रजभाषा का अलग और महत्त्व-पूर्ण स्थान है पर पाठको को यह जानकर आश्चर्य होगा कि हिन्दी जैन साहित्य का बहुत सा भाग ढूढारी भाषा में ही लिखा गया है। व्रजभाषा में यद्यपि वह अपेक्षाकृत कम नही है पर व्रजभाषा उस समय जैसी लोक प्रचलित भाषा थी और जैसा वह साहित्य का स्थान ले चुकी थी उसको देखते हुए उतने साहित्य को परिमाण की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण नही कहा जा सकता। ढूढारी भाषा म हिन्दी जैन साहित्य के लिखे जाने का कारण यह है कि जैनदर्शन के मर्मज्ञ विद्वान उस समय जयपुर और उसके आसपास हो हुए है। स्वय जयपुर मे जैनो की आबादी ही इतनी अधिक थी कि उस समय लोग उसे जैनपुरी कहते थे। वहाँ के जैन मदिरो की सख्या तो अब भी वहाँ के अतीत जैन वैभव को बतला रही है। राज कर्मचारी सब जैन थे, दस, बारह लेखक सदा शास्त्र लिखा करते थे। सैकडो स्त्री पुरुष व्याकरणादि का अध्ययन करते थे शास्त्र चर्चाएँ करत थे।[1] इस तरह जयपुर का बढा चढा वैभव देख सुनकर जैनो का वहाँ अधिक सख्या मे बस जाना उचित हा था। अतः अधिक जैन विद्वान् भी वही हुए। इसलिए उन्होने जो कुछ लिखा पढा वही की भाषा मे लिखा पढा। यद्यपि आज की जयपुरी भाषा मे और मूल ग्रन्थ की भाषा मे बडा अन्तर है पर हमारी समझ मे आज की तरह वह तब भी रहा होगा। कारण बोलचाल की भाषा से लिखने की भाषा प्राय जुदी हा रहती है। लिखने मे भाषा को सर्वसाधारण तक पहुँचाने मे जितना ध्यान रहता है उतना बातचीत करने मे नही। बातचीत केवल दो आदमियो की तात्कालिक चीज है जब कि लिखने का सम्बन्ध अनको से और बहुत काल तक है। इसलिए लेखक किसी भी देश का हो यदि उसकी बोल चाल की भाषा लोक प्रचलित साहित्यिक भाषा से बिल्कुल भिन्न नही है तो अपनी कृति को सार्वजनिक बनाने के लिए वह उसी (लोक प्रचलित साहित्य भाषा) मे लिखने की चेष्टा करता है। यही कारण है कि न तो उसकी भाषा बोलचाल की भाषा हा रहती है और न वह तात्का-लिक भाषा से ही बिल्कुल मेल खाती है। प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा के सबध मे भी यही बात ह। १८वी शताब्दी और १९वी शताब्दी के प्रारम्भ तक ब्रजभाषा ही एकमात्र साहित्यिक भाषा रही। पठन पाठन मे

१. और इहा दश बारा लेखक सदैव सासते जिनवाणी लिखे है वा सोधधे है। और एक ब्राह्मण महनदार चाकर राख्या है सो बीस तीस लड़के बालकन कू न्याय, व्याकरण, गणित शास्त्र पढ़ावे है। और सौ पचास भाई व बाया चर्चा व्याकरण का अध्ययन करे है। नित्य सौ पचास जायगा जिन पूजन होइ है— इत्यादि इहा जिन धर्म की विशेष महिमा जाननी। और ई नग्र विषें सात विसन का अभाव है। भावार्थ-ई नग्र विषै कलाल, कसाई, वेश्या न पाइए। अर जीव हिंसा की भी मनाई है। राजा का नाम माधवसिंह है। ताके राज मे वर्तमान एते कुवसिन न पाइए हैं। और जैनी लोग का समूह बसे है। दरबार के मुतसद्दी सब जैनी है और साहूकार लोग सब जैनी है। यद्यपि और भी है पर गोणता रूप हैं, मुख्यता रूप नाही। छह सात वा आठ दस हजार जैनो महाजना का घर पाइए है। ऐसा जैनी लोगो का समूह और नग्र विषै नाही। और इहा का देश विषै सर्वत्र मुख्य पणे श्रावगी लोग बसे है। ताते यह नग्र व देश बहुत निर्मल व पवित्र है। तातैं धर्मात्मा पुरुष बसने का स्थान है। अबार तो ए साक्षात् धर्मपुरी है। सं० १८२१ साधर्मी भाई रायमल्ल का एक पत्र।

यत्र तत्र उसका साहित्य ही काम आता था। अतः उस समय के विद्वान् लेखकों का इस भाषा की ओर झुकाव होना स्वाभाविक ही था। जयपुर के विद्वान् भी इसके अपवाद न थे। उनके जीवन में हिन्दी के जो ग्रन्थ पठन पाठन मे आए होंगे वे ब्रजभाषा के ही होगे। जैन हिन्दी साहित्य मे कविवर बनारसीदास की नाटक समयसार आदि बहुत सा साहित्य छोड ही गए थे तथा जगत राम जी[1], पाण्डे हेमराज जी[2], भैया भगवतीदास जी उस समय अपनी रचनाएँ कर ही चुके थे और कविवर द्यानतरायजी उस समय रचनाएँ करने मे लगे थे उनका रचा हुआ बहुत सा साहित्य तो उस समय पठन पाठन में आने लगा था। ऐसी हालत में जयपुर के विद्वानों ने हिन्दी ग्रन्थ लिखने मे जिस साहित्य का अनुकरण किया होगा वह उक्त विद्वानों का लिखा हुआ यही ब्रजभाषा का साहित्य होगा। यही कारण है कि उन विद्वानों की भाषा मे और ब्रजभाषा में विशेष अन्तर नही है। जहाँ अन्तर है वह इसी कारण से है कि उनकी बोलचाल की भाषा ठेठ ढूंढारी थी। अत इच्छा न होने पर भी वे जाने अनजाने उसका प्रयोग रोक नही सकते थे। इस तरह ग्रन्थ की भाषा ठेठ ढूंढारी न होने पर भी उसका इस पर काफी असर है इसलिये इसे ढूंढारी (जयपुरी) ही कहना अधिक उचित है। हम पहले कह आए हैं कि उक्त भाषा ब्रजभाषा के अनुकरण से लिखी गई है। यही कारण हैं कि वह इतनी सरल लिखी गई है कि कोई भी व्यक्ति जो ढूंढारी भाषा को बिल्कुल भी न समझता हो इसे अपेक्षाकृत आसानी से समझ लेगा। भाषा मे प्रवाह है और स्वाभाविकता है तथा पढते-पढ़ते ऐसा मालूम पडता है कि ग्रन्थकार को कहना बहुत है पर उन्हे अपना कथन सक्षिप्त करना पड रहा है। किसी भी भाषा की सरलता और सुबोधता का मतलब यह है कि वह इस ढग से लिखी गई हो जैसे कोई किसी को स्वाभाविक बातचीत करते हुए समझा रहा हे। प्रस्तुत ग्रन्थ की मूल भाषा इस कसौटी पर ठीक उतरती है। समर्थन मे यहाँ दो एक उदाहरण देना ही काफी होगा। 'शैव साख्य नैयायिकादिक सर्व ही वेद को माने है तुम भी मानो हो, तुम्हारे और उन सबनिके तत्वादि निरूपण विषैं परस्पर विरुद्धता पाइए है सो कहा है। तू कहेगा एक अवस्था न रहे है, तो यह हम भी माने है। बहुरि तिस वस्तु ही का नाश माने तो यह होता न दीसे। जो तू कहेगा सस्कारतें है तो सस्कार कौनके है जाके है सो नित्य है कि क्षणिक है' ...' इन उदाहरणो मे 'तू' और 'हम' के प्रयोगों से ऐसा मालूम पडता है जैसे ग्रन्थकार किसी को सामने बैठाकर शका समाधान कर रहे हैं। अत. भाषा विषयक हमारे उक्त कथन की सत्यता मे कोई सन्देह नही रहता।

ग्रन्थान्तरो की साक्षि

'वक्तु प्रामाण्याद् वचनस्य प्रामाण्य' के अनुसार यो तो ग्रन्थकार के वचन ही ग्रन्थ की प्रामाणिकता के लिए काफी है, क्योकि टोडरमल जी की विद्वत्ता, विचारकता और सदाचारता न केवल सर्वोपरि थी परन्तु अन्य विद्वान् भी उसका लोहा मानते थे फिर भी अपने कथन के समर्थन मे उन्होने आवश्यकतानुसार प्राय सर्वत्र ही ग्रन्थान्तरो के प्रमाण दिए हैं। शायद ही कोई प्रकरण हो जो बिना साक्षि के छूट गया हो। इस तरह ग्रन्थ मे १-२ नही बल्कि लगभग पचासो जैनेतर ग्रन्थों के प्रमाण दिए है, और वे उन ग्रन्थो मे जहाँ के तहाँ मौजूद हैं। स्मृति और वेदादिक के कुछ प्रमाण ऐसे भी हैं जो आज उन ग्रन्थो मे नही पाए जाते परन्तु उनके न पाए जाने के कारणों का हमने वही टिप्पणी मे उल्लेख कर दिया है। ग्रन्थ पूरा होता तो हम समझते है उसमे और भी पचासो ग्रन्थो के प्रमाण होते। इस तरह एक ग्रन्थ मे अनेको अवतरणो का सग्रह ग्रन्थ की महानता और गम्भीरता को बहुत ऊँचा उठा देते हैं। ग्रन्थ

---

१. पद्मनन्दिपचीसी भाषा (१७२२) सम्यक्त्वकौमुदी भाषा के कर्त्ता। २. प्रवचनसार भाषा (१७०९) पंचास्तिकाय वचनिका और नयचक्र भाषा (१७२४) आदि के रचयिता।

के किसी भी प्रमेय को पढ़ने के बाद उसके समर्थन में फिर अन्य ग्रन्थों के टटोलने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि ग्रन्थकार स्वयं ही अन्य ग्रन्थो के इतने प्रमाण दे देते हैं कि जिज्ञासु मन उन्हें देखकर ही शात हो जाता हैं।

ग्रन्थ के कुछ नए विचारणीय विषय

जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं किसी भी विषय का समर्थन अनेकों युक्ति व प्रमाणो से किया गया है फिर भी दो एक स्थल ऐसे हैं जिन पर विद्वानो को विचार करना आवश्यक है। घातिया कर्मों का प्रभाव बतलाते हुए लिखा है कि अंतराय के उदय से जीव में दीक्षा लेने की जो शक्ति है वह प्रकट नही होती। वस्तुत दीक्षा का सबंध चारित्र ग्रहण से है। दीक्षा लेना कहिए या चारित्र ग्रहण करना कहिए एक ही बात है अत. दीक्षा न ले सकने का कारण चारित्र मोह का उदय तो समझ में आता है परन्तु अन्तराय का उदय समझ मे नही आता। यहाँ यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थकार ने दीक्षा न लेने का कारण अन्तराय का उदय नही बतलाया बल्कि दीक्षा लेने की शक्ति के प्रकट न होने के कारण को अन्तराय का उदय बतलाया है। लेकिन सोचना तो यह है कि आखिर वह शक्ति है क्या चीज ? हमारी समझ में दीक्षा लेने के जो उदासीन परिणाम हैं उसके अतिरिक्त और कोई शक्ति नही है। वे परिणाम चारित्र मोह के क्षयोपशम से होते हैं। यदि परिणामों के अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति भी कारण होती तो जहाँ देश चारित्र[1] और सकल चारित्र[2] के लक्षण लिखे है वहाँ मतिज्ञान श्रुतज्ञान[3] के लक्षणो की तरह वीर्यान्तराय के क्षयोपशम की भी अवश्य चर्चा करते। परन्तु ऐसा नही किया इसलिए मालूम पडता है कि चारित्र ग्रहण करने मे उदासीन परिणामो के अतिरिक्त और कोई शक्ति कारण नही है जिससे दीक्षा न लेने मे चारित्र मोह के उदय को कारण न मानकर या उसके साथ-साथ वीर्यान्तराय के उदय को भी कारण माना जाय। यहाँ इस शका को गुजायश नही है कि एक आदमी उदासीन परिणामो से उपवास करना चाहता है लेकिन उपवास करने से उसे वमन होने लगता है या मूर्च्छित हो जाता है अत उपवास निर्विघ्न समाप्त नही होता इसे वीर्यान्तराय का ही उदय मानना चाहिए। वमन होना या मूर्च्छित होना इसका कारण शारीरिक अशक्ति है यह वीर्यान्तराय के उदय से नही बल्कि निर्बल सहनन के उदय से होती है। कारण वीर्यान्तराय कर्म घातिया कर्म है अत. उसका असर सीधा आत्मा पर होना चाहिए न कि शरीर पर। अत वीर्यान्तराय का कार्य दीक्षा लेने की शक्ति प्रकट न होने देना एक अनोखी-सी बात जान पडती है। फिर भी विद्वानो और स्वाध्यायप्रेमियो का इसपर खूब विचार करना चाहिए।

एक समय मे एक ही उपयोग की चर्चा करते हुए लिखा है 'जब स्पर्श को जानता है तब रसादिक को नही जानता, तथा एक विषय मे भी उसके किसी एक अंश को जानता है। जैसे जब उष्ण स्पर्श को जानता है तब रूक्षादिक को नही जानता' इस विषय के समर्थन मे ग्रन्थकार ने कोई युक्ति नही दी है, केवल इतना ही लिखा है कि उपयोग के जल्दी जल्दी होने से हम एक साथ अनेक पदार्थो का जानना देखना मान लेते हैं

---

१. अनतानुबंध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकोदयक्षयात् सदुपशमाच्च प्रत्याख्यानकषायोदये सज्वलनकषायस्य देश-घातिस्पर्द्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासभवोदये च विरताविरतपरिणाम: क्षायोपशमिक. सयमासयम. [रा० वा० पृ० ७५]

२. अनतानुबध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानद्वादशकषायोदयक्षयात् सदुपशमाच्च संज्वलनचतुष्टयान्यतमदेशघाति-स्पर्धकोदये सति नोकषायनवकस्य यथासभवोदये च निवृत्तिपरिणाम आत्मन. क्षायोपशमिकं चारित्र। [रा० वा० पृ० ७५]

३. वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणाना सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्सदुपशमाच्च देशघातिस्पर्धकानामुदये सति मतिज्ञानं श्रुतज्ञान च भवति [रा० वा० पृ० ७४]

जैसे कौए की दोनों आँख में पुतली एक रहती है लेकिन चूँकि वह दोनों आँखों में जल्दी आती जाती रहती है इसलिए हमे दो पुतली मालूम पडती है। लेकिन इतने भर से विषय स्पष्ट नही होता। अनुभव स्पष्ट कहता है कि जब हम बर्फ का शरबत पीते हैं तब उसका मिठास और ठडापन दोनों एक साथ मालूम पड़ते है। उसमें यह कहना कि दोनो क्रम से मालूम होते हैं किन्तु दोनों के आभास मे शीघ्रता होने के कारण वे साथ साथ मालूम पड़ते है दिमाग मे नही बैठता। यह बात दूसरी है कि हम उनका सामान्य प्रतिभास ही कर सकें परन्तु इससे दोनों के युगपत् प्रतिभास मे कोई अन्तर नही आता। ग्रन्थकार ने अपने विषय के समर्थन मे एक अनुभवगम्य बात यह भी लिखी है कि जब हमारा सुनने मे उपयोग होता है तब हमारी आँखो के सामने का समीपवर्ती पदार्थ भी नही दीखता। इसमें सन्देह नही कि ऐसा होता है लेकिन इसका अर्थ यह नही कि हम प्रयत्न पूर्वक भी अगर उस समीपवर्ती पदार्थ को देखना चाहे तो नही देख सकते या देखेंगे तो सुनने का उपयोग जाता रहेगा। और फिर भी अगर इसे किसी तरह मान लिया जाय तब भी यह दो भिन्न इन्द्रियो के विषय का उदाहरण है लेकिन जहाँ एक ही इन्द्रिय के विषयभूत दो भेदो का सवाल है वहाँ और जहाँ एक भेद के दो अशो का सवाल है वहाँ उपर्युक्त उदाहरण काम नही देता अत. इस विषय पर भी विशेष विचार की आवश्यकता है।

क्या ग्रन्थ अधूरा लिखा गया था

ग्रन्थ संबधी अनेक चर्चाओ के करने के बाद एक चीज पर विचार करना और आवश्यक रह जाता है वह है प्रस्तुत ग्रन्थ के अधूरेपन की बात। इसमे सन्देह नही कि उपलब्ध ग्रन्थ अधूरा है। नाम के अनुसार मोक्षमार्ग का उसमे कतई वर्णन नही है। नौवे अध्याय मे उसका वर्णन प्रारभ करके ही छोड दिया गया है। भला यह कैसे हो सकता है कि एक विद्वान् अपनी रचना मे जिस चीज का वर्णन करना चाहता है उसका वर्णन तो न करे बल्कि उसकी प्रारंभिक बातो मे अपना सारा ग्रन्थ समाप्त कर दे। खास कर टोडरमलजी जैसे विशिष्टज्ञानी विद्वानो से ऐसी आशा नही की जा सकती। दूसरे ग्रन्थ के अन्त मे कोई समाप्ति सूचक सवैया, दोहा या अन्य किसी प्रकार के वाक्य जैसा कि उनके अन्य ग्रन्थो मे बिल्कुल नही हैं इससे भी मालूम पडता है कि ग्रन्थ अधूरा ही है। और नही तो कम से कम जैसे अन्य अध्यायो मे अन्त मे जाकर वर्णित विषय का उपसहार किया है वैसे यहाँ भी विषय का उपसहार किया होता, लेकिन वैसा नही है। तीसरे काशी के कविवर बाबू वृन्दावनदासजी ने प० जयचन्द्रजी को जो पत्र लिखा था उसमे अधूरे मोक्षमार्ग को पूरा करने की चर्चा की है। अत. मौजूदा उपलब्ध ग्रन्थ के अधूरेपन मे तो कोई सदेह नही रहता। लेकिन सदेह यह है कि उन्होंने इसके आगे भी ग्रन्थ लिखा था या नही। यह सन्देह हम इसलिए व्यक्त कर रहे है कि सहधर्मी भाई रायमल्ल ने जिनकी प्रेरणा से प० टोडरमलजी ने गोम्मटसार आदि ग्रन्थो की टीका लिखी थी सवत् १८२१ मे जयपुर मे होनेवाले इन्द्रध्वज पूजा विधान का जो निमन्त्रणपत्र सब जगह भेजा है उसमें गोम्मटसारकी टीका आदि ग्रन्थो का परिचय देते हुए मोक्षमार्ग प्रकाश ग्रन्थ की २०००० बीस हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखी है। किन्तु उपलब्ध ग्रन्थ ज्यादा से ज्यादा १०००० दस हजार श्लोको मे है। इससे अधिक नही है। बीस हजार श्लोक प्रमाण ग्रन्थ का अर्थ था अब से दूना परिमाण। अतः सदेह होता है कि शायद उन्होने इसके आगे भी ग्रन्थ लिखा था परन्तु वह अब तक भी देखने मे नही आया। और न यही मानने को जी चाहता है कि वह नष्ट हो गया। कारण लगभग २०० वर्षों मे एक ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रथ का जिसका जनता मे पठन पाठन हो रहा हो लुप्त हो जाना सभव नही मालूम देता। हो सकता है कि जिस समय यह पत्र लिखा गया है उस समय पं० जी उक्त ग्रंथ लिखने मे लगे हो और उन्ही के कथनानुसार इस ग्रन्थ की बीस हजार श्लोकों में लिखे जाने की सभावना देखकर रायमल्लजी ने पत्र मे ऐसा प्रचारित कर दिया हो। परन्तु इन सभावनाओ से तथ्य का पता नही चलता। अतः इस सबध में अधिक छानबीन की आवश्यकता है।

●

आज का सुधारवाद

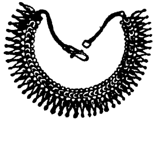
आज का समय कलियुग का समय है। इस कलियुग को लेकर जैनाचार्यों ने इसके दुष्परिणामो का विस्तृत विवेचन किया। पंचम काल मे आकर जैन शासन का जो अपवाद हो रहा है उसे भी आचार्यों ने कलिकाल का ही प्रभाव बताया है। स्वयं आज से दो हजार वर्ष पहले समन्तभद्राचार्य ने लिखा है—

काल कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाशयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी, प्रभुत्वशक्तेरपवाद हेतु ॥

अर्थात् भगवन्! जैन शासन की एकाधिपतित्व लक्ष्मी की प्रभुता का अवतार इस कलिकाल मे श्रोता के कलुसित हृदय और वक्ता के नयहीन वचनो के कारण हुआ है। इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि आज का सुधारक कलियुगी सुधारक है जो जैनागमो को अवहेलना कर अपने मनगढन्त सुधारो को जैन समाज पर थोपना चाहता है। प्रारम्भ मे यह सुधारवाद विजातीय विवाह से प्रारम्भ हुआ और जातिवाद को ढकोसला बता कर चाहे जिस जाति के वर कन्या के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करने के लिए जोर दिया गया। इसके कुछ ही समय बाद विधवा विवाह प्रचार मे ये सुधारक सलग्न हो गये, इससे भी आगे बढे तो वर्ण सकरता के गीत गाने लगे और कहने लगे कि न कोई ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है न वैश्य है न शूद्र है। सिर्फ मनुष्य जाति एक है। शास्त्रकारो ने भी 'मनुष्य जातिरेकैव' कहकर एक मनुष्य जाति को ही विधान किया है जिन शास्त्रो मे ब्राह्मणादि वर्ण भेद लिखे है कि भट्टारको ने लिख दिये है जैनाचार्यों ने नही। इसी प्रकार आगे बढते अब वे इसपर आ गये है कि मरणोपरान्त पातक शुद्धि के लिए जो पचायत को जिमाया जाता है वह सब गलत है। भोज तो खुशी और प्रसन्नतावर्धक अवसरो पर दिये जाते है न कि मृत्यु के उपलक्ष मे भोज दिया जाय। उस समय गृहस्थ को अपने व्यक्ति के मरण से जो मानसिक पीडा होती है वह अकथनीय है। उस समय उसे भोज देने के लिए मजबूर करना और हमारा भोजन करने को उसके घर जाना अत्यन्त गर्हित है। यह तो हिन्दुओ का प्रचलन है उसे हमने भी अर्थात् जैनो ने भी अपना लिया है यह ठीक नही है इसलिए मृत्यु भोज बन्द होना चाहिए। इस मृत्यु भोज को बद करने के लिए अनेक सुधारवादी सभाओ ने प्रस्ताव भी पास किये है और आये दिन उसे सामाजिक बुराई बता कर उस पर लेख भी लिखे जाते रहे है। जो कि हमे गम्भीरता से सोचना है कि क्या यह पातक शुद्धि का भोजन मृत्यु भोज है। क्या वास्तव मे यह गर्हित है।

जैनाचार्य के प्रसग में सूतक पातक दोनो को ही ग्रहण किया है। सूतक शब्द का प्रयोग उत्पत्ति अर्थ मे होता है और पातक शब्द का प्रयोग मृत्यु या मरण अर्थ मे होता है। अशुद्धि के प्रसग दोनो मे ही होते है। सूतक की अशुद्धि कुटुम्ब को दस दिन एव प्रसूता को अशुद्धि ४५ दिन रहती है। पातक की अशुद्धि कुटुम्ब को १२ दिन की होती है लेकिन मृतक की अशुद्धि का कोई प्रश्न ही नही उठता। पातक शुद्धि के प्रसग मे इस बात का भी ध्यान रखना पडता है कि यह जो मृत्यु हुई है वह वैध है या अवैध है। कल्पना कीजिये घर मे कोई व्यक्ति मरा है तो पंचायत को यह जानना आवश्यक होता है कि उसकी मृत्यु स्वाभाविक हुई है या उसे मारा गया है। कभी घर मे इतना विद्वेष होता है कि व्यक्ति को विष देकर, आग से जला कर, तलवार या छुरी

घोंप कर अथवा अन्य साधनो से मार दिया जाता है। यह बात घर वाले गुप्त रखते हैं लेकिन पंचायत को किसी प्रकार यह बात मालूम पड़ जाती है। जो उसके शुद्धि विधान मे पचायत के लोग शामिल नही होते। इससे विधान के घर वालो को इस बात का भान हो जाता है कि मेरा यह पाप सब जगह प्रकट हो गया है। इसीलिए पंचायत ने हमारे घर का खान-पान बन्द कर दिया है। हमारा बहिष्कार कर दिया है। इस अपमान से पीड़ित होकर मृतक के घर वाले पंचायत के सामने प्रायश्चित्त लेते थे। अपने दुष्कृत्य की क्षमा माँगते थे तथा आगे ऐसा काम न करने के लिए प्रतिज्ञा करते थे। इससे व्यक्ति का सुधार होता था, पंचायती बन्धन सुदृढ़ रहता था, आपस के सम्बन्ध सुदृढ बने रहते थे। जो ऐसा नही करते थे वहाँ पंचायत से सदा के लिए बहिष्कृत कर दिये जाते थे अथवा जो मृतक के कुटुम्बी अपनी तरफ से स्वयं ही पचायत को निमंत्रित नही करते थे उस कुटुम्बी को पंचायत के अन्तर्गत कोई कुटुम्ब अपने यहाँ उत्सव आदि मे कभी नहीं बुलाता था। अत. पातक शुद्धि में पचायत के लोगो को जिमाना उतना ही आवश्यक था जितना अपनी शैक्षणिक योग्यता के लिए सरकारी सार्टिफिकेट प्राप्त करना आवश्यक है। इसको मृत्यु भोज की संज्ञा देना सुधारवादियो की दुर्नीति परिणाम है। यह मृत्यु भोज नही है किन्तु तेरही क्रिया या कारज है, के नाम से इसे कहा जाता है और पहले भी कहा जाता था। 'भोज' शब्द मे प्रसन्नता का रूप छिपा रहता है। विवाह शादी या अन्य प्रसन्नता के अवसरों पर जो लोगों को जिमाया जाता है उसका नाम भोज है तथा मृत्यु शब्द मे कष्ट का रुख छिपा हुआ है। अत: मृत्यु भोज का अर्थ यह होता है, कष्ट और पीडा के समय लोगो को जिमाना तो बुरा और निर्दयता का प्रतीक है अत लोगो को पातक शुद्धि से घृणा या नफरत पैदा करने के लिए तेरही (पातक शुद्धि) को सुधारवादी लोग मृत्यु भोज कहने लगे है। तेरही का अर्थ है १३वें दिन की क्रिया या कार्य का होना। इसे मृत्यु-भोज कहना पागलपन है।



प्रक्षाल और अभिषेक

दि० जैन समाज में प्रक्षाल और अभिषेक ये दोनो प्रथाएँ सदा से चली आ रही हैं। अष्ट द्रव्य से पूजा जिस प्रकार अत्यधिक प्राचीन है उसी प्रकार प्रक्षाल और अभिषेक भी अत्यधिक प्राचीन है। यदि प्रक्षाल और अभिषेक को विकृति कहा जायगा तो अष्ट द्रव्य से पूजा भी विकृति का ही एक रूप कहा जायगा। लोग अभी तक यह भी नही समझते कि प्रक्षाल और पूजा मे क्या अन्तर है। कुछ लोग तो यहाँ तक भी कहने को हिमाकत करते हैं कि प्रक्षाल का आत्म शुद्धि की दृष्टि से कोई महत्त्व नहो है इसका मतलब तो यह हुआ कि प्रक्षाल की तरह अभिषेक और पूजा का भी आत्म शुद्धि की दृष्टि से कोई महत्त्व नही है। यह कहना कि प्रक्षाल तो मूर्ति पर जो रजकण लग जाते हैं उन्हें धोने साफ करने के लिए किया जाता है यह सर्वथा कपोल कल्पित है। यहाँ हम प्रक्षाल और अभिषेक को अन्तर्दृष्टि को समझायेंगे।

अभिषेक—मूर्ति के ऊपर कलशों के द्वारा शिर पर जो जलधारा छोडी जाती है वह अभिषेक कहलाता है तथा

प्रक्षाल—मात्र चरणो पर जो जलधारा छोडी जाती है वह प्रक्षाल कहलाता है। अभिषेक की प्रक्रिया मे जो विधि विधानपूर्वक होती है उसमें पर्याप्त समय लगता है क्योकि वहाँ क्षेत्रपाल दिग्पाल आदि का आह्वानन किया जाता है, चारो दिशाओं मे चार कलश स्थापित किये जाते हैं, उपयोगी मत्र आदि का उच्चारण करना पडता है अत. अभिषेक समय साध्य और श्रम साध्य होता है। लेकिन जिस भक्त के पास उतना समय नही होता और न मत्रोच्चारण की उस प्रकार की योग्यता या शक्ति है वह चरणो पर जलधार देकर ही अर्थात् प्रक्षाल करके ही अपनी सन्तुष्टि करता है। क्षालन का सामान्य अर्थ होता है धोना और अभिषेक का सामान्य अर्थ होता है स्नान। चरणों के धोने को स्नान नही कहा जाता अत: उसे प्रक्षाल ही कहा जाता है और स्नान को 'धोना' नही कहा जाता अतः उसे अभिषेक ही कहा जाता है। राजगद्दी पर बैठने समय राजा को भी जो स्नान कराया जाता है वह राज्याभिषेक ही कहलाता है न कि राज्य प्रक्षालन। यह बात दूसरी है कि कुछ लोग नासमझी के कारण अभिषेक को प्रक्षाल या प्रक्षाल को अभिषेक कहे। यहाँ न रजकण पोछने का कोई प्रश्न ही है और न रजकणों के पोछने का आगम में कोई उल्लेख है।

शंका—हम मानते हैं कि सिर पर कलश द्वारा जलधारा देते हैं अभिषेक होता है लेकिन हम यह क्यो भूल जाते हैं कि जिन अरहत भगवान् की यह प्रतिमा है वे अरहंत भगवान् तो कभी स्नान नही करते थे फिर अरहत भगवान् की प्रतिमा का अभिषेक क्यो किया जाता है? मुनि के २८ मूलगुणो मे ही स्नान का निषेध है फिर अरहंत तो बहुत बडी चीज है अतः प्रतिमा के अभिषेक से उसकी वीतरागता खडित होती है।

समाधान—अरिहंत का अभिषेक नही होता अतः अरिहंत की प्रतिमा का भी अभिषेक नही होना चाहिए इस दलील को यदि ठीक मान लिया जाय तब तो हम अरिहंत की प्रतिमा को रथ मे भी नही बैठा

सकते क्योंकि अरिहंत तो कभी रथ मे बैठते नही हैं। प्रतिमा को हम गोदी में लेकर भी स्थान से स्थानान्तर नही कर सकते क्योंकि अरिहत भगवान् कभी किसी की गोदी मे नही बैठते, इसी तरह प्रतिमा का विमान में विराजमान कर निकालना भी उचित नही माना जा सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि साक्षात् अरिहंत के प्रति जो व्यवहार भक्त का होता है वही व्यवहार अरिहत की प्रतिमा के साथ होना चाहिए कम अधिक नही यह गलत है। यह ठीक है कि वीतराग अरिहत की प्रतिमा भी वीतराग है फिर भी साक्षात् अरहत की पूजा विधि और अरहत प्रतिमा की पूजा विधि एक सी नही होती। साक्षात् अरहंत का स्पर्श करने के लिए स्नान की आवश्यकता गृहस्थ को नही होती जबकि अरिहंत की प्रतिमा गृहस्थ बिना स्नान किये स्पर्श नही कर सकता उदाहरण के लिए किसी साक्षात् मुनि का जो साधु परमेष्ठी का रूप है हम बिना स्नान के स्पर्श करते है किन्तु साधु परमेष्ठी की प्रतिमा का स्पर्श हम स्नान किये बिना स्पर्श नही कर सकते।

जैनागम में जो नव देवो की मान्यता है उनमे अरिहत देवता अलग हैं और अरहंत प्रतिमा देवता अलग है। यदि हम दोनो एक ही मानकर चलें तो देव शास्त्र गुरु की पूजा मे जब देव की पूजा हम कर चुकते हैं तब फिर चैत्य (प्रतिमा) पूजा क्यो करते हैं इससे स्पष्ट है कि अरहत और अरिहत की प्रतिमा भिन्न-भिन्न भी है। आगम मे नव देवताओ के नाम इस प्रकार गिनाये हैं अरहत १, सिद्ध २, आचार्य ३, उपाध्याय ४, साधु ५, जिन शास्त्र ६, जिनधर्म ७, जिन चैत्य ८, जिन चैत्यालय ९। नित्य पूजा में हम प्रतिदिन इन नव देवताओ की पूजा करते है। यद्यपि देव शास्त्र गुरु मे शेष छहो देवता गर्भित हो जाते है फिर भी उनकी पृथक् पृथक् पूजा की जाती है। अरहत की पूजा मे हम द्रव्य अर्पण करते है सिद्ध पूजा मे द्रव्य अर्पण हो तो बुराई नही किन्तु बिना द्रव्य के भावाष्टक भी चलता है जैसा कि हम आधुनिक पूजाओ मे पढते है शास्त्र की पूजा मे द्रव्य के साथ-साथ वस्त्र भी हम अर्पण करते है, चैत्य पूजा मे हम अभिषेक करते है प्रक्षाल भी करते हैं साक्षात् अरिहत की पूजा मे हम न अभिषेक करते है न प्रक्षाल करते है। इस प्रकार सभी देवताओ की पूजा मे कुछ न कुछ अन्तर है।

यदि प्रक्षाल या अभिषेक आत्म शुद्धि मे कारण नही है तब हम पूछना चाहेंगे कि पूजा भी फिर क्यो की जाती है वह भी आत्म शुद्धि मे कारण नही है। यदि पूजा वन्दना स्तुति मे हमे कोई प्रेरणा मिलती है तो अभिषेक मे भी हमे प्रेरणा मिलती है। तीर्थङ्कर के अरिहत हो जाने के बाद देव लोक क्यो छत्र चमर आदि का भगवान् के लिए प्रयोग करते है क्यो ६४ चमर ढोरते हैं क्या उससे आत्म शुद्धि की प्रेरणा मिलती है तो भक्त को भी अरिहंत प्रतिमा पर कलश ढोरने मे आत्म शुद्धि की प्रेरणा मिलती है, भगवान् ने दीक्षा लेने के साथ ही घर बार छोड दिया तो उनके लिए इतना बडा समवशरण, गधकुटी आदि बनाने की देवो को क्या आवश्यकता है? इसी तरह गृहस्थ लोग भी भगवान के लिए इतना बडा मंदिर जिसके बनवाने मे न जाने कितनी आरम्भ जनित हिंसा होती है क्यो बनाते है? जबकि भगवान तो दीक्षा लेने के साथ ही घर मकान का परित्याग कर वनो मे चले जाते है। आश्चर्य है कि गृहस्थ को भगवान् के अभिषेक के लिये निषेध किया जाता है क्योंकि भगवान् ने दीक्षा लेने के साथ ही स्नान आदि का त्याग कर दिया किन्तु भगवान् का मंदिर बनवाने का निषेध नही किया जाता जबकि भगवान् दीक्षा के साथ ही अपना मंदिर (महल) आदि छोडकर चले जाते हैं। इतना ही नही भगवान् तो अपना शरीर आदि भी छोडकर निर्वाण पहुँच जाते हैं और हम प्रतिमा बनाकर उनका मूर्त रूप फिर खडा कर देते हैं। जिस मूर्त रूप के बनाने में भी आरम्भ जनित हिंसा होती है। यदि ये सब गृहस्थ के लिए वैध है और उससे हमें कुछ प्रेरणा मिलती तो अभिषेक भी वैध है और उससे हमे आत्म शुद्धि की प्रेरणा भी मिलती है।

हम पहले लिख चुके हैं कि अरहत की प्रतिमा और साक्षात् अरहंत इन दोनों मे अन्तर है इसलिए यह तर्क गलत है कि अरहंत बीतरागी है उनकी बीतरागी प्रतिमा का अभिषेक नही होना चाहिये ।

जहाँ तक पञ्चामृताभिषेक का प्रश्न है वह भी शास्त्र सम्मत है । क्या किसी प्राचीन ग्रन्थ मे कही उसका निषेध है । कुछ लोग इस पञ्चामृताभिषेक को आडम्बर और अत्यन्त खर्चीला बताते है किन्तु वे यह नही जानते कि न यह आडम्बर है और न खर्चीला । यह तो उत्कृष्ट भक्ति का फल है । ऐसा भाव स्तोत्र मे लिखा है— "जल्पन् जाप्यैरमलमणिभिस्त्वन्नमस्कार चक्रम्"

अर्थात् साधारण पच नमस्कार मत्र को सुनकर यदि मेंढक देव गति को प्राप्त हुआ तो जो मणियों की माला पर आपके नाम जपे वह यदि इन्द्र पद प्राप्त कर ले तो क्या आश्चर्य है । यहाँ मणियो की माला जपने की बात कही है क्या यह मणियो की माला आडम्बर और खर्चीली नही है यदि नही है तो हम पञ्चामृत अभिषेक को भी आडम्बर क्यों कहते है । ●

अरहंत प्रतिमा का अभिषेक जैनधर्म सम्मत है

जैनधर्म मे अरहंत प्रतिमा का अभिषेक तब से है जब मे जैनधर्म है । यदि जैनधर्म अनादि है तो अरहत प्रतिमा का अभिषेक भी अनादि काल से ही है । परन्तु कुछ लोग इस तथ्य को स्वीकार न कर अपनी पडिताई के आधार पर जिसका अभिप्राय इतना ही है कि हम भी कोई नई बात निकालें । आज अरहत प्रतिमा के अभिषेक का निषेध कर रहे है । इस निषेध मे उनकी दलील भी बडी अजीबोगरीब ह । उनका कहना है कि प्रतिमा पर रजकण लग जाना स्वाभाविक है अत उसकी स्वच्छता के लिये प्रक्षाल करना श्रावक के स्तवन वंदन का ही प्रथम कार्य बना दिया गया । रजकण तो साक्षात् साधु परमेष्ठी के शरीर पर भी लग जाती बल्कि पसीने को लेकर वे शरीर का मैल बनकर जम भी जाती है तब क्या साधु के शरीर का भी प्रक्षाल कर देना चाहिए यदि कहा जाय कि प्रतिमा पर पानी डालने की बात तो बाद मे चल पडी है पहले तो उसे वस्त्र से ही झाड दिया जाता था । इस पर हमारा कहना है कि यदि वस्त्र से प्रतिमा का मैल हटाया जा सकता है तो अकलक ने साधारण सा धागा डालकर प्रतिमा को सरागी हो सकती है तो अनेक धागो के समूह वाले वस्त्र से प्रतिमा तो और भी सरागी हो जाएगी । ऐसी स्थिति मे प्रतिमा का वस्त्र से पोछना भी उपयुक्त नही बैठता । तब तो यो कहना चाहिए कि प्रतिमा का न प्रक्षाल किया जाय न उसे पोछा जाय मात्र उसे काँच के अन्दर बन्द करके रख देना चाहिए । जहाँ तक स्तुति वन्दना करने की बात है आखिर वह भी क्यो करना चाहिए ?

एक ओर तो इन लोगो का कहना है कि जगत् का प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतन्त्र है प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता जैन दर्शन की अपनी मूल भूत विशेषता है और दूसरी ओर कहा है प्रारम्भिक अवस्था मे पच परमेष्ठी की स्तुति वन्दन करना मुनि और श्रावक का आवश्यक कर्त्तव्य है । आखिर पच परमेष्ठी और उनकी मूर्ति भी पर पदार्थ ही है उनकी स्तुति वदना आदि भक्ति रूप परिणामो से भक्त का आत्म कल्याण हो सकता है तो मूर्ति के अभिषेक प्रक्षाल आदि से भक्त का कल्याण क्यो नही हो सकता ? इसमे शास्त्र विरुद्धता क्या है इसकी दलील सामने आनी चाहिए ।

प्रक्षाल का उद्देश्य प्रतिमा पर लगे हुये रजकणों का हटाना है इसका आगम प्रमाण भी इन पण्डितो को पेश करना चाहिए । बिना आगम प्रमाण के अपनी इच्छानुसार कुछ भी लिख देना मात्र जिह्वा की कसरत है सार कुछ भी नही है जबकि अभिषेक के प्रमाण अभिषेक की विधि, अभिषेक मे बोले जाने वाले मंत्र विविध ग्रन्थो मे मौजूद है ।

इन पण्डितों ने कुछ प्राचीन ग्रन्थों के नाम भी पेश किए हैं और लिखा है कि इन ग्रन्थों में पंचामृत अभिषेक का वर्णन नहीं मिलता वे ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

१. चारित्र पाहुड कुन्दकुन्द कृत २. तत्त्वार्थसूत्र उमास्वामी कृत ३. रत्नकरण्डश्रावकाचार समन्तभद्र कृत ४ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि। हम पूछते है कि इन ग्रन्थों में पचामृताभिषेक का वर्णन नही मिलता इसलिये प्राचीनकाल मे पंचामृताभिषेक नही होता था तो कोई दूसरा यह भी कह सकता है कि इन प्राचीन ग्रन्थों में कही पानी छानने की बात नही लिखी गई इसलिए प्राचीनकाल मे पानी छानने की प्रथा नही थी। तीसरा कह सकता है कि इनमे कही-कहीं पूजा शब्द का प्रयोग तो किया है पर आठ द्रव्यो के नाम और उनके चढाने की बात नही लिखी इसलिये अष्ट द्रव्य से पूजा की प्रथा पहले नही थी बाद मे चली है। कोई भी लेखक जो अपनी रचना बनाता है उसके मूल में उसके अपने कुछ उसूल कुछ सामयिक परिस्थितियाँ होती हैं उन्ही मे वह अपनी रचना ढालता है अतः हर रचनाकार से अपने मान्य अभीष्ट तत्त्वो के उल्लेख की आशा करना अज्ञानता है।

अभिषेक विरोधियो का कहना है कि सबसे पहला आ० जिनसेन ने विक्रम सं० ७६० मे महापुराण ग्रथ मे पचामृताभिषेक का वर्णन किया तथा विक्रम सं० ७३४ के आचार्य रविषेण ने अपने पद्म पुराण में पचामृतअभिषेक का वर्णन किया है। लेकिन यह वर्णन कथा प्रसङ्ग मे किया है श्रावकाचार के प्रसङ्ग मे नही। अतः ८वी शताब्दी से पहले पचामृताभिषेक नही था। इसके उत्तर मे हमारा कहना है कि आचार्य जिनसेन लेखक के लिए प्रामाणिक आचार्य हैं या नही यदि है तो उनके कथन को प्रमाण मानकर पचामृताभिषेक का मान्य करना चाहिए यदि वे अप्रामाणिक हैं तो तर्क दीजिए कि वे अप्रामाणिक क्यो है। रही कथा प्रसङ्ग में लिखने की बात इससे तो उल्टा हमारा यह कथन सिद्ध होता है कि प्रतिमा के अभिषेक की बात आज की नही अनादिकालीन है क्योकि वे कथाएं चतुर्थ कालीन है और चतुर्थ काल असख्यात वर्षों का रहा है। यदि लेखक उन कथाओ को ही झूठा समझते हैं तब फिर हमे कहना होगा कि वास्तविक जैनधर्म ही नही है या वह झूठा है। फिर तो आदिपुराण मे जो आदिनाथ भगवान् की कथा है वह भी झूठ ही होना चाहिए क्योकि उसके पहले उसका कोई मूल स्रोत नही है।

अभिषेक का निषेध करने वाले इन पण्डितों की दो ही दलील मुख्य है एक तो यह है कि प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थो मे अभिषेक की चर्चा नही है तथा जिन ग्रन्थो मे अभिषेक की चर्चा पायी जाती है वे उनके मत में या तो प्रामाणिक आचार्य नही हैं अथवा यह समय का प्रभाव था जिससे जैनाचार्य प्रभावित हुए और उन्होने देखादेखी अभिषेक आदि की प्रथा चला दी। अपनी इन्ही युक्तियो के आधार पर वे चदन चर्चा, नैवेद्य पुष्प आदि चढाने का निषेध करते और उसे सनातन धर्म की नकल मानते है। इसी तरह वर्ण व्यवस्था जाति पात लोप आदि के विषय मे भी उनकी यही दलीले होती है। लेकिन इससे वास्तविकता का खण्डन नही होता दूसरा भी कह सकता है कि जैनो की वर्ण व्यवस्था की नकल सनातन धर्मियो ने की है जैसाकि आर्य समाज के विद्वान कहा करते है कि वैदिक धर्म मे मूर्ति पूजा का होना जैनो की नकल है अर्थात् जैनो से ही यह मूर्ति पूजा वैष्णवो मे आई है पहले नही थी। अतः किसने किसकी नकल की है इसके लिए हमे ठोस ऐतिहासिक प्रमाण ढूँढ़ने होगे। कौन सम्प्रदाय पहले था कौन बाद मे हुआ।

अभी तक इन पण्डितो को यह भी पता नही है कि प्रक्षाल का क्या अर्थ है और अभिषेक का क्या अर्थ है। इन दानो को वे एकार्थक समझते है जबकि दोनो के प्रयोग में जमीन आसमान का अन्तर है। जैन शास्त्रो मे तो अभिषेक के बिना प्रतिमा पूजा नही बताई है। इसलिए अभिषेक करना पूजा का अग है। इतना ही नही बल्कि इससे अशुभ कर्मों की असख्यात उसी प्रति समय निर्जरा भी होती है। यदि पूजा करना भक्ति का प्रारूप है तो अभिषेक भी उसी तरह भक्ति का प्रारूप है यदि अभिषेक उचित नही है तब तो द्रव्य पूजा भी उचित नही। ●

प्रतिष्ठा विधि आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है

तर्क—अरिहंत प्रतिमाओं के दर्शन से उनके वीतराग स्वरूप का स्मरण होकर प्रेरणा तभी मिल सकती है जब हम दर्शन करने से पूर्व उनके गुणो को जानते हो ।

उत्तर—सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे शास्त्रकारो ने दो कारण बतलाये है अन्तरंग और बहिरग । अन्तरंग कारण तो दर्शन मोह का उपशम क्षय क्षयोपशम है और बहिरग कारणो मे तिर्यंच तथा मनुष्यों के लिये जिन बिम्ब दर्शन भी कारण बताया है । जिन तिर्यंचो को जिन बिम्ब दर्शन से सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया क्या वे जिन बिम्ब दर्शन के पूर्व जिनेन्द्र भगवान के गुणो को जानते थे । यदि जानते थे तब सम्यग्दर्शन क्यो नही हुआ ? और यदि नही जानते थे तो जिन बिम्ब दर्शन से पूर्व भगवान् के गुणो का जानना अनिवार्य नही रहा ।

दूसरी बात यह है कि भगवान् के दर्शन के पूर्व कितने गुणों का जानना अनिवार्य है ? यो तो भगवान् मे अनन्त गुण है फिर भी "कहावत के छियालीस गुण गभीर" के अनुसार ४६ गुण तो उनके हैं ही क्या वे सभी गुण जानना चाहिये या उनमें से एक दो और एक साधारण तिर्यच को कितने गुणो का जानना अनिवार्य है । शास्त्र के अनुसार एक उलूक पक्षी जो सज्ञी, पर्याप्तक, पचेन्द्रिय है जागरूक है उसमे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता है क्या उसे भिन्न-भिन्न दर्शन से पूर्व भगवान् के सभी गुणो का ज्ञान होना चाहिये ? आखिर गुणज्ञता की मात्रा कितनी क्या है यह स्पष्ट होना चाहिये ।

तर्क—प्रतिमा के दर्शन का आशय प्रतिमा को देख लेना मात्र नही है प्रत्युत उनके गुणो का चिंतवन है और रोज-रोज प्रतिमा दर्शन का यह उद्देश्य है कि उनसे हमारे रागद्वेष के सस्कार टूटे ।

उत्तर—गुणो का चिन्तवन तो बिना प्रतिमा दर्शन के भी हो सकता है पर गुणो के चिन्तवन के साथ यदि गुणी का साक्षात्कार हो जाता है तो उस गुण चिन्तवन मे चार चाँद लग जाते है अर्थात् विशेष अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है और शुभ कर्मों मे अनुभाग बढ़ता है । लोक मे भी देखा जाता है कि हम अपने मृत माता-पिता को समय-समय पर याद करते रहते है और यदि वे कभी स्वप्न मे हमे दिखाई दे जाते है तो उसमें हमे विशेष आह्लाद और प्रेरणा मिलती है । जीवित पिता का पुत्र पिता का गुणगान तो सर्वत्र करता रहता है पर पिता की सूरत निकट मे रहते हुये भी कभी नही देखता क्या इससे पुत्र का कर्तव्य पिता के प्रति पूरा हो जाता है ? अत सपूत तो वह है जो पिता के गुणगान भी करे और चरण स्पर्श भी करे और यदि गुणगान न करना जानता है तो पिता के पैर तो स्पर्श करे । किन्तु पैर कभी नही छूता और गुणगान करता है वह तो कपूत पुत्र है ।

दूसरी बात यह है कि जो मन्दिर में प्रतिमा के दर्शन करता है वह णमोकार मत्र, स्तुतिपाठ, विनय-पाठ आदि तो बोलता ही है यही भगवान् का गुण चिन्तवन है अत दर्शन मे गुण चिन्तन तो गर्भित ही है । फिर भी ३-४ वर्ष के बालक को जो गुण चिन्तवन नही कर सकता है क्या उसे मन्दिर नही ले जाना चाहिये । ठीक है आज वह गुण चिन्तन नही करता किन्तु समय आयेगा जब वह गुण चिन्तन भी करने लगेगा ।

जहाँ तक रोज-रोज दर्शन करने की बात है उसका उद्देश्य रागद्वेष के संस्कार से छूटना तो है ही, पर रागद्वेष कदाचित् नही छूटते है तो दर्शन करना बेकार है यह बात नही है । धन्धा या दुकानदारी कमाई के लिये की जाती है यदि किसी कारण कमाई नही होती तो इसके लिये धन्धा या दुकान करना बेकार नही कहा जा सकता । आखिर कमाई करने का मार्ग धन्धा या दुकानदारी ही है । इसी तरह भगवान् के दर्शन या पूजा पाठ से कषाये कम होती है यदि तीव्र अशुभ कर्म के उदय से किसी की कषायें कम नही होती तो दर्शन पूजा पाठ बेकार नही है आखिर कषाय कम करने का मार्ग यही है मात्र दर्शन पूजा करने वालो की आलोचना से कषाय कम नही होती ।

तर्क—लोग तीर्थंकरो को भी ईश्वरवादियो का सा ईश्वर समझते रहते हैं और प्रतिष्ठित प्रतिमाओ के भी दर्शन पूजा करते-करते आयु बीत जाने पर भी आत्मसुधार नही होता ।

उत्तर—ईश्वरवादियो की तरह कोई समझदार जैन भगवान् को नही मानता। ईश्वरवादी तो ईश्वर को कर्ता ही मानते है पर जैनाचार्यो ने कर्ता न मानकर भी भक्ति के रूप मे भगवान् की जो स्तुति की है उससे अनाडियो को कर्तावाद की गन्ध आती है । भक्ति मे और सिद्धान्त मे अन्तर है । सिद्धान्त तो वस्तु का यथार्थ लेखा-जोखा करते है और भक्ति मे आत्म समर्पण की भावना रहती है । भक्ति स्तुति का ही रूपान्तर है और स्तुति का लक्षण है .—"भूताभूत गुणोद्भावन स्तुति" अर्थात् भूत (वास्तविक) अभूत (अवास्तविक) गुणो का प्रकट करना स्तुति है । स्तुति मे भक्त यही कहता है कि भगवान् आप ही सब कुछ है, आप मुझे संसार से पार कर दे, आपने अजन जैसे पापियो को तार दिया इत्यादि । इसका अभिप्राय यही है कि भगवन् आपकी स्तुति से पुण्य का बन्ध होता है पाप की निर्जरा होती है अत अभ्युदय आदि का मिलना चूँकि आपकी स्तुति पूजा मे हुआ है अत आपने ही हमे यहाँ दिलाया है, स्नेह और शिष्टाचार मे ऐसा कहना गलत नही है । लोक मे भी शिष्टाचार और स्नेहवश इसी प्रकार कहा जाता है । किसी मित्र के घर आने पर कहा जाता है कि आइये भोजन तैयार है खाना खाइये उत्तर मे मित्र कहता है कि जी आपका ही तो खाता हूँ । वहाँ 'आपका खाता हूँ' स्नेह वश ही कहा है अन्तरग मे वह जानता है कि मै इनका नही खाता हूँ । इसी प्रकार भक्त भगवान् मे कहता है कि भगवन् आप ही कर्ताधर्ता है अन्तरग मे भक्त जानता है भगवान् करने नही आते मेरे पुण्य कर्म मे ही होती है । यह कहना कि प्रतिष्ठित प्रतिमाओ की दर्शन पूजा करते-करते आयु बीत जाने पर भी आत्मसुधार नही होता खोटी अक्ल का दिवालियापन है । पहली बात तो यह है कि प्रतिष्ठित प्रतिमा से नही होता तब क्या अप्रतिष्ठित प्रतिमा के दर्शन पूजा से आत्म सुधार हो जाता है ? दूसरी बात यह है कि यह किसने कहा है कि प्रतिमा के दर्शन पूजन से आत्म सुधार हो ही जाता है ? तीसरी बात है आचार्य श्री शान्तिसागरजी से लेकर आज तक जो क्रमशः प्रतिमाधारी, मुनि, आचार्य बने है और बन रहे है क्या उनका यह आत्मसुधार नही है ? क्या इसे प्रतिमा के दर्शन पूजा का फल नही कहेगे । आत्मसुधार तो उनका किसी का भी नही हुआ है जो प्रतिमा के दर्शन पूजन को मिथ्यात्व, पचकल्याणक प्रतिष्ठा को आडम्बर तथा मिथ्यात्व कहते है ।

तर्क—एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मात्र मूर्ति बनाई और द्रोणाचार्य की मान्यता देकर धनुष विद्या की साधना की और अर्जुन से भी अधिक धनुर्धारी बन गया । तब भगवान् की मूर्ति ही बना देना चाहिये प्रतिष्ठा का आडम्बर क्यो ?

उत्तर—द्रोणाचार्य भगवान् की श्रेणी मे न थे वे तो रागीद्वेषी सामान्य व्यक्ति थे जैसा स्वयं एकलव्य था, न द्रोणाचार्य के कोई कल्याणक हुये तब प्रतिष्ठा किस बात की, लोग गधा, घोडे, सिह आदि के खिलौने

रखते हैं उनकी किस बात की प्रतिष्ठा की जाय। यह मात्र कुतर्क है 'मुखमस्तीति वक्तव्यम्' के अनुसार मुख है तो कुछ न कुछ बोलना ही चाहिये अत. एकलव्य का उदाहरण दे दिया।

वास्तव में वह एकलव्य का अपना व्यक्तिगत कार्य था सामाजिक स्तर का नही था। यों भी कोई व्यक्ति किसी बालक को विधि विधान पूर्वक अर्थात् कानून के अनुसार गोद नही लेता मात्र अपने पास रख लेता है और पुत्र मानता है था पुत्र उसे बाप मानता है और कालान्तर में उसे अपनी सारी सम्पत्ति दे देता है तो यह उसका वैधानिक कार्य नही है और कानून के अनुसार वे पिता पुत्र नही कहला सकते हैं। वह पुत्र विधान के अनुसार गोद लिया हुआ पुत्र (दत्तक पुत्र) नही है कोई भी निकट का आनुवंशिक व्यक्ति उस पर दावा कर सकता है और उसकी सम्पत्ति छीन सकता है। इसी प्रकार एकलव्य ने यदि द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर साधना की यह उसी तरह है जैसे आज अनेक व्यक्ति या बच्चे महावीर स्वामी का खिलौना ले आते है और विनती स्तुति भी करते हैं पर सामाजिक स्तर पर उसका कोई मूल्य नही है।

तर्क—मान्यता सामाजिक स्तर पर देना हो तो जैसे आजकल किसी की मूर्ति बनाकर उसका अनावरण समारोह किया जाता है उस प्रकार की कोई विधि काम मे ली जा सकती है।

उत्तर—आज वह या उसी प्रकार की विधि अपनाई जा सकती है पर आपकी तरह कोई अनाडी व्यक्ति उस समारोह विधि को भी आडम्बर और अनावश्यक कह सकता है तब फिर उस विधि मे भी सशोधन करना होगा। अर्थात् अनावरण समारोह न करके यो ही खिलौना बना कर रख लेना चाहिये फिर कोई इस पर भी एतराज करेगा और कहेगा कि खिलौने की भी क्या आवश्यकता है उसे बनवाओ और टूट जाय तो फालतू पैसे बर्बाद हो इससे तो अच्छा है कि यो ही कोई सडक से पत्थर या ईंट उठा लाओ और उसे ही भगवान् का रूप दे दो क्योकि शास्त्रों मे भी अतदाकार स्थापना को भी स्थापना कहा है लोक व्यवहार से भी शतरज की गोटियो मे अनेक आकारो की कल्पना की जाती है। इस प्रकार क्षोद क्षेभ और कुतर्कों का तो कही अन्त ही नही है।

तर्क—राजवार्तिक आदि मे कही नही बताया है कि स्थापना निक्षेप के लिये स्थापनीय पदार्थ की अमुक विधि से प्रतिष्ठा होनी चाहिये।

उत्तर—राजवार्तिक ग्रन्थ जीवादि तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ है न कि प्रतिष्ठा शास्त्र है, प्रत्येक शास्त्र अपने-अपने विषय की प्रधानता को लेकर लिखे जाते है न कि एक ही शास्त्र मे सब बाते सब प्रकार की लिखी जाती हैं। आज एक कहता है कि राजवार्तिक मे प्रतिष्ठा की विधि नही है इसलिये प्रतिष्ठा करना उचित नही कल को दूसरा कहेगा कि राजवार्तिक मे श्रावक की ११ प्रतिमाओ का विधान नही है अत: प्रतिमा पालन शास्त्रोक्त विधि नहीं है इस तरह क्या राजवार्तिक आदि ने द्वादशाग के सारे विषयो के वर्णन का ठेका लिया है ? अमुक ग्रन्थ मे अमुक बात नही है इसलिये हम उसे नही मानते यह तो कूपमण्डूक अज्ञानियों का तर्क है।

तर्क—"नोटो की प्रामाणिकता की तरह ही खिलौना और प्रतिष्ठित मूर्ति मे अन्तर है" यह भी कुतर्क है क्योकि प्रतिष्ठित मूर्ति की नोटो से तुलना ही गलत है। नोटो के द्वारा तो दूसरो से मूल्यवान वस्तुओ का विनिमय किया जाता है परन्तु मूर्ति के द्वारा नही।

उत्तर—इस समझ की बलिहारी है लगता है लेखक को अभी तर्कशास्त्र के क ख का भी ज्ञान नही है यह तो हल्दी की गाँठ पर पंसारी बनने का दावा है। एक नकली नोट है अर्थात् बिलकुल नोट जैसा छपा

हुआ है और १ हजार रुपये का है लेकिन उस नोट को सरकारी मान्यता नही है और एक दूसरा नोट है वह एक हजार का है और उसी तरह छपा हुआ है किन्तु इस पर सरकारी मान्यता है। यह दूसरा नोट आधा तोला शुद्ध सोने से विनिमय किया जा सकता है। लेकिन पहला बिना मान्यता का नोट आधा तोला सोना तो क्या आधा तोला पीतल से भी विनिमय नही किया जा सकता। उसी तरह एक प्रतिष्ठित प्रतिमा है जिसे शास्त्रीय मान्यता है। मान्त्रिक मान्यता है अर्थात् मंत्रों से सुसंस्कृत है उसके दर्शन से उसकी पूजा से हम उसी पुण्य का विनिमय कर सकते हैं जो पुण्य हमे साक्षात् अरिहत के दर्शन और पूजा से प्राप्त होता है। साक्षात् अरहत के दर्शन पूजन से प्राप्त होनेवाले पुण्य के विनिमय के लिये ही तो प्रतिष्ठित प्रतिमा के दर्शन पूजन का विधान है।

पं० आशाधरजी अपने ग्रंथ सागारधर्मामृत में लिखा है :—

"सेयमास्थायिका सोऽयंजिनस्तेऽमी सभासदः"

अर्थात् मन्दिर मे जाकर गृहस्थ यह विचार करे। यह मन्दिर जहाँ मैं आया हूँ वही समवशरण भूमि है। यह (मूर्ति) वही जिनेन्द्र भगवान् है। ये मनुष्य वही समवशरण में बैठने वाले सभासद है।

इस तरह प्रतिष्ठित मूर्ति का विनिमय साक्षात् अरिहन्त की मूर्ति से होता है।

प्रश्न—इस प्रकार का विचार तो हम अप्रतिष्ठित मूर्ति मे भी कर सकते हैं।

उत्तर—आप अप्रतिष्ठित मूर्ति मे विचार कर सकते है पर उसका फल कुछ भी नही है। जिस प्रकार सरकार द्वारा अमान्य एक हजार रुपये के नोट को कोई मूढ़ मान सकता है कि मेरे पास एक हजार रुपये हैं पर उसके मानने का उसे कोई फल नही है। उसी प्रकार अप्रतिष्ठित मूर्ति भी नकली नोट की तरह है। उसको साक्षात् अरहंत के बराबर नही माना जा सकता। जब नही माना जा सकता तब साक्षात् अरहंत की पूजा के समान उसका फल भी नही है।

तर्क—समाज के विद्वानों ने लिखा है कि सौ वर्ष पूजा होते-होते अप्रतिष्ठित मूर्ति भी प्रतिष्ठित मान ली जाती है।

उत्तर—जिसकी सौ वर्ष तक लगातार पूजा होती रही है वह पूजा आदि के मन्त्रो से और पूजको की भावनाओ से मन्त्रित अर्थात् सुसस्कृत हो जाती है। अत. यह तो सिद्ध हुआ कि मन्त्र संस्कार से सस्कृत मूर्ति ही पूज्य होती है। यह बात दूसरी है कि सशक्त मन्त्रो से वह पचकल्याणक विधि के अनुसार तत्काल पूज्य हो जाती है अन्यथा भावनाओ के अनुसार उसके पूज्य होने मे १०० वर्ष लग जाते हैं। यह तो उसी तरह हुआ कि सैकडो हजारो रुपया खर्च करके हवाई जहाज से क्यो सफर किया जाता है यह तो आडम्बर है। पैदल जाना चाहिये भले ही उसमे ४-६ माह का विलम्ब हो जाये। आखिर पैदल चलकर पहुँच तो जाना ही है। इसी तरह पचकल्याणक की धूम-धाम का आडम्बर न करके १०० वर्ष तक पूजा करते-करते उसे प्रतिष्ठित कर लेना चाहिये।

तर्क—विद्वान् महानुभाव जयसेन तथा वसुनदी प्रतिष्ठा पाठ के उद्धरण देते है ये तो क्रमशः नवी और बारहवी शताब्दी के है। यदि वर्तमान प्रतिष्ठा विधि छठी शताब्दी से पहले भी थी तो पाँचवी शताब्दी तक के शास्त्रो के उद्धरण देवें।

उत्तर—इस प्रकार का तर्क तो पाँचवी शताब्दी के लिये भी किया जा सकता है। पाचवी शताब्दी का कोई प्रमाण दिया जाता है तो दूसरा कहेगा हमें तो पहली शताब्दी का प्रमाण दो और पहली शताब्दी का प्रमाण दिया जाता है तो तीसरा कहेगा कि हमें तो पहली शताब्दी से भी ४०० वर्ष पूर्व का प्रमाण चाहिये। ४०० वर्ष पूर्व का प्रमाण दिया गया तो कहा जायगा हमें तो साक्षात् गौतम स्वामी रचित द्वादशाङ्ग

का प्रमाण दीजिये। इस तरह शताब्दियों के आधार पर प्रमाण मानने की परम्परा का तो कभी अन्त ही नही होगा।

तर्क—हम पाचवी शताब्दी का प्रमाण इसलिये मांगते हैं कि छठी या आठवी शताब्दी व मध्यकाल मे जैनशासन में यक्ष-यक्षिणियों व तान्त्रिक युग के प्रभाव से नये देव देवियो की कल्पना की गई।

उत्तर—देवी देवताओ की कल्पना तो छठी शताब्दी ही क्या उसके भी बहुत पहले थी। पहली शताब्दी के आचार्य समन्तभद्र अपने देवागमस्तोत्र की पहली कारिका मे ही लिखते हैं —

"देवागम नभोयान चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्॥"

अर्थ—भगवन्! आपके लिये देवों का आना, चमरो का ढुलना, आकाश मे आपका चलना इत्यादि बातें मायावी (मन्त्रवादियों) में भी देखी जाती हैं। अतः इन अतिशयो मे वे हमारे लिये महान् नही है।

इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र के जमाने मे भी ये देवी देवता प्रचलित थे। इनकी मान्यताएँ थी। अत पाँचवी शताब्दी क्या पहली शताब्दी के ग्रन्थो की प्रामाणिकता भी नही मानना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि अगर कोई बात बहुत प्राचीन ग्रन्थो मे नही मिलती है किन्तु उसके बाद मिलती है तो इसका मतलब यह नही है कि पहले वह प्रथा नही थी बाद मे चालू हुई है। यदि ऐसा है तब तो बहुत सिद्धान्त ऐसे हैं जो प्राचीन ग्रन्थो मे नही मिलते। उदाहरण के लिए पानी छानने का सिद्धान्त अर्वाचीन श्रावकाचारों मे ही देखने को मिलता है। रत्नकरण्डश्रावकाचार आदि मे नही है तब क्या पानी छानने की प्रथा को भी अप्रामाणिक मान लिया जाय। लेखक को चैलेज है कि वह समन्तभद्र, कुन्दकुन्द, उमास्वामी आदि के ग्रन्थो मे पानी छान कर पीने के सिद्धान्त को बतावें। लेखक के कथनानुसार यदि ग्यारह अंग चौदह पूर्व शास्त्र कुन्द कुन्दाचार्य के पहले हो लुप्त हो गये थे तब तो न केवल प्रतिष्ठा विधि और पानी छानने की विधि अप्रामाणिक होगी। बाद के सारे ही जैन शास्त्र अप्रामाणिक हो जायगे क्योकि वे सभी ग्रन्थ द्वादशाङ्ग के लुप्त होने के बाद ही रचे गये है।

तर्क—प्रतिष्ठा शब्द तो मात्र स्थापना निक्षेप व मान्यता देने के आशय को प्रकट करता है।

उत्तर—यह ठीक है एक शब्द के अनेक पर्याय वाची शब्द होते हैं फिर भी उन एक हो अर्थ के पर्याय वाची शब्दो के अनेक अर्थ होते हैं। इन्द्र, शक्र, पुरन्दर ये तीनो ही एक हो इन्द्र रूप वस्तु के पर्याय वाची शब्द है। फिर भी इन तीनो शब्दो के तीन अर्थ है एक अर्थ नही है। इन्दति इति इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यवान होने के अपेक्षा इन्द्र है। शकनात् शक्र अर्थात् सामर्थ्यवान होने से वह शक्र है इन्द्र नही है। पुरान् दारण नीति पुरन्दर अर्थात् नगरों का विदारण करता है इसलिए वह पुरन्दर है इन्द्र या श . नही है। इसी प्रकार स्थापना और प्रतिष्ठा यह दोनो एकार्थक होकर भी अलग-अलग है। स्थापना का अर्थ है निक्षेप कर लेना, मान लेना, रख देना और प्रतिष्ठा का अर्थ है पूज्यता ला देना, आदर सम्मान युक्त करना। लोक मे भी कहा जाता है कि अमुक आदमी की बहुत प्रतिष्ठा है अर्थात् वह आदमी बहुत आदरणीय है। यह प्रतिष्ठित आदमी है अर्थात् बहुत आदरणीय है। लेकिन इसकी जगह यह कह दिया जाय इस आद ी की बहुत स्थापना है या यह आदमी बहुत स्थापित है तो उसका कोई अर्थ नही। इसलिए स्थापना शब्द से प्रतिष्ठा का बोध नही होता। अतः प्रतिष्ठा शब्द से मात्र स्थापना निक्षेप या मान्यता शब्द का बोध नही होता।

तर्क—प्रतिमाओ मे अतिशय चमत्कार तो वे ही पैदा करना चाहते है कि जो उनमे राग द्वेष से मुक्ति के लिए प्रेरणा लेने के बजाय अपनी सासारिक कामनाओ की पूर्ति करना चाहते है।

उत्तर—यह धारणा भी सर्वथा मिथ्या है यदि प्रतिमा की प्रतिष्ठा अतिशय चमत्कार पैदा करने के लिए की जाती है तो फिर कोई यो भी कह सकता है कि तीर्थंकर भगवान् तपश्चरण इसलिए करते है जिससे

उनमे ३४ अतिशय पैदा हो जायें और लोग तथा देवता उनका जय जयकार करने लगे। पर बात ऐसी नही है वे तो निरीह होकर तपश्चरण करते है अतिशय तो स्वतः अपने आप उत्पन्न होते है। इसी तरह मूर्ति की प्रतिष्ठा तो इसलिये की जाती है कि उनमे अरिहन्त और सिद्ध की प्रतिष्ठा लाई जा सके अर्थात् अरहंत सिद्ध जैसी पूज्यता लाई जा सके बाकी चमत्कार अतिशय तो अपने आप पैदा होते है और वे अतिशय प्रतिमा के साथ भक्त के भावो पर भी निर्भर हैं। प्रतिष्ठित प्रतिमा हो और भक्त की भक्ति भी सातिशय हो तो चमत्कार पैदा होते है। अगर दोनो मे एक की भी कमी है तो चमत्कार नही होते। ●

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में जिनबिम्ब प्रतिष्ठा

दिगम्बर जैन समाज मे जिनबिम्ब प्रतिष्ठा का कार्य आधुनिक युगो से नही प्रत्युत बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। आत्मकल्याण की भावना से इसकी आवश्यकता भी है। समीचीन श्रद्धान और परिणामो की स्थिरता के लिए प्राथमिक अवस्था मे आलम्बन की आवश्यकता होती है और वह आलम्बन देव, शास्त्र, गुरु का ही हो सकता है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन की उपलब्धि मे देशनालब्धि को आगम मे अनिवार्य बताया गया है। यह ठीक है कि सम्यग्दर्शन निसर्गज और अधिगमज दोनो ही प्रकार का होता है। परन्तु निसर्गज सम्यग्दर्शन सादि सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से ही है। अनादि मिथ्यादृष्टि को निसर्गज सम्यग्दर्शन हो ही नही सकता। उसके लिये धर्मोपदेश का आलम्बन लेना अनिवार्य ही है। यह धर्मोपदेश भगवान् जिनेन्द्र की वाणी है इस जिनेन्द्र की वाणी (शास्त्र) मे देव और गुरु का भी अन्तर्भाव होता है। प० आशाधर जी ने अध्याय २ श्लोक ४४ मे स्पष्ट लिखा है—

"ये यजन्ते श्रुत भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्।
न किंचिदन्तर प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयो'॥

अर्थ—जो भक्ति पूर्वक शास्त्र की पूजा करते है वे निश्चित रूप से भगवान् जिनेन्द्र की ही पूजा करते हैं क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् ने देव और शास्त्र मे कोई अन्तर नही बताया है।

इससे स्पष्ट है कि शास्त्र का श्रवण जिनेन्द्र का ही दर्शन है। यो भी हम अपने धार्मिक विधि विधान मे जहाँ प्रतिमा के विराजमान की आवश्यकता होती है तब वहाँ हम शास्त्र को विराजमान करके अपना काम चला लेते हैं, इसकी वही भावना काम करती है जिसका उल्लेख पं० आशाधर जी ने अपने श्लोक मे किया है।

आज के युग मे साक्षात् देव उपलब्धि नही है और न साक्षात् उनकी वाणी ही कर्णगोचर है ऐसी स्थिति मे देव की प्रतिमा ही हमारे कल्याण का अवलम्बन हो सकती है। अतः भगवान् जिनेन्द्र की प्रतिमा की उसी तरह आवश्यकता है जिस तरह साक्षात् जिनेन्द्र की आवश्यकता है। इसीलिये गृहस्थ को मन्दिर मूर्ति के आलम्बन की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए मूर्तियो का निर्माण और उनकी प्रतिष्ठा की आवश्यकता रहती है। अप्रतिष्ठित मूर्ति पूज्य नही होती वह तो मात्र खिलौना या स्टेच्यू है। कुछ लोग कहते है कि मूर्ति पूजा के लिये पच कल्याणक प्रतिष्ठा का क्यो आडम्बर किया जाता है जो अत्यधिक व्यय साध्य है तथा जिससे व्यर्थ ही लोगों का समय बरबाद होता है। लेकिन वे यह भूल जाते है कि प्रतिष्ठा के प्राणमात्र पाँच कल्याणको का अभिनय नही किन्तु समय-समय पर बोले जाने वाले वे मंत्र हैं जिनकी यात्रिक शक्ति मे ये मूर्तियाँ सस्कारित की जाती है इनमे सूरि मत्र सबसे अधिक शक्तिशाली है। कहा जा सकता है कि फिर तो मत्र ही पढ़ लेने चाहिए गर्भ जन्म आदि का अभिनय क्यो किया जाता है इसका उत्तर यह है कि जिस कार्य के लिए यान्त्रिक शक्ति का उपयोग किया जाता है उसके अनुसार ही बाह्य वातावरण भी तैयार किया जाना चाहिए। मन्त्रशास्त्रियों का कहना है कि जिस कार्य के लिए मंत्र जपा जाता है उसके लिए मुद्रा, आसन, वस्त्र आदि भी उसी के अनुसार होना चाहिये।" मन्त्र जपने वाला यदि मुद्रा आसन

आदि का ध्यान नही रखता तो उसका फल भी उसे अनुकूल नही मिलता। विवाह आदि संस्कारों में सप्तपदी तथा कन्यादान का संकल्प ही प्रधान होता है फिर भी उसमे देव द्विज (पच) अग्नि का आमन्त्रण किया जाता है, वर यात्रा भी होती है, गाजे बाजे भी बजते हैं।

इसी प्रकार प्रतिष्ठाओ मे भी वे सब क्रियाये की जाती हैं जो साक्षात् भगवान् के समय मे इन्द्र आदि करते हैं। इस तरह जिनबिम्ब प्रतिष्ठा नि सन्देह हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नही है किन्तु आजकल जो प्रतिष्ठाएँ की जाती हैं उसका जो रूप है उससे अवश्य ही चित्त में खेद उत्पन्न होता है। इन प्रतिष्ठाओ का अन्तरग रूप अधिक से अधिक धन सचय का रहता है इसलिए बात-बात पर बोलियाँ बोली जाती है। चन्दा इकट्ठा करना बुरा नही है पर कब किसके लिए क्यो चन्दा करना चाहिए इसका भी कोई रूप निर्धारित होना चाहिए।

उदाहरण के लिए भगवान् के माता पिता बनने के लिए भी बोलियाँ लगाई जाती हैं। अधिक से अधिक पैसा देने वाला फिर भले हो उसका आचरण कैसा भी हो भगवान् का पिता बना देना उचित नही। जब हम उससे यह आशा करते है कि भगवान का पिता बनने के बाद उसे पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए और पिता बनने से पहले वह पूर्ण ब्रह्मचर्याणुव्रती या स्वदारसतोषी अतीत जीवन मे रहा है। केवल पैसे को आधार बनाकर भगवान् का माता पिता बन जाना या बना देना उचित नही है। पितृत्व की नीलामी करना कुछ अच्छी बात नही लगती। प्राचीन काल मे आज की अपेक्षा पचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ जब तब ही हुआ करती थी जब कि आज एक वर्ष मे दर्जनो पचकल्याणक प्रतिष्ठाएं हो जाती है कारण स्पष्ट है पहले पचायत मे किसी एक धर्मात्मा व्यक्ति के प्रतिष्ठा कराने के विचार होते थे। वह एक व्यक्ति सरपच को आवेदन करता था सरपच फिर पचायत को आमन्त्रित करते थे और आवेदन की प्रार्थना वह पचायत मे रखता था। पच लोग आवेदक के व्यक्तित्व को परख कर उसकी सराहना करते थे और पंचकल्याणक की स्वीकृति देते थे। उस पचकल्याणक मे उस आवेदक का ही पैसा खर्च होता था, और उसे ही भगवान् के माता-पिता बनने का सौभाग्य प्राप्त होता था।

आज वह प्रक्रिया नही है। धर्मायतनों के निर्माण की जब पचायतो को आवश्यकता होती है तब उसका भार एक व्यक्ति पर रहने से पचायत को अतिरिक्त आमदनी नही होती। अत अतिरिक्त आमदनी करने के लिए चदे चिट्ठे का प्रयत्न किया जाता है उस समय माता पिता का ही नही बल्कि आहार दान का अधिकार भी चदे के बल पर दिया जाता है। भगवान् को झुलाने का चन्दा, फूल बरसाने का चन्दा, राज दरबार में बैठने का चन्दा, भगवान् के रथ मे बैठने का चन्दा, भगवान् के अभिषेक का चन्दा इस प्रकार न जाने कितने कार्यों के लिए कितना बार चन्दा किया जाता है। इस चन्दे से पचकल्याणक प्रतिष्ठा की समीक्षा के बाद बहुत सा रुपया बच रहता है जिसमे समाज के अन्य उपयोगी कार्य होते है। इस प्रकार रुपया एकत्र करने की अभिलाषा ही आज की पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओ का आधार है। कही कही तो इन चन्दो के कारण शास्त्र प्रवचन आदि के लिए भी विद्वानो का उपयुक्त समय नही मिलता। हम चन्दा चिट्ठा करने के विरोध मे नही है। परन्तु चन्दे का औचित्य कहाँ है कहाँ नही है इसका विवेक रखना अत्यावश्यक है। इस चन्दे की भूख से आचार-विचार की भूख नहो दबानी चाहिए। भगवान् के माता पिता की नीलामी मत करिये प्रत्युत किसी सदाचारी या व्रती गृहस्थो को बिना किसी बोली के माता पिता बनाना चाहिए। वह अपनी इच्छा से जो द्रव्य अर्पण करें उससे ही सतोष करना चाहिये। जिन बिम्ब प्रतिष्ठा एक उच्चतम विधि विधान है जिससे मात्रिक शक्तियो का उपयोग होता है। उसमे द्रव्य शुद्धि और भाव शुद्धि दोनो ही होना चाहिए। अत. अर्थ सग्रह को ही प्रधानता नही देना चाहिए। अरिहत जैसी महान् आत्मा के प्रतीक जिन बिम्ब की प्रतिष्ठा के लिए उस महान् आत्मा के अनुरूप ही हमें आचारवान व्यक्तियो को आधार बनाना चाहिए जिससे पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का गौरव बढें। ●

प्रतिष्ठाओं से सांस्कृतिक अभ्युत्थान

मनुष्य मे जहाँ वैषयिक इच्छाएँ नैसर्गिक हैं वहाँ धार्मिक भावनाएँ भी प्राकृतिक होती है। यह बात दूसरी है कि वैषयिक इच्छाओ का कोटा अत्यधिक हो और धार्मिक भावनाओ का कम। उर्दू मे एक शेर पढ़ा जाता है।

दुनियाँ के जर्रे जर्रे मे उल्फत की लाग है। पत्थर के जिगर में भी मोहब्बत की आग है।

स्पष्ट है कि हृदय पत्थर का रखकर भी मनुष्य कभी कभी दया और स्नेह से पिघल ही जाता है यह सब प्राकृतिक धार्मिक भावनाओ का ही फल है। आत्मा अनेक प्रकार औपाधिक सस्कारो से आवृत है उनमे उसकी धार्मिक भावनाएँ उसी तरह अभिभूत रहती है जिस तरह मेघाच्छन्न आकाश मे सूर्य की किरणें। एक बार जब बादल घिरते है तो मालूम पडता है अँधेरा हो गया है लेकिन वह अँधेरा रात के अन्धकार से पृथक होता है। यह पृथक्त्व अदृश्य सूर्य के अस्तित्व का ही फल है। ये ही बादल जब चलते फिरते कभी छितरे हो जाते है तो सूर्य की एक क्षीण प्रकाश रेखा कुछ क्षण के लिये प्रस्फुटित हो जाती है और पुन. बादलो के घिराव से वह अदृश्य हो जाती है। यही आत्मा की दशा है। वैषयिक इच्छाएँ सदा इसे ढके रहती है फिर भी इसकी धार्मिक भावनाएँ अदृश्य सूय की तरह दबी हुई रहती है और जब ये इच्छा० विरल होती है तो धार्मिक भावनाए प्रकाश की क्षीण रेखा की तरह प्रस्फुटित हो जाती है उसी के फलस्वरूप मनुष्य मे दया, दान, पूजा प्रतिष्ठा के भाव उद्भूत होते है। अत इन धार्मिक अनुष्ठानो को मात्र प्रदर्शन नही कहा जा सकता। प्रदर्शन जैसी यदि कोई वस्तु हमे प्रतीत होती तो वह भक्ति की प्रचुरता ही कही जा सकती है जो अनुष्ठान कराने वाले व्यक्ति के लिये अस्वाभाविक नही है।

अब प्रश्न यह ह कि जनसाधारण को इससे क्या मिलता है। इसका उत्तर यह है कि नित्य और नैमित्तिक अनुष्ठान दोनो की अपनी-अपनी उपयोगिताए पृथक् पृथक् है। नित्य अनुष्ठान हमारी धार्मिक अभिरुचि को कायम रखते है और नैमित्तिक अनुष्ठान हममे विशेष धर्मरुचि उत्पन्न करते है। स्थानीय दैनिक देवदर्शन की अपेक्षा तीर्थों पर देवदर्शन विशेष धर्मरुचि और पुण्यप्रद होता है इसी प्रकार दैनिक पूजा पाठ की अपेक्षा प्रतिष्ठा आदि के अवसर हमे महान् पुण्य सपादन का अवसर प्रदान करते है। इसलिये जन साधारण जो इन प्रतिष्ठाओ मे भाग लेता है उसमे भी एक विशेष धार्मिक अभिरुचि उत्पन्न होती है, नई पीढ़ी उसमे धार्मिक प्रेरणा लेती है।

लेकिन हमे इतने पर से ही सन्तोष नही कर लेना चाहिए। धार्मिक अभिरुचि के साथ-साथ सदाचार और सस्कृति के अभ्युत्थान का भी प्रयत्न करना चाहिए। हमारे प्रतिष्ठाचार्य कहते है कि तीर्थंकर के माता-पिता बनने वालों को आजन्म ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए। ठीक है हम इसका समर्थन करते है लेकिन साथ ही जो तीर्थंकर के पंच कल्याणक देखते है उन्हे कम से कम आजीवन रात्रि मे भोजन का त्याग करना ही चाहिए। सागारधर्मामृत में लिखा है :—

यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधी' जिनधर्मं श्रुतेर्योग्य' स्यात्कृतोपनयो द्विजः।

इसका अर्थ है कि वही बुद्धिमान जैनधर्म सुनने का पात्र है जो महापापों को जीवन पर्यंत छोड दे। अत: क्यों न इस प्रकार के प्रयत्न किये जाँय कि पाँच पापो के परित्याग को अष्ट मूलगुणो के अन्तर्गत मानकर उसका इन प्रतिष्ठाओं के अवसर पर प्रचार किया जाय। यदि इसकी सफलता मे फिलहाल सन्देह हो तो रात्रिभोजन त्याग के अन्तर्गत सब प्रकार के अन्न का परित्याग कराया जाय। इस सम्बन्ध में योजनाबद्ध प्रचार की आवश्यकता है।

पाँच दिन मे पाँच कल्याणक समाप्त होते हैं। प्रत्येक कल्याणक के दिन कार्यक्रम को देखने के लिये अपार जन समुदाय मण्डप मे बैठता है और बैठने वाला मच के पास ही स्थान ग्रहण करना चाहता है। इसका लाभ इस प्रकार उठाया जा सकता है कुछ मुद्रित प्रतिज्ञा पत्रो पर रात्रिभोजनत्याग के प्रतिज्ञाएँ कराई जाँय और उन पर हस्ताक्षर करने वाले को जिस नम्बर का प्रतिज्ञा पत्र है उस नम्बर का एक प्लास्टिक का फूल दिया जाय। उस फूल को देखकर उन्हे सबसे आगे की श्रेणी मे दाएँ-बाएँ स्थान दिया जाय और उनके बीच मे व्रती तथा प्रतिमाधारियो को जगह दी जाय। समाज मे यदि कोई धनीमानी या विद्वान् है तो उन्हें भी तब तक अग्रिम श्रेणी मे न बैठने दिया जाय जब तक वे उस प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर कर प्लास्टिक का फूल न ले ले। मुद्रित प्रतिज्ञा पत्रो पर प्रतिज्ञा लेने वाले का पूरा पता लिखा जाना चाहिये। जिससे प्रतिष्ठा के बाद भी समय-समय पर उन्हे अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए स्मृति पत्र भेजे जा सके।

यह एक साधारण सी रूप-रेखा है। इस काम को करने वाली सस्था और कोई उपाय भी काम मे ला सकती है। लेकिन इस प्रकार हम इन प्रतिष्ठाओ से सदाचार और सस्कृति प्रचार का बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। न कुछ करने म अधिवेशन और प्रस्ताव करना ठीक है पर उनसे कोई ठोस प्रचार नही होता और न वे अब पहले जैसे आकर्षण की चीज रहे हैं। अत इन प्रतिष्ठाओ से जन-जीवन को निरुत्साहित करने की अपेक्षा इनसे लाभ उठाना ही अधिक बुद्धिमानी है।

पूजा क्यों और किसलिए

शका—सासारिक सुखो के वास्ते जिनेन्द्र देव की पूजन, णमोकार मत्र का जप करना क्या मिथ्यात्व है ?

समाधान—दिगम्बर जैन समाज मे गृहस्थो को षट्कर्म करने का उपदेश है । उन षट्कर्मों को गृहस्थ जन करते कराते भी हैं परन्तु वे क्यो और किसलिए किये जाते है यह प्राय गृहस्थो की समझ के बाहर रहता है । षट्कर्मों मे देवपूजा, गुरुओं की सेवा, स्वाध्याय, सयम, तप, दान आते है । इसमे यहा हम कुछ देव पूजा के बारे मे विवेचन करेगे । देव पूजा मे देव पूजा और देव दर्शन दोनो ही सम्मिलित है क्योकि पूजा का अर्थ विनय आदर सत्कार आदि होता है, यह विनय आदर सत्कार रूप क्रिया यज्ञ का रूप देकर किया जाय या साधारण रूप मे किया जाय । पूजा के रूप मे दोनो ही सम्मिलित होते हैं । इस पूजा मे मुख्य प्रयोजन भक्ति अन्तर्भूत है । गृहस्थ जो २४ घटे राग-रंग मे रहता है और तीव्र राग ज्वर आदि से सतप्त रहता है उससे बचने के लिए उसे जिनेन्द्र भक्ति मे लगना चाहिये । यह जिनेन्द्र भक्ति सारे दिन तो नही की जा सकती क्योकि गृहस्थ को अर्थोपार्जन आदि अन्य कार्य भी करने होते हैं । इसलिए कम से कम तीन सध्याओ में तो वह अवश्य भक्ति रूप आचरण करे । सोमदेव आचार्य लिखते है—

प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजसेवनेन,
मध्याह्नसन्निधिरय मुनि माननेन ।
सोऽय तनोऽपि समयो मम देव यायात्,
नित्य त्वदा-चरण कीर्तन-कामितेन ।।

अर्थ—हे देव ! प्रात काल का समय मेरा आपके चरण कमलो की सेवा तथा मध्याह्न काल साधुओ की वदना करने मे एव सायकाल आपके गुणो की कीर्तन (आरती) करने मे व्यतीत हो ।

अभिप्राय यह है प्रात काल भगवान् की पूजा करे, मध्याह्न मे यथावकाश गुरु चरण के समीप बैठकर नमस्कार करे और उपदेश सुने तथा सायकाल मन्दिर मे जाकर आरती करे । गुरुओ की वदना के लिए महापुराण मे लिखा है—

दृष्टव्या गुरुवो नित्य प्रष्टव्याश्च हिताहितम् ।
महापूजा च कतव्या, शिष्टानामिष्टमीदृशम् ।।

अर्थात् नित्य ही गुरुओ के दर्शन करे, उनसे अपना हिताहित पूछे उनकी तद्नुरूप पूजा करे यही शिष्ट पुरुषो का इष्ट है ।

इस भक्ति की आवश्यकता के बारे मे पहले लिखा जा चुका है । गृहस्थ प्राय. आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार सज्ञाओ मे अज्ञान के कारण लिप्त रहता है । जैसा कि प० आशाधरजी ने लिखा है—

अनाद्यविद्यादोषोत्थचतु सज्ञाज्वरातुरा: ।
शश्वत् स्वज्ञानविमुखा सागारा विषयोन्मुखा: ।।

अतः उसके आत्म कल्याण का कारण एक भक्ति मार्ग ही हो सकता है। इस भक्ति मार्ग से उसके सातिशय पुण्य का बंध होता है। यह सातिशय पुण्य उत्तरोत्तर इसके विकास का कारण बनता हुआ मोक्ष का कारण बन जाता है।

लेकिन जो लोग यह भक्ति मात्र सांसारिक सुख, धन, वैभव, स्वर्गादिक की प्राप्ति के लिए करते हैं तीव्र रागादि ज्वर की निवृत्ति के लिए नहीं करते हैं। वे प्राय. अज्ञानी होते है जैसाकि पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ की टीका में लिखा है .—

"अयं हि स्थूल लक्ष्यतया केवल भक्ति प्रधानस्या ज्ञानिनो भवति उपरितनभू-मिकाया लब्धा स्पदस्या अस्थान राग निषेधार्थं तीव्ररागज्वर विनोदार्थं क्वचिद् ज्ञानिनाऽपि भवति"।

अर्थात् यह भक्ति स्थूल लक्ष्य होने से केवल भक्ति प्रधान अज्ञानी जीवो के होती है। उपरित भूमिका मे जहाँ भक्ति की प्रधानता नही है वहाँ कदाचित् तीव्र रागादि की निवृत्ति के लिए ज्ञानी के भी होती है। मतलब यह है कि भक्ति का उद्देश्य तीव्र रागादि को हटाने के लिए है न कि ससार सुखो की प्राप्ति के लिए क्योंकि इन संसारिक सुखो की आकाक्षा ही हमारे अन्दर रागद्वेष उत्पन्न करती है। अतः पूजा का उद्देश्य संसार के भोग प्राप्त करना नही है। इस प्रकार की भक्ति जिसमे उत्तरकालीन भोगो की वाञ्छा है, अनुचित है, सम्यग्दृष्टि के अनुरूप नही है। समयसार मे लिखा है। 'धम्म भोग निमित्त' अर्थात् अभव्य मिथ्यादृष्टि धर्माचरण भोगों की प्राप्ति के लिये करता है। यो भी सम्यग्दर्शन के आठ अगो मे दूसरा अग निःकाक्षित अग है, इसके सम्बन्ध मे आचार्य समन्तभद्र लिखते है —

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाक्षणा स्मृता ॥

अर्थ—जो सुख कर्म के अधीन है, विनाशी है, बीच-बीच मे दुःखो का उदय होता रहता है, पाप का बीज है उस संसार सुख मे आस्था नही रखना अर्थात् न चाहना निःकाक्षित अग है। अत जो केवल ससार के सुखो की इच्छा से देव पूजा करते है वे या तो मिथ्यादृष्टि है या सदोष (अनाचार सहित) सम्यग्दृष्टि है। क्योकि सम्यग्दर्शन के पाँच अतीचार मे 'काक्षा' नाम का भी अतीचार है जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र मे लिखा है "शका-काक्षा-विचिकित्सान्यदृष्टिप्रशसासस्तवा सम्यग्दृष्टेरतीचारा।" अत पूजाओ मे भोगो की आकाक्षा करने वाला कम से कम शुद्ध सम्यग्दृष्टि तो नही है। हा यह बात दूसरी है कि वह यदि सकट, दारिद्रचारी अभावो को दूर करने के लिये कभी पूजा करता है तो वह मिथ्यादृष्टि नहीं इसका विवेचन हम आगे करेंगे।

प्रश्न—विवाह करने के पहले तथा बाद मे, दारिद्रय होने पर धन की प्राप्ति के लिये, रोग होने पर स्वस्थ शरीर के लिए विधान पूजन, मंत्र, जाप आदि क्रियायें, राज्य प्राप्ति के लिये दूसरे राजाओ से युद्ध करना अर्थात् चक्रवर्ती पद के लिये षट्खण्ड के राजाओ पर विजय करने के पहले देव शास्त्र गुरु की पूजन आदि क्रियाये चौथा गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि करता है या नही ? इन क्रियाओ के पहले देव शास्त्र पूजा विधान जाप आदि की शास्त्रो आचार्यों की आज्ञा है या नही ?

उत्तर—विवाह एक धार्मिक क्रिया है जो सोलह सस्कारो मे गर्भित है। धार्मिक क्रिया वह इसलिये है कि जब से विवाह प्रथा प्रचलित होती है तभी से मोक्ष के कपाट भी खुलते है। जब और जहा विवाह प्रथा समाप्त हो जाती है तो मोक्ष के कपाट भी बन्द हो जाते है। अवसर्पिणी काल के प्रथम, द्वितीय और तृतीय काल मे एक ही उदर से उत्पन्न स्त्री-पुरुष के सबंध होते हैं विवाह नही होता। अत. वहाँ चतुर्थ गुणस्थान नही है, कोई मोक्ष नही जाता। इसी तरह पाँचवे काल मे विवाह प्रथा विकृत हो जाती है और छठे काल मे

विवाह प्रथा का सर्वथा अभाव हो जाता है। लोग नग्न पशुओं की तरह विचरते हैं, चाहे जो कुछ खाते पीते है। अत' इन दोनों कालों में भी मोक्ष नही होता। इसी प्रकार विवाह मे जो सप्तपदी (सात फेरे) की क्रिया होती है उसका भी प्रयोजन यह है कि विवाह बन्धन मे बँधने वाले वर और कन्या से उत्पन्न होने वाली सन्तान सात परम-स्थानों को प्राप्त करें। ये सात परम स्थान कौन से हैं इस संबंध में महापुराण में लिखा है—

सज्जाति सद्गृहस्थत्व परिव्राज्यं सुरेन्द्र मा
साम्राज्य पदमार्हन्त्य निर्वाण ....

अर्थात् शुद्ध जाति (सकरता से रहित), सद् गृहस्थपना, मुनि दीक्षा, इन्द्र पद, चक्रवर्ती पद; तीर्थंकर पद, निर्वाण (मोक्ष) ये सात परम स्थान हैं। इनकी प्राप्ति के लिये प्रतीक स्वरूप वर-वधू को सात फेरे कराये जाते है।

धार्मिक प्रथा होने के कारण ही यन्त्र या प्रतिमा की स्थापना कर उनकी साक्षी से पूजा हवन पूर्वक यह विवाह किया जाता है। क्योकि विवाह के लक्षण मे आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है :—

"देवद्विजाग्निसाक्षिपूर्वक कन्यादान विवाहः।"
अर्थात् देव (अर्हंत प्रतिमा) द्विज (पञ्चलोग)॥

अग्नि (जिसमे होम किया जाता है) की साक्षी पूर्वक कन्या का दान करना विवाह है। पत्नी को जो धर्मपत्नी कहा जाता है वह इसीलिए कि उसे धर्म के लिए धर्म की साक्षी से धर्म पूर्वक ग्रहण करके लिया जाता है। अत' जो धर्म का काम है उसमे आगे पीछे कभी भी पूजा वगैरह की जा सकती है और की जानी चाहिये उसमे कोई मिथ्यात्व नही है। विवाह के भी उत्तम अधम भेद है। अपहरण आदि करके जो सत्-कन्या को लाकर विवाह किया जाता है वह अधम विवाह है और जो माता पिता की इच्छानुसार बिना किसी जोर जबर्दस्ती के विवाह किया जाता है वह उत्तम विवाह है। फिर भी विधि विधान दोनो ही में किए जाते हैं। अतः विवाह प्रथा धर्म से सम्बन्धित है इसलिए उसमें पूजा आदि करना मिथ्यात्व नही है। चार पुरुषार्थों मे काम भी एक पुरुषार्थ है। पुरुष अर्थात् आत्मा, अर्थ अर्थात् प्रयोजन। आत्मा के लिए जो प्रयोजन भूत है वह पुरुषार्थ है। विवाह उपर्युक्त कथन के कारण आत्मा के लिए प्रयोजन भूत है।

जैनागम में चार पुरुषार्थों का उल्लेख है जिनके नाम इस प्रकार है —

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। जहाँ धर्म और मोक्ष को पुरुषार्थ कह कर उसे आत्मा के लिए प्रयोजन भूत वस्तु बताया है वहीं अर्थ और काम को भी आत्मा के लिये प्रयोजन भूत बताने के लिये पुरुषार्थ कहा है। यद्यपि अर्थ और काम दोनो पशुओ मे भी पाये जाते है पर उन्हे पुरुषार्थ नही कहा जा सकता क्योकि पशुओ के अर्थ और काम के मूल मे धर्म नही है। जो धर्म को आधार बना कर काम एवं अर्थ का सेवन किया जाता है तभी वे अर्थ और काम पुरुषार्थ (आत्मा के लिए प्रयोजन भूत) कहे जा सकते हैं। अर्थ और काम को धर्म एवं मोक्ष के बीच मे रक्खा ही इसलिए है कि मूल मे धर्म हो और धर्म का उद्देश्य मोक्ष हो। तभी अर्थ और काम पुरुषार्थ कहला सकते हैं यदि मूल मे धर्म नही है और धर्म का उद्देश्य आत्मा का हित (हितस्वरूप) मोक्ष नही है तो अर्थ और काम का सेवन मात्र पशु जीवन है। इसीलिये सागारधर्मामृत मे गृहस्थधर्म का अधिकारी कौन गृहस्थ होता है उसके लिये लिखा है कि वह न्याय से धन कमाने वाला हो, गुरुओं की पूजा करने वाला हो, तीन पुरुषार्थों का परस्पर अविरुद्ध सेवन करने वाला हो, आहारादि उसका शुद्ध हो, इत्यादि अनेक बाते लिखी हैं इस सबका अर्थ यह है कि धर्मपूर्वक अर्थ काम का सेवन करने वाला होना चाहिये। अतः विवाह भी काम पुरुषार्थ से सम्बन्धित है जो आत्मा के लिए प्रयोजन भूत है। इसका

अर्थ यह नही है कि जो विवाह नही करते वे आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि नही करते हैं । प्रयोजन इतना ही है धर्म विवाह भी आत्मा के प्रयोजन भूत कार्यों मे एक कार्य है । पं० आशाधर जी लिखते है—

सत्कन्या ददता दत्तः सत्रिवर्गो गृहाश्रमः ।
गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्यकटसहतिम् ॥ अ० २ ॥५९॥

जिसने प्रशस्त कुलीन कन्या सहधर्मी को प्रदान की है उसने त्रिवर्ग सहित पूर्ण गृहस्थाश्रम ही प्रदान किया है । क्योंकि गृहस्थाश्रम का मूल त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम है क्योंकि कुल पत्नी को ही घर कहा है दीवाल, बाँस आदि के समुदाय घर नहीं कहलाते ।

इससे स्पष्ट है कि धर्म विधि से सुयोग्य कन्या का दान करने से गृहस्थ के धर्म, अर्थ, काम भी सभी कुछ सिद्ध होते हैं । अतः विवाह निःसन्देह धर्म कार्य है ।

आगे चल कर पुनः आशाधर जी लिखते हैं—

धर्मसन्ततिमक्लिष्टा रतिं वृत्तकुलोन्नतिम् ।
देवादिसत्कृतिं चेच्छन्सत्कन्या यत्नतो वहेत् ॥

जो गृहस्थ यह चाहता है कि धर्म की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहे, रतिकर्म भय शङ्का, विपत्ति, कलेश आदि से रहित हो, चारित्र तथा वंश की उन्नति हो, देव द्विज अतिथि बन्धु आदि का सत्कार यथायोग्य हो सके तो उसे सुयोग्य कन्या से विवाह करना चाहिये ।

इस श्लोक मे भी विवाह को धर्म परम्परा तथा चारित्रादि की उन्नति का कारण बताया है । अत. सिद्ध होता है कि यह धार्मिक प्रथा है, धर्म के लिये है क्योंकि इससे सतोषादि व्रतो के पालने में सहायता मिलती है इसलिये यह विवाह प्रक्रिया सोलह सस्कारो मे एक धार्मिक सस्कार है अतः इसमे पूजन आदि करना मिथ्यात्व कदापि नही है ।

इसी प्रकार दरिद्रता होने पर धन की प्राप्ति के लिये पूजा पाठ करना भी मिथ्यात्व नहो है । क्योंकि धन का अर्जन भी अर्थ पुरुषार्थ है जो किसी अवस्था विशेष मे आत्मा के लिये प्रयोजन भूत है । कहावत है कि साधु धन रक्खे तो कोडी का और गृहस्थ के पास धन न हो तो कौडी का । दरिद्रता से चित्त कुण्ठित रहता है, गृहस्थ धर्म का निर्वाह बिना धन के नही होता । जिसके पास स्वयं खाने को अन्न नही है वह आहारदान आदि कैसे देगा, पूजा के लिये सामग्री कहाँ से लायेगा, मदिर निर्माण आदि कैसे होगे । अतः दरिद्रता को संकट मान कर इसकी निवृत्ति के लिए यदि गृहस्थ पूजा प्रार्थना करता है तो वह मिथ्यात्व नही है । मिथ्यात्व तो वहाँ है जहाँ दरिद्रता आदि किसी प्रकार का कोई सकट नही है फिर भी विषय वासनाओ के पोषण के लिये, मौज मजा उडाने के लिये जो पूजा पाठ का सहारा लिया जाता है । इसलिये दरिद्रता को दूर करने के लिये पूजा विधान आदि का सहारा लेना अनुचित नही है ।

इसी तरह पुत्र न होने पर पुत्र प्राप्ति के लिये भी पूजा करना मिथ्यात्व नही है । क्योंकि सत्कुल परम्परा एव धर्माचरण परम्परा का कायम रखने के लिये पुत्र का होना आवश्यक है अत. उसके लिये सम्यग्दृष्टि पूजा कर सकता है ।

रोग होने पर शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा के लिये विधान पूजन मन्त्र जाप आदि सम्यग्दृष्टि के अनुचित नही है मन्त्र-जाप के लिये स्वयं भक्तामरस्तोत्र मे ही एक पद्य है जिसका प्रथम चरण "उद्भूत भीषण जलोदरभार भुग्नाः""""इत्यादि । रोग भी एक संकट है, यदि शरीर रोग ग्रस्त है तो इस शरीर से

धर्म नहीं किया जा सकता, इस सम्बन्ध में नीति प्रयोग भी है 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनं' अर्थात् धर्म का पहला साधन शरीर है अर्थात् सम्पत्ति विभूति, अधिकार आदि सब कुछ मौजूद रहने पर भी यदि शरीर की स्थिति ठीक नही है तो धर्म कहां से होगा । इसलिये स्वास्थ्य प्राप्ति के लिये भी पूजा विधान आदि करना समुचित है ।

राज्य प्राप्ति के लिये दूसरे राजाओं से युद्ध करना अर्थात् चक्रवर्ती पद के लिये छ खण्ड के राजाओं पर विजय प्राप्त करने के पहले देव शास्त्र गुरु की पूजा करने मे कोई अनौचित्य नही है। चक्रवर्ती के विशिष्ट पुण्य कर्म के उदय से जब चक्ररत्न उत्पन्न होता है तब उसका अर्थ यही है कि उसे साम्राज्य पद अधिग्रहण करने के लिये प्रकृति की ओर से संकेत है अतः उस साम्राज्य प्राप्ति के लिये वह प्रयत्न करता है लेकिन उस प्रयत्न में जब कोई बाधक बनकर सामने आता है तो चक्रवर्ती उस बाधा को हटाने का प्रयत्न करता है । उदाहरण के लिये यदि सरकार की तरफ से किसी को एक बहुत बडा भूभाग देने की घोषणा की जाती है तो उस घोषणा के अनुसार जिसको भूमि दी गई है वह व्यक्ति उस भूमि को अधिग्रहण करे और यदि कोई उसमे बाधक बनकर आता है तो बाधा को जैसे बने वैसे हटाकर अपनी भूमि पर कब्जा करे इस प्रयत्न से सम्यग्दर्शन मे कोई कमी नही आती । इस प्रकार किसी व्यक्ति के भाग्योदय से उसके नाम लाटरी निकली तो उस व्यक्ति को अधिकार है वह लाटरी का रुपया अपने अधिकार मे ले । किसी के रोड़ा अटकाने पर वह उस रोडा अटकाने वाले से युद्धादि भी कर सकता है । भरत चक्रवर्ती ने यदि बाहुबली पर चक्र चलाया तो इससे भरत का सम्यग्दर्शन चला गया ऐसा कुछ नियम नही था । स्वय शान्ति, कुंथ, अरनाथ तीर्थङ्करो ने भी चक्ररत्न के उत्पन्न होने पर दिग्विजय की थी तब क्या उनको भी मिथ्यादृष्टि कहा जा सकता है । यह बात दूसरी है कि कोई चक्रवर्ती मिथ्यादृष्टि भी हो जैसे सुभौम ब्रह्मदत्त आदि पर वे दिग्विजय करने से मिथ्यादृष्टि नही हुये, वे तो स्वभावतः मिथ्यादृष्टि हो थे । इसी प्रकार अन्यत्र जानना चाहिये ।

सम्यग्दृष्टि का तो इतना ही अभिप्राय है कि वह परमार्थ स्वरूप आप्त, आगम, गुरु का श्रद्धानी (दृढ़ भक्त) होना चाहिये जहाँ तक हिंसा करने न करने का प्रश्न है उस सम्बन्ध में तो शास्त्रो की आज्ञा यह है कि सम्यग्दृष्टि सकल्पी हिंसा का त्यागी अवश्य होना चाहिये अन्य आरभी, उद्योगी एवं विरोधी हिंसा का वह त्यागी नही है । चक्रवर्ती का युद्ध विरोधी हिंसा मे गर्भित होता है जिसका वह त्यागी नही होता । वैसे हिंसा अहिंसा का फल द्रव्य के साथ भावो के अनुसार भी होता है । युद्ध बेहद हिंसा का कार्य है पर एक युद्ध तो रक्षात्मक युद्ध है दूसरा युक्त आक्रामणात्मक होता है । उदाहरण के लिये एक तपस्वी मुनि को मारने और उसकी रक्षा करने के उद्देश्य से सिह और जगली सूअर परस्पर लड मरे । सिंह मुनि महाराज को मारना चाहता था और सूअर मुनि की रक्षा करना चाहता था । अतः अपने-अपने भावों के अनुसार सिंह मरकर नरक गया और सूअर मरकर देव हुआ । हिंसा का कार्य दोनो का एक सा था । पूजा विधान जप आदि मे यही अन्तर है, कोई णमोकार मन्त्र को जपता हुआ भावना करे कि पड़ोसी के घर में आग लग जाय, दूसरा णमोकार मन्त्र जाप करता हुआ भावना करे कि पडोसी के घर की आग बुझ जाय तो पहले णमोकार के जाप का फल भावों के पाप का बंध है और दूसरे णमोकार मन्त्र के जाप का फल पुण्य का बंध है यही बात पूजा विधानादि की है धर्माचरण के प्रयोजन से किसी संकट-टालने के लिये पूजा करना उचित है किन्तु मौज-मजा आदि अधर्माचरण के प्रयोजन से पूजा पाठ करना अनुचित है ।

●

शासन देवता

जैन शास्त्रों में शासन देवताओं की चर्चा है। ये शासन देवता जैन शासन के भक्त होते हैं और जैन शासन की समय-समय पर रक्षा करते हैं। इतना ही नही बल्कि जैनधर्म की प्रभावना के साथ-साथ धार्मिक व्यक्तियो की भी संकट के समय रक्षा करते है। इन देवताओ में पद्मावती और क्षेत्रपाल आदि अधिक प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में प्रायः सर्वत्र ही जैन मन्दिरों मे इनकी मूर्तियाँ होती थी और भक्त लोग इन्हे भी पूजा अंशदान देकर प्रसन्न रखते थे। लेकिन भक्तों ने भगवान् और शासन देवताओ को कभी समान आसन और सम्मान नही दिया। भगवान् को १८ दोषों से रहित, वीतराग और शासन प्रणेता के रूप में देखा तथा पद्मावती आदि देवताओ को १८ दोषो से सहित, सराग और शासन के रक्षक रूप मे देखा। पूजा भगवान् की की तो थोडा सा अंशदान इन्हे भी दे दिया गया इतना ही इनकी पूजा का मतलब था। हमे कोई ऐसा शास्त्रीय प्रमाण नही मिला जहाँ भगवान् की उपेक्षा कर शासन देवताओ को प्रधानता दी गई हो और न कोई बुद्धिमान उनकी प्रधानता का समर्थन ही कर सकता है।

कुछ लोग इन शासन देवताओं की निन्दा मे यहाँ तक कह बैठते है कि ये शासन देवता मिथ्यादृष्टि है। जो लोग पढे लिखे नही हैं वे किसी से सुन सुनाकर यह बात कहे तो आश्चर्य नही है परन्तु जो अपने को शास्त्रों का पारंगत मानते है वे ऐसी बात लिखते है तो आश्चर्य होता है।

पद्मावती देवी की ख्याति और प्रसिद्धि सर्वत्र है। जैन शासन की रक्षा और सेवा के उनके उदाहरण शास्त्रो में भरे पडे हैं। भगवान् पार्श्वनाथ पर जब उपसर्ग हुआ तो धरणेन्द्र सहित पद्मावतो ने ही उस उपसर्ग का निवारण किया। न्याय शास्त्र के महान् आचार्य पात्र केसरी को जब हेतु के लक्षण मे शका हुई तो पद्मावती ने ही उस शका का समाधान किया। हेतु के लक्षण त्रैरूप्य का खण्डन करने के लिये पद्मावती ने यह श्लोक लिखकर पात्र केसरी का समाधान किया :—

अन्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥

न्याय शास्त्र को जानने वाले इस श्लोक का अर्थ जानते हैं अत. उसके दुहराने की आवश्यकता नही। जैन न्याय शास्त्र मे यह श्लोक हेतु के प्रतिपादन में अपने ढंग का पूर्ण अकाट्य और अनुपम है। नि सन्देह आचार्य पात्र केसरी को इस श्लोक से बडी प्रसन्नता हुई होगी। वादिराज सूरि ने भी अपने न्यायविनिश्चय में इसका समर्थनात्मक उल्लेख किया है। प्रमाण के लिये यहाँ हम पद्मावती की प्रशसा का उदाहरण देते है :—

'महिमा पात्र केसरि गुरोः पर भवति यस्य भक्त्यासीन्।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षणं केदर्थनं कर्तुम्॥

अर्थ—यह पात्र केसरी गुरु की ही महिमा थी जिनको जिन भक्ति से पद्मावती ने त्रैरूप्य हेतु का खण्डन करने के लिये उनकी सहायता की।

इसके अतिरिक्त विक्रम को सातवी शताब्दी मे जब अकलंक का बौद्धों से शास्त्रार्थ हुआ था तब बौद्धों ने तारादेवी को घट में स्थापन कर अकलक से कई दिन तक शास्त्रार्थ चलाया था। उस समय पद्मावती देवी की सहायता पाकर ही अकलक ने घडे को लात मारकर फोड़ा और तारादेवी भाग गई। इस प्रकार न जाने कितने उदाहरण पद्मावती द्वारा जिन शासन की रक्षार्थ हैं। इस तरह जिन शासन की सेवा करने वाली यह देवी भी अगर मिथ्यादृष्टि है तो कौन सा ऐसा सुरखाब का पर लगाने वाला व्यक्ति है जो अपने आपको सम्यग्दृष्टि कह सकता है। सम्यग्दृष्टि की बाह्य शर्त तो यही है कि वह सच्चे देव शास्त्र गुरु को अङ्गीकार करे। अतरग का तो केवली ही साक्षात्कार करते है। और इस कसौटी पर तो आज का बडे से बडा सन्त साधु मिथ्यादृष्टि सिद्ध किया जा सकता है शासन देवताओ को कोसने वाले पण्डित तो बेचारे किस गिनती मे है। मिथ्यादृष्टि भी हो और इतनी तत्परता से स्वेच्छा से जैन शासन की रक्षा भी करे ये दोनो बातें एक साथ नही चल सकती।

पद्मावती देवी को मिथ्यादृष्टि कहने वाले लोगो ने आज तक कोई ऐसा शास्त्रीय उद्धरण उपस्थित नही किया जिसमें उक्त देवी को मिथ्यादृष्टि बताया गया हो।

कुछ लोग कहते है कि आशाधरजी के एक श्लोक प्रमाण के आधार पर वे मिथ्यादृष्टि है। यहाँ हम उस श्लोक पर विचार करते है। श्लोक इस प्रकार है :—

श्रावकेणापि पितरौ गुरुराजाप्यसयताः।
कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वंद्या. सोऽपिसंयते ॥

अर्थ इस प्रकार है श्रावक को असयमी माता-पिता गुरु राजा की वन्दना नही करना चाहिए तथ कुदेवी और कुदेव हो तो वे भी सयमी के द्वारा वन्दना करने योग्य नही है।

यहाँ कुदेव का अर्थ प० आशाधर जी ने रुद्रादिक और शासन देवता किया है। लेकिन कुदेव से अभिप्राय उनका मिथ्यादृष्टि से नही है। सच्चा देव तो वीतरागी सर्वज्ञ और हितोपदेशी होता है और जो इससे विपरीत है फिर भी जिसकी देव सज्ञा है वह कुदेव है लेकिन जो सर्वज्ञ वीतरागी न हो वह मिथ्यादृष्टि ही हो यह नियम नही बनाया जा सकता।

दूसरी युक्ति यह है कि श्लोक मे यदि कुदेव का अर्थ मिथ्यादृष्टि होता तो संयमी के द्वारा वदनीय नही है। यह पद नही देते। क्योकि मिथ्यादृष्टि तो संयमी असयमी किसी के द्वारा वंदनीय नही है। हाँ संयमी को असयमी की वन्दना नही करना चाहिए। चूँकि शासन देवता असयमी होते है अतः सयमी उन्हें वन्दना न करे इतना ही उसका अभिप्राय है न कि शासन देवता मिथ्यादृष्टि होते हैं।

जिस श्रावक को असयमी माता पिता गुरु राजा को नमस्कार करना निषिद्ध बतलाया है वहाँ श्रावक का मतलब प्रतिमाधारी सयमी श्रावक से ही है। यह प्रतिमाधारी सयमी श्रावक नैष्ठिक श्रावक कहलाता है। पाक्षिक श्रावक जो असयमी श्रावक है वह तो असयमी माता-पिता गुरु राजा और शासन देवता सबको नमस्कार कर सकता है उसके लिये कही निषेध नही है। अत. उक्त श्लोक का भावार्थ यही है कि सयमी पुरुष किसी असंयमी की वन्दना नही करे फिर वह असयमी भले ही माता-पिता हो, राजा हो या शासन देवता हो। इसमे मिथ्यादृष्टि के वन्दना न करने की बात नही है क्योंकि मिथ्यादृष्टि तो सयमी असंयमी सभी के लिये वन्दना न करने के योग्य है। किन्तु शासन देवता को इसमे मिथ्यादृष्टि कही नही कहा है।

आचार्य समन्तभद्र ने पहली प्रतिमावाले को "पञ्च गुरु चरण शरणः" कहा है भला यह क्यो ? पंच गुरु तो प्रतिमाधारी गैर प्रतिमाधारी सभी के लिये शरण हैं। तब इसका सीधा अर्थ यह है कि पहली प्रतिमावाला

नैष्ठिक श्रावक है वह पंच परमेष्ठी के सिवाय किसी असंयमी की वन्दना न करे। न पाक्षिक श्रावक भी करे। और यही अभिप्राय परमेष्ठी पदैक धीः, कहने में आशाधरजी का है। इसका यह अर्थ निकालना कि शासन देवता की कोई वन्दना न करे स्थूलबुद्धि का ही परिणाम हो सकता है।

"बेचारे शासन देवता तो स्वयं संसार समुद्र में डूबे हुये हैं वे किसी को क्या शरण दे सकते हैं"।

लौकिक कामना तो संसारी जीवों के साथ है। और धार्मिक कामनाओं से लौकिक कामनाओं मे ही सबका समय अधिक जाता है। कोई शासन देवताओ की खुशामद करके अपनी कामना पूरा करना चाहता है तो दूसरा मनुष्य रूपधारी देश के शासन देवताओ की अपनी खुशामद से प्रसन्न कर अपनी लौकिक कामना पूरा करना चाहता है। फर्क इतना है कि शासन देवताओ की पूजा करने वाले थोडे ही है और देश के शासन देवताओं की पूजा करने वाले अधिक हैं क्योंकि शासन देवताओ का फल तो परोक्ष है और इन देश के शासन देवताओं का फल प्रत्यक्ष है पर शासन देवताओ की पूजा मे इनके सम्यक्त्व और श्रद्धा को ठेस पहुँचती है और इन देश के शासक मिनिस्टर देवताओकी पूजा में इनका सम्यक्त्व पुष्ट होता है और श्रद्धा मे चार चाँद लगते हैं। बलिहारी है इसे कलिकाल की और इस कलिकाल के मेहमान उन पण्डितो की जो मुँह देखकर सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है शास्त्र देखकर नही।

यह कलिकाल है

कलिकाल का चित्रण प्राय सभी जैन अजैन भारतीय साहित्य में विद्यमान है। जैन शास्त्रो में प्रत्येक एक हजार वर्ष बाद कल्कि राजाओ के होने का उल्लेख है और लिखा है कि अन्तिम कल्कि राजा दिगम्बर मुनियो से भी टैक्स मांगेगा और न हो तो कम से कम दिगम्बर मुनि को पहला ग्रास टैक्स के रूप मे देना होगा। यहाँ पहले ग्रास का मतलब है पहले ग्रास का जो भी मूल्य होगा वह दि० मुनि से वसूल किया जायगा। इसी कलिकाल के प्रभाव से और भी विकृतियो का उल्लेख किया गया है। सनातन धर्म में तो त्रेता, द्वापर, सतयुग और कलियुग कह कर एक युग का नाम ही कलियुग के नाम से पुकारा गया है। इसीलिए कलियुग के प्रभाव से आज भी ऐसे लोग विद्यमान हैं जो प्रत्येक धर्म सगत बात का धर्मात्माओ का विरोध व अनादर करते हैं, भले ही वे स्वयं और उनका सम्बन्धित समुदाय भ्रष्ट हो पर धर्म और धर्मायतनो की ऊलजलूल आलोचना करना उनका अपना स्वभाव बन गया है पर वे भी क्या करें आखिर कलियुग का प्रभाव जो है।

भगवान् महावीर के जैन शासन का अपवाद हुआ वह भी कलियुग की ही कृपा है। यह जैन शासन का अपवाद ही है कि उसमे पथ, गण, गच्छ हो गये, अनेक गोपुच्छक, नि:पिच्छक द्रविड, यापनीयो आदि जैनाभासों का संघ यहाँ उत्पन्न हो गया। इस कलियुग के बढते हुए प्रभाव के कारण ही आज कपडे पहनने वाले त्याग के शत्रु लोग दिगम्बर मुनि सद्गुरु, तीर्थङ्कर, भगवान्, भगवती बन गए और वैसे ही उनके अन्ध भक्त अनुयायी भी उन्हें मिल गए जो धर्म और ईमान बेचकर उनकी हाँ में हाँ मिलाने लगे। यही लोग हैं जो आज इन कुगुरुओ को सम्मान देते है और दि० जैन मुनियो को कोसते हैं। जैन शास्त्रो मे चार प्रकार के आश्रम बताये हैं, ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, भिक्षुक आश्रम। इनमें ब्रह्मचर्याश्रम विद्यार्थी अवस्था है, गृहस्थाश्रम विवाहित जीवन है, वानप्रस्थ आश्रम प्रतिमारूप उदासीन आश्रम है, भिक्षुक आश्रम मुनि जीवन है। ये चारो आश्रम अनादिकाल से है ओर इनमें अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार व्रतादि पालन का विधान है। लेकिन चारो प्रकार के आश्रमो को स्वीकार करने वाले सभी प्राणी सब तरह से उत्कृष्ट रूप से ही अपनी-अपनी आश्रमवृत्ति का पालन करते हों, ऐसा नही है।

अपनी शारीरिक योग्यता, क्षेत्र और काल आदि से भी व्रतादि के परिपालन मे अन्तर रहता है। वज्र-वृषभनाराच सहनन वाला जिस कठोर आत्म नियन्त्रण के साथ व्रतो का पालन कर सकता है उतना वज्रनाराच और नाराच संहनन वाला नही और उक्त संहनन वाले जिस कठोरता से व्रत पालन कर सकते हैं उतना अर्द्ध नाराच कीलक और असप्राप्तसृपाटिका संहनन वाले नही। इतना अन्तर होता हुआ भी सभी अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार पूर्ण व्रती हैं। किसी को यह नही कहा जा सकता कि अमुक संहनन वाला भ्रष्ट है और अमुक संहनन वाला ही साधु है। इसी तरह एक ही संहनन के धारी दो व्रती व्यक्तियो में भी चारित्र की न्यूनता और अधिकता हो सकती है फिर भी भ्रष्ट या व्रतहीन किसी को नही कहा जा सकता।

यदि ऐसा न हो तो शास्त्रो में मुनियों के दो भेद मिलते हैं, एक जिन कल्पी साधु, दूसरा स्थविरकल्पी साधु। जिनकल्पी साधु वह है जो साधु चर्या मे जिन भगवान् से कुछ ही कम है, अर्थात् जिनकल्पी साधु के

विहार करते हुए यदि पैर में कोई शूल चुभ गया हो तो वह उसे अपने हाथ से निकालेगा नही वहीं खडा रहेगा कोई दूसरा निकाल दे तो मना नही करेगा इत्यादि अन्य भी कठोरतायें वर्णित हैं। स्थविर कल्पी साधु वह होता है जो स्थविर (वृद्ध) से कुछ ही कम होता है। अर्थात् वृद्ध उठते-बैठते चलने में कुछ कमजोरी महसूस करता है अपने को नियन्त्रित नहीं कर पाता इसी प्रकार यह साधु भी उत्कृष्ट संयमी की तरह अपने आपको नियंत्रित नही कर पाता। उदाहरण के लिए उत्कृष्ट मुनि वन में ही निवास करते हैं पर वह स्थविर कल्पी साधु वन में नहीं मन्दिर में या किसी मठ में अथवा शून्य घर में ठहरता है जैसा कि लिखा है—

"स्थीयेत जिनागार ग्रामादिसु विशेषत "

अर्थात् जिन मन्दिर और ग्रामादिक में इस साधु को ठहरना चाहिए।

आजकल के सब ही मुनि स्थविर कल्पी हैं क्योकि उनका सहनन भी वैसा ही (असप्राप्तिसृपाटिका) है। यह संहननों का ही प्रभाव है कि छठे असंप्राप्त सृपाटिका संहनन वाला जीव कठोर से कठोर भी तप करे तो अधिक से अधिक आठवें स्वर्ग तक जा सकेगा, कीलक नाराच सहनन वाला जीव यदि कठोर तपश्चरण करे तो बारहवें स्वर्ग तक ही जा सकेगा। अर्द्धनाराच संहनन वाला जीव घोर तपश्चरण करके सोलहवे स्वर्ग तक ही जा सकता है, नाराच सहनन वाला जीव अपनी उत्कृष्ट तपश्चर्या के द्वारा नवग्रैवेयको मे जा सकता है, वज्रनाराच सहनन वाला जीव और भी अधिक उत्कृष्ट तप से नव अनुदिशो मे जा सकता है, वज्रवृषभनाराच-संहनन वाला जीव पाँच अनुत्तर विमानो मे एव मोक्ष तक जा सकता है। इस तरह तपश्चर्या मे तरतमता होते हुए भी मुनित्व से गिरा हुआ, इनमे कोई जीव नही है। आज शास्त्रों मे जो मुनियो का वर्णन मिलता है वह उन उत्कृष्ट वज्रवृषभनाराच सहनन वाले मुनियो का मिलता है जिनकी तुलना मे आज का मुनि कुछ भी नही है। हम सप्त ऋषियो की पूजाओ मे पढ़ते हैं—

जय शीत काल चौपट मझार,
के नदी सरोवर तट मंझार।
जय निवसत ध्यानारूढ़ होय,
रचक नहि मटकत रोम कोय।
जय मृतकासन वज्रासनीय,
गोदूहन इत्यादिक गनीय।
जय आसन नानाभाँति धार,
उपसर्ग संहित ममता निवार।

इन छंदो में सप्त ऋषियों की कठोर तपश्चर्याओ का वर्णन है। अर्थात् ये सातो ऋषि शीत ऋतु मे सब तरफ से खुले हुए चौपट स्थान मे खडे होकर ध्यान करते थे, उस अवस्था मे उनका रोम भी चल विचल नही होता था। ये मुनि मृतकासन, वज्रासन, गोदूहण आदि भाँति-भाँति के आसन मार कर ध्यान करते थे और सब प्रकार के उपसर्गों को सहन करते थे। शरीर से उनकी किसी प्रकार की कोई ममता नही थी।

शास्त्र पूजा आदि में इन उत्कृष्ट तपस्याओ का वर्णन पढ़ कर प्रायः अज्ञानी जीव यह सोचा करता है कि आजकल के मुनियों मे तो इस तपस्या का लेशमात्र भी नही है। ये कैसे मुनि है ? ये तो मुनि नही हैं, मुनी वेषी हैं इस तरह कल्पना कर मुनियों पर नाना प्रकार के लाञ्छन लगाते हैं। उन्हें यह पता नही कि वह सब जिन कल्पी मुनियों का वर्णन है जब कि आजकल के मुनि स्थविर कल्पी हैं। ये उन तपस्याओं को कर नहीं

सकते इतना ही नही बल्कि शास्त्रों में उन्हें इसके लिये आदेश भी नही है। जीवों की पृथक्-पृथक् शक्ति और पृथक्-पृथक् द्रव्यादि चतुष्टय देखकर ही शास्त्रों मे मुनियो की चर्या का विधान है। उदाहरण के लिए भगवान् आदिनाथ ने दीक्षा के साथ ही छः मास के उपवास का नियम भी लिया था और भगवान् बाहुबली ने दीक्षा के साथ ही एक वर्ष के कायोत्सर्ग का नियम भी लिया था। ये इससे अधिक समय का भी ले सकते थे लेकिन शास्त्रों में इससे अधिक उपवास और कायोत्सर्ग के नियम का आदेश नही है। इसी तरह आज का स्थविर कल्पी मुनि कोई शीतकाल में चौपट मे बैठ जाय और घोर ग्रीष्मकाल मे तपती शिलाओं पर बैठ जाय तो कौन रोक सकता है पर शास्त्र मे उन्हे ऐसा करने की आज्ञा नही है। यदि शास्त्रों में दुहरे छन्ने से पानी छानने की आज्ञा हो और कोई श्रावक 'अधिकस्य अधिकं फलं' मान कर तिहरे छन्ने से छान कर पानी पीने लगे तो इससे वह उत्कृष्ट श्रावक नही हो जाता। अतः मुनिचर्या मे तरतमता होने पर भी यह नही कहा जा सकता कि अमुक मुनि ही सच्चा है अमुक मुनि सच्चा नही है।

यह तरतमता परस्पर जिन कल्पियो मे भी हो सकती है और स्थविर कल्पियो मे भी हो सकती है। फिर भी मुनित्व की दृष्टि से श्रावक के लिए कोई छोटा बडा या सच्चा झूठा मुनि नही है। श्रावक को तो सबकी एक सी ही विनय करनी होगी अन्यथा वह पाप का भागी होगा। क्योंकि जब मूल मे ही दोष है तब तो उनका मुनित्व ही दूषित है। अतः उसे मुनि कैसे माना जा सकता है?

युग का प्रारम्भ

हिन्दू धर्म शास्त्रो में चार युगों को कल्पना की गई है वे चार युग क्रमश: सतयुग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग हैं उनके अनुसार जब सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र हुए तब सतयुग था और जब राजा रामचन्द्र हुए तब त्रेता युग था, नारायण श्रीकृष्ण के समय द्वापर था और जब बुद्ध हुए तब कलियुग था। इन युगों के अतिरिक्त ब्रह्मयुग की भी उवर कल्पना की गई है जो उक्त युगो से अधिक बडा है। जैनो मे भी युगो के आधार पर काल गणना की गई है। वे मूल मे दो है अवसर्पिणी युग और उत्सर्पिणी युग। इनमें से प्रत्येक युग के छ छ भेद है। जब जीवो के आयु कार्य आदि का क्रमश ह्रास होता है तब उसे अवसर्पिणी कहते हैं और जब इनमें वृद्धि होती है तब उसे उत्सर्पिणी युग कहते है। यद्यपि इनकी गणना प्रथम द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पचम और षष्ठ नाम से की जाती है पर इन सख्या नामो के अतिरिक्त इनके सज्ञा नाम भी है जिन्हें क्रम से—सुषमा-सुषमा (१) सुषमा (२) सुषमादु षमा (३) दु:षमा सुषमा (४) दुषमा (५) दु षमा दु:षमा (६) कहा जाता है। जैनो मे आम तौर से इन्हे सुखमा सुखमा आदि शब्दो से व्यवहृत किया जाता है और अर्थ किया जाता है कि जब सुख ही सुख होता है तब पहला सुखमा सुखमा काल होता है। पर वस्तुत वहाँ 'ख' नही 'ष' है। पुराने लोग और अब भी कही कही 'ष' को 'ख' बोलने का रिवाज है। इसीलिए बोल-चाल मे 'ष' को 'ख' मानकर सुखमा का अर्थ सुख कर लिया जाता है। वस्तुत. मूल मे समा शब्द है और व्याकरण की पद्धति के अनुसार वहाँ 'स' को 'ष' हो गया है। समा का अर्थ है वर्ष या काल है और जब 'सु' या 'दु.' लग जाते है तब उसका अच्छा काल या बुरा काल अर्थ हो जाता है, अर्थात् सुषमा सुषमा का अर्थ है बहुत अच्छा समय।

ये अवसर्पिणी उत्सर्पिणी के छहो काल चाहे जब शुरू हो जाते हैं यह बात नही है किन्तु अपने पूर्व का काल समाप्त होने पर ही उत्तर का काल प्रारम्भ होता है और उन सबके प्रारम्भ होने की एक ही तिथि है और वह तिथि है श्रावण कृष्णा प्रतिपद।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को ही भगवान् महावीर को प्रथम देशना हुई थी और उसी दिन से अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान का शासन काल या तीर्थकाल प्रारम्भ हुआ था। दूसरे शब्दो मे यो कहना चाहिए कि युग के आदि दिन हो वर्द्धमान की देशना प्रारम्भ हुई थी।

दश लक्षण पर्व के प्रारम्भ का सम्बन्ध प्रलय काल के अन्त से जोडा जाता है वह भी इसी बात का द्योतक है कि युग का आदि काल श्रावण कृष्णा प्रतिपदा हो है कारण यह है कि जब ४९ दिन की अर्थात् ७ सप्ताह की प्रलय समाप्त होती है तब वह दिन भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी का होता है उसके बाद पचमी से पर्व प्रारंभ होते हैं। ये प्रलय के ४९ दिन श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से शुरू होकर ही पूरे होन है अत. निश्चित है कि अवसर्पिणी के छठे काल की समाप्ति और उत्सर्पिणी के पहले काल का प्रारम्भ इसी श्रावण कृष्णा प्रतिपद से प्रारम्भ होता है। अतः श्रावण कृष्णा प्रतिपदा युग का प्रारम्भ है इसमें सन्देह नही।

इस युग के आदि से महावीर का शासनकाल प्रारम्भ होता है यह शासनकाल उत्सर्पिणी के तृतीय काल में जब श्रेणिक का जीव महापद्म प्रथम तीर्थङ्कर होगा और उनकी प्रथम देशना होगी तब समाप्त होगा और तब उसके बाद महापद्म तीर्थङ्कर का शासन काल प्रारम्भ होगा।

भगवान् महावीर के शासन काल का यदि हम लेखा जोखा करें तो हम देखेंगे कि उसमें दिन प्रतिदिन ह्रास आता जा रहा है। भगवान् महावीर ने तीस वर्ष विहार किया। इन तीस वर्षों मे उनके अनुयायियों की सख्या काफी बढ़ी। महावीर के प्रतिद्वन्द्वियो में दूसरे धर्म प्रचारक भी थे। और महावीर की बढती हुई प्रभुता को देख कर उन्हें इस बात की ईर्षा थी कि वे क्यो नही अपनी ओर जनता को आकर्षित करें। लेकिन महावीर ने तत्कालीन लोगो की जिज्ञासाओ का समाधान और उनको अपने साङ्गोपाङ्ग ज्ञान से जो मोड दिया वह दूसरा धर्म प्रचारक नही कर सका। उन धर्म प्रचारको मे कोई विद्वान् नही था यह बात नही थी पर महावीर की सर्वज्ञता के आगे सब नतमस्तक थे। वैदिक विद्वानो मे इन्द्रभूति से बडा उन दिनों कोई नही था। आत्म गौरव, रोबीला चेहरा, रसनाप्रवर्ती विद्या, प्रतिवादी भयकर आदि इन्द्रभूति सभी कुछ थे। किन्तु जब इस प्रमुख महारथी विद्वान् ने ही महावीर का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया तब दूसरे विद्वानो का निस्तेज और हतप्रभ हो जाना स्वाभाविक था। अत: एक तो इसलिए महावीर के धर्म प्रचार का मार्ग प्रशस्त था दूसरे धर्म प्रचारकों में स्वयं महात्मा बुद्ध थे। ये पार्श्वनाथ की पीढी के जैन साधु थे किन्तु काय क्लेश तप की कठोरता से घबडाकर इन्होंने अपने मार्ग बदल दिये। कठोर तपस्याओ से हीन किन्तु गार्हस्थ प्रवृत्तियो से बिल्कुल पृथक् इन्होने अपना एक मध्यम मार्ग चलाया जो अब बौद्ध धर्म का एक माध्यमिक सम्प्रदाय है। ये बुद्ध भी भगवान् महावीर के खास प्रतिद्वन्द्वियो मे से थे। महात्मा बुद्ध भले ही प्रतिद्वन्द्विता की भावना न रखते हों पर उनके अनुयायी बौद्ध भिक्षु अवश्य प्रतिद्वन्द्विता की भावना रखते थे। महावीर के समय बुद्ध धर्म का अच्छा खासा प्रचार हुआ फिर भी वह महावीर के धर्म प्रचार को चुनौती नही दे सका। इसका कारण यह था कि बुद्ध के पास अत्यन्त परोक्ष पदार्थों की जिज्ञासा का कोई समाधान नही था। जो समाधान की इच्छा से उनके पास आता था उसे वे किसी प्रकार टाल देना उचित समझते थे। महात्मा बुद्ध से लोग जानना चाहते थे कि परलोक है या नही ? वह उत्तर देते थे कि तुम्हे परलोक का क्या करना तुम पहले इस लोक को सुधारने की चेष्टा करो तब परलोक की बात सोचना।

बुद्ध इसका समर्थन यह उदाहरण देकर करते थे, यदि किसी व्यक्ति को बाण आकर लगे तो तुम पहले क्या सोचोगे ? क्या यह सोचोगे कि यह बाण कहाँ से आया, कितने वजन का है, कहाँ बना है, किसका है ? या पहले उसे निकालने का प्रयत्न करोगे। यदि पहले निकालने का प्रयत्न करोगे तो पहले अपने ऐहिलौकिक कष्टों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। परलोक मे सुख की बात सोचना बाद का प्रश्न है।

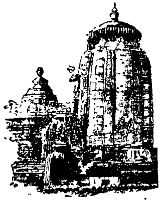
वास्तव मे बुद्ध परलोक मे विश्वास ही नही करते थे। और उसका कारण यह था वे आत्मा का पाँच स्कन्धो के अतिरिक्त कोई पृथक् अस्तित्व नही मानते थे। फिर भी चित्त क्षण को स्वीकार कर उन्होने आत्मा के अस्तित्व का प्रश्न हल किया साथ ही आत्मा का जन्मान्तर भी स्वीकार किया। यह सब होते हुए भी जनता को उनसे वास्तविक समाधान नही मिल सका।

जहाँ तक भगवान् महावीर की बात थी, वे परोक्ष प्रत्यक्ष सभी प्रकार के तत्त्वों की जिज्ञासा का समाधान करते थे। और प्रत्येक श्रोता को एक परम सन्तोष मिलता था। अत: उनके रहते हुए महावीर की प्रभुता में कोई कमी नही आई। महावीर के निर्वाण के बाद नि.संदेह उनके अनुयायियों मे फूट पड़ी पर वह फूट किसी पृथक् सम्प्रदाय के अस्तित्व के रूप में प्रकट नही हुई। और संभवत: भगवान् के निर्वाण के बाद जब

तक केवलियों का अस्तित्व रहा तब तक जैनो में कोई परस्पर अलगाव की भावना उत्पन्न नही हुई थी। उसके बाद जब श्रुत केवली हुए तब ये अलगाव की भावना कुछ अधिक बढ़ने लगी। बाद में जैसे जैसे श्रुति का विच्छेद होता गया पार्थक्य की भावनाएँ भी घर करती गई। लोगो मे शासन के प्रति अत्यधिक उच्छृङ्खलता ने घर कर लिया। और यह उच्छृङ्खलता यहाँ तक बढ गई कि लोग मनमानी पर आ गये। तब जनता के सौभाग्य से आचार्य कुन्दकुन्द हुए उन्होने अपने पाहुड ग्रन्थो मे उन उच्छृङ्खलताओ पर कस कर प्रहार किये और युक्तियुक्त आगम परम्परा को सामने रखकर सुन्दर समाधान दिया उनका षट्पाहुड ग्रन्थ एक इसी प्रकार की कृति है। उनके निश्चित समाधानो को सुनकर परम्परा के अनुयायी जैनो ने अपने आपको पृथक् मूल संघ के नाम से घोषित किया शेष जैनाभास उद्घोषित किये गये। आचार्य कुन्दकुन्द के इस असाधारण कार्य को देखकर लोगो ने कहा—

मंगलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

भगवान् महावीर, गौतम गणधर और कुन्दकुन्द की यह परम्परा जब तक विद्यमान है तक तक मूल-सघ का भी अस्तित्व रहेगा। यह भगवान् महावीर का शासन सदा जयवन्त है।



ज्ञान-वैराग्य का पर्व दशलक्षण

जीवन मे विशेष आमोद-प्रमोद के दिन वर्ष मे अनेक बार आते है होली, दीवाली, दशहरा आदि दिन भी उसी परम्परा मे है और यह परम्परा भारत मे ही नही अन्यत्र देशो मे भी है। किन्तु इसके विपरीत ससार शरीर और भोगो से विरक्ति का पर्व वर्ष मे एक बार ही आता है और वह भी शायद भारत मे हो। धार्मिक परम्परा सम्भवतः इस देश की अपनी ही है। अन्यत्र यह बात नही है। कहा जा सकता है कि दूसरी जगह भी गिरजे है मस्जिदें है, बौद्ध मन्दिर है और उनके उपासक भी वहाँ मौजूद हैं फिर यह परम्परा इसी देश मे है यह कैसे माना जा सकता है ? यह किसी अश मे सत्य है। लेकिन धार्मिक परम्परा से मतलब हमारा मन्दिरो मे उपासना करने मे नही है किन्तु सयम रूप आचरण से है। यह सयम का आचरण ससार शरीर और भोगो से विरक्ति के बिना नही हो सकता। इस विरक्ति के साथ मन्दिर मे उपासना भी इसी का अग बन जाती है अन्यथा वह अपने आप मे धर्म की परम्परा मे नही आती है।

यह तो सब जानते है जैनागमो मे मनुष्य जाति के दो भेद किये हैं जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र मे 'आर्या-म्लेच्छाश्च' कहकर प्रकट किया है। इनमे जिस तरह आर्यो के अनेक भेद है उसी तरह म्लेच्छो के भी अनेक भेद गिनाये है। पर देखना यह है कि यह आर्य और म्लेच्छ दो भेद किस आधार पर किये गये है। और इसकी परम्परा क्या रही है इस सम्बन्ध मे जिनसेनाचार्य ने कुछ स्पष्टीकरण किया है वे लिखते हैं—

धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मता.।
अन्यथान्यैः समाचारैरार्यावर्तेन ते समाः ।।

अर्थात् जिनमे धर्म कर्म की परम्परा नही है किन्तु अन्य आचरणो मे जो आर्य जाति के ही समान है वे म्लेच्छ है।

इस कथन से आर्य और म्लेच्छो मे केवल एक ही अन्तर प्रतीत होता है कि आर्यों मे धर्म कर्म है और म्लेच्छो मे धर्म कर्म नही होता। अत आवश्यक हो जाता है कि धर्म कर्म की व्याख्या की जाय।

धर्म मे अभिप्राय यहा सम्यग्दर्शन से है और कर्म से अभिप्राय देव पूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय सयम, तप और दान है। शास्त्रो मे इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है :

देवपूजागुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तप.।
दान चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिनेदिने ।।

कहने की आवश्यकता नही कि इस श्लोक मे उक्त छहों बातो को 'कर्म' शब्द से उल्लिखित किया है।

आगम मे स्पष्ट उल्लेख है कि म्लेच्छ खंडो मे सम्यग्दर्शन नही होता। वहाँ मात्र एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। जब सम्यक्त्व नही है तो धर्म भी नही है। इसी तरह वहाँ षट्कर्मों में न स्वाध्याय है न सयम है न तप है, जब कोई सयमी और तपस्वी नही है तब गुरु किसे कहा जाय और जब गुरु नही तो

गुरु की उपासना कहाँ रही इस सबके बाद देवपूजा का तो कोई प्रश्न ही नहीं रहता अत: भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में संसार शरीर और भोगों की विरक्ति के प्रतीक स्वरूप कोई पर्व नही मनाया जाता । भारत में ही यह परम्परा है । इसलिए आमोद-प्रमोद के त्यौहार होली, दीवाली, दशहरे की तरह इस देश मे दशलक्षण पर्व जैसे विरक्ति के पर्व भी मनाये जाते हैं । इन पर्वों मे धर्म की आराधना केवल पूजापाठ से ही नही किन्तु आचरण रूप से भी की जाती है । प्राय: सभी स्त्री पुरुष बालक यथाशक्ति एकाशन, उपवास बेला, तेला यहाँ तक कि दसों दिन का उपवास करते हैं अधिक से अधिक समय तक मन्दिर मे रहकर बाह्य दुनियादारी से अलग रहते हैं । अनेक लोग दसो दिन क्षौर कर्म नही कराते यह भी विरक्ति का ही प्रतीक है । हरित भक्षण न कर इन्द्रिय संयम को पालते है अस्वादता का अभ्यास करते हैं इन सबका सबध भी विरक्ति से ही है । इस तरह इस पर्व को वैराग्य का पर्व कहा जाय तो कोई अत्युचित नही है । जीवन को सतुलित रखने के लिए गार्हस्थ्य जीवन में न केवल आमोद-प्रमोद ही होना चाहिए और न केवल विरक्ति ही होना चाहिए । यदि आमोद-प्रमोद के प्रसग आते है तो उसी तरह वैराग्य वर्द्धक प्रसग भी जुटाना चाहिए । प० आशाधर जी ने लिखा है कि 'कुछ लोग धर्म, यश और सुख इनमे से किसी एक के सेवन से ही जीवन को कृतार्थ मानते है किन्तु हम तो तीनों के सेवन मे ही कृतार्थता का अनुभव करते है ।' इसी तरह चारो पुरुषार्थों को परस्पर अविरोध रूप से सेवन का उल्लेख भी किया है । इसका तात्पर्य यही है कि गृहस्थ को अपना जीवन सतुलित रखना चाहिए इक तरफा नही । यदि यह आमोद-प्रमोद का अधिकारी है तो दूसरी तरफ उसे ससार शरीर भोगो से विरक्ति के अधिकार का भी प्रयोग करना चाहिए । इसका परिणाम यह होगा कि जब तक गृहस्थ जीवन से निवृत्त होगा तब उसके ये वैराग्य पोषक प्रसग ही उसे ऊपर उठायेगे और गृहस्थ के अशाश्वत सुखो को छोडकर शाश्वत सुख की ओर ले जायेगे ।

हम उन लोगों से सहमत नही है जो इन आध्यात्मिक पर्वों को यह कहकर आलोचना करते हैं कि ये मात्र रूढि बन कर रह गये है, धन वैभव प्रदर्शन के अवसर बन गये हैं, पडित जी श्रोताओ को प्रसन्न करने के लिए शास्त्र प्रवचन करते हैं, इन पर्वों मे जान नही रही है, इत्यादि । किसी परम्परा की चलते रहने के कारण कही किन्ही स्थानो या व्यक्तियो मे कोई शिथिलता आ जाती है तो इससे उसकी निरर्थकता नही मानी जा सकती । शिथिलता सब जगह है और वह स्वाभाविक है सागार-अनागार आचरण मे भी शिथिलता होती है यदि नही तो दोष और प्रतिक्रमण आदि का विधान क्यो हैं ? वैराग्य बढते ही पहले सातवे गुणस्थान मे जाकर फिर छठें गुणस्थान मे क्यो आ जाना है ? प्रारम्भिक उत्साह के बाद मे वह ढीला क्यो हो जाता है ? दाम्पत्य स्नेह का जो आकर्षण प्रारम्भ में होता है वह बाद मे वैसा क्यो नही रहता ? इस तरह ऐसे अनेक उदाहरण है कि जिनमे दृढ़ता और शिथिलता चलती रहती है पर इसी से उसकी निरर्थकता नही मानी जा सकती। इन पर्वों मे वेषभूषा का कोई प्रदर्शन नही करता । अपनी स्थिति के अनुसार वेषभूषा धारण करना प्रदर्शन नही है । सादगी का अर्थ इतना ही है कि विकृत भेष नही बनाना चाहिए स्वाभाविक भेष या परिधान में आना न कोई पाप हैं न अपराध । इसी तरह सभी लोग ऊपर से या दिखाने के लिए ही इन पर्वों मे पूजा पाठ का उपक्रम रचते हैं ऐसी बात भी नही है । यदि कोई करता भी है तो वह उन आलोचको से अच्छा है जो अपने असदाचरणों को छिपाने के लिए इस पर टीका टिप्पणी करता है । आज जो पूजा-पाठ दिखाने के लिए करता है कल वह वास्तविकता के लिए भी कर सकता है । पर जिन आलोचकों को पूजा-पाठ से कोई संबंध नहीं है और आकण्ठ असद् आचरण मे ही संलग्न है उन्हे तो सुधरने का कोई अवसर ही नही है । इस प्रसंग मे हमे एक पौराणिक आख्यान का स्मरण आता है । सार यह है कोई मुनि ढाक के वृक्ष के नीचे ध्यान

कर रहे थे। यह ध्यान की प्रक्रिया उनकी दीर्घ समय से चल रही थी। कुछ लोग समवशरण में जाते हुए उन मुनि के नजदीक से निकले और परस्पर चर्चा करने लगे कि इन मुनि को वर्षों तप और ध्यान करते हुए बीत गये पर अभी तक केवलज्ञान प्राप्त नही हुआ। अपने इन विचार को उन्होने समवशरण में भगवान के समक्ष रक्खा। भगवान् की वाणी में खिरा कि अभी उन मुनि को इतने जन्म मरण और करना है जितने उस वृक्ष में पत्ते हैं जिसके नीचे वे बैठे हैं। वे लोग वापिस लौटे और सोचा चलो उस ढाक वृक्ष के पत्ते गिनेंगे और गिनकर मुनि जी को बतायेंगे कि आप के इतने भव और बाकी हैं। वे जब मुनिजी के पास आये तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होने देखा कि मुनि जी तो ढाक के नीचे से उठकर अब इमली के वृक्ष के नीचे बैठे है, भला इमली के पत्तो का क्या ठिकाना है। वे मुनिराज से बोले, महाराज ! आपके अभी इतने भव बाकी है जितने इस इमली मे पत्ते हैं। मुनिराज ने कहा ! ठीक है मेरे भवो का अन्त तो निश्चित हुआ। लेकिन तुम अपनी बात कहो तुम्हे अभी कितना जन्ममरण करना है ? अर्थात् मेरे ससार का अन्त तो निकट है लेकिन तुम्हारा अनत ससार शेष है।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचक अपनी ओर से बेखबर रहता है और दूसरे की आलोचना में लगा रहता है जब कि चाहिए इसके विपरीत।

दशलक्षणपर्व के दस दिन हमारे लिए ज्ञान वैराग्य के अभ्यास के लिए स्वर्ण अवसर है। हमें यह भी शका नही करना चाहिए कि ३६५ दिनो मे केवल दस दिन कैसे पार लगा देंगे। कभी-कभी एक क्षण का सस्कार भी हमारी भावो जन्म परम्परा मे मोड ला देता है। अंजन चोर तो दस दिन मे नही सात दिन के ज्ञान वैराग्य के अभ्यास से संसार से पार हो गया था। इसका अर्थ यह भी नही समझना चाहिए कि हम दस दिन धर्म सेवन के बाद पूरे वर्ष अपनी ओर से असावधान रहे। प्रयत्न करना चाहिए कि प्रत्येक क्षण सारे जीवन सावधान रहे किन्तु कोई सावधान नही रह पाता है इसलिए वह दस दिन को निरर्थक समझ ले यह उचित नही है। अत. यथाशक्ति हम सबको इन दिनो अवश्य धर्माराधन करना चाहिए।



सांवत्सरिक पर्व (क्षमावाणी)

वस्तुत: यह साम्वत्सरिक पर्व और उसका महत्त्व गृहस्थो के लिये उसी प्रकार है जिस प्रकार मुनियो के लिये साम्वत्सरिक प्रतिक्रमण का होता है । प्राचीन काल में दूर दूर से मुनियों के संघ एकत्र होते थे और किसी एक स्थान पर वे सामूहिक प्रतिक्रमण करते थे। दैवसिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमणों के बावजूद उन्हे अपने अपराधों की शुद्धि के लिये वार्षिक या सावत्सरिक प्रतिक्रमण करने की आवश्यकता होती थी। उस दिन प्रत्येक सम्भावित अपराध का उल्लेख कर 'प्रतिक्रमण तस्य करोमि शुद्धय' इत्यादि पाठ बोला जाता था। इन प्रतिक्रमणों का अभिप्राय इतना ही था कि साधु सस्था अपना बुराइयों के प्रति सदा जागरूक रहे और उनकी शुद्धि के लिये नियत समयों पर उनके विरुद्ध अभियान करती रहे।

ठीक यही स्थिति गृहस्थ के लिये है। पाप और बुराइयाँ उससे भी होती और साधुओ से कई गुणी होती हैं उनकी शुद्धि के लिये अनेक शास्त्रीय मार्गों का उल्लेख है। गृहस्थ १०८ मालाओ के दानों पर जो पञ्च परमेष्ठी का जप करता है वह सरम्भ समारम्भादिक अर्पित सावद्य कर्म के १०८ तरीको से उत्पन्न पापो की निवृत्ति के लिये ही करता है। इसके अतिरिक्त वह सामायिक आदि करता है उसमे भी आलोचन, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान आदि का ही आचरण होता है। जिनको सामायिकादि करने का अवसर नही मिलता वे भगवान् के सम्मुख 'सुनिये जिन अर्ज हमारी' इत्यादि आलोचना पाठ ही बोलते है। इस तरह पापो की निवृत्ति के लिये साधु या श्रावक सभी के लिए अपने अपने तरीके शास्त्रो मे वर्णित है। और यदि ये सब क्रियाये हार्दिक पश्चात्ताप को लेकर होती है तो सचमुच इनसे पापो का बोझ हल्का होता है।

इन दोषो में जिनको हम विभिन्न तरीको से निवृत्ति करते हैं कुछ दोष ऐसे भी जिनका सम्बन्ध अपने और पराये दोनो से होता है। वह दोष मनुष्य स्वय करता है पर उस दोष से प्रभावित दूसरा जीव भी होता है। उदाहरण के लिये हम दूसरो को गाली देते है, उसका पेट काटते है दूसरो की गाँठ काटते है। यह दोष हम तो करते ही है लेकिन इस दोष का शिकार दूसरा व्यक्ति भी होता है। और यदि वह व्यक्ति मनुष्य है तो हमारा यह दोष उस व्यक्ति मे शल्य की तरह ही चुभता रहता है। यह चुभन उसमे बदले की भावना उत्पन्न करता है वह बदले की भावना स्थायी वैर का रूप धारण कर लेती है। और उसकी परम्परा जन्म जन्मान्तर तक चली जाती है। अत ऐसे दोषो की निवृत्ति के लिए इतना ही पर्याप्त नही है कि हम केवल उसका प्रतिक्रमण पाठ बोलकर रह जाँय। इससे हमारी इकतरफा शुद्धि तो हो जायगी लेकिन उससे जो दूसरा प्रभावित है और जिसके निमित्त हम हो हैं उसको नि:शल्य कर देना भी हमारे प्रतिक्रमण का ही एक अङ्ग है। भरत के आक्रमण से बाहुबली का व्यक्तित्व भी प्रभावित हुआ। वे संसार से विरक्त होकर तपोवन में चले गये साथ ही उस शल्य को भी साथ लेते गये जो उन्हे भरत की भूमि से बाहर जा सकने के कारण प्रतिपल उन्हें बेचैन कर रही थी। एक वर्ष कायोत्सर्ग धारण करने पर भी वह शल्य उनकी न जा सकी और शल्य न गई तो वे कैवल्य के लाभ से भी वचित रहे। जब उन्होने उनके चरणो मे जाकर क्षमा याचना की और कहा कि यह पहले आप जैसे महात्माओ के तपोमयी चरणो के प्रसाद से ही स्थित मेरे स्वामी होने से

नही अत इसके वास्तविक स्वामी तो आप ही हैं। भरत की इस विनयशीलता से बाहुबली नि शल्य हुये उन्हें कैवल्य का लाभ हुआ।

उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि हमारे दोषो से ही हम प्रभावित नही होते किंतु दूसरा भी प्रभावित होता है अतः अपने दोषों से प्रभावहीन करने की तरह हमें दूसरे को भी अपने उस से प्रभावहीन बनाना चाहिये। अतः जो हमने दूसरो के प्रतिरोध किया है उसका सबसे अच्छा प्रतिक्रमण यही है कि हम विनम्र होकर उससे अपने अपराधो की क्षमा याचना करें, अपनी करनी वापिस लेकर अपने हृदय की शुद्धि करें और उस व्यक्ति की शल्य चाहे वह बदले की भावना रूप हो या अन्य किसी रूप मे हटाने को चेष्टा करें। इसके बाद हम सचमुच मे निर्दोष हैं यह क्षमावाणीपर्व के लिये है। वर्ष मे रोज नही तो कम से कम एक दिन हम अपने पर की हृदय शुद्धि के लिए जो अपराध शुद्धि से ही हो सकती है अवश्य प्रयत्न करें। उपकार और अपकार मनुष्य जीवन के अंग से वह एक का उपकार करता है तो दूसरे का अपकार करता है। उपकार से उसे प्रसन्नता होती है तो अपकार से उसे खेद भी होना चाहिए। उस खेद को दूर करने का यही एक उपाय है कि हमने जिसका अपकार किया है उससे क्षमा मांगे। इससे हम स्वपर को शल्य रहित निर्दोष बना सकेंगे। अपनी शत्रुता को दूर करने के लिये यह सही अवसर होता है। दूसरी बात यह है कि दशलक्षण पर्वों मे दशा का आराधन करने के बाद भी यदि हम अपने अपराधो की शुद्धि लिये क्षमा याचना को तय्यार नही है तो सचमुच हमारा हृदय शुद्ध नहीं हुआ है। और जब हृदय सरल नही हुआ है तब हमने धर्मो का चिंतन, मनन आराधन हृदय से किया है इसका कोई नही है। धर्मों की आराधना का फल बाद मे जब मिलेगा तब मिलेगा लेकिन हृदय शुद्धि रूप फल तो तत्काल मिलना चाहिये यदि वह मिलता है तो हम एक प्रकार से निष्फल ही हैं। अतः क्षमावणी दशलक्षण पर्वाराधन की एक कसौटी है इसीलिए पर्वाराधन के बाद ही इसके लिये उपयुक्त अवसर प्रदान किया है।

प्राय. होता यह है कि इस अवसर पर हम अपने मित्रो मे क्षमा माँगते हैं जो सचमुच मे हमारे विरोध हैं उनके पास जाना दूर रहा एक पत्र डालकर औपचारिक प्रथा का भी निर्वाह नही करना चाहते हैं यह सचमुच मे अनुचित है। मित्रो मे क्षमा न माँगी जाय तब भी कुछ बनता बिगडता नही है किन्तु अमित्रो से क्षमा माँगे उन्हे मित्र बनाया जाना अत्यावश्यक है।

महावीर जयंती का सच्चा रूप

महावीर जयंती के अवसर पर जैनदर्शन के मुख्य सिद्धान्तों और उनके प्रवचन होने से जैनधर्म का प्रचार और प्रसार होता है। जनता में जैनधर्म को समझने की जिज्ञासा भी उत्पन्न होती है। यह सब होते हुए भी कलिकाल का प्रभाव जिस वेग से जैनधर्म का ह्रास करने जा रहा है उससे हृदय में वेदना भी होती है। भगवान महावीर के निर्वाण के बाद दु षमा काल की प्रवृत्ति जैसे ही बढ़ी मोक्ष के दरवाजे तो बन्द हो ही गये साथ ही बारह वर्ष के दुर्भिक्ष ने और भी अधिक गजब ढा दिया। साधुओ की प्रवृत्ति मे स्वच्छन्दता आ गई। सभी ने अपने गण गच्छ बना लिये। इन गण गच्छो मे अपने-अपने स्वत्व का व्यामोह बढ गया फलस्वरूप अनेक साधुओ की प्रवृत्ति मे शिथिलता आ गई। इस शिथिलता ने कुछ जैनाभास भी उत्पन्न कर दिये। इनका उल्लेख शास्त्रो मे इस प्रकार किया है—

गोपुच्छकः श्वेतवासो द्राविडो यापनीयक।
निःपिच्छिकाश्च पञ्चैते जैनाभास प्रकीर्तिताः॥

अर्थात्—गोपुच्छक, श्वेत वस्त्र रखने वाले, द्राविड, यापनीय निःपिच्छिक (पीछी न रखने वाले) ये पाँच जैनाभास हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने यद्यपि अपने पाहुड ग्रन्थो मे सभी शिथिलाचारी साधुओं की आलोचना की है और जैन साधु का वास्तविक क्या रूप है इसका स्पष्ट विवेचन भी किया है। फिर भी यह शिथिलाचार ज्यों का त्यों कायम रहा जो इस कलिकाल का ही अपना व्यापक प्रभाव था।

आचार्य समन्तभद्र ने अपने युक्त्यनुशासन में भगवान की स्तुति करते हुए लिखा है—

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा,
श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाशयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी-
प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतु॥

अर्थ—हे भगवन्! जैनों में अनेकमत मतान्तर हो जाने से आपकी प्रभुत्व शक्ति का जो अपवाद हुआ है उसका कारण कलिकाल तो है ही किन्तु श्रोताओं के कलुषित हृदय और वक्ताओ के नयहीन (एकान्त को लेकर) वचन भी कारण है।

इस तरह स्वामी समन्तभद्र भी आज के धार्मिक ह्रास को कलिकाल का ही प्रभाव मान रहे है।

आज के युग में धर्म का प्रचार तो हो रहा है पर कोई भी प्रचार पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता से खाली नही है। आचार्य कुन्दकुन्द के उपदेशो से प्रभावित होकर यहाँ मूल सघ की जो स्थापना हुई उसका कारण भी यही था कि दिगम्बर जैनों मे और भी संघ थे उन संघो की मान्यताओं से जिन लोगो को मतभेद था उन्होने अपने समुदाय को मूल संघ की संज्ञा दी। इन पृथक्-पृथक् संघ के सदस्यो द्वारा जो धार्मिक रचनायें की गई उनमें उनके मत प्रतिभासित है। उदाहरण के लिए हम जिस नित्य पूजा को प्रतिदिन मन्दिर मे पढ़ते हैं उन पूजाओं के प्रारम्भिक पद्य देखिये—

श्रीमज्जिनेन्द्रमभिवन्द्य जगत्त्रयेशं,

स्याद्वाद-नायक मनन्त-चतुष्टयार्हम् ।

श्रीमूलसंघसुदृशा सुकृतैकहेतु:,

जैनेन्द्र यज्ञविधिरेष मयाऽभ्यधायि ॥

अर्थ—तीन लोक के ईश स्याद्वाद के नायक, अनत चतुष्टय के धारी श्रीमत् जिनेन्द्र को नमस्कार करके मूल सघ के सम्यग्दृष्टियों का कारणभूत जिनेन्द्र पूजा विधि को अब मैं कहता हूँ ।

इसमे स्पष्ट भगवान् की पूजा को मूल सघ के सम्यग्दृष्टियो के लिए ही पुण्य का कारण माना है । अन्य के सघ के सम्यग्दृष्टियो के लिए नही क्योकि अन्य सघ के मानने वाले सम्यग्दृष्टि नही होते ।

इसी श्लोक की प्रतिद्वन्दिता मे एक दूसरा श्लोक भी मिलता है जो इस प्रकार है—

श्रीमद्युगाधीशजिन प्रणम्य,

श्री काष्ठसंघे वर माथुरे च ।

श्रीमत् प्रतिष्ठा श्रुतो जिनस्य,

श्री यज्ञ कल्प स्व हिताय वक्ष्ये ॥

अर्थ—युग के अधिपति श्रमण जिनेन्द्र को नमस्कार करके काष्ठा सघ माथुर गच्छ के प्रतिष्ठा शास्त्र मे वर्णित जिनेन्द्र भगवान् यज्ञ कल्प (पूजा विधान) को मैं कहूँगा ।

इस श्लोक मे स्पष्ट काष्ठा सघ और उसके अन्तर्गत माथुर गच्छ को स्पष्ट मान्यता दी है जब कि आजकल प्रचलित पूजा मे मूल सघ को प्रधानता दी है ।

यह श्लोक आज से बहुत वर्षों पहले जब हम भा० व० दि० जैन सघ मथुरा मे काम करते थे । प्रचार के समय रिवाडी मन्दिर में एक प्राचीन गुटके मे देखा था । उसमे बस यही श्लोक बदला हुआ था बाकी इसके नीचे के सभी श्लोक वे ही थे और उसी प्रकार थे जिन्हें हम रोज पढते है । मुझे इससे बडा आश्चर्य हुआ । इससे स्पष्ट है ये पूजाएँ भी पारस्परिक प्रतिद्वन्दिताओ को लेकर बनी है ।

लोग 'काष्ठा सघ' शब्द का अर्थ करते है कि इस सघ मे काठ की बनी हुई प्रतिमा की पूजा होती थी । पर यह काम सर्वथा गलत है । 'काष्ठा' शब्द का अर्थ दिशा है जैन की धनञ्जय की 'नाममाला' कोष ग्रन्थ से स्पष्ट है—

काष्ठा ककुब्, दिगाशा च दक्षकन्या तथा हरित् ।

अर्थात्—काष्ठा, ककुब्, दिक्, आशा, दक्षकन्या, हरित् ये सब दिशाओ के नाम है । दिगम्बर मे दिक् + अम्बर इन दो शब्दो की सधि है और 'काष्ठाम्बर' मे काष्ठा + अम्बर इन दो शब्दो की संधि है । दिगम्बर और काष्ठाम्बर दोनों ही शब्दो का अर्थ दिशा रूपी वस्त्र है । अभिप्राय यह है मूल सघ और कष्ठा संघ दोनो ही संघ मूलत: दिगम्बर जैन परम्परा मे ही आते है फिर भी साधारण सी बातो मे अन्तर रहने से पार्थक्य प्रदर्शन के लिए पृथक्-पृथक् नाम रक्खे गये हैं ।

समाज मे या किसी सगठन मे जहाँ कही द्वेषी भाव हो वहाँ महावीर जयन्ती के अवसर पर हम भगवान् महावीर का स्मरण कर तथा भावत उन्ही को साक्षी मानकर अपने मतभेद भुलावें एवं भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित स्याद्वाद की शैली को अपनाकर अनेकान्तात्मक वस्तु को पहचाने । यह सच्चा महावीर जयन्ती महोत्सव का रूप होगा ।

●

वीर शासन जयन्ति

भगवान् महावीर का प्रथम उपदेश श्रावण कृष्णा प्रतिपदा का दिन था जिस दिन मगध देश के अन्तर्गत विपुलाचल पर्वत पर ६६ दिन मौन रहने के बाद भगवान् की प्रथम देशना हुई थी। उस दिन भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थ का अन्त हुआ और २४ वें तीर्थंकर वर्द्धमान के तीर्थ का प्रादुर्भाव। यद्यपि तीर्थंकर के शासन में कोई अन्तर नही होता। सभी तीर्थंकरो के उपदेश की परम्परा वही रही जो भगवान् आदिनाथ तीर्थंकर की थी। इसलिये भगवान् महावीर ने पार्श्वनाथ से भिन्न कोई उपदेश दिया हो ऐसी कोई बात नही है फिर भी तीर्थंकरो के उपदेश मे उनके अपना समय का प्रभाव रहता ही है। उदाहरण के लिये मूलाचार मे बताया है कि प्रथम और अन्त के तीर्थंकरो ने छेदोपस्थापना संयम का उपदेश दिया शेष २२ तीर्थंकरो ने छेदोपस्थाना सयम का उपदेश नही दिया। उपदेश की इस विभिन्नता का वहाँ कारण भी लिखा है। भगवान् आदिनाथ के समय मे मनुष्यो मे जडता थी अर्थात् कुछ भोलापन था अतः सामाजिक सयम मे जो सर्वसावद्य का त्याग होता था उसके विश्लेषण से वे अनभिज्ञ थे तब भगवान् आदिनाथ ने उस सावद्य कर्म का छेदन भेदन करके लोगो को त्याग करना बताया अर्थात् सावद्य को हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूप मानकर इनमे से प्रत्येक का त्याग करो। इसी प्रकार भगवान् महावीर के समय मे लोग वक्र हो गये थे उस वक्रता के कारण वे किसी सावद्य कर्म को छोड न जाँय अत उस सावद्य को अलग-अलग कर हिंसा असत्य आदि रूप से उसका इन्हे त्याग करना बतलाया। छेदोपस्थपना चारित्र का शास्त्रकारो ने दो प्रकार से अर्थ किया है। एक अर्थ तो यह है कि सावद्य को छेदन भेदन करके छोडा जाय और दूसरे अर्थ यह है कि व्रत मे कोई छेद अर्थात् दोष लग जाय तो फिर से प्रायश्चित्तादि लेकर उसका उपस्थापन किया जाय। जड और वक्र पुरुषों के लिये यह दोनो ही बाते सम्भव होती हैं अत दोनो तीर्थंकरो का उपदेश शेष २२ तीर्थंकरो से भिन्न रहा। भिन्न केवल इस अर्थ मे है उन्होने सामायिक सयम को धारण करने के लिये उसके स्वरूप को समझाने की दृष्टि से मात्र उसका विश्लेषण कर दिया। अन्यथा जो बात २३ तीर्थंकरो को सामाजिक सयमो मे अभीष्ट थी वही बात आदिनाथ और महावीर को भी अभीष्ट थी। इसलिये यह आशका नही करना चाहिये कि तीर्थंकरों का उपदेश क्या परस्पर विरुद्ध भी होता था? जैनागम परस्पर एक है उनमे तब तक कोई अन्तर नही आ सकता जब तक उनका साक्षात् सम्बन्ध तीर्थंकर से है इसीलिये शास्त्र के लक्षण मे आचार्य समन्तभद्र ने आप्तोपज्ञता को प्रमुख स्थान दिया। तीर्थंकरो के बाद जब छद्मस्थो के हाथ मे शास्त्र प्रणयन का काम आया तो उनमे नाना प्रकार के मतभेद खडे हो गये। वे छद्मस्थ तो थे ही पारस्परिक खीचा-तानी से उनकी वीतरागता भी जाती रही। अत जिसको जो अनुकूल लगा शास्त्र के नाम पर उसका प्रणयन हुआ और उन सबका संबंध भगवान् महावीर से जोडा गया। इसका फल यह हुआ कि जैन सम्प्रदाय मे अनेक जैनाभास सम्प्रदाय खडे हो गये। उन जैनाभासो का दिगम्बर शास्त्रो मे उल्लेख है उनको गिनाने की आवश्यकता नही है।

जब एक बार बाढ टूटती है तो टूटती ही चली जाती है। जैनाभासो के अतिरिक्त और भी छोटे मोटे सम्प्रदाय उत्पन्न हुये नये-नये गणगच्छों ने भी इनमे घुस पैठ की और इस तरह भगवान् महावीर का

एक सम्प्रदाय अनेकों वर्गों मे बँट गया । सम्भवत. इसी को लक्ष्य में लेकर आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है :—

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाशयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतु. ॥

हे जिनेन्द्र ! आपके शासन के अवर्णवाद का कारण एक कलिकाल है दूसरे श्रोताओं का कलुषित आशय है तीसरे वक्ताओ के वचनो की अनीति [नय विवक्षा से ही हीन वचन] है ।

आज इन तीनो कारणो के विश्लेषणों की आवश्यकता नही है । कलिकाल जो अपना रूप दिखा रहा है वह किसी से अविदित नही है । यहाँ अपूज्यो की पूजा होती है और पूज्यो की अवहेलना होती है साधुओं की पूँछ नही और स्वादुओ के पौबारह हैं, अव्रती तीर्थंकरो की प्रतिस्पर्द्धा करते है, तत्त्व निर्णय में प्राचीन आचार्य तो केवल गवाह है । किन्तु आज का पडित न्यायधीश है जहाँ तक श्रोताओ के कलुषित आशय की बात है वह इसी से स्पष्ट है कि आज शास्त्रो के अर्थ मनमाने तरीके से किये जाते हैं । हर एक व्यक्ति पहले अपना मत बना लेता है फिर उसी के पोषण के लिये वह शास्त्रो के पन्ने पलटता है । वह शास्त्रोक्त बातों का समर्थन नही करता किन्तु अपनी मान्यताओ का शास्त्रों से समर्थन चाहता है इसलिये न वह गुरु आम्नाय से पढ़ना चाहता है और न अनुयोगो का क्रमिक स्वाध्याय करना चाहता है धर्म का क ख भी न जानता हो पर बात समयसार की करेगा । कुन्दकुन्द को समझने के लिये दर्शन इतिहास धर्म शास्त्र आदि समस्त वाङ्मय का स्थूल ज्ञान तो चाहिये पर इसकी कौन परवाह करता है । साधारण व्यक्ति भी अपने को बहुत बड़ा विद्वान् समझता है और यदि शुद्ध बुद्ध निरजन आत्मा की बात करता हो तो कहना ही क्या है ।

वचनो की अनीति का तो आज बोलबाला है। पुण्य को विष्ठा और जिनवाणी को परस्त्री कहना वचनो की अनीति नही तो क्या है । अत. भगवान् के शासन का अवर्णवाद आज और भी वृद्धि पर है । और प्रत्येक व्यक्ति उच्छृखलता पर उतारू है । ऐसी स्थिति मे वीर शासन जयन्ती के अवसर पर प्रभाव के पुरुषो का कर्त्तव्य है कि वे इस अवर्णवाद को यथाशक्ति मिटाने का प्रयत्न करें । यह सही है कि समय का प्रवाह दुर्निवार है । पर मनस्वी पुरुषो को अपना प्रयत्न करते ही रहना चाहिये । यदि हम रात के बाद दिन का आना देखते है तो निश्चय से इस निकृष्ट प्रचार के बादल एक स्वर्णिम प्रभात भी आयेगा । सूर्य की सुनहरी किरणें बड़ी सुहावनी प्रतीत होगी प्रकृति के न्याय मे देर हो सकती है अन्धेर नही ।

महावीर दर्शन

त्याग तपस्याओं का जिसका है अपना लम्बा इतिहास।
दुखी प्राणियों की ममता के और न था जिसके कुछ पास॥
वसुधा ने पाया था जिससे महा अहिंसा का वरदान।
विश्वपिता उस महावीर का करता हूँ मैं गौरवगान॥

मगध देश में कुण्डलपुर था नगर एक शोभा का धाम।
वीर जन्म के लिए चुना था स्वय प्रकृति ने जिसका नाम॥
प्रजातन्त्र था राज्य वहाँ का शासक थे सिद्धार्थ नरेश।
रहन सहन अपना था अपनी भाषा थी अपना था देश॥

किसी रात को रानी त्रिशला ने देखे कुछ स्वप्न विशेष।
पूछा तो गर्वित हो मन मे बोले पति सिद्धार्थ नरेश॥
देवि! तुम्हारे होगा ऐसा बालक महागुणी निष्पाप।
जग जिसकी छाया मे रहकर मेटेगा अपना सन्ताप॥

हुए मास नौ पूर्ण अवतरित हुए धरा पर वीर जिनेश।
हुआ मुदित जग विकसित होती देख कुमुदनी ज्यों राकेश॥
उत्सव घर-घर हुए सभी ने जो पाया मुख माँगा दान।
धन्य हुए परिजन सब पाकर महावीर सा पुत्र महान॥

माता की गोद मे ऐसा लगता था वह शिशु सुकुमार।
सत्य अहिंसा की गोदी मे बैठा हो मानो साकार॥
था उसका सौन्दर्य विश्व की सारी उपमाओ का सार।
पुण्यलोक ने पाया था वह सतयुग[1] का अन्तिम उपहार॥

एक बार दो घोर तपस्वी चले जा रहे थे वन में।
किसी तत्त्व के समाधान की चिन्ता थी उनके मन मे॥
सहसा देखा महावीर को क्रीडाएँ करते चुपचाप।
जिज्ञासा मिट गयी हुआ तत्काल दूर मन का सन्ताप॥

पड़ा तभी से महावीर का सन्मति यह मंगलमय नाम।
बहुत दिनो से 'वर्द्धमान' भी थी उसकी सज्ञा अभिराम॥
जनता ने पर 'महावीर' ही से उनका परिचय पाया।
उसी नाम से सबका अब तक आकर्षण होता आया॥

एक बार जब खेल रहे थे सहयोगी सब राजकुमार।
पहुँचे उनके साथ खेलने महावीर भी परम उदार॥
वृक्ष खडा था वही एक चढ गए सभी उसके ऊपर।
सहसा दिया दिखाई आता उन्हे एक काला अजगर॥

---

१. चतुर्थ काल

आकर लिपट गया वह नीचे उसी वृक्ष के चारों ओर।
कूद-कूद कर भाग गए डर से सब बालक घर की ओर ॥
महावीर इस दुर्बलता को सह न सके मन के अन्दर।
जहाँ सर्प था उसी राह से उतरे वे निर्भय होकर ॥

धीरे-धीरे महावीर ने यौवन में फिर किया प्रवेश।
अनुभव और विवेक आदि भी पहले से कुछ बढ़े विशेष ॥
बाल चपलता गयी, लगी रहने अब मुख मुद्रा गम्भीर।
राज सुलभ सब भोगो मे मन हुआ न उनका कभी अधीर ॥

बोले आकर पिता एक दिन महावीर से यो वाणी।
पुत्र ! पिता होकर भी हूँ मैं निकट तुम्हारे लघु प्राणी ॥
पर ममतावश आया हूँ कुछ कहने आज तुम्हारे पास।
पुत्रबधू के बिना महल मे सूना है सारा रणवास ॥

तुम्हे विवाहित देख सभी को होगा ,मन में हर्ष अपार।
क्या न बहू पर करने दोगे माँ को अपना सहज दुलार ॥
नाथवश की रक्षा के अब तुम ही हो आगे आधार।
अत' विवाहित जीवन तुमको करना होगा सुत स्वीकार ॥

महावीर ने कहा पिता ! यदि पुत्र और पत्नी का प्यार।
बाँट सकूँ जग को तो बोलो कैसा होगा यह व्यवहार ॥
दुखी विश्व को रक्षा पाने का यदि मुझसे है अधिकार।
तो यह उचित न होगा मुझको करना अपना सीमित प्यार ॥

भावपूर्ण उत्तर यह सुन कुछ कह न सके सिद्धार्थ नरेश।
लौट गए देखा अब सुत से कहने को कुछ रहा न शेष ॥
माँ तब आई पुत्र निकट निज आँखो में आँसू लेकर।
कहा न बेटा दुखी करो अब यो रूखा उत्तर देकर ॥

एक एक दिन गिन कर पूरा समय किया अब तक मैने।
अब तुम हुए विमुख जब आया समय बहू का सुख देने ॥
अन्य राजवधुओ को जब मै देखूँगी रुन झुन चलते।
क्या तब देख सकोगे मुझमें दुख के अगारे जलते ॥

सुन ये ममता भरे वचन यो महावीर बोले युवराज।
माँ ! क्यो बना रही निज सुत को पत्नी पुत्रों का मुँहताज ॥
उत्सुक है जो दुखी प्राणियो का करने दु.ख से उद्धार।
क्या तुम देख सकोगी उसको एक बहू को करते प्यार ॥

महावीर ने किया न यों अब निज विवाह करना स्वीकार।
माता पिता हुए दोनों तब अपने मन में दुखी अपार ॥
था उपाय लेकिन न और कुछ थक कर बैठ गए चुपचाप।
बोले अब सहना ही होगा जीवन भर यह अन्तस्ताप ॥

महावीर अब इधर और भी पहले से हो गए उदास।
उन्हें दिखाई दिया धर्म के भीतर चारो ओर विनाश ॥
कही मूक पशुओं की गर्दन पर चलती देखी तलवार।
कही धर्म की जड में देखा एक घृणा को ही आधार ॥

कही लोक सेवा के बदले जन्मजात पूजा देखी।
कही धर्म गुरुओं से बेचारी जनता शोषित देखी ॥
कही मठों के पर्दे में देखे सुन्दर प्रासाद विशाल।
कही भूख से पीडित देखे राजपथो पर नर कंकाल ॥

जड पूजा मे छिपा हुआ मानवता का देखा उपहास।
था मनुष्य गृह हीन देवताओ के थे सुन्दर आवास ॥
धर्म लोटता फिरता था धन के चरणो मे बनकर दास।
राजाओ के लिये बचा था काम एक ही भोग बिलास ॥

नारी पर यद्यपि न आज के से होते थे अत्याचार।
पर ईश्वर के निकट शूद्र से अधिक न थे उसके अधिकार ॥
जीवन के उत्थान पतन में ईश्वर का ही कह कर हाथ।
अकर्मण्य बनकर जनता ने छोड दिया था श्रम का साथ ॥

देख दशा यह बुरी देश की महावीर थे दुखी महान।
सतत सोचते थे कब होगा जग के इस दुख का अवसान ॥
पर महलो का बधन उनको ला न सका जनता के बीच।
यद्यपि निज कर्तव्य प्रेरणा उन्हे रही थी बाहर खीच ॥

एक बार जब इसी तरह थे महावीर चिन्ता मे लीन।
आये उनके पिता पास लेकर मन मे उत्साह नवीन ॥
बोले पुत्र ! आज फिर आया हूँ कहने कुछ अपनी बात।
क्या न देखने दोगे मुझको नाथवंश का स्वर्ण प्रभात ॥

वृद्ध हो चला हूँ अब शासन का न सम्हाला जाता भार।
देख रहे हो गृह कामो मे भी तुम मेरा शिथिलाचार ॥
अच्छा है बस तुम्हे राज सिंहासन पर देखूँ आसीन।
करूँ आत्म-कल्याण स्वयं मैं शासन से होकर स्वाधीन ॥

तुम वयस्क हो और प्रजा भी रखती है तुममें अनुराग।
अविवाहित रहकर भी तुमने किया पुत्र ! जन हित में त्याग ।।
शासन और प्रजा दोनों का तुमसे जो होगा उपकार।
सदा प्रभावित होगा उससे युग युग तक भावी संसार।।

सुनकर वचन पिता के बोले महावीर यों परम उदार।
पिता ! न मानव को मानव पर शासन का कुछ है अधिकार ।।
स्वयं देख सुनकर भी शोषित दुखी जगत का हाहाकार ।।
कौन मनस्वी सिंहासन अपनाने को होगा तैयार ।।

देख रहा हूँ एक ओर मैं क्षुधा प्रपीड़ित नरकंकाल।
उधर दूसरी ओर खड़े है वही राजप्रासाद विशाल ।।
अगर राजसिंहासन देते हैं जग को ये ही उपहार।
तो न पिता है मुझे आपकी आज्ञा कैसे भी स्वीकार ।।

यही राजसिंहासन दिखलाते जब अपना रूप विशाल।
तभी एक पर एक विश्व मे महायुद्ध होते विकराल ।।
अगणित अबलाओ के इनमे हो जाते भस्म सुहाग।
प्रभुता का मद यही खेलता है खुलकर जनता से फाग ।।

यही राजसिंहासन हैं वे जिनका है केवल आधार।
भूख, गरीबी, शोषण, बेकारी मनमाने अत्याचार।।
यही जन्म लेते हैं रावण यही पनपते भोग विलास।
यही मनुज दानव बन करता है मनुष्यता का उपहास ।।

यही महाभारत होते हैं होते यही खुले व्यभिचार।
यही तात ! संरक्षण पाता पूँजीपतियों का संसार ।।
यही किसानो, मजदूरों, पर होते हैं नित वज्रप्रहार।
यही न्याय का थोडे से पैसों में होता है व्यापार ।।

बने हुये हैं आज राजसिंहासन जनता को अभिशाप।
पिता ! बताओ कैसे लूँ मैं सिर ऊपर अपने यह पाप ।।
जनता में रहकर ही जनता का करना होगा उद्धार।
कौन मनुज बोलो तो जग मे वैभव पाकर हुआ उदार ।।

महावीर बस इतना कहकर बैठ गए होकर गंभीर।
पिता न आगे बोल सके पर मन में अतिशय हुए अधीर ।।
त्रिशला ने भी सुना किन्तु कुछ कह न सकी होकर निरुपाय।
दोनों माता पिता पुत्र को समझाने में थे असहाय ।।

एक बार कुछ सोच रहे थे महावीर बैठे चुपचाप।
सहसा दिया सुनाई कानो में पशुओं का मूक विलाप।।
देखा उठता हुआ गगन में धुएँ का नीला गुब्बार।
जली हुई मज्जा की महलों में आई दुर्गन्ध अपार।।

महावीर को हुआ हृदय में महा वेदना का आभास।
बोले मन में अब न उचित है मुझको इन महलो का वास।।
जीवित रहते हुए न अब यह देख सकूँगा और विनाश।
मिट जाऊँगा स्वयं बदल दूँगा या जनता का विश्वास।।

कर विचार मन मे यों उठकर खडे हुए त्रिशला के लाल।
थे शरीर पर आभूषण जो वही उन्हे छोडा तत्काल।।
बिना किसी से कहे सुने वे निकले महलो से बाहर।
दौड गई बिजली सी कुण्डलपुर मे चारो ओर खबर।।

खडी हो गई राजपथो पर जनता की झट भीड अपार।।
झाँक रही थी छज्जो पर से महिलायें भी बारम्बार।।
देखा सबने चला आ रहा है निज धुन मे राजकुमार।
दृढ प्रतिज्ञ है स्वय उठाने को मानो पृथ्वी का भार।।

देख उन्हें जनता के मन मे तरह-तरह के उठे विचार।
लगे सोचने सभी राज महलों मे क्या कुछ हुआ बिगार।।
इतने ही मे राजघोषणा हुई राजमन्दिर के पास।
जनता के हित में कुमार ने छोडा है महलो का वास।।

धन्य धन्य कह उठे सभी ने महावीर की जय बोली।
अभिवादन करने को उनका घिर आई जनता भोली।।
कहा एक स्वर से सबने यो चिरजीव हो राजकुमार।
राज पाट सब छोड पा सका जनता का जो सहज दुलार।।

महावीर चुपचाप उधर जब चले जा रहे थे वन को।
देखा राजपथो पर दुखिया भूखों के नंगे तन को।।
चढ़ी वेदना उनके मन में तुरत उन्हें आया यह ध्यान।
है न उचित मुझको रखना अब तन पर वस्त्रो का परिधान।।

इसी सोच मे महावीर ने चल कर वन में किया प्रवेश।
पहुँचा उनके पीछे पीछे जनता का समुदाय विशेष।।
दिया खडे होकर तब सबको महावीर ने यह संदेश।
'जाओ यह करना प्रयत्न पहुँचे न किसी को तुमसे क्लेश'।।

'क्या यह संभव है, न किसी को पहुँचे कभी किसी से क्लेश।
किया किसी ने जनता में से उसी समय यह प्रश्न विशेष ।।
सुनते हैं कि महापुरुषों ने पहले भी लेकर अवतार।
साधु जनों की रक्षा की थी दुष्टों पर कर असुर प्रहार' ।।

महावीर ने कहा न इससे दुष्टों का होगा उपकार।
अगणित दोषों का निवास है यह गरीब मानव संसार ।।
अगर दुष्ट को शिष्ट कर लिया जावे कर समुचित व्यवहार।
दुष्ट जनों का और न इससे बढ कर होगा उचित सुधार ।।

एक बार फिर योला सबने महावीर का जय जयकार।
गूंज उठा कानन, उसने भी किया प्रतिध्वनि से सत्कार ।।
एक एक कर महावीर ने दिए वस्त्र फिर सभी उतार।
स्वच्छ शिला के ऊपर जाकर बैठ गये योगासन धार ।।

अपने ही हाथों से अपने केश उन्होंने लिए उपाड़।
दुष्प्रवृत्तियो को मानो था उसी समय से दिया उखाड़ ।।
आत्म निरीक्षण में फिर ऐसे डूब गए होकर गम्भीर।
दो दिन तक बस उसी तरह से निश्चल उनका रहा शरीर ।।

देख उन्हें यों लीन ध्यान में जन समूह ने किया प्रणाम।
लौट चले फिर घर को उनकी करते हुए कथा अभिराम ।।
धन्य रूप यह धन्य जवानी धन्य धन्य यह त्याग महान।
किया नगर की जनता ने यों अपने नेता का गुणगान ।।

किसी तरह से भंग हुई उनकी समाधि, तब उठकर वीर।
गये नगर की ओर लिया भोजन मे थोडा सा गोक्षीर ।।
लौट पुन आये वन में वे उसी जगह सिद्धार्थकुमार।
कुछ दिन रहकर किया वहाँ से भी उनने अन्यत्र विहार ।।

इसी तरह बस सदा वनों में ही रहता था उनका वास।
करुणाप्लावित हृदय छोडकर और न था उनके कुछ पास ।।
कभी मिल गया तो कर लेते थे रूखा सूखा आहार।
वह भी ऐसे समय मास में आते थे केवल दो चार ।।

वह भी ऐसे समय साधना में ही रहते थे तल्लीन।
रखते थे आचरण स्वयं वे अपना अपने ही आधीन ।।
भूख प्यास की बाधायें कर सकीं न उनको लक्ष्य विहीन।
पथ पर बढ़ने को पाया नित अपने में उत्साह नवीन ।।

ऐक बार जब ध्यानें मग्न थे महावीर बैठ वन में।
देख उन्हें कापालिक[1] कोई क्रुद्ध हुआ अपने मन में॥
आँधी चला जोर की कंकड पत्थर उसने बरसाये।
भूत प्रेत डाकिन चुड़ेल के रूप भयानक दरशाये॥

उठी घटायें काली काली हुआ अंधेरा चारों ओर।
लगी चमकने विद्युत ऊपर कड़ कड़ शब्द हुआ घनघोर॥
महावीर विचलित न हुए वे रहे आत्मचिंतन मे लीन।
आया तब कापालिक उनके चरणो मे मुख लिये मलीन॥

कहा मुझे अब क्षमा कीजिए नाथ ! हुआ जो कुछ अपराध।
देख रहा हूँ पाप स्वयं का और आपको क्षमा अगाध॥
अब तक चाहा जिसे उसी को पहुँचाया मैंने यमद्वार।
किन्तु आज पाई है मैंने प्रथम बार तुमसे यह हार॥

देख दूर उपसर्ग वीर ने किए पलक अपने ऊपर।
कहा न कापालिक ! घबडाओ विचरो तुम निर्भय होकर॥
कभी आज से किसी जीव को कष्ट सर्वथा मत देना।
अगर बन पडे तो औरो को देकर अभय सुयश लेना॥

कापालिक ने कहा तपस्वी ! हुआ आज मुझको सद्बोध।
धन्य तुम्हारा हृदय किसी के लिए न जिसमे है प्रतिशोध॥
यो कह उसने महावीर को हाथ जोडकर किया प्रणाम।
बन कृतज्ञ मन मे उनका वह लौट गया फिर अपने धाम॥

महावीर भी उठे वहाँ से किया कहीं अन्यत्र विहार।
कापालिक की तरह घूमकर किया अनेकों का उद्धार॥
सहने लगे निरन्तर अब वे जान बूझकर कष्ट अपार।
लाने को दृढता अपने मे यद्यपि थे तन से सुकुमार॥

कभी पर्वतो की चोटी पर उन्हे ध्यान करते देखा।
कभी गुफाओं में एकाकी लीन साधना में देखा॥
तप्त शिलाओं पर लोगों ने कभी उन्हे बैठे पाया।
हिमकुहरों में खडी कभी देखी उनकी सुन्दर काया॥

कभी मरघटों में जाकर वे घोर तपश्चर्या करते।
नदी तटो पर बैठ कभी वे अपना हितचिन्तन करते॥
आते उनके निकट वन्य पशु और बैठ जाते चुपचाप।
मानो करते थे अतीत जीवन पर अपने पश्चात्ताप॥

---

१. ग्यारहवाँ रुद्र।

तपश्चरण करते यों उनको हुआ एक युग का अवसान।
सहे सभी आये जो उन पर कष्ट और उपसर्ग महान ।।
एक बार जब आत्मध्यान में डूब रहे थे वे मतिमान।
हुआ प्रकट सरिता[1] तट पर तब उन्हें यकायक केवलज्ञान ।।

देखा उस अद्‌भुत प्रकाश में महावीर ने सब संसार।
अनेकान्त सा दर्शन उनको मिला तत्वनिर्णय का द्वार ।।
स्याद्वाद सी मिली कसौटी मत सहिष्णुता का आधार।
धर्म अहिंसा पाया अद्‌भुत प्राणिजगत के सुख का सार ।।

सुना जगत ने महावीर अब हुए सर्वदर्शी भगवान।
जन समुद्र सब उमड पडा करने को उनका मंगलगान ।।
मूक प्रेरणा पाकर पशु पक्षी भी पहुँच गए सारे।
मिलकर खूब लगाए जनता ने उनकी जय के नारे ।।

धर्मसभा फिर जुड़ी एक सब बैठ गए उसमे जाकर।
उसी समय आया द्विज कोई विद्या से गर्वित होकर ।।
लगा गरजने कौन यहाँ है देखूँ जन प्रतिभाशाली।
प्रकट कर सके जो समक्ष मेरे अपनी गौरव लाली ।।

कह कर वह यो गया सभा के अन्दर करने वाद विवाद।
दिए दिखाई वहाँ पीठ[2] पर वीरप्रभु के पावन पाद ।।
हुआ दूर अभिमान हो गया वह पण्डित पानी पानी।
था वह उसी नगर का वासी इन्द्रभूति गौतम ज्ञानी ।।

वहीं प्रव्रज्या[3] ले ली उसने महावीर के जाकर पास।
और बन गया उनका पहला गणधर कर श्रुत का अभ्यास ।।
सिंहासन पर महावीर थे नीचे थे गौतम गणधर।
शेष सभा के लिए बैठने को थे निर्मित बारह घर ।।

हुआ दिव्य उपदेश वीर का निकली यो मुख से वाणी।
है यह विश्व अपरिमित इसमे स्वय उठाता दुख प्राणी ।।
अगर स्वयं जीवित रहने का हमको है अपना अधिकार।
क्यों न यही दावा तब औरो का हम करते हैं स्वीकार ।।

क्या मनुष्य की तरह न अपना जीवन है पशु को प्यारा ?
क्यो फिर झोंक हवन कुण्डो मे वह दुखिया जाता मारा ।।
दिया प्रकृति ने मानव के हाथों में पशु रक्षा का भार।
क्या है उचित चलाना उसको निज शरणागत पर तलवार ।।

---

१. ऋजुकूला नदी।   २. सिंहासन।   ३. दीक्षा।

देता है ईश्वर न किसी को सिर्जनस्त या द्रव्य अपार।
हैं अपने ही कर्म हमारे दुख अथवा सुख के आधार।।
अपने पर विश्वास करो पहिचानों अपनी शक्ति अपार।
चाहोगे तो बन जाओगे तुम्ही कभी ईश्वर अवतार।।

वस्तु एक है दृष्टि भेद से हो जाती वह विविध प्रकार।
बिना उसे समझे लड़ता है यो ही यह मानव ससार।।
अगर एक ही जन में हो सकता है पुत्र पिता व्यवहार।
तो हम और विरोधी बातें भी कर सकते हैं स्वीकार।।

सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र मुक्ति के हैं साधन।
इनके बिना न तोडे जा सकते अनन्त भव के बन्धन।।
वही साधु चर्या है अपनेपन[1] का जहाँ न है आभास।
सदा त्याग में ही जीवन है और मरण है भोग विलास।।

सुनकर यह उपदेश वीर का गद गद हुए सभी प्राणी।
अगणित कंठो से निकली ध्वनि धन्य धन्य यह जिनवाणी।।
किया किसी ने वही तपस्वी जीवन उसी समय स्वीकार।
सदाचार से रहने का प्रण किया किसी ने अंगीकार।।

देख शात छवि महावीर की पशुओ को भी हुआ सुबोध।
छोड दिया बहुतों ने उनमे आपस मे करना प्रतिरोध।।
जगह-जगह मिट गई यज्ञशालाएँ यूप[2] हुए बेकार।
लगा विचरने निर्भय होकर पशु पक्षी मानव संसार।।

काशी कौशल अग बग कुरुजागल और कलिंग प्रदेश।
कामरूप कर्णाटक मथुरा सिन्धु और पश्चिम के देश।।
महावीर ने तीस वर्ष तक सभी जगह कर सुखद प्रचार।
ध्वजा अहिंसा की फहरा दी और किया जग का उपकार।।

पावा में आकर फिर प्रात काल हुआ उसका निर्वाण।
किया जगत ने अपने को अनुभव उनके दुख मे निष्प्राण।।
ज्ञानदीप बुझ गया दिवाली कर तब किया प्रकाश महान।
मंगलमय हो सदा विश्व मे सबको महावीर भगवान्।।

●

१. ममत्व भाव। २. पशुओं के बाँधने के लिए काष्ठस्तंभ।

महावीर वाणी

दो हजार वर्षों से ऊपर-
हुए इसी वसुधा पर
एक तपस्वी राजपुत्र ने
यहाँ बसाया था घर

कष्ट और विघ्नो में उसने
जीवन पार किया था
जनहित मे तन-धन-यौवन
सब अपना लगा दिया था

है न आज वह छोड़ गया
पर अपनी अमर कहानी
विश्व हितैषी महापुरुष
वह महावीर था ज्ञानी

थे उसके सिद्धार्थ पिता
रानी त्रिशला थी माता
भारत में अवतरित हुआ था
वह जन भाग्यविधाता

बचपन उसका लाड चाव मे
बीता, हुआ युवा जब
देख जगत को दुखी, हो गया
वह विरक्त घर से तब

त्याग वस्त्र आभूषण, पहुँचा
बिल्कुल निर्जर वन में
करने लगा साधना, होकर
निर्भय अपने मन में

ग्रीष्मकाल वर्षा हिम ऋतु-
सब एक एक कर आए
किन्तु साधनाविरत न उस
अभिमानी को कर पाए

किए गए उपसर्ग न जाने
कितने उसे गिराने
पर वह रहा अडोल, सभी
उपसर्ग सहे मनमाने

एक बार जब ध्यान मग्न
वह बैठा था कानन में
सहसा हुआ प्रकाश अलौ-
किक उसके हृदय गगन मे

देखा उस अभिनव प्रकाश-
में उसने जगत चराचर
दिए दिव्य दर्शन जनता को
पाकर पद तीर्थंकर

हुआ प्रथम उपदेश वीर का
विपुलाचल पर्वत पर
श्रोताओं में प्रमुख भक्त था
बिम्बसार मगधेश्वर

उमड पडी जनता सुनने-
सब उसकी अमृत वाणी
भेद भाव निज भुला
परस्पर बैठे सब ही प्राणी

हुई देशना महावीर की
फिर यों सबके सन्मुख
इस अनन्त जग मे यह
प्राणी स्वयं उठाता है दुख

भले बुरे अपने कर्मों का
है दायित्व इसी पर
मृत्यु और जीवन न किसी-
को देता है परमेश्वर

है न उचित कर्तव्यहीन
बन कर इसलिए रिझाना
ईश्वर को या किसी देवता-
पर फल फूल चढ़ाना

वही भक्त है ईश्वर का जो
निज कर्तव्य निभाता
जी हुजूर सेवक न वस्तुतः
स्वामिभक्त कहलाता

खड़ा रहा हो मनों अन्न
मंदिर में भक्त पुजारी
तरस रहा है वहीं खड़ा
दानों को एक भिखारी

किन्तु पुजारी को न द्रवित
कर सकी दीन की वाणी
सोचो तो वह भक्त न होगा
कितना निष्ठुर प्राणी

निज आचरणों का सुधार
ईश्वर पूजा का फल है
सच्चा भक्त वही है, भीतर
बाहर जो निर्मल है

घृणा और अभिमान न इनसे
जो ऊपर उठ पाया
व्यर्थ साधनाओं में उसने
अपना जन्म गंवाया

धन वैभव की आशा से
जो ईश्वर को अपनाते
ईश्वर पूजा का महत्त्व वे
साधक मूढ गंवाते

देख सकें अपनी बुराइयाँ
ईश्वर के सम्मुख सब
पूजागृह इसलिए बने हैं
और न है कुछ मतलब

निपराध जन आज सताए
जाते हैं पृथ्वी पर
है इस सबके लिए भला
क्या उत्तरदायी ईश्वर

यदि वह उनके पूर्व जन्म के
कर्मों का दुष्फल है
तो न उचित है कहना यह
ईश्वर का लिखा अटल है

यदि ईश्वर ही जीवों के
कर्मों का फल दाता है
तब क्यों पुरुष सतानेवाला
राजदण्ड पाता है

यदि वे जीव सताए जाते
हैं ईश्वर से छिपकर
असर्वज्ञ तब हुआ जगत-
का रक्षक वह परमेश्वर

ईश्वर ही यदि सभी झंझटें
दुनियाँ की पालेगा
ईश्वर का आराधक तब
क्यों उससे विमुख रहेगा

राजपाट को छोड कौन तब
सन्यासी पद लेगा
कौन न ईश्वर के समान
शासक बनना चाहेगा

अपनी असफलताओं को
तुम मढो न ईश्वर के सिर
देखो कहाँ कमी है करने
लग जाओ उद्यम फिर

कभी निराशा का न करो तुम
अनुभव अपने मन में
स्वयं तुम्हारा साहस ही
साथी होगा जीवन में

मठों मन्दिरो में तुम सुख की
भीख न मांगों जाकर
खोजोगे तो देख सकोगे
सुख तुम अपने अन्दर

यहीं अभी इस हालत में
यदि कोई सुखी नही है
तो फिर और न जगमें उसको
सुख की जगह कहीं है

आज यज्ञ में अगणित पशुओं
को होमा जाता है
मानों ईश्वर स्वयं वधिक बन
उनको कटवाता है

जगत्पिता परमेश्वर सब-
का रक्षक कहलाता है
तब क्यों उसके निकट
मूक प्राणी मारा जाता है

अगर यज्ञ के लिए उन्हें
ईश्वर ने जन्म दिया है
क्यो तब उन पशुओ को
निज प्राणों का मोह दिया है

क्यों वे जाते हुए यज्ञ की
वेदी पर भय खाते
पशुओ की ही भाति न क्यो
याजक यह पुण्य कमाते

क्या मनुष्य की तरह न
पशुओं को जीवन प्यारा है
क्यों मनुष्य तब उन पशु-
ओं का बनता हत्यारा है

है जग मे जब जीने का
सबको अधिकार बराबर
तब न उचित है हमें, करें
हम जीवो को न्यौछावर

वही धर्म सच्चा है जिसमे
सुख का अनुभव होता
किन्तु उसे सुख कहाँ, यज्ञ
मे जो प्राणों को खोता

जीवों को वध करना ही यदि
पुण्य नाम पाएगा
तो फिर जीव दया करना
बोलो क्या कहलायेगा

हिंसा से बढ़कर दुनियाँ मे
कोई पाप नही है
और अहिंसा से बढ़कर
कोई युगधर्म नही है

मरते दम तक कभी अहिंसा
को न भुलाओ मन से
औरो का जीवन न हीन
समझो अपने जीवन से

कभी किसी के लिए विचारों
बुरा न अपने मन में
आने दो कटुता न कभी
तुम अपने किसी वचन में

करो न दुर्व्यवहार किसी से
अपने तन के द्वारा
यही अहिंसक के जीवन का
मूल मन्त्र है प्यारा

ऐसा महा अहिंसक प्राणी
सब कुछ निज खोकर भी
बदले की भावना भूल कर
मन में लाता न कभी

कीट पतंगों की रक्षा को
भी महत्व वह देता
जान बूझकर किसी जन्तु के
नाहक प्राण न लेता

बिम्बसार नृप ने तब पूछा
बडी विनय से उठकर
प्रभो ! एक संशय है उसको
दूर करें करुणा कर

जमा रहा हो शत्रु पैर जब
जन्म भूमि अपनी पर
क्या है उचित वीर नृप को
वह रहे अहिंसक बन कर

जो गृहस्थ अपने धन का
अर्जन संरक्षण करते
लाखों क्या उनसे असंख्य
ही जीव जन्तु नित मरते

बहू बेटियों की रक्षा का
भी वे भार उठाते
रावण का वध किये बिना
क्या रघुपति आदर पाते

सुन यह समुचित प्रश्न वीर ने
यों निज गिरा उचारी
हिंसा चार तरह से करते
हैं जग के नरनारी

शस्त्र उठाकर वैरी से जो
निज रक्षा की जाती
हिंसाओं में प्रथम विरोधी
हिंसा वह कहलाती

धन के अर्जन संरक्षण में
जो हिंसा की जाती
वह गृहस्थ के द्वारा
उद्योगी हिंसा कहलाती

गृह कामों में जीव अपरिमित
जो नित मरते रहते
उसे तीसरी आरंभी हिंसा
गृहस्थ की कहते

अमुक जीव को मारूँगा मैं
यों विचार मन में कर
करते हैं हम किसी जीव का
वध जब सस्पृह होकर

संकल्पी हिंसा यह चौथी
हिंसा कहलाती है
इरादतन इसमें जीवों की
हिंसा की जाती है

इनमे प्रथम तीन हिंसाओं
को न बचाया जाता
क्योंकि गृहस्थी के पद का
दायित्व मनुष्य निभाता

किन्तु न चौथी संकल्पी
हिंसा करना समुचित है
त्याग सर्वथा उनका कर
देने में ही जनहित है

प्रथम तीन हिंसाओ में भी
हमें सोचना है यह
तृण का हो जो चोर न
फाँसी पावे बेचारा वह

जीवों के वध पर निर्भर हम
करें न धन का अर्जन
गृह कामों को भी न करें हम
बिल्कुल ही निर्दय बन

यों गृहस्थ होता है केवल
स्थूल अहिंसाधारी
पूर्ण अहिंसक की पर
उससे दुनिया होती न्यारी

राजनीति या शासन में वह
कभी न हाथ बटाता
और न पत्नी पुत्रों से वह
निज गृह द्वार बसाता

मोह और ममता से उठ वह
त्याग मार्ग अपनाता
आत्म निरीक्षण में ही
अपना सारा समय लगाता

शत्रु मित्र दोनों ही होते
उसके लिए बराबर
निंदा और प्रशंसाओ को
देता जगह न अन्दर

चारों ही दिशाओ से वह
दूर सदा रहता है
बड़े भयानक कष्टों को भी
समता से सहता है

चलता है तब देख भाल
कर आगे पाँव बढ़ाता
यो छोटे जीवो की रक्षा
को भी नही भुलाता

बिम्बसार ने कहा प्रभो !
मेरा संशय सब भागा
वस्तुतत्व से दूर रहा
मैं अब तक मूढ़ अभागा

एक और संशय है मेरे
मन में नाथ ? दयाकर
दूर करें वह क्यो बिभिन्न
मत हैं दुनिया में घर घर

वीर लगे करने नृप का तब
यों सन्देह निवारण
दृष्टि भेद ही मत बिभिन्नता
का है केवल कारण

सभी दृष्टियो से होता है
वस्तुतत्व का निर्णय
एक दृष्टि को पकड़ बैठना
है यह पूर्ण पराजय

उदाहरण है इसी विषय
में एक बड़ा ही सुन्दर
दो सैनिक प्रतिकूल दिशा
में चले एक ही पथ पर

उसी राह में कही एक सोने
की ढाल गड़ी थी
जिसकी बाजू एक सिर्फ़
चाँदी से गई मढ़ी थी

वे दोनों सैनिक जब चल
कर उसी राह पर आए
ढाल देखकर दोनों तब
आपस में यों टकराये

कहा एक ने लगती है यह
कैसी ढाल मनोहर
सोने से जो मढ़ी गई है
द्रव्य अपरिमित व्ययकर

सुनकर यह तारीफ ढाल
की कहा दूसरे ने यो
चांदी की है ढाल स्वर्ण
की उसे बताते हो क्यों

वस्तु सामने है तो भी
उसको पहचान न पाते
सही वस्तु को भी सैनिक !
क्यो उल्टी तुम बतलाते

सुनकर यह प्रतिवाद प्रथम
सैनिक ने आगे बढ़कर
पहले देखी ढाल ध्यान से
बोला पुनः कड़क कर

झूठ बोलते हुए न लज्जा
सैनिक ! तुमको आती
अद्भुत है यह बुद्धि स्वर्ण
को जो चादी बतलाती

दोनो में कुछ देर हुआ
इस तरह विवाद परस्पर
लड़ने फिर वे लगे क्रोध
से शस्त्र हाथ में लेकर

क्षत विक्षत हो गई देह
दोनों की वहाँ झगड़ते
किसी पथिक ने आकर तब
यों कहा 'अरे ! क्यों लड़ते'

दोनों ही तुम ठीक कह रहे
हो सन्देह न इसमें
एक दूसरे की अपना लो
जगह किन्तु आपस में

देखोगे तब ढाल स्वर्ण
या चांदी की है निर्मित
सुलह कराने का न और
कोई उपाय है समुचित

दोनों सैनिक खडे हुए
आपस में जगह बदलकर
और देखने लगे ढाल को
दोनो उत्सुक होकर

हुआ उन्हें आश्चर्य ढाल
जब उभय धातु की पायी
बोले मिटा दिया तुमने
मतभेद हमारा भाई

इसी तरह दार्शनिक क्षेत्र
में भी मत भेद पनपते
थोड़ी दृष्टि बदलने से
ही वे मतभेद विघटते

किसी वस्तु को कभी सर्वथा
एक रूप मत मानो
किसी अपेक्षा से वह भी है
यों उसको पहचानो

पुरुष एक है वही पिता
अपने सुत का कहलाता
और पिता अपने का
उससे है बेटे का नाता

पौत्र पितामह दोनों ही
जब नही परस्पर लड़ते
क्यों तब और विरोधी बातों
में हम लोग झगड़ते

दो विरुद्ध बातें आपस में
जिनको समझा जाता
किसी अपेक्षा से उनका
भी है आपस मे नाता

उष्ण वस्तु को सभी लोग
यद्यपि हैं उष्ण बताते
अधिक उष्ण की तुलना
में पर शीत उसे ही पाते

अमुक वस्तु छोटी है यह
व्यवहार तभी होता है
बड़ी वस्तु का उसके सम्मुख
जब सुयोग होता है

लेकिन छोटी वस्तु वही
उस समय बडी हो जाती
जब उससे भी अधिक
वस्तु छोटी तुलना मे आती

रहते हैं यों [1]अन्त अनेको
एक वस्तु में मिल कर
अनेकान्त हैं इसीलिए
जग की सब वस्तु चराचर

एक धर्म को किन्तु विवक्षा-
वश जब हम कहते हैं
अविवक्षा से अन्य धर्म
तब स्वतः गौण रहते हैं

मुख्य धर्म के साथ 'कथंचित्'
अथवा 'स्यात्' लगाकर
अविवक्षित धर्मों का भी
हो जाता ग्रहण वहाँ पर

'स्याद्वाद' है यही, 'अपेक्षा-
दृष्टि' यही कहलाती
इसे भुलाकर ही दुनिया
अपने मतभेद बढ़ाती

---

१. धर्म।

द्वैत और अद्वैत परस्पर
तब तक ही टकराते
जब तक उनके लिए अपेक्षा
दृष्टि न हम अपनाते

इसीलिए नित्यत्व और
क्षणिकत्व धर्म भी मिलकर
एक वस्तु में रहते हैं दोनो
अविरोधी बनकर

यों दुनिया के सभी धर्म
आ जाते एक जगह पर
मतभेदो को उन्हे न
मिलता है अवकाश परस्पर

'अमुक वस्तु है ऐसी ही' यो
कहना नही उचित है
किन्तु 'वस्तु है ऐसी भी' यो
बतलाना समुचित है

सुनकर यह उपदेश वीर का
मुदित हुआ मगधेश्वर
बोला आज समझ पाया हूँ
वस्तु तत्त्व मैं जिनवर!

किन्तु अभी तक एक और
सशय है मेरे मन में
सुख कहते हैं किसे
जीव क्यो फिरता है भववन में

महावीर ने कहा निरा-
कुलता ही सच्चा सुख है
बिना निराकुलता के लेकिन
जग में दुख ही दुख है

धन वैभव अधिकार न इनमें
होते सुख के दर्शन
सभी इंन्द्रियाधीन विषय
हैं आकुलता के साधन

एक लंगोटी रखनेवाला
भी चिन्तातुर रहता
उसके धोने और सुखाने
की विपदाएँ सहता

फट जाती तो उसे सिलाने
के साधन अपनाता
एक लंगोटी रखने में नर
कितने कष्ट कमाता

भला करोड़ों के धन का
जो करते हैं संरक्षण
उन्हें न जाने कितने होते
होंगे कष्ट प्रतिक्षण

इसी तरह जो विषयों के सेवन
मे होता है दुख
सुख जैसा होता प्रतीत वह
लेकिन सचमुच है दुख

खाज खुजाने मे सुख है
पर पीछे दुख सहना है
होती जिसके खाज न उसके
सुख का क्या कहना है

तरह तरह की इच्छाएँ
आकुलताएँ बन जाती
ये इच्छाएँ ही प्राणी की
राग द्वेष कहलाती

राग द्वेष मे पडकर ही यह
जीव भ्रमण करता है
और वीतरागी बनकर
भव सागर से तरता है

इसीलिए सच्चे सुख का
अभिलाषी छोड़ परिग्रह
रहता है एकांत विपिन में
दुनिया जान भयावह

आयुध वस्त्र न आभूषण
होते हैं उसके तन पर
मनोविकारों को तजकर
वह रहता पूर्ण दिगंबर

तिरस्कार पाकर होता है
दुखी न अपने मन मे
चाह न होती उसे प्रतिष्ठा
पाने की जीवन में

भूख प्यास की बाधाओ से
कभी न वह घबडाता
और याचना करके अपना
गौरव नही घटाता

महाव्रती बन करता है यों
घोर तपश्चर्या जब
कर्मों का बहु भाग क्षीण
हो जाता है उसके तब

'जिन' अथवा 'अरहंत' 'केवली'
पद तब वह पाता है
बन अनन्त ज्ञानी जग को
सुख का पथ दरसाता है

पुन: शेष कर्मों का भी क्षय
कर, शिव सुख अपनाता
होकर मुक्त अनंत काल को
परमेश्वर बन जाता

विविध नयो से भूषित सुन
यह महावीर की वाणी
मुदित हुए सब बिम्बसार नृप
और सभा के प्राणी



निर्ग्रन्थ साधु शिरोमणि आचार्य धर्मसागर जी

निर्ग्रन्थ साधु शिरोमणि परम पूज्य आचार्य धर्मसागर जी के अभिनन्दन समारोह में भाग लेने का हमें भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। आचार्य श्री को समुज्ज्वल कीर्ति व सयम से स्वच्छ व्यक्तित्व, ससार, शरीर और भोगों से निस्पृहता, यश और प्रतिष्ठा से उपेक्षित जीवन, निर्द्वन्द्व व्यक्तित्व सभी कुछ अपने आप में अद्वितीय है। उनके नाम का स्मरण आते ही चित्त भक्ति से ओत-प्रोत हो जाता है। यद्यपि इस समारोह को अभिनन्दन ग्रन्थ विमोचन समारोह के नाम विज्ञप्त किया गया था पर वस्तुतः आचार्य श्री के लोकोत्तर महान् व्यक्तित्व के सामने अभिनन्दन ग्रन्थ विमोचन समारोह सूर्य को दीपक से आरती उतारने के समान था। लेकिन आरती उतारने वाला भी क्या करे वह सूर्य तक पहुँच सकता नही फिर भी सूर्य के समादर के लिए दीपक से आरती उतारने के अतिरिक्त चारा भी क्या है।

अभिनन्दन ग्रथ का विमोचन तो हुआ पर वह विमोचन आचार्य श्री के समक्ष नही किन्तु भिंडर मे विराजमान आचार्यकल्प पू० श्रुतसागर जी महाराज के समक्ष हुआ ठीक उसी तरह जिस तरह प्रात: उषा काल मे सूर्य निकलने से पहले ही उसकी लालिमा को अवगत कर आरती उतारी जाती है। वह आरती सूर्य की आरती ही है अत भिंडर मे जो विमोचन समारोह हुआ वह आचार्य धर्मसागर जी के समक्ष ही हुआ कहना चाहिये क्योंकि परम पूज्य आचार्य धर्मसागर जी एव परम पूज्य आचार्यकल्प श्रुतसागर जी इन दोनो साधुओ में व्यक्ति पार्थक्य होकर भी स्थापना निक्षेप की निकटता से हम भक्तो के लिए उनमें कोई अन्तर नही था। अत: आचार्यकल्प श्रुतसागर जी के हाथो से ग्रन्थ का विमोचन देखकर सभी दर्शको के हृदय प्रसन्नता से गद्‌गद हो गये। आचार्य धर्मसागर जी एव श्रुतसागर जी महाराज का जयजयकार किया गया। हजारों दर्शको मे जो उपस्थित थे सभी मे धर्मसागर जी के प्रति अगाध भक्ति थी। सभी उनकी आदर्शता के प्रति नतमस्तक थे।

अनेको के मुख से यह कहते हुए सुना गया कि साधु हो तो ऐसा हो। कुछ लोग यह जानने को उत्सुक थे कि आखिर आचार्य धर्मसागर जी के अभिनन्दन ग्रन्थ का उनके सामने ही क्यों विमोचन नही किया गया। जबकि वे भिंडर के पास ही पारसोला मे विराजमान थे। जब उनसे कहा गया कि आचार्य धर्मसागर जी अपना कोई अभिनन्दन नही चाहते और न वे अपने सामने ग्रन्थ विमोचन की आज्ञा देते हैं तो लोगो को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ सभी के मुख से एक ही आवाज निकलती थी कि साधु हो तो ऐसा हो। दूसरे दिन पारसोला मे आचार्य धर्मसागर जी का तथा सघस्थ तीन अन्य साधुओ का केशलोंच समारोह था। भिंडर मे आई हुई जनता बसो मे टेक्सियो मे भिंडर से आचार्यश्री के दर्शनो के लिए पारसोला पहुँची। वहाँ केशलोच देखा तथा बाद में कुछ प्रमुख व्यक्तियों ने महाराजश्री के आगे वह अभिनन्दन ग्रन्थ रखा।

किन्तु महाराज श्री ने ग्रन्थ को स्वीकार करना तो दूर रहा उसको हाथ भी नहीं लगाया। महाराज का केशलोच के बाद बडा मार्मिक उपदेश भी हुआ। उन्होने स्पष्ट कहा कि साधु को अपनी या पर की मान बड़ाई से क्या प्रयोजन है? साधु लोग चदा करते हैं, करवाते हैं क्या ये साधुओं का काम है? साधु को इन

सब बातों से निरपेक्ष रहना चाहिये। उपदेश समाप्ति के बाद आचार्य महाराज ने ग्रन्थ रखने वालों को कहा कि इस ग्रन्थ को उठा ले जाओ, यह ग्रन्थ यहाँ सभा में नहीं रहेगा। महाराज की इस निरीहता से सभी प्रभावित हुये।

वस्तुतः आचार्य धर्मसागर जी आज के जमाने के एक आदर्श साधु हैं। भले ही चतुर्थ काल के मुनियों जैसा उनका संहनन न हो फिर भी चतुर्थ काल के मुनियों के आदर्श वे निर्वाह कर रहे हैं। उनकी सबसे बडी विशेषता यह है कि उन्हें किसी से किसी प्रकार का लाभ नहीं है। और स्वय की मान प्रतिष्ठा का व्यामोह। धनी की अपेक्षा और निर्धन की उपेक्षा से भी वे कोसों दूर हैं। धर्म का रूप बना कर वे ऐसा कोई कार्य हाथ में नहीं लेते जिसमें आरम्भ होता है। यहाँ तक कि वे सघ मे भी इस प्रकार की आकस्मिक परिस्थितियों से दूर रहते हैं। हमें स्मरण है २५ सौवी निर्वाण शताब्दी मे पू० आचार्य महाराज का चातुर्मास दिल्ली में हुआ। एक दिन महाराज लालमन्दिर के एक बरामदे में बैठे हुए थे। गर्मी का जोर था, एक सज्जन आये उन्होंने स्वीच बटन दबाकर पखा चला दिया। जब महाराज की दृष्टि उधर गई तो महाराज ने पूछा क्यों चला दिया ? उन सज्जन ने कहा गर्मी बहुत जोर की है पखे से कुछ राहत मिलेगी। महाराज चुपचाप वहाँ से उठ गए। मैंने महाराज से कहा कि उसने भक्ति के आवेश मे तो वह हमारे ऊपर कपडा भी डाल सकता है तब क्या वह कपडा हमारे लिए उचित होगा ? तुम तो पंडित जी हो ? मैं उनकी इस दृढ़ता को देखकर चुप हो गया।

एक बार किन्हीं सज्जन ने महाराजश्री से कहा कि महाराज आप भी कोई ग्रन्थ लिखिए जिससे लोगों को आपके अनुभव मिले। महाराज ने कहा कि पुराने ग्रन्थ तो कोई पढता नही मदिरो मे रखे उस पर दीमक लग गयी है नये ग्रन्थ लिखने की लोगो मे होड चल रही है। इस तरह हमने देखा कि हमारा ऐसा कोई काम हाथ में नहीं लेना चाहते जिससे आरम्भ हो या महत्त्व बढे। सुना है अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए महाराज ने प्रारम्भ मे कहा था कि अभिनन्दन ग्रन्थ का हम क्या करेंगे ? उसके रखने से ही तो हमारे लिए वह परिग्रह बन जायेगा। बात स्पष्ट है—शास्त्र स्वाध्याय के लिए है न कि सग्रह कर रखने के लिए। जहाँ यह भाव है कि यह मेरा शास्त्र है, ये मेरे ग्रथ है वहाँ नि सन्देह वह परिग्रह भाव है जो मुनि के लिए सर्वथा त्याज्य है ग्रन्थो का संग्रह करके उनके रख-रखाव के लिए किसी आदमी को नियुक्त कर देना यह भी परिग्रह भाव है अत. साधु सस्था के लिए इस प्रकार की प्रवृत्ति उपादेय नहीं है। पूज्य आचार्य महाराज इन सब प्रकार की प्रवृत्तियो से दूर रहते हैं।

उनके संघ मे रहने वाला कोई त्यागी भले ही सातवीं प्रतिमाधारी क्यो न हो अपनी यात्रा आदि के लिए किसी से भी धन की याचना नही कर सकता। इस सबध में पूज्य आचार्य महाराज का कठोर अनुशासन रहता है।

आचार्य श्री का कार्य ध्यान स्वाध्याय के अतिरिक्त शिक्षा दीक्षा आदि देकर शिष्य का निग्रह अनुग्रह करना है। यह प्रवृत्ति पूज्य आचार्य महाराज में सदा जागृत रहती है। दीक्षा के प्रसंग मे वे उचित व्यक्ति को अवश्य दीक्षा देते हैं तथा अनुचित व्यक्ति को दीक्षा देने से इन्कार करते है। औचित्य और अनौचित्य का निर्णय वे स्वयं लेते हैं। दूसरों पर निर्भर नही रहते। देहली चातुर्मास में आचार्य महाराज कुछ नई उम्र के लड़कों को दीक्षा दे रहे थे। इस दीक्षा से मन मे भावना उठी कि नई उम्र के लडको को दीक्षा नही देना चाहिए। इन भावनाओ ने निर्णय लेने का रूप ले लिया। समाज के कुछ लोग स्व० साहू शातिप्रसाद जी के नेतृत्व में महाराज श्री से मिलने आये, हम स्वयं भी वहाँ बैठे थे। आकर उन्होने महाराज से निवेदन किया

कि महाराज ! आप नवयुवकों को दीक्षा न दें आगे वे बिगड गए तो जैनधर्म की हँसी होगी । महाराज ने कहा उनके बिगड़ जाने का डर तो है ठीक है आप लोग तो नई उम्र के नही हैं आप लोग दीक्षा ले लें । ये पंडित जी (मेरी तरफ इशारा करके) बैठे हैं इनसे कहिये कि ये दीक्षा लें । साहू जी बोले कि हम लोग तो वृद्ध हैं हम कैसे मुनि धर्म का निर्वाह कर सकते हैं । महाराज ने कहा आप लोग वृद्ध हैं मुनि धर्म का निर्वाह नहीं कर सकते हैं और ये नई उम्र के लोग आगे बिगड जायेंगे तो दिगम्बर जैनधर्म की परम्परा कैसे चलेगी । आखिर कोई तो इस परम्परा को चलायेगा ।

महाराज के इस उत्तर का आवेदकों के पास कोई प्रत्युत्तर नही था । इस तरह परम पूज्य आचार्य धर्मसागर जी आचार विचारों में अत्यन्त दृढ न्याय तपस्या की प्रतिमूर्ति तथा अपने आदर्श साधु शिरोमणि हैं ।

भले ही उन्होंने अभिनन्दन ग्रन्थ लेना स्वीकार नही किया फिर भी ऐसे महान् त्याग और संयम में अद्वितीय आचार्य का अभिनन्दन करना हम श्रावको का आवश्यक कर्तव्य था । हम भगवान् के चरणो में अपनी भक्ति से समर्पित होते हैं । भगवान् भले ही हमारी उस भक्ति से निस्पृह हों । तब परम पूज्य आचार्य धर्मसागर जो के चरणो में समर्पित होने के लिये हमारी यह अभिवदना ही अभिनन्दन ग्रन्थ का विमोचन था । हम पुन -पुन. आचार्य चरणो को अभिवन्दना करते हैं ।

महान् प्रेरणास्रोत साधर्मी भाई रायमल्ल का व्यक्तित्व और कर्तृत्व

साधर्मी भाई रायमल्ल उन महापुरुषों में हैं जो बिना किसी आत्मप्रदर्शन के चुपचाप आत्मकल्याण और जनता को सेवा मे निरत रहे हैं। धर्म और समाज की सेवा मे इस महापुरुष ने जिस प्रकार अपने आपको खपाया था उसे किसी प्रकार भुलाया नही जा सकता। भाई रायमल्ल के भूलन का अर्थ है टोडरमल जी को भूल जाना। 'योजकस्तत्र दुर्लभ' के अनुसार ये भाई रायमल्ल ही थे जिन्होने गोम्मटसारादि की टीका करने के लिए पं० जी को प्रेरित किया था। टीका ही नही बल्कि उन्होने उसमे क्रियात्मक सहयोग भी दिया था। आपके सहयोग का ही यह फल था कि इतने दुरूह ग्रन्थो की ६५ हजार श्लोक प्रमाण टीका प० जी तीन वर्ष मे कर सके थे। इस सबध मे रायमल्ल जी ने अपने परिचय मे स्वय लिखा है—'पीछे सेखावाटी विखें सिंघाणा नग्र तहाँ टोडरमलजी एक दिल्ली का बडा साहूकार साधर्मी ताके समीप कर्म कार्य के अर्थि वहाँ रहैं तहाँ हम गए। अर टोडरमल्लजी सू मिले। नाना प्रकार के प्रश्न किए ताका उत्तर एक गोम्मटसार नामा ग्रन्थ की सारिखसूं देते गए। ता ग्रन्थ की महिमा हम पूर्वे सुनी थी तासू विशेष देखी। पीछे उनसू हम कही—तुम्हारे या ग्रन्थ का परिचय निमल भया है, तुम करि या की भाषा टीका होय तो घणा जीवो का कल्याण होइ अर जिनधर्म का उद्योत होइ। अब ई काल के दोष करि जीवा की बुद्धि तुच्छ रही ह तो यातें आगे भी अल्प रहेगी। तातें ऐसा महान ग्रन्थ पराकृत ताकी मूल गाथा १५०० ताकी टीका सस्कृत अठारह हजार ता विषै अलौकिक चर्चा का समूह सदृष्टि व गणित शास्त्र की आम्नाय सयुक्त लिखा है। ताका भाव भासना महा-कठिन है। अर याकी प्रवृत्ति पूर्वे दीर्घकालपर्यंत ते लगाय अब ताई नाही तो आगे भी याकी प्रवृत्ति कैसे रहेगी। तातें तुम या ग्रन्थ की टीका करने का उपाय शीघ्र करो। आयु का भरोसा है नाहीं। पीछे ऐसे हमारे प्रेरकपणाका निमित्त करि इनके टीका करने का अनुराग भया। पूर्वे भी याकी टीका करने का इनका मनोर्थ था ही। पीछे हमारे कहने करि विशेष मनोर्थ भया। तब शुभ दिन मुहूत विखे टीका करने का प्रारम्भ सिंघाणां नग्रविषें भया सोवै तो टीका बनावते गए, हम बांचते गए। बरस तीन मे गोम्मटसार ग्रन्थ को ३८००० लब्धिसार क्षपणसार ग्रन्थ की १३००० त्रिलोकसार ग्रथ की १४००० मब मिलिकरि चारया ग्रथाकी पैसठि हजार टीका भई' प० टोडरमलजी ने भी टीका की अन्तिम प्रशस्ति मे आपका उल्लेख[1] किया है। इसी प्रकार पद्मपुराण, हरिवशपुराणादिकी टीका भी आपने प्रेरणा कर प० दौलतरामजी लिखवाई है[2]। जिनवाणी

---

१. रायमल्ल साधर्मी एक, धर्म सधैया सहित विवेक। सो नाना विधि प्रेरक भयो, तब यह उत्तम कारज थयो ॥

२. रायमल्ल साधर्मी एक, जाके घट मे स्वपर विवेक। दयावत गुणवत सुजान, पर उपकारी परम निधान ॥
दौलतराम सुताको मित्र, तासों भाख्यो वचन पवित्र। पद्मपुराणमहाशुभ ग्रन्थ, तामे लोक शिखरको पथ ॥
भाषा रूप होय जा येह बहुजन बाचें कर अति नेह। ताके वचन हिएमें धार, भाषा कीनी मति अनुसार ॥

की सेवा का आपको व्यसन ही था। आश्चर्य नही यदि उक्त ग्रन्थों की टीका के लिए आपकी प्रेरणा न होती तो वे शायद ही प्रकाश में आते।

आप बचपन से ही विरक्त, विचारक और सदाचार की मूर्ति थे। तेरह-चौदह वर्ष की अवस्था में जब यौवन उभार लेता है और तरह-तरह की दुष्प्रवृत्तियों का युवक क्रीडास्थल बनने लगता है तब आप एक गम्भीर दार्शनिक की तरह जन्म मरण की समस्या सुख दुःख का सयोग, जगत् का विनाश और सृजन आदि बातों में उलझे रहा करते थे[१]। इस तरह आप सात वर्ष तक बराबर इन्ही बातो को सोचते रहे पर आपको इनका कोई समाधान न सूझा। २२ वर्ष की अवस्था मे आप साहपुरा नगर गए। वहाँ एक धार्मिक और सहृदय सज्जन नीलापति साहूकार से आपकी भेंट हुई। आपने (रायमल्ल ने) लिखा है कि नीलापति दिगम्बर धर्म के कट्टर श्रद्धानी, आध्यात्मिक शास्त्रो के पाठी, षट्द्रव्य, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय आदि चर्चा के पारगामी धर्ममूर्ति और ज्ञान के सागर थे। इनके तीन पुत्र थे वे भी बडे धर्मात्मा थे। इस परिवार के अतिरिक्त और भी ५-७ लोग वहाँ विशेष चर्चा के जानकार थे। रायमल्लजी उनकी गोष्ठी मे रहे और अपनी अनेक शंकाओं का समाधान कर शुद्ध दिगम्बर सर्वज्ञ वीतराग के मर्म को सत्य पहचाना। आपने लिखा है कि यहाँ हमें इस प्रकार सम्यग्ज्ञान का बोध हुआ जैसे कोई सोता आदमी जाग उठता है। आप यहाँ सात वर्ष रहे। इस अर्से मे आपके परिणाम इतने निर्मल हो गए कि आपने जीवन पर्यन्त सब प्रकार की वनस्पति का भक्षण, रात का पानी तथा आजीवन विवाह न करने की प्रतिज्ञा ले ली।

यहाँ से चलकर आप उदयपुर पहुँचे और श्री पं० दौलतरामजी की सगति की। यहाँ भी ४०-५० स्त्री पुरुषो की चर्चा गोष्ठी मे आपको बैठने का अवसर मिला और खूब धार्मिक लाभ लिया। यहाँ से आप फिर साहपुरा आए और कुछ दिन रहकर प० टोडरमलजी की ख्याति सुनकर उनसे मिलने जयपुर चल दिए। वहाँ मालूम हुआ कि टोडरमलजी इस समय सिंघाणा नगर में हैं अत वहाँ प० वंशीधरजी से जो संभवतः टोडरमलजीके गुरु थे उनसे मिले। उनकी संगति का लाभ लेकर आप आगरे आए और प० भूधरमलजी (जैन शतक के कर्ता) से मिले। इनके बारे मे लिखा है कि ये व्याकरण के पाठी और अनेक शास्त्रो के पारगामी थे तथा आगरे मे साहगंज के चैत्यालय मे शास्त्र प्रवचन करते थे। साथ ही ऐसे ही विद्वान् एक धर्मपाल सेठ भी थे जो मोती कटरे के चैत्यालय मे शास्त्र प्रवचन किया करते थे। यहाँ आपने इन दोनो विद्वानो से चर्चा वार्ता का लाभ उठाया। यहाँ से आप पुन. सेखवाटी चल दिए और सिंघाणा नगर मे प० टोडरमलजी से मिले। यहा पहुँच कर आपने प० जी से गोम्मटसारादि की टीका करने के लिए प्रेरणा की। तीन वर्ष तक आप वहाँ रहे और टीका निर्माण मे प० जी को सहयोग करते रहे। टीका करने के बाद आप दोनो जयपुर आए और ग्रन्थों का सशोधन कर उन्हें लिखवाकर जहाँ-तहाँ विराजमान किया। इसके बाद सम्भवत. आप जयपुर में ही बस गए थे और तत्त्वचर्चा मे अपना समय बिताते थे।

---

१. अरमन विषे ऐसा सदेह उपजे—ए सासता एता मनुष्य उपजे हैं, एती वनस्पति उपजे हैं, एता तिर्यंच उपजे हैं, ऐता नाज, सप्तधातु, रूई, षट्रसमेवा आदि नाना प्रकार की वस्तु उपजे हैं सो कहाँ सुमावे है। बहुरि केई काल ऐसा विचार आवे-अठे धर्म साधन करिए, पीछे वाका फलतें राज पद पावे, ताके पाप करि फेरि नर्क जाय तो ऐसा धर्म करि भी कहा सिद्धि ! ऐसा धर्म करिए जा सब संसार का दुःख निर्वति हो जाय। इत्यादि देखो वी० वा० वर्ष १ अंक २।

संवत् १८८१ मे इन्द्रध्वज पूजा महोत्सव मे आपने अत्यधिक काम किया था। इन्द्रध्वज पूजा का निमंत्रण पत्र[1] आपने ही अपने हाथों लिखा था। पत्र के प्रत्येक शब्द में आपके हृदय की सरलता फूट पडती है। उस पत्र को पढकर आपके काम का अन्दाजा पाठक लगा सकेंगे। आपके मालवा जाने का वर्णन पं० दौलतरामजी ने इस प्रकार लिखा है—

रायमल्ल के रुचि बहुत, व्रत किरिया परवीन
गए देश मालव विषें जिनशासन लवलीन
तहाँ सुनाए ग्रन्थ उन भाषा आदि पुराण
पद्मपुराणादिक तथा, तिनको कियो बखान
सब भाई राजी भए, सुनकर भाषा रूप
तिनके रुचि अतिही बढ़ी, धारी कथा अनूप
रायमल्ल से सबन ने करी प्रार्थना येह
करवाओ हरिवंश की भाषा बहुगुण गेह
आगे दौलतराम ने टीका भाषा माहि
करी सो ही अब यह करे यामे सशय नाहि
तब भेजी पत्री यहाँ रायमल्ल धर भाव
लिखो जु साधर्मीनुको कारण धर्म प्रभाव
तथाजु दौलतराम को मल्ल लिखी यह बात
करहु भाषा हरिवंश की सबके चित्त सुहात

इस तरह प्रेरणा करके ग्रन्थ लिखवाना फिर उन्हें जाकर देश देशान्तरो मे सुनाना, पुन उसके बाद अन्य ग्रन्थो के लिखने के लिए प्रेरणा करना भाई रायमल्ल का ही काम था। आज जो काम एक सस्था नही कर पाती वह अकेले भाई रायमल्ल करते थे।

धर्म प्रचार करते हुए आप बासोदा भी गए थे। वहाँ आप जिस त्याग और सदाचार वृत्ति से रहे उससे आपकी महत्ता का पता चलता है। आपके व्यवहार से प्रभावित होकर वहाँ के उग्रसेन ताराचन्द आदि सहधर्मी भाइयो ने जयपुर के महारामजी गुमानीरामजी आदि को आप की प्रशसा मे इस प्रकार लिखा था। **'हमको तो ऐसे पुरुष देखने में आए नहीं जिनके तत्त्वज्ञान, सयम, श्रद्धान, नि कषायतादि गुण समूह पाइए है, सो भाई जी ऐसे सत्पुरुष इस दु षम काल विषें बहुरि होना दुर्लभ है'** सच पूछा जाय तो धर्म प्रचार के लिए ऐसे ही त्यागी और वीतरागी पुरुष की आवश्यकता है। आज अगर रायमल्लजी जैसे २-४ त्यागी भी हो तो जैन समाज का वे बहुत कुछ उपकार कर सकते है।

शान्तिनाथ पुराण की प्रशस्ति मे भी जैसा की अभी खोज से विद्वानो को पता लगा है आप की प्रशसा मे कुछ शब्द पाए जाते हैं जो इस प्रकार है—

बासी श्री जयपुरतनो टोडरमल्ल कृपाल।
ता प्रसगको पायकें गह्यो सुपथ विशाल॥
गोमटसारादिक तने सिद्धान्तन मे सार।
अवर बोध जिनके उदे महाकवी निरधार॥

१. देखो वीरवाणी वर्ष १ अंक ३।

पुनि ताके तट दूसरो राजमल्ल बुधराज ।
जुगल मल्ल जब ये जुरे और मल्ल किह काज ।।
देस ढुंढाहर आदि दै संबोधे बहु देस ।
रचि रचि ग्रन्थ कठिन किए टोडरमल्ल महेस ।।

उपर्युक्त कविता मे तीसरा दोहा खास तौर से ध्यान देने योग्य है । लिखने का मतलब यह है कि भाई रायमल्ल अपनी नि स्वार्थ सेवाओं के उपलक्ष्य में अपने समय मे ही सब जगह आदर और सम्मान के पात्र हो गए थे । हमारा अनुमान है कि जयपुर मे और आसपास धर्म प्रभावना और धार्मिक प्रवृत्ति को कायम रखने मे भाई रायमल्लजी का ही क्रियात्मक सहयोग अधिक रहता होगा । हम आपकी इस प्रवृत्ति को इन्द्रध्वज पूजा के निमन्त्रण पत्र मे स्पष्ट देखते है ।

उस पत्र मे आपने जिस आकर्षक भाषा का प्रयोग किया है और जयपुर के धार्मिक वातावरण का जो चित्र खीचा है[1] उसे पढ कर जयपुर न जाने वाला आदमी भी अवश्य पहुँचा होगा ।

धवल जयधवल आदि लेने जयपुर से जो पार्टी मूडविद्री गई थी उसमे भाई रायमल्ल भी थे । आपने वहाँ जमीन के नीचे निकला हुई मन्दिर के भोरे मे कुछ प्रतिमाओ के दर्शन किए थे। उनके दर्शन कर आप फूले नही समाए । अपने पत्र म आपन उस घटना को बडे गद्गद होकर लिखा है[2] । प० जयचन्द्र जी छावडा

१ "अर इहा जैनी लोगो का समूह है ही । अर माह सुदी १० के दिन लाखा आदमी अनेक हाथी, घोडे, पालकी, निसाण, अनेक नौबति, नगारे आरबो बाजे सहित बडा उच्छव सू इन्द्र करि करी हुई भक्ति ताकी उपमाने लिया ता सहित चत्यालय सू श्रीजी रथ ऊपर विराजमान होइ वा हाथी होदे विराजमान होइ सहर बारे तेरह द्वीप की रचना विषै जाय विराजेंगे" । तहा पीछे देश-देश के जात्री पाच सात दिन पर्यंत और रहेंगे । ईं भाति उच्छव की महिमा जानोगे । ''' अर सर्वत्र रूपा सोना के जरी का वा तबक का वा चित्राम का वा भोडल क काम का समवशरणवत् जगमगाट नैं लिया सोभा बनेंगी । और लाखो रूपा सोना के दीप वा फूल पूजन के ताई बने है । और कल का रथ वण्या सो विना वलधा, विना आदम्या, कलने फेरने करि गमन करेगा ।'''अर अढाई द्वीप विषै क्षेत्र, कुलाचल, नदी, पर्वत, वन, समुद्र, ताको रचना वणी है । कठें ही कल्पवृक्षा का वन, ता विषै कठे ही चैत्यवृक्ष, कठे ही सामान्य वृक्षा का वन, कठे ही पुष्प वाडा, कठे ही सरोवरी, कठे कुण्ड, कठे द्रह, कठें ही द्रह माहिं सू निकसि समुद्र मे प्रवश करती नदी, ताकी रचना वणी है । कठे ही महला की पंक्ति कठे ही ध्वजा के समूह, कठे ही छोट-छोट ध्वजा के समूह का निर्माण हुआ है । इन्द्रध्वज पूजा महोत्सव का निमन्त्रण पत्र सं० १८२१ ।

२. और हम मेवाड विषे गए थे । सो उहा चित्तोड गढ है । ताके तले तलहटी नग्र बसे है । सो उहा तलहटी विषै हवली निर्मापण क अर्थि भूमि खणते एक भेहरा निकस्या, ता विखें सोला बिब फटिकमणि सादृश्य, महामनोग्य, उपमारहित, पद्मआसन विराजमान, पन्द्रा, सोला बरस का पुरुष के आकार सादृश्य परिणामन लिया जिन बिम्ब नीसरे । ता विषें एक महाराजि (प्रतिमा) बावन के साल का प्रतिष्ठया, हरधा मौहरा का अतिशय सहित नीसरे । और घणा जिनबिम्ब का उपकरण धातु के नीसरे । ता विषैं सुवर्ण, पीतल सादृश्य दीसै तें नीसरे । धातु का महाराजि तो गढ ऊपर भेंहरा विषैं विराजे हैं । ऊपर किल्लादार वा जोगी रहे है । ताके हाथि तो भेंहरा की कूँची है । अर पाषाण के बिम्ब तलहटी के मदिर विषे विराजै है''''। सो उहाँ की यात्रा हम करि आए । ताके दरसन लाभ की महिमा वचन अगोचर है सो भी वार्ता थें जानूंगे ।

जिन्होंने बीसों ग्रन्थों की टीका लिखी है वर्षों भाई रायमल्ल के सहवास में रहे थे और उसका लाभ उठाकर अच्छे खासे विद्वान् बन गए थे। इस तरह प्रारम्भ से लेकर अन्त तक हम रायमल्लजी का जीवन धर्म सेवा और परोपकार से ओत-प्रोत देखते हैं। आपने अपने ऐहिक सुखों की उपेक्षा कर समाज और और धर्म की सेवा में जो तन मन धन लगा दिया था उससे सच पूछा जाय तो आपका नैतिकस्तर पूज्य प० टोडरमलजी से भी अधिक ऊँचा उठ जाता है।

रायमल्ल की रचनाएँ

भाई रायमल्ल की केवल दो ही रचनाएँ उपलब्ध है। एक तो श्रावकाचार है और दूसरी कोई चर्चा सम्बन्धी रचना है। बाबा दुलीचन्द्र जी सूची मे इस श्रावकचार का पूरा नाम 'ज्ञानानंद निजरसनिरभर-श्रावकाचार' लिखा है। लेकिन हमारे सामने जो लिखित प्रति मौजूद है उस पर केवल श्रावकाचार लिखा है साथ ही मुख पृष्ठ पर 'टोडरमलजी कृत' लिखा है जो लेखक के प्रमाद से ही हुआ जान पडता है। यह शास्त्राकार १३ × ६ साइज के पृष्ठो पर दोनो ओर लिखा हुआ है। इसमे २२७ पृष्ठ है। और श्रावकाचार की करीब-करीब सभी बातो का महत्त्वपूर्ण वर्णन है। कुछ बातो का विशेष वर्णन भी है जैसे—चौथे काल में जिन मंदिर कराने की विधि, कुलिङ्गियो की उत्पत्ति का वर्णन, श्वेताम्बरो की उत्पत्ति, श्रावक के चार अंतराय, सात जगह मौन, ग्यारह जगह चदौवा इत्यादि। आपकी वर्णन शैली बडी मधुर और हृदयग्राही है तथा आवश्यकतानुसार दृष्टात देकर अपने विषय को खूब स्पष्ट किया है। यहाँ हम आपकी वर्णन शैली का एक उदाहरण देते है—दर्शन किया विना कदाचिद् भोजण करणा उचित नाही। अर दर्शन क्रिया विणा कोई मूढधी सठ, अज्ञानी रोटी खाय है सो वाका मुख सेतखाना बराबरि है, अथवा सर्प का बील बराबरि है। जिह्वा है सोई सर्पिणी है मुख है सोइ बील है। अर कुभेषी, कुलिङ्गी जिन मदिर में रहते होइ ते वा मंदिर विषे भूल के भी जाय नाही .।

हमारा अनुरोध है कि प्रारम्भिक जिज्ञासुओ को यह ग्रन्थ अवश्य बाँचना चाहिए। आपका दूसरा ग्रंथ चर्चाग्रन्थ है जो हमारे सामने नही है और न उसके अब तक हमने दर्शन ही किए हैं। कहते हैं कि रायमल्ल जी की टोडरमल जी के साथ जो धार्मिक चर्चाएँ होती थी उन्ही का इसमे सग्रह है। यदि ऐसा है तो यह ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण होगा।

इस तरह हम प० टोडरमलजी की तरह ही भाई रायमल्ल को सरल स्वभावी, समाज सेवी और महा परोपकारी पाते हैं। सच पूछा जाय तो उस समय के ये दो ही महानुभाव युग प्रवर्तक थे। एक ने अपने ज्ञान से जनता का स्तर ऊँचा उठाया तो दूसरे ने अपनी सेवाओ स लोगो को नैतिक बल दिया। एक ने अपने प्राणो का बलिदान कर धर्म और समाज की शान कायम रक्खी तो दूसरे ने अपने सुखो का बलिदान कर धर्म और समाज की सेवा में अपने आप को खपा दिया। वे दो आत्माएँ थी जिन्होने ज्ञान और त्याग के क्षेत्र को अमर बना दिया। आज वे नही है पर उनका बलिदान आज भी हमे आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा दे रहा है।

●

विद्वदभिनन्दनम्

[१]

सम्यक् श्रुतं समधिगम्य गुरोः सकाशात् ये नाम नित्यमुपदेशमुदीरयन्ति ।
वाग्देवताचरणयोः समुपासकास्ते विद्वज्जनाः सुकृतिनो वितरन्तु भद्रम् ॥

[२]

मायाप्रपञ्चपरवञ्चनचञ्चुलक्ष्मी येषां निरादरभयादिव नैति पार्श्वम् ।
तस्मादपापपरिपूरितमानसास्ते लोभादकुण्ठितधियः सुधियो जयन्तु ॥

[३]

अद्यावधिः प्रचलितं नयदृष्टिपूतं यच्छासनं भगवतस्त्रिशलासुतस्य ।
नूनं त्वमेव बुधवृन्द ! तदत्र हेतुः कार्यं न यज्जायते कारणमन्तरेण ॥

[४]

सम्यक्त्वमुद्भवति दर्शनतो जिनस्य सज्ज्ञानमुद्भवति सम्यगधीतशास्त्रम् ।
चारित्रमुच्छलति साधुसमर्चनेन सम्प्राप्यते त्रयमिह विदुषां सकाशात् ॥

[५]

आप्तो न चात्र न चतुर्दशपूर्वधारी शास्त्राणि सन्ति न वदन्ति स्वकीयमर्थम् ।
सत्साधवोऽपि विरलाः कथमार्षमार्गः स्याद् द्योतितो यदि न नाम बुधा भवेयुः ॥

[६]

धर्मं हि रक्षति, निरीक्षति वस्तुतत्त्वं विद्यां प्रयच्छति न वेच्छति किंचिदन्यम् ।
दैन्यं न गच्छति न मानमपेक्षते यो स्तुत्यः स कोऽपि विदुषामिह पुण्यवर्गः ॥

[७]

पाता भवानिह जिनोदितशासनस्य त्राता पथः च्युतजनस्य नरक्षरस्य ।
ज्ञाता नयोपनयसग्रथितश्रुतस्य दाता हिताहितविवेकमनोरथस्य ॥

[८]

वंशानुमोदित-जनानुमतश्च कश्चित् राजा जडोऽपि भवतीह विना प्रयत्नम् ।
विद्वांस्तु बुद्धिविभवेन महत्क्रमेण सञ्जायते तदुभयोर्न समत्वमस्ति ॥

[९]

विद्वत्सु सन्ति बहवो विहितापराधा उत्सूत्रभाषणपरा धनमीहमानाः ।
न क्षीयते तदपि सद्विदुषां प्रभावः विद्योतते किल कलङ्कयुतोऽपि चन्द्रः ॥

[१०]

जातिर्न जीवति सुसंस्कृतिमन्तरेण साहित्यमेव परिरक्षति संस्कृतिं ताम् ।
विद्वांश्च तं सृजति तेन बुधः स एकः नूनं सदैव विदधाति जगत् समग्रम् ॥

[११]

केचिद् घुणोपमजनः परमान्नतुल्यं प्राणोपकारि जिनशासनमुच्छिदन्ति ।
क्षुद्रा निरस्तगतयो ननु ते कथं स्युः सद्दृष्टयो यदि न तत्त्वविदो भवेयुः ॥

[१२]

शुक्ला तनुर्भवति यच्छ्रुतदेवताया नूनं स एष न गुणः सहजस्तदीयः ।
किन्त्वच्छचेतसि बुधस्य निवासयोगात् प्राप्तस्तया जगति शुक्लगुणप्रवादः ॥

[१३]

निर्वाणवर्षमिदमन्त्यजिनेश्वरस्य भूयादचिन्त्यसुखशान्तिकरं बुधानाम् ।
विद्वज्जना अपि विवेकबलादिवार्काः सम्मार्जयन्तु जगतस्तमसां समूहम् ॥

●

जीव और कर्म

महा विश्व मे सदा विचरते है जो दोनो मिलकर,
और सृजन करते हैं अपनी दुनिया नई चराचर।
हैं वे जीव तथा पुद्गल पर दोनो भिन्न परस्पर,
वर्ण गन्ध रस हीन जीव हैं पुद्गल इनका घर ।।

रहकर भी यों पृथक् शक्ति वैभाविक का बल पाकर,
निज स्वभाव को छोड परस्पर मिल जाते है सत्वर।
यो अनादि से कर्मबद्ध यह जीव चला आता है,
इसीलिए पर्याय दृष्टि से मूर्त नाम पाता है ।।

निज कषाय भावो से योगो की सकम्पना पाकर,
कर्म पुद्गलो को अपनाता है यह अपने अन्दर ।
फिर उनके आधीन स्वय ही सुख दुख फल पाता है,
द्रव्य भाव कर्मों का यो यह चक्र चला आता है ।।

त्याग मोह ममता को यदि यह अपने को पहचाने,
पर परिणति से दूर अजर अविनाशी निज को माने ।
कर्म भार से तब यह भी हल्का होता जाता है,
और सिद्ध सर्वज्ञ निरजन क्रमश. बन जाता है ।।

कर्मों को अपनाना अथवा उनसे पिण्ड छुडाना,
उनमे परिवर्तन करना या उनका समय बढाना।
है सब यह आधीन जीव के कर्म न कुछ कर पाता,
है अनन्त बल का यह स्वामी उसको देख न पाता ।।

कर्मों की यह सत्ता तिलकी ओट पहाड समझता,
कायरता है तेरी जो इनमें अविराम उलझता।
तेरी भूलो की दुनियाँ को तू उजाड सकता है,
ईश्वर या शैतान सभी कुछ तू ही बन सकता है ।।

छोड भीरुता मन विलम्ब कर दे तू उन्हें चुनौती,
बतला दे तू एक जीव मे प्रभुता कैसी होती।
हो करके भगवान भिखारी का पद क्यो अपनाता,
एक तुम्हारी ही सत्ता है जिसका यश जग गाता ।।

●

जैनदर्शन • सिद्धान्त
साहित्य • इतिहास

जीव द्रव्य परिचर्चा

● सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

छह द्रव्यो मे चेतन द्रव्य एक जीव ही है। तत्त्वार्थसूत्र मे उसका लक्षण उपयोग जानना देखना कहा है। चेतना के दो भेद हैं—ज्ञान चेतना और दर्शन चेतना। अत निश्चयनय से चेतना ही जीव का लक्षण है। उस जीव के दो मुख्य भेद हैं ससारी और मुक्त। इसी से आगमिक ग्रन्थो में इन दोनो भेदो को दृष्टि में रखकर जीव का कथन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार मे कहा है—

पाणेहिं चदुहि जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्व।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥१४७॥

जो चार प्राणो से वर्तमान मे जीता है, भविष्य में जियेगा तथा अतीतकाल में जिया था वह जीव है और प्राण पुद्गल द्रव्यों से निष्पन्न हैं।

समयसार में कहा है—

अरसमरूवमगध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द।
जाण अलिंगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसठाणं ॥४९॥

हे भव्य तू जीव को रस रहित, रूपरति, गन्धरहित, अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियो से अगोचर, चेतना गुण वाला, शब्दरहित और अनिश्चित आकार वाला जान।

इस लक्षण के द्वारा जीव को पुद्गल से भिन्न बतलाया है क्योंकि पुद्गल रूप रस गन्धवाला तथा इन्द्रियगोचर होता है।

द्रव्य सग्रह की टीका में कहा है—शुद्ध निश्चयनय से यद्यपि शुद्ध चैतन्य लक्षण निश्चय प्राण से जीता है तथापि अशुद्ध नय से द्रव्य व भाव प्राणो से जीता है। महापुराण के २४ वें पर्व में जीव के अनेक नामों का खुलासा करते हुए कहा है—'उसके दस प्राण यथायोग्य होने से वह प्राणी है। जन्म लेने से जन्तु कहलाता है। अपने क्षेत्र अर्थात् स्वरूप को जानता है अत क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। पुरु अर्थात् उत्तम भोगो मे शयन करने से पुरुष कहलाता है। अपनी आत्मा को पवित्र करता है इससे पुमान् कहा जाता है। निरन्तर नर नारक आदि भवों मे गमन करता है इससे आत्मा कहलाता है। आठ कर्मों के अन्तर्वर्ती होने से अन्तरात्मा कहलाता है। ज्ञान गुण से सहित होने से ज्ञ और ज्ञानी कहलाता है। इन पर्याय शब्दों से तथा इन्ही के समान अन्य पर्याय शब्दो से जीव का निर्णय करना चाहिये।' धवला पु० १ मे वीरसेन स्वामी ने भी जीव के इन नामों का विवेचन प्राय इसी प्रकार किया है।

पञ्चास्तिकाय में ससारी जीव का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसजुत्तो ॥२७॥

दोनों टीकाओं के अनुसार इसका अर्थ नीचे दिया जाता है—

जीव—१ आत्मा निश्चयनय से भाव प्राण धारण करने से जीव है और व्यवहार से द्रव्य प्राण धारण करने से जीव है।

२ आत्मा शुद्ध निश्चयनय से सत्ता चैतन्य बोध आदि शुद्ध प्राणो से जीता है तथा अशुद्ध निश्चयनय से क्षायोपशमिक औदयिक भाव प्राणों से जीता है और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्य प्राणों से यथासंभव जीता है जियेगा और पूर्व मे जिया था अतः जीव है।

चेदा—१ निश्चय से चिदात्मक होने से और व्यवहार से चित् शक्ति से युक्त होने चेतयिता है।

२ शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान चेतना से उसी प्रकार अशुद्ध निश्चय से कर्म और कर्मफल रूप अशुद्ध चेतना से युक्त होने से चेतयिता है।

उवओग विसेसिदो—१ निश्चय अभिन्न और व्यवहार से भिन्न चैतन्य परिणाम लक्षण वाले उपयोग मे उपलक्षित होने मे उपयोग से विशिष्ट है।

निश्चय मे केवलज्ञान केवलदर्शन रूप शुद्धोपयोग से, उसी प्रकार अशुद्ध। २ निश्चयनय से मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक अशुद्धोपयोग से युक्त होने से उपयोग से विशिष्ट है।

प्रभु—१ निश्चय से भाव कर्मों के और व्यवहार से द्रव्य कर्मों के आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष के करने में स्वय समर्थ होने से प्रभु है। २ निश्चय से मोक्ष और मोक्ष के कारण रूप शुद्ध परिणाम रूप से परिणमन करने मे समर्थ होने से, उसी प्रकार अशुद्धनय से ससार और ससार के कारण रूप अशुद्ध परिणाम रूप से परिणमन करने मे समर्थ होने से प्रभु है।

कत्ता—१ निश्चय से पौद्गलिक कर्म के निमित्त से होने वाले आत्मा के परिणामो का और व्यवहार से आत्मा के परिणामो के निमित्त से होने वाले पौद्गलिक कर्मों को कर्ता होने से कर्ता है।

२ शुद्ध निश्चय से शुद्ध ज्ञान रूप परिणामो का, उसी प्रकार अशुद्ध निश्चय से भाव कम रूप रागादि भावो का तथा अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्य कर्म नो कर्म आदि का कर्ता होने से कर्ता है।

भोक्ता—१ निश्चय से शुभाशुभ कर्म के निमित्त से होने वाले सुख दुःख रूप परिणामो का, व्यवहार से शुभाशुभ कर्म से प्राप्त इष्ट अनिष्ट विषयो का भोक्ता होने से भोक्ता है।

२ शुद्ध निश्चय से शुद्ध आत्मा से उत्पन्न वीतराग परमानन्द रूप सुख का उसी प्रकार अशुद्ध निश्चय से इन्द्रिय जन्य सुख दुःखो का तथा अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से सुख दुःख के साधक इष्ट अनिष्ट खान पान आदि बाह्य विषयो का भोक्ता होने से भोक्ता है।

सदेहमेत्तो—१ निश्चय से लोक पात्र होते हुए भी विशिष्ट अवगाहना रूप परिणमन करने की शक्ति से युक्त होने से नामकर्म के उदय से बने छोटे या बडे शरीर मे रहता हुआ जीव व्यवहार से शरीर के बराबर परिमाण वाला है।

२ निश्चय से लोकाकाश प्रमाण असख्यात प्रदेशी होते हुए भी व्यवहार से शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न छोटे या बडे शरीर के प्रमाण होने से अपने शरीर प्रमाण होता है।

मूर्त—१ व्यवहार से कर्मों के साथ एकमेक होने से मूर्त होते हुए भी निश्चय से नीरूप स्वभाव होने से मूर्त नही है।

कर्म सयुक्त—१ निश्चय से पुद्गल परिणामों के अनुरूप चैतन्य परिणामों रूप से और व्यवहार से चैतन्य परिणामो के अनुरूप पुद्गल परिणाम रूप कर्मों से संयुक्त होने से कर्म सयुक्त है।

२ असद्भूत व्यवहार से अनादि कर्मबन्ध से सहित होने से कर्म सयुक्त है। इस प्रकार उक्त गाथा से ससारी जीव के उपाधि सहित और उपाधि रहित स्वरूप का कथन किया गया है। आगे ग्रन्थकार कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वय इनका खुलासा किया है।

जैन दर्शन जीव द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है। संसार अवस्था में भ्रमण करते हुए जीव की सत्ता उसके शरीर के साथ समाप्त नही हो जाती। एक शरीर में दूध पानी की तरह ऐक्य रूप से रहते हुए भी जीव भिन्न स्वभाव वाला होने से शरीर से भिन्न है। अनादि काल से कर्म बन्धन से बद्ध होने से नये-नये शरीरों को धारण करता है और जो छोटा या बडा शरीर प्राप्त होता है उसी मे व्याप्त होकर रहता है। उसके प्रदेशों मे फैलने और सकुचने की शक्ति है कर्मोदय के कारण ऐसा होता है।

तत्त्वार्थवार्तिक (५-१६) मे अकलक देव ने लिखा है—यद्यपि आत्मा स्वभाव से अमूर्त है परन्तु अनादिकालीन कर्मबन्ध के कारण कथञ्चित् मूर्तता को धारण कर लेता है। अत: लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशी होकर भी कार्मण शरीर के वश प्राप्त सूक्ष्म शरीर मे जब रहता है तो सूखे चमड़े की तरह उसके प्रदेशो का संकोच हो जाता है। और स्थूल शरीर मे रहता है तो जल में तेल की तरह प्रदेशो का फैलाव हो जाता है। जैसे दीपक का प्रकाश सकुचित स्थान में सकुचित और विस्तृत स्थान मे विस्तृत हो जाता है। किन्तु ऐसा होने पर भी वह अपने अमूर्त स्वभाव को नही छोड़ता है। जैनदर्शन एकान्तवादी नही है। यदि जीव एकान्त से सकोच विस्तार स्वभाव वाला और सावयव हो तब तो दीपक की तरह उसके विनाश की कल्पना की जा सकती है किन्तु द्रव्य रूप से जीव कथचित् निरवयव और कथचित् सकोच विस्तार वाले नही है तथा प्रतिनियत सूक्ष्म बादर शरीर सापेक्ष निर्माण नाम कर्म के उदय रूप पर्यायदृष्टि से प्रदेशो के संकोच विस्तार वाला अनादि कर्मबन्ध रूप पर्याय दृष्टि से कथचित् सावयब है। तथा जिसके अवयव कारण पूर्वक होते हैं उसके अवयव टूट फूट जाते है किन्तु आत्मा तो एक अखण्ड अविनाशी द्रव्य है वह कारणो से निष्पन्न नही हुआ है। जैसे परमाणु का प्रदेश किसी अन्य द्रव्य के मेल से निष्पन्न नही है अत: परमाणु अविनाशी है। वैसे ही आत्मा भी है अत प्रदेशवान होने से सावयव होने पर भी अनित्य नही है। यत आत्मा के प्रदेश कारण पूर्वक नही है इसी से उसके प्रदेशो मे रहने वाले गुणो मे तरतम भाव नही देखा जाता। जैसे घट के प्रदेश अनेक परमाणुओ के मेल से निष्पन्न होने के कारण उसके प्रदेशो मे पाये जाने वाले रूपादि गुण मे अन्तर देखा जाता है। कही रूप गहरा और कही हल्का होता है। वैसा आत्मा मे नही है किन्तु जैसे निरवयव परमाणु मे एक जातीय गुण शुक्ल रूपादि एक काल मे एक ही रहता है वैसे ही निरवयव आत्मा मे जानना।

शका—यदि शरीर के प्रमाण के अनुसार आत्मा का प्रमाण होने से आत्मा का सकोच इतना नही होता कि वह सिमट कर एक प्रदेश मे रह जाये तो मुक्त जीवो के शरीर नही होता। अत उनका आत्मा सकुच कर एक प्रदेश मे क्यो नही रहता?

समाधान—जिस शरीर से जीव मुक्ति प्राप्त करता है उससे कुछ कम प्रमाण वाला ही रहता है, न उससे बढ़ता है, न घटता है। क्योकि प्रदेशो के सकोच और विस्तार का कारण नही रहता।

जितने स्थान को पुद्गल का एक परमाणु रोकता है उसे प्रदेश कहते है। लोकाकाश के और एक जीव के प्रदेश बराबर है। किन्तु सकोच विस्तार स्वभाव वाला होने से जीव कर्म द्वारा रचित छोटे या बडे शरीर में व्याप्त होकर ही रहता है जब केवली समुद्घात करते हैं तब लोक पूरण समुद्घात के समय सुमेरु पर्वत के नीचे चित्र वज्रपटल के मध्य मे जीव के आठ मध्य प्रदेश स्थिर रहते है शेष प्रदेश ऊपर नीचे तिर्यग् समस्त लोक मे फैल जाते है सब जीवों के आठ मध्यप्रदेश स्थिर ही माने गये है। तथा केवलियो के चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगियो के और सिद्धो के सब प्रदेश स्थिर ही होते है। व्यायाम करते हुए, दु:ख से पीडित जीवों के उक्त आठ मध्य प्रदेशो को छोड शेष प्रदेश चचल ही होते है। जब जीव एक भव से दूसरे भव मे

जाता है, सुख दुःख का अनुभव करता है, क्रोध आदि करता है तब जीवों के प्रदेशों में कम्पन होता है वही उसके कर्मबन्ध मे कारण होता है ।

अकलंक देव ने आत्मा या जीव के अस्तित्व की सिद्धि करते हुए (त० वा० २।८) यह प्रश्न उठाया है कि हम सब को जो 'आत्मा है' यह ज्ञान होता है यह ज्ञान संशय, अनध्यवसाय, विपर्यय या सम्यग्ज्ञान मे से कोई एक होना चाहिये । इनमें से कोई भी होने से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है । यह ज्ञान निर्णयात्मक होने से सशय रूप नही है यदि यह ज्ञान सशय रूप है तो भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है । क्योंकि सशय अवस्तु मे नही होता, वस्तु को लेकर ही होता है । यह ज्ञान अनध्यवसाय भी नही है; क्योंकि अनादि काल मे आत्मा का ज्ञान होता आता है । यदि यह विपरीत ज्ञान है तो भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है । जैसे पुरुष मे ठूँठे का ज्ञान होने पर ठूँठ की सिद्धि होती है यदि यह सम्यग्ज्ञान है तो निर्विवाद रूप से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

अरहन्त तथा केवली

● पं० जवाहरलाल शास्त्री, भीण्डर

समस्त सयोगकेवली व अयोगकेवली की अर्हन्तता

शंका—"अट्ठाईस मूलगुणो में से एक भी कम हो तो वह साधु नही है, इसी प्रकार ४६ मूलगुणो के अभाव मे, कोई भी जीव अरहन्त पद का अधिकारी नही; चाहे वह राम हो कि कोई तीर्थंकर। भरत राम आदि केवली ही थे, अरहन्त नही। 'सभी केवली अरहन्त हो, ऐसा नही है, पर सभी अरहन्त तो केवली अवश्य हैं।" इस पर अपने विचार व्यक्त कीजिए। वर्णी जी ने कोश मे भूल की है।

समाधान—पूज्य वर्णी जी महाविद्वान् थे। उन्होंने गलती नही की है। वे महान् साधक तथा प्रकाण्ड बोद्धा थे।

जैसे—गुण छत्तीस पच्चीस आठ बीस, भव तारण तरण जहाज ईश।

(देवगुरु शास्त्र पूजा पं० द्यानतराय जी)

कह कर उपाध्यायो के पच्चीस गुण बताये। परन्तु इसमे कुछ विशेषता भी है—

चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातार उपाध्याया, तात्कालिकप्रवचनव्याख्यातारो वा।

(जीवस्थान सत्प्ररूपणा। धवला टीका)

चौदह विद्यास्थान के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते है। अथवा तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं। (भगवद् वीरसेनस्वामी)

पू० ज्ञानमती माताजी ने भी इसी के अनुसार लिखा है—

जिन्हे ११ अग और १४ पूर्वो का या उस समय के सभी प्रमुख शास्त्रो का ज्ञान है जो मुनिसंघ के साधुओ को पढाते है वे उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते है। (बाल विकास २।१६)

इससे काच के माफिक स्पष्ट है कि २५ गुण तो उपाध्याय के उत्कृष्टत होते हैं। फिर तात्कालीन बहुश्रुत पाठक, गुरु साधु भी उपाध्याय ही कहलाते हैं। यह धवला का स्पष्ट हार्द है। ऐसे ही ४६ गुण तो उत्कृष्टता की अपेक्षा है, अनुत्कृष्टता की अपेक्षा इनसे [४६ से] हीन गुण वाला भी अरहन्त होता है, ऐसा मानने मे हमे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।

शकाकार को अरहन्त पद का अर्थ एव परिभाषा का ज्ञान नही है, इसलिए यह शका उठी है। इसलिए हम सर्वप्रथम अरहन्त की परिभाषा आगम मे देखते है—

(i) खविदघादिकम्मा केवलणाणेण दिट्ठसवट्ठा अरहता णाम।

(धवला। बंधस्वामित्व०। तीर्थंकरबंधकारण०)

अर्थ—जिन्होने घातिया कर्मो को नष्ट कर केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को देख लिया है वे अरहन्त हैं।

(ii) अरिहननादरिहन्ता। नरकतिर्यक्कुमानुष्य-प्रेतावासगताशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहः। तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यमुपेयादिति चेन्न, शेषकर्मणा मोहतन्त्रत्वात्। न हि मोहमन्तरण शेषकर्माणि स्वकार्यनिष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते, येन तेषा स्वातन्त्र्य जायेत। मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि कालं शेषकर्मणा सत्त्वोपलम्भत् न तेषा तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विनष्टेऽरौ जन्ममरणप्रबन्ध-

लक्षणससारोत्पादनसामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्यासत्त्वसमानत्वात् केवलज्ञानाद्यशेषात्मगुणाविर्भावप्रतिबन्धनप्रत्ययसमर्थत्वाच्च । तस्यारेर्हननादरिहन्ता । (धवला)

अर्थ—'अरि' अर्थात् शत्रुओं के 'हननात्' अर्थात् नाश करने से 'अरिहन्त" हैं । नरक, तिर्यंच, कुमानुष, और प्रेत इन पर्यायो मे निवास करने से होने वाले समस्त दु खो की प्राप्ति का निमित्त कारण होने से मोह को "अरि" अर्थात् शत्रु कहा है ।

शका—केवल मोह को ही अरि मान लेने पर शेष कर्मों का व्यापार निष्फल हो जाता है ?

समाधान—ऐसा नही है, क्योकि बाकी के समस्त कर्म मोह के अधीन हैं । मोह के बिना शेष कर्म अपने-अपने कार्य की उत्पत्ति मे व्यापार करते हुए नही पाये जाते है, जिससे कि वे भी अपने कार्य मे स्वतंत्र समझे जायें । इसलिए सच्चा अरि मोह ही है, और शेष कर्म उसके अधीन है ।

शंका—मोह के नष्ट हो जाने पर भी कितने ही काल तक शेष कर्मों की सत्ता रहती है, इसलिए उनका मोह के आधीन होना नही बनता ?

समाधान—ऐसा नही समझना चाहिए, क्योकि मोहरूप अरि के नष्ट हो जाने पर जन्ममरण की परम्परा रूप ससार के उत्पादन की सामर्थ्य शेष कर्मो मे नही रहने से उन कर्मो का सत्त्व असत्त्व के समान हो जाता है । तथा केवलज्ञानादि सम्पूर्ण आत्मगुणो के आविर्भाव के रोकने मे समर्थ कारण होने से भी मोह प्रधान शत्रु है और "उस शत्रु (मोहनीय) के नाश करने से 'अरिहन्त' यह सज्ञा प्राप्त होती है ।"

(iii) रजोहननाद्वा अरिहन्ता । ज्ञानदृगावरणानि रजासीव बहिरङ्गान्तरङ्गाशेषत्रिकालगोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणात्मकवस्तुविषयबोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्रजासि । मोहोऽपि रज, भस्मरजसा पूरिताननामिव भूयो मोहावरुद्धात्मना जिह्मभावोपलम्भात् । किमिति त्रितयस्यैव विनाश उपदिश्यत इति चेन्न, एतद्विनाशस्य शेषकर्मविनाशाविनाभावित्वात् । तेषा हननादरिहन्ता ।

अर्थ—रज अर्थात् आवरण कर्मों के विनाश से 'अरिहन्त' होते है । ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म धूलि की तरह बाह्य और अन्तरग स्वरूप समस्त त्रिकाल गोचर अनन्त अर्थ पर्याय और व्यजन पर्याय स्वरूप वस्तुओ को विषय करने वाले बोध और अनुभव के प्रतिबधक होने से रज कहलाते है । मोह को भी रज कहते है । क्योकि जिस प्रकार जिनका मुख भस्म से व्याप्त होता है उनमे जिह्मभाव अर्थात् कार्य की मन्दता देखी जाती है, उसी प्रकार मोह से जिनका आत्म-व्याप्त हो रहा है उनके भी जिह्मभाव देखा जाता है, अर्थात् उनकी स्वानुभूति मे कालुष्य, मन्दता या कुटिलता पाई जाती है ।

शंका—यहाँ पर तीनो, अर्थात् मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के ही विनाश का उपदेश क्यो दिया है ?

समाधान—ऐसा नही समझना चाहिए, क्योकि शेष सभी कर्मों का विनाश इन तीन कर्मों के विनाश का अविनाभावी है । सारत इन तीन कर्मों के नष्ट हो जाने पर शेष कर्मों का नाश अवश्यम्भावी है । "इस प्रकार तीन कर्मों के विनाश से अरिहन्त होते (बनते) है ।"

(iv) रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता । रहस्यमन्तराय, तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निःशक्तिकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता ।

अर्थ—अथवा, रहस्य के अभाव से भी अरिहन्त होते है । रहस्य अन्तराय कर्म को कहते है । अन्तराय कर्म का नाश शेष तीन घातिया कर्मों के नाश का अविनाभावी है, और अन्तराय कर्म का नाश होनेपर

अघाति कर्म भ्रष्ट बीज के समान नि:शक्त हो जाते हैं ऐसे अन्तराय कर्म के नाश करने से अरिहन्त होते हैं।

(v) णिद्दड्ढ-मोह-तरुणो वित्थिण्णाणसायरुत्तिण्णा।
णिहय-णिय विग्घ वग्गा बहु-बाह-विणिग्गया अयला॥
दलियमयणप्पयावा तिकाल-विसएहि तीहि णयणेहि।
दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा सुदड्ढ-तिउरा मुणि-व्वइणो॥
ति-रयण-तिसूलधारियमोहंधासुर-कबंध-बिंद-हरा।
सिद्ध सयलप्परूवा अरहंता दुण्णय कयंता॥ (भगवद्वीरसेन स्वामी)

अर्थ—अरहन्त का स्वरूप—जिन्होने मोहरूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञान रूपी समुद्र से उत्तीर्ण हो गये हैं। जिन्होने अपने विघ्नो के समूह को नष्ट कर दिया है, जो अनेक प्रकार की बाधाओ से रहित हैं, अचल हैं, जिन्होने तीनो कालो को विषय करने रूप तीन नेत्रों से कामदेव के प्रताप को दलित कर दिया है, जिन्होने सकल पदार्थों के सार को देख लिया है जिन्होने त्रिपुर अर्थात् राग-द्वेष-मोह को अच्छी तरह से भस्म कर दिया है, जो मुनिव्रती अर्थात् दिगम्बर अथवा मुनियो के पति अर्थात् ईश्वर है, जिन्होने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीन रत्नरूपी त्रिशूल के द्वारा मोहरूपी अन्धकार रूप असुर के कबन्ध जड को विदारित कर लिया है, जिन्होने सम्पूर्ण आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लिया है और जिन्होने दुर्नय (स्वकीय एकान्ताभिनिवेश) का अन्त कर दिया हैं, ऐसे अरिहन्त परमेष्ठी होते हैं।

(vi) आगम मे अरहन्तो का लक्षण इस प्रकार भी मिलता है—

आविर्भूतानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यविरतिक्षायिकसम्यक्त्वदानलाभभोगोपभोगाद्यनन्तगुणत्वा दिहैवात्मसात्कृतसिद्धस्वरूपा स्फटिकमणिमहीधरगर्भोद्भूतादित्यबिम्बवद्देदीप्यमाना. स्वशरीरप्रमाणाऽपि ज्ञानेन व्याप्तविश्वरूपा स्वस्थिताशेषप्रमेयत्वत. प्राप्तविश्वरूपा निर्गताशेषामयत्वतो निरामया. विगताशेषपापाञ्जनपुञ्जत्वेन निरञ्जना दोषकलातीतत्वतो निष्कला, तेभ्योऽर्हद्भ्यो नम। (धवला सत्प्ररूपणा)

अर्थ—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख, अनन्तवीर्य, अनन्तविरति, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभाग आदि प्रकट हुए अनन्त गुण स्वरूप हाने स जिन्होने यहो पर सिद्धस्वरूप प्राप्त कर लिया है। स्फटिकमणि के पर्वत के मध्य से निकलते हुए सूर्य के बिम्ब के समान जो देदीप्यमान हो रहे हैं; अपने शरीर प्रमाण होने पर भी जिन्होने अपने ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर लिया है, अपने (ज्ञान) मे ही सम्पूर्ण प्रमेय रहने से प्रतिभासित होने से जो विश्वरूपता को प्राप्त हो गये हैं, सम्पूर्ण आमय अर्थात् रोगो मे दूर होने के कारण जो निरामय है, सम्पूर्ण पापरूपी अञ्जन के समूह के नष्ट हो जाने से जो निरंजन हैं और दोषो की कलाएँ अर्थात् सम्पूर्ण दोषो से रहित होने के कारण जो निष्कल हैं, ऐसे अरिहन्त होते हैं, उन्हें नमस्कार हो।

(vii) पं० रतनचन्द मुख्तार ने "व्यक्तित्व एवं कृतित्व" मे लिखा है—

(अ) 'अनन्तचतुष्टयस्वरूप अरहन्त हैं।' (गुण० प्रकरण)

(ब) देशभूषण व कुलभूषण [सामान्य केवली होते हुए भी] अरहन्त हुए।
(जैन संदेश दि ३-१-५८ पृष्ठ vi पर ब्र० स्व० मुख्तारसा० का लेख)

इस प्रकार उक्त विविध ग्रन्थो की परिभाषाओ से स्पष्ट हो जाता है कि तेरहवें गुणस्थान वाले सभी जीव अरहन्त होते है। क्योकि उक्त सातो परिभाषा, स्वरूपाख्यानो मे कथित योग्यताएँ प्रत्येक सयोग या अयोग केवली के पाई जाती हैं। उक्त परिभाषा अन्तःस्वरूप की प्रधानता को लिए हुए है। अतः जब अन्तःस्वरूप की अपेक्षा देखते हैं तो एक अरहन्त का दूसरे अरहन्त से किंचित् मात्र भी अन्तर नही है। पर हाँ, जब बहिरंग स्वरूप पर दृष्टिपात करते है तो ४६ गुण वाले यानी पचकल्याणकी तीर्थङ्कर ही मुख्यता से अरहन्त हैं[1] तथा अन्य ४६ से हीन गुण वाले केवली अमुख्यता (गौणता) से अरहन्त है। कहा भी है—"इहाँ अरहंतादि पद विषै मुख्यपणे तीर्थङ्कर का अर गौणपणे समस्त केवलीनिका ग्रहण है।"

(मो० मा० प्र०, आचार्यकल्प प० टोडरमल जी पृष्ठ ६, धर्मपुरा देहली से प्रका०)

नोट—यहाँ बहिरग स्वरूप से अभिप्राय कही ऐसा न लिया जाय कि ४६ ही गुण बहिरग से सम्बद्ध है, परन्तु इसका अभिप्राय यह है कि ४६ गुणो मे से जो अन्तरग गुण है, वे तो प्रत्येक केवली अर्थात् अरहत मे पाये ही जायेंगे, समान रूप मे। तथा जो बहिरग (यथा जन्म के दस अतिशय आदि) हैं उनमे हीनाधिकता पडती है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सयोग व अयोग केवली सब के सब अरहन्त है, यह निर्विवाद है।

अर्हत्पद का अर्थ केवलोत्पत्ति :

शंका—आपके कथनानुसार तो "केवली बनना यानी केवलज्ञान की उत्पत्ति होना", बस इसका अर्थ ही अरहन्तपद पाना, ऐसा है ? यह कहाँ लिखा है ? आगम प्रमाण बिना कैसे माना जाय ?

समाधान—हाँ, ठीक है। केवलोत्पत्ति का अर्थ ही अरहन्तपद की प्राप्ति है। अरहन्त पद कहो या भावमोक्ष कहो, अथवा जीवनमोक्ष कहो या केवलज्ञान की उत्पत्ति कहो, ये चारो एक अर्थ को ही सूचित करते हैं।

परमपूज्य आध्यात्मिक ग्रन्थ परमात्म प्रकाश मे कहा भी है—
अर्हत्पदमिति, भावमोक्ष इति, जीवन्मोक्ष इति केवलज्ञानोत्पत्तिरिति एकोऽर्थ।

प० दौलतरामजी का हिन्दी अर्थ—"अरहन्तपद कहो या भावमोक्ष कहो, अथवा जीवन्मोक्ष कहो, या केवलज्ञान की उत्पत्ति कहो—ये चारो एक ही अर्थ को सूचित करते है। अर्थात् चारों शब्दो का एक ही अर्थ है।" (पृष्ठ २९९, प० प्र० दोहा० १९५ का उत्थानिका अधिकार)

आगे पृ० ३०० पर कहते हैं—केवलज्ञानी का नाम अर्हन्त है। (प० दौलतराम जी)

आगे पृ० ३०० पर पुन कहते है —समस्त लोकालोक को एक ही समय मे केवलज्ञान से जानता हुआ जीव अरहन्त कहलाता है। (भावार्थ एव मूल दोहा २।१९६ पृ० ३००)

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि सभी केवली नियमत अरहन्त होते हैं, इसमे क्या शका ?

---

१. 'छियालीस गुण तीर्थंकर अरहन्त मे ही घटित होते हैं, अन्य केवलियों मे नही, पर वे, अरहन्त तो हैं ही। पच परमेष्ठियो मे 'केवली' कोई अलग से परमेष्ठी नही हैं। वे अरहन्त ही हैं। अतः जवाहरलाल जी शास्त्री का उक्त सब कथन आगमानुकूल ही है।' —(डॉ० प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य)

२. प० जवाहरलाल जी का उक्त लेख आगमानुकूल ही है। —(प० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य)

सशरीर बाहुबली [आदि] में आर्हन्त्यसिद्धि

शंका—क्या बाहुबली भी अरहन्त कहे जा सकते हैं, जब उन्हें केवलज्ञान हुआ था ?

समाधान—महापुराण (आदिपुराण) पर्व ३६ श्लोक १९९ से २०४ पृ० १३०६-७ पर लिखा है—घातिया कर्मों का क्षय होने से जिन्हें अरहन्त परमेष्ठी का पद प्राप्त हुआ है और इसीलिए ही जिनको सब देव आराधना करते हैं ऐसे उन बाहुबलि भगवान् ने समस्त पृथ्वी पर विहार किया था ॥२०२॥ बाहुबलि की केवलज्ञान-उत्पत्ति सुनते ही इन्द्रादि सभी देवो ने आकर इनकी उत्कृष्ट पूजा की थी अर्थात् ज्ञानकल्याणक मनाया। उस समय मन्द सुगन्धित पवन बह रही थी, आकाश मे दुदुंभि बाजे बज रहे थे तथा पुष्पवृष्टि भी हो रही थी। भगवान् बाहुबलि के ऊपर रत्नो का छत्र शोभित होता था। दिव्य सिंहासन, ढुलते हुए चामर, गन्धकुटी आदि भी बनी थी [॥२००॥ पृ० १३०६] तथा बारह सभा बनी थी। बाहुबलि नाटक (४८, आ० ज्ञानमती जी)

जो चरमशरीरियों मे सबसे मुख्य थे ऐसे भगवान् सर्वज्ञ बाहुबलि तुम लोगो की रक्षा करे ॥२०४॥
(पं० लालाराम जी शास्त्री-अनुवाद)

विचार भी करना चाहिए कि केवलज्ञान होने पर सामान्य केवली को यदि अरहन्त नही कहा जाय तो क्या कहा जायगा ? पच परमेष्ठी मे से एक परमेष्ठी तो वे है ही। सभी कर्मों के क्षय के अभाव मे उन्हें सिद्ध तो कह सकते नही, तथैव गन्धकुटी मे बैठे हुए जीव को आचार्य भी नही कह सकते। क्योकि आचार्य का गन्धकुटी में बैठना नही सुना। उपाध्याय का सम्बन्ध श्रुतज्ञान के वैशिष्ट्य से है। जबकि सामान्य केवली श्रुतज्ञानातीत (श्रुतज्ञानरहित) होते है। एवमेव २८ मूलगुणो के विकल्प के अभाव मे सामान्य साधुत्व को भी जो अतिक्रान्त कर गये है तथा जो परमेष्ठी भी नियम से है (आदि० पु० ३६।२०२ गद्य प० पु० १२२।७२] ऐसे वे पारिशेष न्याय से अरहन्त परमेष्ठी ही ठहरते हैं। सिद्ध होते हैं।

विशेष विस्तार नही किया जाता है। आगमानुयायियो के लिए आगम ही प्रमाण है और उससे प्रत्येक केवलज्ञानी के अर्हन्तत्व सिद्ध हो जाता है, अतः महान् ज्ञानी स्वर्गीय पूज्य वर्णी जी ने भूल या त्रुटि नही की थी। उन्होने प्रत्येक केवली को अरहन्त कहकर आगम का हार्द ही व्यक्त किया है।

अरहंत व केवली के गुणस्थान

शंका—अर्हन्त केवली, सिद्ध केवली, तीर्थंकर केवली, सातिशय केवली, उपसर्ग केवली, अन्तःकृत्-केवली आदि भेद अर्हन्तो के हैं या केवलियो के ?

समाधान—जब परमात्मप्रकाश की टीका मे ब्रह्मदेव ने लिखा है कि "अर्हत्पदमिति केवलोत्पत्तिरिति एकोऽर्थः", तब इस शंका के उत्पन्न होने की गुंजाइश नही है। केवलोत्पत्ति का अर्थ ही अर्हन्त अवस्था है। केवलियों के तीन भेद (गुणस्थानों की अपेक्षा) है (१) सयोग केवली, (२) अयोग केवली तथा (३) गुणस्थानातीत केवली।

अब जो-जो केवली सयोग या अयोग केवली नामक गुणस्थानों मे आते। गर्भित होते है वे-वे केवली अरहन्त केवली हैं या अरहन्त हैं। तथा जो गुणस्थानो को पार कर चुके हैं ऐसे केवली 'सिद्ध' है। तीर्थंकर केवली, उपसर्ग केवली, अन्तःकृत् केवली, मूककेवली आदि तो तेरहवें चौदहवे गुणस्थानो मे स्थित होते हुए अरहन्त केवली हैं तथा सिद्ध केवली अनरहन्त केवली (अरहन्त केवली नही) हैं।

अतः पूज्य वर्णी जी ने कोश मे ठीक ही लिखा था, गलत नही—देखो (कोश १।१४१)

'अरहन्त' व केवली में भेदाभेद

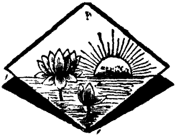
शंका—तो फिर अरहन्त व केवली मे कथचित् भी भेद नहीं है ?

समाधान—अरहन्त व केवली मे कथंचित् तो भेद है ही। दोनों शब्द भिन्न-भिन्न है, अतः वाचक-भिन्नत्व की अपेक्षा भेद है। दूसरा; अरहन्त सिद्ध नही होते, परन्तु केवली तो सिद्ध भी—यानी सिद्ध-केवली भी होते हैं; अतः इस दृष्टि से भी भेद है। तीसरे, व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ की दृष्टि से भी भेद हैं। यथा अरि के हनन करने से या अतिशय पूज्य होने से अथवा अजन्मा होने से अरिहन्त या अरहन्त या अरुहन्त कहलाता है। जबकि "केवते सेवते निजात्मनि एकलोलीभावेन तिष्ठतीति केवलः।" [मो० पा० टीका।६] अर्थात् जो निजात्मा में एकीभाव से केवते हैं, सेवते हैं या ठहरते हैं वे केवली कहलाते हैं।

इस प्रकार वाचक भेद, गुणस्थान भेद (कथंचित्) तथा व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भेद से कथंचित् भिन्नता कही गई।

कथंचित् अभेद भी है (१) दोनों का कथंचित् एक ही अर्थ है। (प० प्र० २।१९५) दोनों शब्दों से केवलज्ञानी महात्मा ही द्योतित होते हैं। (२) दोनों ही असंसारी है। (३) दोनों में अनुजीवी गुणों का पूर्ण विकास है। इत्यादि साम्य होने से केवली (गुणस्थानस्थ) भी अरहन्त है तथा अरहन्त भी नियम से केवली हैं। इस प्रकार 'अरहन्त' व 'केवली' में कथचित् भेदाभेद है।

जिनागम का पक्ष हठ से रहित होकर स्वाध्याय करने वाले पुरुष के कही भी कुछ भी विरोध भासित नही होता।



सिद्धान्त आगम और आस्रवतत्त्व

● सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री

यह तो सुविदित सत्य है कि षट्खण्डागम और कषायप्राभृत दोनों ही सिद्धान्त आगम त्रिकालाबाधित तत्त्वज्ञान की बेजोड़ निधि है। अन्यत्र हो और इनमे न हो ऐसा कोई भी प्रमेय ढूँढे नही मिलेगा। विश्व तत्त्वज्ञान का यह कोष है। लोककथा है कि समुद्र मन्थन से १४ रत्न निकले थे। फिर भी उनकी सीमा थी। किन्तु जो तत्त्वज्ञ नयज्ञानरूपी शेषनाग को रस्सा बनाकर उपयोग की एकाग्रतारूपी सुमेरुपर्वत द्वारा इस सिद्धान्तरूपी समुद्र का भले प्रकार मथन करते है उन्हे अनत प्रमेयरूपी रत्नो की उपलब्धि (परिज्ञान) पूर्वक अनन्तस्वरूप मोक्षरत्न की भी प्राप्ति होती है। इसमे अणुमात्र भी सन्देह नही है। मै अपने अनुभव से कहता हूँ कि जब-जब हम इसका स्वाध्याय-मनन और लेखन आदि कार्य करते है तब-तब जो अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है वह शुभोपयोगजन्य होने पर भी विषयानुरंजित नही कहा या माना जा सकता है। यह पंचेन्द्रियो के विषयो को निमित्तकर होनेवाले अशुभ उपयोग से परे है।

यह तो सभी जानते है कि सम्यग्दर्शनपूर्वक मोक्षमार्ग पर आरूढ होने के लिए छ: द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नौ पदार्थों के परिज्ञानपूर्वक जीवादि सात तत्त्वो मे आगमानुसार गुरु उपदेशपूर्वक निष्णात होना सर्वप्रथम कर्तव्य है। जो उक्त विधि से गुरु पर्वक्रम से आये हुए आगम ज्ञान से शून्य होता है या विमुख होकर अपनी स्वतन्त्र प्ररूपणा को प्रधानता देता है वह, मोक्ष को प्राप्त करना तो दूर की बात है, वह मोक्ष मार्ग पर आरूढ होने का भी अधिकारी नही है। इसलिए जो तत्त्वविमर्शपूर्वक आगमज्ञान को सम्पादन करते समय विधि-निषेध का पक्ष ग्रहण करते है उसे प्रकृत मे उपयोगी नही माना जा सकता।

इस दृष्टि को ध्यान मे रखकर जब हम करणानुयोग में प्रतिपादित विषयविवेचन को ध्यान में लेते है तो मालूम पडता है कि प्रमेय के विवेचन मे जिस प्रक्रिया को इसमे स्वीकार किया गया है उसे जाने बिना भूमिकानुसार कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय होना और तदनुसार परिणामो की जाति को पहिचानना असम्भव ही है। आगम में जहाँ भी इसकी अध्यात्म शास्त्र मे परिगणना की गई है उसका कारण भी यही है।

इस प्रकार जब हम इसमे प्रतिपादित प्रमेय पर दृष्टिपात करते है तो यही मालूम होता है कि प्रकारान्तर से इसमें जीवादि सात तत्त्वो की प्ररूपणा के सिवाय अन्य ऐसा एक भी प्रमेय नही कहा गया है जो मोक्षमार्ग की दृष्टि से जानने के लिए अप्रयोजनीय हो। 'प्रयोजन के बिना समझदार पुरुष प्रवृत्ति नही करते' यदि इस नीति को जीवन मे उतारना है तो इष्ट प्राप्ति मे साधक जानकर सिद्धान्त ग्रन्थो के स्वाध्याय, अध्ययन आदि मे भी हमे लगना चाहिए। पर निरपेक्ष अध्यात्म को सम्पादन करने के लिए यह उसकी पृष्ठभूमि है।

अब करणानुयोग मे प्रकारान्तर से जीवादि सात तत्त्वो की ही प्ररूपणा हुई है इस पर सक्षेप में प्रकाश डालते हैं। यथा—इस विषय को स्पष्ट करने के लिए सर्वप्रथम प्रकृत मे जीवट्ठाण (जीवस्थान) को लेते हैं। इसमे सदादि आठ अनुयोगद्वारो के माध्यम से गुणस्थानो, जीवसमासो और मार्गणस्थानो द्वारा न केवल जीवपदार्थ का ही विवेचन हुआ है, अपितु उस प्ररूपणा मे जीवादि नौ पदार्थों को भी गर्भित कर लिया गया है। इतना अवश्य है कि एक तो वहाँ पर प्रत्येक पदार्थ के नामोल्लेखपूर्वक यह विवेचन नही किया गया है। दूसरे ये पराश्रित अवस्थाएँ और भाव है तथा ये स्वाश्रित अवस्थाएँ और भाव है ऐसा सकेत किये बिना

ही पराश्रितपने की अवस्था में जीव की नर-नारकादि कौन पर्यायें और मिथ्यात्व आदि कौन भाव होते हैं तथा स्वाश्रितपने की अवस्था में चतुर्थादि गुणस्थान सम्बन्धी कौन पर्यायें और सम्यक्त्व आदि कौन भाव होते हैं यह स्पष्ट किया गया है। इससे हम जानते हैं कि द्रव्यानुयोग में अध्यात्म के कथन का जो प्रयोजन है वही करणानुयोग के कथन का प्रयोजन है। यदि इन दोनों परमागमों की कथनी में अन्तर है तो इतना ही कि द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत अध्यात्म में दृष्टिप्रधान कथन है और करणानुयोग में कैसी दृष्टि रहने पर भूमिका के अनुसार कैसी अवस्थाएँ और कौन भाव होते हैं इसकी मुख्यता से कथन है। स्पष्ट है कि करणानुयोग के अनुसार अपने विवक्षित भूमिका और उसमें भावों का बोध होने पर उस अवस्था या तद्गत भावों को जानकर उससे उठने के लिये अध्यात्म के अनुसार स्वाश्रित पुरुषार्थ को जागृत करने के लिए या उसमें और दृढ होने के लिए यह जीव स्वोन्मुख होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि करणानुयोग की प्ररूपणा मे भी जीवादि सात या नौ पदार्थों को आलम्बन लेकर ही प्ररूपणा हुई है। इतना अवश्य है कि इसमे सक्लेश और विशुद्धि को लक्ष्य को रखकर अनुभाग की अपेक्षा कर्मों को भी प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो भागो से विभक्त किया गया है। जबकि द्रव्यानुयोग में यह जीव मोक्षमार्ग में प्रयोजनीय या अप्रयोजनीय बाह्य किस विषय में किस दृष्टि मे उपयुक्त हो रहा है इस तथ्य को ध्यान मे रखकर कर्मों को शुभ कर्म और अशुभ कर्म या पुण्य कर्म और पाप कर्म कहा गया है। साथ ही चरणानुयोग मे फल की दृष्टि से उनको पुण्य-पाप सज्ञा रखी गई है।

इसलिए यहाँ हम करणानुयोग में आस्रवतत्त्व या बन्ध के हेतुओ का किम रूप मे विवेचन हुआ है और उसकी तत्त्वार्थसूत्र आदि के साथ कैसे एकरूपता है आदि की मुख्यता से प्रकृत मे विचार कर लेना चाहते हैं। यथा—

वेदना खण्ड में एक वेदना प्रत्ययविधान नाम का अनुयोगद्वार है। वहाँ प्राणातिपात आदि पाँच अव्रत, रात्रिभोजन, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान (मापने तौलने के उपकरण) मेय, मोष, मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन आदि को जो सामान्य से आठो कर्मों के बध का कारण कहा गया है सो वह नैगमादि तीन नयो की अपेक्षा ही कहा गया है। वहाँ टीका मे इसके कारण दिए गए हैं। उनमें यह मुख्य है कि वस्तुत: कर्मों का प्रकृति आदिके भेद मे जो बध होता है वह योग और कषायकी हीनाधिकता के अनुसार ही होता है, इसलिए ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा देखा जाय तो योग और कषाय ही कर्मबन्धके हेतु हैं। फिर भी प्राणातिपात आदि को जो द्रव्यार्थिक नय से बन्ध का हेतु कहा गया है, सो वह इनके सद्भाव में किन कर्म प्रकृतियो का बन्ध विशेषरूप से होता है और कितने स्थिति अनुभाग को लिए हुए होता है आदि विशेषता को ध्यान में रखकर ही कहा गया है। इस कथन मे अन्य जितनी भी विशेषता है उसे आगम से जान लेना चाहिए। जब हम इस दृष्टि से तत्त्वार्थसूत्र पर दृष्टिपात करते है जो मालूम होता है कि उसके ८वे अध्याय के प्रथम और द्वितीय सूत्र की प्ररूपणा षट्खण्डागम के उक्त अनुयोग को ध्यान मे रखकर ही हुई है। इतना अवश्य है कि नय विभाग को ध्यान में रखकर यह प्ररूपणा हुई है और तत्त्वार्थसूत्र मे नयविभाग को स्पष्ट नही किया गया है। आशय दोनो का एक है। अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र मे पहले सूत्र की प्ररूपणा द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता से की गई है और दूसरे सूत्र की प्ररूपणा ऋजुसूत्र नय की मुख्यता से की गई है, क्योंकि मिथ्यात्व और अविरति आदि की दशा में भी बन्ध की हेतुता मुख्यतया योग और कषाय की हीनाधिकता रूप से ही स्वीकार की गई है।

इसके सिवाय प्रकृत विषय से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ और ऐसे प्रश्न हैं जिन पर यहाँ विचार कर लेना आवश्यक है। यथा—

१. प्रकृत में संक्लेश और विशुद्धि का अर्थ क्या है और उनकी स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध में सर्वत्र व्याप्ति कैसे बनती है ?

२. स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के हेतुभूत कुल परिणाम कितने है और उनमे संक्लेश-विशुद्धि के आधार पर संगति कैसे बैठती है ?

३. प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध के हेतुभूत योग परिणाम कितने प्रकार के है और वे सब मिलाकर कितने हैं ?

ये तीन प्रश्न हैं जिन पर क्रम से विचार किया जाता है—

१. पाँच लब्धियो में एक विशुद्धि लब्धि है। उसका अर्थ करते हुए लिखा है कि जिस परिणाम को निमित्तकर साता आदि परावर्तमान शुभ कर्मों का बन्ध होता है उसका नाम विशुद्धि लब्धि है। इसका अर्थ है कि जिसके निमित्त से असाता आदि परावर्तमान अशुभ कर्मों का बन्ध होता है उसका नाम सक्लेश है (धवला० पु० ६ पृ० २०४)।

ससार अवस्था में संक्लेश और विशुद्धि के ये सामान्य लक्षण है। उदाहरणार्थ जो सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है उसके सम्यग्दर्शन के सद्भाव में चाहे सक्लेशरूप परिणाम भले ही हों पर वह तीर्थङ्कर प्रकृति के साथ दुर्भग, दु स्वर और अनादेय को न बाँधकर सुभग, सुस्वर और आदेय का ही बन्ध करता है। दूसरे तिर्यक्-मनुष्य-देव सम्बन्धी तीन आयुओ को छोड शेष ११७ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यथासम्भव सक्लेश परिणामो मे होता है और इनका जघन्य स्थितिबन्ध विशुद्धि के काल मे होता है। तथा शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध विशुद्धि और जघन्य अनुभागबन्ध सक्लेश के काल मे होता है। तथा अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सक्लेश के काल मे और जघन्य अनुभागबन्ध विशुद्धि के काल में होता है। यही कारण है कि सब प्रकृतियो मे प्रशस्त और अप्रशस्त का विभाग प्राय उत्कृष्ट अनुभागबन्ध की मुख्यता से ही किया गया है। इसी विभागीकरण मे प्रकृति, स्थिति और प्रदेशबन्ध की मुख्यता नही मानी गई है।

सातावेदनीय के साथ शेष कर्मों के स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का विचार करते हुए बतलाया है कि जो सातावेदनीय का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करते है वे ज्ञानावरण कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध करते हैं क्योकि क्षपकश्रेणि मे दसवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे सातावेदनीय का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है और ज्ञानावरणीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध होता है। तथा जो सातावेदनीय का द्विस्थानीय जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं वे ज्ञानावरणीय कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते है। इसका यह भी तात्पर्य समझना चाहिये कि जब सातावेदनीय का चतु.स्थानीय उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है तब उसका भी जघन्य स्थितिबन्ध होता है और जब सातावेदनीय का द्विस्थानीय जघन्य अनुभागबन्ध होता है तब उसका भी उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। यह संक्षेप कथन है। इस सम्बन्ध मे जो अन्य विशेषताएँ है उन्हे आगम से जान लेना चाहिए। शेष कर्मों के विषय में भी इसी न्याय से विचार कर लेना।

२. स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय से होता है और कषाय के उत्तर भेद असख्यात लोकप्रमाण हैं। इसलिए स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान और अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान भी असख्यात लोकप्रमाण होते है ऐसा आगमवचन है। उसमें भी एक-एक स्थितिबन्धाध्यवसाय के प्रति असंख्यात लोकप्रमाण अनुभाग अध्यवसायस्थान होते हैं। इसे और स्पष्ट रूप से समझने के लिए प्रकृत मे एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा। समझो कि जो संज्ञी पंचेन्द्रियपर्याप्त मिथ्यादृष्टि जीव उनके योग्य ज्ञानावरण का जघन्य स्थितिबन्ध करते है

तो इनमें से प्रत्येक के यद्यपि उस स्थितिबन्ध के योग्य स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान पृथक् या सदृश एक ही होगा। पर इस दृष्टि से तीनों कालो मे नाना जीवो की अपेक्षा उस स्थितिबन्ध के योग्य सब स्थितिबंधाध्यवसायस्थान गणना की अपेक्षा असख्यात लोकप्रमाण होगे। तथा ये जितने स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान हैं उनसे अनुभाग अध्यवसायस्थान असंख्यात लोक गुणे हैं, क्योकि भले ही सबने अपने-अपने परिणामों के अनुसार एक ही प्रकार की स्थिति का बन्ध किया हो, पर उन सबका अनुभागबन्ध भी एक ही प्रकार का होना चाहिए ऐसा नही है। इसलिए एक ही प्रकार के स्थितिबन्ध के होने पर भी उस कर्म का अनुभागबन्ध असख्यात लोक प्रकार का होना भी सम्भव है। यही कारण है कि आगम मे अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान को अनुभाग स्थान संज्ञा भी दी गई है।

प्रकृत मे सक्लेश और विशुद्धि के सम्बन्ध मे यह नियम है कि जो सक्लेशरूप परिणाम हैं वे विशुद्धिरूप नही होते और जो विशुद्धरूप परिणाम है वे सक्लेशरूप नही होते। विशेष निर्णय आगम से करना चाहिए। तत्त्वार्थसूत्र के छठे अध्याय मे जो अलग-अलग कर्मो के बन्धकारणो का विस्तार से प्ररूपण हुआ है सो उनमे से प्रशस्त और अप्रशस्त प्रत्येक बन्धकारण असख्यात लोक प्रमाण हैं उनका विचार पूर्वोक्त (१-२) क्रमाक मे कही गई विधि से कर लेना चाहिये।

३. प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का मुख्य कारण योग है यह हम पहले ही बतला आये है। धवला पु० १० मे नोआगम भाव योग के तीन भेदो मे एक भेद जुजण (जुड़नेरूप) योग है। यही प्रकृत मे विवक्षित है, क्योंकि अकर्म रूप मे स्थित कार्मण वर्गणाओ के ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप मे परिणमन मे मुख्य हेतु कषाय न होकर यह जुजण योग ही है। सामान्य से मन, वचन और काय के निमित्त से जो आत्मप्रदेश परिस्पद होता है वह जुजण योग है। इस परिस्पन्द को निमित्त कर ही कार्मण वर्गणाओ का अपनी-अपनी योग्यतानुसार कर्म रूप परिणमन होता है। इन वर्गणाओ के परमाणु बिखरे हुए नही होते। किन्तु प्रत्येक वर्गणा मे सहज ही ऐसे परमाणुओ का मिश्रण रहता ही है जो अपनी-अपनी योग्यतानुसार ज्ञानावरणादि रूप से परिणमते है।

ऐसा नियम है कि य वर्गणाएँ जब कर्मरूप परिणमती है तब ये 'द्वयधिकादिगुणाना तु' के सिद्धान्तानुसार आत्मा के प्रदेशो मे एक क्षेत्रावगाह रूप से स्थित जो पुराने कर्म है उनके साथ श्लेष बन्ध को प्राप्त हो जाती हैं और ऐसा होते हुए भी आत्म प्रदेशो मे एक क्षेत्रावगाह रूप से स्थित हो जाती है। प्रकृत मे आत्मा के साथ कर्मबन्ध का यहा अर्थ है, क्योकि आत्मा स्वभाव से अमूर्त रूप-रसादि से रहित होने के कारण जीव के साथ कर्मरूप परिणत पुद्गलो का वैसा श्लेषबन्ध नही होता जैसा पुद्गल पुद्गल का होता है।

इस प्रकार जो जुजण योग है वह उपपाद योगस्थान, एकान्तानुवृद्धि योगस्थान और परिणाम योगस्थान के भेद से तीन प्रकार का है। यहाँ स्थान शब्द भेद के अर्थ मे आया है। इन तीन योगो में से जिस योग के जितने भेद होते है उस योग को उतने योगस्थान वाला कहा जाता है।

यहाँ ऐसा जानना चाहिए कि जिस समय जो योग होता है वह सब आत्मप्रदेशो में समान न होकर उसमे तारतम्य देखा जाता है। फिर कर्मबन्ध मे ऐसा तारतम्य होता हो ऐसा नही है।

ये तीनों जो योगस्थान है वे सब मिलाकर जगश्रेणि के असख्यातवे भाग प्रमाण ही हैं। इसलिए इन सब योगस्थानो मे अविभाग प्रतिच्छेदो की अपेक्षा चार वृद्धियाँ और चार हानियाँ ही सम्भव हैं। इनमें अनन्त भागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि तथा अनन्त भागहानि और अनन्त गुणहानि सम्भव नही है।

यह सक्षेप मे जुजण योग की प्ररूपणा के साथ मोटे तौर से आस्रव तत्त्व की प्ररूपणा है।

●

भाव : आत्मा की एक निधि

● क्षुल्लकमणि श्री शीतल सागर जी महाराज

भाव-भाव सब ही कहे, विरले समझे भाव ।
जो भावो को समझ ले, हो परमात्म स्वभाव ॥

हाँ तो देखिये ! हर कोई कहता है—"भाव शुद्ध होने चाहिये, हमार तो भाव शुद्ध है, क्रिया-काण्ड में क्या रक्खा है ?" पर ऐसा कहने वालो मे विरले ही ऐसे होगे, जो भावो के विषय मे समझते हों । क्योकि वास्तव में भावों को समझ ले तो परमात्म-स्वभाव हुए बिना न रहे । परमात्मस्वभाव हाने पर, निराकुलता ही निराकुलता, आनन्द ही आनन्द और सुख-शाति ही सुख-शाति का निवास रहता है ।

भावो को समझने से तथा तदनुकूल परिणति करने से; आत्मा, परमात्मा हो जाता है । अत. आइये । तरह-तरह से, आप-हम भावो को ही समझने का प्रयत्न अथवा पुरुषार्थ करे ।

हाँ तो, एक शब्द के अनेक अर्थ तथा एक अर्थ को सूचित करने वाले अनेक शब्द होते है । जैसे कनक का अर्थ सुवर्ण भी है और धतूरा भी । इसी प्रकार एक ही सुवर्ण-धातु को, सुवर्ण, कनक, कलधौत, सोना आदि शब्दों से भी समझा जाता है । ठीक इसी प्रकार "भाव" शब्द का अर्थ कीमत, अस्तित्व, मूल्य आदि भी है और भाव को परिणाम अथवा विचार आदि भी कहकर पुकारते है । यहाँ प्रकरण मे, जो भाव के विषय मे हमें समझना है वह मात्र जीव-आत्मा मे ही पाये जाने वाले भाव (परिणाम, विचार) से है ।

भाव अशुभ, शुभ और शुद्ध के भेद मे तीन प्रकार के है । आर्त (इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीडा चिंतन और निदान बन्ध रूप परिणामो का होना), तथा रौद्र (हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द रूप परिणामो का होना) अशुभ भाव है । दान देने, श्री वीतराग देव की पूजा करने और पच परमेष्ठी की स्तुति व वन्दना करने के विचार होना, शुभ भाव है तथा "मैं जीवात्मा, शुद्ध स्वभाव वाला हूँ", ऐसी अपनी आत्मा को परिणति होना, शुद्ध भाव है । —भाव पाहुड ७६/७७

तत्त्वार्थसूत्र मे श्री उमास्वामी ने भी भावो के विषय मे बताया है—

"औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च"

(अध्याय २ सूत्र १)

अर्थात् जीव के, औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक), औदयिक और पारिणामिक ये पाँचो ही भाव निज के भाव हैं अर्थात् जीव के सिवाय अन्य किसी भी अचेतन पदार्थ मे ये नही पाये जाते । इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

औपशमिक भाव—कर्मों के उपशम से जीव का जो भाव होता है उसे औपशमिक भाव कहते हैं । जैसे—निर्मली के सयोग से पानी की कीचड नीचे बैठ जाती है और पानी स्वच्छ हो जाता है ।

क्षायिकभाव—कर्मों के समूल विनाश से, जो आत्मा का भाव होता है, उसे क्षायिक भाव कहते है ।

क्षायोपशमिक भाव—कर्मों के क्षयोपशम (क्षय और उपशम) से, जीव का जो भाव होता है, उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं ।

औदयिक भाव—कर्मों के उदय से आत्मा के जो भाव होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं ।

पारिणामिक भाव—जो भाव, कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय की अपेक्षा न रखता हुआ, आत्मा का स्वभाव मात्र हो, उसे पारिणामिक भाव कहते हैं।

कविवर-बनारसीदास जी ने निम्न छन्द में यह सुन्दर सुझाव दिया है कि भाव के बिना, सब क्रिया निष्फल है—

ज्यों नीराग पुरुष के सन्मुख, पुरकामिनि कटाक्ष कर ऊठी।
ज्यो धन त्याग रहित प्रभु सेवन, ऊसर मे बरषा जिम झूठी।।
ज्यों शिल माहिं कमल को बोवन, पवन पकर जिम बाँधिये मूठी।
ये करतूति होय जिम निष्फल त्यो बिन भाव क्रिया, सब झूंठी।।

अर्थात् जिम तरह वीतराग व्यक्ति के सन्मुख, पुर की कामिनी का कटाक्ष सहित उठकर बैठना निष्फल है, धन के त्याग बिना प्रभु की सेवा निष्फल है, बजर भूमि मे वर्षा का होना निष्फल है, पत्थर की चट्टानों में कमल का उगाना व्यर्थ है तथा पवन को पकड कर मुट्ठी का बाधना निष्फल है, उसी प्रकार भाव के बिना सभी क्रियायें झूठी अथवा निष्फल है।

कवि के लिखने का यह स्पष्ट अभिप्राय झलकता है कि क्रिया यदि शुभ है तो उसके अनुकूल मन्द रागादि रूप, भाव भी शुभ होने चाहियें, तभी क्रिया की सार्थकता है। मात्र प्रदर्शन रूप क्रिया का कोई महत्त्व नही। क्योकि भावो से ही जीवन का निर्माण होता है, भावो मे ही इष्टफल की प्राप्ति होती है और भावो से ही जीवन शान्त व सुखी रहता है। जिन भावो से जीव, शात वह सुखी रहता है वे शुद्ध अन्त करण से उत्पन्न हुए भाव ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होते है। इन्ही से जीवात्मा कर्मबन्धन से छुटकार पाता है।

श्री कुमुदचन्द्राचार्य ने भी कल्याणमन्दिर स्तोत्र मे उल्लेख किया है—

"आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽस्मि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जन-बाधव ! दु:खपात्र,
यस्मात् क्रिया: प्रतिफलन्ति न भावशून्या:।।"

इसका कर्णप्रिय, भाव पूर्ण, हिन्दी पद्यानुवाद, इस प्रकार है—

"श्रवण दरश पूजन भी मैंने, यदि हो किसी समय कीना।
तो भी सच्चे भक्ति-भाव से, नही तुम्हें चित में दीना।।
इस ही कारण हे जन बाधव ! दुख भाजन मैं हुआ अभी।
भाव रहित हो क्रिया कोई भी, सफल होत है नही कभी।।"

रत्नाकार पचविंशति मे लिखा है—

"वैराग्यरगप्रवचनाय, धर्मोपदेशी जनरंजनाय।
वादाय विद्याऽध्ययन च मेऽभूद कियद् ब्रुवे हास्यकरं त्वमीश।।"

इसका सुन्दर हिन्दी पद्यानुवाद बारबार पढ़कर चिंतनीय है—

"संसार ठगने के लिये वैराग्य को धारण किया।
जग को रिझाने के लिये, उपदेश धर्मों का दिया।।
झगड़ा मचाने के लिये, मुझ जीभ पर विद्या बसी।
निर्लज्ज हो कितनी उड़ाऊँ, हे प्रभो ! अपनी हँसी।।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भाव पाहुड में जो भावों के विषय में लिखा है, वह ध्यान देने योग्य है। वे लिखते हैं—

"भाव-विमुत्तो मुत्तो, णय मुत्तो बंधवाई मित्तेण" ॥४३॥

अर्थात् जो मुनि, ममत्व-भावरूप वासना तथा राग-द्वेषरूप वासना (भाव) से दूर हुआ है, वही मुक्त अर्थात् मुनि है। केवल बाधवादि कुटुम्ब और मित्रादि से छुटकारा पाने वाला, 'मुक्त' अर्थात् मुनि नही है। यहाँ ममत्व व रागद्वेषादि रूप भावों को त्याज्य बताया है। आगे लिखा है—

"भावेण होइ लिंगी" ॥४८॥

अर्थात् भाव पूर्वक, अन्तरग परिणामो से भेद विज्ञानी होने पर ही, मुनि वेश की शोभा है। आगे ऐसे ही भाव श्रमण का उल्लेख है कि—

"भाव-समणो य धीरो, जुवइ-जण-वेदिओ विसुद्धमइ।
णामेण सिवकुमारो, परीत्त-संसारिओ जादो" ॥५१॥

अर्थात् स्त्रीजनो से घिरे रहने पर भी, शिवकुमार नामक भाव श्रमण, विशुद्ध बुद्धि का धारक और संसार का त्यागी हुआ। अब भावहीन द्रव्यलिंगी मुनि के सम्बन्ध मे बताते है कि—

"अभव्य सेन नामक द्रव्यलिंगी मुनि ने, केवली भगवान् से उपदिष्ट ग्यारह अग पढे। अभव्य सेन इतना पढा, तो भी भाव-श्रमणपने को प्राप्त नही हुआ। जिन वचन की प्रतीति नही हुई। अत ससारी ही रहा।" —भाव पाहुड गाथा ५२.

अब भावो की विशुद्धि वाले का उदाहरण इस प्रकार है—

"तुसमास घोसतो, भाव-विसुद्धो महाणुभावो य।
णामेणं य सिवभूई, केवलणाणी फुडं जाओ" ॥५३॥

अर्थात् शिवभूति मुनि ने शास्त्र नही पढे थे। परन्तु "तुष माष" ऐसे शब्द को रटते हुए, भावों की विशुद्धता से महानुभाव होकर, केवलज्ञान को प्राप्त किया।

श्री योगीन्द्रदेव सूरि ने योगसार नामक महान् ग्रंथ मे उल्लेख किया है—

"परिणामे बंधु णि करिउ, मोक्ख वि तह जि वियाणि" ॥१४॥

अर्थात् हे भव्यात्माओ! यदि वास्तव मे अपने आत्मा का कल्याण चाहते हो तो, इस बात को सदैव ध्यान में रक्खो कि "परिणामो (भावों) से ही बध होता है और परिणामो से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।"

यहाँ आचार्य श्री ने करुणा बुद्धिपूर्वक, विशेष उपकार की भावना से, हम ससारी प्राणियो को प्रेरणा दी है कि देखो! अशुद्ध भावों से कर्मों का बधन होता है, जिनके कारण तुम दुखी हो, अत. अपने आत्मा में अशुद्ध भाव मत होने दो तथा शुद्ध भावों से कर्मबंधन से मुक्ति होती है, जिनसे तुम पूर्ण निराकुल सुखी हो सकते हो, अतः अपने आत्मा में शुद्ध भाव ही होते रहे, इसका पूर्ण प्रयत्न करो। क्या ही अच्छा हो कि आप हम आचार्य श्री की इस प्रेरणा का पालन करना, प्रारंभ कर दें।

एक आचार्यश्री ने भावों का महत्त्व इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

"सकलाः विकलाः सर्वे, सर्वज्ञाः परमेष्ठिन.।
त्रयश्चान्ये भवन्तीह, भावैर्भावान्नमस्कुरु।"

अर्थात् इस लोक में सम्पूर्ण अरहत केवली (सकल परमात्मा), सिद्ध परमेष्ठी (विकल परमात्मा), आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी ये सब अपने-अपने उत्कृष्ट भावो से ही हुए है।

एक और आचार्यश्री ने सबोधित किया है कि, "भावहीन व्यक्ति के पूजा, तप, दान, जप और दीक्षा आदि उसी प्रकार व्यर्थ है, जिस प्रकार बकरी के गले के स्तनों से दुग्ध की प्राप्ति तो कदापि होती नही। आचार्यश्री का श्लोक इस प्रकार है—

"भाव-हीनस्य पूजादि, तपो-दान-जपादिकम्।
व्यर्थं दीक्षादिक च स्यादजाकंठे स्तनाविव॥"

एक कवि ने इस प्रकार भी इसकी पुष्टि की है—

"भव्य भाई भावो को, अपने सुधार बिना,
जप तप धर्म कर्म, क्रिया काड व्यर्थ है।"

हमारे ऋषि-महर्षियो के वचनामृत का प्रभाव, भव्यात्माओ पर होता ही है और इसीलिए एक भक्त, भक्ति मे गद्‌गद होकर बार-बार उच्चारण करता है—

"देव बदना करूँ भाव से, सकल-कर्म की नाशन हार" —त्रिपूजा

इसी प्रकार एक अन्य भक्त, भक्ति मे विभोर होकर दोनो हाथ जोडकर शिर झुकाते हुए बारंबार गुनगुनाता है—

मै बदौ जिनदेव को, कर अति निर्मल-भाव।
कर्मबध के छेदने, और न कछू उपाव॥"

भावो के सम्बध मे समणसुत्त (पृ० ११६ गाथा ३६१) मे कितना महत्त्वपूर्ण कथन है—

"भाव-विसुद्धि णिमित्त, बाहिर-गथस्स कीरए चाओ।
बाहिर-चाओ विहलो, अब्भतर-गथ-जुत्तस्स॥"

अर्थात् भावो को विशुद्ध (निर्मल) करने के लिये ही, बाह्य स्त्री पुत्रादि परिग्रह का त्याग किया जाता है। जिसके भीतरी परिग्रह (राग द्वेष क्रोधादि) रह जाते है, उसके बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है।

परिणामो को निर्मल करने के लिये अथवा निर्मल बनाये रखने के लिये, भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति में कितना सुन्दर उल्लेख है—

"हो देश मे सब जगह, सुख शाति पूरी,
हिंसा-प्रवृत्ति जग से, उठ जाय सारी।
पावे प्रमोद सब राष्ट्र, निजात्म-मेरा,
कल्याण तू कर सदा, भगवन्! नमस्ते॥"

भावों के सम्बन्ध में एक मुनि महात्मा का स्पष्टीकरण है कि—

"भावैस्तिर्यङ् नरः स्वर्गी, नारकश्चेतनो भवेत्।
भावैस्तीर्थकृतस्तस्मात्, सद्भावानुररीकुरु॥"

अर्थात् यह चेतन जीवात्मा; कपट भावो मे तिर्यंच, अल्प आरंभ तथा अल्प परिग्रह व स्वभाव से मृदुता होने रूप भाव से मनुष्य, सराग संयम व सयमासयम आदि के भावों से देव, बहुत आरंभ परिग्रह के भावों से नारकी और दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं से तीर्थंकर होता है। अतः सद्भावों को ही अंगीकार करना चाहिये।

आचार्य पूज्यपाद ने भी लिखा है—

"शास्त्राभ्यासो जिनपति-नुतिः, सगति सर्वदार्यै ।
सद्वृत्ताना गुणगणकथा, दोषवादे च मौन ॥
सर्वस्यापि प्रियहितवचो, भावना चात्मतत्त्वे ।
सपद्यता मम भव-भवे, यावदेतेऽपवर्ग ॥"

आगे भी लिखा है—

तव पादौ मम हृदये, मम हृदय तव पदद्वये लीन ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र ! तावद्, यावत् निर्वाण-संप्राप्ति ॥

उक्त छहो पक्तियो का सुन्दर हिन्दी पद्यानुवाद, छह ही पक्तियो मे इस प्रकार है—

"शास्त्रो का हो पठन सुखदा, लाभ सत्संगति का ।
सद्वृत्तो के सुगुण कहके, दोष ढाकू सभी का ॥
बोलूं प्यारे वचन हित के, आपका रूप ध्याऊ ।
तौलो सेऊ चरण प्रभु के, मोक्ष जौलौं न पाऊँ ॥"
"तुव पद मेरे हिय मे, मुझ हिय तेरे पुनीत चरणो मे ।
तबलौं लीन रहे प्रभु ! जबलौ पाया न मुक्ति पद मैंने ॥"

परोपकार के भाव चाहने वाला या बनाये रखने वाला व्यक्ति, उक्त आचार्यश्री की वाणी का इस प्रकार भी चितवन करता है—

"क्षेम सर्वप्रजाना, प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपाल.,
काले काले च सम्यक् विकरतु मघवा, व्याधयो यातु नाशम् ।
दुर्भिक्ष चौर-मारी क्षणमपि जगता, मात्म भूज्जीवलोके,
जैनेद्र धर्मचक्र, प्रभवतु सतत, सर्वसौख्यप्रदायि ॥"

इसका महत्त्वपूर्ण हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार मनन करने योग्य है—

"होवे सारी प्रजा को सुख, बलयुत हो धर्मधारी नरेशा,
होवे वर्षा समय पै, तिलभर न रहे, व्याधियो का अदेशा ।
होवे चोरी न जारी, सुसमय वरतै, हो न दुष्काल भारी,
सारे हो देश धारें, जिनवर वृष को, जो सदा सौख्यकारी ॥

भावो को उत्तरोत्तर विशुद्ध करने या बनाये रखने के लिये, यह श्लोक भी प्रतिदिन सुबह साय बार-बार स्मरण करने योग्य है—

"सर्वे सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दु खमाप्नुयात् ॥"

अर्थात् ससार के सभी जीवात्मा सुखी हो, रोग रहित हो, सर्व प्रकार का सौख्य प्राप्त करे तथा कोई भी किसी भी प्रकार दुखी न हो ।

हमें इन वाक्यो को सदैव स्मरण रखना चाहिये कि "भाव ही अच्छे बुरे का मूल है ।" तथा "भाव से ही जीवात्मा, हिंसक और अहिंसक होता है ।" जैनधर्म तो सारा का सारा भाव प्रधान है । उसमे जहाँ

देखो वीतराग भाव (राग-द्वेषादि रहित भाव) की पुष्टि मिलती है। इस सम्बंध मे श्रीमत् अमृतचंद्र सूरि ने जो उल्लेख किया है वह ध्यान देने योग्य है। वे लिखते हैं—

"अप्रादुर्भावः खलु, रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य सक्षेपः ॥४४॥"—पु० सि०

अर्थात् अपने आत्मा में, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, भीरुता, घृणा आदि रूप, विकारी भावों का उत्पन्न न होना अहिंसा है और इनकी उत्पत्ति होना हिंसा है।

यहाँ यह स्पष्ट झलकता है कि प्राणियो के प्राणो का वियोग होने मे, यदि आप हम निमित्त मात्र हैं तो भी हिंसापाप के भागी नही है। हाँ हम राग-द्वेषादि रूप परिणत होकर यदि किसी भी प्राणी के प्राणों का वियोग होने में निमित्त होते है तो अवश्य ही हिंसा पाप के भागी हैं।

महापंडित आशाधर जी सागारधर्मामृत मे भावो के विषय मे, महत्त्वपूर्ण तर्क द्वारा समझाते हैं कि—

"विष्वग् जीवचिते लोके, क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥"—अध्याय ४, श्लो० २३.

अर्थात् अगर भाव के आधीन, बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था, स्वीकार न का जाये, तो ससार का वह कौन सा स्थान होगा जहाँ पहुँच कर भव्यात्मा पूर्ण अहिंसक होकर, मोक्ष प्राप्त करें? क्योकि संसार का ऐसा कोई स्थान नही, जहाँ ठसाठस जीव राशि न हो। जब सर्वत्र जीव राशि है, तो उसकी हिंसा से भी बच नही सकते। अत अहिंसक भाव ही कल्याणकारी है। अपने आत्मा को राग-द्वेषादि रूप परिणत न होने देना ही श्रेयस्कर है।

यद्यपि राग द्वेषादि रूप भावो का न होना ही प्रत्येक व्यक्ति के, कल्याण का मार्ग है फिर भी ऋषि महर्षियों ने स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निषेध कर, बाह्य आचरण (दान पूजा व्रताचरण रूप क्रियाकाड) का भी उपदेश दिया है। जिसके, बाह्य क्रियाकाड सही नहीं है, उसके भावो का विशुद्ध होना सभव नही। अपने भाव शुद्ध मानने वाले के तदनुरूप क्रिया होना आवश्यक है।

श्री अमृतचंद सूरि ने लिखा है—

"सूक्ष्माऽपि न खलु हिंसा, पर-वस्तुनिबधना भवति पुंस।
हिंसायतन-निवृत्तिः, परिणाम-विशुद्धये तदपि कार्या ॥४९॥"

—पु० सि०

अर्थात् निश्चय कर पर-पदार्थ के निमित्त से, सूक्ष्म से सूक्ष्म भी हिंसा नही होती। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह परिणाम विशुद्धि के लिये, हिंसा के आयतन का त्याग करे। अर्थात् अहिंसादि व्रतों को धारण करें।

श्रीमत् समंतभद्राचार्य ने तो यहाँ तक उल्लेख किया है कि—

"राग-द्वेषनिवृत्यै, चरणे प्रतिपद्यते साधुः"

अर्थात् साधु पुरुष, राग द्वेषादि की निवृत्ति के लिये, बाह्य आचरण का पालन करता है। जैन गुरुओं के विषय में जो यह लिखा है कि वे—

"अरि मित्र महल मसान कचन, काच निंदन थुति करन।
अर्घावतारण असि प्रहारन में, सदा समता धरन ॥"

होते हैं। इससे भी रागद्वेषादि रूप विकृत भावों के अभाव रूप, समता भाव की पुष्टि होती है। बाह्य में अट्ठाईस मूल गुणो के पालन रूप मुनि अवस्था है हो।

जीवात्मा के अज्ञानदशा में ममता-मूर्च्छा रूप भाव होते हैं, पर वे कल्याणकारी नही। गुरुओं की संगति से जीवात्मा उनको अकल्याणकारी समझने लगता है और उन्हें छोड़कर समताभाव का अभ्यास करने लगता है।

अतः एकान्त रूप मे यह धारणा बना लेना उचित नही है कि "हमारे तो भाव विशुद्ध हैं, क्रियाकाड में क्या धरा है।" शुभ भावो के लिये शुभ क्रियाकाडो का होना अत्यन्त आवश्यक है। इतना ही नही अपितु शुभ भाव व शुभ क्रिया के साथ, शुद्ध का लक्ष्य होना भी अत्यन्त आवश्यक है।

हमें इस प्रकरण मे स्वभाव, विभाव और परभाव को भी समझ लेना चाहिये। स्वय आत्मा के शाश्वत रहने वाले भाव (परिणाम) को स्वभाव कहते हैं। अपने आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि स्वभाव हैं। इनसे स्व-पर का शुद्ध जानना तथा अवलोकन करना रूप कार्य होता है। और यह कार्य, निराकुलता रूप शाश्वत सुख का कारण होने से, उपादेय है। स्वात्मा मे व्यक्त करने योग्य है। अज्ञान दशा मे स्वात्मा के जो क्षण स्थायी, रागद्वेषादि विकारी भाव होते है उन्हे विभाव कहते हैं। ये विभाव, आकुलता रूप होने से दुख के मूल कारण है। अत त्याज्य है। मात्र ज्ञेय—जानने योग्य है। स्वात्मा के सिवाय, अन्य आत्माओ मे पाये जाने वाले परिणामों को परभाव (पर के भाव) कहते हैं। ये परभाव, स्वभाव रूप और विभाव रूप इस प्रकार दोनो प्रकार के होते है। ये भी मात्र ज्ञेय—जानने योग्य है। ये न हेय है और न उपादेय।

यहाँ अब प्रसगवश षट्लेश्या प्रकरण को समझना भी अत्यन्त आवश्यक है। सो ही निम्न आठ दोहो मे, इस प्रकार है—

माया, क्रोध, लोभ, मद, हैं कषाय दुखदाय।
तिनसे रजित भाव जो, लेश्या नाम कहाय ॥१॥

अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ रूप दुखदायक कषाय भाव से रजित, योग की प्रवृत्ति होना लेश्या है। सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने, लेश्या की परिभाषा यह भी की है—"जिसके द्वारा जीवात्मा अपने को पुण्य भाव और पाप भाव के अधीन करे, वह लेश्या है।" अब भावो से होने वाली छह लेश्या के नाम बताते हैं—

षट्लेश्या जिनवर कही, कृष्ण नील कापोत।
पीत पदम छठी शुकल, परिणामहिं तै होत ॥२॥

अर्थात् देवाधिदेव श्री जिनवर देव ने, परिणामो (भावो) से होने वाली कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छह लेश्या कही है। इनमे प्रारम्भ की तीन अशुभ और अतिम तीन शुभ लेश्या है।

इन छहों लेश्या के विषय मे निम्न तीन दोहो मे दृष्टान्त द्वारा समझाया है।

कठियारे षट्भाव धर, लेन काष्ठ को भार।
बन वाले भूखे हुए, जामुन-वृक्ष निहार ॥३॥
कृष्ण वृक्ष काटन चहै, नील जु काटन डाल।
लघु डाली कापोत उर, पीत सबै फल डाल ॥४॥
पदम चहे फल पक्व को, तोड़ खाऊँ सार।
शुक्ल चहे धरती गिरे, लू पक्वे निरधार ॥५॥

अर्थात् छह कठियारे, अपने अलग-अलग भाव लेकर, जंगल में काष्ठ का बोझ लेने को गये। कर्मयोग से छहो को भूख लगी तो पुण्य योग से जामुन का वृक्ष दिखाई दिया। अब उन छहों कठियारों मे से जिसके कृष्ण लेश्या रूप भाव थे वह तो वृक्ष को ही जड मूल से काटना चाहता है, नील लेश्या के भाव वाला बड़ी डालों को काटना चाहता है, कापोत लेश्या के भाव वाला व्यक्ति छोटी-छोटी डालें काटना चाहता है, पीत-लेश्या के भाव वाला डालो को हिलाकर कच्चे-पक्के सभी जामुन गिराना चाहता है, पद्म लेश्या वाला पके हुए जामुनो को ही तोड कर खाना चाहता है और शुक्ल लेश्या वाला व्यक्ति, पेड के नीचे गिरे हुए पक्के जामुनों को उठाकर खाना चाहता है। इस प्रकार क्रमश: छहो के छहों लेश्या रूप भाव हुए।

अब उक्त लेश्या परिणाम का फल तीन दोहो मे बताते है :—

जैसी जिसकी लेश्या, तैसा बाँधे कर्म।
श्री सत्गुरु सगति मिले, मनका जावे भर्म ॥६॥
कृष्ण नारकी होत हैं, थावर नील प्रभाव।
तिर्यंच होत कपोत तें, पीत लहे नर आव ॥७॥
पदम थकी ह्वै देवपद, शुक्ल शिवालय देव।
उत्कट लेश्या भाव के, काज करोजित येव ॥८॥

अर्थात् जिस जीवात्मा व्यक्ति के जिन लेश्या के भाव होते है, वैसा ही वह कर्म बधन करता है। हाँ! सतगुरु की सगति मिलने से, मद का अज्ञान अवश्य दूर होता है। कृष्ण लेश्या वाला नारकी होता है। नील लेश्या वाला एकेन्द्रिय स्थावर होता है। कपोत लेश्या वाला तिर्यंच होता है। पीत लेश्या वाला मनुष्य गति का धारक होता है, पद्म लेश्या वाला, देवपद देव पर्याय को प्राप्त करने वाला होता है और शुक्ल लेश्या वाला देवपद तथा मोक्षपद को प्राप्त करने वाला होता है। हमारा कर्तव्य है कि हम इस लेश्या रूप भावो के प्रकरण को समझकर उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या रूप भाव जिससे हो, ऐसे कार्य करें। जिससे निर्वाण की सप्राप्ति हो जावे।

भाव पाहुड गाथा १६४ मे श्री कुन्दकुन्द महर्षि ने, भावो का निष्कर्ष निचोड निकालते हुए, जो अंतिम निर्णय दिया है, वह चिरस्मरणीय है—

"किं जपिएण बहुणा, अत्थो धम्मो य काममोक्खो य।
अण्णे विय वावारा, भावम्मि परिट्ठिया सव्वे॥"

इसका सस्कृत अनुवाद इस प्रकार है—

"किं जल्पितेन बहुना, अर्थः धर्मः च काममोक्षौ च।
अन्येऽपि च व्यापाराः, भावे परिस्थिताः सर्वे॥

अर्थात् आचार्य कहते है कि अधिक क्या कहे ? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा अन्य जो भी कुछ क्रियायें है, उनकी सफलता भावो से है।

सम्पूर्ण लेख का सार-निचोड यह है कि भावो का सम्बन्ध, आपके हमारे सभी प्रत्येक जीवात्मा से है। वे भाव तीन प्रकार के है। अशुभभाव, शुभ भाव और शुद्ध भाव। इनमे से प्रथम दो भाव अशुद्धोपयोगी के होते है जो कि ससार के कारण है। यद्यपि अशुद्धोपयोगी के जो अशुभ तथा शुभ भाव होते हैं, वे सामान्य रूप से, ससार बंधन के ही कारण हैं, परन्तु इनमे शुभ भाव के जो दो भेद, पापानुबधी पुण्य रूप शुभ भाव तथा पुण्यानुबधीपुण्य रूप शुभ भाव बताये है। इनमे पुण्यानुबधी पुण्य को परम्परा से मोक्ष का कारण भी माना गया है। क्योकि शुद्धभाव का प्रारम्भ, पुण्यानुबधी पुण्य के होने पर ही होता है। यहाँ यह भी अच्छी तरह

समझ लेना आवश्यक है कि अशुभ भाव और पापानुबंधी पुण्य रूप भाव, नियम से मिथ्यादृष्टि-बहिरात्मा के ही होते हैं। जब कि पुण्यानुबंधी पुण्य रूप शुभ भाव सम्यग्दृष्टि-मोक्षमार्गी के होते हैं। शुद्ध भाव नियम से शुद्धोपयोगी जीवात्मा के ही होने से, कर्मों की निर्जरा पूर्वक, अविनाशी मोक्ष सुख के कारण हैं। ये शुद्ध भाव, एक अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थान वाले मोक्षमार्गी जीवात्मा से प्रारम्भ होते हैं और वास्तव में इनका प्रारम्भ श्रेण्यारोहण से होता है। चतुर्थ गुणस्थान में पुण्यानुबंधी पुण्य भाव की मुख्यता तथा शुद्ध भाव की गौणता है। हाँ कर्मों की निर्जरा का प्रारम्भ जो मोक्ष में कारण है, वह चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है। पहले पाप भावों भी विशेष निर्जरा होती है। मुक्त दशा में शुद्ध भाव रहता है अर्थात् ज्ञान-दर्शन आदि शाश्वत गुणों का शुद्ध परिणमन ही प्रति समय रहता है। इस शुद्ध भाव का अभाव अनंत काल में भी नहीं होता।

इस प्रकार हमें भावों के विषय में सही समझ प्राप्त करके, अशुभ क्रिया और अशुभ भाव को त्यागना चाहिये तथा पुरुषार्थ और विवेकपूर्वक शुभ क्रिया और शुभ भाव करने चाहिये। इतना ही नहीं अपितु शुभ भाव के साथ शुद्ध भाव और आत्म रमण रूप शुद्ध क्रिया का प्रारम्भ करके शुद्ध भावों को (स्वात्म-तल्लीनता को) वृद्धिगत करना चाहिये।

देखने में दान पूजादि शुभ क्रियायें और ध्यानावस्था रूप शुद्ध क्रियायें ही आती हैं। अतः इन्हें आवश्यक समझकर, प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये। इन क्रियाओं के करते रहने से भी, किसी किसी के अवसर पाकर, तदनुकूल शुभ भाव और शुद्ध भाव हो जाते हैं। जिनसे जीवात्मा मुमुक्षु कहलाकर, मोक्षमार्गी हो जाता है, और एक दिन वह आता है कि वही साक्षात् मोक्ष दशा का धारी हो जाता है।

आत्म कल्याण चाहने वाले को, यह एकान्त आग्रह कभी नहीं होना चाहिये कि "पहले शुभ भाव हो फिर शुभ क्रिया तो होगी ही" अपितु यह भी लक्ष्य रखकर पहले शुभ क्रियायें करनी चाहिये कि "शुभ क्रिया होने पर पश्चात् भी शुभ भाव होकर शुद्ध भाव हो सकते हैं और इस प्रकार भी शुद्ध भावों से मोक्ष हो जाता है।" वास्तव में मानव जीवन की सफलता भावों को समझकर तथा तदनुकूल आचरण करके अविनाशी व अविकार रूप एवं शाश्वत सुख के निधान मोक्ष स्वात्मानुभूति का पूर्ण विकास को प्राप्त करने में ही है।

दुःषमकाल में भावलिंगी मुनि होते हैं

● आर्यिकारत्न १०५ श्री ज्ञानमती माताजी

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में पाँच परमेष्ठी के अन्तर्गत आचार्य, उपाध्याय और साधु इन परमेष्ठियों को दिगम्बर मुनि मुद्रा का धारक ही माना है। इन दिगम्बर मुनियो के दो भेद होते हैं ऐसा आगम में कथन है। यथा—

जिनेन्द्र देव ने मुनियों के जिनकल्प और स्थविरकल्प ऐसे दो भेद कहे है।

जिनकल्पी मुनि

जो उत्तम संहनन धारी है उनके जिनकल्प होता है। जो मुनि पैर मे काँटा लग जाने पर या नेत्र में धूलि पड जाने पर स्वय नही निकालते है, यदि कोई निकाल देता है तो मौन रहते है। जलवर्षा हो जाने पर गमन रुक जाने से छह मास तक निराहार रहते हुये कायोत्सर्ग से स्थित हो जाते है। अशेष कषायो को छोड़ चुके हैं, मौनव्रती है और गिरि कदराओ मे निवास करने वाले हैं। जो बाह्य अभ्यतर परिग्रह से रहित, स्नेह रहित, निःस्पृही यतिपति, जिन (तीर्थंकर) के समान विहरण करते है वे ही श्रमण जिनकल्प मे स्थित है। अर्थात् जिनकल्पी होते हैं।

स्थविरकल्पी मुनि

जिनेंद्र देव ने अनगारो के लिये स्थविरकल्प भी बताया है। यह ऐसा है—पाँच प्रकार के वस्त्रो का त्याग करना, आकिंचनवृत्ति धारण करना और प्रतिलेखन-पिच्छिका ग्रहण करना। पाँच महाव्रत धारण करना, स्थिति भोजन और एक भक्त करना, भक्ति सहित श्रावक के द्वारा दिया गया आहार करपात्र मे ग्रहण करना, याचना करके भिक्षा नही लेना। बारह प्रकार के तपश्चरण मे उद्युक्त रहना, छह आवश्यक क्रियाओं को सतत पालना, भूमि शयन करना, शिर के केशो का लोच करना। जिनेन्द्र देव की मुद्रा (नग्नमुद्रा) को धारण करना। संहनन के हीन होने की अपेक्षा से इस दु षमाकाल मे पुर, नगर और ग्राम में निवास करना। ऐसी चर्या करने वाले साधु स्थविर कल्प में स्थित है। अर्थात् वे स्थविरकल्पी मुनि कहलाते हैं।

ये वही उपकरण रखते है कि जिससे चारित्र भग न होवे, अपने योग्य पुस्तक को ही ग्रहण करते हैं। ये स्थविरकल्पी साधु समुदाय मे सघ सहित विहार करते है। अपनी शक्ति के अनुसार धर्म की प्रभावना करते हुये भव्यो को धर्मोपदेश सुनाते हैं और शिष्यों का सग्रह करके उनका पालन भी करते है। इस समय सहनन अतिहीन है, दु.षमकाल है और मन चचल है, फिर भी वे धीर वीर पुरुष ही है, जो कि महाव्रत के भार को धारण करने मे उत्साही है। पवं मे—चतुर्थ काल मे जिस शरीर से एक हजार वर्ष मे जितने कर्मो की निर्जरा की जाती थी इस समय हीन सहनन वाले शरीर से एक वर्ष में ही उतने कर्मों की निर्जरा हो जाती है[1]।"

---

१. "दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविरकप्पो य।
सो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसहणण धारिस्स ॥११९॥
जिण इव विहरति सया ते जिणकप्पे ठिया सवणा ॥१२३॥
थविरकप्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो।
पचच्चेलच्चाओ अकिंचणत्त च पडिलिहण ॥१२४॥
वरिससहस्सेण पुरा ज कम्मं हणइ तण काएण।
तंसंपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसहणणे ॥१३१॥- —श्री देवसेनकृत, भावसंग्रह

यही बात भद्रबाहु चरित[1] में भी वर्णित है।

इस प्रकरण से यह स्पष्ट है कि उत्तम संहनन धारी मुनि ही जिनकल्पी होते हैं। और इस पंचमकाल में उत्तम संहनन का अभाव है, तीन हीन सहनन ही होते हैं। अतः आज के युग में जिनकल्पी मुनि न होकर स्थविरकल्पी मुनि ही होते हैं। श्री कुन्दकुन्द देव आदि महामुनि भी जिनकल्पी नहीं थे, चूँकि न इनके उत्तम संहनन ही था, न ये ग्यारह अंगों, चौदह पूर्वों के ज्ञाता ही थे, न ये छह छह मास तक कायोत्सर्ग में स्थित रह सकते थे, न ये सदा मौनव्रती ही रहते थे और न ये सदा गिरि, गुफा, पर्वतो पर ही रहते थे। क्योंकि इस स्थिति में ग्रन्थों के लेखन आदि का कार्य और संघ संचालन आदि का कार्य सम्भव नही हो सकता था।

इससे एक बात यह भी स्पष्ट हो जाती है कि सघ के अधिपति आचार्य संघ मे शिष्यो का संग्रह करते हैं और उनका पोषण आदि करते हैं उन्हें शिक्षा दीक्षा प्रायश्चित आदि देते हैं। तथा संघ में रहने वाले उपाध्याय उन शिष्यों को पढाते हैं। वे भी जिनकल्प में स्थित नही हैं। प्रकारान्तर से आत्मसाधना में तत्पर महातपस्वी साधु ही जिनकल्प में स्थित होने के अधिकारी हैं। क्योंकि श्री कुन्दकुन्द ने आचार्यों के लिये आदेश दिया है—

"दर्शन ज्ञान का उपदेश करना, शिष्यो को संग्रह और उनका पोषण करना एव जिनेन्द्र देव की पूजा का उपदेश देना यह सब सरागी मुनियो की चर्या है।[2] जो कि निंद्य वर्ज्य नही है।

इस प्रकार से आज इस युग मे स्थविरकल्पी मुनि होते हैं और वे भावलिंगी होते हैं तथा पचमकाल के अन्त तक होते रहेंगे यह बात श्रीकुन्दकुन्द देव और यतिवृषभाचार्य आदिको ने स्पष्ट कही है—

"इस भरत क्षेत्र मे दुःषमकाल मे मुनि को आत्मस्वभाव मे स्थित होने पर धर्मध्यान होता है। किन्तु जो ऐसा नही मानता है वह अज्ञानी है। आज भी इस पचमकाल में रत्नत्रय से शुद्ध आत्मा (मुनि) अपनी आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद और लोकांतिक पद को प्राप्त कर लेते हैं और वहाँ से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं[3]।"

श्री पद्मनंदि आचार्य भी इसी बात को कहते हैं—

"इस समय भरत क्षेत्र मे त्रैलोक्य चूडामणि केवली भगवान् नही हैं। फिर भी लोक को प्रकाशित करने वाले उनके वचन तो यहाँ विद्यमान हैं और उनके वचनों का अवलंबन लेने वाले रत्नत्रयधारी श्रेष्ठ यतिगण भी मौजूद हैं। इसलिये उन मुनियो की पूजा जिन वचनो की पूजा है और जिन वचन की पूजा से साक्षात् जिनदेव की ही पूजा की गई है ऐसा समझना[4]।"

---

१. भद्रबाहु चरित, परिच्छेद ४।

२. दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोषणं तेंसि।
चरिया हि सरागाणा जिणिंदपूजोवदेसो य ॥२४७॥—प्रवचनसार

३. भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥
अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥७७॥—मोक्षपाहुड

४. सम्प्रत्यस्तिन केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणि,
तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिका।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बनम्,
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥६८॥—पद्मनन्दिपंचविंशतिका

श्री गुणभद्र स्वामी कहते हैं—

"जो स्वयं मोह को छोडकर कुलपर्वत के समान पृथ्वी का उद्धार अथवा पोषण करने वाले हैं, जो समुद्रों के समान स्वय धन की इच्छा रहित होकर रत्नो की निधि—खान अर्थात् स्वामी हैं तथा जो आकाश के समान व्यापक होने से किन्ही के द्वारा स्पर्शित न होकर विश्व की विश्रान्ति के लिये हैं, ऐसे अपूर्व गुणों के धारक चिरन्तन महामुनियो के शिष्य और सन्मार्ग मे तत्पर कितने ही साधु आज भी विद्यमान हैं[1]।"

पुष्पदन्त-भूतबलि आचार्य के समकक्ष महान्, प्रमाणीक श्री यतिवृषभ आचार्य कहते हैं।

"पुष्पदन्तनाथ से लेकर धर्मनाथ पर्यंत सात तीर्थों में उस धर्म की व्युच्छित्ति हुई थी और शेष सोलह तीर्थंकरों के तीर्थों में धर्म की परम्परा निरन्तर बनी रही है। अर्थात् वृषभनाथ से लेकर पुष्पदन्तनाथ पर्यंत धर्म परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रही है। पुन पुष्पदंत के तीर्थ मे पाव पल्य तक धर्म का अभाव रहा है। अनन्तर जब शीतलनाथ हुये तब धर्मतीर्थ चला उनके तीर्थ मे भी अन्त मे अर्द्धपल्य तक धर्म का अभाव रहा है। ऐसे ही श्रेयासनाथ के तीर्थ मे पौन पल्य, अनन्तनाथ के तीर्थ मे अर्द्धपल्य और धर्मनाथ के तीर्थ मे पाव पल्य तक धर्म का अभाव रहा है। हुडावसर्पिणी के दोष से यहाँ सात धर्म के विच्छेद हुये है उस समय दीक्षा लेने के अभिमुख होने वालो का अभाव होने पर धर्मरूपी सूर्यदेव अस्तमित हो गया था। अर्थात् इन सात तीर्थों के अन्तराल में दीक्षा लेने वाला कोई भी नही रहा है, उसी का नाम है धर्म का अभाव। शेष शान्तिनाथ से लेकर वर्धमान पर्यंत तीर्थकरो के तीर्थ मे धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति अविच्छिन्न चलती रही है।

वर्धमान भगवान् के तीर्थ मे गौतमस्वामी से लेकर अग पूर्व के एक देश के जानने वाले मुनियों की परम्परा के काल का प्रमाण छह सौ तेरासी (६८३) वर्ष होता है। उसके बाद—

"जो श्रुत तीर्थ धर्म प्रवर्तन का कारण है, वह बीस हजार तीन सौ सत्रह वर्षों मे काल दोष से विच्छेद को प्राप्त हो जायेगा। अर्थात् ६८३ + २०३१७ = २१००० इक्कीस हजार वर्ष का यह पंचम काल है तब तक यह धर्मतीर्थ चलता रहेगा, अन्त मे व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा।

इतने पूरे समय तक चातुर्वर्ण्य सघ जन्म लेता रहेगा, किन्तु लोग प्राय. अविनीत, दुर्बुद्धि, असूयक, सात भय और आठ मदो से सयुक्त, शल्य एव गारवो से सहित, कलहप्रिय, रागिष्ठ, क्रूर एव क्रोधी होंगे[2]।"

"इस पचमकाल के अन्त मे इक्कीसवाँ कल्की होगा। उसके समय मे वीरागज मुनि सर्वश्री आर्यिका, अग्निदत्त श्रावक और पगुश्री श्राविका ये चतुर्विध सघ रहेंगे। एक दिन कल्की की आज्ञा से मन्त्री द्वारा मुनि के प्रथम ग्रास को शुल्क रूप से माँगे जाने पर मुनि अतराय करके वापस आ जायेंगे। उसी समय वे अवधि-ज्ञान को प्राप्त कर दुःषमकाल का अन्त आ गया है ऐसा जानकर प्रसन्न चित्त होते हुये आर्यिका और श्रावक युगल को बुलाकर वे चारो जने चतुराहार का त्याग कर सन्यास ग्रहण कर लेंगे और तीन दिन बाद कार्तिक कृष्णा अमावस्या के स्वाति नक्षत्र मे शरीर को छोडकर देवपद प्राप्त करेंगे। उसी दिन मध्याह्न में

१. भर्तार. कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं,
रत्नाना निधय. पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहा।
स्पृष्टा: कैरपि नो नभोविभुतया विश्वस्य विश्रान्तये,
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचरा: सन्त. कियन्तोऽप्यमी ॥३३॥—आत्मानुशासन

२. हुंडावसप्पिणिस्स य दोसेणं सत्त होंति विच्छेदा।
विक्खाहिमुहाभावे अत्थमिदो धम्मरविदेवो ॥१२८०॥
तेत्तियमेत्ते काले जम्मिस्सदि चाउवण्णसंघाओ ॥—तिलोयपण्णत्ति, अधिकार ४

क्रोध को प्राप्त हुआ कोई असुरकुमार देव राजा को मार डालेगा और सूर्यास्त के समय अग्नि नष्ट हो जावेगी । इसके पश्चात् तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष के बीत जाने पर महाविषम छठा काल प्रवेश करेगा[1] ।"

इन तिलोयपण्णत्ति की पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री गौतम स्वामी से लेकर आज तक और आज से लेकर अन्तिम होने वाले वीरांगज तक मुनि परम्परा अक्षुण्ण रीति से चलती ही रहेगी अतः यदि कोई कहे कि आज के युग में शान्तिसागर जी महाराज की परंपरा में होने वाले या उनसे पहले कोई मुनि सच्चे भावलिंगी नहीं थे सो बात आगम से बाधित है ।

"आचार्य शान्तिसागर जी से पहले भी एक मुनि आदिसागर नाम के थे । जो कि भोजग्राम में आहार हेतु आया करते थे । उस समय शान्तिसागर महाराज गृहस्थाश्रम में श्रावक थे । वे इन्हें अपने कन्धे पर बिठाकर वेदगंगा और दूधगंगा नदी पार कराते थे । एक बार इन श्रावक ने आदिसागर जी मुनि से कहा—महाराज ! मैं आपको नदी पार कराता हूँ आप मुझे संसार समुद्र पार करा देना[2] ।

ऐसे ही और भी मुनि दक्षिण में रहते आए हैं जो कि प्रसिद्धि में नहीं आ पाये हैं ।

इन सभी प्रमाणों के देखने से यह निश्चित हो जाता है कि आज के युग में जो भी मुनि आर्यिका क्षुल्लक क्षुल्लिका आदि त्यागी वर्ग दिख रहे हैं वे सभी द्रव्यलिंगी और मिथ्यादृष्टि नहीं हैं । हाँ, उनमें से कोई द्रव्यलिंगी हो भी तो उसका निर्णय सर्वज्ञदेव के सिवाय हम और आपके द्वारा सम्भव नहीं है । प्रत्युत् अधिक संख्या में साधु, साध्वी निर्दोष चर्या को पालने वाले हैं और आगे भी होते रहेंगे । अतः आगमरूपी दर्पण में इन सभी बातों को देखकर अपनी श्रद्धा को दृढ़ रखते हुये मुनि परम्परा की रक्षा में और वृद्धि में अपना सर्वस्व लगा देना चाहिये ।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, अ० ४, पृ० ३४४ ।

२ आचार्य महावीरकीर्ति स्मृति ग्रन्थ—सं० डॉ० नेमेन्द्रचन्द्र जैन, पृ० ३९१ ।

कल्याणकारिका समता

● डॉ० श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत

संसार चक्र में जीव नाना उतार चढ़ाव के कारण स्थिरता को प्राप्त नही कर पाता है। जीवन में यदि स्थिरता की इच्छा है, तो तटस्थता का आश्रय अनिवार्य है क्योंकि इस संसार मे कुछ अप्रिय घटनाएँ घटित होती हैं और कुछ प्रिय घटनाएँ घटित होती है। अभिलषित भी घटित होता है और अनभिलषित भी घटित होता है। जब अभिलषित घटित होता है, तब वह अत्यन्त प्रसन्न होता है और जब अनभिलषित घटित होता है तब दु.खी होता है। इस प्रकार हर्ष और विषाद के गमनागमन के कारण प्राणी का जीवन विक्षिप्त-सा रहता है।

विक्षिप्तता दूर करने के लिए परम कृपालु दयानिधि आचार्यों ने समता का अवलम्बन दिखलाया है। समता मन को समाहित करती है। समता के जागृत होने पर मानसिक व्यवधानो का समाधान हो जाता है। मन पवित्र हो जाता है। समता की जागृति धर्मध्यान की अवस्था मे होती है और समत्व के विकास से मूर्च्छा का अन्धकार ध्वस हो जाता है। समत्व के साथ संयम अपने आप आता है। जब सयम की शक्ति जागती है, तब प्राणी पदार्थों के भोग के प्रति अनासक्त होता है। समता संयम का विकास करती ही जाती है। समता साधक को पदार्थों की उपयोगिता की बुद्धि से सम्पन्न कराती है। साधक यह जानता है कि जीवन का उत्थान करना है तो जिनके बिना हमारी साधना बढ सकती है, उन्हें ग्रहण नही करनी चाहिए। आत्मसिद्धि की साधक वस्तुओं के सिवाय शेष सब अग्राह्य हैं। ऐसी दृढ़ता होने पर सयमो का सयम सध जाता है। सन्तुलन तटस्थता और सयम सम्पन्न साधक आत्मपथ पर निर्बाध गति से बढ़ता है।

समत्व जागृत होने पर अहिंसा आदि का विकास अवश्य होगा अर्थात् अहिंसा की यात्रा जीवन मे प्रारम्भ हो जाती है। सत्य का विकास प्रारम्भ हो जाता है। वासनाओ से अलिप्तता हो जाती है। वासनाओ का सयम प्रकट होने लग जाता है। आकिञ्चनता की ओर समताधारी की गति होने लग जाती है। ईर्ष्या, अपवाद, उद्वेग, विषाद, घृणा आदि जितने भी मानसिक विकार है, वे दूर हट जाते हैं। उनके स्थान पर अन्य गुण प्रकट हो जाते हैं।

दोषो को दूर करने वाली, गुणो को प्रकट करने वाली, पतित से पावन बनाने वाली, अमगल से मगल की ओर ले आने वाली समता है। समता की व्याख्या करते हुए कहा जाता है कि गुण और कर्म के साथ साम्य का स्थापन करना समता है।

समता की आध्यात्मिक दृष्टि स्पष्ट करती है कि किसी को परिताप मत करो, सक्लेश न पहुँचाओ, सबको समान समझो। सबके साथ समत्व का व्यवहार करो। जीवमात्र एक समान रक्ष्य है, जितने भी ससारी प्राणी है वह सुखी रहे। अजीव का भी निष्प्रयोजन विघात न हो। जिसमें उत्पादक शक्ति है उसे नष्ट मत करो। विनाश की प्रवृत्ति न आवे। चेतन जगत् अथवा अचेतन जगत् किसी मे भी विषमता पैदा न करो। अपने जीवन को सन्तुलित करो तभी विकास सभव है।

अध्यात्म की दृष्टि का वास्तविक हेतु साम्यभाव है। साम्यभाव की प्रक्रिया सामयिक है। "समाये भवः सामायिकम्" अर्थात् राग द्वेष जनित इष्ट अनिष्ट की कल्पना से रहित जो ज्ञान वह "समाय" कहलाता है।

समाय का भाव ही सामायिक है। अर्थात् आत्मज्ञान में ठहरना सामायिक है। सामायिक में पूर्ण समता परिणति होती है। सामायिक ही प्राणी को आत्मा में अवस्थित करती है। परभावों से निवृत्ति और स्वभाव मे प्रवृत्ति कराती है। आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। समभाव, वीतराग भाव एवं आत्मभाव में स्थित रहना ही सामायिक है क्योंकि वैषम्य एवं सरागता परभाव मे ही रहती है, स्वभाव मे नहीं। धर्म आत्मस्वभाव में ही है।

दर्शन ज्ञान चारित्र और तप आराधना से आत्मा मे एकत्व का होना भी सामायिक है और हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह पाँचो का मन वचन काय से परित्याग पूर्वक चिन्तवन करना सामायिक है। इससे पाँचो व्रतों की परिपूर्णता होती है और यथोचित रीति से सामायिक करने पर पाँचो पापो के त्याग मे कोई भी त्रुटि नही रहेगी।

सामायिक हृदय की वस्तु है। बाह्य क्रिया की अपेक्षा उसका चित्त से अधिक सम्बन्ध है। जो चित्त की एकाग्रतापूर्वक सामायिक क्रिया में प्रवृत्त होते है उनका आत्मोत्थान होता है। आत्मा के कल्याण करने वाले मुनिराजों के ही पूर्ण सामायिक परिपालित होती है वे ही समता सुधा का पान करते हुए आत्मध्यान मे लवलीन रहते है।

द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की शुद्धिपूर्वक करमपुट रूप करके स्वस्थ बुद्धि से उठकर एकाग्र मन पूर्वक उलझन रहित मन से सामायिक करने मे प्रवृत्ति करना चाहिए। आचार्यों ने कहा है कि पूर्वाह्न, मध्याह्न तथा अपराह्न कालो मे समता को कारण सामायिक करने मे सावद्य दोषो का नाश होता है। जीव कल्याण मार्ग का आरोहण करता है।

कल्याण के इच्छुक श्रमण संस्कृति के प्रतीक श्रावक और श्रमण दोनो ही है। अतः परम कृपानिधान आचार्यों ने श्रावक और श्रमण दोनो को मोक्षमार्ग पर चलने का उपदेश दिया है। उन्होने श्रावक चर्या और श्रमण चर्या का सूक्ष्मता से विवेचन किया है जिसमे सामायिक करने के लिए दोनो को प्रेरित किया है। मुनियो का तो सामायिक आवश्यक कर्तव्य है उसके बिना उनकी चर्या ही नही मानी जाती है। श्रावको को मुनिमार्ग की ओर बढाना आचार्यों का ध्येय होता है अतः श्रावको का भी अग रूप सामायिक का वर्णन किया गया है।

व्रती श्रावक सामायिक शिक्षाव्रत का पालन करता है उसके व्रतो की रक्षा हेतु यह शील माना जाता है। आचार्य समन्तभद्र सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप बतलाते है—

आसमयमुक्तिमुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन।
सर्वत्र च सामयिका सामयिकं नाम शंसन्ति ॥
मूर्धरुहमुष्टिवासो बन्ध पर्यङ्क बन्धन चापि।
स्थानमुपवेशन वा समय जानन्ति समयज्ञा ॥ —रत्नकरण्ड० ९७-९८

गणधर देव आदि समस्त रूप बाहर और भीतर ग्रहण किए हुए नियम के काल पर्यन्त मर्यादा किये हुए क्षेत्र में व मर्यादा के बाहर क्षेत्र में मन वचन काय से पाँच पापो के त्याग करने को सामायिक नाम कहते है।

सामायिक का पालन व्रत ग्रहण करने वाला श्रावक केवल अभ्यास हेतु करता है, उसे कोई अनिवार्य नियम नहीं है। इसमे यदि यत्किञ्चित् शिथिलता द्वितीय प्रतिमाधारी श्रावक पर हो जाती है, तो वह व्रतभंग

के दोष का भाजक नही होता है । इतना अवश्य है कि शिथिलता या प्रमाद करने वाले व्रती को भी अतिचार (दोष) होते हैं—जिनका व्याख्यान करते हुए पण्डित आशाधर जी सागारधर्मामृत में कहते हैं—

पञ्चात्रापि मलानुज्झेदनुपस्थापनं स्मृतेः ।
कायवाङ्मनसा दुष्टप्रणिधानान्यनादरम् ॥ ५।३३

अर्थात् स्मृत्यनुपस्थापन, कायदुष्टप्रणिधान, वचन दुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर इन पाँचो दोषो को छोडना सामायिक शिक्षाव्रत के लिए आवश्यक है ।

(१) स्मृत्यनुपस्थापन—स्मरण नही रखना, चित्त की एकाग्रता का नही होना । मैं सामायिक करूँ या नही करूँ अथवा मैंने सामायिक की है अथवा नही । इस प्रकार से विकल्प करना स्मृत्यनुपस्थापन अतिचार है ।

(२) कषायदुष्प्रणिधान—काय की पापरूप प्रवृत्ति को नही रोकना । हाथ पैर आदि शरीर के अवयवो को निश्चल नही रखना अथवा पापरूप ससारी क्रिया मे लगना ।

(३) वाग्दुष्प्रणिधान—वर्णों का उच्चारण स्पष्टरूप से नही रखना, शब्दो का अर्थ नही जानना, पाठ पढने मे शीघ्रता करना ।

(४) मनोदुष्प्रणिधान—क्रोध, लोभ, द्रोह, इर्ष्या, अभिमान आदि उत्पन्न होना, किसी कार्य के करने की शीघ्रता करना अथवा क्रोधादि आवेश मे आकर बहुत देर तक सामायिक करना, परन्तु सामायिक मे चित्त न लगाकर इधर उधर घुमाना ।

(५) अनादर—सामायिक करने मे उत्साह नही करना । नियत समय पर सामायिक नही करना अथवा मात्र समय पूरा करना । सामायिक पूर्ण होते ही सासारिक कार्यों मे तत्काल लिप्त हो जाना ही अतिचार है ।

कल्याणपथ का पथिक अपने साध्य की ओर आगे बढ़ता हुआ सामायिक प्रतिमा के व्रत ग्रहण करने के लिए आचार्य श्री या मुनिराज के पास जाता है, आचार्य या मुनिराज श्रावक को सामायिक योग्य स्थान और विधि को बतलाते हैं कि—

गिरिकदराविवरशिलालयेषु गृहमन्दिरेषु शून्येषु ।
निर्दंशमशकनिर्जनस्थानेषु ध्यानमभ्यसत् ॥—ज्ञानसार ९

पर्वत की गुफा हो, पर्वत, मठ, मन्दिर या शून्य स्थान हो, डास मच्छरो से रहित प्रदेश हो, निर्जन स्थान हो तो सामायिक करना चाहिए । आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी भी सामायिक योग्य स्थान का वर्णन करते हुए कहते हैं—

एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च ।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥—रत्नक० ७७

अर्थात् जिस स्थान में चित्त मे विक्षेप पैदा करने वाले कारणों का अभाव हो, बहुत असंयमी लोग जहाँ न आते हो, तिर्यञ्च पशु पक्षियो का सचार भी जहाँ बहुत कम हो, जो कोलाहल रहित हो, जहाँ सर्दी गर्मी वर्षा की बाधा कम हो ऐसे एकान्त वन, सूने मकान, चैत्यालय आदि मे सामायिक का अभ्यास बढ़ाना चाहिए ।

सामायिक की विधि का निर्देश इस प्रकार किया गया है कि सामायिक में प्रवृत्त होने वाला मनुष्य पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुँह करके अपने हाथ लटका कर खड़ा होवे और नौ बार णमोकार मंत्र अपने

मन में पढ़े अर्थात् पञ्चपरमेष्ठी के प्रति मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनापूर्वक, नवकोटि से पूर्ण श्रद्धा व्यक्त करे। नमस्कार मंत्र पढ़कर मस्तक भूमि से लगाकर प्रणाम करे और उसी दिशा मे कायोत्सर्ग रूप मुद्रा में खड़ा होकर नौ बार या तीन बार णमोकार मंत्र पढ़कर तीन आवर्त (दोनो हाथो को जोडकर अपने बायें से दाहिनी ओर घुमाने को आवर्त कहते है) तथा एक शिरोनति (आवर्त मे जोडे हुए हाथो पर अपने मस्तक के झुकाने को शिरोनति कहते है) करे, जिससे उस दिशा मे जितने वदनीय तीर्थ, धर्म स्थान, अरहन्त साधु आदि है उनको मन वचन काय से भक्तिपूर्वक नमन हो जावे। इसके बाद खडा-खड़ा हाथ लटकाये हुए अपने दाहिने ओर मुड जावे और उस तरफ भी उसी प्रकार नौ बार या तीन बार णमोकार मंत्र पढकर तीन आवर्त और एक शिरोनति करे। इसी प्रकार शेष दोनो दिशाओ मे भी करे जिनका प्रयोजन पूर्व दिशा के समान ही है।

उक्त प्रकार की विधि का पालन करने वाले सामायिक प्रतिमाधारी का वर्णन करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं—

चतुरावर्तत्रितयश्चतु प्रणाम' स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसध्यमभिवन्दी ॥१३९—रत्न०

अर्थात् चारो दिशाओं मे तीन तीन आवर्त करने वाला, चार प्रणाम और कायोत्सर्ग करने वाला, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह की चिन्ता से रहित जो मन वचन काय की शुद्धि सहित पद्मासन अथवा खड्गासन स्थित होकर तीनो संध्या समय (प्रात, मध्याह्न और सायकाल) वन्दना करता है। वह सामायिक प्रतिमा का धारी होता है।

आचार्यों ने गृहस्थ के सामायिक मे प्रवृत्त होने के कारण पर विचार करते हुए सामायिक के माहात्म्य को दर्शाया है—

व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्यामन्तरात्मविनिवृत्या।
सामयिक बध्नीयादुपवासे चैकमुक्ते वा ॥—रत्नकरण्ड०

जब तक शरीर की चेष्टा अन्य ओर से निवृत्त न हो, आरम्भ आदि कार्यों को न छोडा जाय और मन के सासारिक सकल्प विकल्प दूर न हो तब तक अन्तरात्मा मे स्थिरता नही आ सकती है। अतएव आरम्भ परिग्रह का परित्याग करके सामायिक मे बैठे क्योकि सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह का त्याग कर देने पर ही वह साम्यभाव प्राप्त होता है, जिससे गृहस्थ भी यति के समान बन जाता है। कहा भी है—

सामायिके सारम्भा' परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ॥॥१०२॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार

अर्थात् सामायिक के समय गृहस्थ भी मुनि के तुल्य बन जाता है क्योकि दोनो ही के उस समय सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह का त्याग होता है। केवल भिन्नता इतनी होती है कि गृहस्थ बाहर वस्त्र पहिने रहता है। इसलिए उस सामायिक मे स्थित गृहस्थ की स्थिति ठीक वैसी कही जा सकती है जैसी किसी मुनि के ऊपर कपड़े का उपसर्ग करने पर होती है। अन्तरग की दृष्टि से दोनो समताभाव मे ही स्थिर है।

मुनियो में समता की प्रधानता होती है क्योंकि गृहस्थ अनेक गृह कार्यों मे व्यापृत रहता है अत पूर्ण समता का आलम्बन नही ले पाता किन्तु श्रमण— मुनिराज सतत समता सुधा का ही पान करते है। गृहस्थ

शरीर मात्र की चेष्टा से होने वाली द्रव्य सामायिक करता है और आत्मा का चिन्तवन भावों द्वारा करने वाली भाव सामायिक करने का प्रयत्न तो करता है किन्तु भाव सामायिक में नाना प्रपञ्चों के कारण स्थिर नही हो पाता है। मुनिराज द्रव्य सामायिक में तो नियमित रूप से प्रवृत्त होते हो हैं किन्तु भाव सामायिक में सतत लीन रहते हैं। उनको भाव सामायिक हो साध्य की परम सिद्धि कराने की मूलभूत कारण है।

मुनियो के लिए सामायिक एक आवश्यक है क्योंकि श्रमणो को यह अनिवार्य कार्य कहा गया है। "अवश्य करणीयं आवश्यकम्" यह व्युत्पत्ति अनिवार्यता पर बल देती है अर्थात् जितेन्द्रिय साधु का जो कार्य है वह आवश्यक है। मुनियो के छ आवश्यकों मे सामायिक प्रथम और प्रधान है। मुनिराज को चाहे व्याधि आदि ने ही क्यो न पोडित किया हो, और चाहे कितना ही उपद्रव आदि हो मुनि सामायिक में प्रमाद नही करते हैं। मुनि आत्मा मे स्थिर होने के लिए हो सामायिक का अवलम्बन लेते है क्योंकि दर्शन ज्ञान तप यम तथा नियम आदि मे जो प्रशस्त गमन है उसे समय कहते है समय का नाम ही सामायिक है समय शब्द से स्वार्थ में ठञ् प्रत्यय होने से सामायिक शब्द की सिद्धि होती है, सामायिक आत्म साक्षात्कार का माध्यम है। मुनि एक अहोरात्र में चार बार द्रव्य सामायिक करते हैं। भाव सामायिक तो उनका ध्येय ही है वही वस्तुतः उपादेय है जैसा कि वट्टकेर स्वामी प्रतिपादित करते हैं—

सम्मत्तणाण सजम तवेहि जं त पसत्थसमगमणम्।
सयम तु त तु भणिद तमेव सामाइयं जाणे ।।—मूलाचार ५१८

अर्थात् सम्यक्त्व, ज्ञान सयम तथा इन चारो रूप जीव की अवस्था सामायिक है, जो मुनिराज का जीवन है। इसलिए मुनिराज तो स्वय सामायिक स्वरूप हैं।

भावप्रवण मुनिराज शुभ भावो को अगीकार करते है किन्तु शुभ मे ही आसक्ति उनका लक्ष्य नही। वे इनमे भी जल मे भिन्न कमल के समान होकर शुद्ध को ही अपना साध्य मानते हैं।

मुनिराज सामायिक मे चिन्तवन करते हैं कि यह ससार क्षणभगुर है मेरी देह भी नश्वर है शरोर आदि मेरे नही है मैं तो शुद्ध-बुद्ध ज्ञायक स्वरूप चैतन्य घन आत्मा हूँ। मुनिराज अशुभ से सर्वथा दूर होते है किन्तु शुभ में तो अवश्य हो आते है क्योकि मुनि हमेशा अप्रमत्त से प्रमत्त अवस्था मे आता जाता रहता है। श्रेणी मे शुद्धावस्था ही होती है पचम काल मे तो उपशम और क्षपक दोनो श्रेणियाँ नही है। सामायिक आवश्यक अथवा सामायिक चारित्र मे रागद्वेष की प्रवृत्ति नही होती है। सामायिक के कर्त्तव्य पर विचार करते हुए कहा गया है—

समता सर्वभूतेषु सयम. शुभभावना।
आर्त्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥

सब प्राणियो मे समता भाव हो अर्थात् जैसा मैं हूँ वैसे ही सब जोव हैं, कोई भी राग द्वेष करने योग्य नही है, ऐसा भाव हो, सयम अर्थात् इन्द्रिय विषय का परिहार तथा प्राणि-पीडा का परिहार हो, शुभ भावना—अर्थात् पर का उपकार, वीतराग भक्ति, जिनवाणी का अध्ययन, शुद्धात्म स्वरूप का स्मरण, ध्यान ससार मे निवृत्त होने के परिणाम इत्यादि को शुभ कार्यों मे लगाने आदि की भावना पर बारम्बार विचार हो अर्त्त रौद्र इन दो अशुभ ध्यानो का परित्याग हो तब सामायिक व्रत होता है।

सामायिक को आचार्य वट्टकेर स्वामी मूलाचार मे निक्षेप की दृष्टि से व्याख्यायित करते है—

णामट्ठवणादव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य।
सामाइयम्हि एसो णिक्खेओ छव्विओ णेओ ।।५१८।।

सामायिक में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये ६ प्रकार का निक्षेप संभव है।

(१) शुभ अशुभ रूप जो नामों की नियुक्ति है उनमें राग द्वेष न करना नाम सामायिक है।

(२) सामायिक में स्थित होने के पश्चात् कोई दुष्ट जीव किसी जीव को बाण आदि के प्रयोग से मारे और वह जीव शस्त्र-अस्त्र सहित अपने आसन के पास आ जावे तब भी चलायमान होना स्थापना सामायिक है।

(३) सुवर्ण तथा मिट्टी आदि पदार्थों मे समता परिणाम होना द्रव्य सामायिक है।

(४) बगीचे तथा कण्टक वन आदि अच्छे बुरे क्षेत्रो में समभाव होना क्षेत्र सामायिक है।

(५) बसन्त ग्रीष्म आदि ऋतुओं अथवा दिन रात आदि इष्ट अनिष्ट काल के विषय मे राग द्वेष रहित होना काल सामायिक है।

(६) सब जीवों में मैत्रीभाव का होना तथा अशुभ परिणामों का छोडना भाव सामायिक है।

सामायिक व्याख्यान आचार्यों ने षटकार की व्यवस्था अनुसार भी किया है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार का है। ये सब आत्मोन्नति के साधक हैं क्योंकि आत्मा की प्राप्ति सामायिक ही हो सकती है लेकिन भाव शुद्धता अनिवार्य है। साधक विचार करता है कि कौन है कहाँ से आता हूँ, क्या प्राप्त कर सकता हूँ, यह विचार उसे आगे बढाते है। वह सुख और शान्ति का आधार समता को ही जीवन का ध्येय बनाता है। इससे संसार परिभ्रमण का अन्त होता है। जीवन को पतित से पावन बनाने के लिए आचार्यों ने श्रावक और श्रमण की चर्या मे सामायिक को प्रधानता दी है जो सुख और समता को स्रोत है।

एकान्तवाद : दृष्टिविष

● श्री शिवचरनलाल जैन, मैनपुरी

हे कर्मभूमे' प्रथमोपदेष्टिन्, श्रीनाभिराजस्य सुधन्यपुत्र ।
षट्कर्मणामाद्यप्रवर्त्तकोऽसि, मिथ्यान्धकारं दूरं कुरुष्व ॥

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

जैनधर्म प्रामाणिक विचार और आचार का समन्वित योगभूत प्रयोग है। यह जीवमात्र की प्रगति हेतु आध्यात्मिक प्रक्रियाओ का वैज्ञानिक विश्लेषण एवं पोषण करता है। इसने अनेकान्त के प्रस्तुतीकरण से सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोगत भावो की संगति और शुद्धि के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। अनेकान्त के सफल प्रयोग को स्याद्वाद कहते है जो वाणी को अहिंसक, मैत्रीपूर्ण तथा दुराग्रहरूपी ग्रह से मुक्त करता हुआ आत्मा को उसके चरम लक्ष्य मुक्ति की ओर अग्रसर करता है। अनेकान्त का निवास मन, मस्तिष्क व बुद्धि मे है। वह कण्ठ, वाणी एवं शब्दो मे स्याद्वाद के रूप मे अथवा सापेक्षवाद का परिवेश धारण कर अवतरित होता है। नाना वचन विलासरूपी कलेवरो की आत्मा अनेकान्त है। अनेकान्त सापेक्षवाद का जनक है। सापेक्षवाद अर्थात् किसी अपेक्षा से सम्मुख व्यक्ति के कथनके दृष्टिकोण को दुराग्रह से न ठुकराने से विश्व के मानव समुदाय में अशान्ति का प्रश्न ही उपस्थित नही होता।

अनेकाकान्त का उद्गम अनेक धर्म वाली वस्तु के परस्पर मे विरुद्ध दिखने वाले किन्तु सत्यभूत स्व-भावों की समष्टि से होता है। आगम के आधार से कुछ परिभाषायें दृष्टव्य है :—

—को अणेयंतो णाम । जच्चन्तरत्तं ।—(धवला १५।२५।१) अनेकान्त किसको कहते हैं ? जात्यन्तर-भाव को अनेकान्त कहते है। अनेक धर्मों (स्वभावों) के एकरसात्मक मिश्रण से जो स्वाद (जात्यंतरभाव) प्रकट होता है उसे अनेकान्त कहते हैं।

—यदेव तत्, तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यं, इत्येक-वस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादक परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्त ।—जो वस्तु तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है, इस प्रकार एक ही वस्तु मे वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है (समयसार, आत्मख्याति, परिशिष्ट)।

अनेके अन्ताः धर्माः सामान्यविशेषपर्याया गुणा यस्येति सिद्धोऽनेकान्तः । (न्यायदीपिका)—जिसके सामान्य विशेष पर्याय व गुणरूप अनेक अन्त या धर्म हैं वह (पदार्थ) अनेकान्त रूप सिद्ध होता है।

उपर्युक्त परिभाषाओ के पर्यवेक्षण से स्पष्ट होता है कि यत वस्तु ही जब अनेक परस्पर विरुद्ध शक्तियों को धारण करती है अनेक गुण-पर्यायो का समूह है तो अनेकान्त के प्रतिपादन से मुख नही मोड़ा जा सकता। सम्यक् एकान्तो के समूहो का नाम सम्यक् अनेकान्त है। एक व्यक्ति अपने शिष्य की अपेक्षा गुरु है तो अपने गुरु की अपेक्षा शिष्य भी है। इस प्रकार उसमें गुरुत्व व शिष्यत्व दोनो परस्पर विरुद्ध भाव विद्यमान हैं। इन दोनो को न मानकर केवल एक भाव को ही मानना और विरुद्ध भाव की सत्ता को उपचार (कथन मात्र) मानना मिथ्या एकान्त है। प्रकृत विषय मिथ्या एकान्त को ही दृष्टिविष संज्ञा दी गई है, सम्यक्

एकान्त को नहीं। अन्य धर्म का निषेध न करके अर्थात् मात्र गौण करके किसी विवक्षित धर्म का ग्राहक सम्यक् एकान्त है। जिसे हम अमृत कह सकते हैं। सम्यक् एकान्तवादी को हम अनेकान्तवादी स्वीकार करते हैं।

जब हम द्रव्य (पदार्थ) के विषय में विचार करते हैं तो वह द्रव्यार्थिक नय से नित्य है और वही पर्यायार्थिक नय से अनित्य है। परन्तु जैनदर्शन के एक ही लक्ष्य वस्तु के दो निरूपणो को अज्ञानवश या कषायवश स्वीकार न करके अपने को जैन कहने वाले कतिपय बन्धु कहते हैं कि द्रव्य तो सर्वथा त्रिकाल नित्य है। वे पर्याय को अनित्य कहते हैं, सो भी पर्याय को द्रव्य से अलग कहकर। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि जब चिन्तन किसी एक ही वस्तु का किया जाता है तो अनेकान्तात्मक पद्धति मे वह द्रव्य ही त्रिकाल नित्य है और वही त्रिकाल अनित्य है। अपेक्षा ऊपर लिखी है। प्रकरण तो द्रव्य (वस्तु) का ही है। फिर द्रव्य को सर्वथा नित्य कहना एव उसके दूसरे अश पर्याय को अलग मानकर उसे अनित्य कहना यह न्यायबाधित है। अनेकान्त का विषय (उसके अगभूत सभी नयों का विषय) तो एक ही वस्तु है। एक ही लक्ष्य को विभिन्न दृष्टिकोणो से देखना अनेकान्त है न कि दो लक्ष्य वस्तुओ को। जब द्रव्य को नित्य एवं अलग से पर्याय मानकर उसे अनित्य कहा तो दो लक्ष्य या पदार्थ हो गये। दो लक्ष्यो पर अनेकान्त का प्रयोग नही होता। (वह तो नयो का होता है) क्योकि दो वस्तुओ में विरोधी धर्मों के अस्तित्व को तो सभी स्वीकार करते है। एक ही वस्तु मे दो विरुद्ध धर्मो को नयों की अपेक्षा स्वीकार करना ही अनेकान्त की स्वीकृति है। तात्पर्य यह है कि जब हम द्रव्य के विषय मे विचार करते हैं तो द्रव्य कथञ्चित् (किसी अपेक्षा से) नित्य है और कथञ्चित् अनित्य भी है। और जब पर्याय के विषय मे विचार करें तो उसी प्रकार वह भी कथञ्चित् नित्य है और कथञ्चित् अनित्य भी है।

आ० अमृतचन्द्र स्वामी ने आत्मा के विषय में कहा है :—

एकस्य नित्यो न तथा परस्य
चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्—
तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥८३॥ —समयसार कलश

इसी प्रकार इसके अतिरिक्त सभी प्रकार के विरुद्ध धर्मों के अस्तित्व को वस्तु मे स्वीकार कर किसी पक्ष का दुराग्रह नही करना चाहिए। पक्ष का नाम ही एकान्त है और एकान्तवादरूपी विष के द्वारा समीचीन दृष्टि का ही नाश हो जाता है।

अनेकान्त को प्रमाण और नयो से साधित किया जाता है। अनेकान्त को प्रमाण कहना भी उचित होगा। प्रमाण के अंशो को नय कहते है।

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाण तदशधीः।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः ॥—आ० विद्यानद

अनेक रूप (पहलू) वाले पदार्थ का ज्ञान प्रमाण कहलाता है और उसके किसी रूप का ज्ञान नय है जो अपने विरोधी धर्म की सापेक्षता रखता है। जो दूसरे धर्म का निराकरण करता है वह दुर्णय (मिथ्या नय या नयाभास) है।

पदार्थ के संक्षेप मे दो पहलू हैं १. द्रव्यांश २. पर्यायांश। इन दोनों के प्रदेश भिन्न नही हैं अन्यथा ये अलग-अलग पदार्थ कहलाते। द्रव्यांश और पर्यायांश दोनों वास्तविक हैं।

गुणपर्ययवद् द्रव्यं।—आ० उमास्वामी

अब दोनो अंश विद्यमान है तो इनके प्रतिपादन करने वाले दोनों नय भी (द्रव्यार्थिक नय अर्थात् निश्चय नय, पर्यायार्थिक अर्थात् व्यवहार नय) सही है। इनमें किसी को भी हेय कहना मिथ्याज्ञान या एकान्तवाद की श्रेणी मे आता है। एकान्तवादी अपने अभीष्ट पक्ष को ही वास्तविक अथवा सही मानकर विरोधी धर्म के विषय मे कहता है कि यह तो कहा है, कथनमात्र है, उपचार से है किन्तु इसका अस्तित्व ही नही है। आगम में जहाँ भी अपनी मान्यता से विरुद्ध कथन को देखता है उसको उपचार मात्र अथवा अविद्यमान ही कह देता है एकान्त के विष का परिणाम मन और मस्तिष्क दोनो पर हो जाता है। मन मे अहिंसा धर्म को धारण नही करता और उसके विकृत मस्तिष्क मे स्याद्वाद नही पैठता है।

—तावद्वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवण. प्रयोगो नयः।

—सर्वार्थसिद्धि, पृ० १६० (ज्ञानपीठ)

अर्थ—अनेकान्तात्मक वस्तु मे विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की यथार्थता के प्राप्त कराने मे समर्थ प्रयोग नय है।

प्रमाणपरिग्रहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः। —धवला १, पृ० ९४

अर्थ—प्रमाण के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु के एक अश मे वस्तु का निश्चय कराने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।

—अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नय। —(प्रमेयकमलमार्तण्ड)

अर्थ—प्रतिपक्ष का निराकरण न करके वस्तु के अश को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

य एव नित्यक्षणिकादयो नया
मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः।
त एव तत्त्व विमलस्य ते मतेः
परस्परेक्षा. स्वपरोपकारिणः॥ —(स्वयंभू स्तोत्र)

अर्थ—जो नित्य (द्रव्यार्थिक) और पर्यायार्थिक (क्षणिक) नय हैं यदि वे निरपेक्ष हैं तो मिथ्या है, स्व और पर को नष्ट करने वाले हैं। हे विमलनाथ भगवान्, आपके मत मे वे ही परस्पर सापेक्ष होकर तत्त्व हैं और स्वपरहितकारी हैं।

आ० समन्तभद्र, कुन्दकुन्द स्वामी, अमृतचन्द्र सूरि आदि ने निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग मे साध्य-साधक भाव माना है। समन्तभद्र आचार्य ने स्वयभू स्तोत्र मे बाह्य और अभ्यन्तर दोनो (निमित्त-उपादान व्यवहार-निश्चय) को समग्रता को उद्घोषित किया है.—

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयम्
कार्येषु ते द्रव्यगतस्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुसा
तेनाभिवद्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥६०॥

आचार्य अमृतचन्द्र जी पञ्चास्तिकाय गाथा १६० व १६१ की टीका मे स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि व्यवहार मोक्षमार्ग (सात तत्त्वो का श्रद्धान, द्वादशाग का परिज्ञान एव व्रत समिति गुप्ति आदि रूप आचरण निश्चय मोक्षमार्ग का साधन है, अत का वाक्य देखिये .—

—"अत. निश्चयव्यवहारमार्गयोः साध्यसाधनभावो नितरामुपपन्न.।"

अर्थ—अतः निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग को साध्यसाधन भाव अत्यन्त घटित होता है।

द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र में देखिये :—

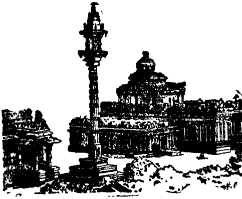
णो ववहारेण विणा णिच्छयसिद्धी कया वि णिद्दिट्ठा।
साहणहेऊ जम्हा तम्हा य भणिय सो ववहारो ॥१४५॥

अर्थ—व्यवहार के बिना निश्चय की सिद्धि कदापि निर्दिष्ट नही को गई है। यह साधन हेतु है इसीलिए इसको व्यवहार कहा है। पंडित दौलतराम जी ने छहढाला मे इसी भाव को प्रकट किया है :—

"जो सत्यारथ रूप सु निश्चय कारण सो व्यवहारो।"
......"अब व्यवहार मोख मग सुनिये हेतु नियत को होई॥"

उपरोक्त प्रकार से यह स्पष्ट सिद्ध है कि अनेकान्तवादी जैन दर्शन मे नयसापेक्षता आवश्यक है। जो अकेले निश्चय मोक्षमार्ग को ही उपादेय मानते है, व्यवहार मोक्षमार्ग को अकिंचित्कर अथवा मात्र उपस्थिति रूप ही मानते है परम्परा से भी उपादेय नही मानते है, वे एकान्तवाद के गहन अन्धकार मे डूबे हुए हैं। जो अकेले व्यवहार मोक्षमार्ग मे ही सन्तुष्ट है वे भी मोक्षतत्त्व को प्राप्त नही करते। जो निश्चय मोक्षमार्ग को साक्षात् मुक्ति का कारण मानते हैं और उसके साधनभूत व्यवहार मोक्षमार्ग को अगीकार कर अणुव्रत महाव्रत की पारम्परिक उपादेयता को स्वीकार करते है वे अचिरेणैव भवसागर पार करते है।

विष तो विष ही है, चाहे वह व्यवहारैकान्त दृष्टि का हो, चाहे निश्चयैकान्त दृष्टि का हो। हमे उससे सावधान रहना चाहिए।



जीवन में धर्म और नीति

● सि० पं० जम्बूप्रसाद जैन शास्त्री, मड़ावरा

जीवन मे धर्म यदि आत्मा है तो नीति उसका शरीर है । दोनो के सम्मिलन से एक आत्मोत्कर्षी जीवन का निर्माण होता है । धर्म-ग्रन्थो मे जिस आचरण को धर्म कहा है, उन्ही बातों को नीतिकारों ने स्वीकार कर उन्हें महत्त्व दिया है । धर्म यदि जीवन पुष्प का पराग है तो नीति उन पुष्पों की वे पंखुडियाँ हैं जिसमें पराग छिपा होता है । व्यवहार मे नीति के कूलो से छूती हुई धर्मगगा बहती है । जैसे तट से धारा विलग नही हो सकती, उसी प्रकार धर्म से नीति या नीति से धर्म पृथक् नही किये जा सकते । जिस प्रकार शासन का विधान समाज को सुव्यवस्थित रखकर बुराइयो पर नियन्त्रण रखता है, उसी प्रकार धर्म-समाज की नियन्ता उसकी नीति विधान है । यदि नीति का परिशीलन उपेक्षणीय कर दिया जाय तो उच्छृङ्खल बन जायेगा । नीति धर्म की साक्षी है ।

धर्म और नीति के परिप्रेक्ष्य मे दयादि गुण

पद्मनन्दि पचविंशतिका मे आचार्य ने दया को धर्म के रूप मे सर्व प्रथम स्थान दिया है । कहा है

सर्वे जीव दया धारा, गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे ।
सूत्राधारा प्रसूनानाम्, हाराणाञ्च सराइव ।।

जिस प्रकार पुष्पो की माला एक धागे के आधार पर बनी होती है, उसी प्रकार मनुष्य के समस्त गुण 'दया-भावना' पर ही आधारित होते है । अर्थात् दयावान् पुरुष के आश्रित सभी गुण एव धर्म शोभा को प्राप्त होते हैं । नीति में कहा है—

त्यजेत् धर्म दयाहीनं, विद्याहीनं गुरु त्यजेत् ।।

अर्थात् दयाहीन धर्म को छोड देना चाहिये ।

एक दूसरे नीतिकार ने कहा है :

को धर्मो भूतदया ? किं सौख्यम्
आरोग्यताम् जगतनतु. ?

यहाँ प्रश्न किया गया है कि धर्म क्या है ?

नीतिकार का उत्तर है—प्राणियो पर दया करना । जिन बातो को धर्म ने उपादेय और हेय माना नीतिज्ञों ने उन्हें भी तद्रूप कहा । जैसे—आत्मा के स्वभाव धर्म उत्तम क्षमादि है जिसके विषय में नीति का मत :

क्षमा शस्त्रं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतते वह्नि, स्वयमेव प्रशाम्यति ।।

क्षमा रूपी हथियार जिसके हाथ मे है, उसका दुष्टजन क्या कर सकते है ? जिस प्रकार तृण रहित अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है ।

हेय रूप क्रोधादि कषायो को धर्म शास्त्रो में छोडने योग्य लिखा है, वही बात नीतिकारों ने इस प्रकार कही है :

क्रोधो मूलमनर्थानाम्, क्रोधो संसारवर्धनम् ।
धर्मक्षय करा क्रोधः, तस्माद् क्रोधः विवर्जयेत् ॥

संसार को बढ़ाने वाला क्रोध सम्पूर्ण अनर्थों की जड है । धर्म को क्षय करने वाला यह क्रोध ही है, इसलिए उसे छोड़ देना चाहिए । लोभ के सम्बन्ध में भी एक ऐसी ही नीतोक्ति है :

लोभाविष्टो नरोवित्तम्, वीक्ष्यते न च स्वपदम् ।
दुग्धं पश्यति मार्जारः, यथा न लगुडाहतम् ॥

लोभ में वशीभूत मनुष्य ऐनकेन प्रकारेण धन की प्राप्ति को देखता है आने वाली आपत्ति को नही । जिस प्रकार बिलाव दूध पीने के अतिशय लोभ मे दूध को ही देखता है, किन्तु ऊपर से हो हो रहे डण्डे के प्रहार को नही । इस प्रकार धर्म और नीति दोनो में लोभ निन्दनीय और अधम पाप माना है ।

जीव द्रव्य को स्वतन्त्रता की उद्घोषणा

जीव द्रव्य की स्वतन्त्रता को जैनदर्शन मे मान्यता प्राप्त है जीव स्वय रागद्वेष और मोह के वशीभूत संसार मे परिभ्रमण कर रहा है । परन्तु यदि इसकी दिशा बदल जाय तो जीव की ससार दशा स्वयमेव छूट जाती है । और जीव अपने आत्म पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्त कर सकता है । जैन सिद्धान्त के इस मार्ग को नीतिकारो ने बडे सहज ढंग से कह डाला ।

स्वय कर्म करोत्यात्मा, स्वय तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वय तस्मात् विमुच्यते ॥

अर्थात् यह जीव स्वय ही कर्मों को करता है, और स्वयं ही उन कर्मों का फल भोगता है । जीव स्वयं ससार मे परिभ्रमण करता है और स्वयमेव ही ससार को छोडता है ।

जैनदर्शन मे जीव का हर्ष विषाद की परिधि से उन्मुक्त होकर स्वरूप मे प्रवृत्ति की ओर लक्ष्य दिलाया है तथा जीव को समता भावी होने का उपदेश दिया है । क्योकि यह दुःख और सुख, दुःख के ही रूपान्तर हैं । नीतिकारो ने इसी नीति भाषा मे इस प्रकार कहा है :

विपत्तो कि विषादेन, सम्पत्तो हर्षनेन किं ।
भवितव्यम् भव्यतेव, कर्मणा ईदृषी गति ॥

दुख और सुख तो कर्मों की गति का फल है, इसमे हर्ष और विषाद कैसा ? विपत्ति मे दुख और सम्पत्ति में हर्ष कैसा ? यह तो भवितव्यता अनुसार ही होता है । जीव स्वय कर्म का करता और उसके फल का भोक्ता है । श्री अमितगति आचार्य ने कहा है :

स्वयकृत कर्म यदात्मना पुरा, फल तदीयम् लभते शुभाशुभ ।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट, स्वयं कृत कर्म निरर्थक तदा ॥

पूर्व जन्म मे जैसे अच्छे या बुरे कर्म किये होते हैं उनका शुभ या अशुभ फल यह जीव अकेला ही भोगता है । यदि दूसरे का दिया हुआ यह फल भोगे तो अपने आपका किया हुआ कर्म व्यर्थ हो जाएगा । इस तथ्य की पुष्टि नीति-ग्रन्थो मे विविध रूप से मिलती है :

सुखस्य दुखस्य न कोऽपि दाता, परोददातीति कुबुद्धिरेषा ।
अहं करोमीति वृथाभिमानम्, सुकर्म सूत्रात् ग्रथतोहि लोकः ॥

सुख और दुख का देने वाला कोई दूसरा नही उपर्युक्त प्रमाणों से जीव के पूर्व जन्म के अस्तित्व और कर्मफल के सत्त्व की सिद्धि हो जाती है।

जीवन का शरणभूत एक धर्म है। यह जीवन के शान्ति और सुख का कल्पतरु है। वास्तव में, धार्मिक एव गुणज्ञ जीवन ही जीवन संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। जैसा कि नीतिज्ञों ने कहा है :

सा जीवति गुणा यस्य, यस्य धर्म. स जीवति ।
गुणधर्म विहीनश्च, जीवन निष्प्रयोजनम् ।।

जिस जीवन मे धर्म और गुण पाये जाते है वही जीवन ही जीता कहा जा सकता है क्योंकि धर्म और गुणों से रहित जीवन निरर्थक एव निष्प्रयोजन रूप होता है। गुणो के विषय मे जैसा कि कहा है .

गुणैरुत्तगताम् याति, नोच्चैराशनसंस्त: ।
प्रासाद शिखरस्थोपि काका कि गरुणायते ।।

गुणो मे ही मनुष्य की उच्चता और पूज्यता होती है। ऊँचे सिहासन पर बैठने मात्र से नही। क्या महल पर बैठा कौवा गरुडपन को प्राप्त होता है ?

गुणा सर्वत्र पूज्यन्ते पितृवश निरर्थक ।
वासदेव नमस्यन्ति वसुदेवं न मानव ।।

पिता के वश मे नही अपितु गुणो से ही व्यक्ति की पूजा होती है। यह प्रत्यक्ष है, कि वासुदेव (कृष्ण) की जितनी पूजा है उतनी वसुदेव (कृष्ण के पिता) की नही। ऐसा गुणो के सम्बन्ध मे नीतिकारो ने कहा है।

गृहस्थ-धर्म का परिपालन प्रशसनीय और योग्य गृहस्थाश्रम से ही हो सकता है जिसके विषय मे नीतिकारो ने कहा है :

सानन्द सदन सुतास्ति सुधय:, कान्ताप्रियालापिनी,
इच्छापूर्तिधन सुयोषित रति स्वाज्ञापरा सेवका ।
आतिथ्यं जिनपूजन प्रतिदिन मिष्टान्नपान गृहे,
साधुसगगुणास्ते च सतत, धन्योगृहस्थाश्रम ।।

सद्गृहस्थ वही है जिसका मगलरूप आनन्द घर हो, योग्य पुत्र हो, पत्नी प्रियभाषिणी हो, इच्छानुसार आवश्यकीय धन हो, धर्मपत्नी से ही प्रीति और रीति का भाव हो (यहाँ पर स्त्रीसेवन के प्रति निन्दित भाव का द्योतन है जैसा नीति मे कहा है

'वरम् पुसा विलम्प्या न च परिकलत्रासि गमन'

(पुरुष को नपुसक होना अच्छा परन्तु परस्त्री सम्पर्क अच्छा नही) आज्ञाकारी सेवक हो, अतिथियो का स्वागत हो, प्रतिदिन देव पूजन होता हो, स्वादिष्ट भोजन होता हो, हमेशा साधु का सत्संग और मान्यता ऐसा गृहस्थाश्रम ही धन्य और सौभाग्ययुक्त होता है। इस प्रकार धर्म कार्यों मे सन्निविष्ट गृहस्थाश्रम ही धर्म और नीति की दृष्टि मे उपादेय और आदरणीय है।

धर्म और नीति मे संयम की उपादेयता

जीवन की उपयोगिता सयम परिपालन में है। ऐसा सभी आर्ष-ग्रन्थो का मत है। सयम की बागडोर जीवन रथ के इन्द्रिय घोडों को पाप और वासनाओ के गड्ढो मे जाने से बचाते है। संयम से ही ज्ञान, शोभा-श्रुति को पाता है। नीति मे कहा है

जिनके इन्द्रियाँ और मन का संयम नही है, उसकी सभी धार्मिक क्रियायें हाथी के स्नान के समान व्यर्थ हैं। बिना सयम के ज्ञान, विधवा स्त्री के शृङ्गार समान भाररूप ही है। जिनके जीवन में सदाचरण

के फूल खिलते हैं वही जीवन स्वय आनन्द में रहकर दूसरों को अपने पराग की सुगन्ध दे सकता है। यदि ज्ञान से आचरण की क्रान्ति घटित नहीं हुई तो ऐसा ज्ञान मात्र जानकारी भर ही है।

शास्त्राऽण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः ।
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स. विद्वान् ।।

शास्त्रों का विज्ञ एव पटु यदि आचरण शून्य है तो मूर्ख ही है। परन्तु आचरणवान् पुरुष ही सच्चे अर्थों मे विद्वान् कहलाने की इच्छा रखता है। क्योकि औषधि का नाम मात्र के लेने भर से रोग नष्ट नही होता जब तक कि उसका सेवन न किया जाय। इसी प्रकार रत्नत्रय रूप धर्म से ही आत्मा अभीष्ट मुक्ति को प्राप्त करता है।

भावों की पृष्ठभूमि में धर्म और नीति

धर्म का उद्भव भावों की भूमि पर होता है। चित्त का शोधन और परिमार्जन शुद्ध भावो से ही होता है। यदि भावो मे ससार बसा है! तो अरण्य प्रवासी भी घोर ससारी है। जहाँ राग भाव ससार का कारण होता है वहाँ वीतराग भाव बन्धन को उन्मुक्तता का हेतु है। स्व-परभेद विज्ञान का भाव ही आत्मा को परमात्मा की कोटि मे ला देता है। कहा है :

न देवो विद्यते काष्ठे, न पाषाणे न मृण्मये ।
भावो हि विद्यते देवो, तस्मात् भावो हि कारणं ।।

भावों की विशुद्धता से मन शुद्ध हो जाता है। ऐसा मन धर्म की अनन्त गुण वृद्धि मे सहायक होता है, जिस प्रकार रसायन शाला के ज्ञाता रसो को भावना देकर लोहे को शुद्ध कर लेते हैं उसी प्रकार मन की स्थिति को निर्मल करना अनन्त सुख की प्राप्ति मे सहायक है। पाषाणो में भी भाव ही प्रभू का सृजन करते हैं। जैसा कहा है—

इस प्रकार जीवन की सफलता व्यक्ति को अन्तःमूलक भावना पर ही आधारित है।

सुख धर्म और नीति के दर्पण में

जीवन में शाश्वत चैतन्य सुखानुभूति धर्म के प्रसाद से प्राप्त होती है। जहाँ आकुलता का अभाव है वही सुख है। और ऐसे सच्चिदानन्द सुख की प्राप्ति धर्म से ही होती है। धर्म-इन्द्रिय जन्य सुख को सुख नही मानता बल्कि निराकुल भाव को ही सुख कहता है :

'आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये।' इन आकुलता की निवृत्ति हेतु नीति मे कहा है :

तेनाधीत श्रुतं तेन तेन सर्वमनिष्ठताम् ।
येनाशा निराकृत्वा नैराश्यमभिलम्बते ।।

उसी व्यक्ति ने सभी कुछ पढ़ा सुना और किया जिसने आशाओ और इच्छाओं को दूर कर निराशा अर्थात् इच्छा रहित स्थिति का अवलम्बन लिया।

चाह घटी चिन्ता मिटी मनुआ बेपरवाह ।
जिनको चाह नहो रही वे शाहन के शाह ।।

जीवन के राजा वे ही हो पाये जिन्होने इच्छाओ पर विजय पायी।

धर्म और नीति का हेतु

धर्म का हेतु जीवन मे आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना है। जिन्होंने रत्नत्रय रूप धर्म को पा लिया वह मुमुक्ष कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त करता है। इसलिए उपदेश भाव से नीतिकारों ने कहा है :

यावत् स्वस्थमिदं देहं यावत् मृत्युश्च दूरतः।
तावद आत्महित कुर्यात्, प्राणान्ते किं करिष्यति ॥

जब तक शरीर आरोग्य है और मृत्यु पास नही आती, तब तक आत्महित कर लेना श्रेयस्कर है क्यों-कि प्राणान्त हो जाने पर क्या किया जा सकता है! अतः धर्म की आज्ञा है कि लौकिक कार्यों मे भी ऐसी प्रवृत्तियाँ और आचरण करना चाहिए कि किसी प्रकार का दूषण न लगे और सम्यक्त्व की हानि भी न हो, कहा है :

सर्वमेवहि जैनाना प्रमाण लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥

धर्माचरण में प्रवृत्ति हेतु नीतिकार ने एक दूसरी जगह बहुत सुन्दर नीति कही है :

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥

अर्थात् बुद्धिमान् को चाहिए कि वह यह सोचकर कि न मैं कभी बूढ़ा होऊँगा और न कभी मरूँगा धन सचय करना चाहिए, लेकिन मृत्यु हमेशा सिर की चोटी पकड़े है ऐसा मानकर धर्म का पालन करते रहना चाहिये। अर्थात् स्वयं को प्रतिक्षण धर्म मय बनाए रखे। ऐसी प्रवृत्ति से ही उभय लोक की सिद्धि निर्बाध रूप से हो सकती है।

जीवन में धर्म और नीति का समन्वय

इस प्रकार जीवन में धर्म यदि जीवन का मार्ग है तो नीति उस पर बिछे पत्थर जो मार्ग को सुन्दर स्वच्छ और पक्का बनाते हैं। धर्म की वाटिका मे जब नीति के सुमन खिलते है तब जीवन राही उस सुगन्धि से परिपूरित हो स्वयं को सुवासित करता है। धर्म और नीति अन्योन्याश्रय भाव लिए एक दूसरे से शोभित हैं। ऐसा धर्म जिसमें नीति के सूत्र न बिखरे हों, शुष्क होकर रह जायगा। धर्म के प्राङ्गण मे नीति के विविध खिलौने जीवन में आनन्द और सुख का सृजन करते हैं। जीवन रथ मे यदि धर्म और नीति के दो पहिए हो तो रथ की गति अबाध रह सकती है। नीति धर्म पथ मे संकेतपट की भाँति है जो इष्ट लक्ष्य की ओर संकेत करता रहता है। धर्मात्मा यदि नीतिज्ञ न हुआ तो उसका सामाजिक जीवन रसपूर्ण नहीं बन सकता। धर्म पर नीति के अलकरण उसकी महत्ता को सहस्रगुणी कर देते हैं। धर्म का व्यावहारिक रूप जब समाज मे उतरता है तब नीति बन जाता है। धर्म की मंजिल पाने को नीति के पग धरने होते है। एक-एक नीति के पालन से धर्म का पालन स्वयमेव हो जाता है जिसे धर्म सार्वकालिक और शाश्वत होता है, उसी प्रकार नीति क्षेत्र काल की मर्यादा से अबाधित है। यदि जीवन मे नीति का परिज्ञान पूर्ण बनकर धर्म का अनुशीलन होवे तो इसकी धन्यता एवं सौभाग्यता स्वयमेव होने लगेगी।

●

संयम का लक्ष्य

● श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज'

संयम का लक्ष्य क्या है ? प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में मुझे लिखना है कि संयम का लक्ष्य सप्त परम स्थान की प्राप्ति है। सप्त परम स्थानों की प्राप्ति सयम से होती है, अतएव जीवन में संयम के बिना एक घडी भी नहीं बीते। यह भावना श्रद्धा-विवेक-क्रिया सम्पन्न साधु जनो की रहती है।

जन्म, लग्न और मृत्यु—ये तीन जीवन सूचक और जीवनदायी तत्त्व हैं। जीवन सूचक इसलिए कि पहले किसी अन्य योनि में जन्म लिया, लगन से लग्न भी किया और मरण का वरण किया, इसलिए वर्तमान में भी जन्म, लग्न और मृत्यु की अमर बेल बढ रही और शरीर की नश्वरता—आत्मा की अमरता को दृष्टि मे रखते हुए कहा जा सकेगा कि जैसे मानव-जीवन में भी क्षण-क्षण जन्म-लग्न-मृत्यु हो रही वैसे आगे भी होगी पर ये तीनो नही हो इसके लिए संयम की आवश्यकता अतीत मे थी, आज है, अनागत मे रहेगी। जन्म लग्न और मृत्यु तीनो जीवनदायी तत्त्व इसलिए हैं कि तीनों प्रसंगों पर न्यूनाधिक रूप मे मुख मीठा होता है, मिठाई खाने को मिलती है, नर-नारी-सम्मेलन होता है। लगन-विवाह टाला जा सकता पर जन्म-मृत्यु नही।

लग्न, लगन, परिणय या विवाह मे भाँवर या फेरों से पहले सप्तपदी को पूजा करते है। श्लोक में उल्लिखित सप्त पद सर्वोत्तम है और इनकी प्राप्ति का हेतु संयम तो स्वतः सिद्ध ही सर्वोत्तम है[1] जैसे सप्त व्यसन छोडने योग्य हैं, नशा होने से नाश है[2] वैसे ही सप्त पद ग्रहण करने योग्य है, जीवन वर्धक होने से ग्राह्य और काम्य हैं। इनमें सयम का वह अभूत पूर्व अभिनव चमत्कार है जो एक ओर विश्वविकासक है, विश्वशान्ति का जनक है और दूसरी ओर लोक से अलोक तक का लक्ष्य लिए है। ये सप्त पद लोक और अलोक के सुखद सेतु हैं।

इस युग की अनन्य विदुषी आर्यिका रत्न ज्ञानमती माताजी ने एक पूजा सप्त परम स्थान भी लिखी है। इस सज्जाति, सद्गार्हस्थ्य, सुरेन्द्रता, साम्राज्य परिव्राज्य आर्हन्त्य और निर्वाण का बढ़िया वर्णन जयमाला मे किया व्रत की विधि बतला कर कथा भी लिखी है। कथा का सारभूत तत्त्व यह है कि तापसी पुत्र मनोहर यह व्रत करके ललितपुर नगर के राजा भूपाल की रानी विशाला का पुत्र हुआ। यह लौकिक सामग्री प्राप्ति इस व्रत का आरम्भिक सोपान है। मुख्य लक्ष्य तो अन्तिम सोपान मोक्ष अथवा निर्वाण की प्राप्ति ही समझना चाहिए।

---

१. सज्जाति गार्हस्थ्य परिव्रजत्वं, सौरेन्द्रय सामाज्य जिनेश्वरत्वम्।
निर्वाणकं चेत पदानि सप्त, भक्त्या यजेऽहं जिनपादपद्मम्।।
सज्जाति, सद्गृहस्थता, परिव्राजकता, सुरेन्द्रता, चक्रवर्तित्व, अर्हन्तत्व और निर्वाणत्व इन सात पदो की प्राप्ति के लिए भक्ति से जिन चरण कमल की पूजा करता हूँ।

२. जूआ खेलन मास मद, वेश्या व्यसन शिकार।
चोरी पररमणी-रमण, वेश्या व्यसन निवार।।
जुआ खेलना, मास खाना, मदिरापान करना, वेश्यागमन करना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्री सेवन करना ये सातों व्यसन रोको।

सज्जातिः सद्गार्हस्थ्यं परिव्राज्यं सुरेन्द्रता ।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यम् परिनिर्वाणमित्यपि ॥

सज्जाति, सद्गार्हस्थ्य, परिव्राज्य, सुरेन्द्रता, साम्राज्यत्व, आर्हन्त्य और निर्वाण ये सात परम तत्त्व हैं सर्वोत्तम है। माता-पिता के वंश परम्परा की शुद्धि सज्जाति है। श्रावकाचार क्रिया युक्त श्रावक सद्गृहस्थ है। रत्नत्रय की पूर्ति हेतु जैनेश्वरी दीक्षा लेना परिव्राज्य स्थान है। पंडित मरण से समाधिमरण पूर्वक मरण कर देवेन्द्र होना सुरेन्द्रत्व परम स्थान है। वहाँ से च्युत होकर चक्रवर्ती के वैभव को प्राप्त करना साम्राज्य स्थान है। तीर्थंकरत्व को प्राप्त करना आर्हन्त्य स्थान है। अनन्तर सभी कर्मों से छूट कर सिद्ध पद प्राप्त करना निर्वाण परम स्थान है।

माता-पिता के कुल की शुद्धता की संज्ञा जाति है, सद्जाति या सज्जाति की इकाई उच्चगोत्र की आकांक्षी है और उच्च गोत्र का बन्ध तब होता है जब व्यक्ति आत्म-निन्दा, पर प्रशसा मे लगता है अपने अवगुण लेखता है अन्य के अवगुण ढकता है। ऐसी सज्जातीय कुलीनता की प्राप्ति के हेतु मनुष्य को दैनिक जीवन मे अतीव सयम और विवेक से काम लेना पडता है। सज्जाति का सम्बन्ध तो सदाचार और उत्कृष्ट व्यवहार से है। सात्विक समुचित सन्तुलित शाकाहार से है। चूँकि माता-पिता के गुण वशानुक्रम की दृष्टि से सन्तान में आते हैं, अतएव समझदार सन्तान के लिए सज्जातीय लडका-लडकी घर वर देखते हैं। सम्यग्दर्शन सम्पन्न व्यक्ति को सज्जाति की प्राप्ति सुनिश्चित रूप से होती है। यह स्मरण रखे—

मात-पिता के कुल उभय पक्ष की शुद्धि सज्जाती है।
सम्यग्दर्शन सहित भव्य को, निश्चित मिल जाती है ॥

सज्जाति का सम्बन्ध परम्परा से है और सद्गृहस्थता का सम्बन्ध व्यक्ति के दैनिक जीवन-व्यवहार से है। सज्जाति शारीरिक अधिक है, सदगृहस्थता मानसिकता अधिक है। श्रेष्ठ सस्कार, जीवन को बहुमूल्य निधि हैं तो मानव-जीवन सदाचार सीखने के लिए विश्वविद्यालय है। सद्गृहस्थ देव-पूजा और गुरु-उपासना में जुटता है, वह स्वाध्यायी होने के साथ सयमी होता है और तपस्या तथा दान के बदले मे अपने लिए कुछ भी नही चाहता है। वह अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह की दृष्टि मे अणुव्रती होता है। वह दिग्व्रती दशों दिशाओं में सीमायें निर्धारित करता है और देश व्रती हो उसमे उतना सकोच करता कि जितना शक्य-सम्भव होता तथा अनर्थदण्डव्रती होकर अनावश्यक निरुद्देश्य कार्यों से बचता है। मुनि बनने की कामना लिए वह शिक्षाव्रती सामायिक प्रोषधोपवास भोगोपभोग परिमाण अतिथि सविभाग व्रत भी स्वीकारता है। सद्गृहस्थ सामान्य होता है। कारण—वह धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारो पुरुषार्थों में सुरुचि-शालीनता का इच्छुक होता है। अत स्मरण रखे—

सर्वजनों से मान्य जगत् मे, सद्गृहस्थ पद पाना।
धर्म अर्थ अरु काम मोक्ष का, आकर श्रेष्ठ बखाना ॥

पवित्रता की प्रतिकृति है परिव्राजकता। यह तप, त्याग, सयम और शील की प्रतीक है। यह अनेकत्व से एकत्व की सूचक है और कर्मकण्टकों को नष्ट करने की आधारशिला है। पचपरमेष्ठी क्या है? परिव्राजकता के सर्वोत्तम सस्करण है। अब तक जितने मोक्ष गए, आगामी युगो मे जावेंगे उनका मूलभूत आधार परिव्राजकता ही थी, रहेगी। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति से परिव्राजकता का अभिन्न सम्बन्ध है, यह स्मरण करें—

पचमहाव्रत पचसमिति त्रयगुप्ति सहित जो माना।
वर चारित्रमय परीव्राज्य पद, जग में सर्व प्रधाना ॥

जब परिव्राजक अपना पुरुषार्थ पूर्णतया प्रकट नही कर पाता तब वह मोक्ष के स्थान पर पुण्य मूलक स्वर्ग प्राप्त करता है। पंडित मरण-समाधि मरण से वह ऋद्धिधारी निर्देशक इन्द्र होता है वह तीर्थंकर के कल्याण की शोभा का केन्द्र होता है पर विलास की वीथियो मे अनुरक्त नही होकर आत्महित की आकांक्षा लिए जीवन जीता ह। सभी सुर उसके सुर मे सुर मिलाते हैं।

कोटिकोटि सुर सहित महर्द्धी गुण सम्पन्न कहाता।
सुरपति पद सब देवगणो मे, आज्ञा नित्य चलाता।।

चक्रधर चक्रवर्ती चक्ररत्न के आश्रय से एक दो नही छह खण्डो का स्वामी बनता है। बहुभाग मे वह भोग से योग की दिशा में ही चलता है और सिद्धि-शिला पर आसीन होता है पर अल्प भाग मे वह योग को भूल भोग को महत्व देकर नारकीय जीवन व्यतीत करने को बाध्य होता है। वह जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा का सिद्धान्त समझता है। महत्व चक्रवर्ती होने का नही भोग से त्याग की दिशा मे बढ़ने का है। सम्यग्दर्शन से शून्य मनुष्य न तो चक्रवर्ती बनता है और न विशाल साम्राज्य का अधिकारी भी, अतएव स्मरण रखें कि—

षटखंडाधिप चक्रवर्ति पद वैभवपूर्ण जगत मे।
सम्यग्दर्शन शून्य जनो को, मिलना दुष्कर सच मे।।

जो जीवात्मा दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन करके तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है वह तीर्थंकर हाता है। चार प्रकार के देव उसके पाँच कल्याणक अतीव उमग पूर्वक मनाते हैं। वह मोक्षमार्ग का नेता होता है और कर्मरूपी पर्वतो का भेदक होता है तथा विश्व की वस्तुओ की पर्यायो का व्यक्तियो के पूर्व-भावी भवो का वेत्ता होता है। तीर्थङ्कर-अर्हन्त तो पुण्य के फल है ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा। तीर्थङ्कर पद त्रिभुवन सुखकारी होता है। यह भूले भटके भी नही भूलें—

चतुर्निकाय देवगण पूजित, महामहोत्सव कारी।
तीर्थङ्कर पद सर्वोत्तम पद, त्रिभुवन जन सुखकारी।।

जब जीवात्मा घातिया कर्मो सदृश अघातिया कर्मो का भी नाश कर देता है तब वह सयोग केवली से अयोग केवली होकर पांच ह्रस्व अक्षरो के उच्चारण जितने समय मे सिद्धि-शिला पर पहुँच कर सफल सिद्ध हो जाता है और संसार से सर्वदा को मुक्त हो जाता है। शरीरी से अशरीरी, इन्द्रिय ग्राम से अतीन्द्रिय धाम, अज्ञानी से शाश्वत ज्ञानी होता है। अष्ट कर्मो के विनाश से अष्टगुणधारी न होकर कृतकृत्य होता है। वह नितान्त निरीह निश्छल निश्चल निर्विकार निरजन शुद्धबुद्ध चेतना स्वभावी होना है। यह स्मरण रहे—

घाति अघाति कर्म घात कर, हुए निकल परमात्मा।
शुद्ध सिद्ध कृतकृत्य निरजन, लोक शिखर गत आत्मा।।

जब संयम को स्वीकार किये बिना सज्जाति और सद्गृहस्थता ही नही मिलती है तब परिव्राजकता (जिसकी परिधि मे इन्द्रिय संयम-प्राणी सयम है) भी नही मिलेगी। परिव्राजकता के अभाव मे सुरेन्द्रता और चक्रवर्तित्व की चर्चा करना तो शुद्ध दिवा स्वप्न जोवी ही बनना होगा तीर्थङ्करत्व और निर्वाणत्व की वार्ता असंयमी होकर करना तो एकदम निरुद्देश्य और निष्प्रयोजन ही है।

एक वाक्य मे सात परम स्थानो की प्राप्ति के लिए संयम अतीव आवश्यक है। जब तक मति-मन सम्पन्न मनुष्य संयम पर दृष्टि नही रखेगा तब तक वह सुख शान्ति सन्तोष-समृद्धि नही पा सकेगा। असयमी मनुष्य अल्प जीवी होगा, दुर्घटना या हृदय रोग का शिकार होगा। तनाव ग्रस्त जीवन जियेगा। इसलिए

अगर आप मुझ से पूछें कि सुख का मार्ग क्या है ? तो मैं उत्तर दूंगा कि संयम है। जिसका अपने कर कमल पर नियन्त्रण है, जिसका अपनी जिह्वा और जननेन्द्रिय पर नियन्त्रण है वह संयमी है। ऐसा संयमी मनुष्य सभी से सम्मान का अधिकारी है। सज्जाति या माता-पिता की शुद्धि के अभाव मे जब गर्भस्थ शिशु ही शुद्धतम नही होगा तब उसमें वंशानुक्रम के अभाव में केवल वातावरण के सद्भाव मे सद्गृहस्थ के व्यक्तित्व का स्वप्न भी अपूर्ण रहेगा [गर्भ की अशुद्धि के साथ ही जन्म-तप-ज्ञान और मोक्ष की भी अशुद्धि जुड जावेगी] सद्गृहस्थता के अभाव मे कुलीनता-शालीनता से अलगाव लिए मनुष्य क्षुल्लक मात्र बन पावेगा, वह परिव्राजकता की परिखा की ओर नही बढेगा, वह मुनि यति श्रमण नही बन सकेगा। परिव्राजकता के अभाव मे सुरेन्द्रता और साम्राज्यवादिता भी सुदूर रहेगी। जब ये सामान्य गुण नही तब तीर्थङ्करत्व या अर्हन्तत्व और सिद्धत्व या सफल निर्वाणत्व की वार्ता भी विडम्बना होगी, आकाश कुसुम होगी।

आधुनिक अपवित्रता और अस्वस्थता मूलक सस्कृति को सुधारने के लिए दमखम वाली दुस्साहसमयी जिजीविषा के भटकाव को रोकने के लिए, जीवनवर्धक सन्तुलन परक सन्तुष्टिदायक सर्वजनहितकारी संयम उतना आवश्यक है कि जितना भी शक्य और सम्भव है। आधुनिक परिवेश मे परिवार नियोजनमूलक जितने कार्य-साधन जुटाए जा रहे हैं और उन्हे अपना कर भोगमूलक सस्कृति का सृजन किया जा रहा है, भौतिकता को प्रश्रय दिया जा रहा है उतना धर्ममूलक ब्रह्मचर्य या सयम की ओर न समाज की दृष्टि है और न सरकार की। चलचित्र दूरदर्शन वीडियो कामोत्तेजक पत्र-पत्रिकाओ-पुस्तको द्वारा असयम के अनेक विष वृक्ष बढ़ाए जा रहे है जिससे विश्व का विकास नही विनाश हो रहा है।

श्रावक धर्म : स्वरूप और उपादेय

● डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

बीज बोने से पहले क्षेत्र की शुद्धि की जाती है। ऐसा न किया जाय तो यथेष्ट फल की प्राप्ति नही होती है। दीवार खड़ी करने से पूर्व नीव को मजबूत करना होता है यदि नीव मजबूत नही की जाएगी तो दीवार का किसी भी समय खडित होना हो सकता है। इसी प्रकार गृहस्थ-धर्म मे श्रावक व्रत को अगीकार करने से पूर्व अपेक्षित जीवन-शोधन परमावश्यक होता है।

गृहस्थधर्म का आधार बतलाने का अर्थ यह है कि वास्तव में जीवन एक अखण्ड वस्तु है। अतः लोक व्यवहार में और धर्म के क्षेत्र में उसका विकास एक साथ होता है। जिसका व्यावहारिक जीवन पतित और गया बीता होगा, उसका धार्मिक जीवन उच्च श्रेणी का नही हो सकता। अतएव व्रतमय जीवन-यापन हेतु व्यावहारिक जीवन को उत्थित करना अतीव आवश्यक है। जब व्यवहार में पवित्रता आती है तब जीवन धर्म साधना के अनुकूल होता है।

जैनदर्शन मे प्रत्येक धार्मिक क्रिया को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से आध्यात्मिक विकास के साथ सम्बद्ध किया गया है। इस दृष्टिकोण से आ मसाधना के मार्ग को हम दो भागो मे विभाजित कर सकते है—प्रथम तो श्रमण साधना और द्वितीय गृही साधना। श्रमण साधना को हम मुनिधर्म और गृही साधना को हम श्रावक-धर्म कह सकते है।[1] यहाँ श्रावक के स्वरूप और उसकी उपयोगिता पर विवेचन करना हमे इ[illegible]ित है।

तत्त्वार्थचिन्तन द्वारा श्रद्धालुता को सुदृढ करना, सतत सत्पात्रो मे धनरूप बीज वपन करना तथा विशुद्ध साधु की सेवा-शुश्रूषा कर पापधूलि मे विमुक्त होना ही श्रावक सज्ञा से अभिहित होना है।[2] वस्तुत श्रावक शब्द का अर्थ—अभिप्राय गणित की भाषा मे इस प्रकार व्यक्त कर सकते है। यथा—

श्रा > श्रद्धावान + व > विवेकवान + क > क्रियावान = श्रावक।

साधुओ की उपासनासेवा करने से श्रावक उपासक कहलाता है[3] और श्रमण-साधुओ की उपासना करने से श्रावक श्रमणोपासक कहलाते है।[4] धम्मपद मे उल्लिखित है कि दिव्य कामभोगो मे जिसे रति नही होती एव तृष्णा के क्षय होने से सुख होता है वही बुद्ध का सच्चा और अच्छा श्रावक है।[5] गृहस्थ और प्रव्रजित (साधु) दोनो ही परस्पर सहयोग से कल्याणकारी सर्वोत्तम सद्धर्म का परिपालन करते है।[6] इस

१. जैनाचार में श्रावकधर्म, मुनिश्री वर्धमान सागर जी म०, आचार्य श्री धर्मसागर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३९३।

२. श्रद्धालुतां श्राति पदार्थ चिन्तनाद, धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्।
किरणत्यपुण्यानि सुसाधुसेवनादतोपि त श्रावक माहुरुत्तमाः॥—श्राद्धविधि, श्लोक ३, पृ० ७२

३ उपासन्ते सेवन्ते साधून्, इति उपासकाः श्रावकाः।—उत्तराध्ययन २ टीका

४. श्रमणानुपास्ते इति श्रमणोपासकः।—उपासकदशा १ टीका

५. अपि दिब्बेसु कामेसु, रति सो नाधिगच्छति।
तिण्हक्खय रति होति, सम्मा स बुद्ध सावको॥—धम्मपद १९७

६. सागारा अनगारा च, उभो अञ्ञोञ्ञ निस्सिता।
आराधयन्ति सद्धम्मं, योगक्खेमं अनुत्तरं॥—इतिवुत्तक ४।८

प्रकार श्रावक शब्द के श्रमणोपासक, आगारिक, देशविरत, गृहस्थधर्मी, बालपंडित, संयतासंयति, व्रतावती, प्रत्याख्यान प्रत्याख्यानी इत्यादि अनेक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं ।[1]

सर्वज्ञभाषित धर्म के योग्य श्रावक के इक्कीस गुण कहे गए हैं ।[2] पाँच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—इस प्रकार श्रावकधर्म बारह प्रकार का है ।[3] श्रावक दो प्रकार के कहे गए हैं—व्रती और अव्रती ।[4] आचार्यों ने श्रावक के चार भेद किए हैं—नामश्रावक, स्थापनाश्रावक, द्रव्यश्रावक, भावश्रावक ।[5] व्रतो का अनुष्ठान करने वाला, सरल व्यवहार करने वाला, सद्गुरु की सेवा करने वाला, प्रवचन कुशल, स्वाध्याय, तप विनयादि गुणों से सम्पृक्त शीलवान् ही भाव श्रावक है ।[6] वस्तुत श्रावक के षडावश्यक कर्म कहे गए हैं उनका परिपालन कर उपशमभावो बारह व्रतो से सयुक्त होकर श्रावक सल्लेखना करता है । वह देवगति का सुख प्राप्त कर क्रम से उत्कृष्ट सुख को प्राप्त करता है ।[7]

प्रतिमा प्रतिज्ञा है । श्रावक के लिए ग्यारह प्रतिमाएँ कही हैं ।[8] भारवाहक की भाँति श्रावक के चार विश्राम बताए गए है । यथा—

१ जिस समय श्रावक पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, नवकारसी आदि प्रत्याख्यान तथा अष्टमी-चतुर्दशी आदि के दिन उपवास धारण करता है, उस समय प्रथम विश्राम होता है ।

२ जब श्रावक सामयिक एव देशावकाशिक व्रत का पालन करता है तब दूसरा विश्राम होता है ।

---

१. श्रावकाचार : एक परिशीलन, आचार्य श्री चन्द्रावती जी म०, श्री पुष्कर अभिनन्दन ग्रन्थ, पचम खड, पृ० ५४१ ।

२. धम्मरयणस्सजोगो, अक्खुद्दो रुवव पगइ सोम्मो ।
लोयप्पियो अक्कूरो, भीरु असठो सुदक्खिन्नो ॥
लज्जालुओ दयालु, मज्झत्थो सोम्मदिट्ठी गुणरागी ।
सक्कह सपक्खजुत्तो, सुदीहदसी विसेसन्नू ॥
वुड्ढणुगो विणीओ, कयन्नुओ परहि अत्थकारीय ।
तह चेव लद्ध लक्खो, एगवीस गुणो हवइ सड्ढो ॥—प्रवचन सारोद्धार २३९ गाथा १३५६-१३५८

३. पंचे व अणुव्वयाइ, गुणव्वयाइ च हुति तिन्नेव ।
सिक्खावयाइ चउरो, सावगधम्मो दुवालसहा ॥—श्रावकधर्म प्रज्ञप्ति ६

४. उवासिगो दुविहो, पण्णते, तं जहा-वती, अवतो वा ।—निशीथ उ० ११ चूर्णि

५ नामादि चउभेओ, सड्ढोभावेण इत्थ अहिगारो ।
तिविहो य भाव सड्ढो, दसण नय-उत्तर गुणेहिं ॥—श्राद्धविधि गाथा ४

६. कयवय कम्मो तह सीलवं गुणव च उज्जुववहारो ।
गुरु सुस्सूसो पवयण-कुसलो खलु सावगो भावो ॥—धर्मरत्न प्रकरण ३३

७ वारस वएहिं जुत्तो जो संलेहण करेदि उवसतो ।
सो सुरसोक्ख पाविय कमेण सोक्ख परं लहदि ॥—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३६९

८ (क) तत्त्वज्ञान पाठमाला, भाग १, लेखक व सम्पादक—डा० हुकुमचद भारिल्ल

(ख) एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ, त जहा-दसण सावए, कयव्वयकम्मे, सामाइअकडे, पोसहोववास निरए, दिआवभयारी रत्ति परिमाणकडे, दिआ विराओ वि बंभयारी, असिणाई वि अडभोई मोलिकडे, सचित्त परिण्णाए, आरम्भ परिण्णाए, पेसपरिण्णाए, उद्दिट्ठभत्त परिण्णाए, समणभूए आविभवइ समणाउसो ।—समवायाङ्ग ११ ।

३. चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि पर्व तिथियो मे जब श्रावक रात-दिन का पूर्ण पौषध करता है, तब तीसरा विश्राम होता है।

४. जब मारणान्तिक संलेखना-तप धारण कर यावज्जीवन आहार-पानी का त्याग करके स्थिरता से मरण की वाछा न करता हुआ विचरता है, तब चौथा विश्राम होता है।[1]

तीन मनोरथों[2] का चिन्तवन करते हुए श्रावक महानिर्जरा एवं महापर्यवसान-समाधिमरण वाला होता है। निरतिचार श्रावकव्रत के पालन करने से जीव मोक्ष की प्राप्ति करता है।[3]

वस्तुत श्रावक से अभिप्राय है धर्म को सुनने वाला अर्थात् धर्म को सुन-समझकर जीवन मे उतारने वाला। श्रावक अपूर्ण साधक होता है। वह अपनी परिस्थितियो के कारण श्रमण की तरह पूर्ण साधक नही हो सकता इसलिए वह जीवन की बुराइयो-पापो को विकल रूप से ही छोड सकता है, सकलरूप से नही।[4]

श्रावक का कर्तव्य है कि वह श्रमण जीवन की यात्रा करे और इसके लिए आवश्यक है कि वह आत्म-प्रशंसा और पर निंदा से सर्वथा अछूता रहे। श्रावक और श्रमण दोनों को ही अपनी मर्यादा मे रहने के लिए ऐसी प्रवृत्तियो से दूर रहना चाहिए। श्रावक को शील, सत्सगति और भक्ति का महत्त्व समझना चाहिए तभी उसके जीवन मे धर्म उतर सकता है और अशुचि, अनात्मक, दु.खमय तथा अनित्य ससार से वैराग्य पैदा हो सकता है। श्रावक या श्रमण दोनो की साधना तभी सफल हो सकती है जब वह निर्भय होकर मौत का स्वागत करे। मृत्यु को अनातकित होकर झेलना श्रमण जीवन की सबसे बडी सफलता है।

---

१. स्थानाग ४।३।३१४।

२. (i) कब मै थोडा या बहुत परिग्रह का सर्वथा त्याग करूँगा।

(ii) कब मै गृहवास को छोड एव मुण्डित होकर साधु बनूँगा।

(iii) कब मै सलेखना-सथारा करके मरण की इच्छा न करता हुआ स्थिरता से विचरूँगा?

—स्थानाग ३।४।२१०।

३. बारह व्रत के अतीचार, पन-पन न लगावै।
मरण-समय संन्यास धारि तसु दोष नशावै॥
यो श्रावक व्रतपाल, स्वर्ग सोलह उपजावै।
तहँ तैं चय नर जन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावै॥

—छहढाला, दौलतराम, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ सौराष्ट्र, वी० स० २४८७, पृ० ११६-११७

४. (क) वसुनंदि श्रावकाचार, गाथा सख्या ५९-४५७।

(ख) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा संख्या ३३१-३६९।

हमारा गरिमापूर्ण इतिहास

● श्री धन्यकुमार जैन, कटनी

भारत एक धर्म-प्रधान देश कहा जाता है । धर्म अनेक राष्ट्र एक की महिमा का गान तो सारा विश्व करता है । पुरातनकाल से ही यहाँ अनेक संस्कृतियो की सुरभि फैलती रही है । कुछ संस्कृतियाँ यही जन्मी, फली-फूली और अतीत के कालपात्र मे अपनी छाप अंकित कर विलीन भी हो गई । परन्तु मुख्य रूप से द्रविड वैदिक और बौद्ध धर्म ने देश के जन जीवन को प्रभावित किया है ।

द्रविड संस्कृति अहिंसा-प्रधान रही है । जैन-धर्म का भारत भूमि के अनेक प्रान्तो जनपदीय अचलो मे प्रचार-प्रसार हुआ । "सर्वजन सुखाय" सदाचार व संयम की कल्याणकारी भावना के कारण जैन धर्म की जड़ें घनीभूत होकर जन-समाज मे व्याप्त हो गई ।

धर्म किसी एक देश, एक काल या एक वर्ग के लिए प्रसूत नही होता। धर्म चाण्डाल या ब्राह्मण के उत्थान मे कोई भेद नही करता । वह धर्म, धर्म नही जो पतित को ऊपर न उठा सके । पथ भ्रष्ट को सुपथ पर आरूढ़ न करा सके । जो पापी को पुण्यात्मा न बना सके या पिछडे वर्ग को आगे न बढा सके, वह कैसा धर्म है ।

जैन धर्म पतित पावन धर्म है । इसमे प्रत्येक प्राणी की कल्याण-कामना और जीवन रक्षा के बीज निहित हैं । आचार-विचार और सयम-साधना की धारा से इसके अनुयायी जुडे हुए है । यही कारण है जैन-धर्म आज भी भारतवर्ष मे जीवित है । और इसको मानने वाला सम्प्रदाय जीवतता का प्रतीक है ।

वास्तव मे जैनधर्म क्षत्रियो का धर्म है इसका प्रमुख कारण यह है कि सभी जैन तीर्थङ्कर क्षत्रिय थे । अत यह स्वाभाविक ही था कि उनके अनुयायी भी क्षत्रिय हो । बाहरी शत्रुओ पर विजय प्राप्त करना यदि वीरता है, तो आतरिक शत्रुओ पर विजय प्राप्त करना महावीर का कार्य ही कहा जायगा । असीम धैर्य अद्भुत सहनशीलता, अपराजेय पराक्रम, प्राणीमात्र के प्रति करुणा भाव ही तो वास्तविक क्षत्रियत्व है ।

क्षत्रिय राजवश का शासन जब हिन्दुस्तान मे समाप्त हो गया और ये अनुयायी जीविका विहीन होने लगे, उस समय इन लोगो ने अपने परिवारो के भरण-पोषण के लिए वाणिज्य-व्यापार का आश्रय लिया । कालातर मे यही वर्ग अपनी मूल क्षत्रिय वृत्ति भूलकर शुद्ध व्यापारी बन गया । और आज जैन सम्प्रदाय उद्योगरत होने के कारण ही सर्वत्र केवल व्यापारी के रूप मे जाना जाता है ।

क्षत्रियो मे भी अनेक जातिया थी, उनमे नाम-भेद थे । जो क्षत्रिय जाति जिस प्रदश मे फैली उसका सम्पर्क अपनी दूसरी शाखाओ मे भी हुआ । इसी मान्यता के अनुसार पमार क्षत्रियो से बनी "परवार-जाति" का विकास हुआ ।

सस्कृत ग्रन्थो मे परमार के लिए पमार और अन्य ग्रथो मे परमार लिखा मिलता है । जैनधर्म के अनुयायी परमार क्षत्रिय का सम्बोधन, काल और भाषा के परिवर्तन का अनुगामी होकर परवार बन गया । अनेक शिलालेखो से परिवर्तन की पुष्टि भी होती है । अत. मेरी तो निश्चित मान्यता है कि परमार शब्द ही कालातर मे परवार बोला जाने लगा है । और इस प्रकार परवार जाति का उद्भव हुआ ।

पूर्वकाल मे क्षत्रियो मे नमस्कार करने के लिए जुहारू कहने की परम्परा थी । प्रमाण स्वरूप हमारी मध्य प्रदेश की जैन समाज मे नमस्कार के लिए आज भी जुहारू शब्द का उपयोग होता है ।

पट्टावलियो मे यह उल्लेख है कि गुप्तिगुप्त नामक आचार्य मूलसघ के पट्ट पर थे । वे परवार जाति के थे ।

यह तथ्य तो सर्वविदित ही है कि महाराज विक्रमदेव परमार क्षत्रिय थे । उनके पौत्र गुप्तिगुप्त को

ही पट्टावली में परवार लिखा गया है । इससे भी यह सिद्ध होता है कि परवार या परमार जाति भिन्न-भिन्न नही है। इस मान्यता की पुष्टि बटेश्वर शौरीपुर क्षेत्र मे स्थित पट्टावली से होती है ।

भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् ३ केवली, ५ श्रुतकेवली, दशपूर्व के ज्ञाता मुनि ग्यारह और ग्यारह अंग के पाठी ५ मुनि हुए है। इसके अनन्तर एक अंगधारी हुए। तदनन्तर अर्हद्वल्याचार्य, विशाखाचार्य तथा गुप्तिगुप्त हुए । यहाँ से चार संघ बने—नन्दिसघ, देवसंघ, सेनसंघ, सिंहसंघ। काष्ठासंघ के कर्ता गुप्तिगुप्त हुए हैं । इनके चार शिष्य हुए, जिनसे चार सघो की स्थापना हुई। इनके बाद ही माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबली आचार्य हुए, जिन्होंने षट्-खण्डागम की रचना की थी।

भगवान् महावीर से इस काल तक मूल रूप से एक ही सघ था। उस समय गुप्तिगुप्त के गुरुतुल्य आचार्य अर्हद्बली के शिष्य प्रथम लोहाचार्य विद्यमान थे। लोहाचार्य तथा गुप्तिगुप्त दोनो ही गुरु भाई थे। वृद्ध मुनीश्वर गुप्तिगुप्त को इन्होने मूलसघ का आदि पुरुष माना है। परन्तु पट्टावली मे इनका नाम द्वितीय स्थान पर है । इन्होने अपनी निरभिमानता के कारण ही पट्टावली मे अपने गुरु श्री भद्रबाहु द्वितीय का नाम प्रथम स्थान पर अंकित किया है । श्री भद्रबाहु द्वितीय विक्रम सवत् ४ में हुए थे। पट्टावली मे उनके दूसरे क्रम पर गुप्तिगुप्त का नाम है ।

अन्य सघों की स्थापना उस समय विद्यमान अनेक आचार्यों मे से गुर्वावली अर्हद्वली ने की थी। भद्रबाहु और उनके शिष्य गुप्तिगुप्त की महत्ता गुर्वावली के श्लोक मे उल्लिखित है । श्लोकार्थ इस प्रकार है– "भद्रबाहु मुनिश्रेष्ठ के पदरूपी कमल को विकसित करने वाले सम्पूर्ण राजाओ द्वारा वन्दनीय प्रसिद्ध श्री गुप्तिगुप्त आचार्य हमारे संघ की वृद्धि करें ।

बटेश्वर की पट्टावली मे यह सकेत है कि आचार्य गुप्तिगुप्त मूलसंघ के आदिपुरुष थे। उनकी जाति परवार थी। अन्य पट्टावलियो मे भी ऐसा उल्लेख है।

चूँकि उनके पितामह राजा विक्रम थे, जो परमार क्षत्रिय के वंशज हो आधुनिक परवार है। भगवान् महावीर के मूलसघ की अनुयायिनी पवित्र परवार समाज ही है ।

विक्रम की तीसरी शताब्दी पूर्व महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त मौर्य इतिहास प्रसिद्ध भारत सम्राट् हुए है। इन्होंने श्रुतकेवली भद्रबाहु मुनिराज की श्रद्धा निष्ठा से अनुपम सेवा की थी। तब श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरी पर्वत पर अपने गुरुवर भद्रबाहु की समाधि की पुण्य स्मृति मे उस काल की सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था का द्योतक शिलालेख अंकित करवाया था। चन्द्रगुप्त सम्राट् परमार वश के कुल शिरोमणि थे। इनके पूर्वज महाराज विक्रमादित्य के नाम पर ही आज विक्रम संवत् चल रहा है।

परमार क्षत्रिय सदा ही जैनधर्म के उपासक रहे है। परवार वश परमार-भूषण महाराजा विक्रमादित्य के पौत्र गुप्तिगुप्त, जो अपने समय के मुकुटबद्ध राजाओं द्वारा माननीय एव वदनीय रहे हैं, निमित्त ज्ञान के धारी, एकाग के ज्ञाता भद्रबाहु द्वितीय के शिष्य थे। विक्रमादित्य उज्जैन (मालवा) के अधिपति थे। सबसे प्रथम मूलसघ गद्दी उज्जैन मे ही स्थापित हुई थी। विक्रमादित्य जैनो को बहुत सम्मान देते थे। अतः परवार जाति भूषण आचार्य गुप्तिगुप्त ने उज्जैन मे ही मूलसघ पट्ट की स्थापना की हो, इसमे कोई अत्युक्ति नहीं है।

इस पट्ट में अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुए है। उन्होने अपने ज्ञान भण्डार से अगणित प्राणियो के कल्याणार्थ अनेक ग्रन्थो की रचना की है। परवार जाति के द्वारा निर्मापित जैन-स्मारक आज भी इस बात को घोषणा करते हैं कि वे मूल सघाम्नाय सरस्वती-गच्छ के अनुयायी हैं।

परवार जाति के परिवार बागड प्रान्त, गुजरात, खानदेश, महाराष्ट्र एव मालवा देश से आकर मध्य प्रदेश मे सर्वत्र सुदूर अचलो मे बस गये थे। अपनी बहुमुखी प्रतिभा से जीविकोपार्जन करते हुए आज भी अपनी धार्मिक सस्कृति को जीवित रखे हुए है। उनके द्वारा निर्मित कराये गये भव्य जिनालय, तीर्थक्षेत्रो मे मन्दिर

निर्माण गजरथ व पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव आदि धर्म-प्रेम के ज्वलन्त उदाहरण है। गजरथ की परम्परा इस बात की द्योतक है कि परवार जाति राजवश से सम्बन्धित रही है। उनके द्वारा धर्मशालाएँ, औषधालय, उदासीन आश्रम एव शिक्षा मन्दिरो की स्थापना इस तथ्य की सूचक है कि वे लोक-कल्याण की राजकीय भावना से विमुख नही है। इस समाज की दानशीलता की वृत्ति आज भी राजाओ के समान भव्य है।

पूरे देश की अपेक्षा मध्यप्रदेश मे स्थित जैन समाज की धार्मिक सैद्धान्तिक मान्यताओ के प्रति गहन आस्था, नियम पालन की दृढता से जैनधर्म की कीर्ति आज भी अक्षुण्ण है। परवार जाति के सिवाय अन्य अनेक जैन जातियाँ भी मध्यप्रदेश मे है। इन सब समाजो का वास्तुशिल्प के प्रति प्रेम, मध्यप्रदेश का एक-एक रजकण और पाषाण अपनी मूक कहानी अनोखी कलाकृतिओ के माध्यम से व्यक्त करता है। चन्देरी, बानपुर, थाँदखेडी, देवगढ और खजुराहो की कला आज भी विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने मे पूर्ण समर्थ है।

राष्ट्र की रक्षा, न्याय-व्यवस्था, उद्योगसमृद्धि मे भी जैन-जाति सदैव अग्रणी रही है। अपनी अहिंसा-प्रियता के कारण जैन समाज कभी स्वत ही विद्वेप या विग्रह का कारण नही बनती। जैन समाज के लोग जहाँ एक ओर प्रमुख उद्योगपति है, वही दूसरी ओर उच्चतम राजकीय पदो, राजनीतियों, शिक्षाविदो, साहित्यकारो, कलाकारो आदि के रूप मे देश की सेवा मे जुटे है।

राष्ट्रीय विचारधारा मे सम्प्रदाय एव जातिगत संकीर्णताओ का कोई महत्त्व नही रह गया है। साम्यवाद और समाजवाद ने वर्ग विद्वेष को बढावा दिया है। अति आधुनिकता की लहर ने युवक की वैचारिक विवेकशीलता तथा चिन्तन की धारा को कुठित कर दिया है। आर्थिक सक्रमण के इस काल मे सोचने-समझने की दिशा ही बदल गई है। साम्यवाद के नारे ने भाई-भाई के बीच विषमता और असहिष्णुता की भयकर खाई खोद दी है। स्वपुरुषार्थवाद की लगातार उपेक्षा हो रही है। स्वार्थपरक सत्तालोलुपता की सकीर्ण राजनीति ने जातिवाद पर प्रहार कर प्रतिशोधात्मक वर्ग सघर्ष को जन्म देकर सबको अस्थिर और अशात कर दिया है। बडी विडम्बना तो यह है कि आखिर व्यक्ति नैतिक धार्मिक जीवन जिये भी, तो कैसे जिये?

असहिष्णुता से तो हमारी संस्कृति टूटगी, बिखराव होगा। हमारी सृजनात्मक शक्ति समाप्त हो जावेगी। यह एक ऐसा सक्रमणकाल है जब हमे इस पर गम्भीरता से विचार करना होगा। सदाचार, नैतिक-आस्था और आत्म निरीक्षण ही एसे सम्बल है—जो हमे सही दिशाबोध दे सकते है।

हमे अपने चरित्र और धार्मिक सिद्धान्तो की रक्षा करनी ही होगी। भले ही वह कितना कष्ट साध्य क्यो न हो। जैन-सस्कृति को अक्षुण्ण रखने का दायित्व भी आज क्षत्रिय वशी परवारो को ही निभाना होगा। साथ ही सह-अस्तित्व, सर्वधर्म समभाव का राष्ट्रीय चिंतन-धारा से जुडकर विवेकशीलता से अपने अस्तित्व को भी बचाना होगा। राष्ट्रीयधारा के साथ चलने मे ही हमारा हित है।

हमारी सस्कृति महान् है। हमारा अतीत गौरव-गरिमा से ओत प्रोत है। हम सबको अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक रहकर अपने देश धर्म समाज की सेवा करनी है।

प्रस्तुत लेख मे निम्न पट्टावलियो, शिलालेखो से सहायता ली गई है—

१. विक्रम सवत् ४ से १५८१ जैनाचार्यों की पट्टावली—जो विश्वकोष आठवी वाल्यूम सन् १९२४ मे पृष्ठ ४४१ पर प्रकाशित हुई है।

२. चन्द्रगिरि पर्वत पर शिलालेख न० ५५ व १०५ देखें—इतिहासज्ञ आचार्य जुगलकिशोर जी का लेख जो जैनमित्र अक ७ वर्ष ४१ दिसम्बर मे प० राजकुमार द्वारा उदृधृत हुआ है।

३. ईडर पट्टावलिया जो सम्भवत. सन् १९२६ मे दिगम्बर जैन मे प्रकाशित हुई।

४. षट्-खण्डागम मे डॉ० हीरालाल द्वारा लिखित प्रस्तावना।

पर्व और उसकी विशेषतायें

● डॉ० रमेशचन्द जैन, एम० ए०, डी० लिट्०, बिजनौर

पर्व शब्द का अर्थ

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ मे पर्व धातु का अर्थ पूरा करना[1] बतलाया गया है। पर्व् से कनिन् प्रत्यय अथवा पृ धातु से वनिप् प्रत्यय जोड़कर पर्वन् शब्द बनता है। जिसका अर्थ होता है ग्रन्थि, जोड़, गाँठ, शरीरावयव, अङ्ग, अंश, भाग, टुकडा, पुस्तक का भाग, जीने की सीढी, अवधि, निर्दिष्ट काल विशेषकर प्रतिपक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी तथा एवं अमावस्या, चन्द्र या सूर्य ग्रहण, उत्सव तथा अवसर आदि[2]। पर्व शब्द का अर्थ पवित्र भी होता है। पृ धातु का अर्थ होता है प्रसन्न होना, क्रियाशील होना, कामकाज मे लगा रहना[3]। पर्व शब्द अपने मे व्यापक अर्थ को छिपाये हुए है। मनुष्य किसी कार्य को करते करते जब पूर्णता की पराकोटि को छूने लगता है तो उसमे अथाह उमगो और खुशियो का सागर हिलोरें लेने लगता है। इसीलिए पूर्णतावाची पर्व शब्द ही मनुष्य के लिए उमगो और खुशियो को लाने वाले दिन के रूप में प्रचलित हो गया।

पर्व शब्द का एक अर्थ ग्रन्थि, गाँठ या जोड होता है। ग्रन्थि, गाँठ या जोड दो वस्तुओ मे ही लगती है। इस प्रकार पर्व एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर जाने का सकेत देता है। इस अवस्था मे एक नवीन दिशा, नवीन जागृति और नई प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार पर्व मार्ग दर्शक है, दिशा सूचक है, सकेत दायक है। एक मोड की ओर ले जाने मे निमित्त है। पर्व का सन्देह है कि ८४ लाख योनियो मे अनेक बार जीव ने यात्रायें की है, अब उसके जीवन मे मोड़ की आवश्यकता है। मिथ्यात्व भाव की यात्रा को छोड़कर सम्यक्त्व भाव की यात्रा करनी है, एक भिन्न मोड पर आना है। अभी तक मिथ्यात्व मे जो यात्रा की थी वह कोल्हू के बैल की तरह यही ससार मे ही भ्रमण कराने वाली थी, मोक्ष के अनुपम सुख से उसका कोई प्रयोजन नही था, अब प्रयोजन बदल गया है, अब मोड दूसरी ओर हो गया है। साहित्य या दर्शन की भाषा में कहे तो करणविगम हो गया है। इन्द्रियो की प्रवृत्ति विषयभोगो की ओर लगी हुई थी, वहाँ से हटकर अब वह चेतना की ओर उन्मुख होने लगी है। जब हमारी सारी प्रवृत्तियाँ चेतना की ओर उन्मुख होती है, तभी वास्तविक पूर्णता आती है। उस पूर्णता का क्षण ही पर्व होता है।

जिस प्रकार शरीर मे प्रत्येक अङ्ग का अपना वैशिष्ट्य और आवश्यकता होती है उसी प्रकार पर्व भी हमारी आवश्यकता और वैशिष्ट्य को बतलाता है। किसी जाति, धर्म या समाज के पर्व को ही देखकर उसकी संस्कृति, सभ्यता, जीवन स्तर और वैशिष्ट्य को भली प्रकार जाना जा सकता है। जिस प्रकार किसी अङ्ग

---

१. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ (सम्पादक—द्वारका प्रसाद शर्मा), पृ० ६८४।
२. वही, पृ० ६८५।
३. वही, पृ० ७३२।

के अभाव मे अङ्गी पूर्णता को प्राप्त नही होता है, उसी प्रकार पर्व के बिना समाज और जीवन अधूरा रहता है। पर्व एक सुअवसर है, जिसमे मनुष्य प्रसन्न होता है, क्रियाशील होता है, पवित्र होता है। शास्त्रकारों ने पर्व का अर्थ प्रोषध भी किया है और प्रोषध का अर्थ है उपवास। जिन दिनो उपवास किया जाता है उसे पर्व कहते है। उपवास केवल आहारादि का त्याग देना ही नही है, अपितु आत्मा के समीप निवास करना ही उपवास शब्द का वास्तविक अर्थ है। जो लोग लघन को ही वास्तविक उपवास मानते हैं, वे प्राय. उसमें असफल होते है; क्योकि उनका उपयोग नही बदलता है। उपवास मे इन्द्रिय और मन की प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण कर आत्मा की ओर चित्त को स्थिर किया जाता है। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार प्रोषध शब्द पर्व का पर्यायवाची है। पर्व के दिन जो उपवास किया जाता है, उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। यथार्थ में पर्व का सम्बन्ध लौकिक जगत् से न होकर आत्मा से है। आत्मा के स्वरूप को जानने, समझने और अनुभव करने में ही उपवास को सार्थकता है। इसके लिए क्रमिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार पुस्तक को पढने वाला एक-एक पंक्ति को पढकर पृष्ठ पूरा पढ लेता है, पुन वह दूसरा पृष्ठ निकालकर पढता है। इसी प्रक्रिया को करते हुए एक दिन वह पूरी पुस्तक पढ़ लेता है। इसी प्रकार पर्व के दिनो मे किए हुए अभ्यास क्रमश पूर्णता की ओर ले जाते है। सीढियो को क्रम से पार करते हुए हम मजिल पर पहुँचते हैं, उसी प्रकार पर्व मे अनेक प्रकार की साधनाओं को अपनाते हुए हम आत्मत्व की उपलब्धि रूपी मजिल पर पहुँचने की चेष्टा करते है।

पर्व के प्रकार

पर्व शब्द का अर्थ उत्सव भी होता है। ये उत्सव कई प्रकार के होते है, जैसे (१) पारिवारिक उत्सव (२) सामाजिक उत्सव (३) धार्मिक उत्सव (४) राष्ट्रीय उत्सव (५) अन्तर्राष्ट्रीय उत्सव। कृत्रिम और अकृत्रिम के भेद से पर्व दो प्रकार के होते है। जो पर्व किसी व्यक्ति या घटना विशेष के निमित्त से प्रवर्तित होते हैं, वे कृत्रिम पर्व हैं। जैसे—अक्षय तृतीया, रक्षाबन्धन, विजयादशमी, दीपावली, महावीर जयन्ती, ऋषभ जयन्ती, ऋषभ निर्वाणोत्सव इत्यादि। अकृत्रिम पर्व अनादि हैं और अनन्त काल तक रहेंगे, जैसे—आष्टाह्निक पर्व, रत्नत्रय पर्व, दशलक्षण पर्व।

पर्व की सामान्य विशेषतायें

पर्व की अनेक विशेषताये होती है। पर्व विशेष रूप से मनुष्य के उत्साह, आनन्द और स्फूर्ति का द्योतन कराता है। अपने आनन्द को व्यक्त करने और अनुभव करने के लिए विभिन्न प्रकार की क्रीडाओ के आयोजन, मनोरजन, सुन्दर-सुन्दर भोजन का ग्रहण करना, अच्छे-अच्छे स्थान पर भ्रमण करना, मनोज्ञ वस्तुओ को देखना, अच्छी-अच्छी बातो को सुनना, कथा, वार्तालाप वगैरह करना, अनेक प्रकार की प्रतियोगिताओं का आयोजन करना इत्यादि अनेक मार्ग अपनाता है। प्राय.कर मनुष्य की ये प्रवृत्तियाँ सासारिकता से सम्बद्ध है। जैनधर्म आत्मवादी धर्म है, उसके सारे प्रयत्न मनुष्य को सासारिकता से हटाकर आत्मत्व की ओर ले जाने वाले है। अत जैनपर्वों की अपनी कुछ निजी विशेषतायें है, जिनमे से कुछ निम्नलिखित हैं—

जैन पर्वों की विशेषतायें

आत्म शुद्धि

आत्मशुद्धि जैन पर्वों की प्रमुख विशेषता है। इसके लिए क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप कषायो को हटाकर सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और आचरण को पूर्ण उतारा जाता है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह

के द्वारा अपनी शुद्धि की जाती है। वाणी मे स्याद्वाद, विचारो मे अनेकान्तवाद और आचार में अनेकान्त की प्रतिष्ठापना की जाती है। आत्मसाधना करते समय उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि सद्गुणो के विकास तथा क्रोधादि विकारो के शमन हेतु व्रत, उपवास, एकाशन, दर्शन, पूजन, भक्ति, स्वाध्याय, सयम पालन, इच्छा निरोध, तत्त्व चिन्तन, तत्त्वाभ्यास, उपदेश श्रवण आदि प्रधान कृत्य किए जाते हैं। इन्ही के द्वारा आत्मा के अन्दर के राग द्वेषादिक विकारों को शान्त कर आत्मा में उत्तरोत्तर समता की ही अभिवृद्धि की जाती है। आत्मा का शोधन कर इसे पवित्र और निर्मल बनाया जाता है।

नैतिकता के प्रतीक

आज चतुर्दिक् अनैतिकताओं का कडआ विष व्याप्त है। ईमानदार बनने की बात हास्यास्पद प्रतीत होती है। जो लोग एक विशुद्ध जीवन जीना चाहते है, निष्काम-निर्लिप्त रहना चाहते हैं, उनके लिए कही कोई गुंजाइश नही है। मूल्यों पर भयावह संकट है, पुराने लगभग समाप्त है, नयो के लिए कोई राह नही है। हिंसा, झूठ तथा भ्रष्टाचार का बोलबाला है। यन्त्रो और विकारी पूँजी ने लोभ लालच और मिथ्याकर्षणो को भरपूर पनपा दिया है। ऐसी स्थिति मे आशा की कोई किरण है तो वह धर्म है। जब ससार के सारे द्वार किसी के लिए बन्द हो जाते है, तब एक दरवाजा फिर भी खुला रहता है और वह है धर्म का। धर्म के विषय मे धार्मिक पर्व अधिक जागरुक बनाते हैं। ये नास्तिकता को हर लेते हैं और डाँवाडोल मनुष्य में उज्ज्वल प्रकाश भर देते है।

आचरण की शिक्षा

धार्मिक पर्व संसार के प्राणियों को आचरण की शिक्षा प्रदान करते है। जैनों की आचरण परम्परायें अत्यन्त वैभवशाली है। चाहे गृहस्थ हो या साधु हो, प्रत्येक के आचरण के मापदण्ड और नियम जैनधर्म मे निर्धारित है। चारित्रहीन ज्ञान निरर्थक है। अकुशरहित क्रियायें मन को भटकाने वाली है। जो व्यक्ति भ्रष्टाचारी है, उसे आत्मिक शान्ति की उपलब्धि ही नही हो सकती है। जिस व्यक्ति ने अपने तन और मन को संयम की डोरी से बाँधा है, उस व्यक्ति का जीवन सफल है।

स्वभाव की ओर प्रस्थान

मनुष्य इस ससार मे भ्रमण करता हुआ दुःख उठा रहा है, इसका मूल कारण स्वभाव की ओर उन्मुखता न होना है। जिस प्रकार हिरण जगल मे खुशबू के लिए इधर-उधर दौडता फिरता है, उसे यह भान नही है कि सुगन्ध उसकी नाभि मे ही है, उसी प्रकार ससारिक प्राणी परपदार्थों मे सुख मानता हुआ, उन्हे ही चाहता है, आत्मा के अनन्त सुख को उसे चाह नही है। जैन पर्व मनुष्य को परपरिणति से विमुख कर स्वभाव की ओर प्रस्थान करने को प्रेरणा देते है।

विरक्ति की राह पर चलाना

जैन पर्व खाने, पीने, मौज उडाने और मनोरंजन का साधन नही है। ये सासारिक विषय भोगो से मनुष्य के मन को हटाकर विराग की ओर ले जाते है। वीतरागता इनका आदर्श है। वीतरागी सन्तो से सम्बद्ध तिथियो मे ही प्राय ये पर्व आया करते है। जिस प्रकार रागद्वेष को त्यागकर तीर्थंकरादिक मोक्ष पधारे, उसी प्रकार हमे भी सांसारिकता से विरक्त होकर विरक्ति का मार्ग अपना कर मोक्ष प्राप्ति की सतत चेष्टा करनी चाहिए, यही इन पर्वों का सन्देश है।

भेद विज्ञान का उपदेश

आज तक जितने भी सिद्ध हुए है, वे भेदविज्ञान से ही हुए हैं। ससार मे जो बद्ध प्राणी है, वे भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हुए है। जिनके हृदय मे भेदविज्ञान जाग्रत् होता है, उनका चित्त चदन के समान

शीतल हो जाता है। वे मानो जिनेश्वर के ही लघुनन्दन होकर मोक्षमार्ग मे क्रीडा करते हैं। उनका सत्यस्व-रूप प्रकट होता है, मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है तथा शान्त दशा हो जाती है। पर्व के दिनों में बाह्य आडम्बर को दूर कर आत्मा और परपदार्थों के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करने से हमारा भेदविज्ञान पुष्ट होता है।

समस्त जीवो को सुख देना

संसार में अन्य वस्तुयें तो याचना करने पर, अनुभव करने पर सुख देती भी हैं और नही भी देती हैं। धर्म में ही वह विलक्षणता है कि वह अपना आश्रय करने वाले प्रत्येक प्राणी को सुख देता है। जैन पर्व धार्मिकता से ओतप्रोत हैं, अत इनसे सभी जीवो को सुख और शान्ति की उपलब्धि हो सकती है।

आत्मा पर विजय

भगवान् महावीर ने कहा था कि सग्राम लाखों दुर्जेय व्यक्तियों को जीतने की अपेक्षा अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करना परम जय है। जैन पर्व हमें आत्मजयी बनने की प्रेरणा देते हैं। आत्मजयी जीव सम-भाव का आचरण कर पूर्व सचित कर्मों का क्षय कर नए कर्मों के आगमन द्वार को बन्द कर मोक्ष की प्राप्ति में सफल होते है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम ही समता है, यह आत्मजयी को ही प्राप्त हो सकती है।

आध्यात्मिकता

हमारे देश मे धार्मिक पर्वों की कमी नही है। इन दिनो मन्दिरो वगैरह में यज्ञ, हवन, पूजा, पाठ, गगास्नान, तीर्थयात्रा आदि की बहुतायत रहती है, किन्तु ये सब धर्म के कलेवर हैं, धर्म की आत्मा नही है। कलेवर की सार्थकता तब है, जब वह आत्मा के धर्माचरण मे सहायक हो। अन्तरङ्ग को धार्मिक भावना के बिना कलेवर की सुरक्षा भोगासक्ति ही है। जैनपर्व धार्मिक पर्व होने के साथ-साथ आध्यात्मिक भी है। पूजन, एकाशन और उपवास आदि धार्मिक कृत्यों के साथ-साथ आत्मा के गुणो की आराधना की जाती है। इस प्रकार ये पर्व आध्यात्मिकता को पुष्ट करते है।

जैन परंपरा में वर्षावास

● डॉ० फूलचन्द जैन, प्रेमी, वाराणसी

जैन श्रमण परम्परा में वर्षावास का अत्यन्त महत्त्व है और यह आध्यात्मिक जागृति का महापर्व है जिसमे स्व-परहित साधन का अच्छा अवसर प्राप्त होता है यही कारण है कि वर्षावास को मुनिचर्या का अनिवार्य अंग और महत्त्वपूर्ण योग माना गया है। इसीलिए इसे वर्षायोग अथवा चातुर्मास भी कहा जाता है। श्रमण के दस स्थितिकल्पों मे अन्तिम पर्युषणाकल्प है। जिसके अनुसार वर्षाकाल के चार महीने भ्रमण का त्याग करके एक स्थान पर रहने का विधान है।[1] वर्ष के बारह महीनो को छह ऋतुओं मे विभाजित किया गया है। यथा—१. वसंत ऋतु (चैत्र-वैशाख माह), २ ग्रीष्म ऋतु (ज्येष्ठ-आषाढ), ३. वर्षा ऋतु (श्रावण-भाद्रपद) ४ शरद् ऋतु (आश्विन-कार्तिक), ५. हेमन्त ऋतु (मार्गशीर्ष-पौष) तथा ६ शिशिर ऋतु (माघ-फाल्गुन माह) तथा वर्ष को मौसम की दृष्टि से प्रमुख तीन भागो में विभाजित किया गया है। यथा—१. ग्रीष्म–चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ। २ वर्षा—श्रावण, भाद्रपद, आश्विन तथा कार्तिक। ३. शीत–मार्गशीर्ष, पौष, माघ तथा फाल्गुन। यद्यपि ये तीनो ही विभाजन चार-चार माह के है किन्तु वर्षाकाल के चार महीनो का एकत्र नाम "चातुर्मास", वर्षावास आदि रूप मे प्रसिद्ध है।

श्वेताम्बर परम्परा मे "पर्युषणा कल्प" नाम से वर्षावास का वर्णन प्राप्त होता है। बृहत्कल्पभाष्य मे इसे "सवत्सर" कहा गया है।[2] वस्तुत. वर्षाकाल मे आकाश मण्डल मे घटाएं छायी रहती है। तथा प्रायः वर्षा भी निरन्तर होती रहती है। इससे यत्र-तत्र भ्रमण या विहार के मार्ग रुक जाते हैं, नदी-नाले उमड पड़ते हैं। वनस्पतिकाय आदि हरितकाय मार्गों और मैदानो मे फैल जाती है। सूक्ष्म-स्थूल जीव-जन्तु उत्पन्न हो जाते है। अत किसी भी पर जीव की विराधना तथा आत्म विराधना (घात) से बचने के लिए श्रमण धर्म मे वर्षाकाल मे एकत्र-वास का विधान किया गया है। यही समय एक स्थान पर स्थिर रहने का सबसे उत्कृष्ट समय होता है।

श्रमण और श्रावक-दोनो के लिए इस चातुर्मास का धार्मिक तथा आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से महत्त्व है। इसीलिए श्रमण या उनके सघ के चातुर्मास (वर्षा योग) को श्रावक उसी प्रकार प्रिय और हितकारी अनुभव करते है जिस प्रकार चकवा चन्द्रोदय को, कमल सूर्य को और मयूर मेघोदय को।

वर्षावास का औचित्य—अपराजित सूरि ने कहा है कि वर्षाकाल मे स्थावर और जगम सभी प्रकार के जीवों से यह पृथ्वी व्याप्त रहती है। उस समय भ्रमण करने पर महान् असयम होता है। वर्षा और शीत वायु (झझावात) से आत्मा की विराधना होती है। वापी आदि जलाशयो मे गिरने का भय रहता है। जलादि मे

१. वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थान भ्रमणत्यागः। भगवती आराधना वि० टी० ४२१, पृष्ठ ६१८, मूलाचारवृत्ति १०।१८।

२. बृहत्कल्पभाष्य १।३६।

छिपे हुए ठूंठ, कण्टक आदि से अथवा जल, कीचड आदि से कष्ट पहुँचता है ।[1] आचाराग मे कहा है—वर्षाकाल आ जाने पर तथा वर्षा हो जाने से बहुत से प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं, बहुत से बीज अंकुरित हो जाते हैं । मार्गों मे बहुत से प्राणी तथा बीज उत्पन्न हो जाते हैं । बहुत हरियाली उत्पन्न हो जाती है । ओस और पानी बहुत स्थानो में भर जाता है । पाँच प्रकार की काई आदि स्थान-स्थान पर व्याप्त हो जाती है । बहुत से स्थानों पर कीचड या पानी से मिट्टी गीली हो जाती है । मार्ग रुक जाते हैं, मार्ग पर चला नही जा सकता । मार्ग सूझता नही है अतः इन परिस्थितियो को देखकर मुनि को वर्षाकाल मे एक ग्राम से दूसरे ग्राम विहार नही करना चाहिए । अपितु वर्षाकाल मे यथावसर वसति मे ही संयत रहकर वर्षावास व्यतीत करें ।[2] बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार वर्षावास मे गमन करने मे षट्कायिक जीवो का घात तो होता ही है साथ ही वृक्ष की शाखा आदि सिर पर गिरने, कीचड मे रपट जाने, नदी मे बह जाने, काँटा आदि लगने के भय रहते हैं ।[3] श्रमण को प्रत्येक कल्पनीय कार्य करते समय अहिंसा और विवेक की दृष्टि रखना अनिवार्य है । वर्षाकाल में विहार करते रहने मे अनेक बाधाओ के साथ ही जीव-हिंसा की बहुलता सदा रहती है । इसीलिए वर्षाकाल के चार माह तक एक स्थान पर स्थिर रहकर वर्षा योग धारण का विधान है । जैन परम्परा के साथ ही प्राय. सभी भारतीय परम्पराओ के धर्मों मे साधुओ को वर्षाकाल के चार माह मे एक स्थान पर स्थित रहकर धर्म-साधन करने का विधान है ।

वर्षायोग ग्रहण एवं उसकी समाप्ति—यद्यपि मूलाचार आदि ग्रन्थो मे वर्षायोग ग्रहण आदि की विधि का स्पष्ट उल्लेख नही है किन्तु उत्तरवर्ती ग्रन्थ 'अनगार-धर्मामृत' मे कहा है कि आषाढ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम प्रहर मे पूर्व आदि चारो दिशाओ मे प्रदक्षिणा क्रम से लघु चैत्यभक्ति चार बार पढकर सिद्धभक्ति, योगिभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति करते हुए आचार्य आदि साधुओ को वर्षायोग ग्रहण करना चाहिए । तथा कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के पिछले प्रहर मे इसी विधि से वर्षायोग को छोडना चाहिए ।[4] आगे बताया है कि वर्षायोग के सिवाय अन्य हेमन्त आदि ऋतुओ मे ऋतुबद्धकाल मे श्रमणों का एक स्थान मे एक मास तक रुकने का विधान है । जहाँ चातुर्मास करना अभीष्ट हो वहाँ आषाढ मास मे वर्षायोग के स्थान पर पहुँच जाना चाहिए तथा मार्गशीर्ष महीना बीतने पर वर्षायोग के स्थान को छोड़ देना चाहिए । कितना ही प्रयोजन होने पर भी वर्षायोग के स्थान मे श्रावण कृष्णा चतुर्थी तक अवश्य पहुँच जाना चाहिए । इस तिथि का उल्लघन नही करना चाहिए तथा कितना ही प्रयोजन होने पर भी कार्तिक शुक्ला पचमी तक वर्षायोग के स्थान से अन्य स्थान को नही जाना चाहिए । यदि किसी दुर्निवार उपसर्ग आदि के कारण वर्षायोग के उत्तम प्रयोग मे अतिक्रम करना पडे तो साधु को प्रायश्चित्त लेना चाहिए ।[5]

वर्षायोग धारण के विषय मे श्वेताम्बर परम्परा के कल्पसूत्र मे कहा है कि मासकल्प से विचरते हुए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को आषाढ मास की पूर्णिमा को चातुर्मास के लिए बसना कल्पता है । क्योंकि निश्चय ही वर्षाकाल मे मासकल्प विहार से विचरने वाले साधुओ और साध्वियो के एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक

---

१. भ० आ० वि० टीका ४२१, पृ० ६१८ ।
२. आचाराग सूत्र २।३।१।१११ ।
३. बृहत्कल्पभाष्य भाग ३ गाथा २७३६-२७३७ ।
४. अनगारधर्मामृत ९/६६-६७ ।
५ अनगार धर्मामृत ९/६८-६९ ।

के जीवों की विराधना होती है ।[1] कल्पसूत्र निर्युक्ति में भी कहा है कि आषाढ़ मास की पूर्णिमा तक नियत स्थान पर पहुँच कर श्रावणकृष्णा पंचमी से वर्षावास प्रारम्भ कर देना चाहिए। उपयुक्त क्षेत्र न मिलने पर श्रावणकृष्णा दशमी से पाँच-पाँच दिन बढ़ाते-बढ़ाते भाद्रशुक्ला पंचमी तक तो निश्चित ही वर्षावास प्रारम्भ कर देना चाहिए, फिर चाहे वृक्ष के नीचे ही क्यों न रहना पड़े। किन्तु इस तिथि का उल्लंघन नहीं होना चाहिए ।[2]

वर्षावास का समय—सामान्यतः आषाढ़ से कार्तिक पूर्वपक्ष तक का समय वर्षा और वर्षा से उत्पन्न जीव-जीवाणुओं तथा अनन्त प्रकार के तृण, घास तथा जन्तुओं के पूर्ण परिपाक का समय रहता है। इसीलिए चातुर्मास (वर्षावास) की अवधि आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की पूर्वरात्रि से आरम्भ होकर कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पश्चिम रात्रि तक मानी जाती है।

वर्षावास के समय मे एक सौ बीस दिन तक एक स्थान पर रहना उत्सर्ग मार्ग है। विशेष कारण होने पर अधिक और कम दिन भी ठहर सकते है।[3] अर्थात् आषाढ़ शुक्ला दसमी से चातुर्मास करने वाले कार्तिक की पूर्णमासी के बाद तीस दिन तक आगे भी सकारण एक स्थान पर ठहर सकते है। अधिक ठहरने के प्रयोजनो मे वर्षा की अधिकता, शास्त्राभ्यास, शक्ति का अभाव अथवा किसी की वैयावृत्य करना आदि है।[4] आचाराग मे भी कहा है कि वर्षाकाल के चार माह बीत जाने पर अवश्य विहार कर देना चाहिए, यह तो श्रमण का उत्सर्ग मार्ग है। फिर भी यदि कार्तिक मास मे पुन. वर्षा हो जाय और मार्ग आवागमन के योग्य न रहे तो चातुर्मास के पश्चात् वहाँ पन्द्रह दिन और रह सकते है।[5]

स्थानाग सूत्र में समय की दृष्टि से वर्षावास के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद बताये हैं। इनमे सावत्सरिक प्रतिक्रमण (भाद्रपद-शुक्लापचमी) से कार्तिक पूर्णमासी तक—सत्तर दिनों का जघन्य वर्षावास कहा जाता है। श्रावण से कार्तिक तक—चार माह का मध्यम चातुर्मास है तथा आषाढ से मृगसर—छह माह का उत्कृष्ट वर्षावास कहलाता है। इसके अन्तर्गत आषाढ बिताकर वही चातुर्मास करे और मार्गशीर्ष मे भी वर्षा चालू रहने पर उसे वही बिताएँ।[6] स्थानाग वृत्ति मे कहा है कि प्रथम प्रावृट् (आषाढ) मे और पर्युषणा कल्प के द्वारा निवास करने पर विहार न किया जाए, क्योकि—पर्युषणाकल्प पूर्वक निवास करने के बाद भाद्रशुक्ला पचमी से कार्तिक तक साधारणत. विहार नही किया जा सकता किन्तु पूर्ववर्ती पचास दिनो में उपयुक्त सामग्री के अभाव मे विहार कर भी सकते हैं।[7]

बृहत्कल्पभाष्य मे वर्षावास समाप्ति कर विहार करने के समय के विषय मे कहा है कि जब ईख बाडो के बाहर निकलने लगे, तुम्बियो मे छोटे-छोटे तुबक लग जाये, बैल शक्तिशाली दिखने लगे, गाँवो की कीचड़ सूखने लगे, रास्तो का पानी कम हो जाए, जमीन की मिट्टी कडी हो जाय तथा जब पथिक परदेश को गमन करने लगे तो श्रमण को भी वर्षावास की समाप्ति और अपने विहार करने का समय समझ लेना चाहिए।[8]

---

१ कप्पइ निग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा एव विहेणं विहाररेण विहरमाणाण आसाढपुण्णिमाए वासावासं वसित्तए।—कल्पसूत्र सूत्र १७, पृ० ७४ [कल्पमंजरी टीका सहित]

२. कल्पसूत्र निर्युक्ति गाथा १६, कल्पसूत्र चूर्णि पृ० ८९।

३. भ० आ० वि० टीका ४२१।

४. वही।

५. आचाराग २/३/१/११३, पृ० १०६४।

६. स्थानांग ५/६१-६२।

७. स्थानांग वृत्ति पत्र २९४, २९५।

८. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, १।१५३९-४०।

वर्षावास के मुख्य स्थान—श्रमण को वर्षायोग के धारण का उपयुक्त समय जानकर धर्म-ध्यान और चर्या आदि के अनुकूल योग्य प्रासुक स्थान पर चातुर्मास व्यतीत करना चाहिए। आचाराग सूत्र में चातुर्मास योग्य स्थान के विषय मे कहा है कि वर्षावास करने वाले साधु या साध्वी को उस ग्राम-नगर, खेड, कर्बट, मडंब, पट्टण, द्रोणमुख, आकर (खदान), निगम, आश्रय, सन्निवेश या राजधानी की स्थिति भलीभाँति जान लेनी चाहिए। जिस ग्राम-नगर यावत् राजधानी मे एकान्त मे स्वाध्याय करने के लिए विशाल भूमि न हो, मल-मूत्र त्याग के लिए योग्य विशाल भूमि न हो, पीठ (चौकी) फलक, शय्या एव सस्तारक की प्राप्ति सुलभ न हो और न प्रासुक (निर्दोष) एव एषणीय आहार-पानी ही सुलभ हो, जहाँ बहुत से श्रमण ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्र और भिखारी पहले से आए हुए हों और भी आने वाले हो, जिससे सभी मार्गों पर जनता की अत्यन्त भीड हो, और साधु-साध्वी भिक्षाटन, स्वाध्याय, शौच आदि आवश्यक कार्यों से अपने स्थान से सुख-पूर्वक निकलना और प्रवेश करना भी कठिन हो, स्वाध्याय आदि क्रिया भी निरुपद्रव न हो सकती हो, ऐसे ग्राम-नगर आदि मे वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाने पर भी वर्षावास व्यतीत न करे।[1] कल्पसूत्र कल्पलता के अनुसार वर्षावास के योग्य स्थान मे निम्नलिखित गुण होना चाहिए—जहाँ विशेष कीचड न हो, जीवों की अधिक उत्पत्ति न हो, शौच-स्थल निर्दोष हो, रहने का स्थान शान्तिप्रद एव स्वाध्याय योग्य हो, गोरस की अधिकता हो, जनसमूह भद्र हो, राजा धार्मिक वृत्ति का हो, भिक्षा सुलभ हो, श्रमण-ब्राह्मण का अपमान न होता हो आदि।[2]

वर्षावास मे भी विहार करने के कारण

अपराजितसूरि के अनुसार वर्षायोग धारण कर लेने पर भी यदि दुर्भिक्ष पड जाय, महामारी फैल जाये, गाँव अथवा प्रदेश मे किसी कारण से उथल-पुथल हो जाय, गच्छ का विनाश होने के निमित्त मिल जायें तो देशान्तर मे जा सकते है। क्योकि ऐसी स्थिति मे वहाँ ठहरने से रत्नत्रय की विराधना होगी। आषाढ की पूर्णमासी बीतने पर प्रतिपदा आदि के दिन देशान्तर गमन कर सकते हैं।[3] स्थानागसूत्र मे इसके पाँच कारण बताये है—१ ज्ञान के लिए, २ दर्शन के लिए, ३ चारित्र के लिए, ४. आचार्य या उपाध्याय की मृत्यु के अवसर पर तथा, ५ वर्षा क्षेत्र के बाहर रहे हुए आचार्य अथवा उपाध्याय की वैयावृत्य करने के लिए।[4] और भी कहा है कि निर्ग्रंथ और निर्ग्रन्थियो को प्रथम प्रावृट् चातुर्मास के पूर्वकाल में ग्रामानुग्राम विहार नही करना चाहिए। किन्तु इन पाँच कारणो से विहार किया भी जा सकता है।

१. शरीर, उपकरण आदि के अपहरण का भय होने पर, २ दुर्भिक्ष होने पर, ३ किसी के द्वारा व्यथित किये जाने पर अथवा ग्राम से निकाल दिये जाने पर, ४ बाढ आ जाने पर तथा ५ अनार्यों द्वारा उपद्रव किये जाने पर।[5]

इस प्रकार वर्षावास के विषय मे जैन आचार शास्त्रो मे यह विवेचन प्राप्त होता है। श्रमण के वर्षावास का समय उसी प्रकार कषायरूपी अग्नि को एवं मिथ्यात्व रूपी ताप को त्याग एव वैराग्य की शीतल धारा से तथा स्वाध्याय और ध्यान की जलवृष्टि से शान्त करने का होता है जिस प्रकार जल की शीतल धारा बरस कर धरती की तपन शान्त करती है। ●

---

१. आचाराग सूत्र २।३।१।४६५।

२ कल्पसूत्र-कल्पलता पृ० ३।१ तथा कल्पसमर्थनम् गाथा २६।

३ भ० आ० वि० टीका ४२१, अनगारधर्मामृत ज्ञानदीपिका ९।८०-८१, पृ० ६८९।

४ ठाण ५।१००, पृ० ५७५।

५. वही ५।९९, पृ० ५७४।

ब्रह्म जिनदास की साहित्य-साधना

● डॉ० प्रेमचन्द्र रांवका

महाकवि ब्रह्म जिनदास १५वीं शताब्दी के संस्कृत, हिन्दी, गुजराती एवं राजस्थानी भाषा एव साहित्य के अपने समय के उद्भट विद्वान् थे । ये भट्टारक सकलकीर्ति के अनुज एवं शिष्य थे । इनका जन्म संवत् १४५० के लगभग गुजरात प्रान्त के अणहिलपुर पट्टन नगर के उच्च सम्पन्न परिवार में हुआ । प्रारम्भिक शिक्षा से ही अपने अग्रज भ्राता भट्टारक सकलकीर्ति के सान्निध्य मे रहकर ऐसे सुसस्कार प्राप्त किये कि गृहस्थ से विरक्त हो गये और स्वाध्याय और जिनपूजा स्तवन मे ही सलग्न रहने लगे ।

भट्टारक सकलकीर्ति के सान्निध्य में रहकर ब्रह्म जिनदास अपना अधिकाश समय स्वाध्याय एव साहित्य सृजन मे व्यतीत करते थे । ये आजीवन ब्रह्मचारी रहे । जम्बूस्वामी चरित्र मे इन्होने अपने-आपको 'कामारिजेता' बताया है और अपने नाम की सार्थकता को स्पष्ट किया है—

"जिनस्य दासो जिनदासनामा,
कामारिजेता विदितो धरित्र्या ॥७॥

मुनित्व से प्रति इनका बडा आदर भाव था । इनके गुरुजनो मे भट्टारक सकलकीर्ति के अलावा भट्टारक भुवनकीर्ति भी थे । ये योग्य गुरु के योग्य शिष्य थे । अपने इन गुरुद्वय के साथ इन्होने विभिन्न प्रदेशो मे बिहार किया और प्रतिष्ठाओं का सचालन किया । आत्म साधना के साथ गुरुभक्ति, नियमित स्वाध्याय एव साहित्य सृजन ब्रह्म जिनदास के अपने कार्य थे । इनके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक प्रतिमाएँ और रचित ग्रन्थ राजस्थान और गुजरात ही नही देश के अन्य प्रान्तो के मन्दिरो एव शास्त्र भण्डारो मे भी उपलब्ध होते हैं । इनकी अन्तिम रचना स० १५२० की हरिवंशपुराण रास है । इसके पश्चात् इनके विषय मे जानकारी नही मिलती । ब्रह्म जिनदास एक साथ विद्वान्, सन्त एव कवि थे । इनके बहुमुखी व्यक्तित्व से सम-सामयिक विद्वान्, कवि, शिष्य एव श्रावक-श्राविकाएँ प्रभावित थे ।

महाकवि ब्रह्म जिनदास की अब तक सस्कृत एव हिन्दी की निम्न कृतियाँ उपलब्ध हुई है जो राजस्थान प्रान्त के जयपुर, उदयपुर एव डूँगरपुर तथा गुजरात के ईडर के जैनग्रन्थ भण्डारो मे विद्यमान हैं—

संस्कृत भाषा की रचनाएँ :

१ अनन्तव्रत पूजा, २. गुरु पूजा, ३ चतुर्विंशति उद्यापन पूजा, ४ जम्बूस्वामी चरित्र, ५. जम्बूद्वीप पूजा, ६. ज्येष्ठ जिनवर पूजा, ७ जल यात्रा विधि, ८ पुष्पाजलि व्रत कथा, ९. मेघमालोद्यापन पूजा, १० राम चरित्र (पद्मपुराण), ११. वृहत् सिद्धचक्र पूजा, १२ सप्तर्षि पूजा, १३ सार्द्धद्वय पूजा, १४. सोलह कारण पूजा, १५. हरिवंश पुराण ।

हिन्दी भाषा की रचनाएँ :

१. आदिनाथ रास, २. राम रास ३. हरिवंशपुराण रास, ४. हनुमंत रास, ५. अजित जिनेसर रास, ६. जम्बू स्वामी रास, ७. श्रेणिक रास, ८ श्रीपाल रास, ९ सुकुमाल स्वामी रास, १०. नाग कुमार रास, ११. चारुदत्त रास, १२. सुदर्शन रास, १३. जीवधर स्वामी रास, १४. धन्य कुमार रास, १५ यशोधर

रास, १६. भविष्यदत्त रास, १७. अम्बिका देवी रास, १८ रोहिणी रास, १९ रात्रि भोजन रास, २०. सगर चक्रवर्ती कथा रास, २१. गौतम स्वामी रास, २२ भद्रबाहु रास, २३. समकित अष्टांगकथा रास, २४. सास्त बासा को रास, २५ होली रास, २६. महायक्ष विद्याधर कथा, २७ धर्म परीक्षा रास, २८. बंक चूल रास, २९. रविव्रत कथा, ३० पुष्पाजलि कथा रास, ३१. आकाश पंचमी कथा, ३२. चन्दन षष्ठी कथा रास, ३३. मोक्ष सप्तमी कथा रास, ३४. निर्दोष सप्तमी कथा रास, ३५. अक्षय दशमी रास, ३६. दशलक्षण व्रत कथा रास ३७. सोलहकारण व्रत रास, ३८ अनन्त व्रत रास, ३९. पुरन्दर विधान कथा, ४०. ज्येष्ठ जिनवर पूजा कथा, ४१. मालिनी पूजा कथा, ४२. मेडूकनी पूजा कथा, ४३. प्रबधदत्त विनयवती कथा, ४४. सुकान्त साहू कथा, ४५ धनपाल कथा, ४६ परम हस रास, ४७. धर्म तरु गीत, ४८ चूनड़ी गीत, ४९. बारह व्रत गीत, ५० प्रतिमा ग्यारह की रास, ५१ चौदह गुणस्थानक रास, ५२. अठावीस मूलगुण रास, ५३ द्वादशानुप्रेक्षा, ५४ कर्म विपाक रास, ५५. समकित मिथ्यात रास, ५६. निज कवि संबोधन, ५७. जीवड़ा गीत, ५८ शरीर सफल गीत, ५९. आदिनाथ वीनती, ६० ज्येष्ठ जिनवर लहरना, ६१. जिणवर पूजा , ६२. तीन चौबीसी वीनती, ६३. पच परमेष्ठी गुण वर्णन रास, ६४. पूजा गीत, ६५. मिथ्या उक्कड वीनती, ६६ गिरनारि धवल, ६७. चौरासी जाति माला, ६८ जिनवाणी गुणमाल, ६९ गुरु जय-माल, ७० गोरी भास ।

यद्यपि ब्रह्म जिनदास अपने गुरु भट्टारक सकलकीर्ति के सदृश सस्कृत भाषा के उद्भट विद्वान् थे, फिर भी जन-सामान्य के बोध की दृष्टि से इन्होने अपना अस्सी प्रतिशत साहित्य हिन्दी भाषा में ही रचा । संस्कृत भाषा केवल विद्वत् समुदाय तक मीमित थी, जन सामान्य के निकट नही । अपने प्रमुख ग्रन्थ 'आदिनाथ रास' मे कवि ने इसे स्पष्ट किया है :—

कठिन नालीय ने दीजि बालक हाथि, ते स्वाद न जाणे ।
छोल्या केल्या द्राख दीजे, ते गुण बहु माणे ।।३।।
तिम ए आदिपुराण सार, देश भासा बखाणु ।
प्रकट गुण जिन विस्तरे, जिम सायण बखाणुं ।।४।।

जिस प्रकार बालक कठोर नरियल का कुछ उपयोग नही जानता, लेकिन साफ करके उसकी गिरी देने के वह बड़े आनन्द से उसका स्वाद लेता है, उसी प्रकार देश भाषा मे कही गई बात सर्व सुलभ और लोक भोग्य बन जाती है । इसी भावना से प्रेरित होकर महाकवि ब्रह्म जिनदास ने संस्कृत के विद्वान् होकर भी अपना अधिकाश साहित्य हिन्दी में लिखा । हिन्दी साहित्य के इतिहास मे ब्रह्म जिनदास अकेले ऐसे कवि हैं, जिन्होंने विविध विषयक ५० रास सज्ञक काव्यो का सृजन कर इस गलत धारणा को निर्मूल सिद्ध किया कि रास संज्ञक रचनाएँ केवल वीर मंज्ञक ही होती हैं ।लोकभाषा में तुलसी से पूर्व 'राम रास' (र० का० सं० १५०८)की रचना कर हिन्दी राम-काव्य परम्परा का और परम हंस रास की रचना कर रूपक काव्य परम्परा का सूत्रपात किया ।

इतना होने पर भी कवि ने कुछ रचनाएँ सस्कृत एव हिन्दी दोनो भाषाओ मे रची । ऐसी रचनाओ मे जबूस्वामी चरित्र, रामचरित्र और हरिवशपुराण है । इसका कारण कवि की कृतियो का लोकप्रिय होना है । कवि की सस्कृत रचनाएँ प्रसाद गुण से युक्त है, क्लिष्टता उनमे नही है । यह एक योग पूरक घटना है कि इनके गुरु भट्टा० सकलकीर्ति ने जहाँ सस्कृत मे अधिक एव हिंदी मे कम रचना की तो इन्होंने हिन्दी मे अधिक एवं सस्कृत मे अपेक्षाकृत कम रचनाएँ की ।

महाकवि ब्रह्म जिनदास के समय मे 'रास सज्ञक' रचनाओं का प्रचलन अधिक था । इन रास काव्यों मे विषयगत शिक्षा का कोई बन्धन नही था । जनता उनमे अपने सुख-दु ख, मनोरजन, धार्मिकता, वीर पूजा,

चरित्र, यात्रा, दीक्षा आदि विषयक प्रकरण सन्निहित करती थी। उनमें अनेक सामयिक घटनाएँ भी अंकित रहती थी जो जनता को अपनी ओर आकर्षित करती थी। इन्ही सब कारणों से रास काव्य जनप्रिय हुए। ये रास काव्य गेय प्रधान और नृत्य से युक्त होते थे। जन सामान्य की इस प्रकार के काव्यों मे अधिक रुचि होती थी। संभवत इसी दृष्टिकोण से ब्रह्म जिनदास ने आदर्श पुण्य पुरुषो के उज्ज्वल चरित्र पक्ष को अपने रास काव्यों का आधार बनाया। अपने इन रास काव्यो के माध्यम से कवि ने सम्यक् धर्म के आचरण पर विशेष बल दिया है। कवि का 'राम रास' जो हिन्दी साहित्य के मध्य काल का प्रथम राम विषयक महाकाव्य है, से एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है जिसमें सीता राम को निम्न मार्मिक सदेश भेजती है—

सदेशो एक मन्द तणो हो, कहिजे तू अति चग।
राम आगलि सुहावणो हो, गरभतणो अभग ॥७॥
सीयल राखो हो मे आपणो हो, मन वच निरमल काय।
रामवश कीरति मे हुँ राखी हो, आप मने सकटे धाय ॥८॥
लोक तणो भय हूँ तजी हो, तिम जिण धर्म्म मा छाडि।
सत्यपदारथ छोडि हो तो, आवै बहु राडि ॥११॥
महावैं कर्म छे मझकन्हे हो, निरजन मनह मझारि।
तहमे सुखे राजकरो हो राम देव सुख विचारि ॥१२॥

इस संक्षिप्त निबन्ध मे महाकवि ब्रह्म जिनदास की सस्कृत की १५ एव हिन्दी भाषा की ७० रचनाओ की मात्र जानकारी ही दी गई है। काव्य रूप की दृष्टि से ये रचनाएँ महाकाव्य, खण्डकाव्य एव मुक्तक काव्य के गेय एव पाठ्य-काव्य के अन्तर्गत ही विशाल परिमाण मे रचित इन रचनाओ का मूल्याकन सहज कार्य नही। अपनी छोटी-बडी ८५ रचनाओ से ब्रह्म जिनदास ने माँ भारती की अनुपम सेवा की है। भाव एव कला पक्ष दोनो ही दृष्टियो से ये रचनाएं साहित्यिक कोटि मे परिगणनीय है और पदे-पदे जिनधर्म के प्रति अपनी अपार आस्था व्यक्त करती है। वस्तुत हिन्दी-सस्कृत का १५वो शताब्दी का काल ब्रह्म जिनदास की साहित्य साधना से निश्चित ही उपकृत हुआ है।

जन्म कुंडली से नाम राशि से ग्रह संबंधी शुभाशुभ फल की जानकारी

● पं० कन्हैयालाल नारे ज्योतिषशास्त्री प्रतिष्ठाचार्य, बम्बई

जैनधर्म मे चित्रा पृथ्वी से ७९० योजन की ऊँचाई तक शून्य आकाश है। ७९० योजन से ९०० योजन तक अर्थात् ११० योजन तक ज्योतिष मडल है। ज्योतिष देव ५ प्रकार बतलाये गये है, जैसे चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारे। ७९० योजन पर सब तारो के विमान है। इससे ९ योजन ऊँचा केतू का विमान है, इससे १ योजन ऊँचा सूर्य का विमान है इसमे ८९ योजन ऊँचा राहू का विमान है इससे १ योजन ऊँचा चन्द्रमा का विमान है इससे ४ योजन ऊँचा २८ नक्षत्रो के विमान है इससे ४ योजन ऊँचा बुध का विमान है इससे ३ योजन ऊँचा शुक्र का विमान है इमसे ३ योजन ऊंचा गुरु का विमान है इससे ३ योजन ऊँचा मगल का विमान है इससे ३ योजन ऊँचा शनि का विमान है। इस प्रकार जैन ज्योतिष भूगोल की रचना बताई गई है। यह योजन २ हजार कोस का माना गया है इतने उँचे ग्रह के विमान होने पर भी पृथ्वी पर रहने वाले जीवो पर एव मनुष्य प्राणी पर कैसे प्रभाव पडता है। जैन सिद्धान्तानुसार अपने शुभाशुभ कर्म उदय आने पर शुभाशुभ फल भोगता है यह ग्रह भी अपने शुभाशुभ कर्म फल अनुसार हो अपनी जन्म कुडली मे शुभाशुभ फल द्योतक रूप उन स्थानो मे फल देते है। यह ग्रह अपनी प्रचड किरणो द्वारा जीव को आकर्षित कर अपने आने वाले भले बुरे समय का ज्ञान मात्र करा देते है ग्रहो की चेतावनी से हमे तत्काल सावधान होकर धर्म ध्यानाराधना मे तत्पर होकर पुण्यार्जन द्वारा अशुभ कर्मो की निर्जरा करे लेकिन हम अज्ञानी मनुष्य जो सूचक बन चेतावनी देने आया उसकी ही पूजा प्रार्थना करने लग जाते है लेकिन यह बात ग्रह के असमर्थ की बात है वह तो मात्र सूचक है। हमे देव शास्त्र गुरु की आराधना करनी चाहिये जो ग्रह शुभाशुभ की सूचना करते है उन ग्रहो का उदारभाव से सत्कार करना उनका उपकार मानना परम आवश्यक है। बडे बडे पुरुषार्थी मनुष्यो का अशुभ कर्म उदय आने पर उनका पुरुषार्थ निष्फल जाता है तब वह मनुष्य खूब सोचता है तब उसके कोई भी उपाय से उसको शुभ फल की प्राप्ति नही होती तब वह भाग्य कुदरत को समझकर वह कर्म सिद्धान्त पर आता है। ज्योतिष शास्त्र मे भी जब ग्रह शुभ फल दे रहे हो तो शुभ कर्म का उदय जानना जब अशुभ फल मिल रहा हो तो अपने अशुभ कर्म का उदय जानना। ग्रहो के प्रभाव से मनुष्य को शुभाशुभ समय की जानकारी होती है। जन्म कुण्डली से जन्मराशि नाम राशि से हस्त रेखा-ज्ञान मे ग्रहो के शुभाशुभ फल का समय मालूम पडता है। अशुभफल की निवृत्ति के लिये आचार्य मुनि पुगवों ने उपाय बताये है जैसे—दान, पूजा, जप, तप, व्रत तथा हाथ की उँगली मे नग धारण करना आदि। सही समय की बनी हुई जन्मकुण्डली मे उन ग्रहो की स्थिति से कौन से स्थान पर ग्रह बैठे हो तो कब कैसा शुभाशुभ फल कारक होते है यह ज्ञान होता है। मनुष्य प्राणी अशुभ कर्म तो खुशी खुशी कर लेता है लेकिन उसका फल भोगने मे रोता है उसकी शान्ति के लिये मत्र जाप स्तोत्र पाठ तप व्रत दान पूजा आदि का सहारा लिया जाता है। ज्योतिष मे गोचर पद्धति के अनुसार शुभाशुभ फल समझने की स्थूल रीति इस प्रकार है। सूक्ष्म प्रणाली के बहुत भेद है वह ज्योतिष का पूर्ण ज्ञानी ही समझता है।

शुभ-सूर्य—३।६।१०।११ इन स्थानों पर होवे तो शुभ फल—जैसे धन यश मान देने वाले कार्यों में सफलता बुद्धि की तीव्रता कुटुम्ब मे स्नेह पुत्र सुख आदि।

अशुभ-सूर्य—१।२।४।५।७।८।९।१२ इन स्थानो मे सूर्य अशुभ—जैसे रोग शोक अग्नि पीड़ा प्रवास धन हानि करता है।

शांति के लिये—पद्मप्रभु भगवान् की पूजा दान स्तोत्र व्रत तप जाप्य ७ हजार मंत्र — ॐ ह्री क्ली श्री श्रीसूर्यग्रहारिष्ट निवारक श्री पद्मप्रभु जिनेंद्राय नम मम् सर्वं शांति कुरुकुरु स्वाहा ।

पहरने का नग माणक ३ रति सोने की अगूठी मे ।

फल—रोग मिटाने को रामबाण इलाज छोटे-छोटे रोग कम होते है लाल रग का माणक अचला हृदय रोग के लिये बहुत अच्छा है । यह ग्रह १ राशि पर १ माह रहता है ।

शुभ चंद्रमा—१।२।३।६।७।१०।११ इन स्थानो पर शुभ फल—जैसे द्रव्य प्राप्ति, मित्र समागम श्रेष्ठ सात्विक बुद्धि को वृद्धि आदि ।

अशुभ चद्रमा—४।५।८।९।१२ इन स्थानो पर अशुभ—जैसे अर्थ हानि, कलह, चोर अग्नि भय पीडादि ।

शाति के लिये—चन्द्रप्रभु भगवान् की पूजा दान स्तोत्र व्रत तप जाप्य ११ हजार मत्र—ॐ ह्री क्रौं श्रीचन्द्र अरिष्ट निवारक श्री चन्द्रप्रभ् जिनेंद्राय नम मम् सर्व शाति कुरु-कुरु स्वाहा ।

पहरनेका नग मोती २ रत्ती चाँदी की अँगूठी मे ।

फल—अमरीका की महिला मान्यता सुन्दर सुखद स्वप्ना नारगी रग का मोती छाती का राग लोही बिगाउ मे उपकारी माना गया है ।

शुभ मंगल—३।६।११ इन स्थानो का शुभ फल—जैसे जमीन अरोग्य कोर्ट कचहरी मे यश विजय करने वाला ।

अशुभ मगल—१।२।४।५।७।८।९।१०।१२ इन स्थानो का अशुभ—जैसे मानसिक त्रास बीमारी झगडा क्रोधादि ।

शान्ति के लिये—वासुपुज्य भगवान् की पूजा दान स्तोत्र व्रत तप जाप्य १० हजार मत्र—ॐ आ क्रौ ह्री श्री भौमारिष्ट निवारकाय श्री वासुपुज्य जिनेन्द्राय नम मम् सर्वं शाति कुरु-कुरु स्वाहा ।

पहरने का नग मूंगा (प्रवाल) ८ रत्ती ताबा की अगूठी मे

फल—बीमार पडे तो इसके पहले ४८ घटा नग का रग फीका पडता है पीला रग का प्रबाल माथा दुखता हाड का रोग मे उपयोगी । यह १ राशि पर १॥ माह मदगति से ६ माह भी रहता है ।

शुभ बुध—२।४।६।८।१०।११ इन स्थानो का शुभ—जैसे व्यापार वृद्धि सुख यश कीर्ति प्रदान करता है ।

अशुभ बुध—१।३।५।७।९।१२ इन स्थानो का अशुभ—जैसे धन हानि मतभेद शोक रज चिन्ता ।

शाति के लिये—मल्लिनाथ भगवान् की पुजा स्तुति स्तोत्र दान व्रत तप जाप्य ४ हजार मत्र ॐ, ह्रां, क्रौ आ० श्री बुधग्रहारिष्टनिवारकाय श्री मल्लिनाथ जिनेन्द्राय नम मम् सर्वं शान्ति कुरु कुरु स्वाहा ।

पहरने का नग नग पन्ना ५ केरेट सोने की अगूठी मे

शुभ गुरु—२।५।७।९।११ इन स्थानो पर शुभ—जैसे लाभ यश धन सपत्ति वृद्धि बुद्धि वृद्धि ।

अशुभ गुरु—१।३।४।६।८।१०।१२ इन स्थानो का अशुभ—जैसे झगडा व्याधि अपयश भ्रम चिन्ताशोक ।

शान्ति के लिये—तीर्थंकर वर्धमान भगवान् की पुजा इष्ट स्तुति स्तोत्र दान व्रत जाप्य १९ हजार मत्र—ॐ क्रौ, ह्री श्री क्ली ऐं गुरुअनिष्टनिवारकाय श्री वर्द्धमान जिनेन्द्राय नम मम् सर्वं शान्ति कुरु-कुरु स्वाहा ।

पहरने का नग पुखराज ७ रत्ती का सोने की अगूठी मे।

फल—लीवर के लिये ठीक चरबी मेद को कम करता है। १ राशि पर १३ महीना रहता है।

शुभ शुक्र—१।२।३।४।५।८।९।११ इन स्थानो पर शुभ—जैसे स्नेही समागम लाभ यश सुख की वृद्धि।

अशुभ शुक्र—६।७।१० इन स्थानों पर अशुभ जैसे—रोग चिंता शोक हानि कुटुम्ब में विरोध।

शांति के लिये—पुष्पदंत भगवान् की पूजा स्तुति स्तोत्र दान व्रत जाप्य १६ हजार। मंत्र—ॐ ह्रीं श्री क्लीं, ह्री शुक्रारिष्टनिवारकाय श्री पुष्पदंत जिनेंद्राय नमः मम् सर्व शांति कुरु कुरु स्वाहा।

पहरने का नग हीरा ३ रत्ती का सोने की अगूठी मे।

फल—गला मुख रोग कम करता है। १ राशि पर १ महीना रहता है।

शुभ शनि—३।६।११ इन स्थानो पर शुभफल—जैसे सुख यश धन प्राप्ति व्यापार वृद्धि मित्र लाभ।

अशुभ शनि—१।२।४।५।७।८।९।१०।१२ इन स्थानो पर अशुभ—जैसे धननाश अपयश जेल कोर्ट कचहरी।

शांति के लिये—मुनि सुव्रतनाथ की पूजा स्तुति दान व्रत स्तोत्र जाप्य २३ हजार। मंत्र ॐ ह्रीं क्रौं श्री शनिग्रहारिष्टनिवारकाय श्री मुनिसुव्रतनाथ जिनेन्द्राय नमः मम् सर्वशांति कुरु कुरु स्वाहा।

पहरने का नग नीलम ५ रत्ती का स्टील की अगूठी मे।

फल—यहूदी मान्यतानुसार पति पत्नी मे अटूट प्रेम, वायु प्रकोप हिस्टोरिया (मूर्च्छा) जहर कम करता है। एक राशि पर ३० महीना रहता है।

शुभ राहु—१।३।६।९।१०।११ इन स्थानो पर शुभ—जैसे स्त्री पुत्र सुख धन लाभ यशकीर्ति।

अशुभ राहु—२।४।७।८।१२ इन स्थानो पर अशुभ—जैसे दुःख रोग शोक रज पीडा मरण समान दुःख।

शांति के लिये—नेमिनाथ भगवान् की पूजा स्तुति व्रत तप दान जाप्य १८ हजार। मंत्र—ॐ ह्रीं श्री क्ली ह्र् राहूग्रहारिष्टनिवारकाय श्री नेमिनाथ जिनेंद्राय नमः मम् सर्व शांति कुरु कुरु स्वाहा।

पहरने का नग गोमेद ६ रत्ती का स्टील की अंगूठी मे। १ राशि पर १८ महीना।

शुभ केतु—३।६।९।११।१२ इन स्थानों पर शुभ—जैसे लाभ यश कीर्ति सुख।

अशुभ केतु—१।२।४।५।७।८।९।१० इन स्थानो पर अशुभ—जैसे दुःख शोक रज भय पीडा झगडा।

शांति के लिये—पार्श्वनाथ भगवान् की पूजा स्तुति दान व्रत तप जाप्य १७ हजार। मंत्र—ॐ ह्रीं श्री क्ली ऐं केतुग्रहारिष्ट निवारक श्री पार्श्वनाथ जिनेंद्राय नमः मम् सर्व शांति कुरु कुरु स्वाहा।

पहरने का नग वैडूर्यमणी ३ रत्ती स्टील की अगूठी मे।

यह १ राशि पर १८ महीना रहता है।

नोट—बुध-शुक्र ग्रह को छोडकर सभी ग्रह ४।८।१२ इन स्थान से खराब फल देते हैं बाकी के स्थानो से मध्यम फल देते हैं ग्रहो के फलाफल देखने के बहुत तरीके ज्योतिष शास्त्र में दिखाये गये हैं जैसे—पाद-दृष्टि-संगति स्वीगृह उच्च बाल वृद्ध युवा स्थानबलो दिशाबलो आदि से जानकार ज्योतिषी ही फल बताने में समर्थ होता है।

●

जैन साहित्य में भगवान पार्श्वनाथ

डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, उज्जैन

भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता

आधुनिक जैन परम्परा के निर्माता भगवान् महावीर हैं, इसमें किसी भी विद्वान् को सन्देह नहीं है। किन्तु महावीर की आचार-विचार परम्परा उनको अपनी ही थी अथवा किसी पूर्ववर्ती तीर्थङ्कर की इस विषय में पाश्चात्य ऐतिहासिक विद्वान् संदिग्ध अवश्य थे। डॉ० याकोबी जैसे महनीय पाश्चात्य विद्वानों ने उनका सन्देह निवारण किया और अकाट्य प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया कि भगवान् पार्श्वनाथ नि:सन्देह एक ऐतिहासिक महापुरुष है।

डॉ० याकोबी ने इस विषय में जो प्रमाण दिये है उनमे जैन आगमो के अतिरिक्त बौद्धपिटक का भी समावेश है।[1] भगवान् पार्श्व की ऐतिहासिकता सिद्ध हो जाने के पश्चात् इस बात मे कोई सन्देह नही रहा कि भगवान् महावीर को जैन आचार-विचार की परम्परा पार्श्वनाथ से मिली थी। भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे, अत उन्हे जैनागमो मे "पार्श्वपत्यिक" कहा गया है।[2]

जीवन और काल

तेईसवे तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी के राजा अश्वसेन और उनकी रानी वामा देवी से हुआ था। उन्होने ३० वर्ष की अवस्था मे गृह त्याग कर सम्मेद शिखर पर्वत पर तपस्या कर केवलज्ञान प्राप्त किया। यह पर्वत आज तक पार्श्वनाथ के नाम से प्रसिद्ध है।

भगवान् पार्श्व ने सत्तर वर्ष तक श्रमण-धर्म का प्रचार किया। पार्श्व की तप साधना मे कमठ का प्रसङ्ग बहुत महत्त्वपूर्ण है कमठ के असहनीय उपसर्गों के कारण ही पार्श्वनाथ के तप मे निखार और परिष्कार आया।

जैन पुराणो के अनुसार पार्श्वनाथ का निर्वाण महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व, अर्थात् ई० पू० ५२७ + २५० = ७७७ ई० पू० में हुआ। (डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, प्रथम भाग, पृ० १७-१८)।

'तिलोयपण्णत्ती' के अनुसार भगवान् नेमिनाथ के जन्म काल से ८४ हजार ६५० वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म हुआ—

"पण्णासाधियछस्सयचुलसी-दिसहस्स-वस्सपरिवत्ते।
णेमिजिणुप्पत्तीदो, उप्पत्ती पासणाहस्स॥"

"ति० प० ४।५७६, पृ० २१४"

---

१. The Secred Books of the East, Vol XLV, Introduction, page 21 "The Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable ."

२. आचारांग सूत्र २. भावचूलिका, ३ सूत्र सख्या ४०१ "समणस्स ण भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासिगा होत्था।"

आचार्य गुणचन्द्र और पुष्पदन्त ने (उत्तरपुराण और महापुराण में) भगवान् पार्श्व के पिता का नाम विश्वसेन और माता का नाम ब्राह्मी लिखा है। वादिराज ने 'पार्श्वनाथ चरित्र' में माता का नाम ब्रह्मदत्ता लिखा है। तिलोयपण्णत्ती में पार्श्व की माता का नाम वर्मिला भी दिया गया है। अश्वसेन का पर्यायवाची हयसेन भी मिलता है। गुण, प्रभाव और बोल-चाल की दृष्टि से व्यक्ति के नाम में भिन्नता होना आश्चर्य की बात नहीं है।[1]

वैराग्य और मुनि दीक्षा

संसार में बोध प्राप्त करने वालों की तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं—१ स्वयं बुद्ध, २. प्रत्येक बुद्ध तथा ३ बुद्धबोधित। इनमें तीर्थङ्कर को स्वयबुद्ध कहा गया है।

कुछ आचार्यों ने पार्श्व के वैराग्य में बाह्य कारणों का भी उल्लेख किया है। जैसे 'चउपन्नमहापुरिस-चरिय' के कर्त्ता शीलांक, 'सिरिपासनाहचरिय' के रचयिता देवभद्रसूरि और 'पार्श्वचरित्र' के लेखक भावदेव तथा हेमविजयगणि ने पार्श्व के वैराग्य की उत्पत्ति का कारण, तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवन की घटनाओं से चित्रित भित्तचित्रों का दर्शन बताया है। उत्तर पुराण के अनुसार भगवान ऋषभ के त्याग-तपोमय जीवन की बात सुनकर पार्श्व को जाति स्मरण और पश्चात् वैराग्य उत्पन्न हुआ। पद्मकीर्ति के अनुसार नाग की घटना पार्श्व के वैराग्य का मुख्य कारण है। महापुराण में पुष्पदन्त ने भी नाग की मृत्यु को पार्श्व के वैराग्य का कारण माना है।[2]

किन्तु कुछ आचार्यों ने, जैसे हेमचन्द्र ने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' (९–३) में और वादिराज ने, पार्श्व के वैराग्योत्पत्ति में बाह्यकरण न मानकर उन्हें स्वत ज्ञानभाव से विरक्त बताया है।

साधना और उपसर्ग तथा केवलज्ञान

वाराणसी से विहार करते हुए भगवान शिवपुरी पधारे और वहाँ कौशाम्ब वन में ध्यानस्थ खड़े हो गए।[3] यहाँ पूर्वभव को स्मरण कर धरणेन्द्र आया और धूप से रक्षा करने के लिए भगवान् पर छत्र कर दिया।[4] कहते हैं उसी समय से उस स्थान का नाम 'अहिच्छत्र' हो गया।

सहसा कमठ के जीव ने जो मेघमाली असुर था, प्रभु को ध्यानस्थ खड़े देखा तो पूर्वभव की वैर-स्मृति से वह उनपर बड़ा क्रुद्ध हुआ। अनेक उपसर्ग करने के पश्चात् अन्त में उसने घनघोर मेघ घटा की रचना की और भयंकर गर्जन के साथ वह मूसलाधार वर्षा करने लगा। देखते ही देखते सारा बन-प्रदेश जलमग्न हो गया। नासाग्र तक पानी आ जाने पर भी भगवान् का ध्यान भग नहीं हुआ।[5] ऐसे समय में धरणेन्द्र ने पद्मावती आदि देवियों के साथ वहाँ पहुँचकर प्रभु के चरणों के नीचे दीर्घनाल युक्त कमल की रचना की एव प्रभु के शरीर को सप्तफणा के छत्र से अच्छी तरह ढक दिया। 'चउपन्नमहापुरिसचरियं' में सहस्र फण का उल्लेख है। धरणेन्द्र के क्रुद्ध होने तथा सम्बोधन करने पर मेघमाली ने अपनी माया तत्काल समेट ली, और

---

१. आचार्य हस्तिमल जी महाराज 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' प्रथम भाग, तीर्थङ्कर खण्ड, पृ० २८७।

२ वही, पृ० २९४।

३. "सिवनगराए बहिया, कासबवनं ट्ठियो य पडिमाए।' —पासणाहचरिय ३, पृ० १८७।

४ ' पहुणो उवरिं धरइ छत्त", वही, पृ० १८८।

५ "अवगणियो मेघावसग्गस्स य लग्गा नासियाविवरं जाव सलिलं।"

—चउपण्णमहापुरिस चरिय, पृ० २६७

प्रभु के चरणो मे सविनय क्षमा-याचना कर वह अपने स्थान को चला गया। उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर भगवान् अपनी अखण्ड साधना मे रत रहे।

दिगम्बर परम्परा मे उपसर्गकर्ता का नाम शबर है।

छद्मस्थ अवस्था के चार माह व्यतीत होने के पश्चात् (श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार ८३ रात्रियाँ व्यतीत होने के पश्चात्) प्रभु वाराणसी के निकट आश्रम पर उद्यान मे घातकी वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खडे हो गए। उसी समय चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र मे चन्द्रयोग के काल मे सम्पूर्ण घातिक कर्मों का क्षय होने से भगवान् को केवलज्ञान और केवल दर्शन की उपलब्धि हुई।

इसके पश्चात् भगवान् ने समस्त जीवों के हितार्थ धर्म का उपदेश दिया।

विहार और धर्मप्रचार

भगवान् पार्श्व के द्वारा काशी-कोशल से नेपाल तक, कुरु, अवन्ति, पौण्ड्र, मालव, अग, बग, कलिंग, मगध, पांचाल, विदर्भ, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्णाटक, कोकण, मेवाड, लार, द्राविड, कच्छ, काश्मीर, शाक, पल्लव, वत्स और आभीर आदि क्षेत्रो मे विहार कर धर्मोपदेश देने के उल्लेख, जैन आगमो मे उपलब्ध होते है।

पार्श्वनाथ का चातुर्माास धर्म

भगवान् पार्श्व ने जिस चारित्र-धर्म की शिक्षा दी वह चातुर्याम धर्म के नाम से प्रसिद्ध, जो आगमो मे इस प्रकार निरूपित है—१ *सर्वथा प्राणातिपातविरमण*, २ *सर्वथा मृषावाद विरमण*, ३ *सर्वथा अदत्तादान विरमण*, ४ तथा सर्वथा बहिद्धादानविरमण अर्थात् सर्वपरिग्रह त्याग।

पार्श्व के धर्म मे अन्य व्रतो की तरह ब्रह्मचर्य पालन भी अनिवार्य था जो कि चतुर्थयाम–सवबहिद्धा-दानविरमण के अन्तर्गत था जिसमे स्त्री को भी परिग्रह के अन्तर्गत माना गया है। भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य के महत्त्व को पृथक् स्वीकार करते हुए इसी चातुर्याम धर्म को पचमहाव्रत का स्वरूप प्रदान किया।

पार्श्वापत्यिक परम्परा बुद्ध के समय विद्यमान थी। बौद्ध पिटको मे निर्ग्रन्थ साधु के लिए आया हुआ "चातुर्यामसंवरसवुत्तो" विशेषण हमे पार्श्वनाथ की इसी परम्परा की ओर सकेत करता है।[1]

भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक प्रभाव

भगवान पार्श्वनाथ की वाणी मे करुणा, मधुरता और वैराग्य की त्रिवेणी प्रवाहित होती थी। परिणामत: जन-जन के मन पर उनकी वाणी का मगलकारी प्रभाव पडा।

'पिप्पलाद' जो उस समय के एक मान्य वैदिक ऋषि थे, उनके उपदेशो पर पार्श्व के उपदेशो की प्रतिच्छाया स्पष्ट रूप से झलकती है।[2] पिप्पलाद का मत था कि प्राण या चेतना जब शरीर से पृथक् हो जाती है तब शरीर नष्ट हो जाता है। यह निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ के 'पुद्गलमय शरीर से जीव के पृथक् होने पर विघटन' इस सिद्धान्त की अनुकृति है।

उपनिषद्कालीन, वैदिक ऋषि 'नचिकेता' के विचारो पर भी पार्श्वनाथ की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। वे ज्ञानयज्ञ के पक्षपाती थे। उनकी मान्यता के मुख्य अग थे—इन्द्रिय, निग्रह, ध्यानवृद्धि, आत्मा के अनीश्वर रूप का चिन्तन तथा शरीर और आत्मा का पृथक् बोध।

---

१. दीघनिकाय, सामञ्जफल सुत्त।

२. Cambridge History of India, Part I, page 180

इसी प्रकार "प्राकुध कात्यायन" जो महात्माबुद्ध के पूर्वकालीन हैं तथा जो जाति से ब्राह्मण थे, उनकी विचारधारा पर भी पार्श्व के मन्तव्यों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वे शीतल जल में जीव मानकर उसके उपयोग को धर्म विरुद्ध मानते थे।

भारत के बाहर के देशों पर भी पार्श्व के प्रभाव की झलक दिखाई देती है। ई० पू० ५८० में उत्पन्न यूनानी दार्शनिक 'पाइथागोरस' जो महावीर और बुद्ध के समकालीन थे, जीवात्मा के पुनर्जन्म और कर्म सिद्धान्त में विश्वास करते थे। वे मासाहारी जातियो को हिंसा तथा मासाहार से विरत रहने का उपदेश देते थे।[1]

महात्मा बुद्ध पर पार्श्वमत का प्रभाव

बुद्ध के जीवन दर्शन से यह बात स्पष्ट झलकती है कि उनपर भगवान् पार्श्व के आचार-विचार का गहरा प्रभाव पडा था।

शाक्य देश जो नेपाल की उपत्यका मे है, जहाँ महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था, वहाँ पार्श्वानुयायी सतो का आना-जाना रहता था। बुद्ध के राजघराने पर भी पार्श्व की वाणी का प्रभाव था। बौद्ध त्रिपिटक 'अगुत्तरनिकाय' के 'चतुक्कनिपात' (वग्ग ५) और उसकी अट्ठकथा के अनुसार गौतमबुद्ध के चाचा बप्प शाक्य, पार्श्वमतावलम्बी निर्ग्रन्थ श्रावक थे।

इन सबसे सिद्ध होता है कि बचपन मे बुद्ध के कोमल अन्त करण मे ससार की असारता एव त्याग-वैराग्य के जो अकुर प्रस्फुटित हुए थे उनके बीच भगवान् पार्श्व के उपदेश रहे हों तो कोई आश्चर्य नही।

स्वय बुद्ध, अपनी बुद्धत्व के पहले की तपश्चर्या और चर्या का जो वर्णन करते है, उसके साथ तत्कालीन निर्ग्रन्थ आचार का जब हम मिलान करते है[2], तथा बौद्ध त्रिपिटको मे पाए जाने वाले आचार और तत्त्वज्ञान सबधी पुग्गल, आसव, सवर, उपोसथ, सावक, उवासग आदि पारिभाषिक शब्द जो केवल निर्ग्रन्थ प्रवचन मे ही पाये जाते है—इन सब पर विचार करते है तो ऐसा मानने मे कोई सन्देह नही रह जाता कि बुद्ध ने, भले ही थोडे समय के लिए हो, पार्श्वनाथ की परम्परा को स्वीकार किया था। बौद्ध विद्वान् अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी ने अपनी अन्तिम मराठी पुस्तक "पार्श्वनाथाचा चातुर्याम धर्म" (पृ० २४, २६) मे ऐसी ही मान्यता सूचित की है।

पार्श्वभक्त राजन्यवर्ग

भगवान् पार्श्वनाथ की वाणी का ऐसा प्रभाव था कि बडे-बडे राजा-महाराजा भी उनके उपदेश से प्रभावित हुए बिना न रह सके।

---

१. आचार्य हस्तिमलजी, 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' प्रथम भाग, पृ० ३०८।

२ मज्झिम निकाय के 'महासिंहनादसुत्त' (पृ० ४८-५०) बुद्ध ने अपने प्रारंभिक कठोर तपस्वी जीवन का वर्णन करते हुए तप के चार प्रकार बतलाए है—(१) तपस्विता, (२) रूक्षता, (३) जुगुप्सा और (४) प्रविविक्तता। तपस्विता का अर्थ है—नगे रहना, हाथ में भिक्षा-भोजन करना, सिर-दाढ़ी के बालों को उखाडना आदि। रूक्षता का अर्थ है—स्नान न करना आदि। जुगुप्सा का अर्थ है—जल की बूँद तक पर दया करना और प्रविविक्तता का अर्थ है—वन में अकेले रहना। इनकी तुलना दशवैकालिक अ० ३, ५-१ से कीजिए।

जैन इतिहासज्ञ एवं पुरातत्त्वज्ञ, डॉ० ज्योति प्रसाद जैन के अनुसार भगवान् पार्श्व के समय मे पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न भागो मे अनेक नाग सत्ताए राजतन्त्रों अथवा गणतन्त्रों के रूप में उदित हो चुकी थी। उन लोगो के इष्टदेव पार्श्वनाथ ही प्रतीत होते हैं। उनके अतिरिक्त मध्य एवं पूर्वी देशों के अधिकांश व्रात्य क्षत्रिय भी पार्श्व उपासक थे।

लिच्छवि आदि आठ कुलों में विभाजित वैशाली और विदेह के शक्तिशाली वज्जिगण मे तो पार्श्व का धर्म ही लोकप्रिय धर्म था। कलिंग के राजा शक्तिशाली राजा "करकडु" जो कि एक ऐतिहासिक नरेश थे, तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के ही तीर्थ मे उत्पन्न हुए थे। राजपाट का त्यागकर जैन मुनि के रूप मे उन्होंने तपस्या की और सद्‌गति प्राप्त की, इनके अतिरिक्त पाचाल नरेश, दुर्मुख या द्विमुख, विदर्भ नरेश भीम और गान्धार नरेश नागजित् या नागनि, तीर्थंकर पार्श्व के समसामयिक नरेश थे।[1]

उपसंहार—जैन साहित्य मे भगवान् पार्श्वनाथ

भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन दिगम्बर जैन पुराण साहित्य मे, 'तिसट्ठिसलाकापुरिसचरिय', चउपन्न-महापुरिसचरिय', 'पार्श्वाभ्युदय' आदि काव्य ग्रन्थो मे सामान्यत., तथा आचाराग सूत्रकृताग, स्थानाङ्ग, भगवती, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र आदि श्वेताम्बर जैन आगम साहित्य मे प्रचुरता से प्राप्त होता है।

इनके अतिरिक्त जर्मन भारतविद् डॉ० याकोबी ने 'आचाराग' की प्रस्तावना मे, सिद्धान्तशास्त्री प० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने 'जैन साहित्य का इतिहास—पूर्व पीठिका' मे, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—प्रथम खण्ड' मे, प० सुखलाल जी सघवी ने 'चार तीर्थंकर' मे, आचार्य श्री हस्तिमल जी महाराज ने 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास–प्रथम खण्ड' मे, बौद्ध-मनीषी श्री धर्मानन्द कौशाम्बी ने 'पार्श्वनाथाचा चातुर्यामधर्म' मे, डॉ० हीरालाल जैन ने 'भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान' मे, डॉ० ज्योति प्रसाद जैन ने 'भारतीय इतिहास मे जैनधर्म का योगदान' आदि ग्रन्थो मे पृथक, भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन और उनके व्यापक प्रभाव के सबध मे शोध-खोज की है।

मैंने प्राय: इन्ही ग्रन्थो के आधार पर भगवान् पार्श्व की ऐतिहासिकता, जीवन और उनके अलौकिक अवदान को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है।

वास्तुकला का जीता जागता गढ़—मदनपुर

● पं० विमलकुमार सोंरया, टीकमगढ़

विजयार्ध (विन्ध्याचल)—सरणि में २५-७६ अक्षास और देशान्तर रेखाओ के मध्य उत्तर-प्रदेश के ललितपुर जिले मे दक्षिण पूर्व के कोने मे पू० क्षु० १०५ श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी की पुण्य भूमि व अनेक ख्याति प्राप्त विद्वानो की जन्मभूमि मंदिरो की नगरी मडावरा है। जहां एक छोटे से नगर मे १० विशाल गगनचुम्बी जिनालय एव ९ देवालय अपनी गौरव गरिमा को लिए खडे है, तथा धर्म की निर्मल छाया मे संसार भ्रमित-गतप्त प्राणियो के लिए अक्षय सुख की प्राप्ति के हेतु सकेत रूप मे बुलाते हुए प्रतीत होते है। इन मदिरो के सातिशय दर्शन करने के बाद ऐसी जिज्ञासा का जन्म होता है, कि क्या इसके समीप कोई पुरातन सास्कृतिक भग्नावशेष नही होगे ?

इस जिज्ञासा की परितृप्ति के लिए समीपवर्ती कतिपय खण्डहरो की झलक पर्याप्त होगी—

कलागढ सीरौन

मडावरा से ६ किलोमीटर दूर पूर्व की ओर सीरौन ग्राम मे जहां पर ११वी शताब्दी से १३वी शताब्दी की पुरातन मूर्तियाँ, तोरण द्वार, देवी देवताओ के अवशेष एव अन्य कलात्मक पाषाण खण्ड सहस्रो की मात्रा मे यत्र-तत्र बिखरे पडे है। ये प्राचीन भवन, मन्दिर आदि तत्कालीन इतिहास को अपने अञ्चल मे छिपाये खडे है।

गिरार

मडावरा नगर मे पूर्व उत्तर की ओर लगभग १६ किलोमीटर की दूरी पर जैनकला का दूसरा स्थल गिरार नामक ग्राम है। जहाँ का इतिहास इस बात का साक्षी है कि आज से कोई चन्द वर्षो पूर्व यहाँ जैनो का निवास था। जिसका साक्षी अनपम जिनालय आज भी एकाकी खडा है। और अपने चारो ओर खोज के लिए सकेत करता है।

यहाँ की अतिशयता के विषय मे अनेक ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण कथानक दन्त कथाओ के रूप मे प्रचलित है। जो यहाँ की अपरिमेय अतिशयता को आलोकित किए है। परिणामता यहाँ प्रति वर्ष माघ माह में जैनो का वार्षिक मेला प्राचीन ऋषभदेव के विशाल मदिर के समीप लगता है। आज भी श्रद्धालुजन अतिशय क्षेत्र के रूप मे इसकी वदना कर अपने को धन्य कर रहे है।

मदनपुर

मडावरा ग्राम से दक्षिण की ओर २० कि० मी० दूरी पर मदनपुर नाम का ऐतिहासिक ग्राम है। यह ९वी शताब्दी से बारहवी शताब्दी तक की वास्तुकला का जीता जागता निदर्शन है। इस क्षेत्र मे जहाँ एक ओर पाषाण काल के अवशेष बिखरे है वही दूसरी ओर इस क्षेत्र की भूमि मे अनेक धातुओ के भण्डार भी है। जिनके खनन से आज यह अचल विकसित हो सकेगा।

इस स्थान से ५ मील दूर उत्तर मे सोरई नामक प्राचीन ऐतिहासिक ग्राम है। यहाँ प्राचीन गढ़ी, उन्नत मंदिर आदि के सिवा खान है गत १० वर्षो के लम्बे अनुसन्धान के बाद इस परिणामपर पहुँचे है, कि इस परिक्षेत्र मे विपुल मात्रा मे ताबे व सुवर्ण वस्तु के भण्डार है।

सोरई ग्राम से ५ मील उत्तर की ओर यह कला का पुरातन तीर्थ मदनपुर है जहाँ की ऐतिहासिकता कलात्मकता व प्राचीनता का यथार्थ चित्रण आपके सामने प्रस्तुत कर रहे है।

परिचय

जब इस ग्राम की सीमा मे प्रवेश करते है तो एक विशाल नाला है । जो पश्चिम से पूर्व की ओर बहता है । इसी के पास मे पूर्व की ओर एक शासकीय विश्रामगृह है जो आगे चलने पर दाएँ हाथ की ओर आरक्षी केन्द्र का कार्यालय है । आगे दक्षिण पूर्व को ओर एक प्राचीन तालाब का बांध सामने दिखता है । और उसी से लगे हुए शान्त उत्तुङ्ग पर्वतों के अञ्चल में दो विशाल भवन दिखते है जो आल्हा-ऊदल की बैठक के नाम से ख्यात है ।

यह दोनों भवन पुरातत्व विभाग के अधिकार मे है । मदनपुर ग्राम के पूर्व दक्षिण मे स्थित एक ऊंचे स्थानपर जमीन तल मे १० फुट पत्थरो की कुर्मीपर इनका निर्माण किया गया है । पहले १० खम्भो से युक्त एक चौकोर खुली बैठक है जिसमें दक्षिण उत्तर की ओर लगे पत्थरो पर शिलालेख अङ्कित है । जो अस्पष्टता के कारण आसानी से नही पढ़े जा सके इसके दक्षिण मे लगभग १० फीट की दूरीपर इसी प्रकार का दूसरा भवन बना है जिसमे तीन खण्ड है । मध्य मे पूर्व-पश्चिम की ओर से एक खुला कमरा है जो दक्षिण व उत्तर की ओर बने हुए गृहो से सबधित है १७ फीट चौडे और १३॥ फीट लम्बाई से इन गृहो का निर्माण है प्रत्येक गृह के ऊपर छत्त के रूप मे एक ही पत्थर का उपयोग किया गया है जो कि १३॥ फीट लम्बा ८॥ फीट चौडा और १० इच मोटा है । इस पत्थर पर सुन्दर आकार की पच्चीकारी मे युक्त बेल, फूल व देवी देवता के रूप बने हुए है ।

अगल-बगल के बैठको मे तीन तरफ १० फ़ुट ८ इञ्च ऊँची, २ फुट ८ इञ्च चौडी १० फीट लम्बे बेंचनुमा पत्थर लगे है । इन पत्थरो मे खाचा देकर १ फुट १० इञ्च ऊँची ३ इन्च मोटी और लगभग ५ फीट लम्बे पत्थरों की पीठिका (तकिया) बाहर की दीवालो के समानान्तर लगी है ।

मध्य के गृह के चारो दिशाओ पर तीन-तीन खम्भे खडे है पूर्वदिशा से इन बैठको मे आने के लिए १० सीढियाँ चढनी होती है । इन कमरो के सभी खम्भे विशालकाय और तत्कालीन पाषाण कलाकृति मे अलकृत है प्रत्येक गृह का एक खम्भा एक दूसरे के रूप आकार मे समानता लिए हुए है । बीच के गृह के चारो पायो पर प्रशस्तियाँ अङ्कित है इन भवनो के प्रत्येक पत्थर पर तत्कालीन वास्तुकला के कलात्मक निदर्शन है ।

इन भवनो के चारो तरफ बडे विशालकाय नाना प्रकार की कलाकृति युक्त अनेक पत्थर पडे है जिनको मिला कर ऐसा ही भवन बनाया जा सकता है दूसरे बैठक के पश्चिम मे ३ मूर्तियाँ नृत्य करती हुई अङ्कित है इनके नीचे पूर्व की ओर पत्थर की खान है । सम्भवत इन भवनो मे लगे पत्थर यही से निकाले गये होगे ।

इतिहास

ग्राम मे प्रवेश करते है तो देखते है कि अनेक भवन आज भी अतीत के गीत मूक भाषा मे गा रहे है । ग्राम मे एक सुन्दर वैष्णव मदिर मिलता है इसके बाद दीवान साहब का निवासस्थल है । इनके पूर्वज दीवान प्यारे जू तत्कालीन महाराजा बखतबली सिंह के सेनानी थे । सन् १८५८ का गदर के समय अग्रेजो के कर्नल ह्यूरोज ने शाहगढ नरेश राजा बखतबली सिंह पर इस ओर से आक्रमण किया था । दीवान प्यारेजू के पौत्र दीवान गजराज सिंह प्राचीन पुरपट्टन पर बहुत अनुरक्त है । और समाज को इनके जीर्णोद्धार के लिए प्रेरित करते रहते है ।

जैन मंदिर

मध्य ग्राम मे एक शिखरबन्द विशाल पुरातन जैन मदिर है । यह जीर्ण-शीर्ण हो गया है अन्दर २४ पत्थर के खम्भो पर आधारित पूरे मदिर की छत है मध्य के ६ खम्भो के बीच दीवाले खडी करके मदिर का

गर्भालय बना हुआ है। गर्भालय के ऊपर मंदिर की लगभग ४० फीट ऊँची शिखर बनी हुई है। वेदी प्राचीन है। जिसमे किसी प्रकार का नव निर्माण नही किया गया है। उत्तर में एक द्वार है जिसे बन्द कर दिया है दक्षिण मे एक द्वार है जिसके आगे १० खम्भों की खुली दालान है मंदिर के भीतर परिक्रमा संकीर्ण व अन्धकारमय है मंदिर के आस-पास अनेक खण्डहर भवन है।



मंदिर मे ६ सफेद पत्थर की पद्मासन मूर्तियां है। जिसमे स० १५४८ की एक प्रतिमा पद्मप्रभु की है एक स० १५९५ वैसाख शुक्ला ३ सहस्र फणी पार्श्वनाथ की प्रतिमा है शेष २ सत्रहवी व २ अठारहवी शताब्दी की है। ६ प्रतिभाएँ धातु की है। जिनमे २ सोल्हवी १ सत्रहवी एव ३ अठारहवी शताब्दी की हैं। सभी पर प्रशस्तियाँ अङ्कित है। मदिर मे पूर्ण अव्यवस्था व जीर्ण-शीर्णता के कारण रौनकता नाममात्र की नही है।

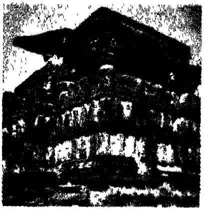
पर्वत मंदिर

(१) पचमढ—आइए पुरातन पाषाणीय भारतीय श्रमण संस्कृति की वास्तुकला का साकार स्वरूप लिए पर्वतीय स्थित उन कला रूपो को दिखाएँ जो साधक की भाँति अपनी साधना मे लीन अडिग हो आपसे अपना सरक्षण पाने के लिए आपका आह्वान कर रहे है।

ग्राम से उत्तर की ओर पर्वत श्रेणी पर लगभग ५०० मीटर की दूरी पर यह स्थान है। जहाँ पर एक चबूतरे पर पाँच मढ (मन्दिर) बने हुए है। चबूतरे के चारो कोने पर चार एव एक बीच मे बना हुआ है प्रत्येक मढ मे एक एक खड्गासन प्रतिमा देशी षाषाण की ५-५ फीट की ऊँची दीवाल से जोडकर खडी की गई हैं। कुछ अज्ञान व्यक्तियों द्वारा उन पर फेके गये पत्थरो के कारण शरीर पर निसान बने हुए हैं। कही-कही पर अगभग भी हो गये हैं। प्रत्येक मूर्तिपर शिलालेख अङ्कित है। २ मूर्तियाँ सम्वत् १३१२ की हैं एक इससे भी प्राचीन है जिसका सम्वत् पढने मे नही आया शेष २ स० १६१८ की हैं। चारो मठा की ऊँचाई १५ फीट व बीच के मढ की ऊँचाई २० फीट हैं। सभी का मुख पूर्व की ओर है।

(२) शान्तिनाथ मन्दिर—जमीन तल से ३ फीट ऊँची आसन पर एक विशालकाय शान्तिनाथ का मन्दिर है। जो आहार क्षेत्रीय पुरातन शान्तिनाथ के एव देवगढ़ की पहाडी पर स्थित शान्तिनाथ मन्दिर की स्मृति कराता है। यह २८ फीट ऊँचा १८ फीट लम्बा व ११ फीट चौड़ा है मन्दिर की शिखर मे एक सुन्दर कोठरी है मदिर से लगा हुआ मूल द्वार के सामने १३ वर्गफुट का एक चबूतरा है जिस पर पत्थर के पायों पर बरामदानुमा बना हुआ है मदिर का मुख पश्चिम की तरफ पचमढो की ओर है। मदिर मे प्रवेश करने

के लिए ८ फुट ऊँचा ४ फुट चौडा द्वार है द्वार के ऊपरी भाग मे एक पद्मासन मूर्ति बैठी हुई है। इस द्वार से प्रवेश कर ४।। फुट गहरे मंदिर का गर्भालय बना है। उसमें ३ मूर्तियाँ खड्गासन ध्यानस्थ मुद्रा में अष्ट प्रातिहार्य युक्त खडी है। मध्य मे १० फुट उत्तुग भगवान् शान्ति प्रभु की खण्डित प्रतिमा है जो सं० १२ सौ की है मध्य मूर्ति के दायें बायें ७ फीट उत्तुग क्रमशः (संभवतः) महावीर व अरहनाथ की मूर्तियाँ हैं। गर्भालय फर्स अत्यन्त छिन्न भिन्न हो गया है इसमें दो विशालकाय मूर्तियों के धड पड़े हुए हैं। और इनके सिर बाहर पडे हुए हैं। एक २।। वर्गफुट की चौमुखी मेरु गर्भालय में रखी है मन्दिर के उत्तर की ओर बाहर एक पत्थर पडा है जिस पर १-१ फुट की १५ मूर्तियाँ बनी हैं। इस मंदिर से कोई ३०० मीटर की दूरी पर एक खण्डित मढ व आगे पर्वत पर चम्पोमढ है।



(३) *खण्डित मढ*—*यह मढ आज भी अपनी खण्डित अवस्था मे पडा हुआ है*। इसके अन्दर स्थित ७० फीट उत्तुग खडी मूर्ति आज भी टीले मे घुटनो तक दबी हुई खडी है। जो अपनी अडिग साधना की सफलता पर जीवन प्राणियों को मनोमुग्ध कर ससार की अनित्यता पर अपना विरागी रूप लिए सबोधित कर रही है। टीले मे दबी होने के कारण इसकी प्रशस्ति को नही पढा जा सका।

(४) चम्पो मढ—खण्डित मढ मे उत्तर की ओर कोई दो फर्लांग आगे चम्पो मढ मिलता है। यह मढ पुरातन कला युक्त मन्दिर है जो ११ वी शताब्दी की वास्तु कला का नमूना है। इस मढ के समीप जाने के लिए बीहड जंगल की झाड-झाडियो के बीच मे होकर जाना पडता है। इस मढ के चारो ओर पत्थर व कटावदार तोरण द्वार मूर्तियो के अवशेष पडे हैं। इस मढ की कुर्सी जमीन तल से ४ फीट ऊँची है। मढ के आगे चार विशाल पायों पर खुली पत्थर की दालान है। और इसके अलावा नाना तरह के देवी देवताओं, पशु पक्षियो, देव विमानों और मूर्तियो तथा तत्कालीन शैली के कलात्मक कटाओ से युक्त एक विशाल भव्याकर्षक पत्थर का तोरण द्वार बना है। द्वार के ऊपरी हिस्से पर यक्ष यक्षिणी व उनके अनेक देवी देवताओ की मूर्तियाँ अंकित हैं। नीचे ३ पद्मासन जिन भगवान् की मूर्तियाँ है उनके तोरण द्वार के दोनो तरफ आस-पास मे रास नृत्य करती हुई देवी-देवियाँ व नीचे दोनो ओर ३-३ इन्द्र बने हैं देहरी पर ४ दृश्य ऐसे हैं जिनमें हाथी सिह के युद्ध का रूप दर्शाया गया है। इसका मुख पूर्व की ओर है। तोरण द्वार से अन्दर की ओर ४।। फुट नीचे गर्भालय की जमीन है जिसमे ४ जीना लगे हुए हैं अष्ट प्रातिहार्य युक्त ३ मूर्तियाँ खडी है। बीच मे ७ फीट ७ इंच की भ० शान्तिनाथ की मूर्ति खडी है जिसका १ फुट ८ इन्च का भव्य कलात्मक आसन है

उसके नीचे १ वर्ग फुट की प्रशस्ति शिलालेख है। शिलालेख से स्पष्ट है कि इसकी प्रतिष्ठा फाल्गुन सुदी १० सम्वत् १२०४ को हुई थी। इसके दाँए-बाँए ७ ७ फीट की वर्द्धमान स्वामी की प्रतिमाएँ हैं। इनके चरणों के समीप २॥-२॥ फीट के ६ इन्द्र खडे है जो चमर ढोरते दीखते हैं। मूर्तियो के हाथ खण्डित है। मूर्तियो के ऊपर दीवाल मे २॥ वर्ग फीट की पद्मासन दो मूर्तियाँ लाल पत्थर मे चस्मा है। इस मढ के तीन कोनो पर पत्थरो के टीले पडे है जो इस बात के प्रतीक है कि यहाँ और मढ है जो धराशयी होकर टीले के रूप मे परिवर्तित हो गए है।

चम्पो मढ के दक्षिण का ओर एक अद्ध भग्नावशेष दूसरा मढ है जिसमे शान्ति, कुन्थ, अरह की मनोज्ञ देशी पत्थर की प्रतिमाएँ खडी है तीनो पर प्रशस्तियाँ है। मध्य की मूर्ति ८ फीट ऊँची शेष दो ५॥ फीट ऊँची है। दोनो के हाथ टूटे है। मढ का छत धराशायी हो जाने से बाहर से मूर्तियाँ अर्द्ध वदन के साथ दिखाई देती है। इसके चारो तरफ मात्र ८॥ फीट दीवाले खडी है। मढ का गर्भालय ६ फुट चौडा व ६॥ फुट लम्बा है प्रवेश द्वार यथावत् खडा है जो आकार प्रकार मे ४॥ × ३॥ है यह दोनो मढ पर्वत श्रेणी के तल से ४ फुट ऊचे टीले पर निर्मित है। मढ के चारो तरफ बीहड जगल खडा है। इस मढ से लगे हुए जगली चम्पो पुष्प के पुरातन वृक्ष आज भी सैकडो वर्षों मे खडे हुए धर्म की पावन आध्यात्मिक सुगन्ध मे अपनी भौतिक सुगन्ध को सम्मिलित कर अपने को धन्य कर रहे है। इसी सन्दर्भ से इस मढ की सज्ञा चम्पोमढ के नाम से अभिभूत हुई है। इस मढ की वास्तविक सज्ञा क्या रही होगी? इसकी पुष्टि हमारा ऐतिहासिक अन्वेषण बतायेगा।

पुरपट्टन

चम्पा मढ के उत्तर पूर्व की ओर अत्यन्त घने जगल के बीच लगभग २ फर्लांग आगे अनेक भवनोके खण्डहर मौजूद है जिन्हे 'पुरपट्टन' नाम से कहा जाता है। कथा इस प्रकार है—राजा मदनसेन इस नगर के ख्याति प्राप्त राजा थे। जिनकी आमोती-दामोती नामकी अत्यन्त रूपवती रानियाँ थी। कहा जाता है कि पाटन नगर मे ३६५ कोरी जुलाहे रहते थे। जो अत्यन्त कुशल वस्त्र निर्माता थे। वर्ष मे एक कोरी दो साडियाँ तैयार करता था और दोनो रानिया प्रतिदिन एक एक साडी पहिनतीं फिर गरीबो को दूसरे दिन दान कर देती थी। इन कोरी परिवारो की आजीविका का निर्वाह राज्य की ओर से होता था।

अक्षम प्रतिष्ठा और महानतम प्रतिभा के कारण बुन्देलखण्ड मे राजा मदनसेन और रानी आमोती-दामोती को इतनी लोकप्रियता बढी कि इनके नाम को बुन्देलखण्ड के घर-घर मे आदर के साथ पूजा जाने लगा।

प्रतिवर्ष क्वार वदी अष्टमी के दिन महालक्ष्मी पूजन के समय पाटनपुर के राजा-रानियो का मगल स्मरण कर नाम लिया जाता है। जो इस प्रकार है—"आमोती दामोती रानी पुरपट्टन गाँव मदनसेन से राजा बम्मन-बरुआ कहे कहानी सुनो हो महालक्ष्मी देवी रानी हमसे कहते तुमसे सुनते सोला बोल की एक कहानी"।

सम्भवत पुरपट्टन के उजड जाने पर मदनसेन राजा की स्मृति मे १७ वी शताब्दी के बाद नीचे वाली बस्ती का नाम मदनपुर पडा। किन्तु पाटनपुर नगर की सस्कृति, सभ्यता और धार्मिक परम्परा के प्रतीक भग्नावशेष आज की अक्षय खडे है।

मोदी-मढ—पाटनपुर के दक्षिण की ओर चम्पोमढ से कोई दो फर्लांग की दूरी पर यह मोदीमढ है। इसका मुख्य द्वार पूर्व की ओर है इसकी शिखर जीर्ण-शीर्ण व खण्डहर अवस्था मे है अन्दर गर्भालय का फर्श

नखड़ा हुआ पड़ा है। मदिर के आगे कोई छायाबान नही है मढ की दीवाल ५॥ फुट चौड़ी है और इसकी ऊँचाई लगभग २५ फुट है इसके अन्दर ३ मूर्तियाँ है। मध्य मे शान्तिनाथ की ७ फुट उत्तु ग एव दाएँ-बाएँ कुन्थनाथ और अरहनाथ स्वामी की प्रतिमाएँ है तीनों पर शिलालेख अंकित हैं जिन पर फाल्गुन सुदी ४ सं० १६८८ अंकित है। इसका मुख्य द्वार ६॥ फुट ऊँचा और ४ फुट चौड़ा है।

इसके चारो तरफ ४ मढ होने के अवशेष टीले के रूप मे खड़े है। दाये वाला मढ धराशायी हो गया है परन्तु भगवान् ऋषभदेव की ८ फुट उत्तुंग खड्गासन मूर्ति एक वृक्ष की जड के आधार से झुकी हुई खडी है सैकडो वर्षों की वर्षा और धूप के कारण इस पर कालख व काई जम गई है फिर भी मूर्ति सर्वांग सुन्दर है। शेष तीन स्थानों की मूर्तियो के चिह्न नही है। सम्भव है इन स्थानो की मूर्तियाँ इन मढो के साथ धराशायी दबी पडी हो।

पाटन नगर का कलामय कूप

मोदीमढ के नीचे पूर्व की ओर एक सुन्दर बावरी है। जो विशालतम कटावदार गोलार्द्ध पत्थरो से बनी हुई है। कहा जाता है कि जब भी इस नगर मे कोई धार्मिक कार्य श्री सम्पन्न हुए और ऐसे शुभ कार्यो के लिए जितने भी बर्तनो की आवश्यकता प्रतीत हुई तो इस बावरी के तट पर धर्म श्रद्धालु जन अपनी आवश्यकता को दुहराते थे। और तत्काल इच्छित वस्तु प्राप्त कर भावना की साकारता फलीभूत करते थे। पूर्व परम्परा के अनुसार आज भी इस बावरी को समीपवर्ती सर्व समाज 'बाजना बावरी' के नाम से सबोधित करती है।

इस बावरी के भरे हुए जल मे पत्थर आदि डालने से ऐसी ध्वनि सुनने मे आती है जैसे किसी जल से पूर्व वर्तन पर किसी पत्थर की चोट की गई हो। जन समाज की धारणा है कि इस बाजना बावरी पर एक ऐसा धर्मालु देवता है जो धार्मिक व्यक्तियो की सदैव सहायता करता है।

इसी बावरी के समीप नीचे एक खेत मे किसी तीर्थंकर की विशालतम खण्डित मूर्ति पडी है। स्थानीय जन समाज उस मूर्ति को 'दाना देवता' एव उस खेत को 'दाने का खेत' कहते है। बुन्देलखण्ड मे "दाना" उस प्रेत को कहते हैं। जो अपने विविध प्रकार के स्वागो से मनुष्य को भयावह कर प्राणान्त कर देता है।

भारतीय संस्कृति के अचल में धर्म के प्रतीक अवशेष

यद्यपि जैन सस्कृति की अविच्छन्न धारा इस क्षेत्र मे यत्र-तत्र अपना अस्तित्व लिए तो बिखरी ही पडी है साथ ही वैष्णव, शैव सस्कृति की धार्मिक परम्परा को पुष्ट करने वाले पुरातन अवशेष इस क्षेत्र मे अपनी विपुलता लिए हुये पाये गये है।

एक ओर मोदीमढ के पूर्व मे लगभग ५०० मीटर की दूरी पर स्थित बलयामढ जहाँ शकर भगवान् की खण्डित नदिया के साथ मूर्तियो के अवशेष प्राचीन भारतीय सस्कृति की धार्मिक परम्परा को लिए वास्तु-कला का आस्वादन करा रहे है तो दूसरी ओर मोदीमढ के समीप जगल के स्थान मे प्राप्त खण्डित भक्त हनुमान जी के पौरुषेय शरीर की विशाल मूर्ति यहाँ की भक्ति भावना का प्रमाणिक इतिहास प्रस्तुत कर रही है।

अनेको मूर्तियो के खण्डित अवशेषों देवी-देवताओ के टूटे हुए प्रस्तर खण्डो एव कलामय मूर्तियो तोरण द्वारो का यह भण्डार भारतीय पुरातन सस्कृति की धार्मिक परम्परा का ज्वलन्त उदाहरण है।

वीरांगनाओं के वीरत्व का बलिदान कुण्ड

बीरान पुरपट्टन नगर के मध्य जहाँ नगर सीमा के प्रतीक पत्थरो से निर्मित ध्वस्त परकोटे एक ओर अपनी सुन्दर नगरी का दिग्दर्शन करा रहे हैं, तो दूसरी ओर बना हुआ जौहर कुण्ड भारतीय वीरांगनाओं के शील आचरण और पति भक्ति की उत्कृष्ट पवित्र भावनाओं को दुहरा रहा है। यह जौहर कुण्ड आज भी अपने रक्तिम रूप को लिए हुए बीहड जगल के बीच आततायियो एवं आक्रमणकारी विध्वंसक दुश्मनो से अपनी रक्षा करने वाली भारतीय नारियो के जोहर का पवित्र इतिहास मूक भाषा मे निनादित कर रहा है। हम देखते हैं कि इस सातिशय कुण्ड भूमि पर आज तक घास भी अपना अस्तित्व बना पाने मे अपने को समर्थ नही पा सका। ऐसे पुरातन ऐतिहासिक स्थल का दर्शन कर आज भी दर्शक के दो अश्रुबिन्दु उस भूमि पर गिर कर धर्म सस्कृति की रक्षा मे हुई शहीद आत्माओ के साथ एक-मेक होने मे धन्यता का अनुभव कर लेते है।

श्रमण सस्कृति के प्रतीक कला निधियो का अर्जन

कलातीर्थ मदनपुर के ध्वस्त मदिर, भग्नावशेष मे खण्डहर, इस सत्य के साक्षी है कि यहाँ पर पाषाणीय कला की अभूतपूर्व सामग्री इनमे भरी पडी हैं क्योकि इस तीर्थ के विकास के निमित्त किए जाने वाले प्रथम वार्षिक मेले के शुभारभ पर जब मात्र घनी झाडियो को काटकर आवागमन हेतु मार्ग बनाए जा रहे थे तब यत्र-तत्र पडी छोटी मूर्तियो के खण्डित सिर अन्य देवी देवताओ के अङ्ग भग, जैन मूर्तियो के पावन चरण प्राप्त हुए लगता है यदि इन मदिरो के टीलो, खण्डहरो को खोदा गया तो ना मालूम कितनी उपलब्धियाँ इनसे प्राप्त होगी। और हमारा यह कलागढ कितने देवगढो की तुलना मे अपने को धन्य कर श्रमण सस्कृति के पावन इतिहास को प्रमाणित कर सकने मे समर्थ हो सकेगा।

आल्हा ऊदल पीठिका

आरम्भ मे मदनपुर परिचय अर्न्तगत जिन दो भवनो का वर्णन किया गया है यथार्थता यह भवन श्रमण सस्कृति के प्रतीक हैं। वर्तमान मे तो इन दोनो को "आल्हा ऊदल के बैठका" के नाम से पुकारा जाता है। आल्हा ऊदल बुन्देलखण्ड के उन ऐतिहासिक वीरो मे शिरोमणि हुए है जिनकी मगल गाथा जिनके वीरत्व शौर्य घर-घर मे बडे चाव से आज भी शताब्दियो बाद पढा जाता है। कहा जाता है कि इन्ही दोनो वीरो ने अपने हाथो से इन विशाल पत्थरो को उठाकर इन बैठको का निर्माण किया था। जो इस शान्ति निर्जन स्थल मे इन बैठको मे बैठकर अपने भाई उदल के साथ युद्ध सघर्ष की योजनाएं बनाया करते थे।

लेखक के मतानुसार यह दोनो भवन जिन चैत्यालय की दृष्टि से निर्मित किये गये हैं। क्योकि खजुराहो के जैनमंदिरो मे ११वी १२वी शताब्दी जो मन्दिरो के बीच चैत्यालय बने है वह आकार प्रकार में इन की तुलना रखते हैं। साथ ही इनमे चैत्यालय के ऐसे आकार बनाये गये हैं जो लेखक की बात को प्रमाण पुष्टि की दृष्टि से प्रमाणित करते हैं।

इन मूर्तियो एव यहाँ की प्राचीन पाषाणीय कला पर पथिक जब अपनी दृष्टि डालता है तो उसे प्रतीत होता है कि एक ओर यह कलात्मक निधियाँ जो अपनी तत्कालीन कला संस्कृति को लज्जा की भाँति आज भी संजोये हुए है मानव के लिए अपना स्वरूप दिखाना चाहती है तो दूसरी ओर इनमें खड़ी मूर्तियाँ अपने दीर्घ विध्वस का स्वरूप साधना मे सजोये जीवो के कल्याण के लिए जन प्रकाश में आना चाहती हैं। मूक भाषा मे उनके सदेश उस निर्जन वन मे अब तक जिन्होने सुने ना मालूम कि वह कैसे मौन रहे है। उनकी गौरव गाथा के यह सन्देश उस निर्जन बन मे जहाँ वन्य पशु अपनी-अपनी भाषा मे दुहरा रहे है तो दूसरी

और मानव का अन्तस विवेकहीन हो इनके साथ अब तक निर्दयता का परिचय देता आ रहा है। अन्यथा भारतीय श्रमण संस्कृति का यह कला तीर्थंकर आज भारत का जीता जागता पुण्यतीर्थ होता। जो विश्व को अपनी कला के द्वारा आकृष्ट कर भारत की महान सस्कृति का निनाद उनके अन्तस मे पहुँचा कर 'सत्य शिव सुन्दरं' का मूल मंत्र साकार करता।

अतिशयता के आलोक में

१. बात सन् १९६६ की है ग्राम गुलगज (छतरपुर) निवासी श्री गुलाबचन्द्र जी जैन अपने अशुभ कर्मों के कारण पागल अवस्था मे इस तीर्थ पर बिना प्रयोजन घूमते हुए पहुँचे। उस समय मदनपुर ग्राम के किसी हरिजन परिवार मे शादी सम्पन्न का समारोह था। श्री गुलाब चन्द्र जी उस हरिजन परिवार में विवेक शून्यता बस लिया दिया सा भोजन कर पागल अवस्था मे ही ग्राम की गलियो मे घूमते हुए पचमढ़ी स्थित श्री शान्तिप्रभु के चरणो मे जहाँ के मन्दिर मे शाति और शून्य वातावरण अपने स्वभाव मे प्रवर्त रहा था पहुँचे। अकारण श्री शान्तिनाथ के मन्दिर में प्रवेश करते ही अचानक एक अभूतपूर्व प्रकाश मिला, चेतना मिली !! विवेक मिला !! और स्वप्नवत सा आश्चर्य भी दिखाया वह हतप्रभ सा खडा हुआ सोचता है—मैं कहाँ हूँ। कैसा हूँ !! कैसे यहाँ तक आया हूँ ? क्या है ? आदि उठ रही अनेक भ्रातियो के निवारणार्थ उसने अपने आप पर विचार किया और शातिप्रभु को नमन कर वापिस विवेक और स्वस्थ स्थिर चित्त हो अपनी पावन जन्म भूमि की ओर लौट पडा। ग्राम सोरई तक आने पर उसने जैन समाज के साथ तत्कालीन अध्यापक श्री टीकमचन्द्र जी जैन से निवेदन किया कि मै दुर्भाग्यवश पागल अवस्था मे भटकता हुआ मदनपुर पहुँच गया था। और अकारण ही जब शातिनाथ मन्दिर में गया तो मेरा सम्पूर्ण पागलपन पलायमान हो गया। और मुझे अपने विवेकपूर्ण जीवन की सुखद उपलब्धि हुई है। हमारी भावना है कि मैं अब उस प्रभु के चरणो मे कुछ समय पूजन भक्ति करूँ। अतः स्थानीय समाज एवं मास्टर सा० के सहयोग से भाई गुलाबचन्द्र जी के लिए यथोचित पूजन द्रव्य, भोजन, वस्त्र की व्यवस्था कर उन्हे उनकी भावना की साकारता की पूर्ति का योग दिला दिया गया।

(२) शेषई ग्राम मे हुए गजरथ महोत्सव के कुछ माह पूर्व एक दिन सायकाल के समय मदनपुर मे जीप, कार के साथ कुछ व्यक्ति इस क्षेत्र पर आए और अपनी कार के साथ उस पर्वतश्रेणी पर बढते गये। जहाँ कला के प्रतीक यह मन्दिर धर्म की निर्मल छाया मे स्थिर खडे है उसी समय भाग्यवश पत्थर की खान से दिमान गजराज सिंह जी उन्ही मन्दिरो की तरफ से ग्राम की ओर आ रहे थे। उन्होने मन्दिरो की ओर जाती हुई कार को रोक कर उसमे बैठे हुए व्यक्तियो से पूछा आप लोग यहाँ कहाँ जा रहे है। प्रति उत्तर से ज्ञात हुआ कि जैनो के मन्दिरो के दर्शनार्थ वह जा रहे है। दिमान सा० ने नम्रतापूर्वक कहा चूँकि मन्दिरो की दूरी अधिक नही है और जीप कार का उन मन्दिरो तक पहुँचना सम्भव नही है। अतः आप यही गाडी रोककर पैदल ही दर्शन कर आये अगर आप उन मन्दिरो तक पहुँचने मे अज्ञानता अनुभव करते है तो मैं भी आपके साथ चल सकता हूँ परन्तु उन व्यक्तियो के चर्चित वातावरण से ऐसा प्रतीत हुआ कि वह मूर्ति दर्शक नही अपितु मूर्ति भजक है। और अपनी दुर्भावनाओ की साकारता के निमित्त आए हुए हैं।

परिणामत बात यहाँ तक बढ़ी कि दिमान सा० को बन्दूक के बल पर गाड़ी रोकनी पड़ी और उन मूर्ति भंजकों को खाली हाथ पराजित होकर विवशता में लौटना पडा।

(३) सबसे महत्त्वपूर्ण अतिशय इस तीर्थ का यही है कि जैनों के अभाव में भी इसका संरक्षण होता आया। जब से इस तीर्थ के उद्धार का प्रयत्न चालू किया गया आज तक अनेकों आपत्तियो के बावजूद कोई भी महत्वपूर्ण कार्य रुकने नही पाए। और बिना ठोस अर्थ आधार के क्षेत्र अपनी प्रगति के पथ पर अग्रसर होता रहा।

(४) वर्ष १९७४ से चम्पो मठ के समीप एक सम्भावित गुफा मन्दिर है जो पार्श्ववर्ती अवस्थित शान्तिनाथ, कुन्थनाथ, अरहनाथ के समीप है। लोगो का विश्वास है कि यहाँ जो व्यक्ति एकान्त मे आकर अपनी मनोकामना व्यक्त करता हुआ तीर्थ रक्षा हेतु अपनी सद्भावनाये व्यक्त करता है उसकी मनोकामना अवश्यमेव फलीभूत होती है पचासो व्यक्ति इस बात की साक्षी के साथ पुष्टि करते हुए इस मन्दिर की सातिशयता की पुष्टि करते है।

'अकाल' का अर्थ 'समयपूर्व' ही है

● प्रो० रतनचन्द्र जैन, भोपाल

जयपुर तत्त्वचर्चा तथा क्रमबद्धपर्याय ग्रन्थों में 'अकाल' शब्द की जो व्याख्या की गई है वह सर्वथा असमीचीन ही है।

तत्त्वार्थसूत्र में अकालमृत्यु का निर्देश है[1] और प्रवचनसार की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने अनेक नयों से आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—

"कालनय से आत्मा के कार्यों की सिद्धि समय पर ही होती है जैसे ग्रीष्मकाल की स्वाभाविक गर्मी से डाल पर पकने वाला आम समय पर ही पकता है। अकालनय से आत्मा के कार्यों की सिद्धि समय के पूर्व (सामान्य रूप से जितना समय लगना चाहिए उससे पूर्व) अर्थात् काललब्धि के पूर्व भी हो जाती है, जैसे भूसे आदि की कृत्रिम गर्मी से पकाने पर आम समय से पूर्व (डाल पर पकने में जितना समय लग सकता है उससे पूर्व) पक जाता है।[2]

इन दोनो कथनो मे काल का अर्थ है—'नियत समय' और अकाल का अर्थ है—'नियत समय से पूर्व'। अत. इन वक्तव्यो से प्रत्येक कार्य के क्रम का नियत होना सिद्ध नही होता, कुछ कार्य अनियत-क्रम भी सिद्ध होते हैं। किन्तु उपर्युक्त ग्रन्थों के सम्पादक एव लेखक पर्यायो की क्रमबद्धता (क्रम के नियत होने) में विश्वास करते हैं। अतः इन वक्तव्यों से उनकी मान्यता खडित होती है। फलस्वरूप उन्होने 'अकाल' शब्द की अन्यथा व्याख्या कर उसके अर्थ को बदलने का प्रयत्न किया है।

'क्रमबद्धपर्याय' के लेखक पृष्ठ १०१ पर लिखते है—

"जिन शब्दो मे 'अ' लगाकर निषेधवाचक बनाया जाता है, उनमें 'अकाल' भी एक शब्द है, जिसका अर्थ समय से पहले न होकर काल से भिन्न कोई अन्य कारण होता है। क्योंकि इस प्रकरण में 'काल' शब्द का प्रयोग एक कारण के अर्थ में हुआ है।"

"मृत्युरूपी कार्य होने मे अनेक कारण होते हैं, उनमे काल भी एक कारण है। कथन मे अनेक कारण तो एक साथ आ नही सकते, अतः किसी एक कारण को मुख्य करके कथन होता है। जब काल को मुख्य करके कथन होता है तब उसे कालमृत्यु कहते हैं और जब काल मुख्यकारण रूप से दिखाई न दे और काल से भिन्न विषभक्षणादि कोई अन्य कारण मुख्य दिखाई दे तो उसे अकालमरण कहेंगे। अकालमृत्यु की परिभाषा में कहा भी गया है कि विषभक्षणादि के द्वारा होने वाली मृत्यु को अकालमृत्यु कहते हैं।"[3]

"इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि 'अकाल' शब्द असमय का सूचक न होकर काल के अतिरिक्त अन्य कारणों का द्योतक है।[4] इस प्रकार अकालमृत्यु असमय की सूचक न होकर काल के अतिरिक्त मुख्य

---

१. तत्त्वार्थसूत्र २।५३।

२. "कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः।
अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः।"

—प्रवचनसार। परिशिष्ट, पृष्ठ ३३९।

३. क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ १०१।

४. वही।

रूप से अन्य कारणों से होने वाली मृत्यु की सूचक है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अकालमृत्यु के कथन से क्रमबद्ध पर्याय की मान्यता में कोई अन्तर नहीं पड़ता।"[1]

'अकाल' शब्द की यह व्याख्या करते हुए लेखक ने भट्ट अकलंक देव, आचार्य विद्यानन्दि, भगवती आराधनाकार आदि मनीषियों की अवहेलना की है। इन मनीषियों ने स्पष्ट रूप से अकाल मृत्यु को नियत समय से पूर्व होने वाली मृत्यु ही कहा है। भट्ट अकलंक देव राजवार्तिक में लिखते हैं—

"यथावधारितपाककालात् प्राक् सोपायोपक्रमे सत्याम्रफलादीनां दृष्टः पाकस्तथा परिच्छिन्न-मरणकालात् प्रागुदीरणाप्रत्यय आयुषो भवत्यपवर्तः।"[2]

अर्थात् जैसे पयाल आदि मे रखने से आम अपने निर्धारित समय से पूर्व पक जाता है वैसे ही उदीरणा के कारणों से निर्धारित मरणकाल से पूर्व भी आयु का अपवर्त (ह्रास) हो जाता है।

यहाँ "अवधारितपाककालात् प्राक्' (निर्धारित पाककाल के पूर्व) तथा 'परिच्छिन्नमरणकालात् प्राक्' (नियतमरणकाल से पूर्व) इन शब्दो से एकदम स्पष्ट है कि अकाल का अर्थ 'नियतसमय से पूर्व' ही है।

आचार्य विद्यानन्दि का श्लोकवार्तिक मे कथन है—"न हि अप्राप्तकालस्य मरणाभावः खड्गप्रहार-दिभिर्मरणस्य दर्शनात।"[3]

अर्थात् जिसके मरण का निर्धारित समय नही आया है उसकी मृत्यु नही हो सकती ऐसा नहीं है, क्योंकि खड्गप्रहार आदि से मरण देखा जाता है।

यहाँ भी 'अप्राप्तकाल' शब्द से स्पष्ट होता है कि 'अकाल' का अर्थ 'निर्धारितकाल से पहले ही है।

विभिन्न उपायो द्वारा आयुकर्म की उदीरणा करके (अपक्व कर्मों को पका कर)[4] आयु को निर्धारित समय के पूर्व ही पूर्ण कर दिया जाता है। इससे निर्धारित समय के पहले ही मृत्यु हो जाती है। इसे ही अकाल मृत्यु कहते हैं। अतः अकालमृत्यु से निर्धारित समय के पूर्व मृत्यु होना ही तो अर्थ निकलता है। इसे भट्ट अकलंक देव ने पयाल आदि के द्वारा आम को समय के पूर्व पका लेने के दृष्टान्त से तो स्पष्ट किया ही है, गीले वस्त्र के दृष्टान्त से और भी अच्छी तरह समझाया है। जैसे गीले वस्त्र को इकट्ठा करके रखा जाय तो वह अधिक समय मे सूखता है, किन्तु फैला दिया जाय तो शीघ्र सूख जाता है। इसी प्रकार उदीरणा के निमित्तो से आयुकर्म की उदीरणा होकर समय के पूर्व ही आयु पूर्ण हो जाती है।[5]

अकालमृत्युः : अकाले मृत्यु :

लेखक का यह कथन कितना मनमाना है कि 'अकाल' का अर्थ है 'काल' (मृत्यु के निर्धारित काल) को छोडकर मृत्यु का कोई अन्य कारण। अतः अकालमृत्यु का तात्पर्य है 'काल' को छोडकर किसी अन्य

---

१. क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ १०२।

२. तत्त्वार्थराजवार्तिक २।५३।

३. श्लोकवार्तिक ५।२ (जै० सि० को० ३।२९६)।

४ (क) उदीरणा नाम अपक्वपाचनम्! —पचसग्रह। प्राकृत। टीका, ३ (जै० सि० को० १।४३५)।

(ख) 'कर्म के उदय की भाँति उदीरणा भी कर्मफल की व्यक्तता का नाम है। परन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि किन्ही क्रियाओ या अनुष्ठानविशेषो के द्वारा कर्म को अपने समय से पहले पका लिया जाता है या अपकर्षण द्वारा अपने काल से पहले ही उदय मे ले आया जाता है।

—जैनेन्द्र सिद्धान्तकोष १।४३५।

५. राजवार्तिक २।५३।

कारण (विषभक्षणादि) से होने वाली मृत्यु।'[1] इस कथन का मनमानापन इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि आगम मे अकालमृत्यु का समासविग्रह अकाले मृत्यु' (असमय मे होने वाली मृत्यु) किया गया है, न कि 'अकालेन मृत्युः' (कालभिन्न कारण से होने वाली मृत्यु)। पूज्यपाद स्वामी के निम्नलिखित वचन इसमें प्रमाण हैं—

'छेदनभेदनादिभिः शक्लीकृतमूर्तीनामपि तेषा न मरणमकाले भवति।"[2]

छेदनभेदन आदि के द्वारा शरीर के टुकडे टुकडे हो जाने पर नारकियो का अकाल में मरण नही होता। क्योंकि उनकी आयु अपवर्त्य है।

यहाँ 'मरणम् अकाले न भवति' इन वचनो से प्रमाणित है कि अकालमृत्यु का समासविग्रह 'अकाले मृत्यु.' ही है। यदि काल से भिन्न किसी अन्य कारण से होने वाली मृत्यु को अकालमृत्यु कहा जाता तो 'अकालेन (कालभिन्नकारणेन) मृत्युः' यह समासविग्रह होता है। इस तथ्य पर विचार किये बिना ही लेखक ने अकालमृत्यु का उपर्युक्त अर्थ कर डाला।

अकाल का अर्थ कालभिन्न कारण क्यो ?

'अकाल' शब्द से 'मृत्यु का कालभिन्न कारण' अर्थ क्यो ग्राह्य है ? इसका कारण बतलाते हुए क्रमबद्धपर्याय के लेखक कहते हैं कि इस प्रकरण (अकालमृत्यु के प्रकरण) मे 'काल' शब्द का प्रयोग 'मृत्यु के कारण' अर्थ मे हुआ है। मृत्यु के अनेक कारण होते है। काल भी एक कारण है। अत जब काल को मृत्यु का कारण बतलाया जाता है तब 'कालमरण' कहते हैं और जब काल से भिन्न कारण द्वारा मृत्यु का होना बतलाया जाता है तब अकालमरण कहते है।

किन्तु 'अकालमरण' के 'अकालेमरणम्' इस समासविग्रह से स्पष्ट हो चुका है कि 'अकाल' शब्द का अर्थ कालभिन्न कारण नही है अपितु 'समय से पूर्व' है। 'कालमरण' उसका प्रतिपक्षी है अत उसका अर्थ 'कालेमरणम्' (नियत समय पर मरण) ही हो सकता है, 'कालेन कालरूपकारणेन मरणम्' (कालरूप कारण से मरण) नही। अत यह कथन तर्कसगत नही है कि इस प्रकरण मे 'काल' शब्द का प्रयोग कारण के अर्थ मे हुआ है, इसलिए 'अकाल' शब्द कालभिन्न कारण अर्थ का द्योतक है।

विषभक्षणादिमरण संज्ञा क्यों नही ?

थोडी देर के लिये यह मान भी लिया जाय कि 'काल' शब्द का प्रयोग मृत्यु के कारण के अर्थ मे हुआ है, अत जब कालरूप कारण से मृत्यु बतलानी होती है तब कालमरण कहा जाता है तब प्रश्न है कि ठीक इसी प्रकार विषभक्षणादि कालभिन्न कारणो से मरण बतलाने के लिये विषभक्षणादि-मरण क्यो नही कहा जाता ? अकालमरण क्यो कहा जाता है ? इससे तो कोई मरण के वास्तविक कारण को समझ भी नही सकता ? आखिर अकालमरण कहने से प्रयोजन ही क्या सिद्ध हुआ ? कालरूप कारण को तो सीधे नाम लेकर कहा जाय और अन्य कारणो को काल के निषेध द्वारा लक्षित किया जाय उनका नाम न लिया जाय इससे किस प्रयोजन की सिद्धि होती है ? इसका कोई समाधान नही है। अत. सिद्ध है कि लेखक ने 'अकाल' शब्द का जो अर्थ बतलाया है वह नितान्त असंगत है। 'अकाल' का अर्थ 'समय के पूर्व' ही है।

---

१. क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ १०१ (पूर्वोद्धृत)।

२ सर्वार्थसिद्धि ३।५।

न नियतः कालः अकालः

नञ् तत्पुरुष समास में दो प्रकार का निषेध होता है, (१) अतद् में तद् का निषेध और (२) तद् का निषेध ।

'न जैनः इति अजैनः (जो जैन नही है वह व्यक्ति) यहाँ अजैन में जैनत्व का निषेध अतद् में तद् का निषेध है । किन्तु 'न हिंसा इति अहिंसा' (हिंसा का अभाव) यहाँ हिंसा का निषेध तद का निषेध है । जिस नञ्समाज में अतद् मे तद् का निषेध होता है वह विशेषण होता है अतः वह निषिद्ध पदार्थ से भिन्न पदार्थों को अभिहित करता हे । जैसे 'अजैन' शब्द विशेषण है अत उससे जैनो से भिन्न सभी मानवसमुदायो का कथन होता है । किन्तु जिसमें तद् का ही निषेध होता है वह विशेषण न होकर सज्ञा होता है । अतः वह केवल निषिद्ध पदार्थ के अभाव को ही सकेतित करता है । जैसे 'अहिंसा' सज्ञा है अत उससे केवल हिंसा के अभाव का ही प्रतिपादन होता है, हिंसा से भिन्न अन्य पापो का कथन नही होता ।

'अकाल' पद द्वितीय प्रकार का नञ् समास है । क्योकि अकालमृत्यु या अकालनय के प्रकरण मे 'काल' का अर्थ है—नियतकाल । 'अकाल' नञ् समास मे उसका ही निषेध है, अत॰ 'अकाल' मे तद् का ही निषेध है, अतद् मे तद् का नही । फलस्वरूप वह सज्ञा है, विशेषण नही । यह 'न मरणमकाले भवति' इस वचन से भी प्रमाणित है । अत॰ 'अकाल' शब्द से नियतकाल के अभाव का ही कथन होता है, कालेतर कारण सूचित नही होते ।

यदि 'अकाल' पद से काल-भिन्न कारण विवक्षित माने जायें तो 'अहिंसा' पद से हिंसा भिन्न असत्यादि पाप तथा 'अपरिग्रह' पद से परिग्रह-भिन्न हिंसादि पाप विवक्षित मानने होगे । इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि 'क्रमबद्धपर्याय' के लेखक महोदय ने 'अकाल' पद की जो व्याख्या की है वह सिद्धान्त को कितना उलट-पुलट कर देती है ।

उपर्युक्त प्रमाणो और युक्तियो से सिद्ध है कि अकालमृत्यु मे आया 'अकाल' शब्द 'समय से पूर्व' अर्थ का ही वाचक है मृत्यु के कालेतर कारण का वाचक नही है ।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह भी सिद्ध है कि मृत्यु नियतकाल से पूर्व भी हो सकती है और इस तथ्य से पर्यायो की क्रमबद्धता के सिद्धान्त पर आँच आती है । यद्यपि केवलज्ञान के आधार पर अकालमृत्यु का काल भी नियत सिद्ध होता है, पर बात तो आगम के वचनो की है । आगम मे जो कहा गया है उसके अनुसार क्रमबद्धता खण्डित होती ही है । इसे श्रुतज्ञान का विषय कहकर असत्य भी नही ठहराया जा सकता क्योकि श्रुतज्ञान केवलज्ञान पर ही आधारित है । श्रुतज्ञान के विषय को अन्यथा सिद्ध करने पर सर्वज्ञ का समस्त उपदेश अप्रामाणिक हो जायेगा ।

अस्तु, यहाँ यह निर्णय करना मेरा उद्देश्य नही है कि पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं या नही, मात्र इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना प्रयोजन है कि पर्यायो की क्रमबद्धता सिद्ध करने के लिये विद्वानो ने आगम के उन वचनो की जिनसे पर्यायो की क्रमबद्धता खंडित होती है, कितनी मनमानी व्याख्या की है ।

अकालनय मे भी 'अकाल' का अर्थ नियतकाल के पूर्व

अकालनय मे भी 'अकाल' शब्द 'नियतकाल के पूर्व' अर्थ रखता है, किन्तु क्रमबद्धपर्यायवादी विद्वानो ने यहाँ भी उसका 'नियतकालपूर्व' वाचकत्व असिद्ध करने के लिये उसकी मनमानी व्याख्या की है ।

आचार्य अमृतचन्द्र जी ने स्पष्ट कहा है कि कृत्रिम गर्मी देने से आम समय के पूर्व पक जाता है । कोई भी व्यक्ति इसी के आधार पर नि सकोच कह सकता है कि कृत्रिम गर्मी देने से आम समय के पूर्व पक

जाता है। फिर भी क्रमबद्धपर्याय के लेखक पूछते हैं कि "आप कैसे कह सकते हैं कि वह समय के पूर्व पक जाता है ? हो सकता है कृत्रिम गर्मी देने से जब वह पकता है वही उसके पकने का समय हो।"[1] वस्तुत. यह आचार्य अमृतचन्द्र जी के ही वचनों पर प्रश्नचिह्न है। उनके कहने का तात्पर्य यही है कि आचार्य अमृतचन्द्र जी कैसे कह सकते हैं आम समय के पूर्व पक जाता है ?

प्रश्न उठता है कि जब कृत्रिम गर्मी देने से आम समय के पूर्व पकता नही है तो आचार्य अमृतचंद्र ने ऐसा कहा क्यो ? क्या वे वस्तु स्वरूप को जानते नही थे या ऐसा कहकर जिज्ञासुओ के साथ छल किया है ? इसका समाधान उक्त विद्वान् बडे मनोरंजक शब्दो मे करते है। कहते है आचार्य अमृतचन्द्रजी ने तो ठीक ही कहा है पर उसका अर्थ आप नही समझे।[2] वे उसका अर्थ समझाते है। जिसका निष्कर्ष निकलता है कि 'कृत्रिम गर्मी देने से आम समय के पूर्व पक जाता है इसका अर्थ यह है कि वह किसी भी प्रकार समय के पूर्व नही पकता। समय पर ही पकता है।'

वे कहते हैं आचार्य अमृतचन्द्र जी ने अकालनय से अकाल मे आम का पकना बतलाया है। अकालनय में आया 'अकाल' शब्द 'समय से पूर्व' अर्थ का वाचक नही है, अपितु कालेतर कारणो का वाचक है। कोई भी कार्य नियति, स्वभाव, कर्म (निमित्त), पुरुषार्थ और काल (काललब्धि या कार्य होने के नियतकाल की प्राप्ति) इन पाँच कारणो से सिद्ध होता है। इनमे काल नामक कारण 'काल' शब्द से अभिहित होता ह और काल से भिन्न शेष चार कारण 'अकाल' शब्द के द्योतित होते है,[3] जैसे अजीव शब्द से जीव-भिन्न पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल लक्षित होते है या 'अजैन' शब्द स सभी जैनेतर वर्गो का बोध होता है।[4] अतः अकालनय से अकाल मे आम के पकने का तात्पर्य है काल को छोडकर शेष चार कारणो से आम का पकना।[5]

यह व्याख्या कितनी अनर्गल है यह निम्नलिखित विश्लेषण से स्पष्ट हो जायेगा।

समयानायत्तसिद्धि कालेतर कारणो के अधीन नही

आचार्य अमृतचन्द्र जी ने कालनय से आम का पकना नियत समय के अधीन (समयायत्तसिद्धि) बतलाया है और अकालनय से पकने के कार्य का नियतसमय के अधीन न होना बतलाया है (समयानायत्तसिद्धि)। इस प्रकार अकालनय से आम मे जो धर्म बतलाया गया है वह है पकने के कार्य का नियतसमय के अधीन न होना जिसका तात्पर्य है नियमसमय के पूर्व पक जाना। यह तात्पर्य कृत्रिम ऊष्मा के द्वारा पकाये जाने के सन्दर्भ से पुष्ट होता है। भट्ट अकलकदेव के "यथा अवधारित पाककालात् प्राक् सोपायोपक्रमे सत्याम्रफलादीना दृष्टः पाकस्तथा[6] (जैसे कृत्रिम उपाय करने पर आमफल निर्धारित काल के पूर्व पक जाता है) इन शब्दो से भी इसका समर्थन होता है।

अकालनय द्वारा निरूपित यह समयपूर्व कार्य होने का धर्म नियति, स्वभाव आदि कालेतर कारणो के अधीन नही है, जैसे नियत समय पर ही कार्य होने का धर्म उनके अधीन नही है, काल के अधीन है। उनके

१. क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ ११०।
२. वही।
३. क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ १०९-१११।
४. वही, पृष्ठ ११२।
५. वही, पृष्ठ ११०
६. रा० वा० २।५३ (कोश ३।२९६)।

अधीन तो अपना-अपना कार्य है। जैसे नियति के अधीन योग्यतानुरूप कार्य की ही उत्पत्ति है, स्वभाव के अधीन योग्यता का कार्यरूप मे परिणत होना ही है। निमित्त के अधीन कार्योत्पत्ति मे अनुकूलता रूप व्यापार मात्र है और पुरुषार्थ के अधीन केवल बुद्धिपूर्वक क्रिया करना है। समयपूर्व कार्य होना तो वस्तु के इसी धर्म का वर्णन आचार्य अमृतचन्द्र जी ने आत्मा के धर्मा का निरूपण करते समय 'समयानायत्तसिद्धिः'[1] शब्द से किया है और इसी को उन्होने अकालनय से निरूपित किया है। अतः सिद्ध है कि 'अकाल' शब्द से नियति आदि कालेतर कारण विवक्षित नही है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि काल के बिना भी कार्य की सिद्धि हो जाने से पचकारणसमवाय द्वारा प्रत्येक कार्य के होने का नियम उल्लघित होता है। समाधान यह है कि पचकारणसमवाय से प्रत्येक कार्य होने का एकान्त नही है। अनेक कार्य किसी कारण के अभाव मे भी होने का आगम मे उल्लेख है। उदाहरणार्थ स्त्रियो का मायाचार और केवलियो की स्थान, आसन, विहार और धर्मोपदेशक्रियाये बिना पुरुषार्थ (बुद्धिपूर्वक प्रत्यन) के होती है।[2] कर्मों का तीव्रोदय होने पर ज्ञानी आत्मा का जो विभाव रूप परिणमन होता है वह पुरुषार्थ सभव न होने की स्थिति मे ही होता है।[3] दैववशात् होने वाला कार्य भी बुद्धिपूर्वक चेष्टा से रहित होता है।[4] इसी प्रकार निमित्त के बिना भी अनेक कार्य होते है। आत्मा का वीतरागभावरूप परिणमन तभी होता है जब कर्मोदय होने पर भी वह उससे प्रभावित न हो। इसी प्रकार नियतकाल की प्राप्ति के बिना भी कार्य होता है। अत जैसे अनेकान्त भी अनेकान्त है उसी प्रकार पचकारण-समवाय से कार्य होने का नियम भी अनेकान्त है। जैसे किसी एक ही कारण से कार्यसिद्धि मानना एकान्तवाद है वैसे ही प्रत्येक कार्य की सभी कारणो से सिद्धि मानना भी एकान्तवाद है।

कालेतर कारणो मे समयपूर्व कार्यसाधकत्व का प्रसंग

यदि 'अकाल' शब्द से कालेतर कारण विवक्षित माने जॉय तो उनमे समय से पूर्व कार्य उत्पन्न करने का धर्म मानना होगा क्योकि अकालनय से उसी धर्म का प्रतिपादन किया गया है। यदि यह कहा जाय कि 'समय-अनायत्त-सिद्धि' का तात्पर्य यह नही है कि कार्य की सिद्धि समय के पूर्व हो जाती है, अपितु यह है कि कार्य की सिद्धि केवल समय के अधीन नही है, अपितु अन्य कारणो के भी अधीन है, तो यह सगत नही है, क्योंकि वहाँ जो कृत्रिम गर्मी से समय के पूर्व आम पक जाने का दृष्टान्त दिया गया है उससे स्पष्ट है कि 'समय-अनायत्त-सिद्धि' का तात्पर्य समय के पूर्व कार्य सिद्ध हो जाना ही है।

'अकाल' शब्द अतद् मे तद् का निषेधक नही

पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है कि 'अकाल' शब्द अतद् मे तद् का निषेधक नही है, अपितु तद् का निषेधक है, क्योकि वह कार्य की नियतकालाधीनता का निषेध करता है, न कि कालेतर कारणो मे कालत्व का।

---

१. प्रवचनसार। परिशिष्ट।

२. 'यथा हि महिलाना प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनागुण्ठितो व्यवहारः प्रवर्तते तथा हि केवलिना प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्थानमासनं विहरणं धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते . अबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते।"

—प्रवचनसार। तत्त्वप्रदीपिका १।४४

३. मोक्षमार्गप्रकाशक ९।३१४।

४. आप्तमीमासा, ९१।

यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि कालनय आम का पकना नियतकाल के अधीन बतलाता है किन्तु अकालनय कृत्रिम ऊष्मा से पकाये जाने की स्थिति में उसके अधीन बतलाता है। अतः जैसा पूर्व मे बतलाया गया है, असद् मे तद् का निषेध न कर तद्-मात्र का निषेध करने से 'अकाल' पद संज्ञा है, विशेषण नही। अत वह 'अहिंसा' पद के समान निषिद्ध पदार्थ के अभाव अर्थात् नियतकाल के अभाव का वाचक है। 'अजीव' और 'अजैन' शब्दों के समान निषिद्ध पदार्थ से भिन्न पदार्थों का वाचक नही है। निष्कर्षत. उसमे काल-भिन्न नियति आदि शेष चार कारण सूचित नही हो सकते।

नय एक ही अपेक्षा पर आश्रित

अनेकान्तसिद्धान्त के अनुसार एक नय एक ही अपेक्षा से वस्तुधर्म का कथन करता है, अनेक अपेक्षाओं से नही। अनेक अपेक्षाओ से अनेक धर्म वस्तु मे होते है, उनका एक साथ कथन नही किया जा सकता। इसलिये अकालनय द्वारा नियति, स्वभाव, कर्म एव पुरुषार्थ इन चार कारणो की अपेक्षा चार कर्मों का सामूहिक रूप से कथन सभव नही है। क्रमबद्धपर्याय के लेखक स्वय इस तथ्य को स्वीकार करते है। वे कहते हैं—

"मृत्युरूपी कार्य होने के अनेक कारण होते है, उनमें काल भी एक कारण है। कथन मे अनेक कारण तो एक साथ आ नही सकते। अत. किसी एक कारण को मुख्य करके कथन होता है। जब काल को मुख्य करके कथन होता है तब उसे कालमृत्यु कहते है और जब काल मुख्यकारणरूप से दिखाई न दे और काल से भिन्न विषभक्षणादि कोई अन्य कारण मुख्य दिखाई दे तो उसे अकालमरण कहेंगे।"[1]

इस तथ्य को जानते हुये भी उक्त विद्वान् अकालनय को कालभिन्न चार कारणो की मुख्यता (अपेक्षा) से कथन करने वाला प्रतिपादित करते हैं। कितना अन्तर्विरोध है उनके प्रतिपादन मे, कितनी सिद्धान्तविरुद्ध हैं उनकी व्याख्यायें।

कालेतर कारणों से किस एक धर्म का प्रतिपादन ?

एक नय से एक ही धर्म का प्रतिपादन होता है, जैसे कालनय से कार्य के नियतकालाधीन होने का एक धर्म प्रतिपादित होता है। अकालनय मे यदि चार कारण गर्भित माने जाँय तो कारणचतुष्टयात्मक अकालनय से किस एक धर्म का निरूपण होगा? क्या कोई ऐसा एक धर्म है जो चारो कारणो मे परस्पर साधारण हो और काल से असाधारण हो? ऐसा एक ही धर्म हो सकता है—कार्य का नियतकाल के अधीन न होना। इसी के कारण उनकी काल के साथ असाधारणता हो सकती है। पर यह धर्म उन चारो मे है नही। यदि कहा जाय कि अकालनय से कार्य के कालाधीन न होने का एक धर्म प्रतिपादित होता है तो यह सगत नही है, क्योंकि जब अकालनय कालेतर चार कारणो की अपेक्षा कथन करता है तो उसके द्वारा एक साथ निम्नलिखित चार धर्मों का प्रतिपादित होना सिद्ध होता है—(१) कार्य के नियति-अधीन होने का धर्म, (२) कार्य के स्वभावाधीन होने का धर्म, (३) कार्य के निमित्ताधीन होने का धर्म और (४) कार्य के पुरुषार्थाधीन होने का धर्म। इस प्रकार अकालनय द्वारा मुख्य रूप से एक धर्म का प्रतिपादन न होने से वह नय नही रहता और पाँचों कारणो की अपेक्षा पाँचो धर्मों का युगपत् प्रतिपादन न होने से प्रमाणकोटि का भी स्पर्श नही कर पाता। इस दोष का प्रसग उपस्थित होने से सिद्ध है कि अकालनय के अन्तर्गत 'अकाल' शब्द कालेतर कारणो का वाचक नही है, अपितु 'समय के पूर्व' अर्थ का ही वाचक है।

---

१. क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ १०१।

नये के द्वारा धर्म का नाम निर्देशपूर्वक कथन

नय तो वस्तु मे जो धर्म होता है उसी धर्म का नाम लेकर प्रतिपादन करते है और जो धर्म नही होता उसका नाम लेकर निषेध करते हैं। किसी भी धर्म को किसी अन्य धर्म के निषेध द्वारा प्रतीत नही कराया जाता। न तो इससे निरूप्यमाण धर्म का स्पष्टरूप से बोध होता है, न इस प्रकार प्रतीत कराने का कोई प्रयोजन है। उलटे भ्रम उत्पन्न होने के कारण इमसे हानि है। मान लीजिये कालेतर कारणों का बोध काल का निषेध कर अकाल शब्द द्वारा कराया जाय, नियति-भिन्न कारणो का बोध नियति का निषेध कर 'अनियति' शब्द द्वारा कराया जाय, पुरुषार्थ से भिन्न कारणो का प्रतिपादन पुरुषार्थ का निषेध कर 'अपुरुषार्थ 'शब्द द्वारा किया जाय तो जिज्ञासु की दशा क्या होगी ? जिसका बोध कराया जाना है क्या उसे वह सरलता से ग्रहण कर सकेगा ? इस प्रकार के प्रयोग उसके लिये पहेलियो के अतिरिक्त और क्या सिद्ध होगे ? फिर जब नियति, पुरुषार्थ, स्वभाव आदि का सहजरूप से कथन हो सकता है तो असहज मार्ग अपनाने की क्या आवश्यकता ? पैरो से चलकर ही जब सरलतापूर्वक पहुँचा जा सकता है तो शीर्ष के बल चलकर जाना क्या बुद्धिमत्ता होगी ?

यदि 'अकाल' का तात्पर्य कालेतर समवाय है तो आचार्य अमृतचन्द्र जी ने ऐसा क्यो नही कहा कि 'कालेतरसयवायनयेन कालेतरसमवायायत्तसिद्धिः। ऐसा स्पष्ट कहने मे क्या बाधा थी ? सभी धर्मों को स्पष्ट रूप से कहा, केवल इसी को अस्पष्ट क्यो बना दिया ?

क्रमबद्धपर्याय के लेखक कहते है 'काल को छोडकर शेष चार समवायो को एक नाम से कहना था तो अकाल के सिवाय और क्या कहा जा सकता था ? (पृष्ठ १११)।

किन्तु प्रश्न है कि चार समवायो (? कारणो) को एक नाम से कहने की आवश्यकता ही क्या है ? दूसरे, लेखक महोदय स्वीकार करते है कि नयात्मक कथन मे अनेक कारण एक साथ नही कहे जा सकते। तब कालेतर शेष कारणो को एक नाम से कहने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? तीसरे, यदि एक नाम से कहना ही था तो इसके लिये 'कालेतरसमवाय' यह सर्वाधिक और एकमात्र उपयुक्त शब्द था। इससे प्रतिपाद्य का का स्पष्ट बोध होता है। इसका प्रयोग किया जा सकता था। 'अकाल' शब्द से तो कालेतर कारणो का बोध होने की बजाय मात्र भ्रान्ति उत्पन्न होती है।

काल का ही पृथक् ग्रहण क्यो ?

एक प्रश्न यह है कि काल को ही शेष कारणो से अलग कहने का और शेष कारणो को ही काल से अलग कर एक साथ कहने का क्या प्रयोजन है ? किसी अन्य कारण को अलग और काल आदि शेष कारणो को एक साथ क्यो नही कहा गया ? इस प्रश्न का कोई समाधान नही है। इसलिए यह कथन निराधार है कि 'अकाल' शब्द कालेतर कारणो का वाचक है।

प्रवचनसार मे प्रत्येक अपेक्षा से अलग-अलग वर्णन

प्रवचनसार के अन्त मे जहाँ आचार्य अमृतचन्द्रजी ने कालनय और अकालनय से आत्मद्रव्य का वर्णन किया है वहाँ विभिन्न अपेक्षा समुदायों की प्रत्येक अपेक्षा से अलग-अलग आत्मस्वरूप का निरूपण किया है। जैसे नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपो में से प्रत्येक की अपेक्षा अलग-अलग प्रतिपादन किया गया है। तब कारणसमुदाय के कालेतर चार कारणों की अपेक्षा एक अकाल शब्द द्वारा एक साथ वर्णन का क्या प्रयोजन है ? पर यह तो एक तर्क है। वस्तुतः आचार्य जी ने काल के अतिरिक्त, पुरुषकार (पुरुषार्थ),

देव। (नियति या भवितव्यता[1]) तथा ईश्वर (निमित्त)[2] की अपेक्षा भी आत्मद्रव्य का अलग-अलग वर्णन किया है। अतः अकालनय द्वारा उनके युगपत् वर्णन की आवश्यकता नहीं है।

कालेतर कारण काल के प्रतिपक्षी नहीं

आचार्य अमृतचन्द्र जी ने प्रवचनसार के उक्त स्थल पर नियतिनय-अनियतिनय, स्वभावनय-अस्वभावनय, कालनय-अकालनय, पुरुषकारनय-दैवनय, ईश्वरनय-अनीश्वरनय इस प्रकार पक्ष-प्रतिपक्षभूत नयो की अपेक्षा वर्णन किया है। काल का अर्थ काललब्धि या कार्य होने का नियतकाल है। इसका प्रतिपक्षी नियतकाल का अभाव ही हो सकता है। नियति, स्वभाव आदि अन्य कारण तो काललब्धि से भिन्नधर्मी हैं, विरुद्ध-धर्मी नही। अत वे उसके प्रतिपक्षी नही हो सकते। फलस्वरूप 'अकाल' शब्द से कालेतर कारण विवक्षित मानने पर कालनय और अकालनय मे पक्ष-प्रतिपक्षिता घटित नही होती। उसे नियतकाल के अभाव का वाचक मानने पर ही घटित होता है। अतः 'अकाल' शब्द कालेतर कारणों का वाचक कथचित् भी सिद्ध नही होता।

प्रतिपक्षीनय विरुद्ध धर्म का प्रतिपादक

प्रतिपक्षीनय पक्षभूत नय के विषय का कथचित् निषेधक है और तद्विपरीत अर्थ का प्रतिपादक है, जैसे अनियतिनय नियतिनय की विषयभूत नियतस्वभावभासिता का निषेध करता है और अनियतस्वभावभासिता का प्रतिपादन करता ह। इसी प्रकार समय मे ही कार्य का सिद्ध होना कालनय का विषय है। अकालनय उसका कथंचित् निषेध करता है और कथचित् समय से पूर्व कार्य सिद्ध होने का प्रतिपादन करता है। अतः अकालनय से समय के पूर्व कार्य सिद्ध होना ही प्रतिपादित होता है।

काल-अकाल नय परस्पर सापेक्ष

पक्ष-प्रतिपक्षभूत होने से कालनय और अकालनय परस्परसापेक्ष है। परस्पर सापेक्ष नयो मे एक नय से जो धर्म प्रतिपादित होता है, दूसरे नय से उसके विपरीत धर्म का प्रतिपादन अपने आप फलित होता है। इसमे आचार्य जयसेन के वचन प्रमाण है। वे कहते हैं—

"शुद्ध निश्चयनय से जीव अकर्ता, अभोक्ता तथा क्रोधादिभावो से भिन्न है ऐसा कथन करने पर दूसरे पक्ष मे वह व्यवहारनय से कर्ता, भोक्ता तथा क्रोधादि भावो से अभिन्न है यह आशय बिना कहे ही फलित होता है, जैसे 'यह देवदत्त दायी आँख से देखता है' ऐसा कहने पर 'बाँयी आँख से नही देखता है, यह बिना कहे ही सिद्ध होता है, क्योंकि निश्चयनय और व्यवहारनय परस्पर सापेक्ष हैं।[3]"

कालनय और अकालनय भी परस्परसापेक्ष है। अत जब यह प्रतिपादित किया जाता है कि कालनय से आत्मा के कार्य की सिद्धि समय के अधीन है तब यह अर्थ अपने आप निकलता है कि अकालनय से आत्मा के कार्य की सिद्धि समय के अधीन नही है, अर्थात् कार्य होने मे सामान्यत जो समय अपेक्षित है, उसके पूर्व भी वह हो सकता है।

---

१. (क) 'योग्यता कर्मपूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टम्' —अष्टशती, (जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश २।६१७)।
   (ख) जैनतत्त्वमीमासा, पृष्ठ ६५, अशोक प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, वीरनिर्माण सवत् २४८६।

२. जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश २।६१८।

३. समयसार। तात्पर्यवृत्ति ११३-११५।

नय वस्तुधर्म पर आधारित

नय तो वस्तुधर्मों पर आधारित है। वस्तु में अकाल में (नियत समय से पूर्व)[1] भी कार्य सिद्ध हो जाने का धर्म है। इसलिए उसके आधार पर अकालनय बनता है और उसकी अपेक्षा से ही आचार्य अमृतचन्द्र जी ने आत्मा के कार्य की अकाल मे सिद्धि होने का कथन किया है। आचार्य देव ने प्रवचनसार के अन्त में जितने भी नयो से आत्मद्रव्य का वर्णन किया है उतने धर्म आत्मा मे विद्यमान हैं। यह उनके निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है—'एवमनया दिशा प्रत्येकमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयैर्निरूप्यमाणम् "आत्मद्रव्यम्।'[2] (इस प्रकार अलग-अलग अनन्त धर्मों मे व्यापक अनन्त नयो से निरूप्यमाण आत्मद्रव्य" एकान्त और अनेकान्त उभयरूप है।)

असंगत वाक्यों से असंगत अर्थ का प्रतिपादन

आगम के कथनो को क्रमबद्धपर्यायवाद के साँचे में ढालने के लिये 'क्रमबद्धपर्याय' के लेखक महोदय ने केवल शब्दो की ही मनमानी व्याख्याये नही की है, जिस चाहे वाक्य मे जो चाहे अर्थ प्रतिपादित करने का भी प्रयत्न किया है। वे अर्थ को प्रकट करने के लिये व्याकरण-सगत वाक्यरचना आवश्यक नही मानते। उनकी व्याख्या से सिद्ध होता है कि अर्थ कुछ प्रकट करना होता है, उसके लिये वाक्य किसी और अर्थ को प्रकट करने वाला प्रयुक्त किया जाता है। जैसे उनके अनुसार 'कालनय से स्वकाल मे कार्य होता है और अकालनय से कालभिन्न कारणो के द्वारा कार्य होता है,[3] इस अर्थ को व्यक्त करने के लिये 'कालनय से स्वकाल मे कार्य होता है और अकालनय से अकाल मे'[4] इस वाक्य का प्रयोग किया जाता है।

यहाँ 'कालभिन्न कारणो के द्वारा कार्य होता है' यह अर्थ 'अकाल मे कार्य होता है' इस वाक्य से प्रतिपन्न माना गया है। किन्तु व्याकरण के अनुसार इस वाक्य से यह अर्थ किसी भी प्रकार प्रतिपादित नही होता, क्योकि अकाल मे सप्तमी विभक्ति है और 'कालभिन्न कारणो के द्वारा' करण कारक है। 'अकाल' को यदि कालभिन्न कारणो का वाचक मान भी लिया जाय तो भी सप्तमी विभक्ति के द्वारा करण कारक का अर्थ व्यक्त नही हो सकता। उसके लिये तृतीया विभक्ति का प्रयोग करना होगा और 'कालनय से स्वकाल' मे कार्य होता है तथा अकालनय से अकाल या अकालो (कालभिन्न कारणो) के द्वारा कार्य होता है 'ऐसी वाक्यरचना करने पर ही विवक्षित अर्थ प्रकट हो सकता है। 'अकाल मे होता है' इस कथन से तो व्याकरण के आधार पर कोई भी यही समझेगा कि काल के पूर्व कार्य होता है।

आगम मे कही भी ऐसे असगत प्रयोग नही मिलते। यह लेखक महोदय की अपनी देन है। लेखक महोदय की व्याख्या के अनुसार सारे जैनशास्त्रो की भाषा ऐसे असगत प्रयोगो से परिपूर्ण ठहरती है। इस

---

१. 'नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि।
अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि।'

—प्रवचनसार। परिशिष्ट, पृष्ठ ३३९।

२. वही, पृष्ठ ३४१।

३. 'अकालनय की अपेक्षा अकाल अर्थात् काल से भिन्न अन्य कारणो से पका कहा गया।'

—क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ ११०।

४. "उसी प्रकार जिस कार्य की उत्पत्ति मे काल को छोडकर पुरुषार्थादि अन्य समवाय प्रमुख दिखाई देते हैं, उसे अकालनय का विषय कहते है तथा जिसमे काल की प्रमुखता दिखाई देती है उसे कालनय का विषय कहा जाता है। इसी को इस प्रकार व्यक्त किया जाता है कि कालनय से स्वकाल मे कार्य होता है और अकालनय से अकाल में।" —क्रमबद्धपर्याय, पृ० १०९।

स्थिति में कोई भी व्यक्ति व्याकरणशास्त्र पर आधारित अपने भाषा ज्ञान के द्वारा उन्हें समझ ही नही सकता लेखक ने शब्दों की असंगत व्याख्याये कर और आगम की भाषा को असगत सिद्ध कर जैनसिद्धान्त को कितना दुरूह बनाया है यह ध्यान देने की बात है। इतना दुरूह अन्य किसी ने अपने सिद्धान्त को नहीं बनाया।

उपर्युक्त विश्लेषण से प्रकट होता है कि पूर्व निर्दिष्ट ग्रन्थो मे 'अकाल' शब्द का जो अर्थ किया गया है वह कितना आगमविरुद्ध, युक्तिविरुद्ध और व्याकरणविरुद्ध है। 'अकाल' शब्द 'समय से पूर्व' अर्थ का ही वाचक है, न कि कार्य के कालेतरकारणो का। यह बात अलग है कि यह अर्थ क्रमबद्धपर्याय-सिद्धान्त के विरुद्ध बैठता है। पर किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन आगमवचनो को आगमानुकूल एव युक्तिसगत व्याख्या करके ही किया जाना चाहिए। आगमवचनो की मनमानी व्याख्या करने से प्रयोजन सिद्ध नही हो सकता, उलटे सर्वज्ञ की वाणी का अनर्थ हो जाता है।

भक्तामर स्तोत्र में प्रतीक योजना

● डॉ० शेखर चन्द्र जैन, भावनगर

भक्तामर स्तोत्र जैनधर्म के चारो आम्नायो मे मान्य एवं सर्वाधिक प्रचलित आराधना स्तोत्र है। इनमे भी सविशेष दिगबर व श्वेताबर सम्प्रदाय के मूर्ति पूजको में इसका प्रचलन या मान्यता अधिक है। भक्तामर स्तोत्र को जैन स्तोत्र साहित्य मे ही नही, अपितु सस्कृत साहित्य मे भी अद्वितीय स्थान प्राप्त है। आराध्य के गुण, सौन्दर्य एवं अतिशय (महिमा) का त्रिवेणी संगम उसमे अक्षत रूप से प्रवाहित हुआ है। भाषा का सौन्दर्य पदलालित्य अलकारो की छटा एक ही स्थान पर समायोजित है। इस कलापक्ष के सौन्दर्य का रहस्य भी कवि के हृदय पक्ष की विह्वलता के कारण ही है। आराध्य की भक्ति, आराध्य के गुणकथन मे तन्मय भक्तकवि मानतुंगाचार्य मानो स्वय आदिनाथमय बन गये है। भक्त एवं आराध्य के बीच अद्वैत की स्थापना हो जाती है और वे भावविभोर बन जाते हैं। यह अत्यत अवर्णनीय ह। ऐसी भक्ति की चरमसीमा पर स्थित भक्त के अन्तर से जो उद्गार प्रस्फुटित होते हैं वे अत्यत मुग्ध करने वाले ही होते है।

इस स्तोत्र की महिमा एव अतिशयता रिद्धि-सिद्धि के हेतु भी प्रसिद्ध है। धार्मिक दृष्टि से ऐसे स्तोत्र का पाठ एव साधना साधक को शाति, सुख एव समृद्धि प्रदान करता है। इस हेतु से भी इस स्तोत्र की महत्ता में वृद्धि हुई है।

इस लेख मे मेरा उद्देश्य अतिशयो की महत्ता सिद्ध करना नही है, अपितु इसमे कवि ने जिन प्रतीको की प्रस्तुति की है—प्रतीको के माध्यय से जिन कथ्यो को प्रस्तुत किया है तत्सबधी अपने विचार प्रस्तुत करना है।

स्तोत्र रचना

सर्व प्रथम तो इस स्तोत्र से आचार्य मानतुग की कथा या किवदन्ती सबद्ध है। कथा मे उल्लेख है कि कुछ जैन धर्म के विरोधी राजदरबारियो ने महाराज हर्षदेव के कान भरे। उनसे कुप्रभावित होकर राजा हर्षदेव ने आचार्य मानतुग को कालकोठरी मे बन्द करवा दिया व ४८ ताले लगवा दिये। उसने चुनौती देते हुए कहा कि यदि तुम्हारे जैनधर्म मे शक्ति हो तो उसकी महिमा प्रकट करो और मुक्त हो जाओ। आचार्य को क्या! वे जितने प्रसन्न एव समभावी बाहर थे उतने ही अन्दर। उनके चेहरे पर कोई कडवाहट या द्वेषभाव नही था। अरे! वे तो उल्टे प्रसन्न थे कि उपसर्ग ने उन्हे परीक्षा के योग्य अवसर दिया। वे शान्तचित्त-स्थिर होकर ध्यानमग्न हो गये। आराध्य आदिनाथ की शरण मे पहुँच गये। आराध्यमय बन गये। आराध्य के गुणगान की वाग्धारा प्रस्फुटित हुई इस स्तोत्र के रूप में। एक-एक श्लोक की रचना होती गई—ताले टूटते गये। आचार्य उसी प्रसन्न चित्त, क्षमाभाव से बाहर आये। राजा हर्षदेव चरणो मे गिर पडा। क्षमा याचना करता रहा। साधू के मन मे कोई आक्रोश नही था। समभाव से राजा को धर्मलाभ कहा एव उपदेश दिया।

इस जनश्रुति को भी प्रतीक के रूप में ही लेना चाहिए। मनुष्य के अशुभ कर्म जब उदय मे आते है तब बडे-बडे मुनियो को भी वे भोगने ही पडते है। परन्तु, जिन्होने भेद-विज्ञान-दृष्टि प्राप्त करके सम्यक्त्व-भाव धारण किया है वे न तो घबडाते है या चलित नही होते। वे ऐसी आपत्ति को उपसर्ग मानकर तपस्या मे और भी दृढ़तर बनते हैं। कर्मो का क्षय करते हैं और अधिक तपकर कुन्दन से प्रकट होते हैं। मानतुगा-

चार्य भी इस उपसर्ग से अधिक आराधना में लीन हुए। उपसर्ग रूपी ग्रहण पूर्ण होनेपर पुन: धर्मरूपी चन्द्र प्रकाशित हुआ। ताले में बन्द होने मे भी यही संकेत है कि मनुष्य शुभाशुभ कर्मों के ताले में बन्द होने से चतुर्गति में भ्रमण करता है। जबतक आत्म प्रदेश में स्थिर होकर इन कर्म बधनों को तोडता नही है तबतक मुक्त भी नही हो सकता। इस प्रकार जेल और ताला ये दो शब्द संसार और बद्ध कर्मों के ही प्रतीक है और आराधना उनमें से मुक्त होने की प्रक्रिया है।

मानतुंगाचार्य स्तोत्र का प्रारम्भ ही आराध्य आदिनाथ के रूप, सौन्दर्य और महिमा के गुणगान गाकर ही करते हैं। भगवान के चरणारविंद ससार सागर से तर जाने के आधार है। ससार सागर तो 'पवनोद्धतनक्रचक्र' सा है। जहाँ विषय, कामवासना के झझावात निरन्तर ससार-सागर को तूफानी बना रहे हैं। विषय-वासना के मगरमच्छ लीलने के लिए मुँह फाडे है—ऐसे समय एकमात्र आदिनाथ भगवान् का नाम स्मरण और आराधना ही पार उतरने के लिए आधार रूप बन सकते है।

आचार्य पुन:-पुन वीतरागदेव की, उनके गुण-सौन्दर्य एव प्रभाव की तुलना सरागी देवो से करते है और इस तुलना में उत्तम सुन्दर प्रतीको का प्रयोग करते हुए कहते है कि वीतरागी देव चन्द्रकिरण से उज्ज्वल एवं निर्मल क्षीरोदधि के पवित्र जल के समान है जबकि सरागी देव खारे जल के समान है। कौन ऐसा मूर्ख होगा जो क्षीर जल को त्यागकर खारे जल को पीना चाहेगा? इस प्रकार मीठे और खारे जल के प्रतीको से वीतरागी और सरागी देवो की भावना और प्रभाव को स्पष्ट किया है। समाधि और सामायिक मे आरूढ दृढ साधक सुमेरू पर्वत का प्रतीक है जिसे काम-वासना रूपी भौतिक सौन्दर्य चलित नही कर सकते। संसार के झझावाती आकर्षण, प्रलोभन उसे अस्थिर नही बना सकते। इससे आगे के श्लोक मे स्थिर तपस्वी ऐसे निर्धूम दीप-ज्योति को प्राप्त है (केवलज्ञानरूपी ज्ञानज्योति) जिसकी धवल ज्योति किसी भी प्रकार की विषय-कषाय या विकारो की आधी मे भी बुझती नही है। दोनो श्लोको मे सुमेरु एव निर्धूम ज्योतियुक्त दीपक साधक की दृढता-अडिगता के प्रतीक हैं और झझावात आदि ससार की भौतिकता के प्रतीक हैं। यहाँ आचार्य ने ससार पर तपस्या की विजय प्रस्थापित की है। सच भी है भौतिक सुखो के आकर्षण मे भी जो आत्मा के साथ दृढ बन सके वे ही महावीर बन सके—मुक्ति पा सके।

कवि ने आदिनाथ भगवान को बुद्ध, शकर, ब्रह्मा, विष्णु आदि विशेषणो से उद्‌बोधित कर उनकी वंदना की है। परन्तु, यहाँ उनका आशय अवतारी देव नही है। जब वे बुद्ध शब्द का प्रयोग करते हैं तब उनका अभिप्राय केवल ज्ञानरूपी बोधि (ज्ञान) जिन्हे प्राप्त हुआ है ऐसे अरिहत भगवान के गुणो का ही अकन करना है। शकर शब्द शान्ति या शिवत्व कारक एव आत्मा को पवित्र बनाने का प्रतीक है, जबकि ब्रह्मा अर्थात् मोक्षमार्ग प्रशस्त करने वाले जिनेश्वर की ही प्रतिच्छाया प्रस्तुत करने का प्रतीक शब्द है। विष्णु अर्थात् पुरुषोत्तम। यहाँ विष्णु की कल्पना एक ऐसे पुरुष के लिए की गई है जो सर्व पुरुषो मे उत्तम मोक्षमार्ग का प्रणेता, दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से दृढ, स्वय के आत्मप्रदेश का पूर्ण ज्ञाता ह—ऐसा उत्तम पुरुष अर्थात् अरिहंत भगवान्। इन्ही की वह प्रस्तुति इन शब्दो के माध्यम से करते है।

भगवान् जिनेन्द्रदेव के जो आठ प्रतिहार्य माने गये है वे भी प्रतीक रूप ही प्रस्तुत है। ये आठ प्रतिहार्य सत् की असत् पर विजय ससार पर वैराग्य की महत्ता आदि के ही सूचक हैं। अशोक वृक्ष प्रतीक है कि इस धर्म सभा में सभी शोक रहित हैं। पूरा वातावरण ही शोकव्याधि रहित हो गया है। यहाँ बैठा हुआ प्रत्येक जीव ससार ताप से मुक्त होकर अशोकपने के भाव अर्थात् शाति का अनुभव कर रहे हैं। उत्तम आराध्य के सान्निध्य मे मनुष्य शोक, दुख, चिंता रहित बन जाता है।

सिंहासन उच्च एवं उत्कृष्ट आसन का प्रतीक है। जिन्होंने पंच-ज्ञान प्राप्त किए हैं, कर्म-मल का क्षय किया है वे ही ऐसी उच्च निर्भय (सिंह) आसन पर प्रतिष्ठित होते है। यह आसन सिंह आसन है। जो संसार से सम्पूर्ण निर्भय बन गये है—जिन्हें संसार की माया, भय न तो सता सकते हैं न डरा सकते हैं, जो मृत्युञ्जयी बन गये है—ऐसे ही इन्द्रियजयी सिंह सदृश्य बनकर सिंह के आसन पर निर्भय होकर बैठते हैं। ऐसे निर्भय आराध्य का समागम प्राप्त धर्माचारी व्यक्ति सिंह वृत्ति या निर्भयता प्राप्त करके धर्माराधना मे भयमुक्त बनता हुआ सिंह की भाँति दृढता से आरूढ होता है।

भगवान् पर ढुलने वाले चँवर, जोकि ६४ प्रकार के है वे विविध चौंसठ कलाओ और चौसठ रिद्धिओ के प्रतीक हैं। मानों ये चँवर इगित कर रहे है कि आदिनाथ भगवान् ने इस विश्व को जीवनयापन की चौंसठ कलाये सिखाई है। तीन छत्र रत्नत्रय के प्रतीक है जो क्रमश छोटे से बडे है। ये सूचित करते है कि चारित्र्य पालन मे उत्तरोत्तर दृढता प्राप्त करके मुक्ति पथ पर अग्रसर हुआ जा सकता है। अथवा जो रत्नत्रय को धारण करता है वह सिद्धत्त्व प्राप्त कर सकता है। दुदुभि प्रातिहार्य मानो उद्घोषणा करते हुए सावधान कर रहा है—कि हे ससार के दु.खो से पीडित जनो धर्म की शरण में आश्रय ग्रहण करो। 'चत्तारि शरण पवज्जामि' का उद्घोष ही उससे मुखरित हो रहा है। ससार से मुक्ति—एकमात्र धर्म ही दिला सकता है। पुष्पवृष्टि वसन्त की शोभा और शान्ति का प्रतीक है। जब ऐसा वातावरण होता है तब हृदय मे शान्ति एव धर्म की प्रभावना बढती है। इन दिव्य पुष्पो की वृष्टि इस प्रकार होती है कि उसके पत्ते नोचे की ओर एव डडी का भाग ऊपर होता है जो इस भाव के प्रतीक है कि भगवान की शरण मे आनेवाला पतित भी उनके चरणो मे श्रद्धापूर्वक नमन करता है तो वह ऊर्ध्वमुखी अर्थात् पावन बन जाता है—धर्म की ऊँचाई और मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। ऐसा पतित भी जब धर्म की ऊँचाई को छूने लगता है तब उसका जीवन पुष्प की भाँति कोमल और सुगन्धित बनता है। भामडल या प्रभामडल शुक्ल लेश्या या उत्तम शुभ भाव का प्रतिबिंब है। जब सम्पूर्ण मिथ्यात्व दूर हो जाये, मन के समस्त विकार, शका एव मिथ्यात्व दूर हो जाते है तभी सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। भगवान तीर्थंकर स्वय दर्पण स बन जाते है उनके परमौदारिक दिव्य देह से नि सृत अलौकिक किरणे प्रतिभामडल की रचना करती है—इसी अलौकिक दर्पण मे जीव त्रिकाल के दर्शन करते है और निरन्तर स्वय को निर्मल बनाने की प्रेरणा प्राप्त करते है। अन्तिम प्रातिहार्य दिव्यध्वनि है जो भगवान् केवली के वचनामृत की प्रतीक है। जो सप्त-तत्त्व षड्द्रव्य आदि धर्म के स्वरूप को सत्यरूप से प्रस्तुत एव प्रकट करती है जो मुमुक्षु को आत्मिक आनन्द प्रदान करती है।

भक्तामर स्तोत्र में मानतुगाचार्य ने सर्वप्रथम आदिनाथ के रूप एव चारित्र के प्रतीको को प्रस्तुत किया। तदुपरात प्रातिहार्यो के वर्णन मे प्रतीको को प्रस्तुत किया और अब अत मे उनकी महिमा या अतिशय के गुणगान भी प्रतीको के माध्यम से प्रस्तुत करते है।

मदोन्मत्त हाथी भी भगवान के भक्त के सामने वशीभूत हो जाता है। यहाँ पर मदोन्मत्त क्रोधी हाथी मनुष्य के मनोविकारो का प्रतीक है और भक्त सम्यग्दृष्टि का प्रतीक है। भावार्थ है कि सम्यग्दृष्टि सत्त्वगुण के धारक की दृष्टि के सामने विकारयुक्त हाथी जैसे शक्तिशाली भी पराजित हो जाते है। इस प्रकार यहाँ असद्वृत्तियो पर सद्वृत्ति की विजय स्थापित की है। सिंह जो कि हस्ती गडस्थल को क्षत-विक्षत कर सकता है वह भी आराधना मे आरुढ साधक के सामने परास्त हो जाता है। यहाँ सिंह हिंसा का प्रतीक है और साधक अहिंसा एव दृढता का प्रतीक है। इस श्लोक मे हिंसा पर अहिंसा की विजय दर्शायी है। पुनः कवि प्रलयाग्नि का अत्यन्त उग्रस्वरूप प्रस्तुत करता है जिसमे समस्त ससार को भस्म करने की प्रचड उग्रता है—उष्णता है। परन्तु आदिनाथ के नाम का स्मरण शीतल जल की भाँति इस अग्नि को शात (बुझा) कर देता है। यहाँ

प्रलयाग्नि क्रोध के प्रतीक के रूप में है और तीर्थंकर आदिनाथ का नामस्मरण शीतल जल है। अर्थात् क्रोध का शमन शांति या शीतलता से ही हो सकता है यही इसका प्रतिपाद्य भाव है। परोक्ष रूप से यहाँ भी अहिंसा की ही पुष्टि हुई है। मन की शांति ही दृढता प्रदान करती है। विकार-वासना-क्रोध कषाय की अग्नि हमारे उत्तम धर्म भावों को झुलसा रही है उसकी शांति का एक मात्र उपाय ईश्वर नाम-स्मरण है। साँप, उसकी विकरालता, उसका जहर काम-क्रोध एवं कषाय के प्रतीक हैं और सत्-धर्म की श्रद्धा, देव-शास्त्र-गुरु की आराधना वह जडी-बूटी है जो सर्पदंश के जहर को दूर करती है। साँप के डर से निर्भय बनाती है। मन बैठे विविध विषय कषायों के साँपो को यदि दूर करना है जो वासना मे भटका रहे हैं। पतन के गर्त मे ढकेल रहे हैं—तो एक मात्र औषधि रूप उपाय है सद्धर्म को आराधना।

रणक्षेत्र मे हाथी, घोडे और भयकर शत्रुओ से घिरा हुआ भी भगवान के स्मरण से विजय प्राप्त करता है। यहाँ रणक्षेत्र अर्थात् संसार। ससारी जीव को अनेक परपदार्थ पीडित करते है। इस आत्मप्रदेश को ससार का चतुर्गति-भ्रमण सुख-दुख मे परेशान करता रहता है। परन्तु, भक्ति के पुरुषार्थ से इस आत्मप्रदेश को जागृत करने वाला इस सासारिक मोहमाया कषाय रूपी हाथी-घोडे और शत्रुओ पर विजय प्राप्त करके मोक्ष प्राप्ति का विजेता बनता है और ऐसे ससार-सागर को जिसमे लील जाने वाले मगरमच्छ अर्थात् पचपाप फैले है—उससे भी भक्तिरूपी नौका मे बैठकर पार उतर जाता है। यहाँ ससार मोह-माया-लोभ आदि को प्रतिबिंबित करता है तो धर्म-नौका उससे पार उतरने का प्रतीक है। मनुष्य का शरीर अनेक रोगो से घिरा हुआ—रोग का घर है। ऐसे रोगो से घिरे व्यक्ति ने जीवन की आशा ही छोड दी है वह भी यदि भगवान के नाम का जाप जपता है तो कामदेव-सा सुदर रूप प्राप्त करता है। यहाँ शरीर के रोग एक आतरिक काम-कषाय आदि और दूसरे बाह्य आधि-व्याधि एव मानसिक रोग के प्रतीक है जो स्वच्छन्दता अनियमितता से पनपते हैं। सच्ची जिनभक्ति औषधि का काम करती है। यहाँ भक्ति की महत्ता पर जोर दिया है।

अत में आचार्य लौह श्रृंखला से जकडे घायल शरीर की चर्चा की है। वहाँ वे प्रतीक द्वारा यही कहना चाहते है कि ससार के मोह-माया बधन हमे लौह श्रृखला (बेडियो) मे जकड कर निरन्तर पीडित कर रहे हैं—ऐसे समय जो प्रभु के नाम-मत्र का स्मरण करेगा वही मुक्त हो सकेगा। अर्थात् नाम-मत्र के स्मरण के समय जो ससार की पीडा को भूलकर दृढता से आत्मप्रदेश मे अन्तर्मुखी बनता है वही पीडा से मुक्ति प्राप्त करता है।

वैसे तो भक्तामर स्तोत्र का प्रत्येक श्लोक किसी नई दृष्टि को ही प्रतिपादित करता है। परन्तु ऊपर कुछ विशिष्ट प्रतीको को प्रस्तुत किया है जिनके माध्यम से कवि ने भ० आदिनाथ के रूप-गुण एव अतिशय का वर्णन किया है।

ससार, मनुष्य का चचल स्वभाव, आधि-व्याधि-उपाधि, कषाय, विषयवासना, मोह आदि जो संसार में भटकाने वाले हैं उनमें से मुक्ति का उपाय भगवान की आराधना ध्यान और आत्मचिंतन है। इस स्तोत्र के कवि मानतुंगाचार्य ने भक्ति की उत्कृष्टता, उसका प्रभाव एव मिथ्यात्व का त्यागकर उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए ऊर्ध्वगति प्राप्त करने के उद्देश्य का प्रस्तुतीकरण किया है।

●

जीव को सर्वथा कर्म का अकर्ता मानने में दोष

● प० जगदीशचन्द्र शास्त्री

यहाँ पर आचार्य देव ने सरल ढग से स्पष्ट बताया है कि जीव अशुद्ध निश्चयनय से अपने रागादि भावों का उपादान कारण है क्योंकि जीव का ही वीतराग भाव मोह आदि द्रव्य कर्मों के उदय के निमित्त होने पर राग या द्वेष भाव रूप बदल जाता है इससे यह बात प्रगट है कि रागादि भाव जीव के ही चारित्र गुण का विकार या अशुद्ध परिणमन है जो वास्तव मे शुद्ध निश्चय से जीव का स्वाभाविक भाव नही है किन्तु औपाधिक या नैमित्तिक भाव है जब कर्म के उदय की उपाधि न रहेगी तब ही यह भाव भी नही होगा। इसी तरह ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का उपादान कारण कार्मणा वर्गणा रूप पुद्गल द्रव्य है। यही पुद्गल द्रव्य आत्मा के योग और कषाय भावो का निमित्त पाकर स्वयं कर्म रूप होकर आत्मा के प्रदेशो में सम्बन्ध कर लेता है। जैस —अग्नि की उष्णता का निमित्त पाकर पानी स्वय भाप रूप हो जाता है इसी तरह जीव के अशुद्ध भावो मे और हृदय कर्मों में परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। किन्तु उपादान कारण रूप सम्बन्ध नही है। जीव का चैतन्य भाव कभी भी पौद्गलिक द्रव्य कर्मों का उपादान नही हो सकता। जैसे—कुम्हार का घट बनाने का भाव कभी भी घट का उपादान नही हो सकता, इसी तरह पौद्गलिक द्रव्य कर्म स्वय रागादि भाव के बिना जीव के परिणमन के कभी भी उपादान कारण नही हो सकते। पौद्गलिक गुण से चैतन्य गुण नही बन सकता है जैसे —बिना कुम्हार के मिट्टी के भीतर स्वय घट बनने का भाव नही हो सकता है। इससे यह सिद्ध किया गया है कि जीव अपने अशुद्ध भावो का आप उपादान कर्ता है तथा पुद्गल अपने द्रव्य कर्मों का उपादान कर्ता है। जीव के भाव और द्रव्य कर्म मे मात्र परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसे—बीज से वृक्ष होता है और उस वृक्ष से फिर दूसरा बीज होता है, इस बीज से फिर दूसरा वृक्ष होता है इसी तरह रागादि भावो के निमित्त से ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का बन्ध होता है और बन्ध प्राप्त कर्मों के उदय से फिर नये रागादि भाव होते है उन भावो से फिर नवीन द्रव्य कर्म बँधते है इस प्रकार बन्ध का प्रवाह अनादि काल से ससारी जीवो के साथ चला आ रहा है। जगत मे जीव और पुद्गल दो द्रव्य न हो तो बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नही बन सकती।

यदि एकान्त से ऐसा मान ले कि यह **"जीव कर्मों का कर्ता नहीं है"** तो क्या दोष उत्पन्न होगा उस दोष को बताते हुए आचार्य पचास्तिकाय मे कहते है—

भावो जदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता ण कुणदि अत्ता किंचि विमुत्ता अण्णं सगं भावं ॥६५॥

अर्थ—यदि रागादि भाव मे कर्म कृत ही हो तो किस तरह आत्मा द्रव्य कर्मों का कर्ता होवे, क्योंकि एकान्त से कर्मकृत भाव लेने पर आत्मा के रागादि भाव के बिना उसके द्रव्य कर्मों का बन्ध नही हो सकता है क्योकि यह आत्मा अपने भाव को छोडकर और कुछ भी द्रव्य कर्म आदि को नही करता है।

आत्मा यदि सर्वथा कर्मों का अकर्ता माना जाय तो क्या दूषण आयेगा ? यदि कर्म ही रागादि भाव के कर्ता हो तो आत्मा पुण्य पापादि कर्मों का कर्ता नही हो सकेगा। सांख्य मत को मानने वाला शिष्य कहता है कि हमारा मत यह है—

अकर्ता निर्गुणा' शुद्धो नित्य सर्वगतोऽक्रिया ।
अमूर्तश्चेतनो भोक्ता जीव' कपिल शासने ॥

अर्थ—यह जीव कर्म का कर्त्ता नही है, निर्गुण है, शुद्ध है, नित्य है, सर्व व्यापी है, निष्क्रिय है, अमूर्तिक है, चेतन है, मात्र भोगने वाला है यह कपिल का मत है। इस वचन से हमारा मत-आत्मा के कर्मों का अकर्तापना भूषण है एवं श्रेष्ठ है। दूषण नही है।

इस बात का खण्डन करत हुए आचार्य कहते है कि—शुद्ध निश्चयनय से आत्मा रागादि भावों का कर्ता नही है। ऐसा यदि अशुद्ध निश्चय से भी यह जीव अकर्ता हो तो उसके द्रव्य कर्मों के बन्ध का अभाव होगा।

कर्म बन्ध न होने से ससार का अभाव होगा तब फिर यह सर्वदा मुक्त ही रहेगा यह बात प्रत्यक्ष रूप से विरोध रूप है।

आचार्य ने जीव का परिणमन शील होना दृढ किया है और बताया है कि रागदि, औपाधिक भावों का अशुद्ध निश्चय नय से उपादान कर्ता जीव ही है निमित्त कर्ता मोहनीय कर्मों का उदय है। जैसे:—मिट्टी के द्वारा घट बनता है उसमे घट का उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्हार आदि है।

जिसकी पर्याय पलटे उसको बताने वाली निश्चय नय है, जिसके निमित्त से पर्याय पलट उसको बताने वाली व्यवहार नय है। इस घट के उदाहरण में निश्चय नय मे घट का कर्ता मिट्टी है तथा व्यवहार नय से घट का कर्ता कुम्हार है इसी प्रकार रागादि भावो के होने मे जीव का वीतराग या चरित्र भाव ही पलट कर रागादि रूप हो जाता है अत रागादि भाव जीव की ही अशुद्ध परिणति है परन्तु ये रागादि भाव मोहनीयादि कर्मों के उदय बिना नही हो सकते इसलिये इन भावो का व्यवहार नय से द्रव्य कर्म कर्ता है।

भाव दो प्रकार के होते है—१. स्वाभाविक, २. औपाधिक। स्वाभाविक भाव शुद्ध भाव है उनमें कर्मों के उदय का निमित्त नही होता है। औपाधिक भाव अशुद्ध भाव है वे कर्मो के निमित्त बिना नही होते हैं। जैसे—स्फटिक मणि मे यदि काले-पीले डाक का निमित्त न हो तो उसके स्वच्छ सफेद भाव होगा यदि काले-पीले डाक का निमित्त हो जायेगा तो स्वच्छ भाव छिपकर काला-पीला भाव प्रगट होगा। इसमे स्फटिक की चमक ही बदली है वैसे ही कर्मों के निमित्त से अशुद्ध भाव होने मे जीव के भावो मे ही परिणति हुई है—उस समय जीव का स्वभाविक भाव छिप गया है। जैसे—मात्र काले-पीले डाक मे बिना स्फटिक सम्बन्ध के काला-पीला रतन सरीखा चमकाव नही हो सकता वैसे ही मात्र पुद्गलमयी द्रव्य कर्म मे आत्मा के भावो के पलटन बिना रागादि भाव प्रकट नही हो सकता है इसीलिये अशुद्ध निश्चय नय से रागादि का कर्ता जीव है।

यदि जीव साख्य मत के समान एकान्त से सर्वथा अकर्ता माना जाय तो वह पुण्य-पाप कर्म क्यों बाँधेगा तथा उनका सुख-दुःख फल कैसे भोगेगा और वह ससार की अवस्था कैसे नष्ट करेगा एव मोक्ष होने के लिये क्यों यत्न करेगा।

आचार्य कहते हैं कि जीव मात्र अपनी ही परिणति को करता है वह स्वय द्रव्य कर्म को बाँधता नही है। उसके अशुद्ध भावों का निमित्त पाकर स्वय ही द्रव्य कर्म बन्ध जाता है। जैसे—अग्नि की उष्णता का निमित्त पाकर स्वयं ही जल भाप रूप हो जाता है ऐसा ही श्री पुरुषार्थसिद्धचुपाय मे भी कहा है—

जीव कृतं परिणामं निमित्त मात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्रपुद्गला कर्म भावेन ॥१२॥

अर्थ—जिस समय जीव राग, द्वेष, मोह भावरूप (परिणमन) करता है उस समय उन भावों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य आप ही कर्म अवस्था को धारण कर लेते हैं। भेद इतना ही है कि यदि आत्मा देव, गुरु धर्मादिक प्रशस्त रागादिक रूप परिणमन करता है तो शुभ कर्म का बन्ध होता है और यदि अप्रशस्त राग, द्वेष, मोह रूप परिणमन करता है तो पाप बन्ध होता है।

प्रश्न—जीव के महा सूक्ष्म रूप भावो की खबर जड, पुद्गल को कैसे हो जाती है बिना खबर के वे पुद्गल परमाणु पुण्य-पाप रूप कैसे परिणमन करते हैं ?

उत्तर—जैसे कोई मन्त्र साधक पुरुष गुप्त स्थान मे बैठकर मन्त्र को जपता है उसके बिना ही किये उस मंत्र के निमित्त से किसी को पीडा हो जाती है, किसी का भला हो जाता है, कोई पागल हो जाता है उस मंत्र में ऐसी शक्ति है कि उसका निमित्त पाकर चेतन, अचेतन अनेक पदार्थ अनेक अवस्थाओं को धारण कर लेते हैं ठीक इसी प्रकार जीव अतरग मे विभाव-भावरूप परिणमन किया करते है। इन विभाव भावों का निमित्त पाकर कोई पुद्गल पुण्य प्रकृत्ति रूप और कोई पाप प्रकृति रूप परिणमन करता है। इस जीव के इन भावो मे ही ऐसी विलक्षण शक्ति है कि जिसके निमित्त से पुद्गल आप ही अनेक अवस्थाओ को धारण कर लेते हैं। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। द्रव्य संग्रह मे कर्तृत्वाधिकार का वर्णन अति सुन्दर किया गया है—

पुग्गल कम्मादोण कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो।
चेदण कम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाण ॥८॥

अर्थ—जीव व्यवहार नय से ज्ञानावरणादिक पुद्गल कर्म आदि का अशुद्ध निश्चय नय मे रागादिक भाव कर्मों का और शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध दर्शन और शुद्ध ज्ञानादि चैतन्य भावो का कर्ता है।

भावार्थ—जीव व्यवहार नय मे ज्ञानावरणादिक पुद्गल कर्मों का तथा शरीरादिक नौ कर्म का, अशुद्ध निश्चय नय से रागादिक भाव कर्मों का और शुद्ध निश्चय नय मे शुद्ध दर्शन (केवल दर्शन) और शुद्ध ज्ञान (केवल ज्ञान) आदि चैतन्य भावो का कर्ता है ॥८॥

भोक्तृत्वाधिकार का वर्णन करते हुए द्रव्य सग्रह मे कहा है—

ववहारा सुहदुक्खं, पुग्गलकम्मप्फल पभुंजेदि।
आदा णिच्चयणयदो, चेदण भाव रणु आदस्य ॥९॥

अर्थ—आत्मा व्यवहार से सुख, दुःख रूप पुद्गल कर्मों को भोगता है और निश्चय नय से आत्मा चेतन स्वभाव को भोगता है।

व्यवहार नय की अपेक्षा से सुख तथा दुःख रूप पुद्गल कर्म फलो को भोगता है। वह कर्म फलो का भोक्ता कौन है ? आत्मा है। निश्चय नय से स्फुट रीति से चेतन भाव का ही भोक्ता आत्मा है और वह चेतन भाव किस सम्बन्धी है कि अपना ही सम्बन्धी है। वह ऐसे है कि निज शुद्ध आत्मा के ज्ञान से उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख रूप अमृत रस है उसके भोजन को प्राप्त न होता हुआ जो आत्मा है वह उपचरित असद्भूत व्यवहार नय मे इष्ट तथा अनिष्ट पाँचो इन्द्रियो के विषयो से उत्पन्न सुख तथा दुःख को भोगता है ऐसे ही अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से अंतरग मे सुख तथा दुःख को उत्पन्न करने वाला जो द्रव्य कर्म रूप साता (सुख रूप), असाता (दुःख रूप) उदय है उसको भोगता है और वही आत्मा अशुद्ध निश्चय नय से हर्ष तथा विषाद रूप सुख, दुःख को भोगता है तथा शुद्ध निश्चय नय से परमात्म स्वभाव का जो सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण उससे उत्पन्न अविनाशी, आनन्द रूप एक लक्षण का धारक जो सुखामृत है उसको भोगता है यहाँ पर जिस स्वभाव से उत्पन्न हुए सुखामृत के भोजन के अभाव से ही इन्द्रियो के सुख को भोगता

हुआ संसार में परिभ्रमण करता है वही जो स्वभाव से उत्पन्न इन्द्रियो के अगोचर जो सुख है सो सब प्रकार से ग्रहण करने योग्य है ऐसा अभिप्राय है इस प्रकार "जीव कर्ता कर्म के फल को नहीं भोगता है" यह जो बौद्ध का मत है उसका खण्डन करने के लिये "जीव कर्म फल का भोगता है" इस गाथा में यही समझाया गया है।

पंचास्तिकाय मे इस कथन को स्पष्ट किया गया है कि—

कुव्वं सग सहाव अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
ण हि पौग्गल कम्माण इदि जिणवयण मुणेथव्वं ॥६७॥

अर्थ—आत्मा अपने ही स्वभाव को करता हुआ अपने ही भाव का कर्ता होता है। पुद्गल कर्मों का कर्ता नही होता ऐसा जिनेन्द्र का वचन मानना योग्य है।

यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से जीव का स्वभाव केवल ज्ञानादिक शुद्ध भाव कहे जाते हैं तथापि कर्म के कर्तापने के व्याख्यान मे अशुद्ध निश्चय नय स रागादि भी जीव के अपने भाव कहे जाते हैं—इन रागादि भावो का तो जीव को कर्ता अशुद्ध निश्चय नय से कह सकते है परन्तु पुद्गल कर्मों का कर्ता जीव को निश्चय नय से नही कहा जा सकता। यह जिनेन्द्र का आगम है।

श्री समयसार जो मे भी यही भाव दर्शाया गया है—

जं कुणदि भाव आदा कत्ता मो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गल दव्व ॥८८॥
ववहारेण दु एवं करेदि घडपडरहादि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणोह विविहाणि ॥१०५॥

अर्थ—आत्मा जिस भाव को करता है उसी भाव का वह कर्ता होता है इस भाव के निमित्त को पाकर पुद्गल द्रव्य स्वय द्रव्य कर्म रूप परिणमन कर जाता है। व्यवहार नय मे ऐसा कहते है कि यह जीव नाना प्रकार घट-पट, रथ आदि द्रव्यों को व इन्द्रियो को तथा द्रव्य कर्मो को वह शरीरादि नो कर्मों को करता है इसके व्यवहार मे जीव कर्ता कहलाता है।

यह आत्मा अपने ही परिणामो का कर्ता है द्रव्य कर्मो का कर्ता नही है, अशुद्ध निश्चय नय से रागादि भावो का तथा शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध वीतराग भाव का कर्ता है ऐसा प्रवचनसार मे श्रीमद्कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

कुव्व सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।
पोग्गलदव्वमयाण ण दु कत्ता सव्व भावाण ॥१८४॥

भावार्थ—आत्मा अपने भावो को करता हुआ अपने भाव का ही कर्ता होता है, पुद्गल द्रव्य से बनी हुई सर्व अवस्थाओं का तो कर्ता नही है।

श्री जयसेनाचार्य कृत टीकार्थ

स्वभाव शब्द मे यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव ही कहा जाता है तथापि यहाँ पर स्वभाव शब्द से कर्म बन्ध के प्रस्ताव में अशुद्ध निश्चय नय से रागादि परिणाम को भी स्वभाव कहते हैं। यह आत्मा इस तरह अपने भाव को करता हुआ अपने ही चिद्रूप स्वभाव रूप रागादि परिणाम का ही प्रगटपने से कर्ता है और वह रागादि परिणाम निश्चय से उसका भाव कर्म कहा जाता है। जैसे—गर्म लोहे में उष्णता

व्याप्त है वैसे आत्मा उन रागादि भावों मे व्याप्त हो जाता है तथा चैतन्य रूप से विलक्षण पुद्गल द्रव्यमयी सर्व भावों का ज्ञानावरणीय आदि कर्म की पर्यायो का तो यह आत्मा कभी भी कर्ता नही होता है इससे जाना जाता है कि रागादि अपना परिणाम ही कर्म है जिसका ही यह जीव कर्ता है ।।१८४।।

यह आत्मा व्यवहार नय से ज्ञानावरणीय आदि पौद्गलिक कर्मों का कर्ता है परन्तु अशुद्ध निश्चय नय से रागादि भावो का कर्ता है और शुद्ध निश्चय नय से यह शुद्ध चेतन भावो का कर्ता है ।

व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा पुद्गल कर्म आदि का कर्ता है । जैसे —मन, वचन तथा शरीर के व्यापार रूप क्रिया से रहित निज, शुद्ध आत्मतत्व की जो भावना है उस भावना से शून्य होकर उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का तथा औदारिक, वैक्रियिक और आहार रूप तीन शरीर तथा आहार आदि छ पर्याप्तियो के योग्य जो पुद्गल पिंड रूप नो कर्म है उनका तथा उसी प्रकार उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से बाह्य विषय घट-पट आदि का भी यह जीव कर्ता है और निश्चय नय की अपेक्षा से तो यह आत्मा चेतन कर्मों का कर्ता है ।

रागादि विकल्प रूप उपाधि से रहित निष्क्रिय परम चैतन्य भावना से रहित ऐसे जीव ने जो रागादि को उत्पन्न करने वाले कर्मो का उपार्जन किया उन कर्मो का उदय होने पर निष्क्रिय और निर्मल आत्मज्ञान को न प्राप्त होता हुआ यह जीव भाव कर्म जो रागादि विकल्प रूप चेतन कर्म है उनका अशुद्ध निश्चय नय से कर्ता होता है ।

अशुद्ध निश्चय का अथ

कर्म रूप उपाधि से, उत्पन्न होने से अशुद्ध कहलाता है और उस समय अग्नि मे तपे हुए लोहे के गोले के समान तन्मय होने से निश्चय कहा जाता है इस रीति से अशुद्ध और निश्चय इन दोनो को मिलाकर अशुद्ध निश्चय कहा जाता है ।

जीव जब शुभ तथा अशुभ मन, वचन तथा काय रूप तीनो योगो के व्यापार से रहित शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव से परिणमता है तब अनन्त ज्ञान सुख आदि शुद्ध भाव का छद्मस्थ अवस्था मे भावना रूप विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चय नय से कर्ता होता है और मुक्त अवस्था मे तो शुद्ध निश्चय नय से अनन्त ज्ञानादि शुद्ध भावो का कर्ता है ।

विशेष—शुद्ध-अशुद्ध भावो का जो परिणमन है उन्ही का कर्तृत्व जीव मे जानना चाहिए और हस्त आदि के व्यापार रूप परिणमनो का न समझना चाहिए क्योकि नित्य निरजन निष्क्रिय ऐसे अपने आत्म स्वरूप को भावना से रहित जो जीव है उसी के कर्म आदि का कर्तृत्व कहा गया है इसलिये उस निज शुद्ध आत्मा मे ही भावना करनी चाहिए । ऐसे साख्य मत के प्रति "एकान्त से जीव कर्म का कर्ता नहीं है" इस मत का निराकरण किया गया है ।

वस्तु की मर्यादा बताते हुए पचास्तिकाय मे स्वामी कुन्दकुन्द ने कहा है—

भावो कम्मणिमित्तो कम्म पुण भावकारणं हवन्ति ।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ।।६६।।

अर्थ—रागादि भाव कर्मों के निमित्त से होता है तथा रागादि भावो के कारण से द्रव्य कर्म का बन्ध होता है उन द्रव्य और भाव कर्मों का निश्चय से परस्पर उपादान कर्तापना नही है परन्तु उपादान कर्ता के बिना वे नही हुए हैं ।

सारांश

निर्मल चैतन्यमयी ज्योति स्वभाव रूप शुद्ध जीवास्तिकाय से प्रतिपक्षी भाव जो मिथ्यात्व व रागादि परिणाम हैं वह कर्मों के उदय से रहित चैतन्य का चमत्कार मात्र जो परमात्म स्वभाव है उससे उल्टे जो उदय मे प्राप्त कर्म हैं उनके निमित्त से होता है तथा ज्ञानावरणादि कर्मों से रहित जो शुद्धात्म तत्व है उससे विल-क्षण जो नवीन द्रव्य कर्म हैं सो निर्विकार शुद्धात्मा की अनुभूति से विरुद्ध जो रागादि भाव हैं उनके निमित्त से बँधते हैं ऐसा होने पर भी जीव सम्बन्धी रागादि भावो का और द्रव्य कर्मों का परस्पर उपादान कर्तापना नही है तो भी वे रागादि भाव और द्रव्य कर्म दोनों बिना उपादान कारण के नही हुए हैं किन्तु जीव सम्बन्धी रागादि भावो का उपादान कर्ता जीव ही है तथा द्रव्य कर्मों का उपादान कर्ता कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल ही है। यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से विचार किये जाने पर जीव रागादि भावो का कर्ता नही है तथापि अशुद्ध निश्चय नय से जीव रागादि भावो का कर्ता है यह बात सिद्ध है।

इस प्रकार एकान्त से सांख्य मत के प्रति **''एकान्त से जीव कर्म का कर्ता नहीं है''** इस बात का निराकरण किया गया है तथा अनेकान्त को स्पष्ट किया गया है।

व्यवहार चारित्र

● श्री सुलतान सिंह, बुलन्दशहर

ससार निमित्त जन्य है। इसी से व्याकरण मे चाहे हिन्दी हो, चाहे अग्रेजी हो, चाहे उर्दू हो या कोई और भाषा हो कारक व्यवस्था निमित्तो पर आधारित है, उसी निमित्त जन्य अवस्था को व्यवहार कहते हैं। वह व्यवहार (आचरण) अशुद्ध भी हो सकता है, विशुद्ध भी हो सकता है और शुद्ध भी हो सकता है।

इसी से प० टोडरमल जी ने मो० मा० प्र० अध्याय प्रथम पृ० ७ पर जीव के परिणाम तीन प्रकार के बताये हैं—अशुद्ध, विशुद्ध और शुद्ध। अशुद्ध, अवस्था मे अशुद्ध व्यवहार होता है, विशुद्ध अवस्था में विशुद्ध व्यवहार होता है और शुद्ध अवस्था मे शुद्ध व्यवहार होता है।

इन तीनो भावो का दिग्दर्शन कराते हुए पण्डित जी ने लिखा है—अशुद्ध भाव बध के ही कारण हैं। विशुद्धभाव यानी अरहन्त की भक्ति आदि रूप शुभ भावो से मंद बध होता है तथा विशुद्ध परिणाम प्रबल हो तो पूर्व काल मे जो तीव्र बध हुआ था उसको भी भेद करता है, वे समस्त कषाय मिटाने का कारण होने से शुद्ध परिणाम के भी कारण है। शुद्ध परिणामो से बध नही होता।

इस प्रकार पंण्डित जी ने इस निमित्तजन्य व्यवहाररूप अवस्था को तीन भागो मे बाँट दिया है।

इस व्यवहार पर दूसरे प्रकार से भी विचार करने पर शास्त्रकारो ने जीव के चार पुरुषार्थ निरूपित किये हैं—धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष। यहाँ पुरुषार्थ का अर्थ व्यवहार या चारित्र ही है।

इन चारो मे से दो पुरुषार्थ, अर्थ और काम की सिद्धि मे सब जीव लगे है। धर्म पुरुषार्थ की ओर कुछ की उन्मुखता होती है।

इसी से शास्त्रकारो ने इन्हे क्रम देते समय धर्म पुरुषार्थ को सबसे पहले रखा है कि अर्थ और काम की सिद्धि तो करो किन्तु धर्म पूर्वक करो। जो गृहस्थ जितना इस उपदेश को मानता है, उतना ही धर्मी होता है। यह धर्म की पहली सीढी हैं। इसको हम पाक्षिक श्रावक कह सकते हैं।

यही धर्मी जब वस्तु स्वरूप को समझ कर अर्थ और काम से निवृत्ति की ओर चलने लगता है तब धर्म की दूसरी सीढी पर होता है। वही धीरे-धीरे अपने अपने अभ्यास को बढाता हुआ श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओ को धारण करता हुआ इतना निवृत हो जाता है कि वस्त्र मात्र का व उसकी इच्छा का त्याग हो जाता है, तब वह धर्म की तीसरी सीढी पर होता है। वहाँ उसका शुभ व्यवहार दो रूप ही वर्तता है—अध्ययन रूप या ध्यान रूप।

पहली व दूसरी सीढी वाला ऐसा नहीं है कि ध्यान व अध्ययन बिलकुल ही नही करता है। ध्यान व अध्ययन तो जीव का स्वभाव है। जो जीव अर्थ और काम की सिद्धि मे धर्म को स्थान नही देता, ध्यान व अध्ययन तो वह भी करता है किन्तु उसका वह सब पुरुषार्थ अशुभ व्यवहार की गणना में आता है। उस ध्यान को आर्त व रौद्र रूपता ही प्राप्त होता है। हाँ, जो अर्थ और काम सिद्धि में धर्म का विचार रखता है वह धर्म ध्यान की ओर अग्रसित होता है। यही से उसे धार्मिक की सज्ञा मिल जाती है किन्तु प्रवृत्ति सांसारिक कार्यों में ही लगे रहने के कारण उस धार्मिकता का मोक्षमार्ग मे कोई स्थान नही है। जब वही धर्मी पहली सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ निवृत्ति-मार्ग का आलम्बन लेता है मोक्ष मार्गी होता है। इसी से त० सू०, अध्याय ९ सूत्र २८ मे ध्यान के चार भेद देकर सूत्र २९ मे धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान को मोक्ष का कारण निरूपित किया है।

यहाँ हमें ध्यान को विशेष रूप से समझना होगा। त० सूत्र अ० ९ सू० २७ मे धर्म की परिभाषा देते हुए निरूपित किया है—'उत्तम संहनन के धारक मनुष्य का अपनी चित्तवृत्ति को सब ओर से रोककर एक ही ओर लगाना, ध्यान है। इसकी अधिकतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त यानी ४८ मि० है।

स्पष्ट है कि यह ध्यान उत्तम संहनन (हड्डियों की शक्ति) वाले जीव को ही हो सकता है और वही मुक्ति प्राप्त कर सकता है, अन्य नही। उत्तम संहनन की प्राप्ति शुभ व्यवहारी ही अगले भव मे प्राप्त कर सकता है या यूँ कहिये कि धर्मध्यानी ही उत्तम संहनन का धारी हो सकता है।

इसी अध्याय के सूत्र ३६ में धर्म ध्यान का स्वरूप चार प्रकार का निरूपित किया है—

१. आज्ञाविचय—सर्वज्ञदेव के द्वारा कहे गये आगम को प्रमाण मानकर, गहन पदार्थ का श्रद्धान करना।

२. आयविचय—लोग मिथ्यात्व से कैसे छूटें, यह विचार करना।

३. विपाक विचय—कर्म के फल का विचार करना।

४ संस्थान विचय—लोक के आकार का विचार करना।

इन चारों प्रकारों में 'विचार करना' शब्द विचारणीय है। विचार मन के माध्यम से होता है। यह अवश्य है कि हमारे विचार में और उस विचार मे अन्तर होता है। हमारा विचार एकाग्रता को लिये हुए नही होता जब कि इस धर्मध्यानी का विचार एकाग्रता को लिये हुए होता है और एकाग्रता की भी उत्तम सहनन वाले को ही प्रमुखता है अन्य को नही। इस प्रकार उत्तम सहनन के धारी की एकाग्रता और कुछ नही (शुभ की) विशुद्धता की उत्कृष्ट श्रेणी है। इसी को विशुद्ध व व्यवहार भी कहा जा सकता है या मिश्र व्यवहार कहा जा सकता है।

सूत्र ३९ मे शुक्ल ध्यान के चार भेद निरूपित किये है—पृथक्त्व वितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और व्युपरत क्रिया निवर्ति। सूत्र ३८ मे कह आये है कि बाद के दो ध्यान केवली के होते है। यानी ८,९,१०,११वे गुणस्थान मे पहले दो प्रकार का शुक्लध्यान होता है। उसमें भी तर्क, वितर्क होने से व मन की सक्रियता मे होने से विशुद्धता (शुभ) की ही महिमा है। उस समय भी वह जीव मिश्र व्यवहारी है।

हाँ, अरहन्त अवस्था मे मन के निष्क्रिय होने पर अरहन्त भगवान् को शुद्ध व्यवहारी की सज्ञा है।

यही पं० बनारसीदास जी ने अपनी परमार्थ वचनिका मे लिखा है।

जीव द्रव्य की तीन अवस्थाये मुख्य स्थापित की—अशुद्ध शुद्धाशुद्ध यानी मिश्र व शुद्ध। ससारातीत सिद्ध अनवस्थित कहे गये हैं।

आगे इन तीनो अवस्थाओ पर विचार करते हुए लिखा है—एक अशुद्धनिश्चयात्मक द्रव्य, एक शुद्धनिश्चयात्मक द्रव्य, एक मिश्रनिश्चयात्मक द्रव्य। अशुद्ध निश्चयद्रव्य को अशुद्ध सहकारी व्यवहार, मिश्र द्रव्य को सहकारी मिश्रव्यवहार, शुद्ध द्रव्य को सहकारी शुद्ध व्यवहार।

आगे लिखते हैं, ससारी सो व्यवहारी व्यवहारी सो ससारी। मिथ्यादृष्टि को अशुद्ध व्यवहार होता है। चौथे से बारहवें गुणस्थान तक मिश्र व्यवहार होता है। केवली भगवान् को शुद्ध व्यवहार होता है।

यदि उपरोक्त पर विचार करे तो विदित होगा कि मो० मा० प्र० अध्याय ७ के अन्त मे वर्णित 'सम्यक्त्व के सम्मुख मिथ्यादृष्टि, है तो मिथ्यादृष्टि किन्तु वह अपने विशुद्ध व्यवहार से जिसमे अभी अशुद्धता

अधिक है चार लब्धियों को बार-बार प्राप्त करता हुआ दर्शन मोहनीय व अनन्तानुबन्धी को क्षीण करता जाता है और एक दिन इसी व्यवहार से उनका उपशम कर सम्यग्दृष्टि होता है । यह सब व्यवहार की ही महिमा है कि आत्म द्रव्य मे विशुद्धता आती है जहाँ अशुद्धता का अश थोडा विशुद्धता का अधिक और जैसे-जैसे जीव गुणस्थानानुसार चढता जाता है, विशुद्धि अंश बढता जाता है । दसवें में संज्वलन कषाय का, जो अति सूक्ष्म है, का भी अभाव कर इस विशुद्ध व्यवहार के आश्रय मे ही शुद्ध व्यवहारी होता है । और अन्त में इस शुद्ध व्यवहार के आश्रय मे अघातिया कर्मों को आयु कर्मानुसार समाप्त करके व्यवहारातीत हो सिद्ध शिला पर जा विराजमान होता है ।

इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति मे व्यवहार सदैव सहायक है । हाँ, अशुद्ध व्यवहार त्याज्य है, हेय है किन्तु विशुद्ध व शुद्ध सहायक है ।

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान

● कु० मीनाक्षी शर्मा, एम० ए०, शोध-छात्रा, मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ

भारतीय संस्कृति के क्षेत्र मे जैन धर्म के योगदान का उल्लेख करने से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि सर्वप्रथम हम इस बात को स्पष्ट करें कि संस्कृति क्या है ? यह एक अत्यन्त गम्भीर प्रश्न रहा है, इस प्रश्न का उत्तर अनेक दृष्टियो से विचारको ने दिया है। सस्कृति मानव के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण प्रकार है। वह मानव जीवन को एक प्रेरक शक्ति है, जीवन को प्राणवायु है, जो चैतन्य भाव की साक्षी प्रदान करती है। सस्कृति विश्व के प्रति अनन्य मैत्री की भावना है जो विश्व के समस्त प्राणियो के प्रति अद्रोह की स्थिति उत्पन्न कर सम्प्रीति की भावना पैदा करती है। बाह्य स्थूल भेदो को मिटाकर वह एकत्व तक पहुँचने का प्रयास करती है। इस प्रकार राष्ट्र का लोकहितकारी तत्त्व सस्कृति है।

सस्कृति का अर्थ सस्कार सम्पन्न जीवन है। वह जीवन जीने की कला है, पद्धति है। वह आकाश मे नही धरती पर रहती है, वह कल्पना मे नही जीवन का ठोस सत्य है। बुद्धि का कुतूहल नही किन्तु एक आदर्श है।

मैलिनाउस्की ने यह कहा है कि सस्कृति सामाजिक विरासत है जिसमे परम्परा से पाया हुआ कला-कौशल, वस्तु-सामग्री, यान्त्रिक-क्रियाएँ, विचार, आदतें और मूल्य समादेशित है।[1]

हुमायूँ कबीर के मत मे सस्कृति सभ्यता की उपलब्धि है। उनके विचारानुसार सस्कृति का जन्म तभी हुआ जब सभ्यता ने मानव अस्तित्व की समस्या हल कर ली या जब सभ्यता ने मनुष्य को दैनिक जीवन की आवश्यकताओ से मुक्ति दे दी तब सस्कृति का प्रारम्भ हुआ।[2]

लिंटन नामक एक अन्य प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् ने सस्कृति को 'सामाजिक विरासत' कहा है। हर्स-कोविट्स ने सस्कृति को मनुष्य का समस्त सीखा हुआ व्यवहार कहा है, अर्थात् वे चीजें जो मनुष्य के पास है, वे चीजे जो वे करते हैं और वह सब जो वे सोचते है, सस्कृति है।[3]

ओसवाल्ड स्पेंगलर ने भी सस्कृति और सभ्यता मे विभेद माना है। उनका मत है कि सभ्यता किसी सस्कृति की चरम अवस्था होती है। हर सस्कृति की अपनी सभ्यता होती है। सभ्यता सस्कृति की अनिवार्य परिणति है। सभ्यता से किसी सस्कृति की बाहरी चरम कृत्रिम अवस्था का बोध होता है। सस्कृति विस्तार है तो सभ्यता कठोर स्थिरता।

टी० एस० इलियट ने सस्कृति की परिभाषा बडी व्यापक की है। उसके अनुसार शिष्ट व्यवहार, ज्ञानार्जन कलाओ का सेवन आदि के अतिरिक्त किसी जाति अथवा राष्ट्र की वे समस्त क्रियाएँ व कार्य जो उसे विशिष्ट बनाते हैं, उसकी सस्कृति के अग है, जैसे घुडदौड, नावो की प्रतियोगिता, खान-पान का प्रकार, संगीत, नृत्य आदि।

सस्कृति किसी एक व्यक्ति के प्रयत्नो का परिणाम नही है, किन्तु अनेक व्यक्तियो के द्वारा बौद्धिक क्षेत्र मे किये गये प्रयत्नो का परिणाम है। एक विद्वान् के अभिमतानुसार—मानव की शिल्पकलाएँ, उसके

१. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज, भाग ४, पृष्ठ ६२१।
२. हुमायूँ कबीर, अवर हेरीटेज, पृष्ठ ६।
३. हर्सकोविट्स, मैन एण्ड हिज वर्क्स, पृष्ठ ६२५।
सोशल फिलासफिज ऑफ क्राइसिस, पृष्ठ ७७-७८।

अस्त्र-शस्त्र, उसका धर्म तथा तंत्र-विद्या और उसकी आर्थिक उन्नति, उसका कला कौशल ये सभी संस्कृति में आते हैं। संस्कृति मानवी जीवन के उन सब तत्त्वो के समाहार का नाम है जो धर्म और दर्शन से प्रारंभ होकर कला-कौशल समान और व्यवहार इत्यादि में अन्त होते हैं।

संस्कृति एक ऐसा विराट् तत्त्व है जिसमे सभी कुछ समाविष्ट हो जाता है। मानव जीवन के ज्ञान, भाव और कर्म ये तीन पक्ष हैं जिसे दूसरे शब्दों मे बुद्धि, हृदय और व्यवहार कहा जा सकता है। इन तीनो तत्त्वों का जब पूर्ण सामजस्य होता है तब संस्कृति होती है। प्रबुद्ध विचारकों ने सस्कृति के चार तत्त्व माने है (१) तत्त्वज्ञान, (२) नीति (३) विज्ञान और (४) कला। इन चारों तत्त्वों मे सभी कुछ समाविष्ट हो जाता है।

धर्म, दर्शन, साहित्य और कला ये सभी तत्त्व मानव जीवन के विकास के श्रेष्ठ फल हैं। मानव जीवन के प्रयत्नो की उत्कृष्ट उपलब्धि है। सस्कृति राजनीति और अर्थनीति को पचाकर विराट् मनस्तत्व को जन्म देती है। यदि राजनीति और अर्थनीति पथ की साधना है तो संस्कृति साध्य है। बौद्धिक प्यास को शान्त करने हेतु जो कार्य मानव करता है वे कार्य सास्कृतिक कार्य कहलाते है। मानव अपनी बुद्धि से विचार और कर्म के क्षेत्र मे जो सृजन करता है वह सस्कृति है। पाश्चात्य विचारक मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा—"विश्व के सर्वोच्च कथनो और विचारो का ज्ञान ही सच्ची सस्कृति है।"

जैनधर्म का भारतीय संस्कृति में योगदान—जैनधर्म प्रागैतिहासिक काल से भारत मे स्थापित रहा और आज भी है। इस धर्म ने अपने अनुपम कार्यों तथा सरल स्वरूप से भारतीय सस्कृति को प्रभावित किया और उसकी समृद्धि में अपूर्व योग दिया। भारतीय सस्कृति के विविध क्षेत्रो मे इस धर्म का जो योग परिलक्षित होता है उसका विवेचन इस प्रकार है—

सामाजिक क्षेत्र में—भारतीय समाज पर बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म का प्रभाव अधिक है। इसका कारण यह है कि विशुद्ध वीतरागता मे विश्वास करते हुए भी उन्होने बौद्धो की भाँति गृहस्थ धर्म को अग्राह्य नही माना। उनके श्रावक धर्म ने अधिकाश लोगो को प्रभावित किया। जैन लोग ससार मे विरक्ति को श्रेष्ठ नही मानते, अपितु वे इनमे रहकर इसकी उन्नति करना ही श्रेयस्कर समझते है। दान उनके जीवन का प्रमुख अंग है। धर्मशालाओ, शिक्षा सस्थाओ, औषधालयो, दानशालाओ एव मन्दिरो का निर्माण कराके इन्होने समाज की बडी सेवा की है। मनुष्यो एव पशुओ की चिकित्सा के लिए औषधालयो के निर्माण तथा उनमे निःशुल्क औषधियो के वितरण की व्यवस्था की। ये लोग बहुत सा धन खर्च करते हैं। जैन लोग गरीबो के प्रति बहुत दयालु है। यह धर्म बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक सहानुभूतिपूर्ण एव सामाजिक है। इस धर्म के प्रभाव के कारण भारतीय समाज मे दान एवं सेवा की प्रवृत्ति का विकास हुआ और समाज सेवा की भावना का प्रादुर्भाव हुआ।

साहित्यिक क्षेत्र में—यद्यपि जैन समाज बहुत छोटा है, किन्तु देश की भाषाओं के विकास मे तथा भारतीय साहित्य की समृद्धि मे इसका महत्त्वपूर्ण योग रहा है। ब्राह्मणो के धार्मिक प्रचार, उपदेश तथा पवित्र ग्रन्थो की भाषा सर्वदा संस्कृत रही और बौद्धो की पालि। परन्तु जैनियो ने अपना धर्म प्रसार, ज्ञान संचय एवं रचना के हेतु विभिन्न स्थलों पर विभिन्न कालो की तत्कालीन भाषाओं का प्रयोग किया। प्राकृत भाषा मे रचित उनका साहित्य बहुत विस्तृत है। इस प्रकार प्राकृत भाषाओ के विकास मे उनका प्रभाव महत्त्वपूर्ण रहा है। उस युग की बोलचाल की भाषाओ को उन्होने साहित्यिक रूप प्रदान किया। कन्नड़ को प्राचीन साहित्यिक रूप देने वाले जैन ही थे। इस भाषा का प्राचीनतम साहित्य जैनियों की कृति है। प्रारम्भिक साहित्य के निर्माण मे इनका बडा योग है। सस्कृत, प्राकृत तथा आधुनिक हिन्दी, मराठी एव

गुजराती के मध्यवर्ती रूप अपभ्रंश में अनेक जैन रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। जैन विद्वानों ने संस्कृत भाषा में व्याकरण, कोष, दर्शन आदि विषयों में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे है। हेमचन्द्र कृत व्याकरण का आज भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मूलरूप में जैन ग्रन्थ अर्धमागधी भाषा मे लिखे गये थे। परन्तु आज वे प्राकृत भाषा में हैं। इनका उत्तरकालीन रूप संस्कृत मे है। यह रूपान्तर श्वेताम्बरो के प्रयत्न से ही सुरक्षित रहा। इन मूल ग्रन्थो पर बाद में अनेक टीकाएँ लिखी गई। इनमे आचार्य 'उमास्वाति' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जिस प्रकार से बुद्ध दर्शन के इतिहास मे वसुबन्धु ने पालित्रिपिटको में बिखरी हुई सामग्री को सँवार कर अपने अभिधर्मकोष मे ग्रंथित करके एक नया रूप दिया और स्वय उस पर भाष्य लिखा उसी प्रकार उमास्वाति ने आगम ग्रन्थों मे यत्र-तत्र बिखरी हुई चिन्तन सामग्री के सकलित करके उसे वैज्ञानिक पद्धति से अपने 'तत्वार्थाधिगम सूत्र' मे व्यवस्थित कर भाष्य लिखा। इसके बाद अनेक दार्शनिक हुए जिन्होंने अपने अध्ययन एवं चिन्तनों से अपने आप्त शब्द को पल्लवित एव व्यवस्थित रूप देकर अपने दार्शनिको को अन्य दर्शनो की पद्धति पर लाकर खडा करने का प्रयत्न किया। इनमे से सबसे प्रमुख सिद्धसेन दिवाकर पंचम शताब्दी के प्रसिद्ध दार्शनिक थे। उन्होंने न्यायावतार, सन्मति तर्क, तत्वार्थटीका नामक दार्शनिक ग्रन्थो की रचना की। इसके अतिरिक्त आठवी शताब्दी मे 'हरिभद्र' प्रसिद्ध 'षडदर्शन समुच्चय' लिखी। बारहवी शती मे 'नेमीचन्द्र' ने 'द्रव्यसग्रह', 'हेमचन्द्र' ने 'योगव्यवच्छेद्द्वात्रिंशिका' और 'प्राणमीमासा' जैसे दार्शनिक ग्रन्थो की रचना की। इस प्रकार इन प्रौढतर्क और अटूट युक्तियाँ उनके दार्शनिक साहित्यो मे आज तक सुरक्षित है। संस्कृत और प्राकृतिक का साहित्य भण्डार जैन कृतियो से भरा पडा है। वस्तुत जैनो ने सर्वतोमुखी साहित्य प्रस्तुत करके भारती के अक्षय भण्डार को भरा है।

श्री वाचस्पति गैरोला का कथन है कि "धार्मिक सुधार के कारण और समाज की विश्वासपात्रता को प्राप्तकर जैनो ने सबसे बडा जोर दिया साहित्य के निर्माण पर। कला के क्षेत्र मे भी जैन धर्मानुयायियो ने अच्छा कार्य किया। उन्होने ताडपत्र, भोजपत्र, कपडे एव कागज पर सहस्रो पोथियाँ लिखकर भारतीय ज्ञान की परम्परागत पोथी को सुरक्षित रखा। पोथियो की दफ्तियो और पोथियो के बीच-बीच में उन्होंने अच्छे-अच्छे चित्रो का भी निर्माण किया। भारत के प्राय सभी हिस्सो मे आज जैन मन्दिरो मे बृहद् ग्रथागार सुरक्षित हैं और उस ग्रन्थ सामग्री को देखकर आज सहज ही हमें जैनियो की कलाभिलाषा एव अनेक ज्ञानानुराग का परिचय मिलता है।"[1]

धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में--धार्मिक क्षेत्र मे जैन धर्म की सबसे बडी देन अहिंसा का सिद्धान्त है। प्रायः अहिंसा को परमधर्म बनाने का श्रेय बौद्ध धर्म को दिया जाता है, किन्तु यह लोक प्रचलित धारणा ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नही है। अहिसा को परम धर्म बनाने वाला जैन धर्म ही है। जैन धर्म के अनेकान्त और स्याद्वाद के सिद्धान्त यह शिक्षा देते है कि प्रत्येक कथन मे आशिक सत्य है, सम्पूर्ण सत्य के सभी विविध दृष्टिकोणो का अध्ययन आवश्यक है। इसके परिणामस्वरूप भारत मे पूर्व काल से विद्यमान सहिष्णुता एव उदारता की भावना शुरू हुई। जैन धर्म के प्रभाव के कारण धर्म के क्षेत्र मे जैन दर्शन मे योग तथा मनोविज्ञान का सूक्ष्म दृष्टि से वर्णन किया गया है। ऐसा सूक्ष्म विवरण आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी नही कर सके है। इस विषय मे डॉ० शान्तिप्रकाश आत्रेय का कथन उल्लेखनीय है, "जैन जीव द्रव्य तथा गुण चेतना को अपने तरीके से भिन्न बताते है। पाश्चात्य मनोविज्ञान के समान चेतना के ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रिया-

१. श्री वाचस्पति गैरोला, 'भारतीय चित्र कला', पृ० ११३।

त्मक तीन रूप है। जैन दर्शन में मानसिक क्रिया के दो कारण होते हैं—(१) उपादान, (२) निमित्त। इन दो कारणो के सिद्धान्त के अनुसार जैन मनोविज्ञान सब मानसिक क्रियाओं के दो-दो पहलुओ को लेते है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय, दोनो प्रकार की इन्द्रियो के द्वारा होता है। साधारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष के लिए दर्शन शब्द का प्रयोग होता है, अन्य के लिए ज्ञान का। इसका पूर्ण रूप से विवेचन जैन ज्ञान मीमासा मे दिया गया है, जिसका किसी अश मे आधुनिक मनोविज्ञान के निरूपण से भी अधिक सूक्ष्म विवेचन है।[1]

डॉ० मंगल देव शास्त्री का कथन है, "इसमे सदेह नही कि न केवल भारतीय दर्शन के विकास का अनुगमन करने के लिए, अपितु भारतीय सस्कृति के स्वरूप के उत्तरोत्तर विकास को समझने के लिए भी जैन दर्शन का अत्यन्त महत्त्व है। भारतीय विचारधारा मे अहिंसावाद के रूप में अथवा परम सहिष्णुता के रूप में अथवा समन्वयात्मक भावना के रूप मे जैन दर्शन और जैन विचारधारा की जो देन है उसको समझे बिना वास्तव मे भारतीय सस्कृति के विकास को नही समझा जा सकता।"[2]

यद्यपि अहिंसा का प्रतिपादन सभी धर्म करते है, किन्तु अहिंसा को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाने का श्रेय जैन धर्म को ही है। जैन धर्म के चौबीसवे तीर्थकर महावीर स्वामी से पूर्व भारत मे यज्ञो मे पशुबलि दी जाती थी और हिंसा को ही धर्म समझा जाता था। किन्तु महावीर के उपदेशो के परिणामस्वरूप बलिप्रथा तथा हिंसात्मक प्रवृत्ति की समाप्ति हो गयी। दया और अहिंसा को जितना अधिक महत्त्व जैन धर्म मे दिया गया है उतना अन्य किसी धर्म मे दृष्टिगोचर नही होता। प्रत्येक प्राणी से प्रेम करने की शिक्षा जैन तीर्थंकरो ने ही दी। महावीर ने समस्त ससार को यह शिक्षा दी कि प्रत्येक मनुष्य को अन्य मनुष्यो को भी अपने समान ही समझना चाहिए। वर्तमान वेदान्त पर जो अहिंसा की छाप है उस पर जैनधर्म का ही प्रभाव है। यज्ञो मे पशुबलि की समाप्ति का श्रेय महावीर को ही है।

जैसे वेदान्त दर्शन का केन्द्र बिन्दु अद्वैतवाद और मायावाद है, साख्य दर्शन का मूल प्रकृति और पुरुष का विवेकवाद है, बौद्ध दर्शन का चिन्तन विज्ञानवाद और शून्यवाद है, वैसे ही जैन संस्कृति का आधार अहिंसा और अनेकान्तवाद है।

विज्ञान के क्षेत्र में योगदान—जैन धर्म का योगदान विज्ञान के क्षेत्र मे भी कम नही रहा। विज्ञान के विविध अगो की अभिवृद्धि मे इस धर्म का महत्वपूर्ण योग रहा है। परमाणुवाद, अणुवाद तथा वनस्पति विज्ञान जिसकी उन्नति का श्रेय आधुनिक वैज्ञानिको को दिया जाता है, उनका सूक्ष्म विवेचन जैन ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। श्री वाचस्पति गैरोला का विचार है कि "आज से सैकडो वर्ष पूर्व जैन विचारक परमाणुवाद के ऊपर गम्भीरता से विचार कर चुके थे। आज समस्त विश्व को परमाणुवाद द्वारा जो सर्वथा नई दिशा मिली है उससे व्यक्ति-व्यक्ति परिचित है। विज्ञान की दिशा मे परमाणुवाद की प्रगति ने आज असम्भव बातो को भी सम्भव बना के रख दिया है। इस दृष्टि से आज वैज्ञानिको ने परमाणुओ के सम्बन्ध मे कुछ कहने के लिए शेष नहीं रखा है फिर भी हम यहाँ परमाणुवाद पर इस दृष्टि से विचार करेंगे, जो जैन विचारको ने किया था।"[3]

वनस्पति शास्त्र के क्षेत्र मे जैन धर्म के योगदान का उल्लेख करते हुए श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी लिखते है, "जैनियो ने वनस्पति शास्त्र का भी अच्छा विवेचन किया है जो अन्यत्र नही मिलता। प्रो० बोस

१ डॉ० शान्ति प्रकाश आत्रेय, 'योग-मनोविज्ञान' पृष्ठ १५।
२. डॉ० मगलदेव शास्त्री, जैन 'दर्शन', पृ० १४।
३ श्री वाचस्पति गैरोला, 'भारतीय दर्शन', पृष्ठ १२५।

के आविष्कार के वर्षों पहले जैनाचार्यों ने वनस्पति काय को प्राण सहित बतलाया था। वे जल, वायु, अग्नि और पृथ्वी कार्य में भी जीवत्व मानते हैं। इस अवस्थाओ में जीव एक स्पर्शन इन्द्रिय और सूक्ष्म ज्ञान द्वारा ही माना जाता है। जीव अपनी इस निम्न अवस्था में भी चार संज्ञाओ (१) आहार, (२) भय, (३) मैथुन (४) परिग्रह को रखता है। वृक्षो पर डॉ० बोस ने जो प्रयोग किये हैं उनसे जैनो की इस प्राचीन मान्यता का समर्थन होता है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के लिए यह गोरव की बात है कि उसके सदस्य जैनियों ने उसको ज्ञानमार्ग में इतना ऊँचा उठाया था।[1]

लोक मे जैन-धर्म अहिंसा और कायक्लेश के विषय मे अधिक जोर देने के लिए प्रसिद्ध है। अहिंसा का आधार यह विश्वास है कि समस्त प्रकृति, जो बिलकुल जड दीखती है, वह भी प्राण से युक्त है और जीवित हो सकती है। इस स्थिति के कारण जैन समस्त प्राणी, बीज, अकुर, पुष्प, अण्डे, माँद या गुफाएँ और ओस, कुहरा, ओले और नमी इत्यादि को सजीव मानता है।[2]

कला के क्षेत्र में—कला के क्षेत्र मे जैन धर्म का महान योगदान रहा है। बौद्धो की भाँति जैनियों ने भी अपने तीर्थकरो की स्मृति मे चैत्य, मन्दिर, प्रस्तर वेदिकाएँ अलकृत तोरण स्थापित कराये। इस प्रकार कला विकसित होने लगी। स्थापत्यकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला के क्षेत्र में इस धर्म का अपूर्व योगदान रहा है। बौद्धो की भाँति जैनियो ने भी ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर भिक्षुगृहो का निर्माण कराना आरम्भ किया। इसके सबसे अच्छे उदाहरण उडीसा मे उदयगिरि गुफा, ऐलोरा मे इन्द्र सभा, पालीथाना मे शत्रुञ्जय पहाडी, आबू पर्वत पर विमला और तेजपाल का मन्दिर, गिरनार मे नेमिनाथ का मन्दिर, पार्श्वनाथ पहाडी के अवशेष, राणापर (जोधपुर), खजुराहो (मध्य भारत) मे आदिनाथ का मन्दिर तथा चित्तौड में राणा कुम्भा का विजय स्तम्भ आदि है। भारत के दक्षिण में श्रमणबेलगोला मुद्राबिद्री मन्दिर तथा गुरुवायंकेरी मार्ग मे उपासको का स्तूप इसके सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। आधुनिक जैनभवन बुन्देलखण्ड मे सोनागढ़ तथा अहमदाबाद में हाथी सिंह मन्दिर इसके सुन्दर उदाहरण हैं। देलवाडा का जैन मन्दिर कलामर्मज्ञो की दृष्टि में ताजमहल की समता रखता है। आबू पर्वत पर श्वेत संगमरमर के जैन मन्दिर अनुपमेय हैं। इस प्रकार इनकी स्थापत्य कला अनुपम है।

मूर्तिकला के विकास मे भी जैन धर्म का अपूर्व योग रहा है। दक्षिण भारत मे श्रमणबेलगोल मे गोमटेश्वर तथा मैसूर मे कारकल के नाम से प्रसिद्ध बाहुबलि की प्रतिमाएँ विश्व की आश्चर्यजनक मूर्तियो मे से हैं। 'राजस्थान में आबू पर्वत पर बेलवाड के समीप ग्यारहवी' शताब्दी के जैन मन्दिरों में भारतीय कला प्रतिमा शिल्पी की अलकृत पाषाण आकृतियो मे अपनी चरम पराकाष्ठा पर मिलती है।[3] गोमटेश्वर की सत्तर फीट ऊँची प्रतिमा पहाड के शिखर पर स्थित है। इस प्रतिमा का निर्माण घग सम्राट् राजमल्ल चतुर्थ के मन्त्री और सेनापति जैन चामुण्डराय ने कराया था। बड़वानी नगर (दक्षिण मध्य भारत) के समीप इसी प्रकार की ८४ फीट ऊँची जैन तीर्थंकर आदिनाथ की विशालकाय प्रतिमा आज भी विद्यमान है। स्थापत्य एव मूर्तिकला के अतिरिक्त चित्रकला के विकास मे भी जैनियो ने योगदान दिया है। उनकी चित्रकला का प्रदर्शन उनकी हस्तलिखित पुस्तको पर दृष्टिगोचर होता है, जिसमे चमकीले रगो का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार जैन धर्म ने भारतीय सस्कृति पर परोक्ष रूप से अपनी अमिट छाप अंकित की है तथा उसके विकास मे बड़ा योग दिया है। भारतीय धर्म समाज साहित्य तथा कला के क्षेत्र मे जैन धर्म का बहुत

१. श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी, 'हिमालय मे भारतीय, सस्कृति,' पृष्ठ ४८।

२. कल्पसूत्र, ४४-४५।

योग रहा है। श्री वाचस्पति गैरोला का कथन है, "वैदिक युग मे व्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैन धर्म ने ही किया। धर्म, दर्शन, संस्कृति और कला की दृष्टि से भारतीय इतिहास में जैन धर्म का विशेष योग रहा है।"[1]

विभिन्न भारतीय कलाओ के विकास में इस धर्म ने अपूर्व योगदान दिया है। जैनियों के द्वारा बनवाये गए भव्य एव विशाल मन्दिर आज भी स्थापत्य कला के क्षेत्र मे भारत की प्रगति के परिचायक हैं। एक बार महारानी गायत्री देवी ने कहा था, "यदि राजस्थान से जैन कला कृतियों को हटा दिया जाये तो कला के नाम पर वहाँ कुछ भी अवशिष्ट न रहे।" उनका यह कथन यथार्थ ही था।

मन्दिरो और मूर्तियों का निर्माण भी जैन सम्प्रदाय ने खूब किया। जैसे बौद्ध अपने महात्माओं के स्तूप बनवाते थे, वैसे ही, बहुत से स्तूप जैनों के भी हैं। मथुरा मे पाये जाने वाले जैन स्तूप सबसे पुराने हैं। बुन्देलखण्ड मे ग्यारहवी और बारहवी सदियों की जैन मूर्तियाँ ढेर-की-ढेर मिलती हैं। मैसूर के श्रमण बेलगोला और करकल नामक स्थानो मे गोमटेश्वर या बाहुबली की विशाल प्रतिमाएँ हैं। ग्वालियर के पास चट्टानों में जैन मूर्तिकारी के जो नमूने हैं, वे पन्द्रहवी सदी के है। जैनों ने पर्वत काटकर कन्दरा-मन्दिर भी बनवाये थे, जिनके ई० पू० द्वितीय शती के नमूने उडोसा की हाथी-गुम्फकन्दरा मे मिलते हैं। बिहार मे पार्श्वनाथ, पावापुरी और राजगिर मे तथा काठियावाड मे गिरनार और पालिवान मे भी जैनो के मन्दिर तथा तीर्थस्थान है।[2]

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जैन धर्म का श्रमण परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस धर्म का भारतीय जीवन के निर्माण और परिवर्तन में विशेष हाथ रहा है।

१. श्री वाचस्पति गैरोला, 'भारतीय दर्शन', पृष्ठ ९३।

२. श्री रामधारी सिंह दिनकर—'सस्कृति के चा अध्याय', पृष्ठ १४६।

जीवन्धरचम्पू : एक समीक्षात्मक दृष्टि

● राका जैन, अलीगंज

जीवन्धरचम्पू महाकवि हरिचन्द्र प्रणीत जैन चम्पू काव्य है। संस्कृत साहित्य की चम्पूकाव्य-त्रिवेणी-(नलचम्पू, यशस्तिलकचम्पू और जीवन्धरचम्पू) में इसका स्थान है। इसमें भ० महावीर के समकालीन ऐसे महापुरुष का जीवन-वृत्तगुम्फित है जो कि दुखों को दूर करने वाला है (जीवन्धरस्य चरित दुरितस्य हन्तृ)—ऐसा ग्रन्थ-प्रणेता का भाव है। त्रेसठ शलाका पुरुषों से भिन्न होने पर भी पुराण ग्रन्थों में इनकी जीवन-झाँकी प्रस्तुत की गयी है। ११ लम्भो में विभक्त प्रस्तुत महाकाव्य तुल्य चम्पूकाव्य का बहुमुखी परिचय यहाँ पाठकों को प्राप्त होगा।

मानव के अन्तर्मन की भावनाओ, अनुभूतियों, कल्पनाओं और विचारसरणि का प्रतिबिम्ब ही काव्य है। काव्य के कण-कण में कवि की व्यक्तिगत एवं सामाजिक सवेदना पिरी होती है क्योकि काव्य कृतिकार का और कृतिकार के परिवेश का दर्पण होता है। काव्य के तार-तार मे, अंश-अश मे जीवन की अनुभूतियाँ गुँथी होती है। यही कारण है कि काव्य नियति कृत नियमों मे उन्मुक्त है। उसका माहात्म्य अनिर्वचनीय है। इसके बिना तो मनुष्य पशुतुल्य हो जायगा। संस्कृत, विश्व की प्राचीनतम भाषाओ में एक है। अत उसको काव्य-सर्जनाएँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। सामान्यत संस्कृत काव्य दृश्य और श्रव्य के भेद से द्विधा विभक्त है। चम्पूकाव्य श्रव्यकाव्य की मिश्रशैली मे अन्तर्भुक्त है, जो कि करम्भक, विरुदादि से सर्वथा भिन्न है। चम्पू शब्द की व्युत्पत्ति चुरादिगण के गत्यर्थक चपि धातु से हुई। श्रीहरिदास भट्टाचार्य ने सहृदयो को चमत्कृत करके पवित्र करने वाले काव्य को चम्पू की संज्ञा दी। चमत्कार से अभिप्राय है—उक्तिवक्रता एव शाब्दिक काट-छाँट। अत चम्पू द्वारा शाब्दिकचातुर्य के साथ-साथ चमत्कार प्रदर्शन भी होता है। गद्यपद्य मिश्रित सालंकृत काव्य ही चम्पूकाव्य है। विविध चम्पूकारो ने चम्पू-काव्य-महत्ता प्रतिपादित की है। स्वयं जीवन्धर-चम्पूकार महाकवि हरिचन्द्र ने चम्पूकाव्य के आनन्द को बाल्यवस्था और किशोरावस्था के बीच विचरण करने वाली किशोरी कन्या के हर्ष तुल्य बताया। इतिहासकारो ने चम्पू शब्द का अर्थ ही सहृदयो को चमत्कृत करने वाला ही कहा है। यद्यपि चम्पूनिर्माण परम्परा का अनुवर्तन प्रथम शती तक हो चुका था। ९-१० शती तक यह विधा द्रुतगति से चलती रही। दक्षिण भारत मे चम्पूकाव्य-सृजन सर्वाधिक हुआ तथा मलयालम, कन्नड, तैलगू, कैरली, प्राकृत आदि अनेक भाषाओ में चम्पू के दर्शन होते है किन्तु विधिवत् संस्कृत चम्पूकाव्य का विकास दशवी शती के पूर्वार्द्ध से हुआ। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का प्रतिपाद्य विषय जीवन्धरचम्पू से पूर्व दो चम्पूकाव्यरत्नो का प्रणयन हो चुका था। अब तक उपलब्ध चम्पुओ की सख्या लगभग २४५ है। आज भी कतिपय संस्कृत विद्वान् अपनी लेखनी का लक्ष्य चम्पूकाव्य बना रहे हैं।

अलौकिक घटनाओं से आपूरित क्षत्रचूडामणि की कथा से ओत-प्रोत जीवन्धरचम्पू पाठको को सहज ही चमत्कृत करके पवित्र करने वाला है। यदि इसका चित्रपट बन जाता तो अनायास ही मानव के मध्य एक आदर्श उपस्थित हो जाता। प्रस्तुत जीवन्धरचम्पू मे समस्त चम्पूकाव्यतत्वो का सम्यक् परिपालन हुआ है। चम्पूकाव्यत्व की दृष्टि से जीवन्धरचम्पू उत्कृष्ट काव्यरत्न है। इसकी कथा दु.खो को हरने वाली है—"जीवन्धरस्य चरितं दुरितस्य हन्तृ"। सकल चम्पू काव्य-तत्वो एवं धार्मिक सिद्धान्तो से समन्वित जीवन्धर-चम्पू में कवि ने स्व बुद्धि-कौशल दर्शाकर चम्पूकाव्य-शृंखला मे एक अभिनव काव्य का प्रारूप प्रस्थित कर दिया है। अध्येताओं की हृदयांजलि ने सौरभ-समन्वित सुमन-समूहों को सँवार लिया। अस्तु विविध गुणो से

आपूरित जीवन्धरचम्पू के प्रति सहृदयो ने मुक्तवाणी से उसकी महत्ता प्रतिपादित कर स्वाभाविक भाव बना लिये । महाकवि हरिचन्द्र ने गद्यपद्यमय कोमलकान्त पदावली द्वारा सौम्य-शब्दार्थ युत भाषा मे अनुप्राणित जीवन्धर के पुण्य चरित को पाठको के लिए सुगम बना दिया ।

निर्दोष, गुणालकारशाली व सरस काव्यशास्त्रो का अध्ययन, श्रवण व मनन आदि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष---इन चार पुरुषार्थों का एव सगीत आदि ६४ कलाओ का विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न करता है । यह कीर्ति तथा प्रीति को बढ़ाता है । जीवन्धरचम्पू भी समूचे भारतीय सस्कृत साहित्य में उच्च कोटि का निर्दोष, गुणालकारशाली, सरस, अनोखा एव बेजोड चम्पूकाव्य है अत. इसके अध्ययन से इसकी उपादेयता स्वयसिद्ध है । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय जीवन्धरचम्पू का जो सस्करण ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित हुआ है उसमें संक्षिप्त भूमिका एव अनुवाद के साथ पुस्तक का प्रामाणिक सम्पादन तो कर दिया गया है किन्तु इस चम्पू-काव्य के साहित्यिक मूल्याकन एवं समीक्षात्मक अनिवार्य आवश्यकता यथावत बनी हुई है । साथ ही महाकवि हरिचन्द्र के व्यक्तित्व एव कृतित्व के विषय मे ऐतिहासिको के द्वारा उठाए गए प्रश्न अद्यावधि अनुत्तरित हैं । महाकवि हरिचन्द्र के जीवन्धरचम्पू के काव्य-शिल्प एव काव्य-सौष्ठव के सम्यक् मूल्याकन के लिए तत्कालीन सास्कृतिक परिस्थितियो के सर्वेक्षण को भी प्रस्तावित किया जा रहा है । अभी तक जीवन्धरचम्पू पर समीक्षात्मक पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नही हुई । यही कारण है कि महाकवि हरिचन्द का जीवन्धरचम्पू कालिदास, माघ, भारवि प्रभृत कविर्मनीषियो की कृतियो की भाँति जन-जन के मुक्त कण्ठ का हार न बन सका । जीवन्धरचम्पू मे सुन्दर भावो के साथ शैली-चातुर्य भी पर्याप्त मात्रा में वृद्धिगत है । जीवन्धर-चम्पू के सर्वविध विवेचन को प्रस्तुत करना प्रस्तुत अध्ययन का प्रमुख तात्पर्य है जिसे सहृदय पाठक सहज ही समझने की कोशिश करेगे एव इस ओर अपनी अभिरुचि जागृत रखेगे । इसमे जीवन्धर स्वामी के चरित्र-चित्रण के व्याज से राजनीति, राज-कौशल, युद्ध-क्रीडा, विविध विद्याएँ, आयुर्वेद, प्रासंगिक कथाए, ज्योतिष, पुराण, अलकार, छन्दशास्त्र, सुभाषित-सचय, प्रबोध-गीत, सामाजिक-स्थिति, अनोखी काव्य-कला जैन-सिद्धान्त-प्ररूपणा आदि के ललित निरूपण के द्वारा ज्ञान का खजाना भरा हुआ है ।

जीवन्धरचम्पूकार महाकवि हरिचन्द्र का स्थान माघ, कालिदास एव भारवि की श्रेणी मे प्राप्त है । उनकी गणना मुख्यतम चम्पूकारो के मध्य की जाती है । हरिचन्द्र नाम के नौ विद्वानो का उल्लेख प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे किया गया है जिसमे हमारा लक्ष्य जीवन्धरचम्पू एव धर्मशर्माभ्युदय के प्रणेता महाकवि हरिचन्द्र की ओर है । इनके व्यक्तित्व के विषय मे पर्याप्त जानकारी ओझल ही है । हाँ, धर्मशर्माभ्युदय महा-काव्य की प्रशस्ति मे अवश्य इन्होने यत्किंचित् अपने विषय मे लेखनी चलाई । प्रसिद्ध नामक वश के सम्पन्न परिवार मे इनका जन्म हुआ । ये जन्मना कायस्थ थे किन्तु जैनधर्म से प्रभावित होकर जैनधर्म को अगीकार कर जैन महापुरुषो के चरित को अपना लक्ष्य कर अपना अध्ययन-अध्यापन-प्रणयन क्षेत्र बनाया । इनके समय के विषय में विविध विद्वानो ने विविध मत उपस्थित किये हैं । जीवन्धरचम्पूकार महाकवि हरिचन्द्र को ११-१२वी शती का माना गया है । महाकवि हरिचन्द्र की दो ही रचनाएँ प्राप्त होती है---जीवन्धरचम्पू (प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का लक्ष्य ग्रन्थ) एव धर्मशर्माभ्युदय (२१ सर्गों मे रचित जैनधर्म के १५वे तीर्थङ्कर भ० धर्मनाथ का पुण्य चरित) दोनो ही काव्य-रत्नो मे काव्य-सौन्दर्य कूट-कूट कर भरा है । प० नाथूराम प्रेमी ने जीवन्धर-चम्पू के कर्ता हरिचन्द्र को धर्मशर्माभ्युदय के रचयिता हरिचन्द्र से भिन्न माना पर दोनो के भावों एव शब्दो की समानता से जान पडता है कि दोनों के कर्ता एक ही हैं । ऐसा संस्कृत के प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् कीथ का मन्तव्य है । दोनों के एककर्तृत्व की सिद्धि हेतु जीवन्धरचम्पू एव धर्मशर्माभ्युदय के अनेक समरूप अंशों को भी मैंने अपने इस शोध-प्रबन्ध मे प्रस्तुत किया है ।

जैन कथाग्रन्थों की रचना का मूल आधार कर्मसिद्धान्त का विवेचन रहा है। जीवन्धर का समूचा चरित्र इसी का दिग्दर्शक है जिसे कवि ने 'नियतिनियतरूप प्राणिना हि प्रवृत्ति.' कह कर अभिव्यक्त किया है। कथानक विस्तृत है तथापि महाकवि हरिचन्द्र ने उसे एकादश लम्भों में पूरा कर दिया। यही कारण है कि कथानक के प्रवाह मे विरसता न आ सकी। कथा २३ वे कामदेव जीवन्धर स्वामी के जीवन की प्रमुख घटनाओ पर आधृत है जो हमें बहुविध शिक्षा प्रदान करती है। जीवन्धर-कथा में कथा-तत्त्वों का सम्यक् गठन हुआ है। इसका विवेचन शोध-प्रबन्ध में यथास्थान किया गया है। संस्कृत ही नही, अनेक भाषाओ की सर्वविध रचनाओं में जीवन्धर-कथा को बडा महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। कथावस्तु के औचित्य पक्ष को अधिकाधिक सबल एवं शिव बनाने के लिए यथास्थान कवियो ने इच्छानुसार परिवर्तन किये हैं किन्तु वर्ण्य एवं अलंकरणीय नायक जीवन्धर ही है। जीवन्धर-कथा की लोकप्रियता कम नही। हमारी दृष्टि में १८ ग्रन्थ जीवन्धर-कथा से सम्बन्धित आये हैं। स्तोत्रादि मे भी जीवन्धर-कथा का संकेत मिलता है। आज भी अनेक पत्र पत्रिकाओ में जीवन्धर-जीवन को लक्ष्य कर लेखादि लिखे जा रहे हैं। यो जीवन्धर कथा की लोकप्रियता कम नही। इस सबका मूल कारण है—अलौकिक घटनाओ से आपूरित जीवन्धर का जीवन। कथा की प्राचीनता को देखते हुए सर्वप्रथम राजा श्रेणिक (ई० पू० ५१६ या ५४६) ने सुधर्माचार्य से जीवन्धर कथा सुनी। जीवन्धर कथा में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनसे कथानक का औचित्य सिद्ध होता है और पाठक का चित्त आगे बढती हुई कथा की पूर्ण जानकारी के लिए दौडता रहता है। वादीभसिंह सूरि कृत क्षत्रचूडामणि जीवन्धर चम्पूका उपजीव्य (स्रोत) है। गुणभद्राचार्य कृत उत्तरपुराण, वादीभसिंह सूरि कृत गद्यचिन्तामणि एवं क्षत्रचूडामणि, महाकवि पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश महापुराण, जीवन्धरचम्पू एव दौलतराम कासलीवाल कृत जीवन्धर स्वामिचरित प्रभृति जीवन्धरस्वामि चरित्र-ग्रन्थो मे यद्यपि प्रतिपाद्य विषय जीवन्धर का चरित ही है तथापि यत्र-तत्र कथा-स्वरूप मे अन्तर हुआ है। इसमें प्रत्येक कवि के मौलिक विचार ही कारण है। गद्यचिन्तामणि, क्षत्रचूडामणि और जीवन्धरचम्पू एवं उत्तरपुराण, महापुराण एव जीवन्धरस्वामिचरित के कथास्वरूप में बहुत कुछ एकरूपता है। महाकवि हरिचन्द्र ने जीवन्धरचम्पू की भाषा काव्य-सौन्दर्यमयी बना दी है, जो कथावस्तु के प्रस्तुतीकरण मे एक महान् मौलिक परिवर्तन उपस्थित करती है। कथा-प्रवाह को अतीव स्वाभाविक एवं सरस बनाने के लिए कवि द्वारा कथा मे कुछ विशेष एव कुछ सामान्य मौलिक परिवर्तन हुए हैं जिनका कथा-क्रम से विवेचन भी किया गया है। पूर्ववर्ती कवियो से प्रभावित होना भी स्वाभाविक ही है। जीवन्धर कथा विषयक सभी चरित-ग्रन्थ अपने में बेजोड है। देवर कवि कृत (जीवकचिन्तामणि) तमिल प्रदेश में "मणनुकू" अर्थात् "शुभविवाह ग्रन्थ" नाम से प्रसिद्ध है। तमिल प्रदेश में वैवाहिक कार्यक्रम में जीवन्धर-कथा का अवश्य ही वाचन होता है। अन्य ग्रन्थो की अपेक्षा शिल्प-सौन्दर्यादि की दृष्टि से जीवन्धरचम्पू अधिक गुण संपन्न सिद्ध हुआ है। अन्यों की अपेक्षा इसमें प्रतिपाद्य-अश के साथ पाठक को साधारणीकरण करने का प्रभूत अवकाश है अतः महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता सवादो द्वारा ही संभव है। जीवन्धरचम्पू में शृंखलाबद्ध एवं उन्मुक्त दोनों प्रकार के सवादो का समाहार हुआ है।

जीवन्धर कथा के आधारभूत विभिन्न पात्रो के आचरण व्यवहार के समष्टि रूप ने ही जीवन्धरचम्पू काव्य का विकास किया। प्रस्तुत के चम्पू सभी पात्र नायक जीवन्धर की चरित्रगत विशेषताओ को सम्बर्धित करने में भरपूर सहायक हुए हैं। नायक जीवन्धर का चरित्र उत्कृष्ट कोटि का है। काष्ठागार प्रतिनायक है जो कि सर्वदा जीवन्धर के अहित की कामना करता है। नृप सत्यन्धर जीवन्धर के पिता एव राजपुरी के राजा थे। श्रेष्ठी गन्धोत्कट का चरित्र बुद्धि-चातुर्य का स्पष्ट उदाहरण है। वत्स-वात्सल्य अप्रतिम है। यक्ष ने नायक-जीवन्धर के जीवन में पग-पग पर उपकार किया। राजा गोविन्दराज (जीवन्धरमातुल) जीवन्धर को काष्ठागार

से राज्यसिंहासन दिलाने मे पूर्ण सहायक हुए । रानी विजया जीवन्धर की माँ है । उसके जीवन में दुख-सुख का अद्भुत समन्वय हुआ है । गन्धर्वदत्ता जीवन्धर की पट्टरानी एव काव्य की नायिका (स्वकीया) है । गुणमालादि अष्ट रानियों मे सौहार्द्रता महनीय है । इसके पात्रो का परिस्थिति, वातावरण एव भावों के प्रति साधारणीकरण हो जाता है और पात्रों की उन उच्च भावनाओ के साथ पाठक तादात्म्यभाव उपस्थित करता है अस्तु पात्र-चित्रण उच्चकोटि का हुआ है । शिल्प भी आकर्षक एव स्वाभाविक है । पात्रो की संख्या लगभग ८६ है जिनमे उच्चवर्गीय पात्र सर्वाधिक हैं ।

एकादशलम्भीय जीवन्धरचम्पू मे प्रयुक्त एकादश रसो मे अगीरस शान्त रस है एवं शृंगार, वीर एवं शान्त का बाहुल्य है तथापि अन्यों का अभाव नही, अस्तु सभी रसो का समन्वय हुआ है । रस एव भाव का अन्योन्य सम्बन्ध है । भावशान्ति, भावोदयादि भावों के विविध रूपो के साथ भाव-सौन्दर्य का सयोजन यहाँ दर्शनीय है । रस के उपादान विभाव, अनुभाव एव व्यभिचारीभाव का सगुम्फन भी प्रभावोत्पादक है ।

भाषा भावो को वहन करती है अत इसके बिना भावाभिव्यजना सम्भाव्य नही । जीवन्धरचम्पू की भाषा भावानुकूल, अल्प समास संयुत मृदु, कही-कही क्लिष्ट समास बहुल, चमत्कारिक, वस्तु-चित्रण के अनुरूप एव प्रभावोत्पादिका है । इस प्रकार जीवन्धरचम्पू के भाषा-सौष्ठव मे यदि कलात्मक उच्च कुलाचल है तो सरल मार्ग भी, यदि हाथी-शेरो से युक्त अरण्य है तो मनोरम पवन भी बहती है जहाँ पाठक ठहर कर, नया होकर पठन-पाठन के लिये आगे बढ जाता है । यद्यपि जीवन्धरचम्पू मे अनेक अलकारो का सयोजन हुआ है किन्तु महाकवि हरिचन्द्र को सर्वाधिक सफलता उत्प्रेक्षालकार मे ही मिली है । वे "उत्प्रेक्षा-कवि" नाम से प्रसिद्ध हो गये । इसके ७०५ श्लोको मे २४ छन्दों का प्रयोग हुआ जिसमे "अनुष्टुप" छन्द का सर्वाधिक । ग्रन्थ का प्रारम्भ स्रग्धरा छन्द में हुआ जो कि श्रीसमृद्धि प्रदायक माना गया है । यहाँ वैदर्भी, गौडी, पाँचाली, लाटीया और अवन्तिका रीति के दर्शन होते है । गुण-सौन्दर्य हृदयावर्जक है । ओज, माधुर्य एव प्रसाद तीनो ही गुण द्रष्टव्य हैं । शैली का उत्कर्षविधायक स्वरूप यहाँ अवलोकनीय है जो अत्युत्तम है ।

जीवन्धरचम्पू मे सामाजिक एव सास्कृतिक जीवन का उत्कृष्ट रूप भी परिलक्षित होता है । भारतीय सस्कृति मे पुरुषार्थ-चतुष्टय का महत्त्वपूर्ण स्थान है । जीवन्धरचम्पू मे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-पुरुषार्थ चतुष्टय का सम्यक् परिपालन हुआ है । धर्म की दृष्टि से जीवन्धरचम्पू जैन-धर्म का अप्रतिम ग्रन्थरत्न है जिसमे जैन सिद्धान्तो का अनुकरण किया गया है । मानव जीवन यापन के लिये अर्थ की परमावश्यकता होती है । जीवन्धर स्वामी अर्थ रूप राज्य की प्राप्ति के लिये पुरजोर प्रयत्न करते है जिसमे उन्हे सफलता अर्जित होती है । मनुष्य द्वारा जिसकी कामना की जाय वह काम है । यह काम ही सुख है । प्राचीन काल मे काम का अर्थ वासना नही, सुख था । यहाँ वासना (अष्ट रानियो के प्रसग मे) एव सुख उभय रूप काम की अवतारणा हुई है । मोक्ष जीवन का चरम लक्ष्य है । जीवन्धर स्वामी ने मोक्ष लक्ष्मी को वरण किया । पुरुषार्थ-परिशीलन के अतिरिक्त जीवन्धरचम्पू की रचना का उद्देश्य जीवन-शोधन है । इस काव्य मे जिन जीवन-मूल्यो का निरूपण किया गया है उसमे पूर्णत्व या मोक्ष-प्राप्ति सबसे बडा जीवन मूल्य है । गुणो के आधार पर ही वर्ण-व्यवस्था गठित होती है । यद्यपि यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की अधिकता से प्ररूपणा हुई । किन्तु वैश्य और क्षत्रिय की सर्वाधिक । यातायात के साधन भी अल्प थे । व्यवसाय वर्णों के हिसाब से होता था । हरिचन्द्रकालीन भारत मे सयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित थी । अपनो से बडो के लिये आदर और छोटो के लिये प्यार इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य था । विवाह-व्यवस्था के सन्दर्भ मे विवाह के बहुविध स्वरूप सामने आते हैं । नामकरणादि सस्कारो का भी उल्लेख है । जीवन्धरचम्पू मे एक ओर जहाँ नारी की अवमानना की गयी है वहाँ दूसरी ओर अनुमोदना भी । यह कटु सत्य है कि किसी भी वस्तु को कसौटी पर कसने के लिये उसका बहुमुखी

अनुचिन्तन करना होता है। अस्तु उसके गुण-दोषों का वर्णन करना ही स्वाभाविक है। उस समय वस्त्र अल्प मात्रा में उपयुक्त होते हैं। आभूषणो द्वारा मगलाचार माना जाता था। केशरादि द्वारा अलकरण स्त्रियो के लिये ही प्रचलित था। मणिमय आभूषण भी प्रयुक्त होते थे। प्रसाधन-साधन पर्याप्त एव उच्च स्तर के थे। सभ्यता एवं सस्कृति का परिचायक कला होती है। यहाँ शिल्पकला, धर्मकला, धनुर्कला आदि अनेक कलाओं का वर्णन हुआ है। स्तुति की भी पर्याप्त प्ररूपणा हुई है। शिक्षा हेतु गुरुकुल के प्रबन्ध थे। गुणी शिक्षको को अपने घर रख कर भी शिक्षा ली जाती थी। गुरुदक्षिणा भी दी जाती थी। लेखन-पद्धति वर्णमाला पर आधृत थी। पत्र-लेखन का भी वर्णन हुआ है। मनोरजनो के साधनो मे वन-विहार एव सगीत सर्वोपरि था। बसन्त-शोभा अवरणीय है। जीवन्धर का कथानक ही राजकुल से सम्बद्ध है अस्तु प्रशासन, राज्य, राजा, मन्त्री, परिषद, जनपद आदि के द्वारा राजनीतिक-वस्तुस्थिति स्पष्ट होती है।

जीवन्धरचम्पू का धार्मिक विश्वास जैन है। यद्यपि जैनधर्म मे ईश्वर सृष्टिकर्ता के रूप में मान्य नही तथापि चतुर्विशति तीर्थंकरो का आप्त पुरुष माना गया है। उनकी वन्दना करना हम ससारियो का कर्तव्य है। जैनधर्म मे आत्मा को शुद्ध चैतन्य लक्षण वाली माना है। ससार अनादिनिधन है जो कि षड्द्रव्यो का समुदाय मात्र है। यहाँ सृष्टिवाद की मान्यता मान्य नही। धर्म जैनधर्म ही है। प्रत्येक ससारी जीव कर्मानुसार विविध जन्मो एव मरणो को प्राप्त करता है। कर्मानुरूप शरीर परिवर्तन ही पुनर्जन्म है महाकवि हरिचन्द्र ने इसका वर्णन किया है। श्वान मर कर यक्ष हुआ जिसने कृतज्ञतावशात् जीवन्धर का जीवनपर्यन्त उपकार किया। जीवन्धर नायक के ही पूर्व जन्म का वर्णन हुआ है इत्यादि। तान्त्रिकविश्वास, रूढि एव अन्धविश्वास का भी यत्र-तत्र वर्णन मिलता है। मन्त्रो मे नमस्कारमन्त्र की प्रभूत प्ररूपणा की गयी है। धार्मिक सस्थाओ मे जिनालयो का सर्वाधिक वर्णन मिलता है। पूजापाठ भी पर्याप्त प्ररूपित है। इस प्रकार धार्मिक स्थिति जीवन्धरचम्पू में सुदृढ़ है।

यद्यपि जीवन्धरचम्पू जैनदर्शन का मूल ग्रन्थ है तथापि वैदिक, पौराणिक मान्यताएँ भी द्रष्टव्य हैं जिसमे महाकवि हरिचन्द्र का पाण्डित्य परिलक्षित होता है। महाकवि हरिचन्द्र कवि पहले प्रतिभासित होते हैं बाद मे पण्डित। अत उनका पाण्डित्य (बहुश्रुत ज्ञान) काव्य-सौन्दर्य से पर्याप्त अलकृत है जो कि प्रभावोत्पादक है। सुभाषित-समन्वित वाड्मय ही सर्वोच्च भावनाओ का भाण्डार है। यहाँ महाकवि हरिचन्द्र ने गम्भीर, मार्मिक एव मजुल उक्तियो के द्वारा बहुमूल्य शिक्षा प्रदान की है। यहाँ हमे सूक्तियो के तीन रूप परिलक्षित हुए—नीतिपरक सूक्ति, सैद्धान्तिक सूक्ति, जीवनानुभव पर आश्रित दार्शनिक सूक्ति। इतना ही नही यहाँ पर सूक्तिपरक अनेक श्लोको का बाहुल्य है जिसमे कवि का अपने अनुभव का ज्ञान प्रतिबिम्बित होता है। जीवन्धर-चम्पू के माध्यम से महाकवि हरिचन्द्र का व्याकरण, ज्योतिष, कामशास्त्र, आयुर्वेद व सगीत सम्बन्धी ज्ञान भी दृष्टिगोचर होता है। स्थापत्य कला के मध्य नगर-निवेश, सैन्य-सगठन-युद्ध तथा विभिन्न कलाओ और विद्याओ का जो चित्र उपस्थित किया है वह पाठक का विषय-वस्तु के प्रति सहज ही तादात्म्यभाव उपस्थित करता है।

नायक जीवन्धर ने देशाटन प्रसग मे देश-देश, नगर-नगर का भ्रमण किया अत यहाँ जिन विविध जनपद, नगरी, पर्वत, अरण्य एव नदो आदि का उल्लेख हुआ है वे भौगोलिक एव राजनीतिक अवस्था के बोधक है। प्रबन्धान्त मे सन्दर्भग्रन्थानुक्रमणिका भी प्रस्तुत की गई है।

यद्यपि पृथक्-पृथक् रूप से जीवन्धर कथा से सम्बन्धित कई लेखादि सामने आये परन्तु ऐसा कोई भी

ग्रन्थ अब तक हमारी दृष्टि में नही आया जिसने सम्पूर्ण जीवन्धरचम्पू ग्रन्थरत्न का बहुविध अनुचिन्तन किया हो एवं उसकी महत्ता प्रतिपादित की हो, अस्तु ऐसे आवश्यक उद्देश्य की पूर्ति के लिए, जिससे कि आज अलौकिक घटनाओं से आपूरित पुराणपुरुष क्षत्रचूडामणि जीवन्धर स्वामी का चरित्र, जो कि गद्यपद्यात्मक संस्कृत भाषा में निबद्ध है, विविध दृष्टिकोणो के साथ पाठको के सामने आ सके, प्रस्तुत अध्ययन एक प्रयास है। इस प्रयास में कहाँ तक सफल हुई हूँ, इसका निर्णय तो सहृदय श्रद्धेय विद्वान् पाठकों के क्षेत्र का विषय है ।

शब्दो द्वारा कृतज्ञता-ज्ञापन एक प्रथा मात्र है अतः शब्दों से नही अन्तर्मन से उन सभी पूज्यवर विद्वानों के प्रति, जिनकी पुस्तकों से मैं लाभान्वित हुई हूँ हार्दिक सद्भावनाएँ ज्ञापित करती हूँ ।

युग, साहित्य और संस्कृति

● पं० धर्मचन्द्र जैन, जैनदर्शन शास्त्री, इन्दौर

युग, साहित्य और सस्कृति इनका सम्बन्ध चोली दामन व शरीर और उसके अंगोपाग जैसा परस्पराश्रित है। इनमे युग प्रधान होता है। युग प्रवाह के अनुसार ही साहित्य का सृजन व संस्कृति का निर्माण होता है। युग परिवर्तन अथवा उसके प्रवाह मे मोड देने वाले कुछ विशिष्ट लोकोत्तर पुरुष होते हैं, जिन्हें अवतार तीर्थंकर या युग पुरुष कहा जाता है। इनमे दार्शनिक, धार्मिक, राजनैतिक और वैज्ञानिक सभी शामिल हैं। इनके अपने सिद्धान्त आचार विचार रीति नीति तथा अनुसधान युग परिवर्तन के मूल में होते हैं। फिर तदनुसार साहित्य का निर्माण होता है। साहित्यिक अपनी पुरानी लीक को छोडकर नई दिशा मे अपनी लेखनी चलाता है। जिसका सम्बन्ध सार्वकालिक सार्वदेशिक, सार्वजनिक उपादेयता अनुपादेयता से न होकर युग की माँग पूरी करने से होता है। वर्तमान, कृषि व विज्ञान प्रधान और पतन के गर्त मे धकेलने वाला सेक्स (उत्तेजक वासना) अश्लील साहित्य, क्षणभर मे सारे विश्व का नाश करने की क्षमता वाले आणविक वैज्ञानिक यौद्धिक अस्त्र शस्त्र, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, देशहित की तुलना मे निजी स्वार्थ प्रभुता को महत्त्व देने वाली सत्ताधीशो की राजनैतिक मनोवृत्ति मेरी बात के ज्वलन्त उदाहरण हैं। मानवता का पोषक धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, साहित्य अब स्मरण का विषय बन गया है। वासना (सेक्स) को उत्तेजित करने वाला अश्लील साहित्य जन साधारण के जीवन का अग बन गया है। भक्ति धर्म प्रधान साहित्य न्याय नीति पर आधारित राजनीति अब इतिहास का विषय रह गये है। यह सब सहज एव सामयिक है।

जैसा कि लिखा गया है सस्कृति के निर्माण व उसके विकास मे युग और साहित्य का प्रमुख योगदान होता है। संस्कृति का अर्थ होता है, सामुदायिक आचार विचार जिस पर मानवीय उत्थान पतन निर्भर होता है। समुदाय की सीमा विश्वव्यापी, राष्ट्रीय, प्रान्तीय, सामाजिक तथा धार्मिक भेद से अनेक प्रकार की हो सकती है। सामरिक तथा वैज्ञानिक सिद्धात उनकी आचार सहिता एव उसके ऊपर अमल विश्व व्यापक संस्कृति के प्रतीक होते है, किसी देश विशेष की दार्शनिक (वैचारिक) आचारात्मक परम्परा जिसमे उसकी भाषा चिकित्सा प्रणाली, न्याय प्रणाली आदि शामिल है, उसकी सस्कृति के प्रतीक होते है। इस राष्ट्रीय संस्कृति को और सकुचित कर प्रातीय सामाजिक, धार्मिक सस्कृति के रूप मे निरूपित किया जाता है।

हमारी राष्ट्रीय सस्कृति जो हजारो वर्षो से चली आ रही है जिसमे यथा समय परिवर्तन, परिवर्धन होता रहा है, भारतीय सस्कृति कही जाती है। इसमे कुछ दार्शनिक मत विभिन्नता के साथ मानव मात्र के उभयलौकिक अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त किया गया है। भारतीय सस्कृति भी उसके विभिन्न दर्शनो और उनके बाह्य आचार व्यवहार के कारण अनेक रूपो मे विभक्त हो जाती है। प्रागैतिहासिक काल की दृष्टि से दो संस्कृतियाँ ही भारतवर्ष मे प्रधान थी। एक वैदिक सस्कृति, जिसे ब्राह्मण सस्कृति कहते हैं, और दूसरे श्रमण सस्कृति। वैदिक सस्कृति का मूल स्रोत वेद माने गये है वैदिक मत्रो और सूत्रो द्वारा नाना प्रकार की स्तुतियाँ यज्ञ यागादिक के रूप मे विविध प्रकार के क्रिया काण्ड, जिनका लक्ष्य स्वर्गादिक की प्राप्ति लौकिक अभ्युदय पुत्र पौत्रादि की प्राप्ति रहा है। श्रमण सस्कृति का आधारभूत मौलिक शब्द समण है। जो प्राकृतिक भाषा का है, इसके संस्कृत भाषा मे तीन रूप बनते है श्रमण, समन, शमन। श्रमण का अर्थ होता है परिश्रम करने वाला। जो अपने आत्म कल्याण के हेतु विविध प्रकार के व्रत नियमो का पालन करता हुआ तपश्चरण

(परिश्रम) करता है वह श्रमण कहलाता है। समन शब्द समना का सूचक है। जिस व्यक्ति के हृदय में राग-द्वेषादि का अभाव होकर साम्यभाव समा गया है वह समन माना गया है। शमन शब्द इन्द्रिय दमन बोधक है। जिमने इन्द्रिय तथा मन को वश मे कर उनको निर्द्वन्द्व प्रवृत्ति द्वारा होने वाले पापों का शमन (निराकरण) कर दिया है वह शमन कहा जाता है। इस परिप्रेक्ष्य मे जैन सस्कृति ही श्रमण सस्कृति है। बौद्ध संस्कृति कुछ हेरफेर के साथ इसी कोटि मे आती है।

जैन संस्कृति :

जैन सस्कृति का प्रादुर्भाव कब हुआ यह ऐतिहासिक दृष्टिकोण से निश्चित कह सकना कठिन है। फिर भी भगवान् ऋषभदेव के समय से इसका जन्म मानना तर्क सगत होगा। क्योकि उसके पूर्व भोगभूमि का वातावरण था। जिसमे कुछ करने धरने या आचरण की आवश्यकता नही थी। भोग भूमि की समाप्ति के बाद ही जन जीवन की जरूरतो को पूरा करने के लिये राजा नाभिराय ने सस्कृति के अग रूप बाह्य कर्मों के स्वरूप व उनके आचरण का निर्देश किया। वह सस्कृति हो असीम काल बीतने के पश्चात् अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के समय तक चली आती रही। इस दृष्टि से वर्तमान जैन सस्कृति का पुन: प्रवर्तन भगवान् महावीर के जन्म काल से हुआ मानना पडेगा। जो इसके ढाई सौ वर्ष पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ के समय में भी जैन सस्कृति के अगभूत मूर्ति पूजा व आचरण का इतिहास मिलता है।

भगवान् महावीर के जन्म काल मे देश मे वैदिक या ब्राह्मण सस्कृति का साम्राज्य था। धर्म के नाम पर पुण्य, स्वर्गादि की प्राप्ति के लिये यज्ञ यागादिको मे प्राणियो को होम देना, ब्राह्मण वर्ण को सर्वोपरि मानना, सासारिक सभी प्रकार के कार्यों का सचालन इसी वर्ग के हाथ मे रखना इस सस्कृति का प्रमुख अग था। इस वर्चस्व के कारण ब्राह्मणेतर वर्ग के लोग अपना लौकिक जीवन यहाँ तक कि राज्य सचालन भी इनके सकेतो पर करते थे। शूद्रो और स्त्रियो की स्थिति तो पशुओ से गई बीती थी। न उन्हें पढने का अधिकार था न मानवीय स्तर से जीने का। पशुओ को तो हव्य सामग्री माना जाता था। होम के लिये ही इनका जन्म हुआ है यह धारणा जन साधारण मे थी। इन तथ्यो से यह प्रमाणित होता है कि ब्राह्मण सस्कृति का प्रमुख आधार वैषम्य है। जैन सस्कृति इसके नितान्त विपरीत समानता मानवता की शुद्ध नीव पर खडी हुई है। इस ब्राह्मण या वैदिक सस्कृति के विरोध मे भगवान् महावीर और बुद्ध अपने मानवीय सिद्धान्तो को लेकर दृढता से सामने आये और जन कल्याण का सही मार्ग बताकर विषमता मूलक ब्राह्मण सस्कृति को भ्रष्ट कर दिया।

आज वह वेदों मे लिपिबद्ध ही शेष रह गयी है। महावीर और बुद्ध ने वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म न मानकर गुण और कर्म को माना, मानव मात्र को समान स्तर पर जीने के अधिकार हैं यह निर्देश किया। यज्ञो में होम करने से यदि स्वर्ग प्राप्ति होती है तो सर्व प्रथम होम करने वालो के कुटुम्बीजनो को इसका लाभ उठाने की चुनौती ब्राह्मण या वैदिक सस्कृति के समर्थको के समक्ष रखी। जिसे वे स्वीकार न कर सके, और इस स्वार्थपोषक अहिंसा परक माग से उन्हें हटना पड़ा। यह अहिंसक सस्कृति की महान् विजय हिंसक अथवा वैदिक सस्कृति पर थी। समकालीन और महावीर के अनुयायी होकर भी बुद्ध जैनाचार्य की दुर्द्धर्षता कठोरता को पालन धारण न कर सके। तपश्चरण व बौद्ध भिक्षुओ की बाह्य चर्या को उन्होंने बहुत सरल या शिथिल बना दिया। यही कारण रहा कि उस समय बौद्ध संस्कृति लोकप्रिय बनी किन्तु जैन संस्कृति का स्तर और प्रामाणिकता वह न पा सकी। इस प्रकार वर्तमान श्रमण या जैन संस्कृति की पुन: स्थापना भगवान् महावीर का जन्म काल मानना ऐतिहासिक सत्य है।

जैन साहित्य :

युग साहित्य और संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध को शृंखला में संस्कृति साध्य, साहित्य उसका प्रचारक, प्रसारक और युग उसकी पृष्ठभूमि माने जाते हैं। संस्कृति के बिना कोई देश समाज जिन्दा नही रह सकता। संस्कृति युग के अनुरूप निर्मित होती है। उसका प्रचार साहित्य के अधीन होता है। भगवान् महावीर के लगभग ६०० वर्ष बाद जैनतत्त्व ज्ञान को लिपिबद्ध रूप प्रारम्भ हुआ। इसी को जैनागम कहा जाता है। इसके दो प्रमुख प्रतिपाद्य अग है। १. अध्यात्म और २ आचार। इन्हे निश्चय और व्यवहार के नामान्तरों से भी व्यवहृत किया जाता है। आचार्य परम्परा मे आचार्य कुदकुद सर्वप्रथम माने जाते है। ईसा की प्रथम शताब्दी इनका जन्मकाल माना जाता है। इनके द्वारा रचित शास्त्रो मे अध्यात्मवाद की प्रधानता है। जो भी चारो अनुयोगों के ज्ञाता अधिकारी आचार्य थे। इन अनुयोगो के प्रतिपाद्य बिषयो का सकेत इनके शास्त्रो मे यथास्थान मिलता है। समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पचास्तिकाय, अष्टपाहुड आपके रचे प्रमुख ग्रन्थ हैं। दूसरी शताब्दी में आचार्य उमास्वामी हुए। जैनतत्त्व ज्ञान का आकर ग्रन्थ तत्वार्थ सूत्र इनकी प्रमुख रचना है। इनके पश्चात् समन्तभद्र, अकलक भट्ट, विद्यानन्दजी आदि जैन न्यायशास्त्र के सस्थापक प्रमुख आचार्य हुए। तत्पश्चात् हरिचन्द्र, वीरनदि, वाग्भट्ट, सोमदेव आदि जैन काव्यशास्त्र के निर्माता हुए। इसी शृंखला में आचार्य रविषेण सर्वप्रथम पुराण साहित्य के प्रणेता बने। पद्मपुराण इनकी प्रमुख रचना है। इसके बाद आचार्य जिनसेन, गुणभद्र महापुराण उत्तरपुराण, प्रभृति शास्त्रो के निर्माता हुए। दशमी सदी मे एक प्रमुख आचार्य अमृतचन्द हुए जिन्होने कुन्दकुन्द की रचना समयसार पर आत्मख्याति नाम की टीका लिखी। पुरुषार्थसिद्धयुपाय जैसे उभयनय प्रधान ग्रथ इन्होने लिखे।

चूँकि जैन दर्शन का मूलाधार अनेकान्तवाद व स्याद्वाद है। इसलिये कोई भी आचार्य इसका अतिक्रमण नही कर सका। सभी ने इसे आधार मान वस्तु विज्ञान का विश्लेषण किया। विश्लेषण के मुख्य माध्यम स्याद्वाद के दो प्रमुख अग है—प्रमाण और नय। समष्टि (पूर्ण) और व्यष्टि (एक अग) क्रमश इनके विवेच्य विषय रहे। वस्तु के अनेक धर्मात्मक होने से उसके सभी धर्मों का एक समय एक साथ निरपेक्ष रूप से निर्दोष विवेचन हो सकना सम्भव नही। अत- वस्त्वश को ग्रहण करने वाले नय के भी मौलिक दृष्टि से दो भेद किये गये—निश्चय और व्यवहार। वस्तु का शुद्ध स्वरूप निश्चय का विषय होता है। जबकि परपदार्थ के सम्पर्क से बनने वाले उसके अनेक रूप व्यवहार के ज्ञेय होते है। सापेक्ष दृष्टिकोण से ये दोनो सत्य हैं। निरपेक्ष दृष्टिकोण से जब इनका व्यवहार होता है तब वे विवाद का विषय बन जाते है। निश्चय का विषय अध्यात्म होता है जबकि उसका पर्याय प्रधान बाह्य रूप व्यवहार का। इन दोनो के सापेक्ष प्रयोग की उपेक्षा अवहेलना कर ज्ञेय तत्त्व के विषय मे पर्याप्त अनावश्यक विवाद वर्तमान मे चल पडा है। यह सब आचार्यो की भावना को न मान स्वय की एक पक्षीय अहमन्यता का परिणाम है। आध्यात्मवाद के सर्वोच्च समर्थक निश्चयनय की प्रधानता से वस्तु तत्त्व का विवेचन करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द ने ऐसे ही विवादप्रिय पडितो के लिये चेतावनी दी है व निर्देश किया है कि :

जो जिणमय, पवज्जई व्यवहारणिच्चये मा मुहय।
एकेण बिना छिज्जई तित्थ अपरेण पुण तच्च॥

अर्थात् यदि सच्चे जिनमत के अनुयायी हो तो व्यवहार निश्चय के एकागी विवाद में मत पडो। व्यवहार के बिना प्रवृत्ति मार्ग नष्ट हो जायेगा जबकि निश्चय के बिना वस्तुत सही स्वरूप को नही समझ पाओगे। अभिप्रायः यह कि कुन्दकुन्द को सापेक्ष दृष्टिकोण अभीष्ट है। निरपेक्ष नही। जैन दर्शन की अने-

कान्त बाद पर आधारित स्याद्वाद प्रणाली द्वारा विवेचनीय वस्तु स्वरूप मे किसी प्रकार की टकराहट या विपरीत की गुंजाइश नही है। ऐसी विडम्बना विवेचक की मनोवृत्ति से होती है।

जैनागम को चार भागो में विभक्त किया है (१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग (४) द्रव्यानुयोग। इनमे द्रव्यानुयोग का प्रतिपाद्य विषय द्रव्य का स्वभाव या निज स्वरूप होता है। इसके परद्रव्य या विकारी भावो का कोई स्थान नही रहता। इसकी शुद्ध दशा को "है" के रूप मे कह सकते हैं। प्रथमानुयोग मुख्यतया अतीत को विषय करता है। भूतकाल मे अपने स्वरूप को प्राप्त करने वाले लोग जीवन में कैसे चढ़ाव उतार से गुजरे। सासारिक विषमता, विपरीतता का सामना कर उन्होंने कैसे अपने लक्ष्य (मुक्ति) प्राप्ति की इसका विवेचन होता है। इसे हम अतीत सूचक था "हुये" रूप मे कहते हैं। चरणानुयोग मुख्यतः कर्त्तव्य बोध कहलाता है। लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग क्या है। उसे अपनाने की प्रेरणा यह देता है इस दृष्टि से इसे "चाहिये" के रूप मे निर्देशक अनुयोग कहा है। करणानुयोग का संबध कार्यकारण भाव से है। जीव के पहले जैसे परिणाम थे वैसी स्थिति बनी इसी प्रकार वर्तमान मे जैसे परिणाम होंगे आगे वैसी स्थिति बनेगी। इसे हम "ऐसा" है तो ऐसा होगा" के रूप मे ले सकते हैं। इस परिप्रेक्ष्य मे हरेक अनुयोग मोक्षमार्ग का साधक है। किसी की उपेक्षा नही की जा सकती। द्रव्यानुयोग का विषयभूत वस्तु स्वभाव (आत्म स्वरूप) लक्ष्य साध्य है जिसे उपचार से वीतरागता कहते है। यह लक्ष्य शेष तीनो के सहयोग के बिना संभव नही। यदि कोई ऐसा सोचता है तो वह स्वय अपना अहित कर दूसरो को भी पतन की ओर ले जाता है। सर्वज्ञप्रणीत मार्ग का अपलाप करता है। अत. चारो अनुयोगो के विषयभूत सभी प्रकार के शास्त्रो का अध्ययन अध्यापन मनन अनिवार्य एव उपादेय है। इस अभिप्राय से सागार अनगार आचारण के रूप में विभक्त प्रारभ से अद्यावधि पर्यन्त चल आयी क्रियात्मक व्यवहार धर्म की परपरा शास्त्रीय एव अनिवार्य है। वर्तमान पूजा पाठ की पद्धति अभिषेक, आदि सासारिक आधि व्याधियो के शमनार्थ विर्दिष्ट अनेक प्रकार के विधि विधान, आराधना की पद्धतियो को अनार्ष कहकर त्याज्य कहना उचित नही। परिस्थितिवश आवश्यकता अनुसार मूल क्रियाओं में यदि कुछ परिवर्तन परिवर्द्धन सशोधन हुआ है तो वह, जैन सस्कृति को बनाये रखने, उसका मूलोच्छेद न होने देने के लिये अनिवार्य था। अन्यथा जैन सस्कृति कभी की समाप्त हो गई होती।

संस्कृतियों का आदान प्रदान :

वैदिक सस्कृति या ब्राह्मण संस्कृति के हिंसा परक स्वरूप से त्रस्त भयभीत आक्रदित तत्कालीन जनमानस भगवान् महावीर की श्रमण संस्कृति की नीव (जड) स्वरूप अहिंसा से राहत पाकर हिंसा के विपरीत खडा हो गया उसे उखाड फेंको। किन्तु वर्ण व्यवस्था, देवी देवता वाद, व अन्य क्रिया काण्डों का विरोध वह न कर सका। क्योकि इनसे उनके लिये प्राण संकट नही था। फिर जैनेतर लोगो का उस समय बाहुल्य था बडे-बडे साम्राज्यों के उत्थान पतन की राजकीय तत्र ब्राह्मणो के हाथ मे थे अतः इस रूप मे वैदिक संस्कृति यथावत् रही। अल्पमत की श्रमण संस्कृति को उसका प्रभाव व वर्चस्व स्वीकार करना पडा। अन्यथा उसका अस्तित्व मिट जाता। इस संस्कृति के अंग रूप देवी देवताओ की पूजा ग्रह शाति के लिये विविध प्रकार के वैदिक क्रिया काण्डों को जैनियो को अपनाना पड़ा। ब्राह्मणो की पूजा पद्धति आराधना के तरीके उनके दैनिक जीवन के अग बन गये निस्संदेह यह मिथ्यात्व की ओर उन्मुख होना था। इसके बिना गति नही थी अतः तत्कालीन जैनाचार्या ने "सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धम् त्यजति पण्डितः" वाली नीति के अनुसार मिथ्यात्व पोषक इस प्रवाह को मोड़ देना सामयिक समझा। इन्होंने पूजा पाठ को वैदिक संस्कृति को जैन संस्कृति का जामा

पहुँचाया । जैन तीर्थङ्करों की उपासना, आराधना पूजा, से भी यह सब काम बनते हैं, ऐसी आस्था भावना जैनियों के हृदयों में पैदा की । तदनुरूप साहित्य का भी निर्माण किया । यह उनका अपराध नहीं था । किन्तु सामयिक सूझ बूझ थी जिसने जैन संस्कृति को जीवित रखा । पात्रों की क्षमता ग्रहण शक्ति की तरतमता व लौकिक स्थिति को सामने रख रोचक पौराणिक कथात्मक साहित्य का सर्जन किया इस प्रयास में भी उन्होंने जैन संस्कृति के आधारभूत लक्ष्य वीतरागता को अक्षुण्ण रखा । पौराणिक साहित्य का एक भी शास्त्र ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें वीतरागता का निषेध या उल्लंघन किया गया हो । इसे हम ब्राह्मण और जैन संस्कृतियों के परस्पर आदान प्रदान की प्रक्रिया या लचीलापन कह सकते हैं, अहिंसा को वैदिक संस्कृति ने अपनाया जबकि क्रियात्मक धार्मिक संस्कृति को जैन संस्कृति ने अपना अंग बना लिया । अतः आधुनिक कुछ नवीन धारा के विद्वानों द्वारा जैन संस्कृति के अंग भूत क्रियात्मक व्यवहार धर्म की समालोचना सामयिक नहीं है ।

नवीन जैन संस्कृति :

लगभग ५० वर्ष पूर्व मूल जैन संस्कृति में एक उप संस्कृति का जन्म हुआ जिसे आधुनिक वीतराग संस्कृति कहने में कोई झिझक नहीं । इसमें ऐसा कोई भी कार्य, व्यवहार, स्वीकारा नहीं जा सकता जो वीतरागता के अनुकूल न हो । भले ही उसका कर्त्ता या अधिकारी व्यक्ति किसी भी स्तर का हो । सारा माहौल वाचनिक वीतरागता मय हो रहा है । इस माहौल में सदियों से चली आ रही लोकाचार प्रधान, व्यवहार, धर्म परक, संस्कृति अप्रमाणिक या झूठी मिथ्यात्व से ओत प्रोत प्रतीत होने लगी है । वीतरागता के कुछ अपरिहार्य, निमित्त सभी व्यवहार धार्मिक कार्य जिसमें अरहंत प्रतिमा का अभिषेक, अष्ट द्रव्यों से पूजा स्थापना ग्रह शांति के लिये विधानों का आयोजन पंच कल्याणक प्रतिष्ठाओं में हवन के लिए अग्नि का प्रयोग प्रथमानुयोग के ग्रन्थों का स्वाध्याय वर्तमान मुनियों की चर्या आदि शामिल हैं, पाखण्ड या अशास्त्रीय नजर आने लगे हैं । मिथ्यात्व की बू इनसे आने लगी है । इनका सभी तरीकों से निषेध किया जा रहा है । यह सब अभूतपूर्वक अकल्पनीय नहीं है ऐसी संस्कृतियाँ पहले भी उत्पन्न व नष्ट होती रही हैं । जैन मत में ३६३ मत इसका सबूत है ।

कोई भी वाद या संस्कृति जब मूर्तरूप लेने में असमर्थ होती है उसे चरितार्थ नहीं किया जा सकता, तब वह आदर्श अथवा दिखावा बनकर रह जाती है । उसका भविष्य शंकास्पद बन जाता है । 'ज्ञान भार. क्रिया बिना' वाली सूक्ति के अनुसार ज्ञान और अंतरंग की भावना तदनुरूप आचरण के अभाव में भार होता है । वर्तमान में भी यही सब कुछ हो रहा है । मेरे मत से ये समालोचक संस्कृतियों के लचीलेपन तथा उनके परस्पर प्रभावित होने की सामयिकता आवश्यता को जानते हुए भी लोकैषणा व पक्षव्यामोहवश उसे स्वीकार नहीं कर पाते । अन्यथा यह विडम्बना खड़ी न होती । नवीन संस्कृति वाले विद्वानों को प्राचीन जैन संस्कृति की जिन बातों से विरोध है उनमें कुछ नीचे लिखी हैं उनका संक्षिप्त उल्लेख और समाधान यहाँ सामयिक प्रतीत होता है ।

अरिहंत प्रतिमा का अभिषेक :

तीर्थंकर का अभिषेक उनकी कुमारावस्था में हुआ था । अरहंत अवस्था में नहीं । अतः अर्हंत अवस्था के प्रतीक जिन बिम्ब का अभिषेक नहीं होना चाहिये । यह धर्म नहीं है । यह प्रश्न है किन्तु अचेतन प्रतिमा में अंकित करना उसे पूज्य मानना धर्म है तो उसकी वीतरागता मलिन न हो, छवि स्पष्ट रहे, इस निमित्त उसका प्रक्षालन अभिषेक करना धर्म क्यों नहीं ? यद्यपि धर्म आत्मा की वस्तु है पर आत्मा में पाये जाने वाले

विकारात्मक अधर्म भी तो उसी की वस्तु है। दोनों का आधार आत्मा ही है परन्तु गृहस्थावस्था में जब तक पराश्लम्बन है, तब तक विषय कषायों को उत्पन्न करने वाले कार्य (अधर्म) से बचने के लिये निज स्वरूप की ओर सम्मुख कराने वाली क्रियाएं धर्म हैं। धर्म के निमित्त हैं। भावनात्मक धर्म अधर्म की क्रियाओं को व्यवहार से धर्म अधर्म मानना तर्क संगत है। अत अर्हन्त प्रतिमा के अभिषेक को अधर्म मानकर उसका निषेध करना धर्म का हनन करना है। धर्म को भाव प्रधान माना है। उसका फल भावनाओ पर निर्भर है। मैंना सुन्दरी ने गंधोदक (प्रक्षालका जल) से श्रीपाल का कोढ़ दूर किया था जबकि आज का वैज्ञानिक डॉक्टर उससे इन्फेक्शन (उपसर्ग, विकार, रोग) होने की कल्पना कर सकता है। दृष्टिकोण से एक ही वस्तु का विभिन्न रूप में प्रतिभाषित होना वस्तु का धर्म है।

जिन पूजा :

भगवान् की पूजा जैन सस्कृति व व्यवहार धर्म का प्रमुख अग है। इसका व ऐसी अनेक धार्मिक क्रियाओ (पच कल्याणक आदि) को हटा दिया जाय तो सर्व साधारण की दृष्टि में जैनत्व कुछ रह नही जाता। भगवान् की पूजा या निन्दा भगवान् के लिये उन्हें खुश अथवा नाराज करने के लिये नही की जाती। यह तो अपने मन वचन काय के शुभोपयोग व तद्जन्य पुण्योपार्जन करने, आत्म शुद्धि पैदा करने का आलंबन मात्र है। वीतराग भगवान् के ऊपर निन्दा स्तुति का कोई प्रभाव नही होता। वे साक्षात् जीव रूप में तो हैं नही। वीतरागता से अधिष्ठित उनके अनन्त गुणो की निधिरूप उनका प्रतिबिम्ब मात्र है जिसमें सुनने समझने की योग्यता नही। ऐसे आलंबनो के बिना निरतर राग द्वेष आदि विकारो से लिप्त मानव को अपने स्वरूप चिन्तन आत्मालोचन करने का कोई आधार नही रह जाता। इसके लिये पूजा स्वाध्याय आदि का सहारा लिया जाता है। इसी भावना से भक्त या पूजक अपने भाव भगवान् के सामने इस रूप मे प्रकट करता है :

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निंदया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताज्जनेभ्यः ॥

अर्थात् भगवन् ! आपके वीतराग होने से आपकी पूजा से और द्वेष रहित होने के कारण अपनी निन्दा से आपको कोई प्रयोजन नही। किन्तु आपके पवित्र गुणो का स्मरण पाप रूपी मैल से मुझे बचाता है। उसका सबंध नही होने देता अपने इस स्वार्थ के लिये मैं आपकी पूजा करता हूँ।

पूजा की विविध पद्धतियो के विषय मे भी यही तथ्य है। आह्वान स्थापना, सन्निधीकरण, अष्ट द्रव्य से पूजा या भाव पूजा करते समय न भगवान् आते हैं न जाते हैं। किन्तु सासारिक उलझनो से ग्रस्त पूजक को अपने भावो की स्थिरता के लिये ये सब आवश्यक हैं। उनके बिना वह पूजन मे स्थिर नही हो सकता। अतः स्थापनासत्य के अनुसार इस विधान को वह भगवान् के समीप रहने का माध्यम बनाता है। जलगन्धादिक मनोहारी द्रव्य भी भावो की स्थिरता के आलम्बन माने गये हैं। भक्त पूजा के पूर्व स्वयं इसी भावना को अभिव्यक्ति करता है जो नीचे लिखे पद्य मे निहित है -

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं भावस्य शुद्धिमधिकामधिगन्तुकामः।
आलम्बनानि विविधान्यवलम्ब्य वल्गन् भूतार्थ यज्ञपुरुषस्य करोमि यज्ञ ॥

अर्थात् पूजा के निमित्तभूत शुद्ध द्रव्यों के माध्यम से अपनी भाव शुद्धि की भावना का इच्छुक मैं अनेक प्रकार के अलम्बनों को अपना कर भगवान् की पूजा करता हूँ। सारांश यह कि दैनिक, और नैमित्तिक

पूजा का जो स्वल्प और महानतम आयोजन यथा समय किया जाता है वह व्यवहार धर्म है। यह बिना माध्यम अथवा निमित्तों के सम्भव नहीं। ऐसे विधिविधानों के बिना जैनधर्म की प्रभावना नहीं हो सकती न ही जैन संस्कृति का कोई मूर्तस्वरूप या अर्थ रह जाता है।

लौकिक व्यवहार मे अनेक प्रकार के आरम्भ उद्योग मे अपरिमित किन्तु अनिवार्य हिंसा करने वाले लोग शास्त्र विहित विधि विधानों में अग्नि के प्रयोग (हवन करना) दीपक से आरती करना जैसी सर्वमान्य क्रियाओं का निषेध करते हैं तो इसे आश्चर्य जनक, भावुकता व विडम्बना ही कहा जायेगा। भक्ति प्रदर्शन में प्रयुक्त होने वाली विद्युत व्यवस्था में नाचते गाते हुए भक्ति प्रदर्शन करने में आखिर तेजस्यकाय व पृथ्वी पर रेंगने वाले अदृश्य जीवो की विराधना होती है। फिर यह वीतरागता का दिखावा क्यो ? बन्ध मोक्ष व पाप पुण्य की व्यवस्था का मुख्य आधार भाव होते हैं। इस युग के प्रकाण्ड पडित आशाधर जी ने यही बात अपने सागारधर्मामृत में कही है।

अर्थात् बन्ध मोक्ष की व्यवस्था का आधार यदि भावो को नही माना जाता है तो जीवो से खचाखच भरे लोक में कहाँ तो धर्माचरण किया जायगा और जीव कैसे मोक्ष प्राप्त करेगा। साराश यह कि कल्याण-कारी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति सम्भव नही फिर अपने वैभव प्रदर्शन करने, लोकमान्यता प्राप्त करने, अर्थ प्राप्ति हेतु सीमातीत पापारम्भी सम्यक्त्व विघातक (दीवारों, खातेबहियो पर हस्तपाद्चिह्न अकित कराना) क्रियाओ को बिना शास्त्र प्रमाण के स्वच्छन्दता से करना और त्याग वृत्ति के आचार-विचार एव सस्कृति के अगभूत व्यवहार धर्म, के कार्यों में शास्त्राधार की खोज करना उनका विरोध करना कहाँ तक तर्कसगत निष्पक्ष है, समझ नही पडता।

अधिक नही लिखकर गृहस्थ के कर्तव्याकर्तव्य का बोध कराने वाले किसी आचार्य के नीचे पद्य को लिखकर मैं अपना मन्तव्य समाप्त करता हूँ—

सर्व एव हि जैनाना प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, न यत्र व्रतदूषणम्॥

अर्थात् जिसमें सम्यक्त्व की विराधना न हो व व्रत नियम पालन आदि मे दूषण न लगता हो वह सारा लौकिक व्यवहार जैन संस्कृति के अनुयायी लोगो को प्रमाण (मान्य) है।

●

जैन संस्कृत नाटक : उद्भव और विकास

● डॉ० कपूरचन्द जैन, खतौली

संस्कृत नाटको की उत्पत्ति के सन्दर्भ मे भारतीय आलोचको के साथ ही पाश्चात्य गवेषकों ने पर्याप्त गवेषणा की है। प्रो० मैक्समूलर, सिल्वालेवी, ओल्डेनबर्ग प्रभृति पाश्चात्यों ने 'सवादसूक्तो' से नाट्योत्पत्ति स्वीकार की है। प्रो० रिजवे मृतात्माओ के प्रति प्रकट की गई श्रद्धा (श्राद्ध) से नाटको की उत्पत्ति मानते हैं। डॉ० पिशेल पुत्तलिका नृत्य से और प्रो० ल्यूडर्स छायानाटको से नाट्योत्पत्ति स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानो ने यूरोप मे मनाये जाने वाले 'मे पोल' पर्व से तो कुछ ने प्रकृति परिवर्तनो को प्रस्तुत करने की इच्छा से नाटको का उद्भव माना है। भारतीय परम्परानुसार नाट्योत्पत्ति पूर्णत वैदिक दैविक है। नाटक को 'चतुर्वेदाग सम्भवम्'[1] कहा गया है जिससे स्पष्ट है कि नाटको का उद्भव वेदो से हुआ। आ० काव्याचार्य भरत के नाट्य-शास्त्रानुसार देवताओ ने जगत्पिता ब्रह्मा के पास जाकर उनसे ऐसी वस्तु के निर्माण की प्रार्थना की जो कानो तथा नेत्रो को समान रूप से आनन्दित करने वाली हो, जो केवल द्विजातियो की ही ईर्ष्य सम्पत्ति न हो अपितु शूद्र भी जिसके अशभागी हो सके। ब्रह्मा ने देवताओ की प्रार्थना सुनकर ऋग्वेद से पाठ्य (सवाद), सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस ग्रहण कर 'नाट्यवेद' नामक पंचम वेद की रचना की।[2]

यदि पुराणो के वर्णन समीचीन है तो नाटकों की उत्पत्ति इससे भी पूर्व चली जाती है। ऋषभदेव, जिनका वर्णन वेदो मे 'वातरशना दिगम्बरा' कहकर किया गया है और श्रीमद्भागवत[3] मे जिन्हें विष्णु का अवतार बताया गया है, के कल्याणको मे आकर देवताओ ने नाटकाभिनय किया ऐसा जैन पुराणो मे उल्लिखित है। जैन परम्परा मे तीर्थंकरो के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण ये पाँच कल्याणक होते हैं जिन्हें मनुष्यो के साथ-साथ देवता भी आकर मनाते हैं। जिनसेनकृत आदिपुराण मे उल्लिखित है कि ऋषभदेव के कल्याणको मे इन्द्र अनेक देवताओ के साथ आया। जन्मकल्याणक के समय उसने उन्हे पाण्डुक शिला पर स्नान कराने के बाद, अयोध्या नगरी मे लौट कर 'आनन्द' नामक नाटक का आयोजन किया। इन्द्र उसका प्रधान नृत्यकार और सूत्रधार था।[4]

इन नाटको की विषयवस्तु तीर्थंकरो के पूर्व भव रहा करती थी। नाटक मे सर्वप्रथम मंगलाचरण, फिर पूर्वरग, ताण्डव नृत्य, नान्दी मगल के बाद नाटक प्रारम्भ होता था। देवकन्याएँ भी नृत्य किया करती थी।

अर्हद्दास कृत 'पुरुदेव चम्पू'[5] मे भी 'आनन्द' नामक नाटकाभिनय का उल्लेख है यहा सौधर्मेन्द्र को नट कहा गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि तीर्थंकरो के कल्याणको पर जो इन्द्रादि देवता आते थे वे गाजे बाजे के साथ झूला पर नृत्योत्सव और पूर्वभव सम्बन्धी अभिनय करके चले जाते थे। बाद में साधारण जन भी मनोरंजनार्थ

---

१. नाट्य शास्त्र १/१६

२. वही १/४-१७।

३. "श्रीमद्भागवत" पचम स्कन्ध।

४. 'आदिपुराण' भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन १४/९५-१५४।

५. 'पुरुदेवचम्पू' भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन पृष्ठ २०७-२१२।

उनका अनुकरण कर कृत्रिम कल्याणक मनाते थे और अभिनयादि करते थे। धीरे-धीरे इसी परम्परा ने आधुनिक नाटक का रूप ले लिया। आज भी जैन-परम्परा में स्थान-स्थान पर पंचकल्याणक नाटक और नृत्य होते हैं।

ई० की द्वितीय शताब्दी में आचार्य समन्तभद्र ने जैन संस्कृत काव्यों की रचना का श्री गणेश किया। संस्कृत जैन नाटकों का श्री गणेश यद्यपि ई० की नौवीं शताब्दी में ही हो गया था किन्तु इसका वास्तविक विकास बारहवीं शताब्दी मे रामचन्द्र से हुआ। बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक प्रभूत मात्रा मे जैन संस्कृत नाटक लिखे गये। इस दृष्टि से यह काल जैन-संस्कृत-नाटकों का स्वर्णकाल कहा जा सकता है। यद्यपि महावीर और उससे पूर्व भी नाटकाभिनय के प्रमाण मिलते हैं किन्तु उनकी चर्चा यहाँ अनपेक्षित है दूसरे वे प्राकृत मे है।

यह अत्यन्त खेद की बात है कि जैन-नाटककारो के साथ उचित न्याय नही किया गया। अधिकांश इतिहास ग्रन्थो मे या तो इनका विवेचन होता ही नही है या मात्र नामोल्लेख कर छोड दिया जाता है। जबकि इनमे ऐसे अनेक नाटक है जिन्हे न केवल संस्कृत-साहित्य मे अपितु विश्व साहित्य मे स्थान दिया जा सकता है। सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० रामजी उपाध्याय ने लिखा है 'रामभद्रमुनि के प्रकरण प्रबुद्ध रोहिणेह' को कला की दृष्टि से विश्व साहित्य मे स्थान दिया जा सकता है। आधुनिक चलचित्र जगत् के लिये अनूठी सामग्री इन नाटको (जैन नाटको) मे अनुकरणीय है। रामचन्द्र के 'कौमुदीमित्रानन्द' अथवा रामभद्र के 'प्रबुद्धरोहिणेय' मे चलचित्रो का मूल देखा जा सकता है।[1] इतना सब होने हुए भी साम्प्रदायिक कहकर इनकी अवहेलना कहाँ तक उचित है। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री का यही कष्ट इन पक्तियो मे उभरा है—"काव्य किसी न किसी सिद्धान्त विशेष को लेकर ही रचे जाते है अत स्थापत्य, वस्तु-सगठन आदि की समता रहने पर भी सिद्धान्त की अपेक्षा काव्यात्मा मे अन्तर आ ही जाता है। पर इतन अन्तर से उच्चकोटि के काव्यो की साम्प्रदायिकता के नाम पर अवहेलना नही की जा सकती है। जीवन-प्रक्रिया एव रसोद्बोधन की क्षमता सभी काव्यो मे साधारण रूप से ही प्रतिपादित रहती है।"[2]

शीलाक कृत 'विबुधानन्द' को प्रथम जैन नाटक होने का सौभाग्य प्राप्त है। शीलाक ने इसकी रचना स्वतन्त्र रूप मे नही की है अपितु अपने प्राकृत 'चउप्पन्नमहापुरिसचरिय' के मध्य इसे समाविष्ट किया है। शीलाक, शीलक, विमलमति या शीलाचार्य निवृत्तिकुलाचार्य मानदेवसूरि के शिष्य थे। 'चउप्पन्नमहापुरिसचरिय' का समय ८६८ ई० (वि० स० ९०५) माना गया है अत शीलाक का समय नौवी शताब्दी माना जाना चाहिए।[3] इसमे राष्ट्रकूटवशी राजकुमार लक्ष्मीधर द्वारा अपने पिता के वाक्य को असिद्ध करने का वर्णन है।

जैन-संस्कृत नाटककारो मे 'अचुम्बित काव्यतन्त्र', 'विशीर्णकाव्यनिर्माणतन्त्र', 'प्रबन्धएतकर्ता रामचन्द्र का नाम शीर्षस्थ है। रामचन्द्र नाट्यशास्त्रकारो मे भी अग्रगण्य है उनके नाट्यदर्पण से सभी परिचित है जिसमे उन्होने गुणचन्द्र को भागीदार बनाया है। रामचन्द्र गुजराती श्वेताम्बर जैन थे और कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के प्रधान शिष्यो मे अन्यतम थे। हेमचन्द्र के साथ ही उनका समय १२वी शताब्दी स्वीकार किया गया है। रामचन्द्र की १० नाट्यकृतियो के उल्लेख मिलते है जिनमे निम्न ६ उपलब्ध हैं।

---

१. 'मध्यकालीन संस्कृत नाटक' पृष्ठ ४८३।

२. 'संस्कृत काव्य के विकास मे जैन कवियो का योगदान' पृष्ठ १०।

३. डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी : जैन साहित्य का बृहद्इतिहास भाग ६, पृष्ठ ७०।

(१) सत्य हरिश्चन्द्र—यह ६ अंकों का रूपक है। महाभारतीय कथा में अनेक नाटकोचित परिवर्तन हैं।

(२) नलविलास—६ अको का नाटक।

(३) रघुविलास—यह भी ६ अकों का नाटक है जिसमें लक्ष्मण द्वारा राक्षसों का वध दिखाया गया है क्योंकि राम तद्भव मोक्षगामी थे। जैन परम्परा मे तद्भवमोक्षगामी के हाथ से वध वर्जित है।

(४) निर्भय भीम व्यायोग—एक अंक का व्यायोग रूपक है।

(५) मल्लिकामकरन्द—६ अको का प्रकरण।

(६) कौमुदीमित्रानन्द—१० अको का प्रकरण। इनके अतिरिक्त रोहिणीमृगाक, राघवाभ्युदय, यादवाभ्युदय तथा वनमाला नाटिका अप्राप्त हैं। इनके उल्लेख और अवतरण नाट्यदर्पण में मिलते हैं।

१२ वी शताब्दी मे यशःपाल ने 'मोहपराजय' नामक नाटक की रचना की। यशःपाल की माता का नाम रुक्मणि तथा पिता का नाम धनदेव अमात्य था। कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के आश्रय में रहकर कवि ने उक्त नाटक की रचना की थी। डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी[१] और डॉ० रामजी उपाध्याय दोनो ने ही इसका रचनाकाल ११७४-११७७ ई० माना है पर डॉ० उपाध्याय का मत विरोधजनक प्रतीत होता है। पहले वे लिखते हैं—'इसकी रचना ११७४-११७७ ई० के बीच हुई जब गुजरात मे कवि का आश्रयदाता अजयदेव चक्रवर्ती शासक था (मध्यकालीन सस्कृत नाटक पृष्ठ २११) उसी पृष्ठ पर वे आगे लिखते हैं—'अजयदेव ने १२२९ से १२३२ ई० तक कुमारपाल के पश्चात् शासन किया जब अजयदेव सन् १२२९ से १२३२ तक शासक रहा तब उसके आश्रित यशःपाल ११७४ ई० मे नाटक की रचना कैसे कर सकते हैं। डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी की भी यही धारणा है। डॉ० चौधरी ने लिखा है 'चक्रवर्ती अजयदेव चौलुक्य अजयपाल ही है जो कुमारपाल का उत्तराधिकारी था।' उन्होने नाटक के—'मन्त्रियशःपाल विरचित मोहपराजयो नाम नाटकम्' वाक्य के आधार पर यशःपाल को उक्त राजा के मन्त्री या शासक होने की सम्भावना व्यक्त की है।[२] मोहपराजय का प्रथम अभिनय थारापद मे निर्मित कुमार विहार मन्दिर मे महावीर रथयात्रा के समय हुआ। नामानुरूप ही इस नाटक मे मोह अर्थात् अज्ञान को शत्रु बनाकर उसकी पराजय दिखाई गई है। डॉ० कीथ ने इसे साध्यवसान रूपक माना है।[3] नाटक की भाषा सरल और कृत्रिमता रहित है।

१३ वी शती मे महाकवि विजयपाल ने 'द्रौपदी स्वयबर' नामक २ अंको के रूपक की रचना की, विजयपाल महाकवि श्रीपाल के पौत्र तथा महाकवि सिद्धपाल के पुत्र थे। उनका वंश ही कवीश्वर था किन्तु इनकी रचनाएँ आज भी अप्राप्त है। विजयपाल श्वेताम्बर जैन थे। यद्यपि कुछ आलोचको ने विजयपाल को जैन नही माना है किन्तु डॉ० चौधरी ने उन्हें जैन सिद्ध किया है। उनका मूलाधार सोमप्रभसूरि द्वारा सिद्धपाल का उल्लेख है। सोमप्रभसूरि 'सुमतिनाथ चरित्र' और 'कुमारपाल प्रतिबोध' की प्रशस्तियों में सिद्धपाल का उल्लेख किया है तथा ये दोनों ग्रन्थ उन्होने सिद्धपाल द्वारा प्रतिष्ठापित उपाश्रय में रहकर लिखे थे। इस वंश की ओर से अणहिलपुर मे स्वतन्त्र जैनमन्दिर और उपाश्रय बनवाये गये थे।[४] नाटक का प्रथम अभिनय 'अभिनव सिद्धराज' उपाधिकारी भीमदेव द्वितीय की आज्ञा से वसन्तोत्सव पर अणहिलपुर में हुआ था।

१-२. 'जैन सा० का बृ० इतिहास' भाग ६, पृ० ५८६।

३. 'संस्कृत नाटक' अनु० उदयभानुसिंह, पृष्ठ २६८।

४. 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' भाग ६, पृष्ठ ५८४।

भीमदेव का शासनकाल ११७९-१२४२ ई० है अतः विजयपाल का समय बारहवीं का उत्तरार्ध या तेरहवीं का पूर्वार्ध माना जाना चाहिए। नामानुरूप ही इसमे द्रौपदी स्वयंवर की कथा वर्णित है।

१३ वीं शती में ही जयप्रभसूरि के शिष्य रामभद्रमुनि ने 'प्रबुद्ध रौहिणेय' प्रकरण की रचना की। इसका प्रथम अभिनय यशोवीर तथा अजयपाल द्वारा जालौर मे बनवाये गये आदीश्वर जिनालय के यात्रोत्सव पर १२०० ई० में हुआ था। ६ अंको के इस प्रकरण में एक डाकू के महावीर के उपदेश से उनकी शरण मे आने का वर्णन है। लेखक ने एक डाकू को नायक बनाकर मनुष्य के मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर अभियान की महत्ता प्रतिपादित की है।[1]

१३ वी शती में ही मेघप्रभाचार्य ने 'धर्माभ्युदय' नामक छायानाटक की रचना की। इसके सम्बन्ध में डॉ० कीथ ने लिखा है—"यह अत्यन्त सदिग्ध है कि भारत मे छाया नाटक का आविर्भाव किस समय हुआ। हम निश्चयपूर्वक कह सकते है कि इस प्रकार का प्रतिनिधान करने वाला रूपक मेघप्रभाचार्य का 'धर्माभ्युदय' है।[2] नाटक की एक प्रति पाटन के सघ-भण्डार मे प्राप्त हुई है जिसका लेखन समय १२१६ ई० है। इसका प्रथम अभिनय पार्श्वनाथ जिनेन्द्र मन्दिर के यात्रोत्सव पर हुआ। इसमे राजर्षि दशार्णभद्र के जीवन का अंकन है। राजा की दीक्षा के बाद उसकी मूर्ति रगमच पर रखी जाती है इसी कारण इसे छाया-नाटक कहा गया है। डॉ० उपाध्याय ने इसे 'श्री गदित' कोटिका उपरूपक माना है। इसमे श्री शब्द का लगभग २५ बार प्रयोग हुआ है।[3]

१३ वीं शताब्दी में ही भडौच के मुनिसुव्रत मन्दिर के पुजारी तथा वीर सूरि के शिष्य जयसिंह सूरि ने 'हम्मीरमदमर्दन' नामक ऐतिहासिक नाटक की अवतारणा की। नाटक में जैन विद्वानो के आश्रयदाता वस्तुपाल तेजपाल के दान की पदे-पदे प्रशसा की गई है। नाटक को प्रस्तावना के आधार पर वस्तुपाल के पुत्र जयन्तसिंह की तुष्टि के लिए खम्भात में भीमेश्वर देव के यात्रा महोत्सव पर अभिनयार्थ नाटक की रचना हुई।[4] वस्तुपाल तेजपाल का समय १२२०-१२३० ई० स्वीकार किया गया है अतः जयसिंह १३वी शती के नाटककार हैं। यहाँ हम्मीर शब्द मलेच्छ राजा अमीरशिकार या सुलतान शमसुद्दीन के लिए प्रयुक्त है न कि मेवाड के राजा चौहान वशीय हम्मीर सिंह के लिए। प्रस्तुत नाटक मे ५ अक हैं जिनमे गुजरात के बघेल वशीय नरेश धवलवीर और उसके मन्त्री वस्तुपाल द्वारा मुसलमानों के आक्रमण को कूटनीति द्वारा रोकने का चित्रण है। सारे नाटक मे कूट नीतियाँ अपनाई गई है। यह वीर रसात्मकनाटक है। जो 'मुद्राराक्षस' की अनुकृति प्रतीत होती है।

१३ वी शती में ही बालचन्द्र सूरि ने 'करुणावज्रायुध' नामक एकाकी रूपक की रचना की जिसमे भ० शान्तिनाथ के पूर्वभव के जीव चक्रवर्ती वज्रायुध द्वारा एक श्येन से कबूतर को बचाने के लिए स्वय को अर्पित कर देने का वर्णन है। बालचन्द्रसूरि की दूसरी प्रसिद्ध रचना 'वसन्तविलासिमहाकाव्य' है। तदनुसार इनका असली नाम मुंजाल था पिता का नाम धरादेवा और माता का नाम विद्युत था। नाटक का प्रथम अभिनय वीरधवल के मन्त्री वस्तुपाल के अनुरोध पर हुआ था।

---

१. 'मध्यकालीन संस्कृत नाटक', पृष्ठ २२३।

२. डॉ० कीथ, 'संस्कृत नाटक', पृष्ठ २८४।

३. 'मध्यकालीन संस्कृत नाटक', पृष्ठ २२६।

४. 'श्री भीमेश्वरयात्रायां श्रीमता जयन्तसिंहेन समादिष्टोऽस्मि कमपि प्रबन्धमभिनेतुम्। (प्रस्तावना)

जिस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय में रामचन्द्र प्रतिभाशाली नाटककार हुए उसी प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय मे 'सरस्वतीस्वयवरवल्लभ', 'महाकवितल्लज', 'सूक्तिरत्नाकर' 'कविता साम्राज्य लक्ष्मी', 'उभय-भाषा चक्रवर्ती' भट्ट हस्तिमल्ल हुए। इनका असली नाम मल्लिषेण था तथा ये दक्षिण-भारतीय वत्स-गोत्रीय ब्राह्मण गोविन्दभट्ट के पुत्र थे। विक्रात कौरव की प्रशस्ति से ऐसा ज्ञात होता है कि गोविन्दभट्ट स्वामी समन्तभद्र के 'देवागम स्तोत्र' या 'आप्तमीमासा' के प्रभाव से मिथ्यात्व का त्यागकर जैनधर्मावलम्बी हो गये थे उन्हें स्वर्णयक्षी देवी के प्रसाद से ६ पुत्र प्राप्त हुए जिनमे हस्तिमल्ल पाँचवें थे।[1] य गुडिपत्तन के निवासी थे। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री अपनी नम्र सम्मति से इन्हें ११६१-११८१ ई० मे रखने के पक्षपाती हैं।[2] डॉ० हीरालाल जैन[3], डॉ० उपाध्याय, डॉ० चौधरी, डॉ० गैरोला[4] इन्हे १३वी शताब्दी में रखने के पक्षपाती हैं। श्री नाथूराम प्रेमी ने लिखा है—'कर्णाटक कविचरित के कर्ता आर० नरसिह आचार्य ने हस्तिमल्ल का समय १२९० ई० निश्चित किया है, और यह ठीक मालूम देता है'।[5] अत हस्तिमल्ल १३वी शती के नाटककार हैं। हस्तिमल्ल बहुभाषाविद विद्वान् थे उनके 'आदिपुराण', 'श्रीपुराण' (कन्नड) तथा 'प्रतिष्ठातिलक' ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनके चार नाटक प्राप्त है—१ विक्रान्त कौरव ६ अको का नाटक जिसमे जयकुमार और सुलोचना की कथा चित्रित है। २ मैथिलीकल्याण '५ अको के इस नाटक मे रामसीता के स्वयवर की कथा वर्णित है। ३ सुभद्रानाटिका-४ अको की इस नाटिका मे ऋषभदेव के पुत्र भरत और विद्याधर राजा नमि की बहिन तथा कच्छराज की पुत्री सुभद्रा के विवाह का चित्रण है। ४ अजना पवनजय ६ अङ्को मे जैन शास्त्रो की अजना पवनजय की कथा वर्णित है। इनके अतिरिक्त 'उदयनराज', 'भरतराज', 'अर्जुनराज', 'मेघेश्वर' ये ४ नाटक अप्राप्त है।

१४वी शताब्दी मे प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक 'हम्मीरमदमर्दन' के कर्ता जयसिंह सूरि ने भिन्न कृष्ण या कृष्णर्षिगच्छीय जयसिंह सूरि के शिष्य नयचन्द्रसूरि ने 'रम्भा-मञ्जरी' नामक सट्टक रचा जिसमे तीन जवनिकायें तथा यत्रतत्र सस्कृत भाषा का प्रयोग होने से डॉ० उपाध्याय ने न तो इसे नाटिका माना है और न ही सट्टक।[6] डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने नयचन्द्र को जयसिंह सूरि का शिष्य माना है[7] जबकि डॉ० श्यामशकर दीक्षित ने उन्हे जयसिह सूरि के शिष्य प्रसन्नचन्द्रसूरि का शिष्य माना है।[8] नयचन्द्र ने प्रसिद्ध ऐतिहासिक

१. 'गोविन्दभट्टइत्यासीद्विद्वान्मिथ्यात्ववर्जित'।
देवागमसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वित ॥
दक्षिणात्या जयन्त्यत्र स्वर्णयक्षी प्रसादत.।
श्रीकुमारकविः सत्यवाक्यो देवरवल्लभ ॥
उद्यद्भूषणनामा च हस्तिमल्लाभिधानक ।
वर्धमानकविश्चेति षडभवन् कवीश्वरा ॥ (विक्रान्त कौरव प्रशस्ति)

२. डॉ० नेमिचन्द्रशास्त्री 'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा', भाग ३, पृष्ठ २८०।

३. 'भारतीय संस्कृति मे जैन धर्म का योगदान', पृष्ठ १७७।

४. 'सस्कृत साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ३६१।

५. 'जैन साहित्य और इतिहास', पृष्ठ २६५।

६ 'मध्यकालीन सस्कृत नाटक', पृष्ठ ३३४।

७. 'संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियो का योगदान', पृष्ठ ३९९।

८. 'तेरहवी चौदहवी शती के जैन संस्कृत महाकाव्य', पृष्ठ १६७-६८।

महाकाव्य 'हम्मीर महाकाव्य' की भी रचना की है जयसिंह सूरि ने 'कुमारपाल भूपाल चरित' की रचना १३६५ ई० में की थी अतः नयचन्द्र को १४ वी शती में रखना असमीचीन नहीं होगा। यह कर्पूरमजरी के आदर्श पर लिखा गया है जिसमें नायक जयचन्द्र और नायिका रम्भा की प्रणय कथा चित्रित है।

१४ वी १५वी शती मे पद्मचन्द्र के पुत्र तथा शिष्य यशश्चन्द्र ने 'मुद्रितकुमुदचन्द्र' नामक ५ अंकों का रूपक लिखा। अणहिलपुर में जयसिंह चालुक्य की सभा मे ११२४ ई० मे श्वेताम्बराचार्य देवसूरि एवं दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के बीच शास्त्रार्थ हुआ था जिसका रोचक वर्णन प्रस्तुत रूपक मे है। डॉ० हीरालाल शास्त्री ने पद्मचन्द्र का नाम लघुपट्टावली मे आने के कारण इनका समय १४वी १५वी शताब्दी माना है।[1] यशश्चन्द्र बहुश्रुत विद्वान् थे उन्होने अनेक ग्रन्थो की रचना की जो आज अनुपलब्ध हैं। ऐसा निम्न पद्य से जाना जाता है।

"कर्ताऽनेकप्रबन्धानामत्र प्रकरणो कवि। आनन्दकाव्यमुद्रासु यशश्चन्द्र इति श्रुतः ॥"

वि० की १५वीं शती मे नेमिनाथ ने शमामृत नाटक लिखा जिसके लेखक के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी नही मिलती। 'श्री नेमिनाथस्य शमामृत नाम छायानाटकमभिनयस्वेति' नाटक की इस प्रस्तावना के आधार पर नेमिनाथ इसके कर्ता है। यह छाया नाटक है जिसमे नेमिनाथ के विवाह की घटना चित्रित है। अभिनय नेमिनाथ यात्रोत्सव पर हुआ था। नाटक के सम्पादक मुनिधर्मविजय के अनुसार इनका समय वि० की १५ वीं शती है।[2]

१४-१५ वी शती मे हस्तिमल्ल के वशज ब्रह्मसूरि ने 'ज्योति प्रभाकल्याण' नाटक लिखा। प्रतिष्ठासारोद्धार में दी गई वंश परम्परा के अनुसार (गोविन्दभट्ट→हस्तिमल्ल→पार्श्वपण्डित→चन्द्रप→विजयेन्द्र→ब्रह्मसूरि) हस्तिमल्ल ब्रह्मसूरि के पितामह के पितामह थे। नाटक का प्रथम अभिनय शान्तिनाथ के जन्म कल्याणक पर हुआ था इसमे ज्योति प्रभा के विवाह का चित्रण है।

१६वी शताब्दी में वादिचन्द्र ने 'ज्ञानसूर्योदय' नाटक रचा। नाटक की अन्तिम प्रशस्ति के आधार पर वादिचन्द्र मूलसघी ज्ञानभूषण भट्टारक के प्रशिष्य तथा प्रभाचन्द्र के शिष्य थे और माघशुक्ल अष्टमी सं० १६४८ (१५९१ ई०) को मधूक नगर मे नाटक की रचना की थी।[3] इसकी रचना 'प्रबोधचन्द्रोदय' की प्रतिक्रियास्वरूप हुई अत पात्र भावात्मक है, श्वेताम्बर सम्प्रदाय का उपहास किया है।

१६-१७ वी शती मे उपाध्याय पद्मसुन्दर ने 'ज्ञानचन्द्रोदय' नाटक लिखा। यह भी प्रबोध चन्द्रोदय की प्रतिक्रिया स्वरूप लिखा गया है। डॉ० चौधरी ने लेखक का परिचय देते हुए लिखा है कि "अकबर बादशाह के दरबार में ३३ हिन्दू सभासदो के ५ विभागो में उनका नाम प्रथम विभाग में था। उन्होंने अकबर के दरबार में एक महान् पण्डित को वादविवाद में परास्त किया था।[4] पद्मसुन्दर की अन्य रचनाओ में 'रायमल्लाभ्युदय', 'भविष्यदत्त चरित्र', 'पार्श्वनाथकाव्य' आदि प्रसिद्ध हैं।

१८ वी शती में काव्य, व्याकरण, ज्योतिष और तर्कशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित उपाध्याय मेघविजय ने 'युक्तिप्रबोध' नामक दार्शनिक नाटक रचा। जिसमे विभिन्न सम्प्रदायो की आलोचना करते हुए दिगम्बर तथा

१. 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान', पृष्ठ १८०।
२. 'मध्यकालीन संस्कृत नाटक', पृष्ठ ४१८।
३. 'वसुवेदरसाब्जांके वर्षे माघे सिताष्टमीदिवसे।
श्रीमन्मधूकनगरे सिद्धोऽयं बोधसंरम्भ ॥'
४. डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास' भाग ६, पृष्ठ ६७।

श्वेताम्बर मत की विरोधी बातों का उल्लेख है। डॉ० श्रेयासकुमार जैन ने अपने शोध प्रबन्ध में विभिन्न प्रमाणों के आधार पर मेघविजय का समय १८ वी शती माना है।[1] मेघविजय की अन्य रचनाओं में सप्त-सन्धान महाकाव्य' तथा 'देवानन्द महाकाव्य' अति प्रसिद्ध हैं।

वर्तमान जैन सस्कृत नाटककारों में श्रद्धेय एन् रगनाथ शर्मा का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने हाल ही में बाहुबली सहस्राब्दी महामस्तकाभिषेक के अवसर पर 'बाहुबलिविजयम्' नामक नाटक की रचना की है। ६६ वर्षीय श्री शर्मा का जन्म कर्णाटक प्रदेशान्तर्गत शिवमोगा जिले के नडहृक्की नामक ग्राम मे हुआ। सस्कृत में छह तथा कन्नड में २५ ग्रन्थों के प्रणेता श्री शर्मा कन्नड, सस्कृत और अंग्रेजी भाषा के प्रयाग हैं। सम्प्रति आप बंगलोर में रहते हुए माँ भारती के भण्डार को समृद्ध कर रहे है।[3] उक्त नाटक मे ४ अंक हैं। नामानुरूप बाहुबलि और भरत के युद्ध का विवेचन है। इसका सफल अभिनय महामस्तकाभिषेक के अवसर श्रवणवेलगोल में हुआ था।

इनके अतिरिक्त अन्य नाटको में आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य देवचन्द्र के—'चन्द्रप्रभाविजय प्रकरण' तथा 'मानमुद्राभंजन' मलयचन्द्रसूरिकृत 'मन्मथमथन' या 'स्थूलभद्र' अर्हद्दास कृत 'अंजनापवनजय' केशवसेन भट्टारक कृत 'ऋषभदेव निर्वाणानन्द' उल्लेखनीय हैं जो अप्राप्त है।

जैन सस्कृत नाटक पाँच रूपो में उपलब्ध हैं प्रथम वे जिनमे रामायण और महाभारत को उपजीव्य बनाकर मथन और सिद्धान्त की दृष्टि से परिवर्तन किया गया है यथा 'सत्य हरिश्चन्द्र' 'नलविलास' आदि। द्वितोय वे जिनमें विशुद्ध जैन कथायें वर्णित हैं यथा 'विक्रान्त कौरव', 'अजनापवनंजय' आदि। तीसरे ऐतिहासिक हैं यथा 'हम्मीरमदमर्दन' आदि। चौथे नाटकों मे दार्शनिकता है यथा 'ज्ञानसूर्योदय,' 'युक्तिप्रबोध' आदि पाँचवें नाटकों की कथावस्तु कविकल्पित है यथा 'प्रबुद्ध रोहिणेय' आदि। अधिकाश नाटको का प्रणयन किसी यात्रा या उत्सव के ब्याज से हुआ है। नाटको का उद्देश्य अश्वघोष की भाँति काव्य के बहाने जैन धर्म के सिद्धान्तो का प्रतिपादन रहा है यद्यपि यह कुछ नाटको पर ही लागू होता है। दार्शनिक नाटको में खण्डन मण्डन की प्रवृत्ति पाई जाती है। इनके नाटक इतने विशाल और साहित्यिक दृष्टि से मूल्यवान हैं कि उन पर स्वतन्त्र रूप से शोध प्रबन्ध लिखे जा सकते है। अपनी शक्त्यनुसार उनका सक्षिप्त परिचय मैंने यहाँ प्रस्तुत किया है।

---

१. 'सप्तसंधान महाकाव्य : एक समीक्षात्मक अध्ययन', टंकित शोध प्रबंध, पृष्ठ ८८।

२. व्यक्तिगत पत्र के आधार पर।

रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराण में उल्लिखित जैन पूजा पद्धति व धार्मिक उत्सव

● डॉ० श्रीमती विद्या जैन, टौंक

जैन रामकथा की परम्परा मे जैन आचार्य रविषेण विरचित पद्मपुराण (पद्मचरित) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैनधम व दर्शन की दृष्टि से ही नही अपितु प्राचीन व पूर्व मध्यकालीन भारत के सास्कृतिक इतिहास की दृष्टि से भी इसका अत्यधिक महत्त्व है। चूँकि इस ग्रन्थ मे लेखक ने तत्कालीन समाज का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, अत. पद्मपुराण का सास्कृतिक महत्त्व लगभग वही है जो बाण की कादम्बरी और हर्ष चरित का है। तत्कालीन समाज के रहन-सहन, रीति-नीति, आचार-विचार एव मानसिकता के बोध के लिए पद्मपुराण प्रचुर सास्कृतिक सामग्री प्रस्तुत करता है।

जैन आचाय होने के कारण लेखक अपने विवरणो म जैन दृष्टिकोण से प्रभावित है। अतः इस पुराण मे उपलब्ध सामग्री का समालोचक दृष्टि से अनुशीलन करने पर तत्कालीन भारतीय सस्कृति के विविधपक्ष नवीन प्रकाश से आलोकित हो उठते है।

पूर्व मध्यकाल मे जैनधर्म मे मूर्तिपूजा व धार्मिक उत्सव का कैसा रूप प्रचलित था, इस विषय पर पद्मपुराण विशद प्रकाश डालता है। जैन मत मे मूर्तिपूजा कम से कम इतिहास काल के आरम्भ से प्रचलित रही है।[१] रविषेणाचाय न पुराण म जैनमतानुयायियो द्वारा मूर्तिपूजा करने का उल्लेख किया है।[२] रविषेण के इस प्रकार के उल्लेख यह प्रकट करते है कि उस समय जैन धर्म को अन्य लोकप्रिय धर्मों से स्पर्धा होने लगी थी। इसीलिए जैनमत में भी मूर्तिपूजा का व्यापक प्रसार होने लगा था। पूर्व मध्ययुगीन जैन मन्दिरो में सगीत में पारगत स्त्रिया अपनी भक्तिमयी स्तुतियो से मन्दिरो को गुजायमान रखती थी। ऐसा पद्मपुराण से सूचित होता है।[३] यह जैनमत मे भक्ति धारा के अभ्युदय का सूचक है। गुप्तयुग से ही देश की धार्मिक स्थिति मे परिवर्तन आया था। गुप्त नरेश स्वय को परमभागवत कहते थे, परन्तु दृष्टिकोण से स्वय उदार थे। बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय का गुप्त राजाओ के संरक्षण मे काफी प्रसार हुआ था। नालन्दा व पश्चिम में बल्लभी बौद्ध केन्द्र थे एव जैनधम भी विकसित स्थिति मे था।

पूर्व मध्ययुग मे जैन श्रमण सघ व्यवस्था मे अनेक परिवर्तन हो रहे थे। मुनि लोग अरण्यको को छोड-कर 'वसतिवास' करने लगे थे। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे मूर्ति तथा मन्दिरो का निर्माण श्रावकधर्म का मूल अग था। मुनियो का ध्यान भी ज्ञानाराधना से हटकर मन्दिरो और मूर्तियो की देखभाल में लगने लगा था। वे पूजा और मन्दिरो की मरम्मत के लिए दानादि ग्रहण करने लगे थे, फलत सातवी शताब्दी के बाद से जिनप्रतिमा, जिनालय निर्माण और जिनपूजा के माहात्म्य पर विशेष रूप से साहित्य निर्माण होने लगा।[४] दैनिक जीवन मे भी देवपूजा का महत्त्व बढ गया था। पूजन से पूर्व स्नान कर धुले हुए वस्त्र पहनकर

१ डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन लिखित अध्याय—४, जैन कला का उद्गम और उसकी आत्मा, पृ० ४१, (ग्रन्थ—जैन कला एव स्थापत्य, खण्ड-१)।

२. पद्मपुराण, १०/८५-८८।

३. वही, २३/१६।

४. डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, पृ० ११, भाग ६।

मस्तक को सफेद वस्त्र से युक्त किया जाता था।[1] स्वर्ण व रत्न निर्मित अर्हन्त प्रतिमाओं पर चन्दोवा तानकर मोतियो की झालर लटकायी जाती थी।[2] जिन प्रतिमा स्थापित कर धूप, चन्दन, पुष्प, नैवेद्य के द्वारा पूजा की जाती थी।[3] शरीर पर चन्दन व ललाट पर केशर का तिलक लगाया जाता था।[4] मूर्ति के तीन प्रदक्षिणाये दी जाती थी फिर दूध, दही, इक्षु की धारा, घी, जलादि से अभिषेक किया जाता था।[5] जिन प्रतिमा पूजन की उपर्युक्त विधि को जैन समाज में आज तक प्रचलित देखा जा सकता है।

पद्मपुराण मे अष्टागिका महोत्सव मनाये जाने का विशद उल्लेख है।[6] मन्दिरों को इस दौरान सजाया जाता था।

रविषेण ने दीक्षा समारोहो का भी विशद उल्लेख ग्रन्थ मे किया है।[7] एक साथ बहुत से लोग दीक्षा ले सकते थे। स्त्रियाँ प्रमुख साध्वी के पास दीक्षा लेती थी।[8] दीक्षा समारोह विषयक कई बातें जैन समाज में यथावत् देखी जा सकती है।

ग्रथ मे रविषेणकालीन जैन सघो का बहुत सजीव विवरण मिलता है।[9] मुनिसघ शहर या ग्राम से बाहर शान्त वातावरण मे ठहराये जाते थे। सघ के मुख्य आचार्य को सघ की देखभाल पिता के समान करनी पड़ती थी।[10] आर्यिकाओ के सघ होते थे। उनकी प्रधान आर्यिका को गणिनी कहते थे।[11] मुनि सघ के प्रधान को आचार्य कहते थे।[12]

रविषेण के विविध विवरण यह बोध कराते है कि बौद्ध धर्म के पराभव से रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए ब्राह्मण तथा जैन धर्म के बीच प्रतिस्पर्धा चल रही थी। सम्भवत इस युग मे अन्य लोकप्रिय धर्मों से स्पर्धा होने के कारण ही जैन मत मे भी मूर्तिपूजा का व्यापक प्रचलन हो गया था व वैष्णव मत की भक्ति-धारा को जैनमत मे स्वीकार कर लिया गया था, जो कि समयोचित प्रतीत होता है।

●

---

१. पद्मपुराण १०/८५।
२. वही, १०/८६-८८।
३. वही, १०/८९-९०।
४ वही, १२/५९।
५. हरिवंश पुराण, २२/२०-२३।
६. पद्मपुराण २९/१, २९/४, ६८/१।
७. पद्मपुराण ३/२८३, २१/३८, ११९/१९।
८. वही, ११९/४१-४२।
९ पद्मपुराण २९/८४-८५।
१०. पद्मपुराण, २९/८६।
११. वही, ३९/९६।
१२. वही, ३९/११०।

कन्नड़ जैन साहित्य एवं गणित

●श्री अनुपम जैन, ब्यावर

कन्नड साहित्य का आरभिक काल

कन्नड भाषा मे साहित्य सृजन की परपरा का सूत्रपात कब हुआ, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है किन्तु कन्नड भाषा मे लिखित प्राचीनतम उपलब्ध शिलालेख ६ वी शताब्दी ई० के हैं। मात्र १-२ अपवादो को छोडकर इस काल के शेष सभी शिलालेख गद्य मे है एव आकार मे छोटे होत है। छठी शताब्दी से पूर्ववर्ती शिलालेख सस्कृत अथवा प्राकृत भाषा मे है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इससे पूर्व कन्नड साहित्य के सृजन की सभावनायें नगण्य ही है तथापि कतिपय विद्वान ईसा पूव की शताब्दियो मे भी कन्नड भाषा की वनवासियो के मध्य कतिपय भिन्न रूप म उपस्थिति स्वीकार करते है। कहा जाता है कि ईसा की द्वितीय शताब्दी में लिखित एक यूनानी नाटक म कन्नड वाक्य मिलते हैं, किन्तु मात्र इतने साक्ष्य के आधार पर उस काल म साहित्य सृजन की सम्भावना को स्वीकार करना तर्क सगत प्रतीत नही होता। क्योकि अशत पद्यात्मक भाषा मे लिखित कन्नड भाषा का सर्वप्रथम शिलालेख नवी शताब्दी का ह। यह पूर्ववर्ती शिलालेखो की अपेक्षा विस्तृत भी है।

नवी शताब्दी के प्रख्यात राष्ट्रकूट वशीय शासक नृपतुग अमोघवष-I (महावीराचाय के समकालीन) द्वारा लिखित 'कविराज मार्ग' कन्नड भाषा का सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ है। इसमे कतिपय कवियो के नाम एव उदाहरण के रूप म कुछ उद्धरण भी मिलते है। इससे स्पष्ट होता है कि ८-९ वी शताब्दी के पूर्व भी कन्नड भाषा में ग्रन्थ रचना अवश्य की गई किन्तु यह कहना सभव नही कि कविराज-मार्ग मे उद्धृत कवियो का काल क्या है। अत शिलालेखो की उपलब्धता एव भाषा विकास के क्रम के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि छठी शताब्दी ई० से पहले कर्नाटक प्रदेश मे सस्कृत भाषा मे वर्णित धर्म सभ्यता एव साहित्य का प्रचार था। छठी-नवी शताब्दी ई० के मध्य स्फुट रूप से कन्नड भाषा म साहित्य सृजन होता रहा, जो समय के साथ शनै शनै सस्कृत के प्रभाव से मुक्त होकर परिष्कृत भी हुआ।

१०वी शताब्दी मे पप, पान्न एव रन्न सदृश महान जैन कवि हुए थे। प० क० भुजबली शास्त्री ने उपलब्ध प्राचीन साहित्य एव शिलालेखो की सामग्री के आधार पर श्रीवर्धदेव दुर्विनीत श्रीविजय, केशिराज, मल्लिकार्जुन, असग, गुणनदि एव गुणवर्म को ७ १०वी शताब्दी के मध्य का प्रमुख कवि माना है। ये सभी जैन कवि थे।[1] इनकी कृतियाँ मुख्यत दो रूपो मे मिलती है। १ सिद्धान्त प्रतिपादक। २ तीर्थंकर वृत्तात्मक।

वस्तुत कन्नड साहित्य की समृद्धि एव विकास मे जैनधर्मावलम्बियो का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

'जैन ही कन्नड भाषा के कवि है, आज तक की उपलब्ध समस्त प्राचीन एव श्रेष्ठ कृतियाँ जैन कवियो की रचना हैं। ग्रन्थ रचना मे जैनो के प्राबल्य का काल ही कन्नड साहित्य की उन्नत स्थिति का काल है। प्राचीन जैन कवि ही कन्नड भाषा के सौदर्य एव कान्ति के विशेषत कारणभूत हैं। उन्होने शुद्ध एव गम्भीर शैली मे ग्रन्थ रचकर ग्रन्थ रचना कौशल को उन्नत स्तर पर पहुँचाया है। प्रारम्भिक कन्नड साहित्य

१. देखें, स० (४-III), पृ० १-१२

उन्हीं की लेखनी द्वारा लिखा गया है। कन्नड साहित्य के अध्ययन के सहायभूत, छन्द, अलंकार, व्याकरण, कोश आदि प्रधानत जैनो के द्वारा हो रचे गये हैं।[1]

मात्र काव्य एव कथा प्रधान ग्रन्थ ही नही, अपितु गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, भूगोल, खगोल, व्याकरण आदि पर जैनाचार्यों एव विद्वानों द्वारा महत्त्वपूर्ण साहित्य रचा गया। हम यहाँ गणित विषयक कतिपय प्रमुख कृतियो एव लेखको की चर्चा करेंगे।

राजादित्य

श्री नरसिंहाचार्य के मतानुसार कन्नड मे गणित शास्त्र लिखने वाले, राजादित्य प्रथम कवि हैं। आपने सूत्रों एवं उद्धरणो को बहुत ही ललित पद्यो मे अभिव्यक्त करने का सफल प्रयत्न किया है। इन पद्यों से यह स्पष्ट है कि वे केवल गणित शास्त्र के ही मर्मज्ञ ही नही, अपितु एक प्रौढ़ कवि भी थे। इन्होंने गणित से सम्बन्ध रखने वाले प्राय: सभी विषयों का अपने ग्रन्थ मे संग्रह किया है। वर्तमान मे विद्वानों को अब तक आपके गणित विषयक ६ ग्रन्थ प्राप्त हो चुके हैं। कूडिमण्डुलान्तर्गत "पूविन बागे" आपकी जन्मभूमि थी। आपके पिता का नाम "वसता" एव पत्नी का नाम "कनकमाला" था। कवि ने अपने को "कवीश्वर निकर सभायोग्य" लिखा है। जिससे, यह मालूम पड़ता है कि आप दरबारी पण्डित रहे होगे। कवि ने शुभचन्द्र देव को अपना गुरु बताया है यह तथ्य व्यवहारगणित की निम्न पुष्पिका से स्पष्ट है।

"इति शुभचन्द्रेण योग पदारविन्दमत्त मधुकरायमान-मान सान्दित सकल गणित तत्त्व विलाते विनेयजनमुते श्री राजादित्य विरचिते व्यवहारगणिते।[2] श्रवणबेलगोल के ११७वें अभिलेख से ज्ञात होता है कि एक शुभचन्द्र ११२३ ई० मे स्वर्गवासी हुए। यही कवि के गुरु प्रतीत होते है। यदि ये शुभचन्द्र राजादित्य के गुरु हैं तो राजादित्य विष्णुवर्द्धन के आस्थान पण्डित होकर लगभग ११२० ई० मे जीवित रहे होंगे। राजादित्य ने अपनी रचना मे विष्णु नृपाल का नामोल्लेख भी किया है। यहाँ द्रष्टव्य है कि होयसल राजा विष्णुवर्द्धन ने लगभग ११११ ई० से ११४२ ई० तक राज्य किया था। फलत राजादित्य का काल ११२० ई० के आसपास निश्चित प्रतीत होता है।[3]

राजादित्य की कृतियो से विदित होता है कि इनके 'भाष्कर' वाचवाचस्य वाचिराज, राजवर्ग, आदि अनेक अपर नाम तथा इनको गणित-विलास, ओजेबेडग, पद्य विद्याधर आदि अनेक उपाधियाँ प्राप्त थी। राजादित्य ने अपने पाडित्य एव गुणो को समस्त विद्या चतुरानन, विवुधाश्रित कल्पमहीरुह, आश्रितकल्प, महीन, विश्रुत भुवनकीर्ति, शिष्टेष्ट जनैकाश्रय, अमल चरित्र, अनुरूप, सत्यवाक्य परहित चरित सुस्थिर, गम्भीर, उदार, सच्चरित्र, अखिल विद्याविद जनता सस्तुत्य, उर्वीश्वर, निकरसमा सेव्य आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया है।[4]

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, डॉ० कापडिया एव प० के० भुजबली शास्त्री ने आपकी जिन ६ रचनाओ का उल्लेख किया है वे निम्नलिखित है।

---

१. कर्नाटक कवि चरिते, प्रस्तावना, भाग-१ एवं २, द्वारा सं० (६-III), पृ० ३१२.

२. देखें, सं० (४-II)

३. देखें, सं० (४-III)

४. देखें, स० (४-III)

१. व्यवहार गणित[1]—के० भुजबली शास्त्री के अनुसार यह गद्य पद्यात्मक कृति है।

आठ अधिकारों में विभक्त इस ग्रन्थ में सूत्रों को पद्य रूप में लिखकर टीका तथा उदाहरण दिये गये हैं। प्रत्येक अधिकार को हार की संज्ञा दी गई है। कवि ने स्वयं लिखा है कि मैंने इस ग्रन्थ को मात्र ५ दिन में लिखा है।

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने लिखा है कि—

In the 12th. C. Rajaditya a great scholor of Mathematical Sciences composed vyavharaganita in Samskrita.[२]

कासलीवाल के उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ की भाषा संस्कृत है। राजादित्य कृत व्यवहार गणित में सहजत्रयराशिक व्यस्तत्रयराशिक सहजपंचराशिक व्यस्तपचराशिक सहजसप्तराशिक व्यस्तसप्तराशिक व्यस्त नवराशिक आदि कई विषय हैं।

२. क्षेत्र गणित—आपका दूसरा ग्रंथ क्षेत्रगणित है। इसमे रेखागणित के विषयो का विवेचन है।

३. व्यवहार रत्न—इस ग्रंथ में कुल पाँच अधिकार हैं।

४. जैन गणित सूत्रोदाहरण—इस ग्रन्थ के दूसरे नाम जैन गणित सूत्र एव जैन गणितटीकोदाहरण भी मिलते हैं।[3]

५. चित्रहसुगे—यह ग्रन्थ सूत्र टीका रूप है।

६. लीलावती—यह ग्रन्थ पद्य रूप है। सम्भवत: यह भास्कराचार्य कृत लीलावती का कन्नड़ अनुवाद है।[४]

इस बात की पर्याप्त सम्भावना है कि विद्वानों की दृष्टि से ओझल इनका कोई अन्य ग्रंथ भी हो। यहाँ विचारणीय है कि मूडबद्री जैन मठ एव सम्बद्ध अन्य भण्डारो मे उपलब्ध आपके नाम की दो कृतियो के नाम 'गणित विलास'[५] एव 'गणित सग्रह[६]' है। क्या यह पूर्वोक्त कृतियो के ही अपर नाम है? अथवा भिन्न? बैंगलोर से हमारे एक मित्र श्री मनहर भाई सेठ ने सूचना दी है कि राजादित्य की ये कृतियाँ कर्नाटक वि० वि० धारवाड मे सुरक्षित हैं।

राजादित्य के नाम से "गणित शास्त्र" नामक एक कृति का निम्नवत् उल्लेख प्रो० सेन ने किया है।

---

१. यह ग्रंथ कन्नड में प्रकाशित हो चुका है।
Vyavahara Ganita of Rajaditya, ed by M M. Bhat, Govt. Oriental Manuscript Library, Madras, 1955.

२. देखें, सं० (३) पृ० १६८.

३. देखें, सं० (४-III)

४. 'It (Lilavati) was first translated into Kannada by Rajaditya (1191 A. D.)' Ref. 8, p. 13.

५. वैकणतिकारि बसादि, मूडबद्री, ग्र० सं० ७, द्वारा स०-(४-I) पृ० २७५ जैन मठ, कारकल ग्र० सं० ५४, ५४, ६०, द्वारा सं० (४-I) पृ० २९४.

६. जैनमठ-मूडबद्री-ग्रं० स० ५९, द्वारा सं०-(४-I) पृ० १६९.

Sri Rajaditya

Ganita Sastra (गणित शास्त्र) An Astronomical Treatise catalouge of oriental manuscripts in the Library of the College, Fort st George in Charge of Board of Examiners ed. by Rev William Taylor-Madras, 1937, p-328, Sr N. 1957.[1]

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि ज्योतिर्विज्ञान (Astronomy) की कोई कृति श्री राजादित्य के नाम की है। कृति के अध्ययन के बिना यह कहना सभव नही है कि यह कृति चर्चित राजादित्य की ही है अथवा श्री राजादित्य कोई भिन्न व्यक्ति हैं।

कुमुदेन्दु

कुमुदेन्दु कन्नड भाषी महान् दिगम्बर जैनाचार्य थे। खेद का विषय है कि उनका कृतित्व आज भी जैन समाज के सम्मुख नही आ सका। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपनी पुस्तक "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा" में जैन रामायण के कर्ता के रूप में एक कुमुदेन्दु (२७५ ई०) का नामोल्लेख मात्र किया है। हम यहाँ सर्व भाषामयी कन्नड काव्य ग्रन्थ "श्री भूवलय" के कर्ता कुमुदेन्दु के विषय मे चर्चा करेंगे।

श्री मालप्पा के लेखानुसार कुमुदेन्दु बैंगलोर मे ३८ कि० मि० दूर नदी हिल के समीप स्थित मेलावल्ली के निवासी थे। भूवलय के अतरग साक्ष्यो के आधार पर कुमुदेन्दु मान्यखेट के राष्ट्रकूट वशीय शासक अमोघवर्ष नृपतुग एव गग नरेश शिवार्य के गुरु थे।[2] षट्खण्डागम की विख्यात टीका धवला के रचयिता आ० वीरसेन द्वारा अपनी प्रसिद्ध धवला टीका के सम्पूर्ण होने (८१६ या ८२६ ई०) के ४४ वर्षों के उपरात इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया।

आ० देशभूषण जी द्वारा लिखित भूवलय परिचय पुस्तिका मे इस ग्रथ मे निहित गणित के संख्या सम्बन्धी लाघव की झलक मात्र प्रस्तुत की गई है। एव यत्र-यत्र यह सकेत किया गया है कि ग्रथ मे उच्च-कोटि का गणित निहित है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्य श्री गणितज्ञ नही है एव पुस्तिका के लेखन के समय तक सम्पूर्ण ग्रथ का अनुवाद भी न हो सका था। आचार्य श्री के मन्तव्यानुसार क्रमचय एव सचय के सिद्धान्तो द्वारा ग्रंथ में १८ भाषाओ को जिस रूप मे व्यवस्थित किया गया है वह स्वय रचनाकार की गणित विषयक पारंगता का द्योतक है।

सम्पूर्ण ग्रंथ के उपलब्ध होने तक हमें डॉ० मालप्पा के इस ग्रन्थ के विषय मे कहे गये निम्न शब्दों से ही संतोष करना होगा जो कि इसमें निहित गणित पर प्रकाश डालते है।

For the history of Indian Mathematics it is an important Source The recent studies in Jaina Mathematics/Astronomy, on the basis of Virasen's Dhavala Tika shows that as early as 9th C. it not earliear, Indian, had developed the theory of place value, Law of indices, lograthims, special methods to deal with fraction, the theory of transformation, geometrical & mensuration formulea indefinite process and theory of infinity (Conticipating by centuries the western mathematician), the value of a, Permutation & Combination etc. Kumudendu's work seems to be for more advanced than Virasena's and require deep study.[3]

१. देखें, सं० ७, पृ० २०७।

२. देखें, श्री भूवलय, —१२६, ९-१४६, ८-६६, ८-७२, द्वारा स० (५)।

३. देखें स० (५)।

डॉ० मालप्पा के उक्त कथन से गणित इतिहासज्ञों हेतु इसकी (श्री भूवलय की) उपयोगिता स्वतः परिलक्षित होती है।

मात्र राजादित्य एवं कुमुदेन्दु ही नहीं अपितु अन्य भी अनेक गणितज्ञो ने कन्नड में ग्रन्थ रचना की है।

चन्द्रम नामक किसी विद्वान् ने कन्नड भाषा मे "गणित विलास" की रचना की है। गणित विलास की २ प्रतियाँ जैन भवन मूडबद्री के भण्डार में ग्रं० स० ८९ एव २१८ पर एवं जैन मठ—मूडबद्री के भण्डार में ग्र० स० १६९ पर उपलब्ध हैं।[१] कन्नड भाषा एवं कन्नड लिपि मे लिखी इस प्रति मे ३२ पत्र हैं। इसी नाम के विद्वान् द्वारा लिखित "लोक स्वरूप" की अनेक प्रतियाँ कर्नाटक के भडारों में उपलब्ध है। अत. ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रम भूगोल एवं गणित के अधिकारी विद्वान् रहे थे। आपके व्यक्तित्व एव कृतित्व के समुचित अध्ययन की तत्काल आवश्यकता है। डॉ० नेमिचन्द्र जैन ने कवि राज कुजर नामक व्यक्ति द्वारा कन्नड भाषा मे "लीलावती" शीर्षक गणित ग्रथ लिखने का उल्लेख किया है।[२] श्री सुपार्श्वदास गुप्ता द्वारा प्रणीत जैन सिद्धान्त भवन, आरा के हस्तलिखित ग्रंथों की सूची पृ० ८ मे सकृत भाषा एव कन्नड लिपि में लिखी अज्ञात दि० जैनाचार्य की "गणितसूत्र" नामक कृति का उल्लेख है।[3] वर्तमान मे यह कृति उक्त भण्डार के प्रबन्धकों के अनुसार अनुपलब्ध है।[४] एक पत्र की इस लघु प्रति का अन्वेषण भी आवश्यक है।

' गणित कोष्ठक" चतुरग लेखन "तण्डुल स्थापन" आदि शीर्षक युक्त कन्नड भाषा की कुछ अज्ञात कृतियाँ भी मूडबद्री के भी भडारो मे सग्रहीत है।[५] कर्नाटक प्रदेश मे प्राचीन समय मे कन्नड लिपि प्रचलित थी फलतः उक्त लिपि के विज्ञ बधुओ की सुविधा हेतु क्षेत्रीय विद्वानो ने श्रीधर (श्रीधराचार्य) महावीर (महावीराचार्य) आदि के ग्रन्थो का कन्नड लिपि मे रूपातरण किया एव वल्लभ आदि कतिपय विद्वानो ने उन पर कन्नड मे टीकाये भी लिखी। प्राचीन ग्रन्थो के सपादको का यह अनुभव रहा है कि दक्षिण भारतीय पाण्डुलिपियाँ अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध प्रामाणिक एव पूर्ण है अत पाठान्तर के सशोधन एव कई दशको पूर्व प्रकाशित गणित विषयक ग्रन्थो यथा श्रीधर कृत गणित सार (त्रिशतिका या पाटी गणितसार) के विवादास्पद अशो के समाधान हेतु इन दक्षिण भारतीय प्रतियो का अध्ययन आवश्यक है। लगभग ८० वर्ष पूर्व प० सुधाकर द्विवेदी द्वारा सम्पादित इन प्रकाशित कृति के पाठ भेदो (अथवा जान-बूझकर किये गये परिवर्तनो) के कारण इस कृति की धार्मिक मान्यता के विषय में भी गभीर विवाद उत्पन्न हो गया है।[६]

दक्षिण भारत में कार्यरत जैन सस्थाओ[७] को वरीयता देकर इन ग्रन्थो का उद्धार करना चाहिए। यह साहित्य की अनुपम सेवा होगी। गणित विषयक कन्नड साहित्य से सम्बन्धित सभी सूचनाओ का सदैव स्वागत है।

धन्यवाद ज्ञापन—मैं इस लेख के प्रणयन में दिये गये मार्गदर्शन हेतु डॉ० सुरेश चन्द्र अग्रवाल (मेरठ) का आभारी हूँ।

---

१. देखे, सं०—(४-१) पृ० २४४ एव १६९, जैनमठ मूडबद्री की प्रति शुद्ध है।
२. देखें, सं० (६–II)।
३. देखें, सं०—(७)।
४. व्यक्तिगत पत्राचार, दि० १२–११–८१।
५. देखे, स० ४–I, पृ० २९९, १६९।
६. देखें, सं०–१–II, अध्याय—५
७. १ रमा रानी जैन शोध संस्थान-मूडबद्री (द० कनारा-कर्नाटक)।
II Jain Conanical Research Soc.–Banglore.

संदर्भ ग्रंथ/लेख

१. अनुपम जैन

I—"कतिपय अज्ञात जैन गणित ग्रन्थ"
(भारतीय गणित इतिहास परिषद्) (I. S. H. M.) की चतुर्थ वार्षिक संगोष्ठी में प्रस्तुत शोधपत्र, ७, ८ दिस०, दिल्ली विश्वविद्यालय—दिल्ली, १९८० गणित भारती, ४ (१, २), पृ० ६१-७१, १९८२

II—गणित के विकास मे जैनाचार्यों का योगदान, एम० फिल० योजना विवरण—पृ० २५६, मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ (१९८०)

२ हीरालाल कापडिया

"प्रस्तावना-गणित तिलक"
गायकवाड ओरियटल सीरिज, बड़ौदा—(१९३७)

३. कस्तूरचंद कासलीवाल

Jain Granth Bhandars in Rajasthan, Sri Mahavira ji (Raj) (1966)

४. के० भुजबली शास्त्री

I—"कन्नड प्रातीय ग्रन्थ सूची"
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (१९४८)

II—"पंपयुग के के जैन कवि"
कुन्थसागर ग्रन्थमाला, शोलापुर

III—"कन्नड जैन साहित्य"
अन्तर्गत जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग—७ पा० वि० शो० सस्थान-वाराणसी (१९८१)

५. एम० सी० माल्प्पा

"Sri Bhuvalaya"
अन्तर्गत श्री भूवलय-परिचय पुस्तिका दिल्ली (१९५६)

६. नेमिचन्द्र जैन शास्त्री

I—"भारतीय ज्योतिष (प्रथम सस्करण) भारतीय ज्ञानपीठ-काशी (१९५२)

II—"भारतीय ज्योतिष का पोषक जैन ज्योतिष" वर्णी अभि० ग्रन्थ, सागर पृ० ४७०-४८४ (१९५०)

III—"तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा भाग ४, भा० दि० जैन विद्वत् परिषद, वाराणसी (१९७४)

●

पार्श्वदास पदावली में नीति तत्त्व

● डॉ० गंगाराम गर्ग, भरतपुर

अद्यावधि ज्ञात हिन्दी जैन कवियो मे जयपुर निवासी कविवर पार्श्वदास अपनी रचनाओं की विविधता एवं काव्यशिल्प की सुष्ठुता के कारण हिन्दी जैन काव्य के सर्वाधिक लब्धप्रतिष्ठ कवि हैं। इन्होने 'पारस बिलास' की रचना संवत् १९३६ मे प्रस्तुत करके माँ भारती के गौरव को समृद्ध किया। 'पारस बिलास' में ३६ लघु रचनाओ के अतिरिक्त २९ राग, रागनियो मे निबद्ध ४३६ पद है। पदो में दार्शनिक, भक्तिपूर्ण एवं राजुल विरहात्मक पदो के अतिरिक्त अनेक पद नीति-विषयक है।

लोक जीवन का उन्नयन भारतीय साहित्यकारो का सदैव ही आदर्श रहा। अतः संस्कृत एवं अपभ्रंश के कवियो के समान तुलसी, रहीम, वृन्द आदि हिन्दी कवियो की रचनाओ मे भी लोकोपयोगी सूक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। हिन्दी जैनकवियो मे नीति तत्त्व की प्रचुरता के लिए जोधराज गोदीका, द्यानतराय, बुधजन एवं पार्श्वदास के काव्य विशेष पठनीय हैं। कविवर पार्श्वदास ने तो नीति-तत्त्वो को धर्म का ही अभिन्न अग मानकर उनकी अनुपालना धर्मनिष्ठ व्यक्ति के लिए अनिवार्य कर दी है—

दयामयी भाव राखो, त्यागद्यो कठोर बानी
ऐसे ही धरम उर बसि जायगो
राग दोष मोह त्यागो, मान कूं बिडारि नाखो
'पारस दास' साँचे पथै घसि जायगो। पद २०

पार्श्वदास पदावली मे अहिंसा, अपरिग्रह, सप्त व्यसन-त्याग, इन्द्रिय निग्रह, सद् वचन, समता, सत्सग, शील, क्षमा, विनय तथा दान आदि नैतिक विषय प्रमुखतया उल्लिखित है।

जैनाचार का प्राण अहिंसा धर्म है। जैन मत 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त मे विश्वास करता हुआ सुखी जीवन के लिये यह अनिवार्य मानता है कि ससार के समस्त जीवो को सुखपूर्वक जीने दिया जाए। पार्श्वदास अपने प्रति दुष्ट व्यवहार करने वाले के प्रति भी उपकार करने की प्रेरणा देते हुए समस्त जीवो पर दया करना तथा उन्हें किसी भी प्रकार का नुकसान न पहुँचाना अहिंसा के अन्तर्गत मानते हैं—

षटकायन की दया प्ररूपै, न करै काहू को बिगार।
दुष्ट जानि मध्यस्थ भाव धरि, गुणवंता सुखकार।
जो कोई करै बिगार तास करि, आप करै उपकार।
चन्दनादि लषि उदाहरण, कबहु न धरे बिकार। पद ३३४

जैनाचार का दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अपरिग्रह वाद है, जिसका अर्थ है अधिक संचय न करना। वस्तुतः आज का समाजवाद अपरिग्रह वाद का ही आधुनिक रूप है। सभी प्राणियो को अपेक्षित सुख मिलने और समाज मे असतोष न बढने देने के लक्ष्य के कारण भगवान् महावीर ने २५०० वर्ष से पहले ही अपरिग्रह के रूप में सुखी जीवन जीने की कला बतला दी थी। पार्श्वदास ने ममता को पुनर्भवो में भटकते रहने का कारण मानते हुए परिग्रह को दुःखदायी कहा है—

परिग्रह की ममता दुखदायी।
ममता करि समता नहिं आई।
ताही तैं भवभ्रमण कराई। पद ४०

जैनधर्म मे सप्त व्यसनों के त्याग पर बडा बल दिया है। ये सात व्यसन है—द्यूतक्रीडा, मांस भक्षण, मदिरा पान, वेश्यागमन, शिकार, चोरी और परनारी-सेवन। पार्श्वदास ने उक्त सातों व्यसनों से सम्बन्धित पाण्डव, बकराय, यादवगण, चारुदत्त, ब्रह्मदत्त शिवभूति और रावण के कष्टों की चर्चा करते हुए व्यसन-सेवन का दुष्परिणाम बतलाया है (पद १९६ एव ३६१)। पार्श्वदास का मानना है—

पाप नाम नरपति के किंकर, विसन सात दुखदायी।
नरक नगर मे बास करावैं, संग तजो इन भाई।। पद १९४।२

उक्त सप्त व्यसनों के दुष्परिणाम पार्श्वदास ने विचारपूर्वक प्रस्तुत किये है। उनकी दृष्टि में दूसरे के धन पर कुदृष्टि अथवा चोरी से व्यक्ति शासन द्वारा दण्डित ही नही होता अपितु पाँच सज्जनों और और अपने मित्रो मे भी तिरस्कृत होता है। 'दारू' अथवा मदिरा उसके निर्माण मे होने वाली जीवहिंसा के कारण वर्जनीय है। परनारी की भयकरता छुरी से भी अधिक भयकर है क्योकि परनारी देखने मात्र से प्राण-घातक होती है : तीनो व्यसनों के प्रसंग मे कवि की नैतिक दृष्टि इस प्रकार है—

हितू मिलापी लषि करि लाजै, सुष सपनै नहिं छाजै।
राजा दंडै लोका मडै, सज्जन पंच विहंडै।
पच भेद जुत समझि तजो, ज्यू पद्धति थारी मडै।
प्राण समान जाणि पर धन को मति कोयी हरण विचारो। (२५२)

दारू मे हिंसा घणी, भाषी श्री जिनदेव।
ज्ञान बिगारै जीव को, देह विनासै एव। १७७।२

× × ×

मत लखियो नारि बिरानी,
या तौ विष की छुरी समानी।
छुरी तो अग कै छिप्या प्रान लै,
या कू लषत मरत जग प्रांनी। ३६३।१

विषय-सेवन मे रत जीव आत्मस्वरूप को पहिचानने की ओर प्रेरित नही होता, इसलिए जैन धर्म में विषयो के त्याग पर बडा बल दिया है। व्रत, उपवास, दान और ब्रह्मचर्यपालन मे जैनमतावलम्बियो की दृढ आस्था भी इन्द्रिय-विषयो से निवृत्त होते रहने की भावना से है। पार्श्वदास का तर्कपूर्ण कथन है कि स्पर्श, स्वाद, सुगन्धग्रहण, दर्शन और श्रवण पाँचो विषयो में से एक-एक का सेवन ही क्रमशः रावण, मछली, भ्रमर, पतग और मृग का विनाश कर देता है—

पाँचू सेवत आनन्द मानत, सो सठ जानो रे भायी।
विनसत बार लगै नहिं इनकू, या तैं विलम न लगायी। १८८।४-५

मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में वाणी का बडा महत्व है। वाणी के द्वारा ही व्यक्ति का आदर व सम्मान होता है और उसी वाणी से वह निन्दा भी पा जाता है। मनुष्य का पारस्परिक प्रेम अथवा कलह दोनो ही वाणी के उपयोग से होते है। कबीर दादू आदि सन्त कवियो ने कुवचन का त्याग और मृदु वचन

कहने की प्रेरणा दी है। पार्श्वदास मनुष्य की पहली पहचान का आधार हो उसके बोलने के ढंग को मानते हैं—

ज्ञानी अज्ञ अधर्मी, नीच ऊँच सतसंगी।
बोल्या होत परख्र मानुष की, कामी एक अनंगी।
या तै वैर छुपै सुधरै गति, दोउ लोक सुखियातै।
जातै भये त्रिलोकनाथ जिन बोलि सत्य बच यातै। पद ३१९

'समता' का भाव जागृत करने के लिए व्यक्ति को बडी नैतिक साधना करनी पड़ती है। 'सम' भाव की स्थिति व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनो की क्षेत्रो मे उपादेय मानी गई है। 'समता' भाव की स्थिति पर पहुँचने तक क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि कषाय तथा राग-द्वेष भाव तिरोहित हो चुके होते हैं। पार्श्वदास समता भावी पुरुष को 'जीवन्मुक्त' का गौरव देते हैं—

क्रोध लोभ छल मान मोह मद, धरि नाहक दुख पावो रे।
इनकूं तजो भजो समता उर, जीवनमुक्त कहावो रे। ३२६।
× × ×
'पारस' समता आचरो तजि ममता दुखकारी। ३६४।३
× × ×
राग द्वेष तजि 'पारस' समता गहि ज्यू सहजा ही उपजै रे। ३५३

शील, क्षमा एवं विनय भाव जैनाचार मे प्रमुखता पाए हुए है। पार्श्वदास तीनो भावो को उत्तम मानते हैं—

पारस तीन लोक मे सार, कुछ भी नाय शील उनिहार।
बाल वृद्धि तरुणी तिय जेम, पुत्री मान बहण लखि तेम।
× × ×
समरथ होय न करै कसाय, तिनकै उत्तम छिपा विचार। उनतीस पद–१६
× × ×
पारस विनय धारि अति सोहे, ज्यो सुवरण मै मीना रे। उनतीस पद। १२

हिन्दी मे सन्त एव भक्त दोनो ही परम्परा के कवियो ने साधु महिमा और सत्सग पर पर्याप्त लिखा। कुसग के दुष्परिणाम और सत्सग की महिमा बनारसीदास, द्यानतराय और भूधरदास आदि जैन कवियों ने भी वर्णित की है। पार्श्वदास ने 'अग्नि-लोहा' और दीपक-बाती का उदाहरण देकर 'संग' के परिणाम को इंगित किया है—

जैसी सगति तैसो फल दे, प्रगट लखो जग माय।
अगनि लोह की सगति सेती, घण को घात सहाय।
दीपक संग कियो बत्ती नै, सो दीपक होय जाय।
या विधि लखि गुण दोष सग तै निज गुण माय रचाय। १९०

विषय, कषाय, व्यसन को छुड़वाकर समता और शील के मार्ग पर प्रतिष्ठित करने वाले 'सत्संग' के प्रति पार्श्वदास की आतुरता द्रष्टव्य है—

विषय कषाय विसन छुड़वावै,
सम यम सील बतावै।
पारस निस दिन या उर चावै,
सो सत्संगति कब पावै। पद ५५।

तन और धन दोनों को ही हानिकारक व्यसनी का कुसंग पार्श्वदास ने त्याज्य ठहराया है—

दोन्यू भव इन सेती बिगड़ै, तन धन धरम पलाय।
'पारस' तजो सग बिसनी को, तप धारो शिवदाय। २३२।३

ससार की परिवर्तनशीलता और वैभव की क्षणभगुरता प्रतिक्षण दृष्टिगोचर होती रहती है। इसी की ओर इङ्गित करके सन्त कवियो के समान पार्श्वदास ने भी निरभिमानता की सीख दी है—

काहे गर्व करत हो झूठा है ससार,
धनी होत षिण माय दरिद्री, निर्धन धन भडार।
टेढे चालत पच सवारत, ते डोलत पर द्वार।
हाथी चढि चालो वा भू परि जीना है दिन च्यारि। २५३। १-२

दान के परम्परागत महत्त्व को स्वीकारते हुए पार्श्वदास ने गृहस्थ या श्रावक के लिए उसे ग्राह्य कहा है। श्रमण परम्परा के दान के चार रूप हैं—अभयदान, अन्नदान, औषधि दान एव ज्ञान दान। चारो विधि के दानो मे श्रावक को रुचि लेनी चाहिए ऐसी पार्श्वदास का मत है—

गृहचारा मे दान बडो है भाषी त्रिभुवनरायी। ३५।३
दान च्यार विधि देय भक्ति तैं, दुखित कू रक्षियावो। ५।६

विभिन्न नीति तत्त्वो के अध्ययन से स्पष्ट है कि पार्श्वदास भक्त एव अध्यात्मी कवि के अतिरिक्त उत्तम कोटि के नीतिकार है। लोक कल्याण की भावना उनके काव्य का महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

●

हरिवंशपुराण में उल्लिखित आर्यिकायें

● डॉ० रमेशचन्द जैन, बिजनौर,

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका के रूप मे जैनसंघ चार भागों मे विभाजित है। जिस प्रकार पुरुष वर्ग में मुनिधर्म सर्वोपरि है, उसी प्रकार नारी वर्ग मे आर्यिका की स्थिति सर्वोच्च है। शास्त्रकारो ने नारी समाज के विविध दुःखो का वर्णन किया है, इन दुःखो से छूटने का सबसे बडा साधन आर्यिकाओ के धर्म को अपनाना है। हरिवश पुराणकार आचार्य जिनसेन के अनुसार स्त्रियो के दुःखो में परतन्त्रता विशिष्ट दुःख है। स्त्रियाँ पति के दुर्लभ होने पर शरीर को शून्य समझती हैं। ये सपत्नी होने, ऋतुमती होने, वन्ध्या होने, विधवा होने, प्रसूतिकाल में रोग हो जाने, अन्धा होने, दौर्भाग्य होने, भाग्यहीन पति के मिलने, लडकी ही गर्भ में आने, बार-बार मृत सन्तान होने, अनाथ हो जाने, गर्भ गिर जाने, गर्भ का भार धारण करने, पति के जीवित रहते हुए उसके साथ वियोग होने अथवा किसी मर्मान्तिक रोग होने का दु ख सहन करती हैं। जिस प्रकार आतान वितानभूत तन्तु वस्त्र के स्वतन्त्र कारण है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन स्त्री पर्याय का स्वतन्त्र कारण है, अतः सेवनीय शक्ति के धारक भव्य जीवो को स्त्री सम्बन्धी दुःखो का अन्त करने वाले सम्यग्दर्शन की सेवा करना चाहिए।[1] स्त्रियो का आर्यिका व्रत धारण करने पर सम्यग्दर्शन की आराधना सुगम है। अत. कल्याणार्थी नारियाँ प्राचीन काल से आर्यिका व्रत धारण करती रही हैं। इनमे से कुछ का वर्णन निम्नलिखित है —

हरिवश पुराण के द्वितीय सर्ग मे राजा चेटक की पुत्री चन्दना कुमारी का भगवान् महावीर के समवसरण मे एक स्वच्छ वस्त्र धारण कर आर्याओ मे अग्रणी होने का कथन हुआ है।[2] उक्त समवसरण के तीसरे कोठे मे नाना प्रकार के अलङ्कारों से अलकृत स्त्रियो के साथ आर्यिकाओं की पक्ति इस प्रकार सुशोभित हो रही थी, जिस प्रकार चमकती हुई बिजलियो मे आलिङ्गित शरद् ऋतु की मेघ पक्ति सुशोभित होती है।[3] ये आर्यिकायें संख्या में पैंतीस हजार थी।[4]

भगवान् ऋषभदेव के समवसरण के द्वादश गणो मे आर्यिकाओ का भी स्थान था।[5] दुष्ट ससार के स्वभाव को जानने वाली सुलोचना ने अपनी सपत्नियो के साथ सफेद वस्त्र धारण कर ब्राह्मी तथा सुन्दरी के पास जाकर दीक्षा ले ली।[6] तथा वह ग्यारह अंगो की धारक हो गई।[7] भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में

---

१. जिनसेन हरिवशपुराण ५५।१३५-१३७।

२. सुता चेटकराजस्य कुमारी चन्दन तदा।
धौतैकाम्बरसंवीता जातार्याणा पुर सरी ॥—हरिवश पुराण २।७०

३. हरिवंश पुराण २।७८।

४. वही, ३।६८।

५. वही, ९।२२३।

६. वही, १२।५१।

७. वही, १२।५२।

आर्यिकाओं की कुल संख्या पचास हजार थी।[1] इतनी ही संख्या भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के समवसरण में भी थी।

सुप्रतिष्ठ केवली से राजा अन्धकवृष्णि ने अपने दशो पुत्रों के पूर्वभव पूछे। पूर्वभव के प्रसंग में सद्-भद्रिलपुर के राजा मेघरथ की रानी सुभद्रा तथा उसी नगर के सेठ धनदत्त की दो पुत्री सुदर्शना और सुज्येष्ठा द्वारा तप ग्रहण करने का उल्लेख हरिवंशपुराण मे हुआ है।[2] सेठ धनदत्त के धनपाल आदि नौ पुत्रो को मुनि अवस्था में देखकर मुनियो की बहिन सुदर्शना और सुज्येष्ठा नामक आर्यिकाओ ने स्नेह के वशीभूत हो निदान किया कि ये अग्रिम भव मे भी हमारे भाई हों।[3]

हरिवंशपुराण के २७वें सर्ग में श्रीभूतिनामक कपटी पुरोहित की कथा आयी है, जिसके कपट का रहस्यभेदन शकट नामक देश के सिंहपुर नगर के राजा सिंहसेन की रानी रामदत्ता ने किया था। पोदनपुर के राजा पूर्णचन्द्र और रानी हिरण्यवती रामदत्ता के माता-पिता थे। एक बार रामदत्ता के पिता पूर्णचन्द्र ने राहुभद्र मुनि के समीप दीक्षा ले अवधिज्ञान प्राप्त किया और माता हिरण्यवती ने दत्तवती आर्यिका के समीप दीक्षा ले आर्यिका के व्रत धारण कर लिये। कदाचित् रामदत्ता की माता हिरण्यवती आर्यिका ने अवधिज्ञानी पूर्णचन्द्र मुनि से रामदत्ता का सब समाचार सुना और जाकर उसे समझाया। माता के मुख से उपदेश श्रवण कर रामदत्ता ससार से भयभीत हो उठी, जिससे उसने उसी समय दीक्षा ले ली।[4]

हरिवंशपुराण के तेतीसवे सर्ग से पता चलता है कि राजा सूरसेन मथुरापुरी की रक्षा करते थे, तब यहाँ बारह करोड मुद्राओ का अधिपति भानु नाम का सेठ रहता था। कदाचित् भानु सेठ ने अभयनन्दी गुरु के समीप और उसकी स्त्री यमुना ने जिनदत्ता आर्यिका के समीप प्रव्रज्या ले ली।[5] तेतीसवें सर्ग में ही पर-पुरुषासक्त मंगी का दृष्टान्त देते हुए कहा गया है कि लोग स्त्रियों के पीछे नाना प्रकार के अनर्थ करते हैं और स्त्रियाँ वज्रमुष्टि की स्त्री मगी के समान (वंचक) होती हैं। इस वृत्तान्त को सुनकर अनेक स्त्री पुरुष दीक्षा ग्रहण कर लेते है। अन्त मे मंगी भी दृढ व्रत धारण कर दीक्षा ले लेती है।[6] तेतीसवे सर्ग के अन्त में निर्नामक नामक व्यक्ति के पूर्वभव की कथा है। इसे सुनकर रानी नन्दयशा, रेवती धाय और बन्धुमती सेठानी के साथ सुव्रता नामक आर्यिका के समीप दीक्षा धारण कर लेती है।

हरिवंशपुराण के ४९वे सर्ग मे कृष्ण की छोटी बहिन, जो कि यशोदा की पुत्री थी तथा कृष्ण के बदले में आयी थी, यौवनावस्था मे अपनी चिपटी नाक देखकर आर्यिकाओ के समूह की प्रधान सुव्रता नामक गणिनी के चरणो की शरण प्राप्त करती है और उन्हे साथ ले व्रतधर नामक मुनिराज के चरणमूल में जाकर अपने पूर्वभवो की जानकारी प्राप्त करती है तथा अन्त में आर्यिका का व्रत धारण करती है। आचार्य जिनसेन ने उसकी प्रव्रज्या लेने की स्थिति का सुन्दर चित्रण किया है—

---

१. वही, १२।७८, १६।७३।
२. वही, १८।१११-११७।
३. वही, १८।१२२।
४. वही, २७।५५-५८।
५. वही, ३३।९९, १००।
६. वही, ३३।१०३-१२९।

जिसने आभूषण और मालाये उतार फेंक दी थी तथा जिसकी बाहुरूपी लतायें फूलो के समान कोमल थीं, ऐसी वह कन्या उस समय अपने हाथ की कोमल अङ्गुलियों से अपने बँधे हुए समस्त बालों को उखाडती हुई ऐसी जान पडती थी, मानों बुद्धि रूपी कुटी के भीतर विद्यमान शल्यो के समूह को ही उखाड रही हो। जघन, वक्षःस्थल, स्तन, उदर और चरण पर्यन्त समस्त शरीर को एक अत्यन्त कोमल वस्त्र से आच्छादित करती हुई वह सती उस समय चिरकाल तक शरद् ऋतु की उस नदी के समान सुशोभित हो रही थी, जिसने स्वच्छ जल से अपने बालुमय स्थल को ढक रखा था। कुटुम्बी जनो ने जिसकी दीक्षाकालीन पूजा की थी और जो बडे-बडे तपो को जन्म देने वाली थी, ऐसी उस नवदीक्षिता आर्यिका को देखकर उस समय समस्त महाजनों के हृदय मे यही बुद्धि उत्पन्न होती थी कि क्या यह धैर्यरहित सरस्वती है, अथवा रति तपस्या कर रही है। व्रत, गुण, सयम तथा उपवास आदि एवम् प्रतिदिन भायी जाने वाली अनित्य आदि भावनाओ से जो विशुद्ध भावो को प्राप्त हुई थी, जो आगमोक्त अनेक पाठो की वसतिका थी, उत्तमोत्तम गुणो से सहित थी और सदा आर्यिकाओं के समूह के साथ निवास करती थी, ऐसी वह आर्यिका तपस्या करती हुई रहती थी।

बहुत वर्षों और दिनो के समूह व्यतीत हो जाने पर वह जिनेन्द्र भगवान् के जन्म, दीक्षा और निर्वाण कल्याणक की भूमियो मे विहार कर किसी समय बडे सघ की प्रेरणा से अपनी सहधर्मिणियो के साथ विन्ध्याचल के विशाल वन मे जा निकली और रात्रि के समय तीक्ष्ण तलवार के समान निर्मल एवम् निर्विकल्प चित्त को धारण करने वाली वह प्रतिमातुल्य आर्यिका किसी मार्ग के सम्मुख प्रतिमा योग से विराजमान हो गयी। उसी समय किसी बहुत धनी सङ्घ पर आक्रमण करने के लिए रात्रि के समान काली भीलो की एक बडी सेना शीघ्रता से वहाँ आयी और उसने प्रतिमा योग से विराजमान उस आर्यिका को देखा। यह यहाँ वन देवी विराजमान है, यह समझकर सैकडो भीलो ने नमस्कार कर उससे अपने लिए यह वरदान माँगा कि हे भगवति! यदि आपके प्रसाद से निरुपद्रव रहकर हम लोग धन प्राप्त कर सकेगे तो हम आपके पहले दास होगे। इस प्रकार मनोरथ कर भीलो का वह विशाल समूह बडी दृढता से चारो ओर यात्रियो के उस सङ्घ पर टूटा और उसे मारकर तथा लूटकर कृतकृत्य होता हुआ जब वापिस आया तो उसने प्रतिमा योग से उस आर्यिका को स्थित देखा। जब भील आर्यिका के दर्शन कर आगे बढ गये, तब वहाँ एक सिह ने आकर उन पर घोर उपसर्ग प्रारम्भ कर दिया। उपसर्ग देख उन्होने बडी शान्ति से समाधि धारण की और मरणपर्यन्त के लिए अनशनपूर्वक रहने का नियम ले लिया। प्रतिमायोग मे ही वे मरणकर स्वर्ग गयी। निरन्तर धर्म का उपार्जन करने वाली एवम् गृहीत समाधि को न छोडने वाली उस आर्यिका का शरीर सिह के नख, मुख और दाढ़ो के अग्रभाग से विदीर्ण होने के कारण यद्यपि छूट गया था, तथापि उसके हाथ की तीन अँगुलियाँ वहाँ शेष बच रही थी, यही तीन अँगुलियाँ उन भीलो को दिखाई दी। खून से विलिप्त होने के कारण जिसका मार्ग अन्तर्हित हो गया था, ऐसी वहाँ की समस्त भूमि को उन भीलो ने बडी आकुलता से यहाँ वहाँ देखा, पर कही उन्हें वह आर्यिका नही दिखी। अन्त मे उन्होंने निश्चय किया कि वरदान देने वाली वह देवी इस रुधिर मे ही सन्तोष धारण करती है। इसलिए हाथ की उन तीन अँगुलियो को वही देवता रूप से विराजमान कर दिया और बडे-बडे जगली भैसाओ को मारकर उन विषम क्रूर भीलो ने सब ओर खून एवम् मास की बलि चढ़ाना शुरू कर दी। यद्यपि वह आर्यिका परमदयालु थी, निष्पाप थी और तप के प्रभाव से उत्तम गति को प्राप्त हुई थी, तथापि इस ससार के मास के लोभी, नरकगामी मूर्ख जन भीलो के द्वारा दिखलाए हुए मार्ग से

---

१. हरिवंशपुराण ४९।२२-२५।

चलकर उसी समय से भैसा आदि पशुओ को मारने लगे। निकृष्ट देवगति मे भी कोई देव भैसाओं का रुधिर पान करने वाले और हाथो में त्रिशूल धारण करने वाले नही हैं और न वे परस्पर घातक हैं, फिर भी कवि स्फुट चित्रकार के समान जरा सी भित्ति का आधार पा सत्पुरुषो को दोष लगाने वाली कविता लिख डालते हैं।[१]

भगवान् नेमिनाथ को जब वैराग्य हो गया तब उनके वियोग का शोक दूर होने पर राजीमती ने बाधा से रहित, शान्ति रूप सुख के दायक एवम् दुर्भाग्य को दूर करने वाले तप मे बुद्धि लगायी।[२] वह छह हजार रानियों के साथ प्रव्रज्या लेकर भगवान् नेमिनाथ के समवसरण मे आर्यिकाओं के समूह की प्रधान बन गई।[३] उस समवसरण मे लज्जा, दया, क्षमा, शान्ति आदि गुणरूपी सम्पत्ति से सुशोभित आर्यिकाये विराजमान थी, जो समीचीन धर्म की पुत्रियो के समान जान पडती थी।[४] ये आर्यिकायें संख्या में चालीस हजार थी।

रुक्मिणी का जीव पूर्वजन्म मे पूतिगन्धा नामक स्त्री था। एक बार वह सोपारक नगर गई, वहाँ आर्याओं की उपासना कर उन्ही के साथ आचाम्ल नामक तप करती हुई राजगृह नगर चली गई। वहाँ वन्दनीय सिद्धशिला की वन्दना कर वही नील गुहा मे रहने लगी और सल्लेखना धारण कर मृत्यु को प्राप्त हो सोलहवें स्वर्ग गयी।[५]

बन्धुयशा नामक कन्या ने श्रीमती नामक आर्यिका से जिनदेव प्ररूपित प्रोषधव्रत धारण किया था, इसलिए वह मरकर कुबेर की स्वयप्रभा नामक स्त्री हुई। आयु के अन्त मे वहाँ से च्युत हो जम्बूद्वीप की पुण्डरीकिणी नामक विशालपुरी मे वज्रमुष्टि को सुभद्रा स्त्री से सुमति नाम की पुत्री हुई। वहाँ उसने सुन्दरी नामक आर्यिका से प्रेरित हो उनके समीप रत्नावली नामक तप किया, जिसके प्रभाव से मरकर वह तेरह पल्य की धारक ब्रह्मेन्द्र की प्रधान इन्द्राणी हुई। अनन्तर वहाँ से च्युत हो भरतक्षेत्र सम्बन्धी विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी जाम्बव नगर के विद्याधर राजा जाम्बव की रानी से जाम्बवती नामकी पुत्री हुई।[७]

श्रीकृष्ण की सुसीमा नामक पट्टरानी पूर्वजन्म मे जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्र के पुष्कलावती देश में वीतशोका नामक नगरी के राजा अशोक की श्रीमती नामक रानी से उत्पन्न श्रीकान्ता नामकी पुत्री हुई थी। श्रीकान्ता ने कुमारी अवस्था मे ही जिनदत्ता आर्यिका के पास दीक्षा लेकर रत्नावली नामक तप किया और उसके फलस्वरूप वह माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र की ग्यारह पल्य की आयु वाली प्रिय देवी हुई। स्वर्ग के सुख भोगकर वहाँ से च्युत हुई और सुराष्ट्र देश के गिरिनगर मे राष्ट्र वर्धन राजा की सुज्येष्ठा नामक रानी से सुसीमा नामक पुत्री हुई।[८]

श्री कृष्ण की लक्ष्मणा नामक पट्टरानी पूर्वजन्म में भीलिनी पर्याय को प्राप्त हुई थी। एक दिन उस भीलिनी ने अवधिज्ञान के धारक नन्दिभद्र नामक चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के दर्शन कर उनसे अपने पूर्वभव

१. हरिवंशपुराण ४९।२६-३५।
२. वही ४९।१३३।
३. वही ५५।१४६।
४. वही ५५।१५१।
५. वही ५९।१३१।
६. वही ६०।३६-३९।
७. हरिवंशपुराण ६०।४८-५३।
८. वही ६०।६८-७२।

सुने । पूर्वभवों का स्मरण कर उसने तीन दिन का अनशन किया और मरकर नारद देव की मेघमालिनी नाम की स्त्री हुई । वहाँ से च्युत होकर भरत क्षेत्र के दक्षिण तट पर चन्दनपुर नामक नगर मे राजा महेन्द्र की अनुन्धरी रानी से विद्याधरों के मन को हरण करने वाली कनकमाला नाम की पुत्री हुई । कनकमाला स्वयंवर में महेन्द्र नगर के राजा हरिवाहन विद्याधर को वर कर उसकी माननीय वल्लभा हो गयी । किसी समय कनकमाला जिन प्रतिमाओं की पूजा करने के लिए सिद्धकूट गई थी । वहाँ चारण ऋद्धि के धारक मुनिराज से अपने पूर्वभव का श्रवण कर वह आर्यिका हो गई और मुक्तावली नाम का तप कर सनत्कुमार स्वर्ग के इन्द्र की प्रिय देवी हुई । वहाँ उसकी नौ पल्य की आयु थी । सुख भोग कर वह वहाँ से च्युत हो राजा श्लक्ष्णरोम की कुरुमती रानी से लक्ष्मणा नामकी पुत्री हुई । तीसरे भव में मुक्ति होगी ।[1]

श्रीकृष्ण की आठवी पट्टरानी पद्मावती ने पूर्वजन्म में वरधर्म नामक आचार्य से जीवनपर्यन्त अज्ञातफल का भक्षण न करने का व्रत लिया था । व्रत के प्रभाव से वह संन्यास मरण कर अन्त में हैमवत क्षेत्र में एक पल्य की आयु वाली आर्या हुई । अनन्तर स्वयम्भूरमण द्वीप के स्वयप्रभ नामक पर्वत पर स्वयम्प्रभ नामक व्यन्तरदेव की स्वयंप्रभा नाम की देवी हुई । वहाँ से आकर भरत क्षेत्र सम्बन्धी जयन्त नगर के स्वामी राजा श्रीधर की श्रीमती रानी से विमलश्री नामक पुत्री हुई । विमलश्री भद्रिलपुर के राजा मेघनाद के लिए दी गई । पति का स्वर्गवास हो जाने पर उसने पद्मावती आर्यिका के समीप दीक्षा लेकर आचाम्लवर्धन नाम का तप किया और उसके प्रभाव से वह स्वर्ग गयी । स्वर्ग में वह सहस्रार स्वर्ग के इन्द्र की प्रधान देवी हुई और पैंतालीस पल्य प्रमाण काल व्यतीत कर अरिष्टपुर के राजा स्वर्णाभ की श्रीमती रानी से पद्मावती नामक पुत्री हुई ।[2]

हरिवंशपुराण के ६४वें सर्ग मे पाण्डवो तथा द्रौपदी के जीवन के प्रसङ्ग में कुछ आर्यिकाओ की चर्चा आई है । सम्पूर्ण कथा इस प्रकार है—

इसी भरतक्षेत्र की चम्पा नगरी में जब कुरुवंश का आभूषण स्वरूप राजा मेघवाहन पृथिवी की रक्षा करता था, तब वहाँ सोमदेव नाम का एक ब्राह्मण रहता था । उसको सोमिला नामकी स्त्री थी और उससे उसके सोमदत्त, सोमिल और सोमभूति नाम के तीन पुत्र उत्पन्न हुए थे । इन पुत्रों के मामा का नाम अग्निभूति था, उसकी स्त्री अग्निला थी और उन दोनो के क्रम से धनश्री, सोमश्री और नागश्री नाम की तीन कन्यायें उत्पन्न हुई थी, जो कि उक्त तीनो पुत्रो की क्रम से स्त्रियाँ हुई थी । समस्त वेदो का जानने वाला ब्राह्मण सोमदेव कदाचित् शरीर, भोग और ससार से विरक्त हो जिनधर्म मे दीक्षित हो गया । सोमदत्त आदि तीनों भाई भी जिनशासन की भावना से युक्त थे, इसलिए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन करते हुए गृहस्थ धर्म मे रत हो गए । किसी समय धर्मरुचि नामक मुनिराज जो धर्म के अखण्ड पिण्ड के समान जान पड़ते थे, भिक्षा के समय चान्द्री चर्या से उनके घर प्रविष्ट हुए । सोमदत्त ने उठकर बडो विनय से उन मुनि को पडिगाहा । पडिगाहने के बाद किसी अन्य कार्य मे व्यग्र होने से वह तो चला गया और दान देने के कार्य में नागश्री को नियुक्त कर गया । अपने पूर्वकृत पापोदय से मुनिराज के विषय में कोप के वशीभूत हो नागश्री ने उन्हें विषमिश्रित अन्न का आहार दिया, जिससे वे मुनिराज संन्यास मरण कर सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए । नागश्री के इस दुष्कार्य को जानकर वे तीनों भाई दु.खी हुए और संसार से विरक्त हो उन्होंने वरुण गुरु के समीप दीक्षा धारण कर ली । धनश्री और मित्रश्री ने भी समस्त संसारवास से विरक्त हो गुणवती आर्यिका के समीप दीक्षा धारण कर ली ।

---

१. हरिवंशपुराण ६०।७८-८५ ।
२. वही ६०।१०५-१२१ ।

रत्नत्रय की अत्यन्त उपासना करने वाले सोमदत्त आदि पाँचों जीव अन्त समय मरण कर आरण अच्युत स्वर्ग में सामानिक जाति के देव हुए। विषमिश्रित भोजन देने वाली नागश्री भी मरकर धूमप्रभा नामक पाँचवें नरक के फल को प्राप्त हुई। वह सत्रह सागर तक वहाँ के महादुःख भोगकर निकली और स्वयंप्रभ द्वीप में दृष्टिविष नाम का दुष्ट सर्प हुई। तदनन्तर मरकर तीन सागर की आयु वाली बालुकाप्रभा नामक तीसरी पृथ्वी मे पहुँची। वहाँ पाप के फलस्वरूप चिरकाल तक दुःखो का समूह भोगकर निकली और त्रस, स्थावर पर्याय में दो सागर तक भटकती रही। तदनन्तर चम्पापुरी मे एक चाण्डाल की कन्या हुई। वहाँ उसने एक दिन समाधिगुप्त नामक मुनिराज के पास मधु मासादि का त्याग किया, जिससे अन्त समय उसी चम्पापुरी मे सुबन्धु वैश्य की धनवती स्त्री से सुकुमारिका नाम की पुत्री हुई। पाप के पूर्व संस्कार से उसके शरीर से तीव्र दुर्गन्ध आती थी इसलिए रूपवती होने पर भी वह युवाजनो के द्वेष का पात्र हुई। उसी नगरी मे धनदेव वैश्य की अशोकदत्ता नामक स्त्री से उत्पन्न जिनदेव और जिनदत्त नामक दो पुत्र रहते थे। जिनदेव के कुटुम्बीजनो ने उस दुर्गन्धा कन्या के साथ उसका विवाह करना चाहा पर उसे वह स्वीकृत नही था, इसलिए वह उस कन्या को छोड सुव्रत मुनि के समीप दीक्षित हो गया। बन्धुजनो के उपरोध से छोटे भाई जिनदत्त ने यद्यपि उसके साथ विवाह कर लिया परन्तु दुर्गन्ध के कारण उसे दूर से ही छोड दिया। इस घटना से सुकुमारिका ने अपनी बहुत निन्दा की। एक दिन उसने उपवास किया तथा अनेक आर्यिकाओ से युक्त क्षान्ता नाम की आर्यिका को बडी भक्ति से भोजन कराया। क्षान्ता आर्यिका के साथ दो आर्यिकाये परम रूपवती तथा कठिन तप तपने वाली थी। उन्हे देख उसने क्षान्ता आर्या को नमस्कार कर उनसे पूछा कि ये दो रूपवती आर्यिकायें कठिन तप मे किस कारण स्थित है? क्षान्ता आर्यिका ने कहा कि ये दोनो पूर्वभव मे सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र की विमला और सुप्रभा नाम की देवियाँ थी। एक दिन ये नन्दीश्वर द्वीप की यात्रा मे जिनपूजा हेतु आई थी कि किसी कारण ससार से विरक्त हो चित्त मे इस प्रकार विचार करने लगी कि यदि हम मनुष्य भव को प्राप्त हो तो महातप करेगी, जिससे स्त्री पर्याय सम्बन्धी दुःख दिखाई नही देगा। इस प्रकार प्रतिज्ञा कर वे देवियाँ स्वर्ग से च्युत हुई और यहाँ अयोध्या नगरी के राजा श्रीषेण की श्रीकान्ता नामक स्त्री से हरिषेणा नाम की बडी और श्रीषेणा नाम की छोटी पुत्री हुई। समय पाकर ये दोनो ही रूपवती और यौवन रूपी लक्ष्मी मे सुशोभित हो गई। इन दोनो कुमारियो का स्वयंवर हो रहा था कि उसी समय इन्हें अपने पूर्वजन्म तथा की हुई प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया, जिससे ये बन्धुजनो को छोड तत्काल तप करने लगी।

क्षान्ता आर्यिका के उक्त वचन सुन सुकुमारिका भी विरक्त हो गयी और ससार से भयभीत हो उन्ही के समीप दीक्षित हो गयी। अन्य तपस्वियो के साथ तप करती हुई वह समय व्यतीत करने लगी। नीतिपूर्वक तप करने से उसका शरीर सूख गया। एक दिन गाँव की गणिका वसन्तसेना कामिजनो से वेष्टित हो वन-विहार के लिए आई। क्रीडा करने में उद्यत उस गणिका को देखकर आर्यिका सुकुमारिका ने क्लिष्ट परिणामों से युक्त हो बडे आदर से अपयश की प्राप्ति मे कारणभूत यह निदान किया कि अन्य जन्म मे मुझे भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो। आयु के अन्त मे मरकर वह आरणाच्युत युगल मे अपने पूर्वभव के पति सोमभूति देव की पचपन पल्य की आयुवाली देवी हुई। सोमदत्त आदि तीनो भाइयो के जीव स्वर्ग से च्युत हो पाण्डु राजा की कुन्ती नामक स्त्री से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन नामक पुत्र हुए। धनश्री तथा मित्रश्री के जीव देव भी उन्ही पाण्डु राजा की माद्री नामक दूसरी स्त्री से नकुल और सहदेव नामक पुत्र हुए। सुकुमारिका का जीव भी स्वर्ग से च्युत हो राजा द्रुपद की दृढरथा नामक स्त्री से द्रौपदी नामक पुत्री हुई।[1] ●

१. हरिवंशपुराण ६४।१११-१३९।

सिद्धक्षेत्र बड़ागाँव : एक विमर्श

● डॉ० वीरेन्द्रकुमार जैन, छतरपुर

बडागाँव के सिद्धक्षेत्र होने की सम्भावना और उसके विपरीत प्रमाणों पर संक्षिप्त निबन्ध मे विचार किया जा रहा है। सर्वप्रथम इसके पक्ष पोषक प्रमाणो पर दृष्टिपात किया जायेगा। जो प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं, उनमें प्रतिपादित मुख्य बातें ये हैं—

१. कि बडागाँव द्रोणगिरि के पश्चिम दिशा में स्थित है।

२ फलहोडी और बडागाँव एक ही स्थान के दो नाम हैं।

(१) भट्टारक गुणकीर्ति की मराठी भाषा में रचित तीर्थ वन्दना में लिखा है "फलहोडी ग्राम आहूट कोटि सिद्धांसि नमस्कार माझा" अर्थात् फलहोडी ग्राम सिद्धक्षेत्र से साढे तीन करोड मुनियों को सिद्धि प्राप्त हुई उन्हें मेरा नमस्कार हो।

(२) कुन्दकुन्द के प्राकृत निर्वाण काण्ड मे लिखा है कि—

फलहोडी बडग्रामे पच्छिमभायम्मि द्रोणगिरि सिहरे।
गुरुदत्तादिमुणिन्दा णिव्वाणगया णमो तेसिं॥

अर्थात् फलहोडी बडागाँव जिसके पश्चिम भाग में है ऐसे द्रोणगिरि के शिखर पर गुरुदत्तादि मुनीन्द्र निर्वाण को प्राप्त हुए। उन्हे नमस्कार हो।

(३) भैया भगवतीदास ने निर्वाणकाण्ड भाषा मे लिखा है—

फलहोडी बडगाँव अनूप पश्चिम दिशा द्रोणगिरि रूप।
गुरुदत्तादि मुनीश्वर जहाँ मुक्ति गये बन्दो नित तहाँ॥

(४) चिमण पण्डित ने मराठी भाषा में तीर्थ वन्दना स्तोत्र मे लिखा है—

बड्ग्राम सुनाम पच्छिम दिसां।
द्रोणगिरि पर्वत कैलास जैसा॥
ते थे सिद्ध झाले मुनि गुरुदत्त।
ऐसे तीर्थ वन्दा तुम्ही एक चित्त॥

बड़ागाँव धसान : कोटिशिला या कोटशिला धसान

जिनप्रभसूरि ने अपने विविध तीर्थ कल्प में एक तीर्थ कोटिशिला का उल्लेख किया है जो धसान (दशार्ण) के पास था। यद्यपि कोटि शिला का उल्लेख अनेक आचार्यों ने किया है, तथापि धसान के निकट कोटिशिला का उल्लेख करने के कारण जिनप्रभसूरि का उल्लेख विशेष महत्वपूर्ण है।

जिनप्रभसूरि ने पूर्वाचार्यों की जो गाथा उद्धृत की है उसमे इसे दशार्ण पर्वत के समीप बतलाया है। दशार्ण नदी (वर्तमान धसान) मध्यप्रदेश मे विन्ध्य के एक भाग से निकलती है, सभवतः वही दशार्ण पर्वत है (विविधतीर्थकल्प)।

अन्य बड़गाँव :

एक बडगाँव या बडागाँव का उल्लेख ब्रह्मज्ञानसागर ने सर्ववन्दन संग्रह में किया है—यहाँ से भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम ने मुक्तिलाभ लिया । यह बडगाँव बिहार के दक्षिण भाग में बिहार शरीफ नगर से दो मील पर है । प्राचीन नालन्दा ग्राम का ही यह मध्ययुगीन नाम है । श्वेताम्बर यात्रियों ने इसका उल्लेख गौतम स्वामी के जन्म स्थान के रूप में किया है (२) अन्यत्र गौतम स्वामी का निर्वाण स्थान विपुलाचल, वैभार पर्वत अथवा गुणाव माना गया है । (३) एक बडगाँव जबलपुर जिले की कटनी तहसील से तीस मील की दूरी पर स्थित है पर वहाँ कोई द्रोणगिरि नही है ।

द्रोणगिरि :

द्रोणगिरि का उल्लेख बड़ागाँव के प्रसग में महत्वपूर्ण है । दोणीगिरि दोणिमंत, तोणिमत आदि नाम पर्याय रूप मे प्राप्त होते हैं । फलहोडो और बडगाँव का उल्लेख द्रोणगिरि के साथ कही-कही नही भी मिलता है । द्रोणगिरि का उल्लेख श्रुतसागर, गुणकीर्ति, चिमणापण्डित, निवार्य, हरिषेण, पूज्यपाद तथा अन्य लेखकों ने भी किया है । प्रायः विद्वानों का मत है कि वर्तमान द्रोणगिरि निर्वाण काण्ड आदि मे वर्णित द्रोणगिरि नही है और अब यह तीर्थ लुप्त हो चुका है (तीर्थवन्दन संग्रह पृ० १५०) ।

फलहोड़ी :

एक फलहोडी नाम से मिलता जुलता तीर्थ फलोधी, राजस्थान के दक्षिण पश्चिम मे स्थित है, किन्तु इसके समीप किसी द्रोणगिरि की प्रसिद्धि नही है ।

उपर्युक्त विवरण के फलितार्थ :

जिनप्रभसूरि द्वारा विविध तीर्थकल्प मे उद्धृत गाथा मे निर्दिष्ट दशार्ण (धसान) प्राचीन काल से सुविदित है । कृत्रिम स्मारक तो मिट जाते हैं परन्तु नदियों, पर्वतों के विषय मे ऐसी संभावना नही है । यद्यपि यह ठीक है कि सरस्वती नदी को त्रिवेणी सगम पर नहो देखा जाता है और उसका प्राचीन साहित्य में अस्तित्व है । परन्तु धसान या दशार्ण अभी भी अति प्रसिद्ध है । यह नदी कालिदास आदि महाकवियों के साहित्य में वर्णित है । तथा यह बडगाँव के पास बहती है । अतएव वहाँ पर स्थित तीर्थ ही कोटिशिला या कोटशिली रहा हो तो आश्चर्य नही ।

यहाँ से साढे तीन कोटि मुनि मुक्ति गये यह एक अर्थ है ही इसके अन्य अर्थ भी सम्भव हैं ।

जैसे सम्भव है कि इस तीर्थ के चारो ओर शिलाओ को कोट या परकोटा सुरक्षा के लिये निर्मित रहा हो और इस प्रकार यह कोटिशिला या कोटशिला कहलाता हो । इसी प्रकार यह भी कि अनेक उत्कीर्ण तीर्थंकर मूर्तियाँ शिलाओ में उत्कीर्ण करके कोट मे स्थित रही हो और संख्या की बहुलता के कारण यह कोटिशिला या कोटशिला कहलाता रहा हो जैसे खजुराहो के मन्दिर की दीवारें । संभव है यह कोट कालान्तर में नष्ट भ्रष्ट हो गया हो इस तरह धसान के तीर पर स्थित कोटशिला कोटिशिला वास्तविक हो सकती है । जो कि प्राचीन आचार्यों को विदित थी ।

यह कोटिशिला या कोटशिला बडगाँव के निकट थी जो कि द्रोणगिरि से पश्चिम में थी । यह बड़ागाँव आज भी है । अब फलहोडी की बात ले । फलहोडी बडागाँव का विशेषण प्रतीत होता है जैसे—

"बड़वानी बड़नगर सुचंग, दक्षिण दिसि गिरि चूल उतंग ।"

अर्थात्, चूलगिरि के दक्षिण दिशा में सुन्दर बड़वानी नामक नगर है जो कि आज भी है ।

अब फलहोड़ी विशेषण का अर्थ विचारणीय है ।

१. हो सकता है यहाँ की यात्रा करने से अनेक मनोरथों या फलों की सिद्धि यात्री मानते रहे हों अतएव यह फलहोड़ी बड़ागाँव सिद्धक्षेत्र हो जैसे—श्री रूपचद जी ने पचमंगल मे लिखा है—

"त्रिभुवनपति तुम होसीफल तिहि भासियो।"

यहाँ होसीफल को फलहोसी करके देखा जाय और फलहोसी बिगडकर फलहोडी रूप मे परिवर्तित हो गया हो तो आश्चर्य नहीं।

२. यहाँ यह भी संभव है कि फलो से लदे बडे वृक्षों के कारण इसका नाम फलहोडी रहा हो।

उपसंहार और परिणाम :

१. इस प्रकार इस कोटिशिला या कोटशिला के बडगाँव के पास धसान के किनारे सिद्ध हो जाने से यह भ्रम सहज ही दूर हो जाता है कि वर्तमान द्रोणगिरि वास्तविक प्राचीन द्रोणगिरि नही है, जहाँ से कि गुरुदत्तादि पंच ऋषिराज घोर परीषह सहन कर मुक्ति को प्राप्त हुए थे। इसके विपरीत वर्तमान द्रोणगिरि ही प्राचीन और वास्तविक द्रोणगिरि है।

२. उपर्युक्त लेख का यदि सार संक्षेप करें तो उसे इस प्रकार कह सकते है।

श्री दि० जैन सिद्धक्षेत्र कोटिशिला अथवा कोटशिला फलहोडी बडागाँव धसान (दशार्ण) मध्य प्रदेश।

मोक्षमार्गप्रकाश : एक अध्ययन

● डॉ० दामोदर शास्त्री, दिल्ली

ग्रन्थ का नामकरण

संसार के सभी प्राणी यह चाहते हैं कि उन्हे दु:ख न हो और सुख व शान्ति प्राप्त हो। इसलिए जीवन में वे दु:ख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति हेतु निरन्तर, अहर्निश, प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु वे दु:ख से छूट नही पाते, बल्कि और भी (कर्मबन्ध कर) अशान्ति व दु:ख की दिशा मे अग्रसर होते जाते हैं। पुण्य वश किसी प्राणी को तथाकथित सासारिक सुख-वैभव यदा-कदा प्राप्त होता भी है तो वह सुख स्थायी नही होता और उस सुख मे भी कुछ न कुछ दु:ख का पुट भी सलग्न रहता है। वस्तुतः सासारिक धरातल पर जीने वाला प्राणी जिसे सुख समझ कर प्राप्त करना चाहता है, वह 'सुखाभास' है, शाश्वत व पूर्ण शान्ति तो 'मोक्ष' मे ही है।

परमाराध्य अर्हन्तदेव ने जिस स्वानुभूत सत्य को प्रकट किया, उसी के आधार पर शाश्वत सुख-शान्ति के निधान 'मोक्ष' तक पहुँचने का मार्ग ज्ञात हो सका है। अत केवली तीर्थंकर, उनकी दिव्य वाणी, तथा गणधर देव रचित आगम, एव श्रुतमर्मज्ञ आगमवेत्ता आचार्यो द्वारा यथासमय रचित शास्त्र तथा इनके व्याख्याता—ये सभी 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' की कोटि मे परिगणित किये जाते हैं। सक्षेप मे, वह ग्रन्थ जिसमे परम्पराप्राप्त जिनवाणी का अश भी सन्निहित हो और मोक्षोपयोगी तात्त्विक ज्ञान जिससे प्राप्त होता हो, 'मोक्षमार्गप्रकाशक' है। कहना न होगा कि प० आचार्यकल्प टोडरमल जी कृत 'मोक्षमार्गप्रकाशक' (या प्रकाश) ग्रन्थ वास्तव मे अध्येता को मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप दिखाने मे समर्थ होता हुआ 'यथा नाम तथा गुण' की उक्ति को चरितार्थ करता है।

मोक्षमार्ग के प्रकाशक 'तीर्थंकर' हैं, और उनकी (भाव-श्रुत) जिन-वाणी ज्ञान रूप होने से 'प्रकाश' है। उक्त प्रकाश-पुञ्ज 'जिनवाणी' की किरणे परवर्ती जैनशास्त्र हैं। इस दृष्टि से 'शास्त्र' को 'मोक्षमार्ग प्रकाश' भी कहा जा सकता है। यही कारण है कि प० टोडरमल जी कृत ग्रन्थ के दोनो नाम –मोक्षमार्ग प्रकाश तथा मोक्षमार्गप्रकाशक प्रचलित है। उक्त ग्रन्थ की प्रस्तावना के लेखक डा० लालबहादुर जी शास्त्री ने 'मोक्षमार्गप्रकाश' नाम को ही प्रामाणिक माना है।

आचार्यकल्प पं० टोडरमल जी

इस ग्रन्थ के रचयिता स्वनामधन्य आचार्यकल्प पं० टोडरमल जी हैं जिनका समय विक्रम की उन्नीसवी सदी का प्रारम्भिक भाग (१७९७-१८२४ वि० स०) सामान्यतः माना जाता है। ये राजस्थान-जयपुर के निवासी थे और विशिष्ट प्रतिभा के धनी, अनेक भाषाविद्, अध्यात्मरसिक, शास्त्रस्वाध्याय-प्रेमी, निरभिमानी एवं समर्थ व्याख्याता के रूप मे प्रसिद्ध हुए। इनके द्वारा रचित अनेक मौलिक व टीका-ग्रन्थ प्राप्त हैं। उनमें 'मोक्षमार्गप्रकाश' ग्रन्थ एक मणि के रूप मे सुशोभित है, क्योंकि स्वय ग्रन्थकार के शब्दोंमें इस ग्रन्थ की रचना के पीछे न तो सम्मान, पूजा, सत्कार, प्रतिष्ठा, वैभवादि की चाह है, न ही नये पंथ के प्रवर्तन की भावना है, प्रत्युत अल्पबुद्धि जिज्ञासु साधर्मी आत्माओ को वात्सल्य-बुद्धि से धर्मोपदेश देकर उनका हित-साधन करने की सहज अन्तःप्रेरणा थी।

ग्रन्थ की संयोजना

(प्रथम अध्याय–) मुमुक्षु के लिए देव, शास्त्र, गुरु–इन तीनों का आश्रयण अत्यन्त उपयोगी ही नहीं, प्रायः अनिवार्य भी है। इसी दृष्टि से ग्रन्थकार द्वारा परमेष्ठी देवो तथा जिनवाणी आदि के प्रति नमस्कार कर ग्रन्थ का प्रारम्भ किया गया है। प्रसंगोचित पंच परमेष्ठियो का स्वरूप बताते हुए उनके नमस्कार-रूप मंगलाचरण का माहात्म्य व फल भी बताया गया है।

ग्रन्थकार के मत में, मोक्ष-मार्ग के जिज्ञासु के लिए आगम-ज्ञान की प्रमुखता है, क्योंकि आगम-ज्ञान से सम्यक्त्व, सम्यक्त्व से सयमादि धर्म का अनुष्ठान, तत्फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति-यह क्रम है। उक्त दृष्टि से 'आगम' के स्वरूपादि को बताना जरूरी समझा गया है। प्रथम अध्याय में तीर्थंकर की दिव्य ध्वनि तथा ज्ञान चतुष्टयसम्पन्न विशिष्ट ऋद्धिधारी गणधर देव की विशिष्ट प्रतिभा से समुद्भूत आगम-परम्परा का निरूपण किया गया, तथा यह भी बताया गया कि द्वादशागी जिनवाणी की परम्परा तीर्थंकर के समय से अब तक काल दोष से यथा समय आशिक ह्रास को प्राप्त होती हुई भी, मूल रूप से सुरक्षित रही है, क्योंकि सम्यग्ज्ञानी आचार्यों द्वारा सामयिक मानव-समाज की बुद्धि-दुर्बलताओ को ध्यान मे रख कर समय-समय पर विविध आगमानुकूल ग्रन्थो की रचना होती रही है। जैसे, एक दीपक से दूसरे दीपक को जोडकर, दूसरे से तीसरे को जोडकर, प्रकाश की परम्परा चलती रहती है, उसी तरह सत्यार्थ प्रकाशक ग्रन्थों—शास्त्रो की परम्परा चली आ रही है, और उसी परम्परा मे प० टोडरमल जी कृत 'मोक्षमार्गप्रकाश' ग्रन्थ भी एक कडी है जो पूर्व आचार्यों द्वारा रचित शास्त्रो की परम्परा से जुडी है और इसीलिए वह प्रामाणिक ग्रन्थ की तरह समाज में आदृत है। स्वय ग्रन्थकार के शब्दो मे बड दीपक रूपी महाग्रथो की तुलना में यह ग्रन्थ एक छोटा दीपक है जो कम ज्ञान-शक्ति वाले अध्येता को भी मोक्षमार्ग का दर्शन कराता है, इसलिए सामयिक दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी है। ग्रन्थकार ने स्वय इस ग्रन्थ की उपयोगिता व प्रामाणिकता पर प्रकाश डाला है।

उक्त आगम-परम्परा के प्रमुख प्रवर्तक या वक्ता थे--तीर्थंकर देव, और श्रोता थे—गणधर देव। गणधर देव अन्य लोगो के लिए वक्ता बने और सम्यक्त्वी भव्य जन श्रोता। उक्त श्रोताओ ने धर्मोपदेश कर उपदेश-परम्परा को आगे बढाया, और वक्ता-श्रोता की परम्परा द्वारा शास्त्र-परम्परा का प्रवाह आज तक चला आ रहा। इसी दृष्टि से ग्रन्थकार को यह प्रसगोचित प्रतीत हुआ कि आगम-परम्परा के निरूपण के बाद वक्ता, श्रोता व शास्त्र के यथार्थ स्वरूप को भी समझा दिया जाय। इस निरूपण के पीछे यह बताने की भी दृष्टि रही होगी कि मुमुक्षु व्यक्ति असत्-शास्त्रो के पठन-पाठनादि से बचे, ज्ञान ग्रहण करने हेतु असद् गुरु का आश्रय न ले, साथ ही स्वय भी अनधिकारी व्यक्तियो को शास्त्र-ज्ञान न दे।

द्वितीय अध्याय मे ग्रन्थकार ने दुःख के मूल कारणो पर दृष्टिपात करते हुए 'कर्म-बन्ध' को प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है।

तृतीय अध्याय मे सासारिक दुःख तथा मोक्ष-सुख—इन दोनो परस्पर-विरुद्ध तत्त्वो का निरूपण किया है, और इस तरह अध्येता को हेय-उपादेय का निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र छोड दिया है।

हेय पदार्थों के निरूपण की परम्परा को आगे के चार अध्यायो (चार, पाँच, छः, सात) में बढ़ाया गया है और कर्म-बन्धन के भी मूल कारण 'मिथ्यात्व' को, और तदाश्रित 'मिथ्या चारित्र' को स्पष्ट किया गया है।

पंचम अध्याय में, विशिष्ट प्रचलित मत-मतान्तरों का निरूपण करते हुए उन द्वारा प्ररूपित मोक्ष के विविध स्वरूपो की प्रहारात्मक आलोचना की गई है ।

छठे अध्याय मे कुदेव, कुगुरु एवं कुधर्म पर प्रकाश डाला गया है ।

सातवें अध्याय में एकान्तवादी जैन मान्यताओं का निरूपण है ताकि मुमुक्षु 'उभयनयायत्ता देशना' का एकागी रूप पकड़ कर न बैठ जाए ।

आठवें अध्याय में सत्-शास्त्र के निरूपण की अपेक्षा से अनुयोगो में ग्रथित जिन वाणी के स्वरूप को बताते हुए, उनको हृदयंगम करने या कराने में रखी जाने वाली सतर्कता का दिग्दर्शन भी कराया गया है ।

नवे अध्याय मे, मोक्ष की उपादेयता बताते हुए, ग्रन्थ के मुख्य प्रयोजनभूत 'मोक्ष-मार्ग' का निरूपण किया गया है । मोक्ष-प्राप्ति के साधन भूत सम्यक्त्व का, उसके भेदो का, तथा सम्यक्त्व के विषयभूत सातों तत्त्वों का भी निरूपण किया गया है । इसी के बाद ग्रन्थ समाप्त हो जाता है । सम्भवतः यह ग्रन्थ अधूरा रह गया है, क्योंकि 'मोक्ष-मार्ग' की भूमिका के रूप में एक से आठ अध्यायों तक की विशाल भूमिका प्रस्तुत कर मूल विषय को एक (नवें) अध्याय मे समाप्त कर दिया जाना जरा अखरता है । सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चारित्र का विस्तृत विवरण ग्रन्थकार की लेखनी से निरूपित होना किसी कारणवश रह गया ऐसा प्रतीत होता है । अस्तु,

संक्षेप मे, इस ग्रन्थ में मोक्षमार्ग के प्रकाशन के अलावा, कर्म-सिद्धान्त, निमित्त उपादान, स्याद्वाद, अनेकान्त, निश्चय-व्यवहार, पुण्य-पाप, भाग्य-पुरुषार्थ इन बहुचर्चित विषयो का भी प्रसंगोचित निरूपण किया गया है और इस प्रकार यह ग्रन्थ मुमुक्षु व्यक्ति के लिए अध्यात्म-यात्रा प्रारम्भ करने से पहले अत्यावश्यक बातो की जानकारी देनेवाली एक 'प्रस्तावना' या निर्देशिका (Tourist Guide) के रूप में सिद्ध होता है । विवेचनात्मक गद्य शैली में लिखे गए इस ग्रन्थ में समुचित दृष्टान्तो के द्वारा या अन्य प्रसिद्ध आर्षादि ग्रन्थों में उद्धरण प्रस्तुत कर विविध जिज्ञासाओ का समाधान किया गया है । प्रसंगोचित कही गम्भीरता तो कही भाषा का सहज प्रवाह तथा सुबोधता रखी गई है जिसका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्येता पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है ।

ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तरण

प्रस्तुत सस्करण से पूर्व, करीब पाँच सस्करण इस ग्रन्थ के प्रकाशित हो चुके थे । 'मोक्षमार्ग प्रकाश' का प्रथम मुद्रण/प्रकाशन लाहौर से ई० १८९७ मे बाबू ज्ञानचन्द्र जैन द्वारा कराया गया था । इसके बाद अनेक सस्करण प्रकाशित हुए जिनमे ई० १९११ में जैन ग्रन्थ रत्नाकर (बम्बई) से पं० नाथूराम जी प्रेमी द्वारा, तथा १९३९ ई० में जिनवाणी प्रचारक कार्यालय से प्रकाशित संस्करण प्रमुख हैं ।

यह ग्रन्थ राजस्थान की ढूंढारी मिश्रित व्रज भाषा में लिखा गया था, अतः हिन्दी-प्रेमी व्यक्तियों के लिए वह स्वभावत. कम सुबोध्य था । अतः विद्वद्भूषण गुरुवर्य डा० लालबहादुर जी शास्त्री ने इस ग्रन्थ का (खड़ी बोली) हिन्दी में रूपान्तरण किया, साथ ही अपनी वैदुष्यपूर्ण प्रस्तावना से भी अलकृत किया । इसका प्रकाशन साहित्य विभाग, भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा (उ० प्र०) से ई० १९४८ में किया गया । उक्त हिन्दी रूपान्तरण से प्रेरणा लेकर हिन्दी, उर्दू, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में अनेक संस्करण बाद में प्रकाशित किए गए जिनमें दिग० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा वि० सं० २०२३ (१९६६ ई०) में हिन्दी रूपान्तरण (जिसकी कई आवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं), तथा १९७० ई०

मुन्शी सुमेरचन्द्र जी द्वारा उर्दू रूपान्तरण जिसका प्रकाशन दाताराम चैरिटेबुल ट्रस्ट, दिल्ली द्वारा हुआ, उल्लेखनीय हैं।

विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना : एक समीक्षण

डा० लालबहादुर शास्त्री जी ने, उक्त ग्रन्थ की जो विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखी है, वह स्वयं में एक मौलिक, स्वतन्त्र शोधपूर्ण निबन्ध बन गई है। वास्तव मे आज तक मोक्षमार्ग प्रकाशक के जितने संस्करण प्रकाशित हुए हैं, उनमें यह समीक्ष्य संस्करण अद्वितीय है, जिसमें प्रमुख योगदान डा० शास्त्री जी की प्रस्तावना तथा वैदुष्यपूर्ण सम्पादन-नीति का है। प्रस्तावना तथा अनुवाद-सम्पादन-कला की जो विशेषताएँ इस संस्करण में उजागर हुई हैं, उनको यहाँ इङ्गित करना उचित होगा—

(क) अनुवादकीय व सम्पादकीय वैशिष्ट्य

(१) हिन्दी अनुवाद (रूपान्तरण) करते हुए मौलिकता पूर्णतः सुरक्षित रही है। मुद्रण में पूर्ण शुद्धता बरती गई है। विषय प्रतिपादन को सुव्यवस्थित रूप देने हेतु यथावश्यक अनुच्छेदों का निर्माण, उपयुक्त शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है। यथावश्यक यत्र तत्र फुटनोट में टिप्पण भी दिए गए हैं।

(२) ग्रन्थ के अन्त में दो परिशिष्ट दिए गए हैं। प्रथम परिशिष्ट में अनेक पारिभाषिक शब्दो तथा अस्पष्ट स्थलो आदि का पूर्ण खुलासा किया गया है, जिनमें घाती व अघाती कर्मों व नोकर्मों के स्वरूपादि का, एव बन्ध-उदय-सत्त्वादि अवस्थाओं का सूक्ष्म व विस्तृत विवेचन उल्लेखनीय है। विद्वान् सम्पादक के करणानुयोग सम्बन्धी गम्भीर ज्ञान का दर्शन पदे-पदे इस परिशिष्ट में होता है।

द्वितीय परिशिष्ट मे उन शास्त्र-वर्णित कथाओ को प्रस्तुत किया गया है जो ग्रन्थकार के आशय को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक व उपयोगी हैं। दो परिशिष्टो के बाद, अन्त में 'पारिभाषिक शब्दकोश' दिया गया है जिसे तीसरा परिशिष्ट भी कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत अनेक दुरूह व अपरिचित पारिभाषिक शब्दो का संक्षिप्त व सरल अर्थ प्रस्तुत किया गया है। सबके अन्त मे, अन्य ग्रन्थों से समुद्धृत संस्कृत प्राकृतादि भाषाओ के पद्यो को (मुद्रण-स्थलों के संकेत के साथ) अकारादि-क्रम से सजोया गया है।

(ख) प्रस्तावना के महत्त्वपूर्ण बिन्दु

ग्रन्थ-रचना के पीछे उद्देश्य व चिन्तन की पृष्ठभूमि को समझाने के लिए पाठको को सामयिक परिस्थिति व ग्रन्थकार के व्यक्तित्व की जानकारी कराना अत्यन्त अपेक्षित होता है। इसी दृष्टि से विद्वान् सम्पादक डा० लालबहादुर शास्त्री ने अपनी प्रस्तावना के प्रारम्भ में तत्कालीन राजनैतिक व धार्मिक स्थितियो का संकेत किया है। तत्कालीन जयपुरी वैभव, साम्प्रदायिक विरोध, धार्मिक समारोह आदि विषयो का ऐतिहासिक दृष्टि से निरूपण काफी उपयोगी बन पडा है।

(२) मोक्षमार्गप्रकाश ग्रन्थ की तुलना मे समान विषय के कुछ जैन हिन्दी ग्रंथो का उल्लेख करते हुए मोक्षमार्गप्रकाश की सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादित की गई है। सरल हिन्दी में रचे गए छन्दोबद्ध ग्रन्थो में सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ पं० दौलतराम जी कृत 'छह ढाला' है जो विद्वान् सम्पादक की दृष्टि में 'गागर मे सागर' की उक्ति को चरितार्थ करता है। जहाँतक गद्य रचनाओं का सम्बन्ध है, मोक्षमार्गप्रकाश ग्रन्थ का अपना विशिष्ट स्थान है, क्योंकि एक तो यह जैन साहित्य में हिन्दी गद्य का सर्वप्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ है (जिसे प्रस्तावनाकार ने 'आगम' की संज्ञा दी है।) दूसरे यह स्वाध्यायी संसार में सर्वाधिक समादृत है। 'छह ढाला' से तुलना में भी, 'मोक्षमार्गप्रकाश' ग्रन्थ कुछ अधिक गौरवपूर्ण ठहरता है, क्योंकि 'छह ढाला' 'गागर में सागर' है,

तो मोक्षमार्गप्रकाश स्वयं एक 'सागर' है जो स्वयं मे विशालता व गम्भीरता दोनों लिए हुए है। विद्वान् सम्पादक के उपर्युक्त मन्तव्य गम्भीर मनन-चिन्तन के सुपरिणाम हैं।

(३) ग्रन्थ का नाम वास्तव में क्या है—इस पर भी—विद्वान् सम्पादक ने काफी ऊहापोह किया है। प्राचीन संस्करणों में मुद्रित नामो की विविधता को इङ्गित करते हुए पुष्ट प्रमाणो के आधार पर 'मोक्षमार्ग प्रकाश'-इस नाम का औचित्य ठहराया गया है।

ग्रन्थ की भाषा के सम्बन्ध में भी विद्वान् सम्पादक ने विचार किया है। उनके मत में इस ग्रंथ की भाषा मुख्यतः ढूंढारी (जयपुरी) है जिसमें ब्रजभाषा का अनुकरण भी है। भाषा की सरलता, सुबोधता, स्वाभाविकता, प्रवाहपूर्णता का भी उपयुक्त दृष्टान्तों द्वारा दिग्दर्शन कराने का प्रयास विद्वान् सम्पादक द्वारा किया गया है।

(४) ग्रन्थ की विषय-वस्तु को संक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत करते हुए, इसकी अपूर्णता की सम्भावना को पुष्ट करने हेतु अनेक प्रमाण दिए गए है जिनमे कविवर श्री वृन्दावनदास के एक पत्र का उल्लेख महत्त्व-पूर्ण है।

(५) आचार्यकल्प प० टोडरमल जी के माता-पिता, उनका पारिवारिक जीवन, विद्वत्समाज मे उनका आदरणीय स्थान, उत्कट ज्ञानार्चन की प्रवृत्ति, सातिशय ज्ञान, निरभिमानिता, दृढ धर्मनिष्ठा, धर्म व समाज के लिए प्राणों का उत्सर्जन आदि-आदि विषयो पर प्रकाश डालते हुए विद्वान् सम्पादक ने प० टोडरमल जी के जीवन से सम्बन्धित सभी बिन्दुओ की जानकारी सक्षिप्त व प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत की हैं।

पं० टोडरमल जी के साधर्मी भाई श्री रायमल्ल जी के बारे मे भी विद्वान् सम्पादक ने उपयोगी सामग्री प्रस्तुत को है।

विद्वान् सम्पादक के मत मे प० टोडरमल जी का जन्म वि० स० १७९७ से भी पहले हुआ है। हाँ उनकी मृत्यु वि० स० १८२४ मे हुई है।

प० टोडरमल जी की रचनाओ के परिचय के साथ-साथ उनके पौर्वापर्य पर भी विद्वान् सम्पादक ने मनन किया है जिससे उनकी स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति प्रकट होती है।

(६) विद्वान् प्रस्तावना लेखक का सर्वाधिक उल्लेखनीय भाग वह है जहाँ विद्वान् ग्रन्थकार द्वारा की गई तत्त्व-चर्चा में सन्निहित कई महत्त्वपूर्ण प्रमेयो को खोज निकाला गया है। यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण चर्चाओं का उल्लेख किया जा रहा है—

(अ) वेदनीय कर्म का कार्य सुख-दुःख देना न होकर बल्कि पर-द्रव्यों को सन्निहित (संयोग-लाभ) कराना है। पर-द्रव्यों के सयोग को जुटाने मे लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम कारण नही है, वह तो मात्र लाभ लेने की आत्मिक शक्ति का विकास करता है। लब्ध पदार्थ में सुख-दुःख का वेदन मोहनीय कर्म के कारण होता है।

(आ) मेघ-पटल से आवृत्त सूर्य-प्रकाश के दृष्टान्त के अनुकरण पर, संसारी जीव में सदा 'केवल ज्ञान' तिरोहित बताना ठीक नही, क्योंकि 'केवल ज्ञान' को कोई आवरण ढकने मे समर्थ नही है। दूसरे, वह सदा सद्भूत होता तो उसे पारिणामिक भावो में परिगणित किया जाता, न कि क्षायिक भावों मे।

इसी तरह की अनेकानेक उन महत्त्वपूर्ण बातो को जिनसे ग्रन्थकार पं० टोडरमल जी का गम्भीर वैदुष्य व शास्त्रीय गम्भीर अवगाहन प्रकट होता है, प्रकाश मे लाने का श्रेय विद्वान् अनुवादक व सम्पादक को है।

ग्रन्थकार की विवेचन-शैली के वैशिष्ट्य पर प्रस्तावना में प्रकाश डाला गया है । सर्वधर्मसमभावना के सम्बन्ध में पं० टोडरमल जी ने पंचमाध्याय मे जिस प्रकार प्रश्नोत्तर पद्धति में सरल व सुबोध शैली में पाठकों को हृदयंगम कराया है, वह आधुनिक सर्वधर्मसमभाव के प्रचारको के लिए मननीय है । ग्रन्थकार की समर्थ व्याख्यान-शैली व निर्भीक वक्तृता विद्वद्वर डा० शास्त्री की गुणग्राही दृष्टि से ओझल कैसे रह सकती थी । सर्वधर्मसमभाव का यह अर्थ कदापि नही है कि सभी धर्मों को समान (अच्छा) समझा जाय बल्कि प्रत्येक धर्म के गुण-दोष-परीक्षण के आधार पर अच्छे को अच्छा, बुरे को बुरा मानना—अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा समझना—यही समदृष्टि है सबको अच्छा या बुरा समान रूप से मानना तो अज्ञान है ।

ग्रंथकार ने यत्र-तत्र विषय को समझाने के लिए विविध लौकिक दृष्टान्तों का आश्रय लिया है । विषय चाहे कैसा हो, निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध की चर्चा हो या सम्यक्त्व के अंगों का निरूपण हो, सटीक व सर्वजन सुबोध्य लौकिक दृष्टान्त प्रस्तुत कर दिया गया है । ग्रन्थकार की उक्त दूरदर्शिता पर, तथा तार्किक व मनोवैज्ञानिक शैली के कुछ महनीय पहलुओ पर शोधपूर्ण प्रस्तावना मे प्रकाश डाला गया है, जिससे प्रस्तावना लेखक की सूक्ष्म चिन्तन-शक्ति के प्रति नतमस्तक होने को बाध्य होना पडता है, साथ ही मूल ग्रन्थकार के प्रति सहज श्रद्धा-भावना भी जागृत हो जाती है ।

(८) प० टोडरमल जी की कवित्व-शक्ति तथा काव्य-शास्त्र-मर्मज्ञता को भी प्रस्तावना में उजागर किया गया है जिससे विद्वान् सम्पादक की नवीन शोधपूर्ण दृष्टि प्रकट होती है ।

पं० टोडरमल जी रचित अनेक अनेकार्थक सस्कृत व हिन्दी पद्यों को उद्धृत कर, तथा गोम्मटसार के मगलाचरण के हिन्दी छन्द की रचना को 'गोमूत्रिकाबन्ध' पर आधारित सिद्ध कर विद्वान् सम्पादक ने आचार्यकल्प की कवित्व-शक्ति से परिचित कराया है जो नि:सन्देह शोधपूर्ण प्रयास है ।

सक्षेप मे, विद्वान् सम्पादक-अनुवादक विद्वद्भूषण, लौहपुरुष, आर्ष परम्परा के प्रबल पक्षधर डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री की सशक्त लेखनी से प्रसूत प्रस्तावना प्रत्येक जिज्ञासु तथा शोधार्थी के लिए पठनीय व मननीय है ।

●